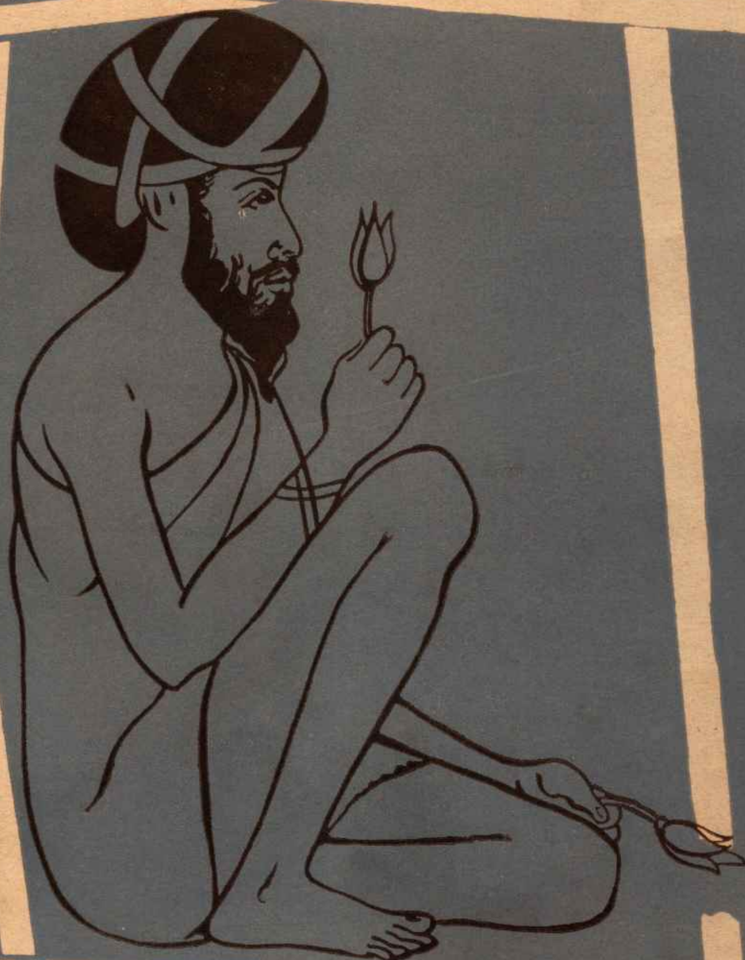
अक्षर अनन्य



अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव

अक्षर अनन्य

(जीवनी, साधना-सिद्धान्त एवं ग्रन्थावली)

अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव

भूमिका-लेखक

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्,
भोपाल

अक्षर अनन्य

(जीवनी, साधना-सिद्धान्त एवं ग्रन्थावली)

अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव

भूमिका-लेखक

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्,
भोपाल

प्रकाशक
मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्,
भोपाल

प्रथम संस्करण
सम्वत् २०२६ वि०
जुलाई, १९६९

मूल्य : तीस रुपये

मुद्रक
चन्द्रा प्रिन्टर्स, भोपाल

समर्पण

जो परा पश्यन्ती मध्यमा वाणी के पूर्ण मर्मज्ञ हैं,
बैखरी वाणी पर जिनका पूर्ण अधिकार है,
समस्त दर्शन-शास्त्रों को समझ-बूझ
कर जो उनसे भी परे हैं,
सभी साधना-प्रणालियों के
चिन्तन एवं व्यवहार पक्ष
जिनके लिये हस्तामलकवत् हैं,
जिनका स्मरण ही मानो
मां सरस्वती का वरदान है,
उन
पूज्यचरण स्वामीजी महाराज
पीताम्बरापीठ, दतिया
को
श्रद्धा का यह प्रतीक
समर्पित है ।

—**अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव**

प्रकाशकीय

मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद् राज्य की साहित्यिक प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करने और साहित्यकारों को सम्मानित करने के उद्देश्य से वर्ष १९५४ से कार्य कर रही है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्यिक विषयों पर साहित्यकारों से मौलिक रचनाएं एवं महाविद्यालयीन छात्रों से निबन्ध लिखाकर श्रेष्ठ रचनाओं को पुरस्कृत करना, लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के व्याख्यानों का आयोजन कर उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करना, अन्य श्रेष्ठ कृतियों का प्रकाशन करना और राज्य के सुप्रसिद्ध साहित्यकारों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सम्मानित करना आदि परिषद् के नियमित कार्य-कलाप में सम्मिलित हैं। साहित्यिक रचनाओं के प्रकाशन-कार्यक्रम के अन्तर्गत परिषद् ने अब तक १२ ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, जिनमें 'सहज-साधना' (डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी), 'पाणिनि-परिचय' (स्व०डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल), 'कलचुरि-नरेश और उनका राजत्व काल' (म.म. डॉ. वा.वि. मिराशी), 'भारत में आर्य और अनार्य' (डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या), 'कला के प्राण बुद्ध' (श्री जगदीश चतुर्वेदी), 'बुन्देलखण्डी लोकगीत' (स्व० श्री शिवसहाय चतुर्वेदी), 'नाट्य-कला मीमांसा' (डॉ० सेठ गोविन्ददास), 'भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान' (डॉ० हीरालाल जैन) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत कृति परिषद् का १३वां प्रकाशन है।

इस ग्रन्थ का संपादन 'अक्षर अनन्य' के वंशज श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव ने किया है। यह ग्रन्थ दो खण्डों में विभाजित है। प्रथम खण्ड में भारतीय ज्ञान-साधना की भूमिका, 'अक्षर अनन्य' की जीवनी, उनके साधना-सिद्धान्तों एवं साहित्यिक कृतियों का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय खण्ड में 'अक्षर अनन्य' की समस्त रचनाओं का संकलन है, जो अभी तक अनुपलब्ध थीं अथवा प्रकाश में नहीं आ सकी थीं।

हिन्दी साहित्य के विभिन्न इतिहास-ग्रन्थों में 'अक्षर अनन्य' का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु उनसे इस संत कवि की जन्म-तिथि, जन्म-स्थान, साधना-सिद्धान्त आदि के बारे में कोई यथातथ्य जानकारी नहीं मिलती और न ही उनकी कृतियों का यथेष्ट परिचय प्राप्त होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संपादक ने अपने अथक परिश्रम से

इन सारी कमियों को दूर करने का भर सक प्रयत्न किया है और ऐसी आधारभूत सामग्री प्रस्तुत की है, जिससे इस संत कवि की साधना एवं कृतियों का सही मूल्यांकन हो सके। इसके लिए पुस्तक के सम्पादक श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव धन्यवाद के पात्र हैं।

संत 'अक्षर अनन्य' अपने समय के एक पहुंचे हुए महात्मा थे और उनकी साधना-पद्धति एवं साहित्यिक कृतियों का यथेष्ट परिचय प्राप्त करने की अब तक कोई प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं थी। श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव के इस ग्रन्थ के सामने आ जाने से 'अक्षर अनन्य' के जीवन, साधना-सिद्धान्त और ग्रन्थों के बारे में सारी बातें स्पष्ट रूप से सामने आ जाती हैं। अब हमें यह पता चलते अधिक देर नहीं लगती कि किस प्रकार के जीवन-दर्शन की अंतःप्रेरणा प्राप्त कर 'अक्षर अनन्य' ने अपने सिद्धान्त एवं साधना की आधार-शिला रखी है। इनकी उपलब्ध रचनाओं के प्रकाशन से ऐसी अनेक बातें प्रकाश में आ गई हैं, जो संत-साहित्य के प्रेमियों की दृष्टि में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

आशा है, साहित्य-जगत्, विशेषकर संत-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों एवं शोध-कर्ताओं में इसका समुचित स्वागत होगा।

शुकदेव दुबे
सचिव,
मध्यप्रदेश शासन-साहित्य-परिषद्

भोपाल
२४ जून, १९६९.

निवेदन

गत बीस-पच्चीस वर्षों में संत-साहित्य पर अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए; अनेक शोध-ग्रन्थ लिखे गये; और अलग-अलग संतों की वाणियों का संकलन एवं प्रकाशन भी किया गया, तथापि अनन्य-साहित्य का अब तक प्रकाश में न आ सकना क्षोभ का विषय है। जिस प्रकार राम-भक्ति अथवा कृष्ण-भक्ति के साथ हिन्दी साहित्य में तुलसीदास एवं सूरदास का नाम अविच्छेद्य रूप से जुड़ा हुआ है, उसी प्रकार ज्ञानाश्रयी परम्परा के साथ कबीर का नाम भी सम्बद्ध है। इसके साथ ही यह भी सत्य है कि एक ओर राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के सम्बन्ध में तुलसी और सूरदास ने इतने निःशेषपूर्ण विचारों को व्यक्त किया कि इस विषय में किसी अन्य साहित्य का सहारा लेने हेतु भटकने की आवश्यकता शेष नहीं रही और दूसरी ओर कबीर आदि समस्त संतों की वाणी होते हुए भी निर्गुण मार्ग के सिद्धान्त और साधना-पद्धति कुछ भी स्पष्ट नहीं होते। राम-भक्ति के सम्बन्ध में हिन्दी का पाठक 'रामचरितमानस' को पढ़कर पूर्ण आश्वस्त होता है, तो ज्ञान मार्ग की जानकारी के लिए उपनिषदादि के अनुवादों के लिए उसे आज भी भटकना पड़ता है। पूर्णता के कारण ही तुलसीदासजी की वाणी अपने क्षेत्र में अकाट्य प्रमाण है और संतों की वाणी की सत्यता सिद्ध करने हेतु उपनिषदादि का सहारा लिया जाता है। 'अक्षर अनन्य' का साहित्य निस्सन्देह रूप से उन समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति और जिज्ञासाओं का समाधान करने में सक्षम है, जो निर्गुण मत के अध्ययनादि में रुचिशील व्यक्ति के हृदय में उत्पन्न होती हैं। मुझे यह कहने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता कि 'अक्षर अनन्य' के ग्रन्थों के बिना हिन्दी का शेष सम्पूर्ण संत वाङ्मय दिशा देने की दृष्टि से अपर्याप्त और अधूरा है तथा इसके प्रकाश में आते ही संतों और संत-साहित्य के सम्बन्ध में समीक्षकों को अपने इस प्रकार के मतों में परिवर्तन करना पड़ेगा कि हिन्दी के संत पढ़े-लिखे नहीं थे, उनकी वाणी काव्य-गुणों से विरहित है अथवा संत-साहित्य की कोई विशेष देन नहीं है।

'अक्षर अनन्य' की केवल दो-चार पुस्तकें ही अब तक प्रकाशित हो सकी हैं। 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'अनन्य-ग्रन्थावली' में केवल एक पुस्तक के तीन अध्याय तथा एक अन्य पुस्तक है। 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' द्वारा 'प्रेम दीपिका' प्रकाशित की गई थी तथा 'उत्तम चरित्र' भी 'सुन्दरी चरित्र' तथा 'दुर्गा पाठ' के नाम से प्रका-

शित हो चुका है। धौलपुर से 'ज्ञान पञ्चासिका' को 'अनन्यार्द्ध शतक' के नाम से प्रकाशित किया गया था तथा मेरे अग्रज श्री गुलाबसिंह श्रीवास्तव ने 'राज योग' (अक्षर अनन्य के चिट्ठा–चतुदर्श प्रकाश) प्रकाशित कराया था। इसके अतिरिक्त शेष ग्रन्थ अभी तक अन्धकार में ही रहे। पिछले लगभग दस वर्षों से इस कार्य को पूरा करने का अनवरत प्रयत्न करने पर भी अनेक अनिवार्य कठिनाइयों के कारण इसमें विलम्ब होता गया। यदि भाई श्री गुलाबसिंह द्वारा इस सम्बन्ध में लगातार आग्रह न किया गया होता, तो सम्भवत: आज भी यह कार्य पूरा न होता। सच तो यह है कि आपके जीवन का प्रत्येक क्षण अनन्य-ग्रन्थावली के प्रकाशन की प्रतीक्षा का पर्याय रहा है।

पुस्तक का मुद्रण पूरा होते-होते तक यथासम्भव प्रयास करने के पश्चात् भी 'विवेक दीपिका' की पूरी प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी। इसकी अधूरी प्रति के साथ कुछ और स्फुट छन्द अवश्य प्राप्त हो गए। 'अङ्क बत्तीसी' की प्रति भी यथासमय उपलब्ध नहीं हो सकी थी; अतएव इन सब को परिशिष्ट में ही दिया जा रहा है।

साधना-सिद्धान्तों के सम्बन्ध में पूज्यचरण श्री स्वामीजी महाराज पीताम्बरापीठ, दतिया से जो दिशा-दृष्टि प्राप्त हुई, उसके लिए मेरे पास इतने शब्द नहीं कि कृतज्ञता-ज्ञापन से स्वयं को सन्तुष्ट कर सकूं। उनकी कृपा का अक्षय सम्बल मुझे सदैव उपलब्ध रहा है और प्रस्तुत पुस्तक का यह रूप उन्हीं की कृपा का परिणाम है।

आदरणीय परशुराम चतुर्वेदीजी के प्रति मेरे हृदय में प्रारम्भ से ही श्रद्धा रही है। हिन्दी-लेखकों तथा पाठकों को सन्त-वाणी के सम्बन्ध में गम्भीरतापूर्वक सोचने-विचारने के प्रति आकृष्ट करने का अधिकांश श्रेय आदरणीय चतुर्वेदीजी को ही है। विविध माध्यमों से मेरे शैथिल्य एवं आलस्य को भंग कर 'अनन्य-ग्रन्थावली' का कार्य पूर्ण करने हेतु आप मुझे सतत प्रेरित करते रहे हैं। पुस्तक की पाण्डुलिपि देखकर उनके द्वारा इसके शीघ्र प्रकाशन की जो इच्छा व्यक्त की गई, वस्तुतः प्रस्तुत प्रकाशन उसी का परिणाम है। भूमिका लिखने का निवेदन भी उन्होंने स्वीकार कर लिया यह सन्त-वाणी के प्रति उनकी आस्था का परिचायक है। मैं उनके प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता हूं।

इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं कि प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का पूर्ण श्रेय मित्रवर डा० शुकदेव दुबे को है। मेरे समस्त प्रयासों के होते हुए भी यदि उनका सहयोग प्राप्त न होता, तो इसका इतना शीघ्र प्रकाशन किसी भी दशा में सम्भव न होता। डा० दुबे ने पूर्ण मनोयोग के साथ इसमें जितना अधिक परिश्रम किया है, उसको शब्दों में व्यक्त करना सम्भव नहीं। कार्य को शीघ्र पूरा करने हेतु उनके हृदय में यदि

इतनी अधिक छटपटाहट और दायित्व-निष्ठा न रहती, तो इसकी पूर्ति मेरी सामर्थ्य से बाहर थी। औपचारिक शब्दों में आभार व्यक्त कर उनके प्रति अपनी कृतज्ञता से मैं न तो उऋण हो सकता हूं और न होना ही चाहता हूं।

मेरे प्रिय मित्र श्री गंगाराम शास्त्री ने संस्कृत श्लोकों को शुद्ध रूप से सम्पादित करने में जो सहयोग दिया है, उसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ। अनन्य-साहित्य की भाव-भूमि से परिचित होने के कारण यह कार्य उन्हीं के द्वारा सम्भव हो सकता था। 'वैराग्य तरंग', 'भक्ति-भावना' तथा 'विवेक दीपिका' की पांडुलिपियां श्री उदयशंकर शास्त्री से प्राप्त हुई, जिसके लिए मैं उनका भी हृदय से कृतज्ञ हूँ।

अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी परिषद् ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व अपने पर लिया, इसके लिए मैं परिषद् का भी विशेष आभारी हूँ।

'अक्षर अनन्य' जिस रूप में आपके समक्ष है, उसे मैं अभी पूरा नहीं मानता। भविष्य में इस सम्बन्ध में और सामग्री उपलब्ध हो सकी, तो उसे अगले संस्करण में समाविष्ट किया जायगा। वर्तमान में मेरा एक-मात्र उद्देश्य 'अक्षर अनन्य' के साहित्य को विद्वज्जनों के सम्मुख प्रस्तुत करने का रहा है और जैसा भी बन सका, वह आपके सामने है।

भोपाल **अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव**

अक्षय तृतीया, सं० २०२६ वि०

भूमिका

हिन्दी के संत-साहित्य की कुछ अपनी विशेषताएं रही हैं, जिन्हें हम उनके निखरे हुए रूपों में, सर्वप्रथम सन्त कबीर की रचनाओं के अन्तर्गत पाते हैं तथा जिनमें से अधिकांश का विकास बहुत-कुछ उनके पहले से भी होता आया है। सन्त कबीर की प्राप्त बानियों के पढ़ने से हमें पता चलता है कि उनके रचयिता का मुख्य उद्देश्य किसी ऐसे आदर्श आध्यात्मिक जीवन को महत्त्व प्रदान करना था, जो न केवल अधिक-से-अधिक सार्वभौम सिद्धान्तों के ऊपर आधारित हो, अपितु जिसे अपने समाज में रहते हुए व्यतीत करना कभी किसी प्रकार से एकपक्षीय अथवा अव्यावहारिक भी न ठहराया जा सके। उनके आविर्भाव-काल में प्रायः सर्वत्र किसी-न-किसी प्रकार के धार्मिक वातावरण का बना रहना अनिवार्य-सा बना रहता था, जिसके लिए किसी समाज-विशेष के भीतर उसकी कतिपय निजी धारणाएं काम किया करती थीं, जो उसे सदा प्रोत्साहन भी दिया करती रहीं। ये अधिकतर पूर्व-प्रचलित ही रहा करती थीं, किंतु इनका किसी वैसे समाज के लिए बराबर सभी प्रकार से अनुकूल ही पड़ता जाना कभी संभव न हो पाता था तथा इसके विषय में बहुधा आपसी मतभेद अथवा पारस्परिक संघर्ष तक भी हो जाया करता था। सन्त कबीर की यह एका विशेषता रही कि उन्होंने अपने समय की ऐसी बातों के प्रति न्यूनाधिक उपेक्षा व कभी-कभी खुले विरोध तक का भी भाव प्रदर्शित किया और इस प्रकार, उन्होंने भरसक उनमें से केवल उन्हीं कुछ को सबके सामने रखने की चेष्टा की, जिनका उनकी दृष्टि में कोई शाश्वत महत्त्व हो सकता था तथा जो उन्हें न्याय-संगत प्रतीत हुईं और जिन्हें उनके अनुसार कोई भी अपने तर्कों की कसौटी पर कस ले सकता था अथवा जिन्हें वह अपनी अनुभूतियों के आधार पर भली भांति समझ भी ले सकता था। इस कारण उन्होंने इनके समर्थन में कभी किन्हीं प्राचीन विहित परंपराओं की दुहाई देना भी उतना आवश्यक नहीं समझा।

सन्त कबीर का उक्त विद्रोह-कार्य नितान्त अनोखा नहीं था, न उसे किसी प्रकार अभूतपूर्व ही कहा जा सकता था। कई महापुरुषों ने वैसे यत्न, उनके पहले भी अपने-अपने ढंग से किए थे तथा इसमें उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिल चुकी थी। ऐसे लोगों की ओर सन्त कबीर ने अपनी उपर्युक्त बानियों के अन्तर्गत, कहीं-कहीं कुछ

संकेत भी किए हैं, जिनके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने उनसे कदाचित् कुछ-न-कुछ प्रेरणा तक भी ग्रहण की होगी। वैसे लोगों के लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने, अपने-अपन संदेशों को सर्वसुलभ रूप देने के उद्देश्य से, प्रायः संघटित यत्न भी किए थे। उनके उक्त प्रकार के उद्देश्य लिपिबद्ध किए गये थे, उनके प्रचारार्थ बहुधा शिष्य-परंपराओं की नींव डाली गई थी तथा, इसके लिए, ऐसी विभिन्न योजनाओं का निर्माण तक भी किया गया था, जिनके द्वारा यथोचित प्रभाव डालकर सर्वसाधारण के बीच कोई-न-कोई नया आन्दोलन खड़ा किया जा सके, जिसका एक परिणाम यह भी हुआ कि ऐसी अनेक संस्थाओं की मान्यताओं में क्रमशः संकीर्णता तक भी आने लग गई। परंतु जहां तक पता चलता है, संत कबीर ने अपनी ओर से ऐसा करना कभी आवश्यक नहीं समझा, न इसे कभी कोई महत्व ही प्रदान किया। उन्होंने अपने द्वारा व्यक्त किये गये विचारों के उन वास्तविक मूल्यों पर ही अधिक भरोसा किया, जिन्हें लक्ष्य बनाकर उन्होंने अपनी बानियां रची थीं तथा जो, उनके वर्ण्यविषयों की सार्वभौमता, उपयोगिता एवं गंभीरता की दृष्टि से, स्वतः प्रमाण बन जा सकते थे। फलतः हम देखते हैं कि सन्त कबीर की उपर्युक्त रचनाओं ने केवल ऐसे ही लोगों को नहीं प्रभावित किया, जिनका स्पष्ट लगाव किन्हीं विशिष्ट मतमतान्तरों के साथ नहीं था, प्रत्युत उनकी ओर अनेक ऐसे लोग तक भी आकृष्ट होते दीख पड़े, जो या तो किसी धार्मिक वर्ग-विशेष के अनुयायी रहे अथवा जिनकी स्वीकृतियों के महत्त्व की उन्होंने खरी आलोचना भी कर डाली थी, जो यहां पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस दूसरी कोटि के लोगों ने, अपने-अपने सम्प्रदायों के साथ सम्बन्ध-विच्छेद न करते हुए भी, इनके कथन की ओर न्यूनाधिक ध्यान देना कभी अनुचित नहीं समझा।

सन्त कबीर की रचनाओं के पढ़ने पर जो हमारी धारणा बनती है, उसके अनुसार उनके निजी मत का संक्षिप्त परिचय देते समय हम कतिपय निश्चित बातों की ओर संकेत कर सकते हैं और उन्हें इस प्रकार बतला सकते हैं:— हमारे प्रत्यक्ष अनुभवों में आनेवाले दृश्यमान जगत् के सारे पदार्थों क्षणस्थायी भी है, जिस कारण इनके साथ अपने किसी लगाव को विशेष महत्व नहीं दिया जा सकता, न किसी तज्जन्य भ्रान्ति के फेर में पड़कर, वस्तुस्थिति को भुला देना हमारे लिए कभी उचित है। उनका कहना है कि शाश्वत वस्तु तो केवल सत् वा परमात्मतत्व-मात्र है, जो परात्पर होने के साथ ही सर्वान्तर्यामी भी है तथा उसका वास्तविक रूप गुणातीत एवं अनिर्वचनीय है, चाहे हम उसे राम, रहीम वा जिस किसी भी नाम से अभिहित करें। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति भी उसके साथ मूलतः अभिन्न माना जा सकता है तथा इस तथ्य को भली भांति समझकर उसके साथ तादात्म्य भाव का हृदयंगम

कर लेना और उसे अपने जीवन में उतार लेना हमारे लिए अपना परम कर्तव्य भी बन जा सकता है अथवा, उसके अनुसार, इसे सहजावस्था का रूप दिया जा सकता है। इसके सिवाय ऐसी स्थिति की अनुमति हमें साधारणतः किसी सद्गुरु की सहायता से ही प्राप्त हो सकती है और उसे किसी प्रकार की साधना द्वारा अपने सहज स्वभाव का कोई एक ऐसा अंग भी बना लिया जा सकता है, जो हमारे दैनिक जीवन का आधार हो सके। फिर तो हमें अपना प्रत्येक व्यवहार, अपने आप सुसंगत लगता जान पड़ेगा और हम अपने को सहजानन्द की दशा तक में भी ला सकेंगे। इसी प्रकार ऐसी अनुभूति को सदा एक समान स्थायी बनाये रखने में सहायतार्थ, उन्होंने भक्तियोग, सुरति-शब्द-योग, प्रेम-योग, ज्ञान-योग अथवा कर्मयोग में से किसी भी प्रचलित साधना-विशेष के समुचित प्रयोग को प्रायः एक ही सा महत्त्व दिया है तथा इसके साथ ही, उसके दुरुपयोग अथवा उसके विपरीत जा पड़नेवाली किसी बाह्य विडम्बना-मात्र की पूरी आलोचना का भी कुछ कम प्रयास नहीं किया है। सन्त कबीर की दृष्टि में इनमें से प्रत्येक का वास्तविक मूल्य केवल उस परिणाम के आलोक में ही आंका जा सकता है, जो हमारे उपर्युक्त ध्येय को पूर्णतः प्रतिफलित कर देने में समर्थ हो तथा जिसके आधार पर हमारे जीवन को वह आध्यात्मिक रूप तक भी प्रदान किया जा सके, जो इस प्रकार वस्तुतः अमरत्व का परिचायक हो जा सकता है।

तदनुसार जब कभी हम किसी अध्यात्मवादी कवि की उपलब्ध रचनाओं को पढ़ने लगते हैं तथा उनमें उपर्युक्त बातों में से अधिकांश को अपने-अपने ढंग से, किंतु प्रायः सन्त कबीरादि की परिचित कथन-शैली में, कही गई भी पाते हैं, तो उनके रचयिताओं को, किसी समुदाय-विशेष के साथ, जोड़ते हुए भी हमारी प्रवृत्ति उन्हें सन्त-साहित्य के अन्तर्गत कोई स्थान प्रदान करने की ओर हो जाने लगती है और ऐसा करना हमारे लिए स्वाभाविक-सा भी प्रतीत होता है। वास्तव में सन्त कबीरादि को साधारणतः वैष्णव-भक्तों के वर्ग में लाकर देखने की कोई एक परंपरा-सी चलती आई है, जिस कारण इस बात का कभी कदाचित् कोई अनुमान भी नहीं किया जाता रहा है कि वैसा सन्त कवि कभी कोई एक वैष्णवेतर भी हो सकता है। परन्तु, बहुधा यह भी देखा गया है कि यदि कभी हम उनकी बानियों के साथ किन्हीं नाथ, जैन, सूफी, शैव, शाक्त अथवा वेदान्ती कवियों की रचना की तुलना करने लगते हैं तथा उन दोनों में हमें किसी विलक्षण साम्य का बोध होने लग जाता है, तो हमें अपनी उपर्युक्त धारणा में परिवर्तन कर देना भी आवश्यक जान पड़ने लगता है तथा उस समय हम उन्हें भी सन्त-साहित्य का ही कोई अंश मान लेते हैं। ऐसे अवसरों पर तो हम कभी-कभी इस परिणाम तक भी पहुंच जाते जान पड़ते हैं कि वास्तविक सन्त कहे जाने योग्य लोगों की किसी एक सर्वथा पृथक् श्रेणी की कोई कल्पना भी

क्यों न कर ली जाय. तथा इसके अन्तर्गत समझे जाने वाले और प्रायः वैष्णव-भक्त कहलानेवाले सन्त कबीरादि के साथ उन लोगों की भी गणना क्यों न की जाय, जो मूलतः उक्त नाथ, जैन आदि जैसे किसी मत-विशेष के अनुयायी रह चुके हैं; किन्तु जिनके लिए केवल इसी बात के कारण कोई बाधा भी पहुँचती नहीं दीख पड़ती, न वैसा करना कभी किसी प्रकार असंगत ही ठहराया जा सकता है। सन्त कबीरादि को किसी कोटि-विशेष में रखने की प्रवृत्ति प्रत्यक्षतः उनके वैष्णव-सम्प्रदाय के साथ किसी लगाव के कारण नहीं जागृत हुई थी, प्रत्युत उसका मूल कारण इस प्रकार की बातों से ऊपर उठकर उनके अपनी स्वच्छन्द वृत्ति के अनुसार चिन्तन करने तथा निरी साम्प्रदायिक भावनाओं के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करने तक में भी निहित रहा, जिस बात की सम्भावना सदा उस दशा में भी हो सकती है, जब किसी का सम्बन्ध कभी उक्त वर्ग से भिन्न धार्मिक समुदाय के साथ रह चुका हो।

'अक्षर अनन्य' के विषय में, जहां तक पता चल पाता है, हम कह सकते हैं कि उनका सम्बन्ध 'वैष्णव-धर्म' के किसी सम्प्रदाय-विशेष के साथ नहीं रहा, प्रत्युत उनकी रचनाओं के आधार पर भी यह स्पष्ट है कि वे शिव-भक्ति के उपासक रहे होंगे। उनकी उपलब्ध रचनाओं में से कम-से-कम 'महिमा समुद्र', 'उत्तम चरित्र', 'भवानी स्तोत्र', 'गणेशाष्टक', 'शिवशक्ति पचीसी', 'उपासना बोध', 'विवेक तरंग', 'ज्ञान पंचासिका' एवं 'शृङ्गार योग' के अन्तर्गत इसका न्यूनाधिक समर्थन उनके अनेक स्थलों के आधार पर भली भांति हो जाता है तथा इससे सम्बद्ध उनके विशिष्ट सिद्धान्तों का भी पता चल जाता है। इसके सिवाय उनकी 'गुणानबत्तीसी' वाले एक पद (सं० २६) से तो हमें ऐसा भी लगता है कि उन्हें न केवल 'शिव' शब्द का उच्चारण करते रहना और शिव को स्मरण करना-मात्र इष्ट था, अपितु शिवशक्ति भक्तिमत को ही वे कदाचित् सर्वश्रेष्ठ भी मानते रहे तथा उनका यह भी कहना था कि जिस राम-राम का स्मरण सारा संसार किया करता है, उसके राम तक सदाशिव का गान करते हैं; परन्तु फिर भी, अर्थात् इतना सब कुछ होते हुए भी, उनके अपने मत का जो सार जान पड़ता है, उसे उन्होंने उक्त ग्रन्थ के अन्तिम (३२वें) पद में प्रकट किया है, जिसके अनुसार ईश्वर घट-घट में व्याप्त है, जिसका समर्थन लोक, वेद एवं गुरु भी किया करते हैं और वह वैसा ही है, जैसे दूध में घी, मोती में पानी, चकमक में आग आदि का अस्तित्व बना रहता है तथा इसी प्रकार जीव में शिव का भी निवास है। अतएव. इस बात का ज्ञान गुरु की सहायता से प्राप्त करके भक्ति, विवेक एवं योगादि साधनों के द्वारा सिद्धि का एक-मात्र मार्ग ग्रहण किया जा सकता है, जो अन्य मतों के लिए वैसा ही अन्तिम ध्येय है, जिस प्रकार नदियों के लिए समुद्र कहला सकता है। वास्तव में इसी मत को 'अक्षर अनन्य' ने शिवशक्ति मत का

भी नाम दिया है, जो उनके अनुसार अनुभव-गुरु के माध्यम से, ज्ञानयोग के द्वारा उपलभ्य है, जिस कारण उसमें कोई साम्प्रदायिक संकीर्णता नहीं दीख पड़ती ।

'अक्षर अनन्य' विशुद्ध ज्ञानमार्ग एवं ज्ञानयोग के अपनानेवाले साधक हैं । उन्होंने अपने 'अष्टांग योग' नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत पातंजल योग-साधना का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है, किन्तु इसी प्रकार 'ज्ञानयोग' शीर्षक रचना में उन्होंने इसका भी निरूपण एवं विवेचन बड़े सुन्दर ढंग से किया है। उनकी 'प्रेम-दीपिका' तथा 'ज्ञान तरंग' नामक रचनाओं से भी हमें यह स्पष्ट हो जाते देर नहीं लगती कि वे वास्तव में निर्गुण तत्व के उपासक हैं और केवल इसी एक-मात्र दृष्टि से उन्होंने कहीं-कहीं पर भक्ति एवं प्रेम को भी प्रश्रय प्रदान किया है। इनमें उस भावुकता के उदाहरण अत्यन्त साधारण कोटि के ही हैं, जो प्रेमपंथी सूफी कवियों अथवा रामानुगा भक्ति वाले वैष्णवों की रचनाओं में पाये जाते हैं, जिस कारण यहां पर कभी-कभी शुष्कता तक भी आ गई सी लक्षित होती है और इसका परिमार्जन केवल उनके द्वारा प्रदर्शित काव्य-रचना की कुशलता के माध्यम से ही हो जाता है। ज्ञान की महत्ता के विषय में उनका बहुत स्पष्ट शब्दों में कहना है कि धर्म के बिना सत्संग नहीं होता, सत्संग के बिना भक्ति नहीं प्रकट होती, भक्ति के बिना हृदय शुद्ध नहीं होता, हृदय शुद्ध हुए बिना बुद्धि का पूर्ण विकास नहीं हो पाता तथा इसी प्रकार उसके भी बिना अनुमान के लिए पूरा बल नहीं मिलता और अन्त में अनुमान के अभाव में ज्ञान का प्रकाश नहीं हो पाता और केवल मात्र ज्ञान ही वह साधन है, जिसके द्वारा परमात्मतत्व का शुद्ध स्वरूप भासित हो सकता है (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ३-८) । ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेवाले ही वे ज्ञानी कहे जाते हैं, जिनकी रहनी के विषय में उन्होंने एक स्थल पर बतलाया है कि वह संसार के बीच अपने सहज स्वभाव से ही विहरण किया करते हैं और उसके ऊपर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा करता (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १-६) । ज्ञानमार्गी होने के ही कारण वे अपने को वास्तव में वस्तुस्थिति का परिचय प्राप्त कर चुकनेवाला समझते जान पड़ते हैं तथा इसी के आधार पर वे निर्भीकता-पूर्वक अपनी ओर से स्पष्ट बातें कर डालने का दावा भी करते हैं। उनके सामने उनसे भिन्न बातें केवल दम्भ एवं पाखण्ड का प्रचार करती हैं, जो उन्हें पसन्द नहीं । उनका कथन है कि कलियुग के अन्तर्गत भेष, दम्भ एवं पाखण्ड का ही बोलबाला है, जिसका भंडाफोड़ करने के लिए मैं जैसी-की-तैसी कह डालता हूँ और इसी कारण 'अनन्य' हूँ ।

'अक्षर अनन्य' ने अनन्य पद का अर्थ बतलाते हुए एक स्थल पर कहा है कि यह वस्तुतः वही है, जिसे अद्वैत पद की संज्ञा दी जाती है तथा इस बात को जो भली भांति

जान पाता है, वही समर्थ भी कहला सकता है (अनन्य प्रकाश, ११५)। उन्होंने एक अन्य स्थल पर अनन्यता की बात का परिचय देते समय यह भी कहा है कि ऐसी दशा तभी आ पाती है, जब हम केवल एक ही को जान सकें तथा केवल उसके ही रूप का हमें सर्वत्र भान होने लग जाय (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४-३)। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पृथीचन्द के प्रति वे अन्यत्र भी बतलाते हैं कि यही मेरा 'केवल ग्यान-विग्यान' है (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४-२३)। अपनी रचनाओं में कहीं-कहीं पर उन्होंने अपने जीवन-वृत्त से कतिपय सम्बद्ध बातें भी कह डाली हैं। उक्त पृथीचन्द को ही सम्बोधित करके वे कहते हैं कि मैं जब केवल १६ वर्ष का था, तभी मेरे गुरुवर ने मेरा आसन बन्द कर दिया (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-१८)। इसी प्रकार उन्होंने अपनी साधना के स्थान का परिचय देते हुए भी पृथीचन्द से कहा है कि वह सिन्धु नदी के तटवर्ती दंडक वन में वहां पर था, जहां पर कभी सनकादिक ऋषियों का क्षेत्र रह चुका था, जहां पर शंकर के अनेक मंदिर उसी प्रकार पाये जाते रहे, जैसे काशी के भीतर मिलते हैं और इसी प्रकार वहां पर साधु-समाज भी रहा करता था तथा वहां पर्वत के ऊपर बनाया गया एक दुर्ग भी वर्तमान था। वहीं पर नदी के तीर पर 'अक्षर अनन्य' का आसन लगा था (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३-८)। परन्तु उन्होंने, कहीं पर भी अपने किसी शरीरधारी गुरु का नाम नहीं लिया है, न ही अपने माता-पितादि के सम्बन्ध में ही कोई ऐसा संकेत किया है, जिससे उनका कोई निश्चित पता चल सके। इतना जान पड़ता है कि उनके गुरु 'सर्वज्ञ' ने उन्हें कोई आदेश दिया था, जिस पर वे सदा दृढ़ रह गये, क्योंकि उनकी अपनी मान्यता के अनुसार उसका उल्लंघन करना मेरु पर्वत का लांघना-जैसा था (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३-८)। उन्होंने अपने गुरु को अपने 'उत्तम चरित्र' के अन्तर्गत, 'गुरु नाथ' शब्द द्वारा अभिहित किया है (दो० १) तथा इसी प्रकार उनके एक स्फुट पद (सं० ४१) से जान पड़ता है कि उनके गुरु कदाचित् कोई 'फक्करनाथ' नामक व्यक्ति रहे होंगे। परन्तु हमें तथ्य यही समझ पड़ता है कि उन्होंने अपने को इस विषय में मौन ही रखा होगा और इसीलिए अपना अनुभव किसी 'अनुभवनाथ' के द्वारा प्राप्त करना तक भी बतलाया होगा, जिससे वस्तुस्थिति और भी स्पष्ट हो जाती जान पड़ती है (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १२-३) तथा जिसका समर्थन उनके एक अन्यत्रवाले कथन "अक्षर अनन्य यह जानिके जनायो है" के द्वारा भी हो जा सकता है।

ये सारी ही बातें इस बात को सिद्ध कर देती जान पड़ती हैं कि 'अक्षर अनन्य' को प्रसिद्ध संत कबीरादि की श्रेणी के एक संत कवि के रूप में स्वीकार कर लिया जा सकता है तथा इसमें उनका मूलत: वैष्णव न होना किसी प्रकार की बाधा नहीं डाल सकता। इसके विपरीत यह बात उस नियम को और भी अधिक दृढ़ कर देती प्रतीत होती है, जिसके अनुसार किसी वास्तविक संत के लिए कभी यह आवश्यक नहीं रहा

करता कि उसका लगाव अमुक सम्प्रदाय के ही साथ रह चुका होना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि 'अक्षर अनन्य' का झुकाव शैवमत की ओर था, जिस कारण उन्होंने न केवल अपनी रचनाओं में उसकी पारिभाषिक शब्दावली का सहारा लिया है, अपितु कहीं-कहीं पर उन्होंने अपने भाव, किसी ठेठ शैवमतानुयायी के समान, प्रकट तक कर दिये हैं, जिसके द्वारा अधिक-से-अधिक उनके वातावरण-विशेष पर ही प्रकाश पड़ पाता है। उनके उस विशिष्ट रूप को समझते समय हमारे सामने कोई कठिनाई नहीं उपस्थित होती, जो उनके उपर्युक्त संतत्व का सूचक है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी रचनाओं में बहुधा शास्त्रीयता की झलक आ जाती जान पड़ती है तथा उनके द्वारा कई स्थलों पर की गई तंत्र व शैवागमों पर आश्रित विषयों की चर्चा भी यहां पर असंगत मानी जायगी। इसके सिवाय उनकी ओर से निर्मित कर दिये गये 'उत्तम चरित्र' जैसे ग्रंथ को भी यहां पर उक्त दृष्टि के अनुसार यथेष्ट महत्त्व नहीं मिल सकता, परन्तु इस प्रकार की कतिपय अन्य बातों का भी समाधान इतना मान लेने पर ही हो जा सकता है कि जिस युग में 'अक्षर अनन्य' का आविर्भाव हुआ था, उसमें ऐसी प्रवृत्ति अनेक अन्य संतों में भी पायी जाती रही। उनके पूर्ववर्ती संत सुन्दरदास की रचनाओं पर शास्त्रीयता का प्रभाव कुछ कम नहीं जान पड़ता, न इनके प्रायः सम-कालीन गुरु गोविन्दसिंह द्वारा रचे गये 'चंडी-चरित्र' से उनका 'उत्तम चरित्र' कभी नितांत भिन्न ही ठहराया जा सकता है। जहां तक आगमादि-विषयक चर्चा के लिए कहा जा सकता है, इसका समावेश भी यहां उनके केवल शैव-शाक्त होने के ही कारण सम्भव होना बन गया।

'अक्षर अनन्य' की विचारधारा के वास्तविक रूप को समझने के लिए उनके कुछ कथन भी यहां पर उद्धृत किये जा सकते हैं, जिनसे पता चलेगा कि उनका अपना सर्व-प्रमुख ध्येय क्या रहा होगा। उदाहरण के लिए, किसी आदर्श योगी (जोगी) की विजय के आधार का वर्णन करते हुए, वे अपने चिट्ठा के आरम्भ में ही कह देते हैं :—

जौलों बुद्धि कांची तौलों पानी कैसौ रंग जान,
जाही रंग मलै होत ताही रंगमय है।
साधु संग साधु चोर संग मिलि चोरी करै,
कैसौ सावधान पुरुषारथ को छय है।
'अक्षर अनन्य' ग्यान अंग है अगिनि जैसो,
घास पात कंडा करकट काठ लय है।
पलटै न आपु मिलै ताहि करै आपुही सौ,
जीतै संग दोष ताही जोगी की विजय है॥१॥

इसी प्रकार सिद्धों वाले उस मार्ग के विषय में, जिसकी ओर इसके पहले ही संकेत किया जा चुका है, उनका कहना है :—

आनिबौ वहै है नर जानै परमातमा कौं,
जाके जानि ही तें जीव ब्रह्मपद पाय है ।
त्राटक हू चेटक मत्र जंत्रनि में भूलै जनि,
कहा भ्रम सिद्धनि कौं रह्यो ललचाय हैं ।
तोही माँह ईस्वर तू ईस्वर कौ अंस आहि,
स्वांसा कौ सबद खोज सो जु समुझाय है ।
सिद्धनि कौ मारग प्रसिद्ध सो 'अनन्य' भनै,
इहि पंथ आइहै सो बहुरि न आय है ॥

—विवेक तरंग, २७

इसके सिवाय फिर, एक फुटकर कवित्त के द्वारा, उन्होंने जो किसी एक ग्यानी जोगी अवधूत का परिचय प्रदान किया है, उससे स्वयं उनके अपने विषय में इस प्रकार के कथन का भी कुछ संकेत मिल जाता जान पड़ता है :—

तुम बैंकुण्ठ के निवासी धनी वासुदेव,
हम कुटीवासी बेप्रवाह सुख सूत हैं ।
तुम चारौं फल के दिवैया कर्मफल दाता,
हम फलाफल की करें न करतूत है ।
तुम देव देव हौ अदेवनि के रिपुराज,
हमरें अदेव देव सब सर्बभूत हैं ॥
तुम दीनबन्धु दीनानाथ हौ 'अनन्य' भनै,
हम दीन नाहीं ग्यान जोगी अवधूत हैं ॥४२॥

उनके द्वारा किये गये निर्गुण-सगुण-विषयक कथनों के सहारे उनके परमात्म तत्व-सम्बन्धी मत का भी स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इस प्रकार हमें उनकी मायातत्व वाली धारणा भी भली भांति विदित हो जाती है। यों कहने के लिए तो उन्होंने अपने एक चौबोला (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-२) के द्वारा हमें बतलाया है कि 'निर्गुण ब्रह्म अखंड सदाशिव परम जोति गुरु जोवैं। सर्गुण ब्रह्म आदि नारायण छीर समुद्रहि सोवैं।", परन्तु उनका वास्तविक मत इस प्रकार का जान पड़ता है :—

ईंधन ही महँ आगि रहै, बिन ईंधन आगि लहै किहि ठाहीं।
फूलन ही महँ बास बसै, बिन फूलन बास की आसति नाहीं।
'अक्षर' अक्षर जीभहिं में, बिन जीभहिं अक्षर क्यों कहि जाहीं।
सगुन ही महं निर्गुन है, बिन सगुन निर्गुन बाद बथा ही।

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ५-१

इसी प्रकार उन्होंने, इस सम्बन्ध में एक स्थल पर अन्यत्र भी ब्रह्म एवं माया, इन दोनों को एक साथ देखने के लिए हमें समझाने की चेष्टा इस रूप से की है :—

ब्रह्म कहौ भल माया कहौ, कहिबे में कहा हैं कहा कहि कीजे।
बस्तु हैं एक भयौ तिहितें सब, सर्व बिषै जु वहैं गुनि लीजे।
एक अनेक 'अनन्य' भनै, सु अनेक में एक बिबेक धरीजे।
एक ही साधै सधै सब ही, सु बरीहि बरी प्रति नौन न दीजे॥

—ज्ञान पंचासिका, सं०१६

तदनुसार उन्होंने 'सद्गुरु' का लक्षण बतलाते समय भी इस रूप में कहा है :—

जगत में मगन ते न भक्ति कौ मरम जानैं,
भक्ति में मगन तिन्हैं जगत कौ न ज्वर है।
सरगुन में मगन ते न निरगुन कौ भेद लहैं,
निरगुन मगन कैं न सरगुन कौ स्वर है।
तुरी में मगन तिन्हैं माया देह सुधि नाहीं,
माया में मगन तिन्हें भासत न तुर हैं।
'अक्षर अनन्य' एक एक में मगन सबै,
सब ही में मगन रहै सोई सतगुर है॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १-५

सारांश यह कि 'अक्षर अनन्य' द्वारा दिए गए जोगी, ग्यानी एवं अवधूत के परिचय तथा इस प्रकार उनमें पाये जानेवाले प्रायः एक समान लक्षण और इसके साथ ही उन तीनों के परमध्येय परमात्मा, निर्गुण तत्व का सगुण ब्रह्म की प्रत्यक्ष जगत् के साथ वास्तविक अभिन्नता, ये सभी इस बात के द्योतक हैं कि उनके व्यापक चिन्तन का क्षेत्र अत्यन्त विशाल रहा होगा। फलतः अपने आध्यात्मिक जीवनादर्श का चित्रण

करते समय भी उन्होंने बराबर इसी भावना से काम लिया है। उनका आदर्श एवं व्यवहार तथा इसी प्रकार स्वार्थ एवं परमार्थ के बीच पूर्ण सामंजस्य की स्थापना करते रहने की चेष्टावाला उपदेश भी इसी बात का सूचक होता है तथा इसके उदाहरण में भी बहुत-से उद्धरण दिए जा सकते हैं :—

सुन्यौ ब्रह्मग्यान जोग ध्यान कौ बिधान सुन्यौ,
सुन्यौ देवतानि कौ महत्तम अपार हैं।
नाना ग्रंथ पंथन के भेद सुनै जानै सब,
सुनिबे में जानिबे में बुद्धि भ्रम जार हैं।
'अक्षर अनन्य' सब जानि कैं अजान भये,
जानी यहै बात करतूत एक सार है।
सब कौं बिसारि सारासार निरधार करि,
गुरु के सबद ही की धारना अधार है॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ५-६

तथा

ग्यान तौ वहै है जाहि जानि करतूत करै,
बिना करतूत ग्यान मिथ्या बकवाद है।
हिरदै न धरै तौलौं कहा जो बखान करै,
अमृत की चरचा में कौन सौ सवाद है।
'अक्षर अनन्य' ग्यान जानि कै भगति राखै,
भाखै वह नाम जो गुरू की मरजाद है।
जानै सर्वव्यापक न मानै दूरि आपुनितें,
सांचौ ब्रह्म ग्यान जैसें राचौ प्रहलाद है॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ५-८

इसी प्रकार उक्त चिट्ठा के ही चतुर्थ प्रकाश से निम्नलिखित सवैया भी दिया जा सकता है :—

सौ मत कौ मत एक यहै, जु गहै दृढ़ता करि इष्ट अधारहि।
लोक बिरुद्ध न कर्म करै, नहिं बेद बिरुद्ध बिचार बिचारहि।
आयसु जो गुरुनाथ करौ, सु धरौ हिरदै सुधि सो न बिसारहि।
ये पुरुषारथ लच्छिन हैं, परमारथ स्वारथ दोउ समारहि॥२०॥

अतएव इस प्रकार का आदर्श जीवन व्यतीत करनेवाले की दृष्टि में 'अक्षर अनन्य' के अनुसार मुक्ति एवं बन्धन-जैसे प्रसिद्ध शब्दों के भाव भी भ्रमात्मक लगने

लगते हैं, क्योंकि उनकी कोई वास्तविक आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस तथ्य का निरूपण करते समय उन्होंने अपने 'ज्ञान तरंग' ग्रन्थ के अंतिम कवित्त (२५वें) में जो कथन किया है, वह इस प्रकार है :—

जासौं सब कहैं भव सागर दुखित बिस्व,
सो तौ बिस्वरूप के बिलास है परम के।
जासौं सब कहैं देवलोक बयकुण्ठ धाम,
सो तौ देव भोग फल भोगबैं धरम के।
जासौं सब कहैं पाप पुन्य महा बाधक है,
सो तौ लहि ताऊ तुच्छ लच्छन करम के।
आतमा बिमुक्त निरबंधन 'अनन्य' भनै,
बंधन मुकति दोनों भाव हैं भरम के ॥२५॥

इनके आधार पर इस प्रकार अनुमान कर लेना हमारे लिए बहुत स्वाभाविक हो जाता है कि उनकी विचारधारा का मूल स्रोत विशुद्ध आत्मज्ञान रहा होगा, जिसे शैवधर्म के ज्ञानपरक सिद्धान्तों से भी उपयुक्त प्रेरणा मिली होगी। शैवधर्म द्वारा बहुत कुछ अनुप्राणित रहने के ही कारण उनकी भावनाओं पर क्रमशः वैसा रंग भी चढ़ता गया होगा, जो उनकी रचनाओं के अन्तर्गत हमें शाक्त अथवा नाथपंथी विचारों द्वारा प्रभावित भावों के रूप में यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है तथा कदाचित् बहुत कुछ इसी कारण, उनकी प्रवृत्ति, अपनी रचनाओंवाले उन अंशों के निर्माण की ओर भी हुई होगी, जो क्रमशः तंत्र वा योगपरक बातों से सम्बद्ध हैं। उनके जीवन-वृत्त की सामग्री के यथेष्ट रूप में अभी तक उपलब्ध न हो सकने के कारण हमारे लिए यह बतलाना संभव नहीं दीखता कि उनका सीधा सम्पर्क कभी किसी शाक्त अथवा नाथपंथी विशिष्ट साधक से भी रहा होगा। उनका जो कुछ प्रभाव यहां पर लक्षित होता है, वह उनके गंभीर अध्ययन वा व्यापक सत्संग का परिणाम भी हो सकता है।

श्री अम्बाप्रसादजी श्रीवास्तव ने 'अक्षर अनन्य' की उपलब्ध रचनाओं को प्रकाश में लाकर एक बहुत बड़ा काम किया है, क्योंकि इन्होंने जहां एक ओर इस प्रतिभाशाली संत कवि की कृतियों को एक साथ पढ़ने और परखने का सुन्दर अवसर उपस्थित कर दिया है, वहां इसके साथ ही दूसरी ओर हमें अपने उपलब्ध संत-साहित्य के किसी अधिक व्यापक स्वरूप की कल्पना कर एक बार सुव्यवस्थित रूप में कार्य करने तथा उस पर समुचित विचार करने के लिए एक संकेत भी दे दिया है। जिस समय उक्त वाङ्मय की रूप-रेखा सर्वप्रथम की गई थी, उन दिनों ऐसे किसी

वैष्णवेतर संत कवि की रचनाएं प्रकाश में नहीं आ सकी थीं, जिस कारण हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखनेवाले विभिन्न विद्वान् लेखकों का ध्यान, स्वभावतः वैसा विचार करने की ओर नहीं जा सका था; किंतु जब इस समय क्रमशः जैनधर्म, नाथपंथ, सूफीमत-जैसे कई धार्मिक वर्गोंवाले हिन्दी कवियों की रचनाएं भी अधिकाधिक संख्या में प्राप्त होती जा रहीं हैं तथा उक्त प्रकार के किसी तुलनात्मक अध्ययन की दिशा में कभी-कभी कुछ-न-कुछ इंगित भी किया जाता आ रहा है, तो यह प्रश्न अनुसंधान-कार्य का भी एक उपयुक्त विषय बन जा सकता है। 'अक्षर अनन्य' की इस ग्रन्थावली के प्रथम खण्ड में इसके सम्पादक श्रीवास्तवजी ने इस कवि की जीवनी, इनके सिद्धांत तथा इनकी साधना आदि के विषय में बड़े परिश्रम के साथ विवेचनात्मक विवरण दिया है, जो सर्वथा सराहनीय है।

बलिया,
मकर संक्रान्ति, संवत् २०२५ वि०

परशुराम चतुर्वेदी

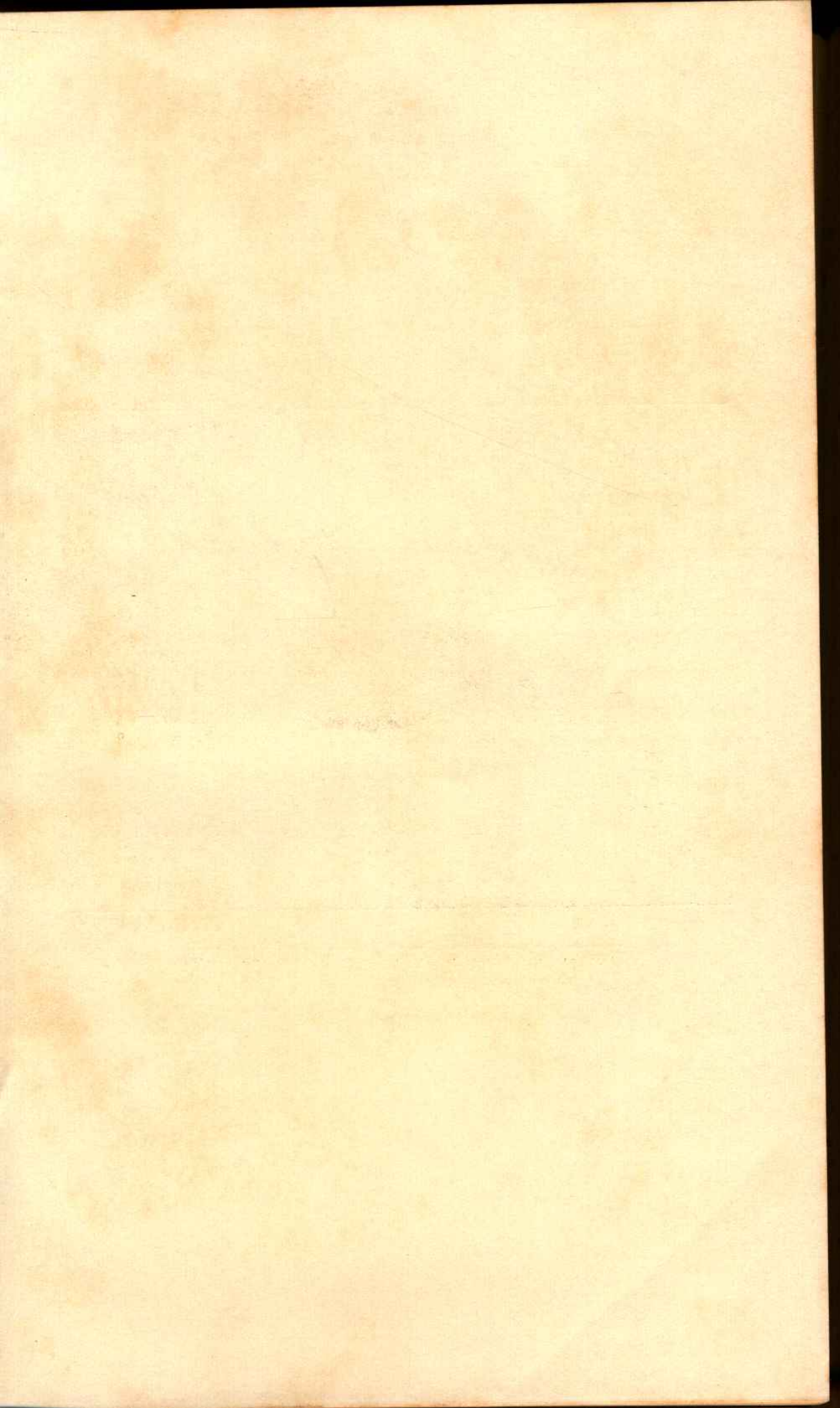
अनुक्रम

प्रथम खण्ड

(जीवन और साधना-सिद्धान्त)

द्वितीय खण्ड
(ग्रन्थावली)

———





महात्मा अक्षर अनन्य (मध्य में) और रसनिधि (बायें)

प्रथम खण्ड

(जीवनी एवं साधना-सिद्धान्त)

१. पूर्वपीठिका

मध्यकालीन धार्मिक इतिहास के अनुशीलन से स्पष्ट है कि शंकराचार्य और कुमारिल के पश्चात् इस कोटि के ऐसे आचार्यों की संख्या नगण्य-सी रही, जिन्होंने विशुद्ध ज्ञान की परम्परा को आगे बढ़ाया होता। रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ और चैतन्य की अन्तश्चेतना ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की दिशा में अधिक झुकी हुई थी और यही कारण है कि इनके आन्दोलनों ने भक्ति-परम्परा को नया मोड़ देकर उसे आगे बढ़ाया। इस युग की धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियां कुछ ऐसी थीं कि समाज किसी ऐसी प्रत्यक्ष शक्ति की अपेक्षा करने लगा, जो उसका स्नेहतया पितृ-तुल्य पालन करे, उसके अपराधों, अपितु पापों को भी कृपया क्षमा कर दे; अतएव उपर्युक्त आचार्यों ने शंकराचार्य के मायामुक्त ब्रह्म के स्थान पर सगुण ईश्वर का प्रतिपादन किया। उन्होंने उसे षड्गुण-सम्पन्न, कल्याणकर, स्रष्टा, संरक्षक, संहारक, भक्त-वत्सल, क्षमाशील, विग्रहवान माना। यद्यपि इन आचार्यों ने ज्ञान पर आधारित दार्शनिक पक्ष पर भी निःशेषपूर्ण विचार किया है, तथापि उनका उद्देश्य भक्ति की प्रतिष्ठापना में ही निहित था। बौद्धों की हीनयान और महायान-परम्परा अवश्य इस युग में आगे बढ़ती रही, जिन्होंने धीरे-धीरे वज्रयान और सहजयान का रूप ले लिया। इस युग में ज्ञान-मार्ग की परम्परा को आगे बढ़ाने में सर्वाधिक योग सिद्धों और नाथ-पंथियों ने दिया। इस प्रकार नवीं-दसवीं शताब्दी में भक्ति और ज्ञान की दो अलग-अलग धाराएं प्रवाहित हो चली थीं।

भारतीय दर्शनों में मत-वैविध्य होते हुए भी एवं उनकी संख्या अनेक होते हुए भी उन्हें 'पंथ' संज्ञा नहीं दी जा सकती। बौद्ध धर्म की हीनयान और महायान तथा जैन धर्म की श्वेताम्बर और दिगम्बर-परम्पराओं को भी पंथ कहा जाना उपयुक्त न होगा। शंकराचार्य और कुमारिल ने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठापना के उद्देश्य से अन्य धर्मों का जब बुरी प्रकार से खंडन किया तथा मठों की स्थापना कर अनुयायी बनाये, तब धार्मिक आन्दोलन को एक नया मोड़ मिला था। इस युग से धार्मिक परम्पराओं की स्थापना की शैली ही बदल गयी थी। वज्रयान और मंत्रयान की परम्पराओं का क्षेत्र सीमित रहा और उनके अनुयायी समन्वयवादी नहीं, प्रत्युत निश्चित और कट्टर विचारधारा के समर्थक थे। धीरे-धीरे इनमें भी कुछ ऐसे दोष उत्पन्न हो गये, जिससे जनता की आस्था उनके प्रति कम होती गयी और

सिद्धों ने एक नयी साधना-परम्परा को जन्म दिया । इनकी मान्यता थी कि हमारी साधना-पद्धति ऐसी होनी चाहिये, जिससे हमारा चित्त क्षुब्ध न हो; क्योंकि चित्त-रत्न के क्षुब्ध हो जाने से सिद्धि-प्राप्ति संभव नहीं ।[१] परिणामतः वज्रयान तथा मंत्रयान की ओर से सामान्य जनता की आस्था हटकर सहज-साधना की ओर मुड़ गयी। सिद्धों में सरहपा के जीवन-काल के सम्बन्ध में विद्वानों में अभी तक मतभेद बना हुआ है । कतिपय विद्वानों की धारणा है कि ये विक्रम की प्रथम शताब्दी में पैदा हुए थे । इसके विपरीत अनेक विद्वान् शंकराचार्य के काल के आसपास ही इनका जीवन-काल मानते हैं । इन्होंने ब्राह्मणों की साधना-पद्धति का खंडन करते हुए मंत्र, तीर्थाटन, भेष, आदि की तीव्र भर्त्सना कर काया-तीर्थ पर जोर दिया । इसके अतिरिक्त तिलोपा, भूसुकुपा, कण्हपा आदि ने भी इसी प्रकार की सहज-साधना पर जोर दिया और घोषित किया गया कि सहज का परित्याग करके जो निर्वाण प्राप्त करने की कल्पना करता है, उसे परमार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती ।[२] जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अनुसरण करने हेतु भी सिद्धों ने मार्ग खोल दिया, अतएव भोग में निर्वाण प्राप्त होने की एक नयी साधना-परम्परा का उदय हुआ । उन्होंने तो स्पष्ट घोषित किया :—

खाअन्त पीअन्ते सुहहि रमन्ते, णित्ति पुण्णु चक्काविभरन्ते ।
अइस धैम्म सिज्झई परलोअइ नाहपाये दलीउ भअ लोअह ।।

यद्यपि सिद्धों ने वज्रयान का सहारा लिया था, किन्तु इन्होंने साधना-पद्धति में एक नवीन परिवर्तन उपस्थित कर दिया । इन्होंने जिस सहज-साधना का प्रतिपादन किया था, वह वज्रयान से सर्वथा भिन्न थी । निरीश्वरवादी बौद्ध धर्म से अंकुरित और पल्लवित होनेवाले महायान, मंत्रयान और वज्रयान से अलग इन्होंने 'धर्म महासुख' की नयी विचारधारा को जन्म दिया । सरहपा ने सहज-संयम, पाखंड-विनाश, गुरु-सेवा को ही सहज-मार्ग की क्रमिक परम्परा मानकर उसे ही महासुख की प्राप्ति का मार्ग स्वीकार किया । सदाचार और जीवन की स्वाभाविकता में उनकी पूर्ण आस्था थी । तिलोपा ने संसार-विष की समाप्ति के लिए संसार का प्रयोग ही स्वीकार किया । सिद्धों की साधना के सदाचार और मध्यम मार्ग दो रूप हैं । गुरु-उपदेश का इसमें सर्वाधिक महत्त्व है । गुरु-उपदेश के द्वारा ही साधना का मार्ग प्रशस्त होता है । धीरे-धीरे सिद्धों की यही परम्परा नाथ-सम्प्रदाय के रूप में

---

१. तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन. ।
संक्षुब्धे चित्तरत्नेतु नैव सिद्धिः कदाचन ।

२. सहज छड्डि जे णिव्वाण भाविउ, णउ परमत्थ एक्क तिसाहिउ ।
–दोहा कोष

विकसित हुई। नाथों ने योग-साधना की जिन पद्धतियों को अपनाया था, उनका प्रचलन बहुत पहले से चला आ रहा था, तथापि नाथ-सम्प्रदाय का जो विशिष्ट रूप माना जाता है, उसका पूर्ण विकास दसवीं शताब्दी के पश्चात् ही हुआ। इन्होंने सिद्धों की विचारधारा में कुछ नवीनता भी उत्पन्न कर दी थी। कौल-साधना-पद्धति का भी प्रभाव नाथ-पंथ पर कम नहीं रहा और कौल-सम्प्रदाय में प्रचलित अष्टांग योग की पद्धति को भी नाथों ने अपना लिया था। जीवन के सहज व्यापार में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित हो, यह नाथों को भी स्वीकार न था।

धर्म की जिस शाखा-विशेष के प्रवर्तक गोरखनाथ माने जाते हैं, वह दार्शनिक दृष्टि से शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत है; किन्तु हठयोग की क्रियाओं को भी इन्होंने अपनी साधना का एक अंग माना था। नाथ-पंथ में ईश्वर की भावना शून्य-वाद पर आधारित है। इसी को कबीर ने सहसदल कमल का शून्य माना है। योग नाथ-पंथ का आवश्यक अंग है। नाथ-सम्प्रदाय में मुक्ति-प्राप्ति के लिए शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श से मुक्ति और मन में वैराग्य की भावना स्थिर होने को आवश्यक माना गया है। इसका प्रारम्भ गुरु-दीक्षा से ही होता है।

यह सब कुछ होते हुए भी अष्टांग योग और रसायन की कष्टसाध्य क्रियाओं का नाथ-पंथ में समावेश हो जाने के कारण यह पंथ सर्वसाधारण में अधिक प्रचलित न हो सका। यद्यपि सिद्धों ने अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित होने के लिए जाति-बंधन को बिलकुल ही तोड़ दिया था, किन्तु नाथों ने साधना-सम्बन्धी कतिपय अन्य नियंत्रण भी लगा दिये थे। शिष्य की उपवासादि के द्वारा कठिन परीक्षा लिये जाने के पश्चात् ही नाथ-पंथ में उसे दीक्षित किया जाता था। इसके साथ ही साम्प्रदायिक सिद्धान्त उलटबाँसियों के रूप में लिखे गये। इस सब का परिणाम यह हुआ कि नाथ-पंथ लोक-धर्म के रूप में विकसित न हो सका। गोरखनाथ के कुछ ही समय पश्चात् नाथ-पंथ भी अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'यह समझना बड़ा कठिन है कि किन कारणों से और किन साधना-विषयक या तत्ववाद-विषयक मतभेदों के कारण ये सम्प्रदाय उत्पन्न हुए; पर ऐसा मालूम होता है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय उनके अव्यवहित पश्चात् उत्पन्न हो गये थे।' गोरखनाथ ने यद्यपि अपने काल में विविध सम्प्रदायों के एकीकरण हेतु सुगठित प्रयास किये थे और अनेक पंथों का योग-पंथ में समावेश भी कर लिया था, किन्तु उनके पश्चात् भेदक तत्व प्रबल हो गये और नाथ-पंथ अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। वर्तमान में उसकी निम्नलिखित शाखाएं प्रचलित मानी जाती हैं :—

१–सत्यनाथ पंथ	३ माननाथी पंथ
२–धर्मनाथ पंथ	४ आई पंथ

५–कपिलानी पंथ　　　　६–गंगानाथ पंथ
७–रामनाथ पंथ　　　　८–ध्वजनाथ पंथ
९–लक्ष्मणनाथ पथ　　　　१०–पागल पंथ
११–वैराग पंथ　　　　१२–नागनाथ पंथ

चौदहवीं शताब्दी तक नाथ-पंथ समस्त देश में प्रचलित रहा। संकेत किया जा चुका है कि कतिपय कारणों से यह लोक-धर्म का रूप नहीं ले सका और धीरे-धीरे इसके अनुयायियों की संख्या भी कम होती गयी। कालान्तर में यही परम्परा संत-परम्परा में बदल गयी। संत-परम्परा की नींव डालने का श्रेय नाथ-पंथ को ही है।

मध्यकाल में इसी के समानान्तर में भक्ति की एक दूसरी धारा भी प्रवाहित हो चली थी। मध्यकालीन भक्ताचार्यों को कदाचित् यह बात खटकने लगी थी कि जो निराकार हमें दिखाई नहीं देता, जिस निर्गुण को सुख-दुःखों में हमारे प्रति सहानुभूति नहीं, जिस शुद्ध-बुद्ध को सोचते-विचारते हम सारा जीवन खपा दें, किन्तु फिर भी उसे हमारे प्रति तनिक भी अनुराग न हो, सर्वशक्तिमान् होकर भी जिसमें पापों-अपराधों को क्षमा करने की शक्ति नहीं, आनन्द-ब्रह्म होकर भी विपत्तियों में किसी प्रकार का सहारा न दे, सर्वव्यापी विभु होकर भी हमें प्रार्थना करते, रोते-चिल्लाते देखकर भी हमारे सम्मुख प्रकट होने में अक्षम हो, सृष्टि-मात्र के लिए माया का आश्रय ले और प्राणियों को माया में फंसाकर स्वयं निर्लिप्त रहे, ऐसे निर्गुण-निराकार, शुद्ध-बुद्ध, निरंजन-ब्रह्म को लेकर हम क्या करें। फलतः धीरे-धीरे करुणाकर, भक्त-वत्सल, कल्याण-मूर्ति, रूप-गुण-निधान ईश्वर में आस्था दृढ़ होती गयी। सहस्रों कोस दूर रहकर भी द्रौपदी की पुकार सुनकर पट-वृद्धि करने, गोपियों का दूध-दही चुराकर खाते रहने, पूतना, कंस-जैसे राक्षसों का संहार कर लोक-कल्याण करने और गोपियों के साथ विविध क्रीड़ाएं करने की कथाओं ने भक्ति और श्रद्धा के अंकुरों को आल-बाल-संयुक्त विशाल वृक्ष के रूप में बदल दिया। इस प्रकार ज्ञान-पंथ के समानान्तर ही भक्ति-पंथ का आन्दोलन भी आगे बढ़ता गया। इस आन्दोलन का जिन्होंने नेतृत्व किया, उनमें रामानुज, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य ही सबसे अग्रणी हैं।

ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मद्रास प्रान्त में यामुनाचार्य का जन्म हुआ। वर्तमान वैष्णव धर्म के प्रवर्तक रामानुजाचार्य के आदि-गुरु यामुनाचार्य ही थे। रामानुजाचार्य को शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत की भावना मान्य नहीं थी। शंकराचार्य ने अपनी विचारधारा में बौद्धिकता को प्राथमिकता दी थी, किन्तु रामानुज ने उसके स्थान पर हृदय, श्रद्धा और भावात्मकता को प्रमुख माना। चित् अर्थात्

भोक्ता जीव, अचित् अर्थात् जगत् तथा ईश्वर, तीन मुख्य पदार्थों को इन्होंने स्वीकार किया। जीव और जगत् को भी वे पारमार्थिक सत्ता के ही रूप में स्वीकार करते थे। यह भी कहा जा सकता है कि रामानुज दृश्य जगत् की सत्ता को सत्य रूप में स्वीकार करने के कारण विशुद्ध यथार्थवादी थे। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत की एक नयी परम्परा का प्रारम्भ हुआ। रामानुजाचार्य के कुछ ही समय पश्चात् दक्षिण में निम्बार्काचार्य का जन्म हुआ। यह भी सम्भव है कि रामानुज और निम्बार्क कुछ समय तक समकालीन रहे हों। निम्बार्काचार्य के बहुत समय पूर्व औडुलोमि और आश्मरथ्य ने भेदाभेद की प्रतिष्ठापना की थी और भट्टप्रपंच-जैसे आचार्यों ने भी उसको मान्यता प्रदान कर उसका पोषण किया था; किन्तु निम्बार्काचार्य ने ही उस दार्शनिक विचारधारा को द्वैताद्वैत मत के रूप में स्थायित्व प्रदान किया। रामानुज के समान ही निम्बार्क ने भी चित्, अचित् तथा ईश्वर, तीन तत्व स्वीकार किये हैं। चित् तथा अचित् अर्थात् जीव और जगत् प्रत्येक क्रिया में ईश्वर पर निर्भर हैं और ईश्वर से अलग उनका कोई अस्तित्व ही नहीं रह जाता; अतएव वे सर्वदा अभिन्न हैं। संक्षेपत: जीव और जगत् पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर से अभिन्न और व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न हैं। यही विचार द्वैताद्वैत का आधार है। शंकराचार्य ने मुक्तावस्था में जीव को कर्तृत्व से मुक्त माना है, किन्तु निम्बार्काचार्य मुक्तावस्था में भी उसे कर्तृत्व से मुक्त नहीं मानते। इनके जीव भोक्ता तथा नियम्य हैं और ईश्वर नियामक। रामानुज का आग्रह अद्वैत पर ही अधिक था, किन्तु निम्बार्क द्वैत को भी समान रूप से प्रधानता देते हैं। इसके अतिरिक्त रामानुज से अलग निम्बार्क ने भक्ति की जिस धारा का प्रवर्तन किया है, वह है कृष्ण-भक्ति का महत्त्व। रामानुज और निम्बार्क दोनों ने ही विष्णु और लक्ष्मी के युगल रूप की उपासना को महत्त्व दिया। फलत: सीताराम और राधाकृष्ण की उपासना का प्रचार धीरे-धीरे बढ़ता गया। रामानुज ने उपासना और ध्यान को भक्ति माना था, किन्तु निम्बार्क प्रेम और अनुराग को भक्ति का प्रधान लक्षण मानते हैं। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को और निर्गुण के स्थान पर ईश्वर के सगुण रूप को प्रधानता प्राप्त होना रामानुज और निम्बार्क की विचारधाराओं के महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं।

निम्बार्क ने द्वैत को महत्त्व अवश्य दिया था, किन्तु अद्वैत का महत्त्व भी वे स्वीकार करते थे। निम्बार्क से लगभग सौ वर्ष पश्चात् ही मध्वाचार्य ने अद्वैत की बची-खुची प्रतिष्ठा को भी समाप्त कर दिया। शंकर के अद्वैत को ही नहीं, उनके मायावाद को भी मध्व ने स्वीकार न किया और जगत् की सत्ता को मिथ्या न मानकर यथार्थ माना। जगदस्तित्व के साथ ही साथ जगत् के अन्य सम्बन्धों, यथा गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, पति-पत्नी आदि सम्बन्धों को भी प्रमाण मानकर उन्होंने द्वैत

भाव को सत्य माना और जीव को निःशेषतया ईश्वर के अधीन कर उसी के अनुग्रह पर आश्रित बना दिया। परिणामतः प्रपत्ति के अतिरिक्त साधना के सभी मार्ग बन्द हो गये।

मध्व के द्वैत मत में ईश्वर को उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बंध और मोक्ष का कर्ता माना गया, सत्, चित् और आनन्द के स्थान पर ज्ञान, आनन्द और कल्याण ही ईश्वर के प्रमुख गुण माने गये तथा जीव को अल्पज्ञ, अल्प-शक्ति एवं स्वतः सामर्थ्यहीन माना गया। । परिणामतः अल्प-शक्ति, अल्पज्ञ, तथा सामर्थ्यहीन जीव को सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ तथा उत्पत्ति, स्थिति, संहार, बंध, मोक्ष, आदि के नियामक ईश्वर के सम्मुख अपना समस्त अहं भूलकर साष्टांग गिर जाना पड़ा। अंकन अर्थात् शंख, चक्र, गदा, पद्म, आदि चिह्नों के तिलक लगाना, नामकरण अर्थात् अपनी सन्तानों के ईश्वर-पर्याय नाम रखना तथा भगवन्नाम का कायिक, वाचिक, मानसिक स्मरण करना साधना के तीन प्रमुख अंग स्वीकार किये गये। भक्ति की उपर्युक्त प्रतिष्ठापना के फलस्वरूप साधना का सम्बन्ध वाणी और मानस से हटकर काया से भी विशेष रूप से स्थापित हो गया। इसके अतिरिक्त राम और कृष्ण के अवतार-रूपों के प्रति भी लोगों की आस्था दृढ़ हो गयी।

तेरहवीं शताब्दी में गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का जन्म हुआ। जयदेव और उनके गीतगोविन्द का भक्ति-आन्दोलन पर जो गहरा प्रभाव पड़ा, उसको भुलाया नहीं जा सकता। निम्बार्क की प्रेमानुगा भक्ति तथा मध्व की कायिक, वाचिक, मानसिक भजन-पद्धति को जयदेव ने एक कदम आगे बढ़ा दिया। उनके गीतों का धीरे-धीरे इतना अधिक महत्त्व बढ़ा कि अष्टाक्षरी तथा द्वादशाक्षरी मंत्रों के स्थान पर गीतगोविन्द के पद गाये जाने लगे। मन्दिरों में कृष्ण-मूर्तियों के सामने पद-गायन तथा नर्तन कृष्णोपासना के प्रधान अंग बन गये। इस प्रकार जयदेव ने यद्यपि रामानुज, निम्बार्क, मध्व, आदि भक्ताचार्यों की भाँति न तो नवीन दार्शनिक मान्यताएं ही स्थापित की थीं और न साधना-प्रणाली में ही उद्देश्यतः कुछ नवीनता लानी चाही थी, तथापि गीतगोविन्द का अज्ञातरूपेण जो प्रभाव पड़ा, उसने पूर्वाचार्यों की पदार्थ-मीमांसा में कोई परिवर्तन उपस्थित न करते हुए भी भक्ति और साधना-पद्धति में जबरदस्त क्रान्ति उपस्थित कर दी थी।

उत्तर भारत पर जयदेव का प्रभाव पड़ ही चुका था कि महाराष्ट्र की ओर कुछ ही समय पश्चात् ज्ञानेश्वर ने बारकरी सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। सैद्धांतिक दृष्टि से ज्ञानेश्वर यद्यपि अद्वैत के पोषक हैं, किन्तु साधना-क्षेत्र में भक्ति को ही उन्होंने सर्वाधिक मान्यता दी। बारकरी सम्प्रदाय ने विट्ठल भगवान को अपना उपास्य माना, जो रुक्मिणी के साथ कृष्ण के ही रूप हैं। बारकरी सम्प्रदाय और ज्ञानेश्वर ने साधना के क्षेत्र में जो नवीनता उत्पन्न की थी, वह कीर्तन-परम्परा का प्रवर्तन है। चैतन्य

की कीर्तन-पद्धति का बीज वस्तुतः इसी युग में बोया जा चुका था और चैतन्य तक पहुंचते-पहुंचते चंडीदास, नामदेव, नरसी मेहता आदि, ने उसको पोषित कर उसे पूर्णता तक पहुंचाने का प्रयत्न भी किया था।

ज्ञानेश्वर चूंकि अद्वैत सिद्धान्तों में विश्वास करते थे, अतएव भक्ति में आस्था होने पर भी उन्होंने उस परम्परा में कीर्तन के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय योग नहीं दिया। भक्ति को आगे बढ़ाने का श्रेय उनके मित्र अथवा शिष्य नामदेव को है। नामदेव के हृदय में भी ज्ञान-मार्ग के प्रति श्रद्धा थी और यही कारण है कि कबीर ने उद्धव, अक्रूर, हनुमान, शुकदेव तथा जयदेव के साथ नामदेव का भी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। प्रेम-भावना के अतिरिक्त नामदेव ने नाम-स्मरण को सर्वाधिक महत्त्व दिया और हरिनाम-स्मरण को अश्वमेध यज्ञ तथा तीर्थाटन आदि से श्रेष्ठ माना। इन भक्ताचार्यों का एक प्रभाव यह भी पड़ा कि मूर्ति-पूजा और धाम की प्रतिष्ठा में आशातीत वृद्धि हो गयी। रामानुज ने मूर्तियों को ईश्वर का अर्चावतार माना ही था, जयदेव तथा उनके अनुयायी भी कृष्ण-मूर्तियों के सम्मुख नाचते-गाते थे और ज्ञानेश्वर-जैसे संत विट्ठल भगवान की मूर्ति के विरह में रो तक पड़ते थे। नामदेव के हाथों जब मूर्ति द्वारा दूध पिये जाने की घटना का प्रचार हुआ, तब मूर्ति को ही ईश्वर माना जाने लगा। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में विद्यापति ने भी पदों की रचना कर कीर्तन, भजन और पद-गायन की परम्परा को आगे बढ़ाया।

सोलहवीं शताब्दी में वल्लभाचार्य और चैतन्य ने भी भक्ति की परम्परा को आगे बढ़ाने में विशेष योग दिया। इनके आंदोलन शंकराचार्य के अद्वैत के विरोध में ही पनपे थे। मध्व और निम्बार्क ने भक्ति-परम्परा को सुदृढ़ कर ही दिया था; अतएव इन्हें उस आन्दोलन को आगे बढ़ाने के समस्त आधार सहज ही प्राप्त हो गये। महाप्रभु चैतन्य का जन्म १५४२ वि० में नवद्वीप (बंगाल) में हुआ था। प्रारम्भ में ये मध्व-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए; किन्तु द्वैत के प्रति इनके हृदय में अधिक आस्था न होने के कारण रुद्र और सनकादि-सम्प्रदाय के प्रति इनका विश्वास प्रबल होता गया। बाद में इन्होंने नृत्य और गायन के साथ कीर्तन-परम्परा का प्रबल समर्थन किया और इसे ही साधना की पूर्ण पद्धति मानकर इसी का प्रचार किया। वल्लभाचार्य भी चैतन्य के समकालीन थे। इन्होंने कृष्ण को ही विष्णु तथा बैकुंठ को उनका स्थान माना।

सोलहवीं शताब्दी में ही रामानुज की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए रामानन्द ने देश में भक्ति और ज्ञान का व्यापक प्रचार किया। रामानन्द की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि उन्होंने सिद्धों और नाथों द्वारा प्रवर्तित ज्ञान-मार्ग और रामानुज की भक्ति-पद्धति को समान रूप से आदर दिया। जाति-भेद के

महत्त्व को भी उन्होंने स्वीकार नहीं किया। इसके साथ ही पूर्वाचार्यों की परम्परा को तोड़कर संस्कृत के स्थान पर बोलचाल की भाषा को ही उन्होंने प्रचार का माध्यम बनाया। राम को इन्होंने विष्णु का अवतार मानकर सीताराम की उपासना पर जोर दिया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'तत्व दृष्टि से रामानुजाचार्य के मतावलम्बी होने पर भी अपनी उपासना इन्होंने अलग की।' इन्होंने उपासना के लिए बैकुण्ठ-निवासी विष्णु का रूप अपनाकर लोक-लीला विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्टदेब राम और इनका मूल मंत्र राम नाम था। कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्यादा इन्हें मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबन्ध ये नहीं मानते थे। इनकी उपासना दास्य भाव की थी। रामानुज और रामानन्द के सम्बन्ध के विषय में यद्यपि मत-वैविध्य है, तथापि यह निश्चित है कि रामानन्द ने साधना की जिस परम्परा को जन्म दिया था, वह रामानुजी परम्परा के निकट होते हुए भी सर्वथा नयी थी। सम्प्रदाय की दृष्टि से तो रामानन्दी सम्प्रदाय सर्वथा नया सम्प्रदाय ही माना जा सकता है। रामानुज का सम्प्रदाय श्रीवैष्णव सम्प्रदाय था, जब कि रामानन्द का श्रीसम्प्रदाय माना जाता है। इसी प्रकार रामानुज ने जहाँ 'ॐ नमो नमो नारायण' मंत्र को स्वीकार किया था, वहाँ रामानन्द ने 'ॐ रामाय नमः' को अपने सम्प्रदाय का मन्त्र माना। समानार्थी होने पर भी मन्त्राक्षरों में परिवर्तन ही नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तन की भावना का सूचक है। इन दोनों के तिलक में भी भेद है। रामावत सम्प्रदाय और वैरागी सम्प्रदाय भी रामानन्द की ही देन हैं।

सम्प्रदायों के इतिहास से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में रामानुज, निम्बार्क, मध्व, चैतन्य, वल्लभ ही ऐसे आचार्य हुए हैं, जिन्होंने साध्य और साधना दोनों पक्षों पर पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से विचार किया था। अपने सिद्धांतों का प्रचार भी इन्होंने बड़े जोर-शोर के साथ किया था। ज्ञानेश्वर और नामदेव ने बारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तन में तात्विक दृष्टि से कोई सर्वथा नया विचार प्रस्तुत नहीं किया। इनके अतिरिक्त जितने भी पन्थ चले, उनका आधार ही दूसरा रहा। सम्प्रदायों के साथ उनकी अलग-अलग तात्विक विचारधारा भी रही, किन्तु पंथों के पीछे सूक्ष्म तत्ववाद का कोई अंतर दिखाई नहीं देता। दर्शनाचार्यों ने अपनी नवीन मान्यताएं देकर ही नये दर्शन का सूत्रपात किया था। पन्थों के प्रवर्तकों के सम्बन्ध में तो कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि बिना किसी तात्विक मतभेद के अपनी शिष्य-मंडली को लेकर अलग हो जाने मात्र से नये पंथ की नींव पड़ जाती थी। कबीर-पंथ, नानक-पंथ, दादू-पंथ, भीखा-पंथ, मलूक-पंथ, रैदासी-पंथ, कमाल-पंथ, आदि के सिद्धान्तों में कोई तात्विक भेद दिखाई नहीं देता। इस पर भी मध्यकाल में पंथों की कुछ ऐसी बाढ़-सी आ गयी थी कि अधिकांशतः प्रत्येक साधक अपनी शिष्य-

मंडली बनाकर नया पंथ चला देता था। कबीर ने स्वयं किसी पंथ-विशेष का प्रवर्तन किया था, इसका अतर्क्य प्रमाण प्राप्त नहीं; किन्तु उनके नाम पर पंथ चलाया अवश्य गया। कबीर के शिष्य धरमदास ने छत्तीसगढ़ में धरमदासी-शाखा नाम से एक नयी शाखा का प्रवर्तन किया था। इसके अतिरिक्त कबीर-पंथ की काशी-शाखा और धनौती-शाखाएं भी चली थीं। इसके कुछ ही समय पूर्व सेन नाई द्वारा सेन-पंथ और पीपा द्वारा पीपा-पंथ चलाये जा चुके थे। रैदास के नाम पर भी रैदासी सम्प्रदाय चलाया गया। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि 'रैदासी वा रविदासी सम्प्रदाय शब्द अधिकतर चमार जाति के उन व्यक्तियों के समूह का द्योतक है, जो किसी-न-किसी प्रकार का धार्मिक जीवन व्यतीत करते और इसी कारण साधु या संत-कोटि के पुरुष माने जाते हैं।' इससे यह स्पष्ट है कि रैदासी सम्प्रदाय के भी कोई विशिष्ट तात्विक सिद्धान्त नहीं हैं, जिनके आधार पर उसे पूर्णरूपेण नयी दार्शनिक विचारधारा मानी जा सके। कबीर के नाम पर बारह अन्य पंथ भी चलाये जाने की बात सर्वमान्य है। यह भी सही है कि इन बारह पंथों में से अधिकांश ने कबीर का विरोध भी किया है, किन्तु पंथों की स्थापना तो की ही गयी थी। कमाल यद्यपि किसी नये पंथ के प्रवर्तन के विरुद्ध थे, तथापि उनके नाम पर कमाल-पंथ का प्रवर्तन हुआ, यह भी सिद्ध है। सिख साहित्य के अनुसार १५२६ वि० में गुरु नानक का जन्म हुआ। उन्होंने भी नानक-पंथ नाम से एक नये पंथ का प्रवर्तन किया था। गुरु नानक के पश्चात् उनके पुत्र श्री चन्द (१५५१ वि०) ने एक नया उदासी सम्प्रदाय चलाया। इसके अतिरिक्त भी कुछ लोगों ने सिख गुरुओं से अलग होकर अपने-अपने नये-नये पंथ प्रारम्भ किये थे। प्रिथीचन्द के मीना-पंथ, हंदल जाट के हंदली-मत तथा रामराय के अनुयायियों के रामैया-पंथ का प्रारम्भ भी इसी परम्परा में हुआ था। सेवा-पंथी सम्प्रदाय, अकाली सम्प्रदाय, भगत-पंथी सम्प्रदाय, गुलाबदासी सम्प्रदाय, निरंकारी सम्प्रदाय, आदि अनेक ऐसे सम्प्रदाय भी इस परम्परा में जुड़ गये थे, जिनके पास स्वतन्त्र सम्प्रदाय चलाने का कोई तात्विक आधार दिखाई नहीं देता। श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इन सब का मतभेद सिख धर्म के साथ सर्वप्रथम व्यक्तिगत या अधिक-से-अधिक साम्प्रदायिक मात्र ही रहा। इनके अतिरिक्त पंजाब के आसपास लाल-पंथ, साध-सम्प्रदाय, सत्तनामी सम्प्रदाय, नामी सम्प्रदाय, चरणदासी सम्प्रदाय, बावरी-पंथ तथा गरीब-पंथ-जैसे अनेक पंथ प्रचलित थे। सं० १६३१ के लगभग दादूदयाल ने दादू-पंथ की स्थापना की थी। प्रारम्भ में यह एक सुगठित सम्प्रदाय के रूप में चलता रहा, किन्तु बाद में यह भी खालसा, नागा, उतराढ़ी, विरक्त और खाकी सम्प्रदायों में विभक्त हो गया। संत लालदास ने १६०० वि० के लगभग लालदासी सम्प्रदाय की स्थापना की। पंथ-प्रवर्तन की यह परम्परा १७०० वि०

के कुछ समय पश्चात् तक जोरों से चलती रही । १७०० वि० के लगभग ही प्राणनाथ ने प्रणामी सम्प्रदाय की नींव डाली ।

कृष्ण-भक्ति-परम्परा में भी कुछ नवीन सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ था । उनके कुछ ऐसे सिद्धान्त अवश्य हैं, जो उन्हें शेष सम्प्रदायों से अलग करने हेतु पर्याप्त हैं, परन्तु वे संख्या में अधिक नहीं और न यह भी कहा जा सकता है कि राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति-शाखा के भक्त कवियों को अपने नाम पर पंथ चलाने का ऐसा शौक ही था, जैसा निर्गुणपंथी संतों में पाया जाता है। निर्गुण-परम्परा के गिने-चुने सन्तों को छोड़ शेष सभी के नाम पर एक विशिष्ट पंथ की परम्परा दिखाई देती है ।

उपर्युक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि १७०० वि० के लगभग जब श्री अक्षर अनन्य का जन्म हुआ, अनेक पंथों की परम्परा चल रही थी और इन सबका कोई तात्विक आधार न था । इन परम्पराओं में भी मूल प्रवर्तक को छोड़कर उनके किसी ऐसे शिष्य का उल्लेख नहीं मिलता, जिसने उस पंथ को आगे बढ़ाया हो अथवा उसकी पुष्टि में तात्विक विचारों का संबल दिया हो । अक्षर अनन्य के सम्मुख ये अनेक पंथ विद्यमान थे । उनके सामने भी किसी प्रचलित पंथ के अनुवर्तन अथवा नये पंथ के प्रवर्तन की समस्या रही होगी; किन्तु वे किसी नये पंथ के प्रवर्तन के घोर विरोधी थे । प्रचलित पंथों को भी उन्होंने 'गंवरों के पंथ' कहकर उनकी कड़ी भर्त्सना की है । इन परिस्थितियों में वस्तुतः किसी ऐसे सन्त आचार्य की ही आवश्यकता थी, जो साधना-क्षेत्र के इन भेद-प्रभेदों को समाप्त कर सुविचारित एवं परिपक्व विचारधारा को समाज के सम्मुख रखकर साधना की उलझनों का अन्त कर दे । इस उद्देश्य की पूर्ति अक्षर अनन्य के साहित्य से हुई ।

रामानुज और वल्लभाचार्य की परम्पराओं ने राम-कृष्ण के भेद को भी प्रबल कर दिया था । तुलसी ने राम को और अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण को सर्वोपरि साध्य माना था । उधर मुसलमानों के प्रभाव के कारण अल्लाह और खुदा का भी प्राधान्य बना हुआ था । काशी के आसपास शैव धर्म भी जोरों से फैल रहा था । कबीर ने इन प्रभेदों को समाप्त करने का प्रयास किया था, किन्तु उनके अक्खड़पन और उनकी शैली का प्रभाव उलटा पड़ा । उसके परिणाम-स्वरूप लोगों की प्रतिक्रियात्मक भावनाओं को ही बल मिला । कबीर ने यदि पण्डितों और मौलवियों को समझाने का प्रयत्न किया था, तो वह भी गालियां देकर । इस स्थिति में साधना समन्वय और एकात्मकता की समस्या बनी हुई थी, जिसको हल करने का श्रेय अक्षर अनन्य को है। वस्तुतः हिन्दी साहित्य में कबीर ने जिस उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रयास प्रारम्भ किये थे, उसकी पूर्ति अक्षर अनन्य के साहित्य से ही हुई और इस प्रकार ज्ञानमार्गी सिद्धान्तों की पूर्ण अभिव्यक्ति हमें उन्हीं के साहित्य में मिलती है ।

अठारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ होते-होते पंथों की संख्या किस प्रकार बढ़ती चली जा रही थी, इसका संकेत किया जा चुका है। सूक्ष्म तत्ववाद पर आधारित न होने के कारण वे पंथ किसी ऐसी सैद्धान्तिक विचारधारा को प्रवाहित न कर सके, जो स्वयं में पूर्ण हो। यह भी संकेत किया जा चुका है कि किस प्रकार साधना-प्रणाली का सम्बन्ध काया से स्थापित हो गया था। इन दोनों का परिणाम यह हुआ कि विचारों की गहराई समाप्त हो गयी और जाति-पांति के खण्डन करने, मूर्ति-पूजा का विरोध कर ईश्वर को सर्वव्यापक बतलाने, साधना की बाह्य क्रियाओं यथा तिलक, केश, माला की निन्दा करने तक ही, वैचारिकता की सीमा बन गयी थी। ईश्वर को घट-घट-व्यापक कह देने तथा मृग और कस्तूरी का उपमान लेकर अपने ही भीतर उसे खोजने की बात कह देने को ही अत्यन्त सूक्ष्म तत्ववाद का मूल कहा जाना समझा जाने लगा। पण्डितों और मौलवियों को गालियाँ देने तथा वेद-पुराणों की निन्दा करने का भी तात्पर्य यही समझा जाता था कि गालियाँ देनेवाला पंडितों और मौलवियों के प्रत्येक रहस्य का मर्मज्ञ है और वेदों से भी परे है। ज्ञानाश्रयी परम्परा के दो-चार कवियों को छोड़कर शेष कवियों ने ज्ञान की बड़ी ऊपरी और उथली बातें कही हैं। ज्ञानाश्रयी परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जानेवाले कबीर के सम्बन्ध में भी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि 'कबीरदास ने पौराणिक हिन्दू धर्म के आचार-बाहुल्य को ही अधिक लक्ष्य किया था। कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टि में ज्यादा खटकता था, पर उस पूजा या उत्सव के पीछे छिपा हुआ तत्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टि में उपस्थित नहीं होता था। मूर्ति की उपासना उनको बुरी लगती थी, पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्ववाद उन्हें मालूम ही न था। शायद ही किसी दार्शनिक तत्ववाद या पौराणिक रहस्य-व्याख्या का उल्लेख उनके ग्रन्थ में पाया जाय। वेद-पाठ, तीर्थ-स्नान, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकाण्ड, इत्यादि सबके विरुद्ध कबीरदास ने लिखा है, पर कहीं भी इनकी गूढ़ व्याख्याओं को या इनकी पृष्ठभूमि के तत्ववाद को उल्लेखयोग्य नहीं समझा। इस प्रकार कबीरदास का पंडित वह पत्राधारी अधकचरा ब्राह्मण है, जो ब्राह्मण मत के अत्यन्त निचले स्तर का नेता है।'[1] केवल कबीर ही नहीं, प्रत्युत ज्ञानाश्रयी परम्परा के अधिकांश कवियों की वैचारिकता की यही सीमा रही है। इस परम्परा के साहित्य को देखकर यह कहा जा सकता है कि दो-चार को छोड़कर शेष कवियों के साहित्य में काव्य-कला और दार्शनिक विचारधारा की घोर विडम्बना हुई है। ज्ञानाश्रयी साहित्य में ज्ञान का अत्यन्त सामान्य स्तर ही देखने को मिलता है।

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर (छठा संस्करण), पृ० १२६-३१

अक्षर अनन्य को ज्ञान की यह विडम्बना बुरी प्रकार से खटकी थी और इसे उन्होंने 'मिथ्या बकवाद'[१] से अधिक कुछ नहीं माना। ज्ञान के क्षेत्र में व्याप्त आडम्बर और मिथ्याचार पर भी अनन्य की सूक्ष्म दृष्टि पड़ी थी, अतएव तत्ववाद से दूर थोथे ज्ञान-कथन की उन्होंने घोर भर्त्सना की है। अविद्या के बकवाद बढ़ने और अविद्या की चर्चाओं के कारण विद्या की हानि होते देख उनके हृदय को गम्भीर आघात पहुंचता था।[२] इस काल में कला और शास्त्र दोनों की ही उपेक्षा की जा रही थी। ब्राह्मण वेद-शास्त्रादि एवं पुराणों का अध्ययन ज्ञानार्जन के उद्देश्य से नहीं, प्रत्युत कथा-वाचनादि के द्वारा अर्थार्जन के उद्देश्य से ही किया करते थे। अर्थलोभ में कवि छन्द-कवित्तों का और गुरु-मन्त्रों का व्यापार किया करते थे। कला और शास्त्र दोनों की ही इस युग में घोर विडम्बना हो रही थी। अक्षर अनन्य को इस प्रकार के झमेलों में पड़ना ही न था, अतएव इन सब बातों से हटकर वह अपने आसन पर अडिग होकर बैठ गये।[3] समाज में इन कलुषों की उत्पत्ति इसके भी बहुत समय पूर्व से हो चुकी थी और तुलसी की मर्मान्तिक वेदना का भी यही कारण था। कलियुग के कलुषों का जितना अधिक वर्णन तुलसी ने किया, उतना कदाचित् किसी भी अन्य कवि ने नहीं किया। तुलसी वर्णाश्रम धर्म आदि के कट्टर समर्थक थे, अतएव उनके लिए यह स्वाभाविक ही था। इसका दूसरा अप्रत्यक्ष प्रभाव उन पर यह भी पड़ा था कि ब्राह्मणों के अपमानित होने की बात, राम नाम के स्थान पर अलख की चर्चा, शूद्रों का उन्नयन उन्हें बुरी प्रकार से खटकता था और इस झमेले में तुलसी का ध्यान ज्ञान की विडम्बना की ओर अधिक नहीं गया। इस काल की एक विचित्र स्थिति यह भी थी कि एक

---

१. लोक में अविद्या के अनेक बकवाद बढ़े। —ज्ञानयोग, १-८

२. एकै वेद पुरान सास्त्र व्याकर्न काव्य पढ़ि जानै।
नाना अर्थ कथनि कौ कहिबौ यहै ग्यान करि मानै।
अंतर धुनि की खबर नहीं बाहर चातुरि विस्तारी।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १२-५

३. पंडित वेद पुराननि बैंचत, बैंचत राग गुनै गुन वारौ।
छंद कवित्तनि कौं कवि बैंचत, मंत्रनि बैंचत है गुरु भारौ।
या कलि काल कौ कौतुक देखि, 'अनन्य' भयौ सब बात तें न्यारौ।
आसन होय सु होय भलें, पर आसन पांय परै न हमारौ।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३-४

ओर तुलसी शूद्र जाति के व्यक्तियों को तिलक लगाते और भजन-पूजन करते देख जल जाते और उस स्थिति को कलियुग का प्रत्यक्ष अवतरण मानते थे, तो दूसरी ओर कबीर, रैदास-जैसी जातियों के संत ब्राह्मणों के तिलक, छापा, माला आदि को निरा पाखंड कहकर उनकी खिल्ली उड़ाते थे। इन सबके बीच सूक्ष्म तत्ववाद पर विचार करने का श्रम बहुत ही कम कवियों ने किया।

साधना का सम्बन्ध जब काया और मात्र बाह्य क्रियाओं से जुड़ गया, तब उसमें अनेक आडम्बरों और पाखंडों की वृद्धि हो जाना स्वाभाविक ही था। इसके पूर्व ज्ञान की परम्परा ने भी एक विचित्र मोड़ ले लिया था। दर्शनाचार्यों ने ब्रह्म, जीव और जगत्, तीनों की बारीकियों को इस प्रकार उधेड़ा था कि इन तीनों का नंगा रूप जिज्ञासुओं के समक्ष उतर आया था। भेद की जो किंचित् भूमि अवशिष्ट बनी रही थी, वह भी चिन्तन और विवेक की नींव पर ही आधारित थी। चित्-अचित् को भली भांति अथवा पूर्णरीत्या समझे बिना इसके सम्बन्ध में बोलने का उस युग में किसी को अधिकार ही न था। यदि कोई अधकचरा पाण्डित्याभिमानी बोलने का साहस भी करता था, तो उसे चारों ओर से विवाद अथवा शास्त्रार्थ के लिए ललकारा जाता था। अपनी नवीन मान्यताओं को सिद्ध न करने अथवा किसी प्रकार की नयी मान्यताएं न देने की स्थिति में उसे मात्र शिष्य बनने का अधिकार प्राप्त होता था, गुरु बनने का नहीं। इस स्थिति में प्रत्येक साधक कहे जानेवाले व्यक्ति के द्वारा नया पंथ चलाये जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता था। धीरे-धीरे यह परम्परा समाप्त हो गयी और चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में तो नया पंथ चलाने का मानो सबको जन्मसिद्ध अधिकार मिल गया था। ज्ञान की मूल भूमिकाओं और उसके सूक्ष्म तत्वों के सम्बन्ध में सोचने-विचारने की अब आवश्यकता ही नहीं रही थी और इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में भी आडम्बर उतरने लगा था। अपने मत के समर्थन में एक शब्द भी कहे बिना पंडितों, मौलवियों एवं अन्य धर्माचार्यों को पचास गालियां दे देने मात्र से पांडित्य की धाक जम जाती थी। जिस प्रकार तिलक, माला, केश, आदि धारण करने से कोई भी व्यक्ति भक्त होने का दावा कर सकता था, उसी प्रकार अब ज्ञान की दो-चार ऊपरी और उथली बातें करने तथा सभी क्रियाओं को एकदम पाखंड घोषित कर देने मात्र से कोई भी सन्तों की श्रेणी में जा बैठता था। इस काल की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियां ऐसी थीं कि जनता को अपनी अन्य उलझनों के कारण ज्ञान की बारीक बातों पर विचार करने का अवकाश ही न था, और इस प्रकार संत बन जाना भी अब उसी प्रकार सरल हो गया था, जिस प्रकार तिलक लगाने और केश रखाने से भक्त बन जाना आसान था। अक्षर अनन्य ने इसके प्रति लोगों को सचेत करते हुए लिखा था कि इन सबकी बातों में न पड़कर आत्मतत्व पर विचार करना चाहिये। अनेक प्रकार की ज्ञान-चर्चाएं करनेवालों को उन्होंने बकवादी तथा

चबाई कहा है ।[१] इसका तात्पर्य यह न समझ लेना चाहिए कि अक्षर अनन्य के स्वर और कबीर के स्वर समान थे । अक्षर अनन्य ने इसके विपरीत न तो गाली-गलौज में ही अपना समय नष्ट किया और न किसी तत्ववाद को समझे बिना उसकी आलोचना ही की । उनकी दृष्टि सबसे अधिक उस युग में व्याप्त आडम्बरपूर्ण ज्ञानाचार पर ही टिकी थी । लोग मन्त्रादि चेटकों में और उनके चमत्कारों में सामान्य जनता को भुला दिया करते थे । सिद्धियों की प्राप्ति का प्रलोभन देकर सामान्य-बुद्धि व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर स्वार्थसिद्धि इनका लक्ष्य था ।[२] इसके अतिरिक्त सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने भी उस काल के समाज को इस प्रकार जकड़ दिया था कि उन्हें विवश होकर ज्ञान का व्यापार करने हेतु उद्यत होना पड़ता था । उद्यम में फंसकर लोगों को ज्ञान-आन की सब बातें भूल जानी पड़ी थीं । राजाओं को हंसी-मजाक के द्वारा रिझाना राज-दरबार में रहनेवालों का तथा कपट-भेष धारण कर भिक्षुक की भांति घूमते फिरना साधकों का काम था ।[३] सबसे बड़ा दोष इस युग का यह था कि उपदेशकों के मन, वचन, कर्म में एकरूपता शेष नहीं रही थी । उनका उद्देश्य धर्म अथवा ज्ञान-प्रसार नहीं, प्रत्युत अपने व्यवसाय का प्रसार था । शिष्य भी इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु बनाये जाते थे । अक्षर अनन्य ने इसे लोक और परलोक दोनों के लिए हानिकर कहा है । वह इस प्रकार के प्रचार को रोजगार से अधिक कुछ भी मानने को प्रस्तुत नहीं ।

यह पाखंड गुरु और शिष्य दोनों में ही व्याप्त हो गया था । न तो गुरु ही सिद्धान्त-मार्ग का अनुसरण करते थे और न शिष्यों में ही गुरुओं के प्रति श्रद्धा शेष

---

१. नाना रसवादी ग्यानवादी बकवादी नर,
परिये न चरचा चबाइन के पथ में । —ज्ञानयोग, २-३

२. आज कलिकाल में कुचाल देखी जहां तहां,
उद्यम की धुनि प्राणी ग्यान बिसराये हैं ।
हंसी ठगसार मसखरन कौ रिझैबौ नृप,
कपट पाखंड भेष भिच्छुक बढ़ाये हैं । —अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ७-१

३. एकै बोलन कौं बस करि कै यह सिद्धांत जु मानै ।
खबर मंगाय लेत इत उत की सबसों आप बखानै ।
यह विधि जतन लगावत जग में आखिर कुगति विचारी ।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ।
एकै लोग प्रयोग साधिकैं कहत सिद्धि करि देनै ।
क्यों न सिद्ध कर लेत आपु कौं मिस करि धन ठग लेनै ।
क्रिया सिद्ध क्यों होत भक्ति बिन बंचत इष्ट भिखारी ।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १२-९,१०

रही थी। गुरु-शिष्य दोनों के ही इतने निचले स्तर पर आ जाने के कारण भक्ति, योग अथवा ज्ञान की सभी सत्यता जाती रही थी और मात्र नकलें शेष रही थीं। इनके मूल तत्वों को ही लोग भूल चुके थे। नाक-कान मूंदकर सांस खींचना ही योग तथा साखी-सबदी बनाना अथवा पढ़ना ही भक्ति था। छाया-पुरुष की साधना भी श्रेष्ठ साधना समझी जाने लगी थी। इन सबके सम्बन्ध में अक्षर अनन्य ने लिखा है :--

"चाहिए गुरु होकैं अपुन सिद्धांत की राह चलै अरु सांचौ उपदेस करै। अरु सिष्य ऐसौ चाहिए जु गुरु की आग्या होइ सोई करै अरु माथौ दीवे लौं त्रिसुद्ध रहै। ऐसे दोइ होंय तब जु क्रिया साधै सु सिद्ध होय। सु या जुग में दो मन एक से जुरिबौ कठिन है। न एक से गुरु-सिष्य न एक से अस्त्री-पुरुष। ईस्वर की कृपातैं विरली जागां होत हैं तातं अब या जुग में पंचांग भक्ति वा अष्टांग जोग नाहीं सधत नकलैं होय रही हैं। भक्ति तौ यह रही है टीकौ माला आरती गाइबौ, साखी सबदी सीखिबौ, बनाइबौ, चरचा बाद कीबौ। अरु जोग इतनौ जु सुर परिछा आसनै साधीं कान मूंदें तैं पवन को सन्नाहट सुनिबौ, यासैं अनहद बानी कहत हैं अरु आंखें नाक कान मूंदि ऊपर कौं दम खैंचत हैं तब ताके जोर सौं चित्त भर्म के तिलगा से देखत हैं तौ तासौं झिलमिली पंथ कहत हैं, ताके पद जोरे हैं—'झिलमिल झिलमिल बरसैं नूर, सिर पर साहिब सदा हुजूर।' सु ऐसे पद सुनि अपुनि भरम हैं अरु औरनि भरमावत हैं। अरु एकै सूरज कौंधी पीठ दै ठाड़े होति हैं अपनी छांहरी बड़ी बड़ी बार लौं देखत हैं। फिर आकास कौंधी चितवत हैं। ऊसी छाया आकास में भासत है चित्त में छाइ जात है सोई बड़ी बार लौं उतै सूझत है ताके पद जोरे हैं—'गगन पुरुष सत गुर पै दीठा।' ऐसे-ऐसे भरमना के पंथ अग्यानिनि चलाये हैं तिनकी बातनि में बहुतेरे भूलि रहे हैं। ये पाखंड कहावत हैं जिनके करे कौ अरु कहे सुने कौ फल कछू नाहीं।"[1]

विविध पंथों की स्थापना भी मिथ्याचरण-व्याप्ति का ही परिणाम था। ज्ञान-भक्ति तथा शास्त्रादि-पठन प्रत्येक क्रिया में मिथ्याचार घुस गया था। अक्षर अनन्य ने इसके सम्बन्ध में लिखा है :—

"सु पाखंडी सब जुगनि में चलि आये हैं। जैसे अबै कबीरपंथी, नानिकपंथी, दादूपंथी, कमालपंथी, मोहनपंथी ऐसे-ऐसे के पंथ चलाये हैं ते अपने-अपने ग्यान सब कथत हैं। वेद-सास्त्रनि की निन्दा करत हैं। सु इनके पंथ गईं गवां में अरु गवांरनि में बहुत चलत हैं। जो वेद पुरान नाहीं सुनत जानत ते इनकी चरचा में आउत हैं, एकै तो ए पाखंडी कहावत हैं अरु एकै पाखंडी वेद-सास्त्रनि के पढ़ैया होति हैं। जे औरनि कौं ग्यान चरचा करि परमोधत हैं अपुन कछू साधन नाहीं करत। रुजगार के ही लएं कथा सुनावत हैं ते पाखंडी हैं। अरु मठधारी की चरचा केसौदास कही है सु

---

१. अष्टांग योग।

पाखंडी वही तौ जो कोउ दरसन कौं चढ़ाइबे कौं आवै ठाकुर की रचना करै नातरु धरैं रहै पूजा न करै तापै पाखंडी कह्यौ। सु पाखंडी की चरचा यह है जु मुंह और, पेट और औरनि के परमोधिबै कौं चरचा पूजा जाप कै दिखावै अंतहकरन भक्ति न होय ताकी संगत भली नाहीं।"[1]

वैदिक धर्म और वेदों के प्रति अक्षर अनन्य के हृदय में अपार श्रद्धा थी, किन्तु उसे ज्ञानयोग का चरम लक्ष्य उन्होंने स्वीकार नहीं किया। अन्य दर्शनों को भी वे स्वीकार करते थे और किसी भी सुप्रतिष्ठित विचारधारा का विरोध करने को वे पाखंड मानते थे। अन्य धर्मों के खंडन करने को भी उन्होंने पाखंड ही माना है :–

"अरु ग्यानी तासौं कहैं बिना पढ़ैं आपुतैं सब जानै। जोईं बेद पुरान सोईं ग्यानी की जुबान; एक सी विदी मिलै। अरु जो विदी न मिलै, अटकर ग्यान कोउ कहै सु पाखंड है। कलिजुग में पाखंडी बहुत हैं। पाखंडी अपनौ पंथ चलावै विरानौ धर्म खंडे। ते कलिजुग के दूत हैं। ऐसो हाल भयौ है भेष धारिन में। कोउ वीर विद्या साधत हैं कोउ सुर में हो सगुनौती सी विदी मिलावत हैं कोउ चित्त भर्म की बातें कहि औरनि भरमाउत हैं। सैकरनि सिष्य करत हैं। बेद पुराननि के धर्म छुटाये हैं अपने अपने पंथ चलाये हैं। संसार उन्हें पूजत हैं। ऐसो हाल या जुग में भयौ है।"[2]

स्पष्ट है कि अन्य पंथों की निन्दा कर अपने नये पंथ की स्थापना के प्रति अक्षर अनन्य के हृदय में सद्भावना न थी। अन्य देवताओं के निन्दकों के हृदय में स्वयं अपने उपास्य के प्रति अनन्यता का भाव रह सकता है, इस पर भी अक्षर अनन्य को विश्वास न था। इस प्रकार के नये पंथों एवं उनके प्रवर्तकों को पाखंड मानते हुए उन्होंने कहा है कि 'ये मूर्ख यह भी नहीं जानते कि इसी प्रकार वे और उनके पंथ भी समाप्त कर दिये जायंगे।'[3] वज्रयान और मंत्रयान साधना-पद्धतियों का धीरे-धीरे समाज पर यह प्रभाव पड़ा था कि लोग भूत-प्रेतों को सिद्ध कर चेटकों में उलझ गये थे। उनको भी अनन्य ने 'अल्प-बुद्धि' माना है।[4]

---

१. अष्टांग योग
२. अष्टांग योग
३. जौन पक्षधारी आन देवनि की निन्दा करैं,
तिन कौ अनन्य भाव कैसैं ठहरात है ॥ - अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४-३

आपने आपने पंथ चलाइबौ, आपनी आपनी माड़ कौ कीबौ
नीको लगै सब कौ अपस्वारथ जानै, न मूढ़ किते दिन जीबौ।
–अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ८–७

४. कहि 'अनन्य' संसार की, अलप बुद्धि अनरीत।
ईस्वर कौं धोखौ करै, भूतन की परतीत ॥ —अक्षर अनन्य की साखी, १७

भक्ति के क्षेत्र में व्याप्त आडम्बर की ओर भी अक्षर अनन्य की दृष्टि गयी थी, किन्तु अपने सिद्धान्तों के अनुसार वे आलोचना में अधिक नहीं पड़े। आत्मा को परमात्मा का ही एक अंश मानकर मनुष्य-मात्र को उन्होंने ईश्वर की ही संतान माना है। इस दृष्टि से उन्होंने सखाभाव, दासभाव, आदि भक्ति-भावनाओं से अधिक पुत्रभाव पर जोर दिया। सखी-सम्प्रदाय द्वारा प्रवर्तित सखीभाव की उपासना को तो उन्होंने कलियुग का एक विचित्र तमाशा माना है।[1]

संक्षेपतः अक्षर अनन्य के युग में धर्म और ज्ञान की बड़ी बुरी दशा थी। कबीर आदि संतों ने नये पंथ भले ही चला दिये हों, किन्तु ज्ञान के प्रसार में उन्होंने भी अधिक योग नहीं दिया। नये पंथों के प्रवर्तन से पाखंड और आडम्बर के प्रसार में ही वृद्धि हुई थी तथा धर्म एवं ज्ञान को व्यापार का माध्यम बना लिया गया था। धर्म-प्रवर्तक गुरु केवल व्यापार के उद्देश्य से ही शिष्य-परम्परा में वृद्धि करते थे और धर्म के मूल तत्वों का ज्ञान भी उन्हें नहीं था। नये पंथों का अनुसरण भी केवल गांवों के बिना पढ़े-लिखे लोग ही किया करते थे और विवेकशील व्यक्तियों के लिए ज्ञानोपदेशक कोई शेष नहीं रहा था। अक्षर अनन्य को युग की यह विडम्बना अच्छी न लगी, अतएव उन्होंने आलोचना-प्रणाली को छोड़कर मूल तत्वों और सिद्धान्तों के विवेचन एवं उनको सामान्य व्यक्ति तक पहुंचाने का ही अधिक प्रयास किया।

---

१. **ध्रुव प्रहलाद दत्त नारद सनक व्यास,**
ऊधौ अरजुन जौन निकट सखा से हैं।
औरऊ अनेक भक्त राजरिषि जोगी सुनै,
सखी न कहाये कोउ जगत प्रकासे हैं।
पुरुष तो साधु महा पुरुषई कहावै फेरि,
पुरुष तैं सखी नाम कौन मत भाषे हैं।
'अक्षर अनन्य' राह पाछिली सु पूछै नहीं,
अब कलजुग माँहि अजब तमासे हैं।

–अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १–७

२. जन्म और जीवन

जन्म-मरण के क्षितिज-वातायन से मोक्ष की ओर झांकनेवाले, जीवन को मिथ्या एवं विश्व को माया समझकर भौतिक जीवन के प्रति वीतराग तथा चैतन्य की उपलब्धि हेतु साधना में लीन संत-महात्माओं को स्वयं अपने सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का परिचयात्मक उल्लेख करने का न तो अवकाश ही मिलता है और न उन्हें इसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। सत्य ब्रह्म की अनुभूति में ही उनका समस्त जीवन व्यतीत होता है और इस दशा में कबीर, तुलसी, आदि महात्माओं ने इतने प्रचुर साहित्य का प्रणयन करने पर भी अपने जन्म-जीवन के सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखने की आवश्यकता ही नहीं समझी। ऐसी दशा में उन महापुरुषों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें बाह्य साक्ष्यों का आधार ही अधिक ग्रहण करना पड़ता है। अक्षर अनन्य ने भी अपने साहित्य में स्वयं अपने जीवन तथा जन्म के सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं लिखा। उनके तथा पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' एवं महाराज छत्रसाल के बीच आये-गये पत्रों अथवा चिट्ठों में ही यत्र-तत्र जो सामग्री मिल जाती है, उसके आधार पर भी यद्यपि हमें उनके जन्म-सम्वत् के सम्बन्ध में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं होती, तथापि उनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाता है। अक्षर अनन्य के जीवन के सम्बन्ध में निम्नलिखित स्रोतों से ही अल्पाधिक जानकारी प्राप्त हो सकी है :—

१. अक्षर अनन्य के चिट्ठा (यह चिट्ठा पत्रों के रूप में अनन्य की ओर से उनके शिष्य पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के लिए लिखे गये थे।
२. अक्षर अनन्य तथा महाराज छत्रसाल का पत्र-व्यवहार।
३. समकालीन नरेशों का जीवन।
४. हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखकों द्वारा किये गये उल्लेख।
५. श्री बाजूराय 'द्विजदास'-कृत वंशावली। श्री बाजूराय अक्षर अनन्य के प्रपौत्र थे। आपने अपनी वंशावली में अक्षर अनन्य से और भी पहले का उल्लेख करते हुए अपने समय तक की वंश-परम्परा का उल्लेख किया है।
६. परिवार में तथा समाज में चलती हुई जनश्रुतियां।

अक्षर अनन्य के जन्म-संवत् का निश्चित रूप से उल्लेख करना यहां कठिन प्रतीत होता है। प्राप्त सामग्री में उनके जन्म के सम्बन्ध

में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता। यत्र-तत्र बिखरे हुए समकालीन एवं अक्षर अनन्य के प्रति आस्थावान कवियों ने उनका उल्लेख तो किया, किन्तु उनसे भी जन्म-संवत् का ज्ञान नहीं होता। परवर्ती इतिहास-लेखकों ने अक्षर अनन्य के जीवन-काल का ही उल्लेख किया है, उनके जन्म-काल का नहीं; साथ ही उनके स्थिति-काल को ही कहीं-कहीं भूल से जन्म-संवत् मानकर लिख दिया गया है। एतद्विषयक ऐसे आधार भी आज उपलब्ध नहीं, जिनके सहारे इस दिशा में कुछ आगे बढ़ा जाता।

हिन्दी साहित्य के अब तक जितने भी इतिहास लिखे गये हैं, उन सबमें श्री अक्षर अनन्य का उल्लेख तो किया गया है, किन्तु उनके जन्म-संवत् के सम्बन्ध में किसी ने निश्चित रूप से कुछ नहीं लिखा। श्री महाकवि "सूदन" ने अपनी कविता में जिन कवियों के नामों को गिनाकर प्रणाम किया है, उनमें श्री अक्षर अनन्य का नाम भी लिया गया है। "शिवसिंह सरोज" में, जिसे हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास माना जाता है, "अनन्य" नामक तीन कवियों का उल्लेख किया गया है; किन्तु यह भी स्पष्ट है कि एक ही "अनन्य" को अलग-अलग तीन कवियों के रूप में मानने की यह भूल ही हुई है। इनमें से एक "अनन्य" कवि का काल सं० १७६० वि० लिखा गया है और उन्हें वेदान्त तथा नीति-विषय पर लिखनेवाले कवियों में माना गया है। दूसरे "अनन्य" का काल सं० १७१० वि० लिखा गया है और इन्हें शान्त रस का कवि लिखा गया है। तीसरे "अनन्य" का कोई काल नहीं लिखा गया तथा इनके सम्बन्ध में इतना ही उल्लेख किया गया है कि इन्होंने दुर्गासप्तशती का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है। इतने संक्षिप्त परिचय के साथ तीनों कवियों की रचनाओं के कुछ उद्धरण भी दिये गये हैं। उद्धृत समस्त छन्द श्री "अक्षर अनन्य" की ही रचनाएं हैं, जिनको भूल से अलग-अलग तीन अनन्य कवियों की रचनाएं समझ लिया गया है। इन तीन अनन्य के अतिरिक्त एक और "अनन्य दास" चकेदेवा, जिला गोंडा-वासी का भी उल्लेख किया गया है। इनके सम्बन्ध में लिखा गया है कि ये पृथ्वीचन्द दिल्ली-देशाधीश के यहाँ रहते थे और इन्होंने "अनन्य योग" नामक ग्रन्थ बनाया है। इनका काल सं० १२०५ वि० लिखा गया है। इनकी कविता का जो उदाहरण दिया गया है, वह भी "अक्षर अनन्य" के राजयोग (अक्षर अनन्य के चिट्ठा, चतुर्दश प्रकाश) से उद्धृत किया गया है। यहाँ इस ओर संकेत कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि शिवसिंह ने अनन्य के राजयोग का उदाहरण "अनन्य दास" के "अनन्य योग" नामक ग्रन्थ से मानकर लिखा है। अन्य अनेक लेखकों ने भी "अक्षर अनन्य" की रचनाओं का उल्लेख करते समय "अनन्य योग" नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जब कि इस नाम की कोई भी रचना प्राप्त नहीं होती।

'शिवसिंह सरोज' में अनन्य दास को दिल्ली-देशाधीश पृथ्वीचन्द के यहाँ रहते हुए लिखा गया है; किन्तु इतिहास में दिल्ली-देशाधीश पृथ्वीचन्द नामक किसी

राजा का उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में अधिक न लिखकर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि दतिया के अन्तर्गत सेंवढ़ा के राजा पृथ्वीसिंह को ही भूल से दिल्ली-देशाधीश मान लिया गया है। इस भूल का कारण सम्भवतः यही प्रतीत होता है कि अनन्य-साहित्य में अनेक स्थलों पर "पृथीचन्द नृपराज" का उल्लेख प्राप्त होता है। अनन्य-कृत 'राजयोग' भी सेंवढ़ा के राजा पृथ्वीसिंह को ही सम्बोधित कर लिखा गया है, किन्तु उसमें सेंवढ़ा का कहीं उल्लेख नहीं; अतएव 'पृथीचन्द राय' के दिल्ली-देशाधीश मानने की भूल हो गयी होगी। निर्दिष्ट विषय की अपेक्षावश 'राजयोग' शब्द का अनेक बार प्रयोग किये जाने पर भी पुस्तक के छन्दों में स्वयं कहीं भी 'अनन्य योग' नाम से ग्रन्थ के नाम के प्रति कोई संकेत नहीं है। इस पर भी पुस्तक को 'अनन्य योग' का नाम देना असंगत नहीं समझा गया होगा। पुस्तक के प्रारम्भ और अन्त, दोनों ही स्थानों पर 'पृथीचन्द राय' का उल्लेख किया गया है :-

'यह भेद सुनौ पृथिचन्द राय,
फल चारहु को साधन उपाय।'

× × ×

'राजयोग सिद्धान्त यह, जान राज पृथिचन्द।'

उपर्युक्त पंक्तियों में प्रयुक्त 'पृथीचन्द राय' शब्द से 'पृथीचन्द' के दिल्ली-देशाधीश होने की तथा पुस्तक को 'अनन्य योग' का नाम देने की भूल असम्भव नहीं। 'अनन्य योग' के नाम से निम्नलिखित छन्द को उद्धृत किया गया है :-

का होत मुड़ायें मूड़ बार,
का होत रखायें जटा भार।
का होत भामिनी तजें भोग,
जौलौं न सधै थिर चित्त योग।[1]

यह छन्द 'अक्षर अनन्य' के 'राजयोग' नामक चिट्ठा से ही लिया गया है। नागरी प्रचारिणी सभा की सन् १९०६-८ की हिन्दी पुस्तकों की खोज-रिपोर्ट में अक्षर अनन्य तथा उनके शिष्य पृथ्वीसिंह 'रसनिधि', दोनों का ही उल्लेख

---

1. **Aksara Ananya (Fl. 1653 A.D.). He was a Kayastha of Senhura, a village in the Datia State. He was a Sanyasi, well versed in the Vedantic system of Philosophy. He was so skilled in metrical composition that he often spoke in verse. Once Maharaja Chhatrasala of Panna invited him to his court but he declined to attend. He was the first man to translate the Durga Saptasati into Hindi verse. His descendants are still found in the Datia State. Being the spritual preceptor of Kunwar Prithi Raja he received from him some villages in the way of a Jagir which he handed over to his brother.**

किया गया है और उसमें इनका काल १७१० वि० माना गया है। उसी के आधार पर समस्त परवर्ती लेखक उसी काल को स्वीकार करते गये। 'शिवसिंह सरोज' में अनन्य दास का जन्म-संवत् १२०५ वि० लिखा गया है। वह भी निराधार ही है और प्रतीत होता है कि यह उल्लेख बिना किसी विचार के ही कर दिया गया है। ठीक ऐसी ही भूल मिश्रबन्धु ने भी अपने 'मिश्रबन्धु विनोद'-में अक्षर अनन्य के सम्बन्ध में की है। एक स्थान पर मिश्रबन्धु अक्षर अनन्य का जन्म-संवत् १७१० वि० मानते हैं। दूसरे स्थान पर मिश्रबन्धु ने 'अक्षर अनन्य' का ही उल्लेख फिर से किया है, जो भूल से किया गया है और ऐसी भूल 'मिश्रबन्धु विनोद'-में अनेक स्थानों पर की गयी है। दूसरे स्थान पर आपने लिखा है कि 'हम अक्षर अनन्य का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी में मानते हैं।' इसका कारण आपने यही दिया है कि अक्षर अनन्य की भाषा पूर्ण परिष्कृत एवं परिमार्जित है। ऐसी स्थिति में यदि 'शिवसिंह सरोज' के रचयिता से भूल हो गयी, तो आश्चर्य की बात नहीं। "सभा" की खोज-रिपोर्ट का सन्दर्भ देते हुए मिश्रबन्धु ने लिखा है कि "खोज-रिपोर्ट में इनका जन्म-काल सं० १७१० वि० लिखा है, जो अन्य जांच से भी ठीक जंचता है। इनका कविता-काल १७३५ वि० के लगभग समझना चाहिये।" इस स्थान पर मिश्रबन्धु ने अपनी 'जांच' को स्पष्ट नहीं किया। श्री बद्रीनाथ भट्ट ने अपनी 'हिन्दी' पुस्तक में '१७१० वि० में अक्षर अनन्य हुए" कहकर उसे एक प्रकार से उनका जन्म-काल ही माना है। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में अक्षर अनन्य को १७१० वि० के लगभग वर्तमान माना है। श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर अपने' 'बुन्देल-वैभव' नामक बुन्देलखंड के साहित्यिक इतिहास में अक्षर अनन्य का जन्म-काल १७१४ वि० के लगभग मानते हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के जितने भी इतिहास लिखे गये, उन सबमें अनन्य के इसी जन्म-संवत् को दुहराया जाता रहा, अतएव उनका उल्लेख यहां आवश्यक प्रतीत नहीं होता। प्राप्त सामग्री पर यदि विचार किया जाय, तो भी अक्षर अनन्य के जन्म की निश्चित तिथि अथवा संवत् ज्ञात नहीं होता; फिर भी उनका उल्लेख असंगत नहीं समझा जा सकता।

श्री 'अक्षर अनन्य' दतिया राज्य के अन्तर्गत सेंवढ़ा जागीर के अधिपति श्री पृथीचन्द या पृथ्वीसिंह के गुरु थे। यही पृथ्वीसिंह हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'रसनिधि' नाम से प्रख्यात हैं। आपकी अमर कृति 'रतन हजारा' से हिन्दी साहित्य के प्रेमी पाठक भली भांति परिचित हैं। श्री रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' का संवत् १७१७ वि० तक वर्तमान होना लिखा है, जो नितान्त भ्रम-मूलक है। पृथ्वीसिंह के पिता दतिया-नरेश श्री दलपतराय, का जन्म १७०० वि० में हुआ था। आपकी तीन रानियों से पांच पुत्र उत्पन्न हुए थे। इन्हीं पुत्रों में से

पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' आपकी तीसरी संतान थे और कहीं-कहीं पांचवीं सन्तान होने का भी उल्लेख मिलता है। इस प्रकार यह स्वीकार करना गलत न होगा कि पृथ्वीसिंह अथवा पृथ्वीचन्द का जन्म-संवत् १७३० वि० के पूर्व हुआ ही न होगा और शुक्ल जी द्वारा १७१७ वि० तक वर्तमान रहने का उल्लेख बिलकुल गलत हो जाता है। पहले दतिया और सेंवढ़ा एक संयुक्त राज्य के रूप में थे, किन्तु पृथ्वीसिंह के समय में ही सेंवढ़ा की जागीर अलग कर दी गयी थी तथा पृथ्वीसिंह को ही उसका पहला शासक बनाया गया था। दतिया राज्य का जो इतिहास प्राप्त होता है, उसमें पृथ्वीसिंह की राज्याधिकार-प्राप्ति का काल सं० १७६७ वि० लिखा गया है। यह भी अनुमान है कि पृथ्वीसिंह ने अलग से राज्य प्राप्त होने के पश्चात् ही अक्षर अनन्य को अपने यहां बुलाया होगा। इस दशा में सं० १७७० वि० के पूर्व श्री अक्षर अनन्य सेंवढ़ा न आये होंगे। सेंवढ़ा में पृथ्वीसिंह के गुरु की भांति रहते हुए श्री अक्षर अनन्य का उनके साथ जो चित्र प्राप्त हुआ है, उसमें श्री अक्षर अनन्य की उम्र पचास वर्ष से कम प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार अनन्य का जन्म-काल १७१० वि० के आस-पास अनुमानित किया जा सकता है।

श्री अक्षर अनन्य का सबसे अधिक एवं सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध श्री पृथ्वीसिंह के ही साथ रहा है। पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' के गुरु के रूप में उन्होंने सेंवढ़ा (वर्तमान दतिया जिला, मध्यप्रदेश) में सिन्धु नदी के तट पर रहकर बहुत समय तक उनको ज्ञान-मार्ग का उपदेश दिया था। 'अक्षर अनन्य' के 'चौदह चिट्ठा' तथा 'अष्टांग योग' की रचना केवल पृथ्वीसिंह को ज्ञानोपदेश देने के उद्देश्य से ही की गयी थी। वस्तुतः यह अक्षर अनन्य की ओर से पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को भेजे गये पत्रों का संकलन है, जिसने विषय-विवेचन के कारण स्वतन्त्र ग्रंथों का रूप ले लिया। पृथ्वीसिंह के प्रति श्री अक्षर अनन्य की उपदेशात्मक[1] शैली के अनुशीलन से भी यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि

---

१. प्रथीचन्द नृप राज यह, सुनहु ग्यान विग्यान।

× × ×

प्रथीचन्द नृपराज आपसौं ग्यान कथा हम भाषैं।

× × ×

प्रथीचन्द नृपराज तुम्हारैं ग्यान सुनन की इच्छा।
भांति भांति के ग्यान जगत में सुनौ हमारी सिच्छा॥

'अछर अनिन्न' देत सिख पूरी, यहै ग्यान गुरु अर्चा।
प्रथीचन्द नृपराज जानिये, या सम और न चर्चा॥

अक्षर अनन्य पृथ्वीसिंह से उम्र में बहुत बड़े रहे होंगे। वे पृथ्वीसिंह को आशीर्वाद[1] देते हैं तथा उनको एक अल्पवयस्क अथवा अज्ञानी शिष्य की भांति ही सम्बोधित करते हैं। ऐसी अवस्था में यह विश्वास करना कि अक्षर अनन्य की आयु पृथ्वीसिंह से अधिक रही होगी, निराधार नहीं।

श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' ने अपने 'बुन्देल-वैभव' नामक बुन्देलखंड के साहित्यिक इतिहास में 'रसनिधि' के जन्म-सम्वत् आदि के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा। वहां केवल यही लिखा गया है कि इनका कविता-काल सं० १७४० वि० से १७६० वि० तक हो सकता है। इसके अतिरिक्त न तो किसी ने उनके काल को ज्ञात करने का प्रयत्न ही किया और न उस सम्बन्ध में कुछ लिखा ही गया; किन्तु समय के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों ही उल्लेख गलत एवं निराधार हैं।

श्री पृथ्वीसिंह के पिता श्री दलपतराय का देहान्त १७६३ वि० में हुआ था। जब आलमशाह और आजमशाह में परस्पर झगड़ा हुआ, तब श्री दलपतराय आजमशाह के पक्ष में आलमशाह से युद्ध कर रहे थे। 'जाजऊ' के मैदान में इन्होंने अपनी एवं आजमशाह की फौज की सहायता से आलमशाह की फौज को परास्त किया था। युद्ध में इस प्रकार की वीरता प्रदर्शित करने के उपरान्त आप आजमशाह को सलाम कर रहे थे कि उसी समय तोप का गोला आपके हाथ में लगा और १७६३ वि० में आपका देहान्त हो गया। आपकी मृत्यु के पश्चात् आपके बड़े पुत्र राव रामचन्द्र दतिया की गद्दी पर बैठे। राव रामचन्द्र के ही समय में पृथ्वीसिंह को सं० १७६७ वि० में सेंवढ़ा का राज्य दे दिया गया था। दलपतराय की प्रथम संतान राव रामचन्द्र का जन्म सं० १७३२ वि० में हुआ था, अतएव यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पृथ्वीसिंह का जन्म १७४० वि० के लगभग हुआ होगा।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में वर्तमान कवि श्री सूदन ने अपने ग्रंथ में श्री अक्षर अनन्य का भी उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में यह भी सिद्ध हो जाता है कि उस समय तक श्री अक्षर अनन्य पूर्ण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। इस ख्याति के प्राप्त होने में कम समय न लगा होगा और

---

१. **देखत तुम्हारे भक्ति भाव राव प्रथीचन्द,**
देत हम आसिष रहत सुख पाये हैं।

× × ×

आसिष देंहि भली सिख देंहि

× × ×

नीके रहैं प्रथिचन्द नरेस सदा यह आसिष देत अखंडी।

विशेषकर इस स्थिति में जब कि अक्षर अनन्य अपना स्थान छोड़कर कहीं जाया ही न करते थे। इस आधार पर भी अक्षर अनन्य का जन्म-काल १७०० वि० या १७१० वि० के लगभग पहुंच जाता है।

जन्म-काल के सम्बन्ध में किसी निष्कर्ष पर पहुंचने हेतु एक और अतर्क्य प्रमाण प्राप्त होता है। "अक्षर अनन्य"- कृत ग्रन्थों में से 'महिमा समुद्र' की जो हस्त-लिखित प्रति मुझे प्राप्त हुई है, वह स्वयं श्री अक्षर अनन्य के भ्रातृज 'श्री माखन जू' द्वारा लिखी गयी है। इस पुस्तक की प्रति फागुन वदी ७, सोमवार, सं० १७८४ वि० को समाप्त हुई थी। यह हो सकता है, और सम्भवतः ऐसा हुआ भी होगा कि श्री माखन जू ने 'महिमा समुद्र' की यह प्रति श्री अक्षर अनन्य के जीवन-काल में ही तैयार की हो, किन्तु इससे यह भी सिद्ध है कि १७८४ वि० के बहुत समय पूर्व श्री अक्षर अनन्य अपनी पूर्णता को पहुंच चुके थे और उनके ग्रंथों की प्रतिलिपियां यत्र-तत्र की जाने लगी थीं। इस तथ्य के आधार पर कहा जा सकता है कि सं० १७८४ वि० में माखन जू द्वारा 'महिमा समुद्र' की प्रतिलिपि किये जाते समय यदि अक्षर अनन्य वर्तमान होंगे, तो उनकी अवस्था सत्तर-अस्सी वर्ष की अवश्यर ही होगी। इस प्रकार अक्षर अनन्य का जन्म-काल निश्चित रूप से १७०० वि० के आसपास मान लिया जाना चाहिए।

जन्म-काल के सम्बन्ध में उपर्युक्त उल्लेख केवल इसी कारण आवश्यक समझे गये कि इस सम्बन्ध में अभी तक किसी भी लेखक अथवा इतिहासकार के द्वारा कुछ लिखा ही नहीं गया। अन्य किसी प्रकार का ठोस प्रमाण प्राप्त न होने की स्थिति में जो आधार प्राप्त हैं, उनके अनुसार जिन निर्णयों पर पहुंचा जा सकता है, उन्हीं का उल्लेख यहां किया जा सका है।

श्री अक्षर अनन्य पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल तथा संत प्राणनाथ के सम-कालीन थे। यद्यपि छत्रसाल प्राणनाथ द्वारा प्रवर्तित 'धाम-पंथ' में दीक्षित हुए थे, तथापि वे अक्षर अनन्य को भी गुरु की भांति ही श्रद्धा तथा सम्मान की दृष्टि से देखते थे। श्री छत्रसाल का जन्म सं० १७०६ वि० में हुआ था तथा उनका कविता-काल १७८८ वि० तक माना जाता है। 'अक्षर अनन्य और छत्रसाल का पत्र-व्यवहार' अध्याय में संकेत किया गया है कि सं० १७२८ वि० में छत्रसाल ने अपने भाई रतनशाह से मुगल-सम्राट् औरंगजेब के विरुद्ध सैन्य-संगठन करने तथा युद्ध की तैयारी के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए 'अक्षर अनन्य' के छन्द को अपने मत के समर्थन में पढ़कर सुनाया था। इससे स्पष्ट है कि सं० १७२८ वि० तक अक्षर अनन्य कवि के रूप में इतनी अधिक ख्याति अर्जित कर चुके थे कि उनके छन्दों को कंठस्थ किया जाने लगा था। यदि अक्षर अनन्य का जन्म-काल सं० १७१० वि० स्वीकार किया जाता है, तो उपर्युक्त सन्दर्भ के आधार पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अठारह वर्ष की अल्पायु में

ही उन्होंने कवि और महात्मा दोनों ही रूप में पूर्णता और परिपक्वता प्राप्त कर ली थी तथा इसे अस्वीकार करने की अवस्था में उनका जन्म-काल सं० १७१० वि० के पूर्व मानना पड़ेगा।

जन्म-काल के साथ-साथ श्री अक्षर अनन्य के जन्म-स्थान के सम्बन्ध में भी साहित्यिकों के बीच अभी तक बड़ी भ्रांति बनी हुई है। श्री अक्षर अनन्य बहुत समय तक सेंवढ़ा रहे और वहीं रहकर आपने श्री पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को ज्ञान-मार्ग का उपदेश भी दिया था। अपने चिट्ठों में तथा अन्य स्थलों पर आपने सेंवढ़ा में सिन्धु के तट पर निवास करने का स्पष्ट उल्लेख किया है [1] और इसी आधार को लेकर इतिहास-लेखकों तथा हिन्दी-प्रेमी साहित्यिकों ने श्री अक्षर अनन्य का जन्म-स्थान सेंवढ़ा में ही होने की कल्पना की है। श्री पृथ्वीसिंह के सम्बन्ध में भी यह तथ्य इतिहास-लेखकों के पास अब तक नहीं पहुंच सका कि सेंवढ़ा में वे अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पहुंच सके थे। सेंवढ़ा पहुंचने के पश्चात् ही उन्होंने श्री अक्षर अनन्य को अपने यहां बुलाया था, इसका उल्लेख आगे किया गया है। इस प्रकार अक्षर अनन्य के सम्बन्ध में वास्तविक तथ्य अब तक साहित्यिकों की दृष्टि से ओझल ही रहे।

महाकवि केशवदास को अपनी गोद में पोषित करनेवाली ओरछा की भूमि को ही अक्षर अनन्य को जन्म देने तथा उनको पोषित करने का श्रेय प्राप्त है। श्री 'मानसाह' के पुत्र के रूप में जन्म लेकर आपने ओरछा-निवासी श्री 'मानिकचन्द' कायस्थ के वंश को गौरवान्वित किया था। 'अक्षर अनन्य' के प्रपौत्र श्री बाजूराय "द्विजदास" द्वारा लिखित जो वंशावली मुझे प्राप्त हो सकी है तथा जो इस वंश-परम्परा के इतिहास को जीवित बनाये रही, उसी से यह समस्त तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। वंशावली में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :—

नगर ओंड़छे में बसैं, कायथ मानिकचन्द।
फूलचन्द तिनके अनुज, निसिदिन आनन्द कन्द।
मानिकचन्द विचित्र मति, दो सुत तिनके धाम।
धरमदास जेठे भये, लुहरे मंगदराम।

१– **सिन्धु नदी वन दण्डक सौ, सनकादि सौ छेत्र सदा जल गाजै।**
कासी सौ वास घने मठ सम्भु के, साधु समाज जैं बौलैं सदा जै।
कोट अटूट बनौ गिरि पै, प्रथु सौ प्रथिचन्द नरेस बिराजै।
उद्दित मन्दिर तीर नदी, तिहि आसन अस्थिर 'अच्छिर' छाजै।

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३-८

मंगद कें सुत दो भये, जेठे केसबराय।
मानसाह लुहरे भये, प्रभु पद प्रीति सुहाय।
केसब राय सुबुद्धि सुत, भये मुकटमन दानि।
भावसिंह लुहरे भये, सहज सुख की खानि।
पूरन पुन्य प्रताप जग, मानसाह को नन्द।
अछिर अनिन्न सुकुल कलस, प्रगटौ आनन्द कन्द ॥

इस अवधि अर्थात् अक्षर अनन्य के समय तक इस परम्परा के सभी लोग ओरछा ही में रहते आये थे। अक्षर अनन्य की बाल्यावस्था एवं युवावस्था का भी अधिकांश समय ओरछा में ही बीता।

'अक्षर अनन्य' की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा के सम्बन्ध में कहीं कोई सन्दर्भ प्राप्त नहीं होता, तथापि उनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि उन्होंने हिन्दी, संस्कृत और उर्दू भाषा के साथ ही काव्य-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष, आदि समस्त विषयों का गहन अध्ययन किया था। ये प्रारम्भ से ही शक्ति के उपासक थे और कहा जाता है कि जब ये ओरछा में रहते हुए शक्ति की आराधना में तमन्य रहते थे, उन्हीं दिनों एक ब्राह्मण-युवक इनका शिष्य बनकर इनकी सेवा-सुश्रूषा करता हुआ इनके साथ रहने लगा था। वह ब्राह्मण युवक अनन्य पर बहुत अधिक श्रद्धा रखता था और ब्राह्मण-गुरुओं की अपेक्षा भी कहीं अधिक इनकी सेवा किया करता था। इस स्थिति को देखकर ओरछा का ब्राह्मण-समाज उस युवक पर अत्यधिक क्रुद्ध हो गया। उन सबको यह बात बुरी प्रकार से खटक रही थी कि एक ब्राह्मण युवक स्थानीय समस्त ब्राह्मण-साधकों, गुरुओं एवं आचार्यों को छोड़कर एक कायस्थ की सेवा-सुश्रूषा करने को प्रस्तुत हुआ था। इसी के साथ वे लोग अक्षर अनन्य पर भी कुछ रुष्ट हो गये थे और उनके साथ ईर्ष्या रखने लगे थे; क्योंकि एक कायस्थ होकर भी उनकी प्रतिभा ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक बढ़ गयी थी। इसी ईर्ष्या का प्रतिशोध लेने के लिए ओरछा के ब्राह्मण-समाज ने अनन्य के शिष्य, उस ब्राह्मण युवक को जाति-बहिष्कृत कर दिया। सामाजिक रूप से उस युवक पर कायस्थ की सेवा करने के कारण पतित होने का दोष लगाया गया। समाज के बीच में अपनी इस दुरवस्था को साहस के साथ सहते हुए उस युवक ने अनन्य का शिष्यत्व छोड़ना ठीक न समझा और वह पूर्ववत् ही उनकी सेवा में तन्मय रहा। उसे अक्षर अनन्य की साधना-शक्ति पर विश्वास था और उसने उसके बल पर समाज की भी उपेक्षा कर दी थी। उसके इस व्यवहार पर और भी अधिक रुष्ट होकर कुछ लोगों ने अक्षर अनन्य को भी बुरा-भला कहना प्रारम्भ कर दिया और स्पष्ट शब्दों में कहा जाने लगा कि अक्षर अनन्य में यदि कुछ भी शक्ति है, तो प्रत्यक्ष में उसका प्रमाण सम्मुख आना चाहिये।

अक्षर अनन्य की शक्ति-साधना पर उस समय लोगों को कदाचित् विश्वास न था भी उन्हें इस स्थिति का कुछ ज्ञान भी रहा होगा। इस समस्या ने इतना जटिल रूप धारण किया कि उस प्रश्न को तत्कालीन ओरछा-नरेश श्री उदोतसिंह के पास भी पहुंचाया गया। राजा ने इस प्रश्न पर विचार करने के उपरान्त श्री अक्षर अनन्य को अपने दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी। अक्षर अनन्य कदाचित् इन सब बातों को शान्तिपूर्वक सहन न कर सके और अपनी साधना के बल पर उन्होंने स्वयं अपने हाथों जगदम्बा के मन्दिर में अपना सिर काटकर अर्पित कर दिया। कहा जाता है कि वह सिर उसी मन्दिर में तीन दिन तक शेष शरीर-भाग के साथ पड़ा रहा। तीसरे दिन स्वयं ही जगदम्बा ने प्रकट होकर उनके सिर को संयुक्त कर उन्हें जीवित किया। इसी समय से उन्होंने अपने ग्रन्थों के प्रणयन एवं साहित्य की सृष्टि का प्रारम्भ किया था। इस घटना का उल्लेख श्री बाजूराय "द्विजदास"- कृत वंशावली में भी किया गया है :—

"पूरन पुन्य प्रताप जग, मानसाह को नन्द।
अछिर अनिन्न सुकुल कलस, प्रगटौ आनन्द कन्द।
जगत मातु आरम्भ उर, दियौ सु सीस चढ़ाय।
जोर सीस दरसन दये, मांगहु बर सुख पाय।
वन्द चरन कर जोर कर, विनय सुनावहुं तोहिं।
देहु भक्ति अनपायनी, अरु अनन्य पद मोहिं।
अन्तरध्यान भई उमा, दै बर परम अखंड।
तब तें अछिर अनिन्न ने, बरनौ वेद ब्रह्मण्ड॥

इस घटना में जो कुछ भी तथ्य हो, यह तो नहीं कहा जा सकता; किंतु इससे यह निश्चय हो जाता है कि अक्षर अनन्य अपनी साधना के प्रारम्भिक समय में ही उसकी पूर्णता को पहुंच गये थे। यह लिखा जा चुका है कि श्री अक्षर अनन्य शक्ति के उपासक थे, किंतु बाद में वे शुद्ध ज्ञान-योग की साधना की ओर चले गये और देवी-देवताओं तथा उनकी उपासना-पद्धतियों में एक समन्वयात्मक स्थिति उत्पन्न करने का उन्होंने पूर्ण प्रयत्न किया।

कहा जाता है कि अक्षर अनन्य का नाम उनकी बाल्यावस्था में 'अछिरू' था। वंशावली के उपर्युक्त दोहों में भी यह संकेत किया गया है कि पुनर्जीवित किये जाने के समय पर 'अनन्य' की उपाधि इनको वरदान के रूप में प्राप्त हुई थी। यदि शीश काटकर समर्पित करने तथा उमा द्वारा उन्हें पुनर्जीवित किये जाने एवं 'अनन्यता' का वरदान प्राप्त करने के सम्बन्ध में कुछ अविश्वास भी किया जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि उनकी साधना-शक्ति अथवा काव्य-प्रतिभा पर मुग्ध होकर समाज ने ही उन्हें 'अनन्य' की उपाधि प्रदान की हो अथवा उनकी 'अनन्यता' के कारण लोग उन्हें 'अनन्य' कहकर पुकारने लगे हों। 'अनन्य प्रकाश' में 'अक्षर अनन्य' ने

स्वयं 'अनन्य' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अन्य अर्थात् द्वैत की भावना में आस्था न होना ही अनन्यता है । अक्षर अनन्य ने अपने साहित्य में सर्वत्र ही द्वैत का खंडन कर अद्वैत का प्रतिपादन किया है; अतएव यह भी समझा जा सकता है कि अपनी इसी आस्था के परिणामस्वरूप उन्होंने स्वयं 'अनन्य' नाम अपना लिया हो ।[1] आपकी कविताओं में 'अक्षर', 'अक्षर अनन्य' तथा 'अनन्य' तीनों ही नामों का उल्लेख पाया जाता है ।

शक्ति की आराधना में श्री अक्षर अनन्य अपनी बाल्यावस्था से ही तन्मय रहने लगे थे । साधना की तन्मयता एवं त्याग के महत्त्व ने उनको अपनी ओर इतना अधिक आकर्षित किया कि वे अधिक समय तक संसार के साथ न रह सके । आपने षोडश वर्ष की अवस्था में ही संसार त्याग कर वैराग्य ले लिया था। सेंवढ़ा में रहकर श्री पृथ्वीसिंह के लिए लिखे गए चिट्ठों में आपने लिखा है :–

हम सिसु सोरह बरस के, हते सुनहु नृपराज ।
तब तैं आसन बन्द किय, गुरू गरीब निवाज ।

अक्षर अनन्य ने यद्यपि अपनी रचनाओं में गुरु के महत्त्व को सर्वत्र ही स्वीकार किया है, तथापि कहीं भी अपने गुरु के नाम का उन्होंने स्पष्ट उल्लेख नहीं किया । 'उत्तम चरित्र', 'सिद्धान्त बोध', 'ज्ञानयोग', 'उपासना बोध', आदि ग्रंथों का प्रारम्भ गुरु वन्दना से ही किया गया है, किंतु गुरु-नाम के प्रति संकेत न कर गुरु-चरणों की ही वन्दना की गयी है । गुरु के प्रति संकेत करते हुए उन्होंने आदिनाथ, गुरुनाथ, सर्वज्ञनाथ, फक्कड़नाथ-जैसे शब्दों का ही प्रयोग किया है ।[2] नाथ-सम्प्रदाय के अनुयायी

---

१. **आनि कहावै दूसरौ, जहं न दूसरौ भाव ।**
तासहं कहत अनन्य पद, अद्वितीय ठहराव ।
जो कहियत अद्वैत पद, सो अनन्य पद अर्थ ।
यह प्रमान सो जानिहै, जो सरवग्य समर्थ ।। —अनन्य प्रकाश, ४-११५

२. **उत्तम पद गुरु नाथ के, उत्तम गुरु उपदेस ।**
उत्तम चरित भवानि के, उत्तम सुरथ नरेस ।। —उत्तम चरित्र, १

× × ×

आयसु जो गुरु नाथ करौ,
सुधरौ उर इष्ट अधार हमारैं । —अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४-२१

× × ×

आसन तैं न चलौं विय आसन,
आयसु दीन गुरू सर्वग्या । —अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-१८

× × ×

निज फक्कर कृत्य 'अनन्य' भनै,
हम फक्कर नाथ के फक्कर हैं । —स्फुट

आदि नाथ' को ही नाथ-सम्प्रदाय का प्रवर्तक तथा अपना गुरु मानते हैं और इस आधार पर यह संदेह किया जा सकता है कि अक्षर अनन्य भी नाथ-परम्परा के अनुयायी अथवा उससे प्रभावित रहे होंगे; किंतु जैसा आगे "अक्षर अनन्य के साधना-सिद्धांत" अध्याय में उल्लेख किया गया है, शक्ति-परम्परा में भी नाथों की एक परम्परा रही है और अक्षर अनन्य उस परम्परा को स्वीकार भी करते थे।

निश्चित एवं प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता कि अक्षर अनन्य ने अपनी किस अवस्था में अथवा किस संवत् में ओरछा छोड़ा और कब सेंवढ़ा पहुंचे। वैराग्य लेने के सम्बन्ध में लिखे गये उपर्युक्त दोहे की ध्वनि से स्पष्ट है कि उन्होंने षोडश वर्ष की अवस्था के पश्चात् ही ओरछा छोड़ा था। यही नहीं, उन शब्दों से यह भी स्पष्टतः ध्वनित है कि यह घटना पृथ्वीसिंह के लिए एक बहुत प्राचीन घटना थी। सम्भव है, इस अवधि तक अक्षर अनन्य को वैराग्य लिये हुए तीस, चालीस अथवा पचास वर्ष व्यतीत हो गये हों। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि सं० १७६७ वि० में पृथ्वीसिंह को सेंवढ़ा का राज्य मिला था। इस दशा में १७६७ वि० के पश्चात् ही अक्षर अनन्य पृथ्वीसिंह के बुलाये जाने पर सेंवढ़ा आये होंगे। सेंवढ़ा राज्य के प्रारम्भ होने के अत्यल्प समय पश्चात् ही यदि अक्षर अनन्य को वहां बुलाया गया होगा, तो भी वे वहां सं० १७७० वि० के लगभग ही पहुंचे होंगे। इस समय उनकी अवस्था ६० वर्ष के लगभग हो चुकी थी। पृथ्वीसिंह के लिए लिखे गये चिट्ठों के प्रसंगों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस समय तक अक्षर अनन्य अपनी साधना के क्षेत्र में पूर्णता तक पहुंच गये थे और उनको अपने साधना-सम्बन्धी अनुभवों की सत्यता पर विश्वास भी था। वे स्थान-स्थान पर बड़े जोरदार शब्दों में कह बैठते हैं कि उनका प्रत्येक कथन उनके अनुभवों पर आधारित है।[1] इसके अतिरिक्त अपने चिट्ठों में उन्होंने पृथ्वीसिंह को अपना शिष्य मानकर इस प्रकार सम्बोधित किया और समझाया है, जिससे ज्ञात होता है कि पृथ्वीसिंह उनसे अवस्था में बहुत छोटे थे। इस दशा में यही स्वीकार करना पड़ेगा कि अक्षर अनन्य अपनी ६० वर्ष की अवस्था के आसपास ही सेंवढ़ा आये होंगे। उन दिनों ओरछा में महाराज उदोतसिंह शासन कर रहे थे। महाराज उदोतसिंह स्वयं ही अक्षर अनन्य की महत्ता से बहुत अधिक प्रभावित थे और उनका बहुत अधिक सम्मान किया करते थे। बाजूराय द्वारा लिखित वंशावली में लिखा गया है :-

---

१. **ऐसौ यह जानै तब जानिबौ रहे न और,**
'अक्षर अनन्य' यह जानिकैं जनायौ है। —विवेक तरंग, ५

× × ×

'अक्षर अनन्य' सब जानिकैं अजान भये,
जानी यह बात करतूत एक सार है। —उपासना बोध, १९

नगर ओंड़छे छत्रपति, छितिपति सिंह उदोत।
राखे अति सनमान सौं, पाय ग्यान कौ पोत॥

अक्षर अनन्य के सेंवढ़ा आने के सम्बन्ध में दो प्रकार की घटनाएं कही-सुनी जाती हैं :–

(१) सेंवढ़ा के शासक श्री महाराज पृथ्वीसिंह स्वयं ही बड़े अच्छे भक्त और साधक थे। उनकी महारानी को भी भक्त और साधिका ही माना जाता है। ईश्वराराधना में इस प्रकार की प्रवृत्ति होने के कारण पृथ्वीसिंह अपनी महारानी के साथ बहुधा ओरछा में "रामराजा" के दर्शनों के लिए जाया करते थे। ओरछा में वे दोनों ही अनेक दिवसों के लिए ठहरते थे और वहां के महाराज उदोतसिंह एवं अन्य विद्वान् साधकों के साथ चर्चाएं भी हुआ करती थीं। इन चर्चाओं को पृथ्वीसिंह की महारानी भी बड़ी रुचि के साथ सुना करती थीं। श्री अक्षर अनन्य, महाराज उदोतसिंह के सम्मानित पुरुषो में थे और वे वहां की सभी विद्वद्गोष्ठियों में प्रधान समझे जाते थे। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य एवं साधना के अन्य विधानों के सम्बन्ध में अक्षर अनन्य की चर्चाएं बड़ी विद्वत्ता से भरी होती थीं। उनके इसी गुण पर मुग्ध होकर पृथ्वीसिंह और उनकी महारानी ने 'अक्षर अनन्य' से सेंवढ़ा चलने का निवेदन किया। हो सकता है कि सिन्धु-प्रवाह का आकर्षण अनन्य को पूर्व काल से ही मुग्ध किये हो अथवा किसी सुयोग से अनन्य-साहित्य की सृष्टि सिन्धु की तटीय चट्टानों पर ही होनी हो, अतएव अक्षर अनन्य ने राज-दम्पत्ति का वह आवेदन स्वीकार कर लिया और वे सेंवढ़ा आकर रहने लगे।

(२) श्री अक्षर अनन्य के सेंवढ़ा-आगमन की दूसरी कथा इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। जिन दिनों महाराज पृथ्वीसिंह सेंवढ़ा में राज्य कर रहे थे, उन्हीं दिनों धाम-पंथ के प्रवर्तक एवं उसके प्रथमाचार्य संत प्राणनाथ जी अपने भारत-भ्रमण के सिलसिले में विचरण कर रहे थे। अनेक राज्यों एवं नगरों का पर्यटन करते हुए वे सेंवढ़ा की ओर भी जा पहुंचे। धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में वे प्रथमतः राजा-महाराजाओं से ही मिला करते थे और उन्हें धाम-पंथ में दीक्षित करने का प्रयत्न करते थे। पृथ्वीसिंह के पास भी बहुत दिनों तक रुककर उन्होंने उनको धाम-पंथ में दीक्षित करना चाहा। इस पंथ को स्वीकार करने के लिए प्राणनाथ जी ने पृथ्वीसिंह को उनके राज्य सेंवढ़ा में हीरे की

खान बतलाने की बात कही थी। हीरे आदि की खानों का प्रलोभन प्राणनाथ जी सभी महाराजाओं को दिया करते थे। अनुमान है कि प्राणनाथ जी के प्रलोभन एवं उनके उपदेशों का पृथ्वीसिंह पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था और वह धाम-पंथ को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत भी हो गये थे। पृथ्वीसिंह की यह बात महारानी को तनिक भी प्रिय न लगी और उन्होंने किसी प्रकार महाराज को धाम-पंथ में जाने से रोकना चाहा। महारानीजी श्री अक्षर अनन्य की साधना एवं उनकी विद्वत्ता का परिचय अनेक बार ओरछा में प्राप्त कर चुकी थीं। उन्हें इस अवसर पर श्री अक्षर अनन्य का स्मरण आया और उन्हें सेंवढ़ा आने के लिए निमन्त्रित किया। श्री अक्षर अनन्य धाम-पंथ अथवा किसी भी पंथ के प्रति तनिक भी आस्था न रखते थे और वे इसके अनुयायियों को भी भ्रमित दशा में मानते थे; अतएव इन्हीं विरोधी भावनाओं का बल पाकर वह महारानी के निमन्त्रण पर ही ओरछा से सेंवढ़ा चले आये। यहां आकर श्री अक्षर अनन्य एवं पृथ्वीसिंह के बीच विचार-विनिमय चलता रहा; अन्त में श्री अक्षर अनन्य की उपस्थिति में उनपर श्री प्राणनाथ जी के सिद्धान्तों का कुछ भी प्रभाव न पड़ा और वे जो पहले प्राणनाथजी के प्रभाव में आ चुके थे, पुन: उनके प्रभाव से मुक्त होकर श्री अक्षर अनन्य को अपना गुरु मानकर रहने लगे। इसके पश्चात् श्री प्राणनाथजी पन्ना चले गये और वहां उन्होंने महाराज छत्रसाल को धाम-पंथ में दीक्षित किया।

सेंवढ़ा आकर श्री अक्षर अनन्य यहीं रहने लगे और उन्होंने ओरछा लौटने का विचार ही छोड़ दिया। यहां सिन्धु नदी के तट पर उनका निवास-स्थान था।[1] सिन्धु सरिता के सौन्दर्य एवं यहां की पावनता पर मुग्ध होकर अक्षर अनन्य ने कहीं आना-जाना भी त्याग दिया था; यहां तक कि महाराज पृथ्वीसिंह के पास भी वह किले के राजमहलों में न जाया करते थे और श्री पृथ्वीसिंह को स्वयं ही उनके पास आना पड़ता था।

---

१. **सिन्धु नदी वन दण्डक सौ, सनकादि सौ छेत्र सदा जल गाजै ।**
कासी सौ वास घने मठ सम्भु के, साधु समाज जै बोलै सदा जै ॥
कोट अटूट बनौ गिरि पै, प्रथु सौ प्रथिचन्द नरेस बिराजै ।
उद्दित मन्दिर तीर नदी, तिहि आसन अस्थिर 'अच्छिर' छाजै ॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३-८

आसन की स्थिरता के सम्बन्ध में अक्षर अनन्य ने पृथ्वीसिंह को भेजे गये चिट्ठों में अनेक स्थलों पर संकेत किया है। "षष्ठ प्रकाश" में किये गए उल्लेख के अनुसार आसन की दृढ़ता के सम्बन्ध में गुरु के द्वारा ही उनको निर्देश दिया गया था और गुरु के प्रति अनन्य आस्था होने के कारण उन्होंने जीवन भर कभी उस आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया।[1] पृथ्वीसिंह को वे यह भी संकेत कर देते हैं कि आने-जाने को महत्त्वपूर्ण न मानकर अन्यथा विचार करते हुए हित-चिन्तन में सन्देह करने की आवश्यकता नहीं। पन्ना-नरेश छत्रसाल के निमन्त्रण को अस्वीकार करते हुए उन्हें भी यही उत्तर भेजा गया था कि मैंने तीर्थस्थलों, देवालयों तथा राज-सभाओं में कहीं भी आने-जाने की भ्रमना का सर्वथा परित्याग कर दिया है।[2] सिद्धान्त रूप में उनकी मान्यता भी यही थी कि राज-सभाओं में आना-जाना तथा राजाओं को प्रसन्न करना साधु-सन्तों की नहीं, अपितु भिखारियों की रीति-परम्परा है। अपने आसन पर दृढ़तापूर्वक रहते हुए एकांतवास को ही साधु-सन्तों की पद्धति मानकर उन्होंने उसे ग्रहण किया था। राजाओं को प्रसन्न कर किसी स्वार्थ की पूर्ति करना उनका उद्देश्य न था और कलियुग के अन्य मिथ्याचारी साधु-सन्तों के समान पाखंड के लिए उन्होंने "भेष" धारण नहीं किया था, प्रत्युत साधना के उद्देश्य से ही सिद्धमत ग्रहण किया था।[3] कवि, पंडित, ब्राह्मण तथा अन्य गुणवान व्यक्तियों को स्वार्थवश भटकते देखकर उनके हृदय को आघात पहुंचा था और इस

---

१. **आसिष देंहि भली सिष देंहि, सबै तुव द्वार करैं जपज ग्या।**
आवन जान कौ ऐब न मानिबी, चित्त सदा तुमरे हित लग्या।
आसन तैं न चलौं विय आसन, आयसु दीन गुरू सर्वग्या।
सौ न उलंघि परै हम पै, गिरि मेरुहु तैं गरुई गुरु अग्या।

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६–१८

२. **आइबौ जैबौ हमारौ नहीं, सनकादि के धाम में आसन मंडी।**
तीरथ देवल राज सभाननि, जात नहीं भ्रमना सब छंडी॥

—छत्रसाल को लिखा गया पत्र

३. **राज सभानि कौ रीझि रिझायबौ, भिच्छुक लोगनि कौ यह काम है।**
आसन वास विलास इकंतहि, संतन साधुनि कौ बिसराम है।
ग्यान वहै करनी महं भेद है, जो करनी लहि सो परनाम है।
'अक्षर' सिद्ध मतौ पकरौ, सु नहीं कलिकाल के भेष कौ धाम है।

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३–३

सब भटकन को कलियुग का कौतुक मानकर वे उससे अलग हो गये थे। अपने आसन पर ही अच्छा-बुरा जो कुछ भी उनके लिए होता था, वही उन्हें स्वीकार था; किन्तु अपना आसन छोड़कर किसी दूसरे के आसन पर पैर रखना भी उन्हें स्वीकार न था।[१]

सेंवढ़ा में रहते हुए श्री अक्षर अनन्य का पृथ्वीसिंह को उपदेश दिये जाने का कार्य अनवरत रूप से चलता रहा। समय-समय पर श्री पृथ्वीसिंह अकेले अथवा अपने साथियों के साथ उपदेश ग्रहण करने के लिए उनके पास जाया करते थे। इस प्रकार की चर्चाओं के अतिरिक्त पृथ्वीसिंह और अक्षर अनन्य के बीच पत्रों के माध्यम से भी विचार-विनिमय हुआ करता था। ये पत्र पूर्णतया उपदेशात्मक हुआ करते थे। श्री पृथ्वीसिंह संक्षेप में किसी प्रश्न को लिखकर अथवा किसी दरबारी के द्वारा अनन्य के पास पहुंचा दिया करते थे, जिसके उत्तर में अनन्य की ओर से पूर्ण विवरण सहित "चिट्ठा" जाया करता था। यही पत्र "अक्षर अनन्य के चिट्ठा", "अनन्य प्रकाश", "पृथ्वीसिंह-मत प्रबोध" तथा अन्य अलग-अलग नामों से प्रसिद्ध हैं।

अधिक काल तक निवास करने के पश्चात् अक्षर अनन्य सेंवढ़ा छोड़कर निकट ही आठ मील दूर एक ग्राम 'रुहेरा' में जाकर रहने लगे थे। कहा नहीं जा सकता कि अनन्य के सेंवढ़ा छोड़ने का क्या कारण था। यह भी ज्ञात नहीं हो सका कि अनन्य ने पृथ्वीसिंह के जीवन-काल में ही सेंवढ़ा छोड़ दिया था अथवा उनके जीवन-काल के पश्चात् ही वे रुहेरा गये थे। अनुमानतः यही माना जा सकता है कि अनन्य ने पृथ्वीसिंह के जीवन-काल में उनको अथवा सेंवढ़ा को न छोड़ा होगा और उनके मरणोपरान्त ही वे रुहेरा पहुंचे होंगे। रुहेरा ग्राम में जाकर वे एक मठी में निवास करने लगे थे, जो अब तक इस ग्राम में विद्यमान है और अपने पुनरुद्धार की भीख माँग रही है। यहाँ के एवं पास-पड़ोस के समाज में इसे "अनन्य की मठी" के नाम से पुकारा जाता है। अक्षर अनन्य ने अपने अन्तिम जीवन का समस्त भाग रुहेरा ग्राम में ही रहकर बिताया; परन्तु यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि इस ग्राम में उनके जीवन की अवधि कितनी लम्बी हो सकी थी।

---

१. पंडित वेद पुराननि बँचत, बँचत राग गुनै गुन वारौ।
छंद कवित्तनि कौ कवि बँचत, मंत्रनि बँचत है गुरु भारौ।
या कलि काल कौ कौतुक देखि, 'अनन्य' भयौ सब बात तें न्यारौ।
आसन होय सो होय भलैं, पर आसन पांय परै न हमारौ॥

अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३–८

स्वयं श्री अक्षर अनन्य ने अपने साहित्य में अपने सेंवढ़ा-निवास के अतिरिक्त अपने सम्बन्ध में और कुछ भी नहीं लिखा है; अतएव अन्तर्साक्ष्य की उपलब्धि हमें अत्यन्त अल्प मात्रा में होती है। उनके जीवन के सम्बन्ध में परिवार से ही मुझे सबसे अधिक सहायता मिली है। वंश-परिचय में सबसे अधिक सहायता श्री बाजूराय "द्विजदास"-लिखित वंशावली से तथा अपने अग्रज श्री भाई गुलाबसिंह जी से मिली। इस अध्याय के अन्त में उस वंश-वृक्ष को भी उद्धृत कर दिया गया है, जिससे अनन्य के सम्बन्ध में उपरिलिखित तथ्यों में विश्वास का आधार मिल सके।

संसार एवं सामान्य जीवन के स्तर से ऊंचे उठे हुए महात्माओं का जीवन भी अन्य साधारण पुरुषों के जीवन की अपेक्षा विलक्षण होता है। प्रथमतः साधना के कारण उनके जीवन में कुछ विलक्षणताएं आ ही जाती हैं और बाद में महात्मा-वैरागियों के जीवन को असाधारण एवं अगम्य समझकर उसमें अनेक अन्य विचित्रताएं जोड़ भी दी जाती हैं। नास्तिक कहे जाने की करारी फटकार के भय से सभी लोग उन विलक्षणताओं को कानों पर हाथ रखकर स्वीकार कर लेते हैं। कबीर की मृत्यु भी एक विचित्र कहानी बनी हुई है। गुरु गोरखनाथ का तो समस्त जीवन ही एक अबोधगम्य पहेली का रूप धारण कर चुका है। मंत्र-तंत्रों एवं अन्य अनेक जादू-टोनों में गुरु गोरखनाथ की 'आन' भी दी जाती है और देखते-देखते ही उनका जीवन पूर्ण रूप से ऐसा बन गया कि भविष्य में आनेवाली, शुद्ध विज्ञान पर विश्वास करनेवाली पीढ़ी कदाचित् ही उनके ऐतिहासिक व्यक्ति होने में विश्वास करेगी। विवेक एवं विज्ञान की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देनेवाली ऐसी घटनाएं संत-महात्माओं के सम्बन्ध में किसी प्रकार से कम नहीं।

श्री अक्षर अनन्य के जीवन के सम्बन्ध में भी ऐसी ही अनेक विलक्षण घटनाएं सुनी जाती हैं। कहा जाता है कि एक बार श्री अक्षर अनन्य सिन्धु के तट पर अपने आसन पर बैठे साधना में तल्लीन थे। थोड़े ही समय पश्चात् महाराज पृथ्वीसिंह अपने कतिपय अन्य दरबारियों-सहित अनन्य के दर्शनार्थ जा पहुंचे। श्री पृथ्वीसिंह के वहां पहुंचने पर भी अक्षर अनन्य पूर्णतया मौन अपने आसन पर यथावत् आसीन रहे। अनन्य की साधना में किसी प्रकार की बाधा न डालने के विचार से पृथ्वीसिंह एवं अन्य समस्त व्यक्ति भी मौन होकर वहां बैठे रहे। अधिक समय व्यतीत होने पर भी जब अक्षर अनन्य अपने स्थान से किंचित् हिले भी नहीं और जड़वत् बैठे रहे, तब महाराज के मन में कुछ शंकाएं उत्पन्न होने लगीं। पहले तो उन्होंने विनम्र स्वर में अक्षर अनन्य को पुकारकर अपनी ओर आकर्षित करना चाहा, किन्तु जब उनकी मुद्रा भंग न हुई, तब महाराज ने उनका हाथ पकड़कर हिला दिया।

अनन्य का हाथ हिलते ही पृथ्वीसिंह एवं उनके अन्य साथियों के वस्त्रों पर एकदम पान की पीक के छींटे गिर पड़े। इस विचित्रता को देखकर महाराज एवं सभी व्यक्ति असीम आश्चर्य में पड़ गये और जब उन्होंने अनन्य से ही इसका रहस्य जानना चाहा, तब ज्ञात हुआ कि हाथ हिलाये जाने के समय पर अनन्य अपने उसी हाथ में सरस्वती जगदम्बा का पीकदान सम्भाले हुए थे। हाथ हिलाये जाने के कारण वह पीकदान लुढ़क गया और वही पीक उनके वस्त्रों पर गिर पड़ी। इसके साथ ही अनन्य ने राजा आदि पर उस पीक के गिरने में सरस्वती देवी की कृपा होना ही कहा। ऐसी ही अनेक घटनाएं अनन्य के सम्बन्ध में कही-सुनी जाती हैं।

इसी प्रकार की अन्य अनेक किम्वदन्तियों ने अक्षर अनन्य के जीवन के अन्तिम भाग को एक रहस्य बना दिया है। लिखा जा चुका है कि यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि अक्षर अनन्य किस समय सेंवढ़ा छोड़कर रुहेरा चले गये और वहां कब तक बने रहे। सेंवढ़ा अथवा रुहेरा ग्राम में अनन्य के देहत्याग के सम्बन्ध में कहीं कुछ भी नहीं सुना जाता। साधु-महात्माओं में अनन्य श्रद्धा के कारण यहां के लोग अनन्य के अब तक वर्तमान रहने का ही विश्वास करते आ रहे हैं। विश्वास किया जाता है कि अक्षर अनन्य अब भी रुहेरा ग्राम में कहीं-न-कहीं रहते अवश्य हैं, किन्तु लोगों से वह पूर्णतया अदृश्य होकर रह रहे हैं। इसकी पुष्टि के लिए अनेक प्रमाण भी दिये जाते हैं। अनन्य की अमरता के सम्बन्ध में एक दोहा भी यहां प्रचलित हैं :-

'अन्धन आगे आरसी, अरुवन आगे नैन।
तैसंइ अछर अनन्य कौ, वास रुहेरें ऐन॥'

दोहे का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा जाता है कि जिस प्रकार अन्धे पुरुषों के समक्ष दर्पण तथा उल्लू पक्षी के लिए नयनों का अस्तित्व नहीं के बराबर है, उसी प्रकार रुहेरा ग्राम में अक्षर अनन्य होते हुए भी दिखाई नहीं देते। यह दोहा मुझे न तो अनन्य के ग्रंथों में हीमिला और न किसी अन्य कवि के ग्रंथों में ही लिखा गया है। इसकी स्थिति भी केवल यहां के कुछ लोगों की स्मृति तक सीमित है। यह तो स्पष्ट ही है कि यह दोहा किसी परवर्ती कवि के द्वारा लिखा गया है। इसी के साथ-साथ अन्य घटनाएं भी उनके जीवित रहने के प्रमाण में कही जाती हैं।

लगभग एक सौ वर्ष पूर्व रुहेरा ग्राम में 'अमीरिन' नाम की एक वृद्धा रंगरेजिन रहा करती थी। शरीर से तो वह अत्यन्त जर्जर हो ही चुकी थी, उसे ज़लोदर रोग से भी बहुत अधिक पीड़ा सहनी पड़ती थी। अनेक प्रयत्नों एवं उपचारों के बाद भी उसे रोग से मुक्ति न मिल सकी। एक रात उसकी

पीड़ा इतनी अधिक बढ़ी कि उस प्राणान्तक पीड़ा को सहन करने में वह असमर्थ हो गयी। उस अवस्था में पहले उसने अल्लाह, ईश्वर और अन्य देवी-देवताओं से पीड़ा-शमन की प्रार्थना की; किन्तु उससे जब कोई लाभ न हुआ, तब प्रार्थना के स्थान पर आवेश में आकर उसने उन सब को कटु वाक्य भी सुनाने आरम्भ कर दिये। देवी-देवताओं के साथ उसने जिस प्रकार पीर, फकीर और महात्माओं से प्रार्थना की थी, उसी प्रकार उनको गालियां भी देने लगी। रुहेरा ग्राम में अक्षर अनन्य सर्वश्रेष्ठ महात्मा माने जाते हैं, अतएव उनको भी प्रार्थनाओं के साथ-साथ उस वृद्धा की गालियों की बौछार सहनी पड़ी। वह वृद्धा बड़बड़ा रही थी कि इस गांव में अक्षर अनन्य आदि अनेक साधु-महात्मा हुए हैं, किन्तु कोई भी ऐसा नहीं, जो मेरी पीड़ा को शान्त कर सके। इस प्रकार वह उनकी महत्ता पर भी कलंक लगा रही थी। इसी अवस्था में एक पुरातन वृद्ध उस तिमिराच्छन्न रात्रि में उस पीड़िता के पास आया और उपचार के रूप में उसको समझाते हुए कहा कि यदि वह घी में काली मिर्च मिलाकर खा ले, तो उसका रोग सदैव के लिए शान्त हो जायगा। उसने यह भी कहा कि इस घटना को वह किसी व्यक्ति पर प्रकट न करे और यदि प्रकट कर देगी, तो उसकी पीड़ा पुनः पूर्ववत् ही भयंकर होकर उसके लिए घातक हो जायगी। यह कहकर वह अपरिचित वृद्ध अदृश्य हो गया। पीड़ा की शांति के लिए व्याकुल एवं महात्माओं तथा फकीरों में परम विश्वास रखनेवाली उस वृद्धा ने उसी समय काली मिर्च को घी में मिलाकर खा लिया। महात्मा के कथनानुसार उसकी पीड़ा उसी क्षण शान्त हो गयी। वृद्धा को जीवन तो प्राप्त हो गया, किन्तु उस आश्चर्यमयी घटना को वह शान्त होकर हृदय में पचा न सकी। उसे स्वयं अत्यन्त कौतूहल था ही, जब दूसरे दिन लोगों ने उसके रोग के चिह्न भी न देखे और कौतूहल एवं आश्चर्य में पड़कर उस वृद्धा से उस सम्बन्ध में पूछा, तब उसने स्पष्ट ही सब कुछ बतला दिया। परिणाम यह हुआ कि उसी रात्रि को उसकी पीड़ा और वह रोग प्रथमावस्था की अपेक्षा भी अधिक भयंकर रूप धारण कर प्रकट हुआ और उस वृद्धा के प्राणों के साथ उस रोग का शमन हुआ। अनुमान किया जाता है कि अपरिचित वृद्ध के रूप में महात्मा अक्षर अनन्य ही थे, जिनको वृद्धा की गालियां और प्रार्थनाएं सुनकर उसकी पीड़ा-शान्ति के लिए प्रकट होना पड़ा था।

लगभग सौ वर्ष पूर्व सेंवढ़ा में एक ठाकुर कुंवर यशवन्तसिंह रहा करते थे। ठाकुर साहब स्वयं ही बड़े अच्छे साधक और पहुंचे हुए महात्मा समझे जाते थे। वे तान्त्रिक के रूप में ही अधिक प्रख्यात रहे हैं। वे अपने मन्त्रों के बल पर बड़े-बड़े दीर्घकाय, भयंकर एवं विषधर नागों को अपने घर बुलाया करते थे। और उन आगत सर्पों को यथेच्छा आदेश देकर अपने घर के उसी कमरे में बैठाया करते थे, जो उनका साधनालय था। वे नाग पूर्णरूपेण उनके आदेश का

पालन करते थे। श्री यशवन्तसिंह समय-समय पर रुहेरा ग्राम में भी जाया करते थे और वहां पर भी कुछ समय के लिए रहा करते थे। उन्होंने मेरे प्रपितामह श्री गनपत 'गणेश' (१८६७-१९४० वि०) से कहा था कि तुम्हारे पूर्वज श्री अक्षर अनन्य रुहेरा ग्राम में रहा करते हैं; यदि तुम मेरे साथ चलो, तो हम तुमको उनका दर्शन करा देंगे। यह घटना संवत् १९०० के लगभग कही जाती है। यदि इस पर बिश्वास किया जाकर सत्य समझा जाय, तो माना जा सकेगा कि अक्षर अनन्य संवत् १९०० वि० के लगभग भी जीवित थे।

महात्माओं के सम्बन्ध में प्रचलित इस प्रकार की वैचित्र्यपूर्ण कथाएं उनके जीवन-इतिहास को और भी एक पहेली का रूप दे देती हैं। कुछ भी हो, उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि अक्षर अनन्य १८०० वि० तक अवश्य ही वर्तमान रहे होंगे। पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल तथा अक्षर अनन्य के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ है, उससे निस्सन्देह रूप से यह प्रकट होता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में अक्षर अनन्य की गणना सिद्ध महात्माओं की कोटि में की जाने लगी थी, किन्तु उनसे उनके वैयक्तिक जीवन पर अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

मध्यकाल में कबीर प्रभृति जितने भी सन्त हुए हैं, उन्होंने अपने नाम पर एक अलग और स्वतंत्र पंथ चलाने की चेष्टा की है। बहुधा इन सन्तों की शिष्य-मंडली अपने गुरु के प्रति इतनी अधिक आस्थावान् होती थी कि अन्य प्रचलित पंथों एवं नये पंथ के सिद्धान्तों में किसी प्रकार का तात्विक मतभेद न होते हुए भी वे अपने गुरु के नाम पर नये पंथ की स्थापना कर देते थे। उस काल में प्रचलित विविध पंथों के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा गया है। अक्षर अनन्य को किसी नये पंथ के प्रवर्तन से तो घृणा थी ही, साथ ही अन्य संतों ने बिना किसी तात्विक आधार के जिन नवीन पंथों की स्थापना की थी, उनकी भी उन्होंने अत्यन्त कठोर शब्दों में आलोचना की है। यदि मध्यकालीन सन्तों द्वारा प्रवर्तित इन विविध पंथों का सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्ययन किया जाय, तो उनके दार्शनिक एवं साधना-सिद्धान्तों में किसी प्रकार का अन्तर दिखाई नहीं देता। वस्तुतः इन पंथों की स्थापना सैद्धान्तिक आधार पर की ही नहीं जाती थी, प्रत्युत शिष्यसमुदाय अपने गुरु के नाम पर संगठित दल को ही विशेष पंथ की संज्ञा दे देते थे। कबीर के पश्चात् कबीर-पंथ के बारह शाखाओं में बिभक्त हो जाने तथा कमाल-पंथ के प्रारम्भ किये जाने का भी कोई विशेष आधार दिखाई नहीं देता। इसके अतिरिक्त रैदास, शिवनारायण लाल, सेन, दादू, गरीबदास, गुलाबदास, भीखा, रज्जब, चरणदास, दरिया, प्राणनाथ, मलूक-दास, पलटूदास, आदि समस्त सन्तों के नाम पर जिस प्रकार पंथों की स्थापना हुई थी, उनसे न तो साधना-मार्ग प्रशस्त होने में ही कोई सहायता मिली थी और न

उनकी कोई विशेष आवश्यकता ही अनुभव की गयी थी । अक्षर अनन्य को इस प्रकार के पंथों से अत्यधिक घृणा थी तथा उन्होंने इन पंथों को भ्रमोत्पादक तथा व्यवसाय के प्रति उद्दिष्ट माना है । वे इन पंथों को 'अविद्यामूलक बकवाद', 'भ्रमजार', 'भरमना के पंथ' तथा पाखंड के अतिरिक्त कुछ भी मानने के लिए तैयार नहीं ।[1] उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि वेद-विरुद्ध पंथ 'कुपंथ' तथा वेद-विरुद्ध धर्म 'अधर्म' है तथा किसी भी धर्म की निन्दा करना मूर्खता है । इस दशा में अक्षर अनन्य के द्वारा किसी नये पंथ की स्थापना का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

---

१. लोक में अविद्या के अनेक बकवाद बढ़े,
छिप्यौ परमातमा सरीर ही मंझार है । —ज्ञानयोग, १-८

× × ×

छोटे बड़े ग्रंथ पंथ सुनै अरु जानै सब,
सुनिबे में जानिबे में बुद्धि भ्रमजार है । —उपासना बोध, १६

× × ×

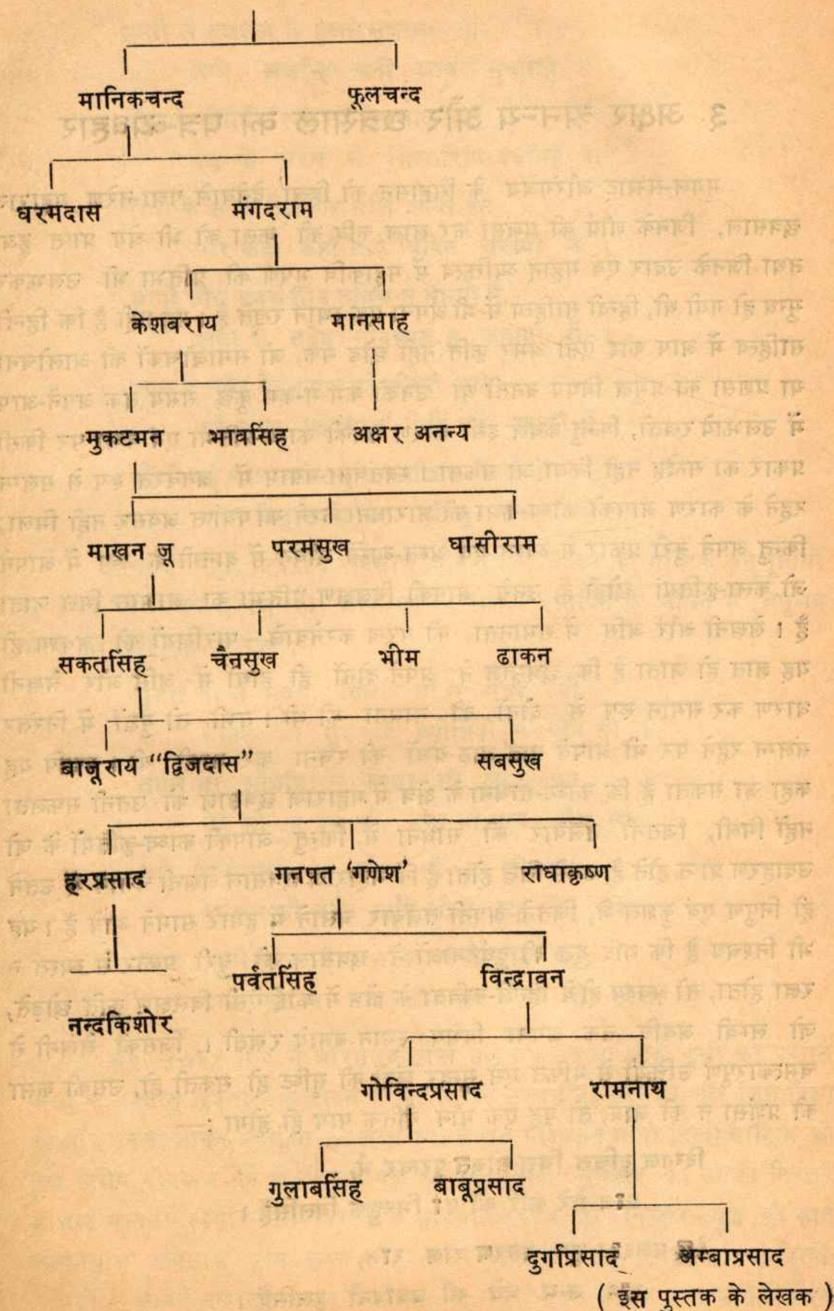
बड़े बड़े देवन की सुनिकैं बड़ाई ग्रंथ,
आपु आपु थाप मठ आपुस में लरिबौ । —उपासना बोध, १८

× × ×

आपने आपने पंथ चलाइबौ, आपनी आपनी मांड़ कौ कीबौ ।
नीकौ लगै सबकौ अपस्वारथ, जानै न मूढ़ किते दिन जीबौ ॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ८-७

× × ×

'ऐसे ऐसे भरमना के पंथ अग्यानिनि चलाये हैं, तिनकी बातनि में बहुतेरे भूलि रहे हैं ।
—अष्टांग योग


वंश-वृक्ष
मानिकचन्द
फूलचन्द
धरमदास
मंगदराम
केशवराय
मानसाह
मुकटमन
भावसिंह
अक्षर अनन्य
माखन जू
परमसुख
घासीराम
सकतसिंह
चैनसुख
भीम
ढाकन
बाजूराय "द्विजदास"
सबसुख
हरप्रसाद
गनपत 'गणेश'
राधाकृष्ण
पर्वतसिंह
विन्द्रावन
नन्दकिशोर
गोविन्दप्रसाद
रामनाथ
गुलाबसिंह
बाबूप्रसाद
दुर्गाप्रसाद
अम्बाप्रसाद
(इस पुस्तक के लेखक)

३. अक्षर अनन्य और छत्रसाल का पत्र-व्यवहार

मुगल-सम्राट् औरंगजेब के सिंहासन को हिला देनेवाले पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल, जिनके शौर्य की प्रशंसा कर लाल कवि की कला को भी श्रेय प्राप्त हुआ तथा जिनके उदार एवं महान् व्यक्तित्व में महाकवि भूषण की प्रतिभा भी उलझकर मुग्ध हो गयी थी, हिन्दी साहित्य में भी अपना एक स्थान रखते हैं। यह सही है कि हिन्दी साहित्य में आप कोई ऐसी अमर कृति नहीं छोड़ सके, जो समालोचकों की आलोचना या प्रशंसा का प्रमुख विषय बनती या उनको कम-से-कम कुछ समय तक अपने-आप में उलझाये रखती, किन्तु केवल इसी कारण उनकी काव्य-प्रतिभा एवं कला पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता-संग्राम में अनवरत रूप से संलग्न रहने के कारण आपको काव्य-कला की आराधना करने का पर्याप्त अवसर नहीं मिला; किन्तु अपने बुरी प्रकार से व्यस्त एवं अस्त-व्यस्त जीवन में बानगी के रूप में आपने जो कला-कृतियां छोड़ी हैं, उनसे आपकी विलक्षण प्रतिभा का आभास मिल जाता है। लेखनी और असि में समानता की परख करनेवाले पारखियों को अवश्य ही यह ज्ञात हो जाता है कि छत्रसाल ने अपने दोनों ही हाथों में असि और लेखनी धारण कर समान रूप से दोनों की साधना की थी। तभी तो युद्धों में निरंतर संलग्न रहने पर भी आपने सात-आठ ग्रंथों की रचना कर डाली थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि काव्य-साधना के क्षेत्र में महाराज छत्रसाल को उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी तलवार की साधना में, किन्तु आपकी काव्य-कृतियों के जो उदाहरण प्राप्त होते हैं, उनसे सिद्ध होता है कि महाराज छत्रसाल लेखनी चलाने में उतने ही निपुण एवं कुशल थे, जितने अपनी तलवार चलाने में हमारे सामने आये हैं। यह भी निश्चय है कि यदि युद्ध की दुर्घटनाओं ने छत्रसाल को बुरी प्रकार से व्यस्त न रखा होता, तो अवश्य ही वे हिन्दी-कविता के क्षेत्र में कोई ऐसी विलक्षण कृति छोड़ते, जो लम्बी अवधि तक अपना विशेष स्थान बनाये रखती। जिसकी लेखनी से चमत्कारपूर्ण उक्तियों से गुंफित ऐसे सुन्दर छंदों की सृष्टि हो सकती हो, उसकी कला की प्रशंसा न की जाय, तो वह एक मौन नैतिक पाप ही होगा :—

दिग्गज दुचित्त चित्त सोचत पुरन्दर भै,
आज मेरे करि कौं का भिच्छुक बिलसिहैं।
देत गजदान भूप दसरथ राज राज,
राम जन्म भये कौ बधावनौ हुलसिहैं।

हाथी लै हजारन के हुलसे सुजाचक हैं,
आधे अलकेस मनौ आयकें सुबसिहैं ।
गोय लै गनेस गिरिजा सौं 'छत्रसाल' कहैं,
गज के भरम लै भिखारिनि बगसिहैं ।।

राधा के सनेह हित गेह तजि आयौ इतै,
और कहा कहौं गाय विपिन चरायौ मैं ।
जायौ जौन जनक तौन तनिक न मान्यो मैं,
राधा के सनेह नन्दलाल हू कहायौ मैं ।
राधा के सनेह मेहनायक कौं जीत्यौ जाय,
कहैं कृष्ण 'छत्रसाल' गिरि कौं उठायौ मैं ।
मोकौं कहै लाख बार भाखि भाखि साखि दै दै,
राधा बिनु ताहि नैक भूलिहू न भायौ मैं ।।

इतना ही नहीं, महाराज छत्रसाल के काव्य में जीवन की मार्मिक अनुभूतियों के चित्र भी मिलते हैं, जिनको आज का कलाकार प्रतिदिन के जीवन में अनुभव करके भी नहीं कह पा रहा :—

सुजस सौ न भूषन, विचार सौ न मंत्री त्यौं,
साहस सौ सूर कहूँ ज्योतिशी न पौन सौ ।
संयम सी औषधि न विद्या सौ अटूट धन,
नेह सौ न बंधु औ, दया सौ पुन्य कौन सौ ।
कहै 'छत्रसाल' कहूं सील सौ न जीतवान,
आलस सौ बैरी नाहि मीठौ कहूं नौन सौ ।
सोक कैसी चोट है न भक्ति कैसी ओट कहूं,
राम सौ न जाप और तप है न मौन सौ ।।

सं० १७६१ वि० में औरंगजेब द्वारा भेजे गये सेनानी शाह कुली को परास्त करने के पश्चात् छत्रसाल के जीवन में जो विरति उत्पन्न हो गयी थी और जिस दिशा की ओर उनका जीवन प्रवाहित हो चला था, वे सब परिवर्तन मानो हिन्दी साहित्य को कुछ विशेष योगदान देने के लिए उत्पन्न हुए थे। हिन्दी साहित्य को उसका निरंतर आभार मानना पड़ेगा। उस विरति के परिणाम-स्वरूप ही निरंतर युद्ध की बात सोचनेवाले छत्रसाल राम, कृष्ण और राधा का नाम लेकर अपनी कृतियां हिन्दी-प्रेमियों के सामने रख सके। उनके जीवन के उत्तर-काल के गुरु तथा मार्ग-निर्देशक

महात्मा अक्षर अनन्य तथा महात्मा प्राणनाथ ने उनके हृदय में जिन भावनाओं को प्रादुर्भूत किया था, उसका परिणाम भी छत्रसाल की अन्य युद्ध-विजयों की भांति ही जाने-अनजाने रूप में साहित्य-प्रेमियों को ही मिला है। महात्मा प्राणनाथ जी ने यदि छत्रसाल को धाम-पंथ में दीक्षित कर उनके हृदय में राधा-कृष्ण के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की थी, तो अक्षर अनन्य ने धाम-पंथ के प्रति कोई अभिरुचि प्रकट न कर ज्ञानाश्रयी सिद्धांतों के उपदेशों के माध्यम से उन्हें निर्गुण-मार्ग की ओर मोड़ने का प्रयत्न किया था। महात्मा प्राणनाथ जी उस समय राजा-महाराजाओं के दरबारों में उपस्थित होकर, तथा उनके राज्यों में हीरा आदि की खान बतलाने का प्रलोभन देकर उन्हें अपने शिष्य बनाने एवं धाम-पंथ के चतुर्दिक प्रवर्तन का प्रयत्न कर रहे थे और इसी उद्देश्य को लेकर वे महाराज छत्रसाल के दरबार में भी पहुंचे थे। इस प्रकार प्राणनाथ जी नें छत्रसाल की उपासना को एक निश्चित टेक में, निर्धारित प्रणाली में संयत कर रखा था, किन्तु इस पर भी महाराज छत्रसाल के हृदय में श्री अक्षर अनन्य की ज्ञानाश्रयी निर्गुण-साधना के प्रति अटल अनुराग और आकर्षण था, जिसके कारण वे अक्षर अनन्य के उपदेशों एवं सिद्धांतों को अपने धर्मगुरु प्राणनाथ के उपदेशों की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व देकर स्वीकार करते थे। प्राणनाथ द्वारा धाम-पंथ में दीक्षित हो जाने के पश्चात् भी अक्षर अनन्य के उपदेशों की लालसा उनके हृदय में बनी ही रही थी। कहीं-कहीं तो ऐसा आभास होता है, मानो उनका हृदय स्वयं ही अपनी किसी भूल पर पश्चात्ताप करता हुआ उसका प्रायश्चित्त करने के लिए प्रस्तुत है और वह बार-बार श्री अक्षर अनन्य से मार्ग-निर्देश के लिए उतावला-सा दिखाई देता है। धाम-पंथ की साधना से हृदय-स्थित द्विविधा के समाप्त होने का छत्रसाल को स्वयं ही विश्वास न था। वे ज्ञानयोग की ओर उन्मुख होकर विनीत भाव से महात्मा अक्षर अनन्य को लिखते हैं :—

'राखत हैं हम टेक उपासना,
बात विवेक हूं नांहि भुलानी।'

श्री महात्मा अक्षर अनन्य अठारहवीं शताब्दी के निर्गुणमार्गीय सर्वश्रेष्ठ महात्मा थे। हिन्दी साहित्य में कबीर ने निर्गुण-साधना की जिस धारा को प्रवाहित किया था, वह स्वयं उनके अक्खड़पन और कला से अपरिचित होने के कारण अबाध रूप से प्रवाहित न हो सकी। निर्गुण-साधना के जटिल सिद्धान्तों को वह इतना सरल और आकर्षक रूप न दे सके एवं उनको इतना स्पष्ट भी न कर सके थे कि सभी व्यक्ति उस मार्ग का अनुसरण करते। समाज के एक साधारण समुदाय ने उस साधना को अंगीकार भले ही किया हो, किन्तु वे सभी लोग 'पुहुप वास ते पातला' उस सूक्ष्म साध्य को समझने में अवश्य ही पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके। कबीर-परम्परा का

कोई भी कवि उस सम्प्रदाय का अनुयायी होकर भी अपनी बात को अथवा निर्गुण-साधना के सिद्धांतों को सरल एवं स्पष्ट भाषा-शैली में व्यक्त नहीं कर सका। ज्ञानाश्रयी काल के कवियों की यह एक ऐसी कमी थी, जो अनवरत रूप से दो-ढाई सौ वर्ष तक चलती रही थी। राम-भक्ति-शाखा में तुलसीदास जी ने तथा कृष्ण-भक्ति-शाखा में सूरदास जी ने राम और कृष्ण-भक्ति को इतना आकर्षक और स्पष्ट कर दिया था कि प्रत्येक व्यक्ति का हृदय उस ओर आकर्षित हो जाता था और सभी लोगों को भक्ति-भावना की वे प्रणालियां अत्यन्त सरल एवं सुगम प्रतीत होने लगी थीं। इसके विपरीत ज्ञानाश्रयी काल के प्रथम आचार्य महात्मा कबीर, निर्गुण-साधना के सिद्धांतों एवं साध्य के सूक्ष्म रूप को स्पष्ट न कर सके थे। इस अभाव की पूर्ति अठारहवीं शताब्दी में अक्षर अनन्य ने की। ब्रह्म के सूक्ष्म रूप को, ईश्वर के विविध रूपों को, अवतारों की अनेक लीलाओं को तथा ज्ञानमार्गीय साधना-पद्धति को महात्मा अक्षर अनन्य ने अपनी भाषा, काव्य-प्रतिभा एवं कला-साधना के द्वारा जो स्पष्ट एवं सुलझा हुआ रूप दिया है, वह ज्ञानाश्रयी काल के किसी कवि के साहित्य में नहीं मिलता। वास्तव में हिन्दी साहित्य में ज्ञानयोग की साधना एवं निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को स्पष्ट करने का जो प्रयत्न कबीर के समय से प्रारम्भ हुआ था, वह तीन सौ वर्ष में भी पूरा नहीं हो सका था। इस अभाव की पूर्ति अठारहवीं शताब्दी में महात्मा अक्षर अनन्य के साहित्य से हुई। 'ज्ञानयोग', 'विवेक तरंग', 'शृंगार-योग', 'अक्षर अनन्य के चिट्ठा', 'ज्ञान-पचासा' आदि ग्रंथों में ब्रह्म एवं निर्गुण-साधना का जो स्पष्ट विवेचन किया गया है, उसको देखकर यह भी कहा जा सकता है कि कबीर के समय से प्रारम्भ होनेवाली परम्परा का चरम विकास महात्मा अक्षर अनन्य के साहित्य में ही हुआ था।

कतिपय ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सम्भव हो सकता है कि महाराज छत्रसाल अक्षर अनन्य से ओरछा में मिले हों। संवत् १७२७ वि० में औरंगजेब के पक्ष में युद्ध करते हुए देवगढ़-विजय करने पर छत्रसाल को अपने पराक्रम का उचित सम्मान न मिला, तो वे रुष्ट होकर मुगलों का साथ छोड़कर वापिस चले आये थे। इतना ही नहीं, प्रत्युत प्रतिशोध की भावना लेकर उन्होंने 'मोर' पहाड़ी के जंगलों में रहकर मुगलों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए सेना एकत्र करना भी प्रारम्भ कर दिया था। संवत् १७२८ वि० में औरंगजेब ने छत्रसाल की इन प्रतिशोधात्मक क्रियाओं से रुष्ट होकर ग्वालियर के सूबेदार फिदाई खां को बुंदेलों को दबाने की, उन्हें मार डालने तथा मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ने की आज्ञा दी थी। सूबेदार फिदाई खां ने अपनी सफलता के लिए तत्कालीन ओरछा-नरेश महाराज सुजानसिंह को सहायता देने के लिए लिखा। महाराज सुजानसिंह यद्यपि मुगल बादशाह के अधीन होकर रह रहे थे, किंतु धीरे-धीरे वे मुगलों के प्रति उदासीन हो गये थे। फिदाई खां का पत्र पाकर

उनका क्रोध और भी प्रबल हो उठा और अपने ही हिंदू-धर्म और जाति के विरुद्ध सहायता देना उन्होंने स्वीकार न किया। सुजानसिंह ने इस समस्या को हल करने के उद्देश्य से एक दूत भेजकर छत्रसाल को अपने यहां बुलवाया। उस समय अर्थात् सं० १७२८ वि० में महाराज छत्रसाल अपने सिपाहियों के साथ मोर पहाड़ी के जंगलों में रह रहे थे। सुजानसिंह का पत्र पाते ही वे ओरछा के लिए चल दिये। वहां पहुंचकर सुजानसिंह और छत्रसाल के बीच ओरछा-स्थित रामराजा के मन्दिर में सन्धि निश्चित हुई। सुजानसिंह ने छत्रसाल को सहायता देने का वचन दिया और उन्हें हिंदू-धर्म तथा जाति की सुरक्षा के लिए प्रोत्साहित किया।[1]

इतिहास में इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता कि महाराज छत्रसाल उस समय कितने दिनों तक ओरछा में सुजानसिंह के पास रहे; केवल रामराजा के मन्दिर में उनके जाने का उल्लेख मिलता है। ऐसी दशा में यह विश्वास किया जा सकता है कि अक्षर अनन्य की भेंट छत्रसाल से अवश्य हुई होगी। श्री अक्षर अनन्य उन दिनों ओरछा में ही रह रहे थे और रामराजा के मन्दिर में भी बहुधा जाया करते थे, इसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। छत्रसाल के विशेष सहयोगियों और उनके मित्रों में से जिन व्यक्तियों के नामों का उल्लेख मिलता है, उनमें 'मानसाह' का नाम भी लिखा जाता है।[2] यदि ये अक्षर अनन्य के पिता मानसाह ही हैं, तो अनन्य और छत्रसाल के मैत्री-सम्बन्ध में संदेह करने की अधिक गुंजाइश शेष नहीं रह जाती। अक्षर अनन्य का जन्म-काल यदि १७१० वि० ही मान लिया जाय, जैसा कि लिखा जा चुका है, तो छत्रसाल के ओरछा आने के समय अर्थात् १७२८ वि० तक अक्षर अनन्य की साधना-सम्बन्धी ख्याति बहुत अधिक फैल चुकी थी। सोलह वर्ष की अवस्था में उनके वैराग्य लेने का उल्लेख किया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त एक और भी प्रमाण मिल जाता है, जिससे सिद्ध हो जाता है कि महाराज छत्रसाल को अनन्य ने प्रारम्भ से ही बहुत अधिक प्रभावित किया था। अक्षर अनन्य के छन्दों को महाराज छत्रसाल बड़ी श्रद्धा और सम्मान के साथ कंठस्थ कर लेते थे। मोर पहाड़ी के जगलों में सैन्य-संगठन करने के अवसर पर छत्रसाल अपने भाई 'रतनशाह' से सहायता माँगने के लिए 'बिजौरी' ग्राम पहुंचे। रतनशाह छत्रसाल के समान साहसी न थे और वे मुगलों से डरते भी थे, अतएव उन्होंने छत्रसाल को किसी भी प्रकार की सहायता देने में संकोच किया। इतना ही नहीं, प्रत्युत इससे भी आगे उन्होंने छत्रसाल को भी मुगलों से लड़ने से रोका और

---

१. गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास

२. गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास

बादशाह के विरुद्ध युद्ध करने में और भी अधिक आपत्तियों के उत्पन्न होने की सम्भावना प्रकट की; किन्तु उनके प्रयत्नों से छत्रसाल के उत्साह में किसी प्रकार की कमी उत्पन्न न हुई। महाराज छत्रसाल को ईश्वर पर विश्वास था और धर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना वे ईश्वरीय प्रेरणा का ही परिणाम समझते थे; अतएव उन्होंने रतनशाह के समस्त तर्क-वितर्कों का उत्तर देने के लिए अक्षर अनन्य का निम्नलिखित छन्द पढ़ा :—

जेहि अमित सरितानि सागरानि नीर सोख्यौ,
सोई सरितानि सागरानि नीर भरिहै।
जेहि तरुवरनि कौं पत्रनि विहीन कियौ,
सोई तरुवरनि मांझ फेरि पत्र करिहै॥
जेहि राजा बलि ऊंच आसन सौं पताल भेजौ,
सोई राजा बलि कौं फेरि इन्द्र करिहै :
धरें रहो धीरज वीर 'अक्षर अनन्य' भनै,
जेही उपजाई पीर सोई पीर हरिहै॥[1]

इससे सिद्ध हो जाता है कि अक्षर अनन्य तथा उनकी साधना एवं साहित्य ने छत्रसाल को बहुत प्रारम्भ से ही प्रभावित कर रखा था। इस आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि छत्रसाल अक्षर अनन्य को गुरु ही की भाँति श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि से देखते थे। उनकी ये श्रद्धामय भावनाएं बाद में और भी अधिक दृढ़ होती चली गयीं। इधर अक्षर अनन्य की साधना एवं उनकी कला का भी अधिक विकास हो चुका था, अतएव अनन्य के व्यक्तित्व का छत्रसाल पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि जीवन के अन्तिम समय में भी उनकी लालसा अनन्य के दर्शनों एवं उनसे ज्ञान ग्रहण करने की बनी रही। इसी का परिणाम है कि युद्ध-कार्यों से थोड़ा-सा अवकाश मिलते ही महाराज छत्रसाल ने अनन्य को पन्ना आने के लिए निमंत्रण भेजा था।

महाराज छत्रसाल यद्यपि प्राणनाथ जी के शिष्य होकर धाम-पंथ स्वीकार कर चुके थे, फिर भी वे महात्मा अक्षर अनन्य से प्राणनाथ जी की अपेक्षा अधिक प्रभावित थे। ऐसा प्रतीत होता है, मानो धाम-पंथ में दीक्षित हो जाने के पश्चात् भी उनका हृदय ज्ञान-लाभ से संतुष्ट न था और अनन्य के ज्ञानोपदेशों की लालसा शेष बनी हुई थी। यह बात स्वयं उन्हीं के छन्दों से, जो उन्होने अक्षर अनन्य को पत्रों के रूप में लिखे हैं, सिद्ध हो जाती है। इतना ही नहीं, अक्षर अनन्य

---

१. **गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास**

के समान ही उन्होंने भी अपनी धाम-पंथ की साधना को 'टेक उपासना' के रूप में स्वीकार किया था और ज्ञानयोग की साधना को उससे श्रेष्ठ समझते थे।[1] अपनी विवेक-साधना की इसी लालसा की पूर्ति करने हेतु महाराज छत्रसाल ने अक्षर अनन्य को अपने यहाँ अर्थात् पन्ना बुलाने के लिए निमन्त्रण भेजा था, किन्तु उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी। अपने यश, वैभव और पराक्रम के द्वारा तत्कालीन समस्त भारत को विस्मित कर देनेवाले एवं मुगलों की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देनेवाले महाराज छत्रसाल का नम्र निमन्त्रण अक्षर अनन्य को अपने आसन से हिला न सका। छत्रसाल द्वारा अनेक बार प्रार्थना करने पर भी अक्षर अनन्य ने पन्ना जाना स्वीकार न किया। इन दोनों के बीच निवेदन और अस्वीकृति की ये सब घटनाएं पत्रों के माध्यम से ही हुई थीं।

दिल्ली-सम्राट् से लोहा लेने तथा हिन्दू-धर्म एवं हिन्दू-जाति की सुरक्षा के कारण वीर शिवाजी तथा महाराज छत्रसाल अपने जीवन-काल में ही स्वयं दिल्ली-सम्राट् की अपेक्षा अधिक यशस्वी एवं लोकप्रिय हो गये थे। महाराज छत्रसाल को तो लोग कृष्ण और मुहम्मद के समान ही समझने लगे थे।[2] दूसरी ओर महात्मा अक्षर अनन्य भी उस काल के प्रख्यात कवि एवं पहुंचे हुए ज्ञानयोगी साधक थे। अठारहवीं शताब्दी में अक्षर अनन्य के समान ज्ञानयोगी साधक एवं निर्गुणमार्गी कवि कोई अन्य न था। छत्रसाल की तलवार ने तत्कालीन दिल्ली-सम्राट् के हृदय को दहला दिया था और अनन्य की साधना, उनके ज्ञान एवं उनकी कला ने छत्रसाल के हृदय को भी शांति देने तथा ज्योतित कर देने का विश्वास उत्पन्न कर दिया था। दोनों ही उस काल के ऐसे महान् पुरुष थे, जिनको राजनीति और साहित्य बड़े गौरव के साथ स्मरण करता है। इन दोनों के बीच जो पत्र-व्यवहार हुआ था, वह हिन्दी साहित्य की एक ऐसी निधि है, जिसका कोई मूल्य आँका नहीं जा सकता।

इस पत्र-व्यवहार का निश्चित समय ज्ञात करने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं हो सका, किन्तु विषय-क्रम के आधार पर अनुमान लगाया जा सकता है कि इसका समय सं० १७६१ वि० के पश्चात् ही रहा होगा। सं० १७६१ वि० तक छत्रसाल का जीवन युद्ध-कार्यों में बुरी प्रकार व्यस्त रहा। उन्हें साधना या विवेक की बात करने का अवकाश ही न मिला होगा। अक्षर अनन्य के उत्तर से

---

१. राखत हैं हम टेक उपासना,
बात विवेक हूं नांहि भुलानी। —छत्रसाल का पत्र

२. कृष्ण मुहम्मद देवचंद, प्राणनाथ छतसाल।
इन पंचन कौ जे भजे, दुःख हरै तत्काल॥ —लोकश्रुति

भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस पत्र-व्यवहार के समय से बहुत काल पूर्व ही वे ओरछा छोड़कर सेंवढ़ा चले आये थे। पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को उपदेश देने का समय भी समाप्तप्राय-सा प्रतीत होता है। इस समय श्री अक्षर अनन्य तीर्थाटन, देव-दर्शन, राज-सभाओं आदि में उपस्थित होना पूर्णरूपेण त्याग चुके थे और स्थिर होकर 'सनकुआ क्षेत्र' (सेंवढ़ा) में निवास कर रहे थे :—

'आइबौ जैबौ हमारौ नहीं, सनकादि के धाम में आसन मंडी।
तीरथ देवल राज सभाननि, जात नहीं भ्रमना सब छंडी।
नीके रहैं प्रथिचन्द नरेस, सदा यह आसिष देत अखंडी।
केवल भक्ति बिराजत या महं, जोई कही हम सोई न छंडी॥'

श्री अक्षर अनन्य की इस अवस्था को मैंने साठ वर्ष की अवस्था से ऊपर ही परिकल्पित किया है। इस समय तक उनके अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। ज्ञानयोग-साधना एवं कला-साधना की उनकी कीर्ति पर्याप्त रूप से फैल चुकी थी। अनन्य की इसी अनन्यता से प्रभावित होकर छत्रसाल ने उनको अपने यहाँ बुलाने के लिए आवेदन करते हुए लिखा था :—

'हौ अनन्य नहिं अन्य कोउ, अक्षर छता अनन्य।
इत रस में रस मानिबी, आय कीजिबी धन्य॥'

यह लिखा ही जा चुका है कि महाराज छत्रसाल अक्षर अनन्य को आमंत्रित करने के बहुत पूर्व प्राणनाथ जी द्वारा प्रचारित धाम-पन्थ में दीक्षित हो चुके थे। वे किसी विशेष साधना-पद्धति के उपासक थे। इसके विपरीत श्री अक्षर अनन्य "ज्ञानयोग मारग विहंगम सुगम पन्थ" को साधना की सर्वश्रेष्ठ पद्धति मानते थे। महाराज पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को उसी का उपदेश दिया गया था; अतएव उन्होंने महाराज छत्रसाल को उत्तर देते हुए लिखा था :—

'धाम की टेक तुम्हारें बंधी नृप, दूसरी बात कहैं दुख पावत।
काहू की टेक न राखत हैं हम, जैसे कौ तैसौ प्रमान बतावत।
मानहिं कोउ भलौ कै बुरौ, नहिं आसरौ काहु कौ चित्त में ल्यावत।
टेक विवेक सौं बीच बड़ौ, हमकौं किहि कारन राज बुलावत॥'

यहां 'टेक' शब्द का प्रयोग हठ के अर्थ में ही किया गया है। महाराज छत्रसाल धाम-पन्थ में दीक्षित होने के कारण साधना की विशेष टेक (हठ) को अंगीकार किये हुए थे। अक्षर अनन्य ने उनकी साधना के विरोध में कुछ भी कहना उचित नहीं समझा और केवल इतना ही कहा कि हमारी आपकी साधना-पद्धति भिन्न है। आप किसी विशेष साधना-पद्धति को स्वीकार किये हुए हैं और उसके अतिरिक्त यदि कोई अन्य बात कही जाय, तो आपके हृदय को ठेस लगती

है। हमारी साधना का मार्ग स्वतन्त्र है और किसी प्रकार की टेक को हम स्वीकार नहीं करते। विवेक की कसौटी पर खरी उतरनेवाली बात को ही सत्य मानते हैं। इस पर भी यदि कोई भला-बुरा मान जाता है, तो उसकी भी उन्हें कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि उन्हें किसी का आश्रय लेकर नहीं रहना था।

छत्रसाल के आमन्त्रण को अस्वीकार करते हुए अक्षर अनन्य ने अपने पत्र में आगे लिखा :—

'जो धरिये हठ टेक उपासना, तौ चरचा पर चित्त न दीजे।
जो चरचा पर राखिये चित्त, तौ ग्यान विषै हठ टेक न दीजे।
जो धरिये उर ग्यान विचार, तौ अक्षर सार क्रिया पुनि लीजे।
अक्षर में क्षर अक्षर है, कहि 'अक्षर' अक्षरातीत है तीजे।
जो कहिये निज धाम की गाथ, तौ धाम की गाथ न कामहि आवै।
अमृत की चरचा करिये, चरचा सुन अमृत भोग न पावै।
प्रापति की करनी बरनी, निज अक्षर भेद गुरु समुझावै।
अक्षर में क्षर अक्षर है, कहि 'अक्षर' अक्षरातीत लखावै॥'

महाराज छत्रसाल ने अक्षर अनन्य को ज्ञानोपदेश प्राप्त करने के लिए ही अपने यहाँ आने हेतु आमन्त्रण भेजा था; किन्तु छत्रसाल बहुत पूर्व से ही साधना-पद्धति के किसी विशेष मार्ग को अपना चुके थे, अतएव विवेक-ज्ञान के सम्बन्ध में चर्चा होने पर भी वे अपनी धाम-पन्थ की साधना छोड़ने को प्रस्तुत होते, यह सम्भव न था। ऐसी दशा में उनके लिए उचित परामर्श यही था कि यदि वे किसी पन्थ-विशेष को मानकर उसका अनुसरण करते हैं, तो विभिन्न विषयों की चर्चा पर ध्यान देना उचित नहीं। इधर-उधर की विभिन्न चर्चाओं के माध्यम से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और यदि ज्ञान-मार्ग का अनुसरण किया जाय, तो क्रिया के संयोग से ही उसकी पूर्णता को प्राप्त किया जा सकता है।

अक्षर अनन्य अपनी इस अवस्था में स्वयं ही कहीं जाना-आना अथवा राज-सभाओं में उपस्थित होना, आदि त्याग चुके थे। छत्रसाल का निमन्त्रण पाकर भी उन्होंने पन्ना जाने का विचार नहीं किया, अतएव दोनों के मिलन एवं स्पष्ट तथा विस्तृत रूप से बात करने का अवसर ही नहीं आना था। इस स्थिति में दोनों के बीच पत्र-व्यवहार का यह क्रम और भी अधिक समय तक चलता रहा। यह पत्र-व्यवहार केवल आमन्त्रण और अस्वीकृति तक ही सीमित न रहा, प्रत्युत दोनों के सम्मिलन पर तर्क और विवेक से भरी जो भी वार्ता हो सकती थी, वह पत्रों के माध्यम से पाठकों के सामने आयी। महात्मा अक्षर अनन्य ने अपने उपर्युक्त उत्तर के साथ कुछ प्रश्न भी जोड़ते हुए छत्रसाल को लिखा :—

नारि तें होय नहीं नर देह, नहीं नर तें पुनि नारि बखानी।
जाति नहीं पलटै सपनेहु, मरेहु तें भूत चुरैल निदानी।
क्यों सखियां निज धाम की राज, भई नर रूप सुरीति हिरानी।
वेद सही कैधौं वाद सही, हमकों लिखि भेजिबी एक जुबानी॥

× × ×

जाति नहीं पलटै नर नारि की, क्यों सखियां नर रूप बखानी।
जो नर रूप भयौ तौ भयौ, पुरुषोत्तम सौं रति कैसिके मानी।
जो पुरुषोत्तम सौं रति है, तौ इतै कत नारिन सौं रस सानी।
या दुविधा में प्रमाण नहीं, हमकों लिखि भेजिबी एक जुबानी॥

दंडक वन के ऋषि-मुनि श्री रामचन्द्रजी की सुन्दरता पर उनके वनवास-काल में मुग्ध हो गये थे और उनके हृदय में प्रेम का उदय हुआ था। उस अवसर पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम उनकी वह कामना पूरी न कर सके थे और कृष्णावतार में मुनियों को गोपियों के रूप में अवतरित होने एवं उनकी कामना पूरी करने का वरदान दिया था। कृष्णावतार-काल की गोपियां उन्हीं ऋषि-मुनियों का अवतार कही जाती हैं। उनके अतिरिक्त कृष्ण-भक्ति-शाखा के भक्त कवि हरिदास, हरिराम व्यास, हितहरिवंश को भी ललिता एवं विशाखा सखी तथा वंशी का अवतार माना जाता है; किन्तु दूसरी ओर यह भी एक लोक-मत है कि पुरुष अथवा स्त्री-योनि में जन्म लेनेवाला प्राणी कभी विपरीत योनि में जन्म धारण नहीं करता। इसी विषय को लेकर 'अक्षर अनन्य' ने छत्रसाल से प्रश्न किया और "वेद सही कैधौं वाद सही" का उत्तर चाहा था।

महाराज छत्रसाल यद्यपि धाम-पन्थ के अनुगामी थे, तथापि वह विवेक की परम्परा में विश्वास करते थे। उनके साहित्य में राधा-कृष्ण के भक्तिपूरित छन्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, जिनमें ज्ञान के प्रति आस्था का अभाव भी नहीं है। इससे मेरा तात्पर्य यह कदापि नहीं कि छत्रसाल ज्ञानाश्रयी परम्परा के कवियों में माने जा सकते हैं, प्रत्युत इसका आशय यही है कि विवेक के प्रति उनकी अभिरुचि एवं दर्शन-साहित्य का उनका ज्ञान कम न था। अक्षर अनन्य के प्रश्नों का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा था :—

राखत हैं हम टेक उपासना, बात विवेक हू नांहि भुलानी।
पीवत हैं चरचा करि अमृत, भूप छता रस में रस सानी।
देखत के नर नारि कहावत, जीव स्वरूप की एक निसानी।
कारन की तजबीज करौ, हमसौं सुन लीजिबी एक जुबानी॥

× × ×

बाद भयौ पुरुषोत्तम सौं अरु, नेह बढ़ावन कौ उर आनी।
ब्रह्म प्रताप तें यों पलटै तनु, ज्यों पलटै सब रंग में पानी।
जो नर नारि कहै हमकों, अजहूं तिनकी मति जात हिरानी।
भूत चुरैल है झूठ सबै, हमसौं सुन लीजिबी एक जुबानी॥

महाराज छत्रसाल के उत्तर विशुद्ध रूप से दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित हैं। प्रथमतः उन्होंने अक्षर अनन्य के आरोप 'धाम की टेक तुम्हारें बंधी नृप' को स्वीकार करते हुए विवेक-संयुक्त रहने का उत्तर दिया है। 'राखत हैं हम टेक उपासना, बात विवेक हूं नाहिं भुलानी'-जैसे शब्दों से स्पष्ट है कि धाम-पन्थ की उपासना-पद्धति को मानते हुए भी छत्रसाल ज्ञान-मार्ग में श्रद्धा रखते थे। अक्षर अनन्य के स्त्री-पुरुष-सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर दार्शनिक दृष्टि से जो सबसे सुन्दर हो सकता था, वही दिया गया कि स्त्री-पुरुष-जाति के समस्त प्राणी अपने बाह्य शरीर-आवरण के कारण ही विशेष संज्ञा को प्राप्त होते हैं। उनका वह शरीर नश्वर तथा जड़ है। उसको चेतन बनाये रखनेवाली आत्मा जाति-बन्धनों से रहित है। जिस प्रकार जल रंग-गुण-रहित है, उसी प्रकार आत्मा भी स्त्री-पुरुष आदि उपाधियों से रहित है। विभिन्न रूप-शरीरों से अपने को आवृत कर बाह्य सृष्टि में उसी प्रकार वह रूप-गुण-संयुक्त आभासित होती है, जिस प्रकार विभिन्न रंगों से संयुक्त होकर निर्मल जल रंगमय दिखाई देता है। स्त्री-पुरुष के रूप में आभासित होनेवाले बाह्य शरीर-आवरण मिथ्या हैं और आत्मा ही एकमात्र सत्य है।

यह पत्र-व्यवहार इतने पर ही समाप्त नहीं हो गया, प्रत्युत पत्रों के विषय ने स्वयं ही दोनों ओर इस धारा को अजस्र रूप से प्रवाहमयी रखने की लालसा जाग्रत कर दी। महाराज छत्रसाल को अक्षर अनन्य पर अनन्य श्रद्धा थी ही, अक्षर अनन्य भी छत्रसाल की ज्ञान-गरिमा को स्वीकार करते थे। इसके साथ ही छत्रसाल किसी विशेष 'टेक उपासना' को मानकर भी निर्गुण-साधना में विश्वास करते थे एवं पूर्ण ब्रह्म के उपासक थे। उनकी इस स्थिति ने अक्षर अनन्य के हृदय में उनके प्रति और भी अधिक आकर्षण उत्पन्न कर दिया था। पत्र-व्यवहार के क्रम को बनाये रखते हुए अक्षर अनन्य ने पुनः छत्रसाल को लिखा :—

छत्र नरेस विचित्र महा, अरु संगति धामी बड़े बड़े ग्यानी।
ध्यान अखंड स्वरूप कौ राखत, भावत पूरन ब्रह्म प्रमानी।
क्यों शिशुपाल की ज्योति गई, फिर को हित कान्ह में आन समानी।
खंडित है कि अखंडित है, हमकौं लिखि भेजिबी एक जुबानी॥

× × ×

प्राणी सबै छर रूप कहावत, अक्षर ब्रह्म कौ नाम प्रमानी।
जीव सुपन्न सुषोपत जागृत, ब्रह्म तुरीय दसा ठहरानी।
क्यों तिहि में सपनौ भ्रम भासत, छत्र नरेस विचक्षण ग्यानी।
अक्षर है कि अनक्षर है, हमकौं लिखि भेजिबी एक जुबानी ।।

श्री अक्षर अनन्य के ये प्रश्न ऐसे हैं, जो दार्शनिकों को भी कुछ समय तक के लिए उलझाये रख सकते हैं। शिशुपाल-वध के समय जब श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उसकी ग्रीवा विच्छिन्न कर दी, तब उसके शरीर में से एक ज्योति निकलकर कृष्ण के भीतर प्रविष्ट हो गयी थी। उसी आधार को लेकर ब्रह्म के सम्बन्ध में "खंडित है कि अखंडित है" का प्रश्न किया गया। दूसरे प्रश्न में जीव की दशाओं को लेकर "अक्षर है कि अनक्षर है" का प्रश्न उठाया गया है। महाराज छत्रसाल ने उनका उत्तर भेजते हुए लिखा था :-

एक समै पतिनी पति सौं, हठ पूछी यही निज धाम की बानी।
कही नहीं करि दैन कही भये, सोरहु अंस कला के प्रमानी।
इततें शिशुपाल की ज्योति गई, उततें फिर कान्ह में आन समानी।
खंडित है न अखंडित है, हमसौं सुन लीजिबी एक जुबानी ।।

× × ×

दूर करौ दुविधा दिल सौं, सत ब्रह्म स्वरूप कौ रूप बखानौ।
जागृत सुप्न सुषोपति कौं, तजिकैं तुरिया उनकों पहिचानौ।
तीनहु श्रेष्ठ कहे सब वेदन, औ ऋषि होंहु मतौ ठहरानौ।
कारण ज्यों भसमासुर तारन, कामिनि सो प्रभु आप दिखानौ ।।

महाराज छत्रसाल की ओर से इनके अतिरिक्त और भी पत्र अक्षर अनन्य को लिखे गये होंगे और प्रश्नोत्तर के रूप में बहुत समय तक यह पत्र-व्यवहार चलता रहा होगा। "हमकौं लिखि भेजिबी एक जुबानी" तथा "हमसौं सुन लीजिबी एक जुबानी" की परम्परा शीघ्र ही समाप्त न हुई होगी। महाराज छत्रसाल अक्षर अनन्य को "हौ अनन्य नहिं अन्य कोउ" मानते थे। अक्षर अनन्य पृथ्वीसिंह की प्रार्थना पर ओरछा छोड़कर सेंवढ़ा आये थे तथा वहाँ उनके आने का एकमात्र उद्देश्य पृथ्वीसिंह को ज्ञानोपदेश देना था। इसी प्रसंग में 'अक्षर अनन्य के चिट्ठा'-जैसे सर्वांग सुन्दर ग्रन्थ की रचना हो सकी। यदि अक्षर अनन्य महाराज छत्रसाल का आवेदन स्वीकार कर कुछ समय तक पन्ना रहना स्वीकार करते, तो कहा नहीं जा सकता कि दोनों की असाधारण प्रतिभा का सहारा लेकर हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कौन-सा ऐसा ग्रन्थ-रत्न उत्पन्न होता, जिसका मूल्यांकन करते समय सुधी जनों की आँखें भी चकचौधियाँ जातीं।

श्री वियोगी हरि ने 'छत्रसाल ग्रन्थावली' की भूमिका में लिखा है कि 'छत्रसाल के इस नम्र निवेदन को अक्षर अनन्य ने अस्वीकार नहीं किया होगा और वे उसे स्वीकार कर अवश्य ही पन्ना आये होंगे।' श्री वियोगीहरि जी का यह विचार केवल अनुमान पर ही आधारित है। छत्रसाल और अक्षर अनन्य के ग्रन्थों में कहीं कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिलता, जिससे अक्षर अनन्य का पन्ना जाना सिद्ध हो सके। प्रसंग में आये हुए पत्र-व्यवहार तथा हस्तलिखित ग्रन्थों में प्राप्त प्रमाणों के आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि अक्षर अनन्य ने छत्रसाल का निमन्त्रण पाकर भी पन्ना जाना स्वीकार नहीं किया था। "अक्षर अनन्य के चिट्ठा" नामक ग्रन्थ मेरे हस्त-लिखित पुस्तकों के संग्रहालय में सुरक्षित है। छत्रसाल को भेजे गये पत्र के प्रारम्भ में प्रसंग के रूप में लिखा गया है :—

"म्हांराज छत्रसाल कौ बुलौवा आऔ तहां कौं जुवाब लिखौ।"

इससे प्रमाणित होता है कि यह "बुलौवा" अनन्य के लिए छत्रसाल की ओर से भेजा गया आमन्त्रण था, जिसे उन्होंने स्वीकार न कर उसका "जुवाब" ही लिख भेजा था। यदि उस "बुलौवा" को स्वीकार कर अक्षर अनन्य पन्ना गये होते, तो उसका "जुवाब" भेजने की कोई आवश्यकता ही न होती। उत्तर में जो कुछ लिखा गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अक्षर अनन्य ने उन पत्रों के माध्यम से अन्य बातों के साथ अपनी अस्वीकृति ही भेजी थी। "तहाँ कौं जुवाब लिखौ" के प्रसंग में ही 'धाम की टेक तुम्हारैं बंघी नृप' उत्तर भेजा गया था। उस पत्र में अक्षर अनन्य ने "मानहि कोउ भलौ कै बुरौ, नहिं आसरौ काहु कौ चित्त में ल्यावत" लिखकर यह भी स्पष्ट कर दिया था कि अपना आसन छोड़कर पन्ना जाना अक्षर अनन्य को किसी भी दशा में स्वीकार न था। यहाँ यह भी स्पष्ट लिख दिया गया था कि हम दोनों का मार्ग अलग-अलग है; यदि आपके विशेष पन्थ से अलग कोई बात कही जाय, तो आपको उसका बुरा लगता है; किन्तु किसी के बुरे-भले की हम कभी चिन्ता नहीं करते। इस दशा में मुझे पन्ना बुलाने का कोई कारण नहीं।

इसके अतिरिक्त दूसरे स्थान पर "आयबौ जैबौ हमारौ नहीं" लिखकर अनन्य ने अपनी अस्वीकृति को और भी स्पष्ट कर दिया था। अक्षर अनन्य ने स्पष्ट शब्दों में लिखा था कि मैंने तीर्थाटन करना, देव-दर्शन, राज-सभाओं में उपस्थित होना, आदि सब कुछ त्याग दिया है। "भ्रमना" शब्द का प्रयोग कर उन्होंने अपनी विरति को और भी अधिक स्पष्ट कर दिया था। अपने गुरु के आदेश का पालन करते हुए अक्षर अनन्य अपने आसन से किसी अन्य स्थान पर पैर नहीं रखते थे।[1] ये सब प्रमाण इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहने देते

---

१. **आसन तें न चलौं विय आसन, आयसु दीन गुरू सर्वग्या।**
सो न उलंघि परैं हमपै, गिरि मेरुहि ते गरुई गुरु अग्या॥

कि अक्षर अनन्य सेंवढ़ा छोड़कर पन्ना गये ही न थे। सेंवढ़ा में रहते हुए भी पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को उपदेश देने के लिए वे कभी उनके दरबार में उपस्थित नहीं हुए, प्रत्युत यह समस्त कार्य "चिट्ठा" के माध्यम से ही सम्पन्न हुआ था।

श्री अक्षर अनन्य की ओर से छत्रसाल को लिखे गये और भी छन्द प्राप्त होते हैं। ये सभी छन्द पत्र के रूप में ही भेजे गये थे। छत्रसाल की लालसा इनसे उपदेश ग्रहण करने की थी ही, अतएव अक्षर अनन्य ने पत्रों के माध्यम से ही उनको उपदेश देते हुए लिखा था :—

जो करनी करिये अति उत्तम, तौ घर हू बन बन्धन नाहीं।
जौ लगि नीच करै करनी, तौ अतीत भये घरनी बगसाहीं।
है करता करनी फल दायक, राज ही नीति की रीति चलाहीं।
जान यहै मत छत्र नरेस, विवेक विचार बड़ौ जग माहीं॥

× × ×

बाल करै तत ज्वान करै, पुनि वृद्ध करै अपनौ बस नाहीं।
दूर करै नख बारन कौं, नर ज्यों ही के त्यों ही करै तिहि ठाहीं।
या तन कौ करता हरता, सु बनौ तन में समुझै भ्रम जाहीं।
जान यहै मत छत्र नरेस, विवेक विचार बड़ौ जग माहीं॥

× × ×

जो अपने मन में समझौ, तौ लहौ सर्वत्र सुपूरन आही।
जो अपने मन में नहियां, तौ कहूँ नहियां बकवाद ब्रथा ही।
आसति नासति आपुही में, मन की भ्रमना गुन दोष भुलाही।
जान यहै मत छत्र नरेस, विवेक विचार बड़ौ जग माहीं॥

अपने इस पत्र-व्यवहार के कारण अक्षर अनन्य तथा महाराज छत्रसाल एक-दूसरे के इतने अधिक समीप आ जाते हैं अथवा परस्पर इतने अधिक सम्बद्ध हो जाते हैं कि इनको अलग नहीं किया जा सकता। छत्रसाल के जीवन के इतिहास में यह एक ऐसी घटना घटित हुई थी, जिसको इतिहासकार कभी भुला नहीं सकते। महाराज छत्रसाल के जीवन पर अनन्य के उपदेशों का प्रभाव भी बहुत अधिक पड़ा था। श्री वियोगी हरि ने' 'छत्रसाल ग्रन्थावली" में तथा श्री गोरेलाल तिवारी ने अपने "बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास" में इसका उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है।

श्री रामचन्द्र शुक्ल ने छत्रसाल को भी अक्षर अनन्य का ही शिष्य माना है। आपने यह भी लिखा है कि अनन्य विरक्त होकर पन्ना में जाकर रहने लगे थे। पन्ना रहने का उल्लेख उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। यदि

इस पत्र-व्यवहार के पूर्व अनन्य कभी पन्ना रहे हों, तो इसका भी कोई प्रमाण नहीं मिलता। अनन्य और छत्रसाल के सामयिक मिलन का उल्लेख ऊपर किया ही जा चुका है।

इतना अवश्य कहा जा सकता है कि अक्षर अनन्य तथा छत्रसाल के बीच अत्यन्त निकट का सम्बन्ध था। पत्र-व्यवहार के रूप में ही सही, प्रश्नोत्तर की शृङ्खला में यदि ये दोनों कुछ और अधिक कड़ियाँ जोड़ते, तो वह पाठकों के मन को अपने में स्थिर रूप से बाँध सकतीं, यद्यपि गिने-चुने छन्दों के ये पत्र भी इस कार्य के लिए पूर्ण समर्थ हैं।

४. अक्षर अनन्य का साहित्य

अक्षर अनन्य की साहित्य-सर्जना के सम्बन्ध में विचार करते समय जब हम देखते हैं कि ज्ञानाश्रयी परम्परा का कोई भी संत साहित्य को इतनी अधिक सरस एवं गाम्भीर्यपूर्ण सामग्री नहीं दे सका, जितनी महात्मा अक्षर अनन्य ने दी है, तो निश्चय ही विशेष गर्व का अनुभव होता है। अधिकांश सन्तों ने केवल स्फुट पदों तथा साखियों की ही रचना की थी। ग्रन्थ-रचना की दृष्टि से लिखी गयी ज्ञानाश्रयी सन्तों की रचनाएं बहुत कम मिलती हैं। इस दृष्टि से महात्मा अक्षर अनन्य ही ज्ञानाश्रयी परम्परा के ऐसे महात्मा हैं, जो सफल कवि भी थे। इतिहास-लेखकों ने अक्षर अनन्य के निम्नलिखित ग्रन्थों का उल्लेख किया है :—

१. राजयोग	२. विज्ञान योग
३. ध्यान योग	४. सिद्धान्त बोध
५. विवेक दीपिका	६. ब्रह्मज्ञान
७. अनन्य प्रकाश	८. उत्तम चरित्र
९. अनुभव तरंग	१०. प्रेम दीपिका
११. ज्ञानबोध	१२. ज्ञान पचासा
१३. दैवशक्ति पचीसी	१४. भवानी स्तोत्र
१५. योग शास्त्र	१६. कविता-संग्रह
१७. विज्ञान बोध	१८. अंक बत्तीसी
१९. विवेक शतक	२०. निरधार शतक
२१. विवेक तरंग	२२. वैराग्य तरंग
२३. उपासना सार	२४. प्रह्लाद चरित्र
२५. अनन्य योग	२६. हर सम्वाद
२७. श्री सरस मंजावली	२८. ज्ञान योग

२९. योग शास्त्र स्वरोदय

उपर्युक्त ग्रन्थों में से तीन ग्रन्थ—१. राजयोग, २. विज्ञान योग तथा ३. विज्ञान बोध—नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा 'अनन्य-ग्रन्थावली' के रूप में प्रकाशित किये गये थे; किन्तु ये तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं, वरन् "अक्षर अनन्य के चिट्ठा" नामक एक

ही ग्रन्थ के तीन अध्याय अथवा तीन चिट्ठा-मात्र हैं। इन चौदह चिट्ठों में से किसी-किसी का स्वतन्त्र नाम भी मिलता है। चतुर्थ चिट्ठा में कुल पचीस छन्द लिखे गये हैं तथा "ज्ञान विज्ञान पचीसी" के नाम से भी उसका उल्लेख किया जाता है, यद्यपि इन चिट्ठों से अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में उसकी एक भी प्रति उपलब्ध नहीं। इसके अतिरिक्त 'राजयोग' नामक चिट्ठा स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में इतना अधिक लोकप्रिय रहा है कि अधिकांशत: स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में ही उसकी प्रतियां की जाती रहीं। इन दोनों ही ग्रन्थों को प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों में स्पष्ट रूप से 'चिट्ठा' ही लिखा गया है; अतएव मैं भी उनके अलग नाम गिनाकर ग्रन्थ-संख्या में जबर्दस्ती वृद्धि नहीं करना चाहता। 'अनन्य-ग्रन्थावली' में प्रकाशित चतुर्थ ग्रन्थ 'ज्ञानयोग' अक्षर अनन्य-कृत 'ज्ञान पंचासिका' है और 'ज्ञानयोग' अनन्य का इससे भिन्न एक अत्यन्त सुन्दर ग्रन्थ है।

उपर्युक्त सूची में दिये गये अक्षर अनन्य के समस्त ग्रन्थों का पता नहीं लगता। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं, जिनका अब तक किसी इतिहासकार ने उल्लेख नहीं किया। अक्षर अनन्य के प्राप्त ग्रन्थों की सूची निम्नलिखित है :—

१. महिमा समुद्र — २. उत्तम चरित्र
३. प्रेम दीपिका — ४. भवानी स्तोत्र
५. गणेशाष्टक — ६. अनन्य प्रकाश
७. सिद्धान्त बोध — ८. अक्षर अनन्य के चिट्ठा
९. विवेक तरंग — १०. ज्ञान पंचासिका
११. शिवशक्ति पचीसी — १२. निरधार शतक
१३. उपासना बोध — १४. ज्ञानयोग
१५. शृङ्गार योग — १६. अक्षर अनन्य की साखी
१७. गुणान बत्तीसी — १८. हरिहर सम्वाद
१९. स्फुट पद्य — २०. ज्ञान तरंग
२१. उत्तर मालिका — २२. अष्टांग योग
२३. विवेक दीपिका — २४. वैराग्य तरंग
२५. भक्ति-भावना

अक्षर अनन्य के जन्म और जीवन के सम्बन्ध में लिखते समय संकेत किया जा चुका है कि प्रारम्भ से ही वे शक्ति-साधना के अनुयायी थे। शाक्त-

तन्त्रों के अनुसार व्यावहारिक साधना ज्ञान के समान ही महत्त्वपूर्ण है; अतएव शास्त्रविहित आचार-विचार एवं विधि-विधानों में भी उनको पूरा विश्वास था। अक्षर अनन्य ने निर्गुण ब्रह्म का अपने साहित्य में जहां भी वर्णन किया है, वहां स्पष्ट हो जाता है कि उनका संकेत निष्कल शिव-तत्व की ओर है तथा ज्ञानयोग-साधना के द्वारा आचार-विचारों से परे शाक्त-तंत्रों द्वारा प्रतिपादित अवधूत की सहज-साधना की ओर ही संकेत किया गया है। शाक्त-तंत्रों में पशु, वीर तथा दिव्य-भाव एवं वेदाचार, वैष्णवाचार, आदि सप्ताचार, जिनका उल्लेख अन्यत्र किया गया है, के द्वारा साधना के क्रमिक विकास की ही स्वीकृति है। प्रत्येक व्यक्ति जन्मतः पशु-भाव तथा वेदाचार में उत्पन्न होता है एवं उसे साधना की उच्चतम स्थिति पर पहुंचने हेतु प्रारम्भिक सोपानों से गुजरना अनिवार्य है। वैदिक आचार-विचार, दृढ़ आस्था, निश्चल धारणा, आदि साधना के सोपान हैं। अक्षर अनन्य के साहित्य को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने शाक्त-तंत्रों के दार्शनिक एवं साधनामूलक सिद्धान्तों को ही इतनी सरलतम शैली में अभिव्यक्त किया है कि वह सामान्य व्यक्ति के लिए दुर्बोध न रहे।

अनन्य की साहित्य-सर्जना उनके कवि तथा महात्मा होने का स्पष्ट अतर्क्य प्रमाण है। वर्णनात्मक प्रबन्ध-शैली में 'महिमा समुद्र', 'उत्तम चरित्र' तथा 'प्रेम दीपिका'—जैसे काव्य-ग्रन्थों की रचना के द्वारा आपने एक ओर जहाँ शिव-शक्ति की पौराणिक महत्ता का प्रतिपादन किया है, वहां दूसरी ओर 'उपासना बोध',' ज्ञान पंचासिका', 'अनन्य प्रकाश', 'ज्ञानयोग', 'विवेक तरंग', 'शृङ्गार योग' तथा 'साखी' आदि ग्रन्थों के द्वारा तत्ववाद एवं साधना-सिद्धान्तों का स्पष्ट विवेचन किया गया है। आपके प्रबन्ध-काव्यों की रचना विशुद्ध रूप से रीत्यानुसार ही की गयी है। इन ग्रन्थों के प्रारम्भ में मंगलाचरण की शैली को भी अपनाया गया है। यह परम्परा संस्कृत कवियों तथा मध्यकालीन हिन्दी प्रबन्ध-काव्यों के रचयिताओं में विशेष रूप से रही। 'महिमा समुद्र' के प्रारम्भ में मंगलाचरण के साथ ही आगे लिखा गया है :—

भाषा बानि सुहावनी, सुन्दर छन्द कवित्त।
पढ़त गुनत सीखत सुनत, अटकहिं सबके चित्त॥

'सुन्दर छन्द कवित्त' को इस ग्रन्थ में सत्य सिद्ध करने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। इस में अक्षर अनन्य ने अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है, जो उनके पाण्डित्य के विस्तार को प्रकट करता है। नागस्वरूपिणी, हंस, पद्मावती, विशेषक, सरस्वती, मुरिल्ल, अरिल्ल, सुन्दरी, प्रिया, विजय, अभीर, मृदुल, पद्धटिका, त्रिकूट-गति, अमृत-ध्वनि, अमृत-गति, महानराच, लघुनराच, दोहा, सोरठा, छप्पय, सवैया, घनाक्षरी, कुण्डलिया, आदि सभी प्रकार के छन्दों

का प्रयोग अक्षर अनन्य द्वारा "सुन्दर छन्द कवित्त" कहने को प्रमाणित करता है। इन काव्य-ग्रन्थों में अक्षर अनन्य का पाण्डित्य अपने पूर्ण विकास पर मिलता है और वे प्रबन्ध-काव्यों के रचयिता के रूप में ही दिखाई देते हैं।

१. **महिमा समुद्र**—यह ग्रन्थ एक प्रबन्ध-काव्य के रूप में लिखा गया है। इसका कथानक शिवपुराण के काशी-खंड से लिया गया है तथा इसमें शिव-शक्ति की पौराणिक महत्ता का ही प्रतिपादन किया गया है। जलन्धर-वध की कथा एवं ध्रुव, कृष्ण, आदि की शिव-भक्ति की कथाओं का वर्णन कर शिव-भक्ति को श्रेष्ठ तथा शिव को ही सर्वश्रेष्ठ देवता सिद्ध किया गया है। इसमें शक्ति-महिमा के वर्णन से सम्बन्धित 'उत्तम चरित्र' के कुछ अंश ज्यों के त्यों पाये जाते हैं।

२. **उत्तम चरित्र**—यह दुर्गासप्तशती के भावानुवाद के रूप में लिखा गया प्रबन्ध-काव्य है। वस्तुतः दुर्गासप्तशती का हिन्दी छन्दों में अनुवाद करने-वाले सर्वप्रथम कवि महात्मा अक्षर अनन्य ही हैं। काव्य की दृष्टि से यह एक अत्यन्त मनोरम तथा सफल प्रबन्ध-काव्य है। इसे पढ़ने से किसी मनोहर काव्य के पढ़ने-जैसा ही आनन्द आता है। शक्ति के प्रति अक्षर अनन्य की अनन्य श्रद्धा से पूरित भावनाओं एवं उनके कलात्मक ज्ञान के सम्मिश्रण से इसकी मनोहारिता द्विगुणित हो गयी है। इसमें भी 'महिमा समुद्र' की भांति अनेक छन्दों का प्रयोग किया गया है।

३. **प्रेम दीपिका**--भ्रमर-गीत तथा उद्धव-गोपी-संवाद विषय पर यह एक अत्यन्त सफल एवं सर्वांग सुन्दर प्रबन्ध-काव्य है। उद्धव-गोपी-संवाद का जो रूप हमें 'प्रेम दीपिका' में मिलता है, वह हिन्दी के अन्य किसी भ्रमर-गीत-काव्य में उपलब्ध नहीं। हिन्दी के अन्य भ्रमर-गीत मुक्तक काव्यों के रूप में हैं। इसके सम्बन्ध में 'भ्रमर-गीत की परम्परा तथा प्रेम-दीपिका' नामक अध्याय में अलग से लिखा गया है।

४. **भवानी स्तोत्र**--यह एक छोटी-सी रचना है और इसमें शक्ति की स्तुति के रूप में स्फुट छंद लिखे गये हैं।

५. **गणेशाष्टक**—इस छोटी-सी रचना में गणेश की स्तुति के रूप में आठ छंद लिखे गये हैं।

६. **अक्षर अनन्य के चिट्ठा**—अक्षर अनन्य ने अपने शिष्य पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को ज्ञानोपदेश देते हुए चौदह चिट्ठों की रचना की है और यही कारण है कि इन चिट्ठों को 'पृथीसिंह मत प्रबोध' के नाम से भी लिखा गया है। इन चिट्ठों में साधना-सिद्धांतों और ज्ञानयोग तथा राजयोग-साधना का विवेचन तो किया ही गया है, इसके

अतिरिक्त इनमें अक्षर अनन्य और पृथ्वीसिंह के जीवन के सम्बन्ध में भी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राप्त होने के कारण इसका महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। 'जन्म और जीवन' अध्याय में संकेत किया जा चुका है कि अक्षर अनन्य सिंधु के तट पर अपना आसन जमाकर बैठ गये थे। वहां से वे कभी कहीं जाते न थे और इसी स्थिति में ये चिट्ठे लिखे जाकर पृथ्वीसिंह के पास भेजे जाते रहे।

प्रथम चिट्ठा में अपरिपक्व बुद्धि को पानी के समान तथा ज्ञान को अग्नि के समान कहा गया है। पानी का संसर्ग जिस रंग से होता है, पानी भी उसी रंगमय हो जाता है। यही अपरिपक्व बुद्धि की अवस्था है। इसके विपरीत अग्नि के स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता, प्रत्युत अग्नि के संसर्ग में आनेवाली वस्तुओं का रूप भी अग्निमय हो जाता है। संग-दोषों पर विजय प्राप्त करनेवाले योगी भी अग्नि के समान ही जयी हैं। इसके पश्चात् ज्ञानी और ज्ञानयोगी के रहन-सहन का विवेचन किया गया है। द्वितीय चिट्ठा में प्रेमपूरित ध्यान-समाधि के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। प्रेमरहित साधना को तैलरहित दीपक के समान कहा गया है। ब्रह्म सर्वरूप है, अतएव साधक उसके किसी भी रूप का चिन्तन करने के लिए स्वतन्त्र है। तृतीय चिट्ठा के प्रारम्भ में तामस, राजस, सात्विक, अवधूत और पूर्ण ज्ञान का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् कायिक, वाचिक और मानसिक भक्ति का उल्लेख है। इसमें भी प्रेम के महत्त्व पर अनवरत रूप से जोर दिया गया है। जब तक प्रेम की उत्पत्ति हृदय में नहीं होती, तभी तक नियमों का पालन अनिवार्य रहता है; किन्तु प्रेम के उदय के साथ ही उसमें नियमों का उसी प्रकार विलयन हो जाता है, जिस प्रकार नदियों का सरित्पति में। चतुर्थ चिट्ठा में ब्रह्म की सर्वरूपात्मकता के प्रतिपादन के साथ ही अपने पक्ष का समर्थन और अन्य पक्षों की निन्दा करनेवालों की भर्त्सना की गयी है। एक सूत्र से निर्मित तीन सूत्रमय यज्ञोपवीत की भाँति ही ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अलग-अलग प्रतिभासित होते हुए भी एक अद्वय शिव-शक्तितत्व के ही रूप हैं। निर्गुण, सगुण, ज्योति, शून्य अथवा किसी भी रूप में उस आद्या-शक्ति का चिन्तन किया जा सकता है। उसके मूल रूप में भेद-विभेदों की कल्पना केवल युगों की परिवर्तित विचारधाराओं का ही परिणाम है। पंचम चिट्ठा में पुनः प्रेम के महत्त्व के साथ सहज-साधना तथा राजयोग-साधना का समर्थन है। अनेक विचारकों ने प्रेम को असिधार, पारावार, विकराल नदी-जैसा माना है, किन्तु अक्षर अनन्य के मतानुसार प्रेम के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पनाएं उन्हीं ने की हैं, जिन्होंने प्रेम का रहस्य समझा नहीं और जिनको प्राणाधार प्रियतम के मिलन-सुख की उपलब्धि न हो सकी। आपने स्वयं प्रेम को श्रेष्ठतम अमृत के रूप में स्वीकार

किया है। षष्ठ चिट्ठा में विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा और तत्पश्चात् ऋषि-मुनि एवं सृष्टि-उत्पति का उल्लेख कर कहा गया है कि नर और नारायण की परम्परा एक ही है, किन्तु अज्ञानवश जीवात्मा अपने को भूल बैठी है। किसी सतगुरु की कृपा से जब यह ज्ञान हो जाता है, तब वह स्वयं को पहचान लेती है और यही साधना की चरम सिद्धि है। सप्तम चिट्ठा में भजन के महत्त्व का प्रतिपादन करने के पश्चात् अष्टम चिट्ठा में तिलक-माला आदि बाह्याडम्बरों-सहित उपासना-पद्धति को पशुपंथ, वेद-स्मृति-प्रतिपादित रीत्यानुसार भक्ति-साधन को नरपंथ, वासनारहित होकर संयम और नियमसहित उपासना को मुनिपंथ तथा समता-समाधि को सिद्धपंथ कहा गया है। नवम और दशम चिट्ठा में पुनः राजयोग के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है। एकादश चिट्ठा में गुरु-प्रतीति, धर्माचरण, नियम-पालन, प्रेम, निश्चल-धारणा, आराध्य में चित्त की स्थिरता तथा इष्ट के प्रति अभेद-बुद्धि को ज्ञान की क्रमशः सात सीढ़ियाँ कहा गया है। अक्षर अनन्य क्रियारहित ज्ञान को किंचित् भी महत्त्व नहीं देते। द्वादश चिट्ठा में उन्होंने 'उद्यम गति' की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है और त्रयोदश चिट्ठा में विश्वरूप के वर्णन के साथ 'सर्व-समता' के भाव पर बल दिया गया है। 'राजयोग' नामक चतुर्दश चिट्ठा में सहज-साधना का विवेचन किया गया है।

उपर्युक्त चौदह चिट्ठों में अक्षर अनन्य ने स्थान-स्थान पर शिव-शक्ति के अद्वय रूप तथा शाक्त-तन्त्र-प्रतिपादित व्यावहारिक साधना-सिद्धान्तों के प्रति अपनी दृढ़ आस्था को स्पष्ट किया है। चिट्ठा की रचना का उद्देश्य ही पृथ्वीसिंह को ज्ञान का उपदेश देना था, अतएव स्वभावतः विषय का विवेचन अत्यन्त सरल और सुमधुर शैली में हुआ है। विभिन्न मत-मतान्तरों के झमेले में उलझे हुए साधक के हृदय में जितनी भी शंकाएं उत्पन्न हो सकती हैं, उन सब का इन चिट्ठों में सहज ही समाधान हो गया है।

७. अनन्य प्रकाश--'अनन्य प्रकाश' अक्षर अनन्य की प्रौढ़ रचनाओं में से है। इसमें सवैया, दोहा, दंडक, अरिल्ल, हंस, गीतिका, आदि छन्दों में लिखे गये ११९ छन्द हैं। अक्षर अनन्य ने अपनी मान्यताओं के प्रतिपादन हेतु पौराणिक, शास्त्रीय एवं औपनिषद् सभी विचारों को अपनी रचनाओं में प्रस्तुत किया है, जिसका एक सुंदर परिणाम यह भी हुआ है कि उनके वर्ण्य विषय का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया है। 'अनन्य प्रकाश' में प्रारम्भ में विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं एवं धार्मिक आस्थाओं द्वारा प्रति-पादित सृष्टि-रचना-सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। अक्षर अनन्य ने 'सर्वदा जक्त वा तत्व माहिं' तथा 'जैसैं समुद्र लहरैं सुभाय, त्यौं करता महं संसार आय' कहकर शाक्त-सिद्धांतों को ही स्वीकार किया है। इसके पश्चात् आत्म-तत्व की

सर्वव्यापकता का प्रतिपादन और जातिवाद की निरर्थकता को स्पष्ट किया गया है। वर्ण-भेद की निस्सारता के सम्बन्ध में अक्षर अनन्य ने जो तर्क उपस्थित किये हैं, वे विशेषतः द्रष्टव्य हैं। यदि वर्ण (रंग) के आधार पर गौर वर्ण ब्राह्मण का माना जाय, तो बगुला पक्षी का भी वही वर्ण होता है। देह के साथ वर्ण-व्यवस्था का कोई संबंध नहीं है; क्योंकि पंचभूतों से ही समान रूप से सभी विग्रहों की रचना हुई है।

इसके पश्चात् चतुर्विध मुक्तियों पर विचार किया गया है। विविध उद्धरणों के आधार पर अक्षर अनन्य ने उन मुक्तियों को स्वीकार करने से इनकार किया है, जो भागवत-सम्प्रदायों को मान्य रही हैं तथा आत्म-तत्व की उपलब्धि को ही आपने मुक्ति माना है। चेतन का ज्ञान और अविद्या का विनाश होने से जन्म-मरण से उसी प्रकार मुक्ति मिल जाती है, जिस प्रकार भुना हुआ बीज कभी उगता नहीं।[1] सैद्धांतिक दृष्टि से 'अनन्य प्रकाश' में स्वातन्त्र्य, सिसृक्षा, सृष्टि के उदय, आदि छत्तीस तत्वों के उदय, त्रिगुणात्मिका प्रकृति-शक्ति तथा सदाशिव-तत्व का ही वर्णन किया गया है। विभिन्न दर्शन-शास्त्रों एवं पुराणों द्वारा मान्य सृष्टि-सिद्धांतों को अमान्य ठहराकर उन्होंने शाक्त-तन्त्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत को स्वीकार कर कहा है कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय सब कुछ परमतत्व में ही विद्यमान रहता है। ग्रंथ का प्रारम्भ सृष्टि-उदय के वर्णन तथा अन्त मुक्ति की व्याख्या के साथ हुआ है। इस प्रकार 'अनन्य प्रकाश' शाक्त-सिद्धांतों का विवेचन-ग्रंथ है।

८. **शिवशक्ति पचीसी**—'शिवशक्ति पचीसी' अथवा 'दैवशक्ति पचीसी' के नाम से भी उल्लिखित इस पुस्तिका में यद्यपि कुल सत्ताईस छंद हैं, किंतु इसका विषय इसके महत्त्व को कई गुना बढ़ाकर निस्संदेह पठनीय बना देता है। इसमें दैवशक्ति के रूप में शिव-शक्ति का समर्थन और कथ्य के प्रमाण में अनेक पौराणिक कथाओं एवं लौकिक तथ्यों को उद्धृत किया गया है। अक्षर अनन्य की दैवशक्ति भाग्य, दैव अथवा कोई देवता विशेष नहीं, प्रत्युत हरि, हर, ब्रह्मा,

---

१. **अंतर के साधैं होत अंतहकरन सुद्ध, ब्रह्म के विचारैं तैं मिटत भ्रम कूप है।**
सदा सर्वज्ञ्य सर्व गति जो 'अनन्य' भनै, चेतन कौं चीन्हें होत चेतन स्वरूप है॥

× × ×

जानै चेतन रूप कौं, मिटै अविद्या भर्म।
भूंजो बीज जमै न जिमि, इमि उपजै नहिं कर्म॥

सुर, असुर को अपने नियन्त्रण में रखनेवाला परमशक्ति-तत्व ही है।[1] राम-कृष्ण-जैसे ईश्वरावतारों, चन्द्र-सूर्य-जैसे देवों तथा इन्द्र-जैसे देवराज को भी प्रमाण में उद्धृत किया गया है। सुधापायी विष्णु को अवतारों के रूप में भव-बन्धन से मुक्ति नहीं और विषपायी शिव इस बंधन से सर्वथा मुक्त हैं। विष्णु-जैसे सहायक और वृहस्पति के समान मन्त्री होते हुए भी देवराज इन्द्र दानवों के आक्रमण-भय से निश्चिन्त नहीं; महाकाल को भी बांधकर अपने नियन्त्रण में रखनेवाले लंकाधिपति को बंदरों ने मार डाला; भीष्म, द्रोण और विदुर-जैसे महापुरुषों की उपस्थिति में भी द्रौपदी को भरी सभा में नंगी करके घसीटा गया; अंगरहित काम प्रत्यंचाविहीन पुष्प-धनु से बड़े देवताओं और इन्द्रियविजेता ऋषि-मुनियों को भी अपने अधीन कर लेता है; कुरूप कुब्जा को राज्य-भोग का सुख और राधिका को आजन्म शोक भोगना पड़ा। इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि कर्ता और कर्म की मर्यादा को तोड़कर असंभव प्रतीत होनेवाले कार्यों की कर्ता-शक्ति और ही है।[2] उस शक्ति को ही दैवशक्ति के नाम से कहा जाता है।

'शिवशक्ति पचीसी' की विषय-भूमि यद्यपि सन्त-परम्परा की भूमिकाओं से अलग है और उसमें साधना-सम्बन्धी किसी अंग का विवेचन भी नहीं किया गया है, तथापि क्रियाशक्ति के वर्णन के कारण अपने विषय की यह एक अनूठी कृति ही मानी जायगी। पौराणिक कथाओं के अतिरिक्त प्रत्यक्ष विश्व-जीवन की घटनाओं के उदाहरणों ने विषय को और भी अधिक रोचक बना दिया है।

९. **उपासना बोध**–'उपासना बोध' में अक्षर अनन्य ने शाक्तागमों द्वारा मान्य छत्तीस तत्वों में से शुद्ध विद्या-तत्व का ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। अविद्या के द्वारा उत्पन्न भेद-बुद्धि को जब तक विद्या के सहारे समाप्त नहीं किया जाता, तब तक जीव के लिए शिव-रूप की प्राप्ति सम्भव नहीं। माया तथा पंच-कंचुकों द्वारा उत्पन्न अल्पज्ञत्व तथा अल्प-कर्तृत्व बुद्धि को भी शुद्ध विद्या के द्वारा ही दूर किया जा सकता है। केवल सैंतीस छन्दों में लिखी हुई यह पुस्तिका अक्षर अनन्य की प्रौढ़तम रचनाओं में से है। अक्षर अनन्य के पूर्ववर्ती जितने भी सन्त हुए हैं, उनकी दृष्टि केवल भक्ति-मार्ग में प्रविष्ट आडम्बर को ही देख सकी थी। ज्ञानयोग-साधना में भी

---

१. दैव शक्ति शिव शक्ति, दुतिय नहिं शक्ति जासुवर।
हरि ब्रह्मा सुर असुर, सकल आधीन तासु उर।
जा गति समुझि न परत, समुझि तब परत करत जब।
नेति नेति स्रुति कहत, धरत मुनि गन अचरज सब॥

२. जैसी जहां न संभवै, तैसी तहां जु होय।
कर्ता कर्म म्रजाद नहिं, दैव शक्ति है सोय॥

आडम्बर और मिथ्याचार का प्रवेश सम्भव है, इसकी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। कर्मेन्द्रियों पर संयम रखकर इन्द्रिय-भोगों का मनसा स्मरण करनेवाले को श्रीमद्भगवद्गीता में मिथ्याचारी कहा गया है।[1] इसके पश्चात् इस विषय की चर्चा साहित्य में चली ही नहीं। अक्षर अनन्य की सूक्ष्म दृष्टि ज्ञान-मार्ग में घुसे हुए आडम्बर पर भी टिकी थी और यही कारण है कि उन्होंने उसकी भी स्पष्ट शब्दों में भर्त्सना की है। मिथ्या बकवाद को 'ज्ञान' मानने से आपने साफ इनकार कर दिया है। औपनिषद विचारधारा के अनुसार भी जिस विद्या के द्वारा अविनाशी परब्रह्म का ज्ञान होता है, वही विद्या है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद, ज्योतिष, आदि शेष सभी विद्याएं अपरा विद्या के अंतर्गत मानी गयी हैं।[2] एकत्व अथवा अनेकत्व की भावना भी अविद्या के कारण उत्पन्न होती है। आपकी मान्यता है कि आत्म-तत्व के सम्बन्ध में मात्र एकत्व अथवा अनेकत्व का ज्ञान पर्याप्त नहीं। वह केवल श्रोतव्य अथवा मन्तव्य ही नहीं, निदिध्यासितव्य भी है। निदिध्यासन से रहित श्रवण और मनन तत्वज्ञान की अपूर्ण साधना हैं। जिस प्रकार स्वर्ण-सुमेरु का मात्र ज्ञान प्राप्त करने से ही किसी का दारिद्र्य नष्ट नहीं हो जाता, उसी प्रकार आत्मा के एकत्व अथवा अनेकत्व के मात्र ज्ञान में साधना की सफलता नहीं। परमावस्था की प्राप्ति हेतु 'करनी' तथा 'साधन' की भी नितांत आवश्यकता होती है।[3]

आत्म-तत्व के साथ ही ब्रह्मा और विष्णु प्रभृति देवों के सम्बन्ध में लघुता और गुरुता की चर्चा, अपने मत और पंथ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन तथा इनके

---

१. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः सः उच्यते। —श्रीमद्भगवद्गीता, ३–६

२. तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। –मुण्डकोपनिषद्, १–५

३. कहा एक जानै कहा सरतु अनेक जानै,
जानिबौ वहै है जाहि जानै सब जानिये।

× × ×

'अक्षर अनन्य' जैसें सोने कौ सुमेरु जानै,
छूटै न दरिद्र बाढ़ै संपति न थान है।

× × ×

जानिबौ वहै है जानि कैं जो करतूत करै,
बिना करतूत ग्यान मिथ्या बकवाद है।

× × ×

जुगति के साधें बिना अकलें न काम आवें,
भांड कैसी नकलें न जोगी सौ विचारिये।

व्याज से अपने मठों की स्थापना कर विद्वेषमूलक भावनाओं का जन्म भी अविद्या का ही परिणाम है ।[1] वेद, शास्त्र, पुराण और स्मृतियां भी अलग-अलग मतों का निर्देशन करती हैं; अतएव यह सब भ्रम-जाल है । ब्रह्म स्वयं मायारहित निर्गुण है अथवा सगुण, वह कर्ता है अथवा कर्म, ज्योति है अथवा शून्य अथवा राम-कृष्ण, किस रूप में उसका अस्तित्व प्रधान है, ऐसे सहस्रविध मतों की कोई सीमा नहीं; अतएव इन सबका परित्याग कर विद्या के द्वारा भेद-बुद्धि का अन्त ही श्रेयस्कर है ।

'उपासना बोध' में अक्षर अनन्य ने 'केवल उपासना' के एक नये सिद्धांत का निर्देशन किया है । गुरु के उपदेशों का विस्मरण न करते हुए निरन्तर एक समान साधना में रत रहना, मनसा-वाचा-कर्मणा अपने को विषयजन्य दोषों से मुक्त रखना, फल और सिद्धि की कामना से रहित रीति और प्रीतिपूर्वक आराधना ही केवल उपासना है । वरदान-प्राप्ति की आशा लेकर उपासना करनेवाले साधक 'भिक्षु', फल की आशा लिये हुए साधक 'चाकर', दुख-सुख की चिन्ता से युक्त उपासक 'दास' तथा दम्पति के समान प्रेम-भावना से पूरित उपासक 'आशिक' के समान हैं । साधना की दृष्टि से ज्ञान अथवा भक्ति किसी भी मार्ग को अपनाया जा सकता है ।[2] ज्ञानयोग में साधक आत्म-बल के सहारे स्वयं चेतन स्वरूप की स्थिति प्राप्त करता है तथा भक्ति-पथ का अनुगामी परब्रह्म का 'अपना' होकर रहता है । इसके अतिरिक्त अन्य विविध मत-मतान्तरों में उलझकर रह जाना व्यर्थ है । संक्षेपतः शुद्ध विद्या की साधना ही 'उपासना बोध' का वर्ण्य विषय है ।

१०. **विवेक तरंग**–यद्यपि इस पुस्तिका में केवल तीस छन्द लिखे गये हैं, तथापि यह लघु कृति भी वर्ण्य विषय एवं सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण ज्ञानाश्रयी परम्परा की सुन्दरतम रचनाओं में से है । दृश्य जगत्, चर, अचर, सुर, असुर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आदि सभी में जो सत्चिद्रूपिणी शक्ति व्याप्त है, उसी का विवेचन अत्यन्त मधुर शैली में किया गया है । वह चित्-शक्ति ही परमात्मा तथा जीवात्मा के रूप में स्थित है तथा समस्त संसार उसी में प्रतिबिम्बित है । आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी में तन्मात्राओं के रूप में वह चित्-शक्ति ही व्याप्त है । स्वयं निष्कल होते हुए भी सगुण, साकार तथा काष्ठ में अग्नि के समान वही सर्वत्र व्याप्त है । चिद्रूपिणी

---

१. कोऊ कहै ब्रह्म बड़ौ कोऊ कहै बिष्नु बड़ौ,
कोऊ कहै रुद्र बड़ौ यहै टेक धरिबो ।
बड़े बड़े देवनि की सुनि कैं बड़ाई ग्रन्थ,
आपु आपु थापि मठ आपुस में लरिबो ।।

२. दो में एक कीजे ग्यान पच्छ कै भगति पच्छ,
'अक्षर अनन्य' सत्य भाषै मोहि स्वादि है ।

शक्ति के सर्वत्र व्याप्त होने के कारण सब कुछ सजीव चैतन्यवत् प्रतिभासित होता है। साधना-रत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह इस चित्-शक्ति का सबमें अनुभव करे। वैष्णव मतानुयायी विष्णु को बैकुंठवासी मानते हैं; शैव कैलाश को शिव का निवास मानते हैं; राधावल्लभी वृन्दावन में तथा रामोपासक अयोध्या में ही उसका आवास मानते हैं; किन्तु ये सब मत उन्हीं व्यक्तियों अथवा विचारकों के हैं, जो उस परमतत्व को एकदेशी मानते हैं। जिस परमतत्व में कोटि-कोटि ब्रह्मांड विद्यमान रहते हैं, उसे एकदेशी मानना अज्ञान की ही अवस्था है। साधक की जिस किसी के प्रति अनुरक्ति हो, उसी में उसे उस चित्-शक्ति की व्याप्ति का अनुभव करना चाहिये। अन्तर्व्यापी और सर्वव्यापक ब्रह्म को बाहर खोजने में प्रयत्नरत व्यक्ति स्वयं अपने गले में घड़ा बांधकर डूब मरते हैं। सभी प्राणियों में सम-दृष्टि रखकर शिव-शक्ति की आराधना ही श्रेयस्कर है। वैदिक आचार-नियमों का पालन करते हुए, फल-प्राप्ति की आशा का परित्याग कर साधक के लिए जागतिक कर्म करते हुए अपनी साधना में रत रहना ही कल्याणकर है।

'विवेक तरंग' में अवतारवाद के प्रति अनास्था प्रकट करते हुए अवतारों में चित्-शक्ति की सत्ता को ही स्वीकार किया गया है। समस्त देवता, चर, अचर, जीव, जगत् कारण-रूप चित्-शक्ति में उसी प्रकार विद्यमान रहते हैं, जिस प्रकार बीज में वृक्ष। सर्वत्र व्याप्त चित्-शक्ति के स्थान पर जो साधक एकदेशी देवी-देवताओं की आराधना करते हैं, वे मानो बीज के स्थान पर शाखा तथा पत्तों को ही सींचते हैं।[1] मूल-रूप चित्-शक्ति को छोड़कर शाखा-पत्तों के रूप देवों की आराधना व्यर्थ है। जिसमें गुण होते हैं, उसी में दोषों का विद्यमान रहना भी सत्य है और गुणरहित सर्वथा निर्दोष है, अतएव सगुण के स्थान पर निष्कल शिव-तत्व की उपासना ही श्रेयस्कर है।

'विवेक तरंग' में सत्-चित्-शक्ति का शुद्ध निर्गुण ब्रह्म के रूप में जैसा सजीव वर्णन किया गया है, वैसा कदाचित् ही किसी दूसरे कवि की रचनाओं में उपलब्ध होता हो। इस शुष्क विषय को इतना सरस और सरल बना दिया गया है कि वह सहज बोधगम्य तो हो ही गया है, साथ ही उसमें काव्य का पूर्ण आनन्द आता है। इस क्षेत्र में इस प्रकार की अनुपमेय सफलता अक्षर अनन्य-जैसे प्रतिभाशाली कवि और पहुंचे हुए महात्मा के लिए ही सम्भव थी।

११. **ज्ञान पंचासिका**–जिस प्रकार 'विवेक तरंग' में सत्-चित्-तत्व का तथा 'उपासना बोध' में शुद्ध विद्या-तत्व का विवेचन किया गया है, उसी प्रकार 'ज्ञान पंचासिका'

---

१. **सींचें जिमि मूल डार पात फल फूल सुखी,**
पात पात सींच उतपात मांझ परै को।

की रचना प्रकृति अथवा माया-शक्ति के विस्तृत विवेचन हेतु की गयी है। माया-शक्ति भी शिव-तत्व के साथ अद्वय रूप में स्थित चित्-शक्ति का ही रूप है, अतएव माया तथा सत्-चित्-रूप शिव में कोई अन्तर नहीं। यह त्रिगुणात्मिका है और इसी के कारण दृश्य जगत् में वैविध्य दिखाई देता है। राम-रावण, कृष्ण-कंस, सुर-असुर, नाग-किन्नर सभी त्रिगुणात्मिका माया के ही कारण अलग-अलग प्रतिभासित होते हैं। मायाजनित इस भेद-बुद्धि के समाप्त होने के साथ ही आकाश के समान सर्वत्र व्याप्त परिपूर्ण चित्-तत्व का ज्ञान होता है। ब्रह्म और माया में अभेद दृष्टि तथा समस्त चराचर को माया से परे सत्-चित्-रूप में देखना ही पूर्ण ज्ञान है।

इस पुस्तक का प्रकाशन 'अनन्य ग्रंथावली' में 'ज्ञानयोग' के नाम से तथा धौलपुर से 'अनन्यार्ध शतक' के नाम से हो चुका है; किन्तु प्राचीन लिपियों में इसका नाम 'ज्ञान पंचासिका' ही प्राप्त होता है। इसमें ज्ञानयोग-साधना के विस्तृत विवेचन तथा पचास छन्द होने के कारण ही उपर्युक्त नाम देने में सम्पादकों एवं प्रकाशकों को किसी प्रकार की असंगति प्रतीत नहीं हुई। वास्तव में 'ज्ञानयोग' अक्षर अनन्य की दूसरी ही स्वतंत्र कृति है। 'ज्ञान पंचासिका' में एक दोहे को सम्मिलित कर कुल इक्यावन छन्द हैं, तथापि वर्ण्य विषय का विवेचन निस्सन्देह रूप से पूर्ण है। इस रचना में दार्शनिक तत्ववाद का विवेचन इस सीमा तक ऊंचा चला गया है कि अक्षर अनन्य आचार्यों की श्रेणी में चले जाते हैं।

न्याय, वेदान्त, योग, सांख्य, मीमांसा और वैशेषिक दर्शनों के साथ ही शंकर, वल्लभ, रामानुज, मध्वादि आचार्यों तथा जैन-बौद्ध-दर्शनों द्वारा निर्दिष्ट सिद्धांत अक्षर अनन्य के सामने थे। इन सभी दर्शनों में ब्रह्म का विवेचन करते समय बाल की खाल निकाली जा चुकी थी, फिर भी अक्षर अनन्य को इनमें से कोई भी मार्ग केवल इसीलिए स्वीकार्य न हो सका कि उनमें दूसरों की निन्दा कर अपने मत के समर्थन की चेष्टाएं की गयी हैं और अनन्य के अनुसार इस प्रकार के झगड़े-बखेड़ों में कोई सार नहीं। तामस और राजस के समान ही सात्विक साधना-प्रणाली भी उनकी दृष्टि में पूर्ण नहीं और उनकी दृष्टि किन्हीं विशेष मान्यताओं अथवा आस्थाओं से भी आगे बढ़कर ज्ञान पर भी नहीं, प्रत्युत 'पूर्ण ज्ञान' पर ही जाकर टिकी है। ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि देवता और मनुष्य-मात्र में समत्व-भाव, निर्गुण और सगुण में अभेद-बुद्धि, घर और वन, सन्त और असन्त, सभी में सम-भाव रखते हुए परमतत्व के व्याप्त रहने की अनुभूति ही 'पूर्ण ज्ञान' की स्थिति है। प्रतिमा-पूजन की पद्धति तो केवल मूर्खों के लिए है। अवतार-कथाओं में विश्वास कर तीर्थाटन आदि करना मध्यम तथा ज्योति-रूप ब्रह्म का ध्यान करते हुए आत्म-तत्व के विचार में रत रहना उपासना की उत्तम प्रणाली है। किन्तु 'पूर्ण ज्ञान' के स्तर तक

पहुंचे हुए साधक के लिए समस्त चराचर विश्व शिव-शक्ति-रूप ब्रह्म से परिव्याप्त है। ब्रह्म एक-अनेक से परे व्योम के समान अखंड है।[१] यदि उसे बैकुंठस्थ मानें, तो वह चराचर में व्याप्त नहीं रहता; सुर-रंजक तथा असुर-संहारक मानें, तो समद्रष्टा निरपेक्ष नहीं रहता। वह केवल कुंजबिहारी ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक अणु-परमाणु में विहरित है। निर्गुण-सगुण रूप भी वही है; शून्य, ज्योति, व्यापक, मंत्र, ईश्वर, जीव, ब्रह्म और माया सब कुछ वही है।[२] यह केवल माया का परिणाम है कि वह बहुविध प्रतिभासित होता है। जिस प्रकार ज्वाला शब्द से अग्नि का नारी-रूप और वैश्वानर शब्द से अग्नि के पुरुष-रूप की कल्पना होती है, उसी प्रकार ब्रह्म और माया शब्द से भी उसी एक परमतत्व की अभिव्यक्ति होती है।[३] आतिश और आग में जिस प्रकार शब्द-भेद के अतिरिक्त कुछ भी अन्तर नहीं, उसी प्रकार सदाशिव और खुदा एक ही तत्व के नाम हैं।[४] उसी परमतत्व को राम, कृष्ण, गोपाल, अर्हन्, भगवान्, ईश्वर, आदि विविध नामों से कहा जाता है; किन्तु सर्वज्ञ पुरुष सभी को शिव-शक्तिमय देखता है। वेदान्त के ब्रह्म, न्याय के कर्त्ता, बौद्धों के बुद्ध, पतंजलि के 'पुरुष', जैनियों के अर्हन् और वैशेषिक आदि दर्शनों द्वारा प्रतिपादित तत्वों में किंचित् भी भेद नहीं।[५] वही कंस और कृष्ण तथा राम और रावण भी है। उसे अखंड, विराट्, सूक्ष्म, स्थूल कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

'ज्ञान पंचासिका' में अक्षर अनन्य के साधना-सिद्धांतों का भी संकेत मिल जाता है। यद्यपि इस विषय पर 'अक्षर अनन्य के साधना-सिद्धान्त' अध्याय में विस्तृत रूप से लिखा गया है, तथापि यहां यह संकेत कर देना आवश्यक है कि अक्षर अनन्य ने 'ज्ञान पंचासिका' में धर्म, सत्संग, भक्ति, चित्त-शुद्धि, विवेक, अनुभूति और

---

१. व्योम समान अखंडित ईस्वर,
जैसोई ऊपर तैसोई नीचें।

२. आपुहि निर्गुन आपुहि सरगुन, आपुहि निर्भय भेद बताया।
आपुहि ज्योति है आपुहि सुन्न है, आपुहि व्यापि चराचर माया।
आपुहि मंत्र 'अनन्य' भनै, सिवसक्ति अखंड परापर छाया।
आपुहि ईस है आपुहि जीव है, आपुहि ब्रह्म है आपुहि माया॥

३. ज्वाला कहैं जुवती सी लगै, वैसान्दुर में पुरुषारथ आया।
एक ही तत्व के रूप सबै, भल वाही सौं ब्रह्म कहौ भल माया॥

४. आतिश आग 'अनन्य' भनै, जग जोई सदाशिव सोई खुदा है।

५. ब्रह्म स्वरूप वेदान्त कहै, अरु न्याय कहै करता उर सूरे।
बौध कहै प्रभु बुद्ध स्वरूप, पतंजलि योग स्वरूपहि रूरे।
जैन कहै अरिहंत स्वरूप, विशेषिक के जगदीशहि रूरे।
तत्व स्वरूप 'अनन्य' भनै, प्रभु सर्व प्रभा पुरुषारथ पूरे॥

ज्ञान को परमतत्व की उपलब्धि के लिए क्रमिक विकास की स्थितियों के रूप में स्वीकार किया है।[1]

१२. **ज्ञानयोग**—'ज्ञानयोग' अक्षर अनन्य की एक ऐसी विशिष्ट एवं प्रौढ़तम रचना है, जिसे उनके विचारों और सिद्धांतों का मान-चित्र कहा जा सकता है। काव्य की दृष्टि से भी इसमें जो लालित्य, सरसता एवं शैली-माधुर्य है, सन्त-साहित्य में उसका दूसरा उदाहरण उपलब्ध नहीं। इसे साधना, सम्बोधन, धारणा, अनहद-नाद और विराट्-ब्रह्म, पाँच प्रकरणों में लिखा गया है।

मीमांसा और न्याय-दर्शन "शब्द" को जिस रूप में स्वीकार करते हैं, उसी के अनुरूप, किन्तु किन्हीं अर्थों में उनकी अपेक्षा भी अधिक महत्त्वपूर्ण रूप में शाक्त-दर्शन "शब्द" को स्वीकार करता है। "शब्द" अनादि-अखंड है। वाणी के द्वारा जो प्रकट किया जाता है, वह शब्द का स्थूल रूप है तथा जिह्वा, तालू, ओष्ठ, दन्त और वायु के संघात से उत्पन्न होता है। उच्चारण की क्रिया बाह्य क्रिया-मात्र है। जिस शब्द का हम उच्चारण करते हैं, वह शब्द और अर्थ दोनों ही रूपों में हमारे मन में पहले से ही विद्यमान रहता है। यदि ऐसा न हो, तो उसका उच्चारण भी सम्भव नहीं। जो वस्तु अथवा जो नाम-रूप हमारे मन में कभी नहीं रहता, उसके उच्चारण की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। दीपक जलाने से हमें घट-पटादि वस्तुएं दिखाई दे जाती हैं, किन्तु दीपक जलाने से पूर्व तथा उसके बुझ जाने के पश्चात् भी घट-पटादि का अस्तित्व वर्तमान रहता है। उसी प्रकार शब्द के उच्चारण से जो रूप-अर्थ हमारे मन में पहले से ही विद्यमान होता है, वही प्रकट होता है। शब्द के परा, मध्यमा, पश्यन्ती, वैखरी चार भाव हैं। जिस किसी नाम-रूप की कल्पना संभव है, वह परावाणी के रूप में नित्य वर्तमान है; अतएव चित्-शक्ति और परावाणी में कोई भेद नहीं माना गया। यही वाणी सामान्य स्पन्दन के द्वारा, फिर विशेष स्पन्दन तथा अन्त में स्पष्टतः उच्चरित शब्दों के रूप में प्रकट होती है। परावाक् का स्थान मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी में है। जब परावाक् किंचित् स्पन्दनशील होती है, तब इसी सामान्य स्पन्दन को, जिसका कुछ अर्थ नहीं होता, पश्यन्ती कहते हैं। मूलाधार से मणिपूर चक्र तक इसका स्थान है। इसके पश्चात् ही वाणी का मन और बुद्धि के साथ संयोग होता है। बुद्धि में प्रकट होते ही उस सामान्य स्पन्दन से उद्भूत शब्द का अर्थ मन में प्रकट होता है। मन के साथ जब उस अर्थ-रूप

---

१. **धर्म बिना सतसंग नहीं, सतसंग बिना हरि भक्ति न आसै।**
भक्ति बिना उर सुद्ध नहीं, उर सुद्धि बिना नहिं बुद्धि बिलासै।
बुद्धि बिना उनमान नहीं, उनमान बिना नहिं ग्यान प्रकासै।
ग्यान बिना सु 'अनन्य' भनै, परमातम तत्व सरूप न भासै॥

का अधिक समय तक संयोग बना रहता है, तब मन तदाकार हो जाता है। यदि कोई व्यक्ति आराध्य देवता के नाम-रूप का स्मरण करता है, तो वह तद्रूप हो जाता है तथा इसी प्रकार मन किसी भी अर्थ-रूप के साथ तदाकार होता है। मन किसी भी जागतिक नाम-रूप-अर्थ के साथ संयुक्त न हो तथा परावाक् को ही चित्-शक्ति के रूप में अनुभव करता रहे, यही अक्षर अनन्य का 'ज्ञानयोग' है। मध्यमा वाणी के रूप में मन में नाम तथा अर्थ में विषय-वस्तु का रूप विद्यमान रहता है। इस प्रकार मन ग्राहक-ग्राह्य, वाचक-वाच्य, प्रकाशक-प्रकाश्य रूप है।

क्षेमेन्द्र आदि आचार्यों ने पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी अर्थात् त्रयी-वाक् की चर्चा करते हुए पश्यन्ती वाक् को ही ब्रह्ममय आत्म-तत्व माना है। परावाक् निस्पन्द होने के कारण ही वैयाकरणों ने उसे स्वीकार नहीं किया। इनका सम्बन्ध कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर से है। स्थूल रूप में शब्दों का उच्चारण आहत अथवा संघात से होता है, किन्तु वही वाणी स्थूल रूप से प्रकट होने के पूर्व भी विद्यमान रहती है, अतएव उसे "अनाहत वाणी" कहा जाता है। यही सन्तों की वाणी में 'अनहद वाणी' है।

ज्ञानयोग के प्रथम प्रकरण में परावाक् की ओर संकेत करते हुए अक्षर अनन्य ने कहा है कि यही वाक् कारण, सूक्ष्म और विराट् रूप में बाहर-भीतर सर्वत्र व्याप्त है[१] तथा अनहद वाणी का आलाप सुनना ही ज्ञानयोग है।[२] उन्होंने इसे "शिवनाद" के नाम से भी अभिहित किया है। परावाक् के रूप में वह समस्त सिद्धान्तों, शास्त्रों, वेदों का बीज-रूप है तथा सब कुछ उसी के अर्थ में निहित है।[3] निस्पन्द परावाक् ही चित्-शक्ति है तथा स्पन्दयुक्त शब्दों के माध्यम से प्रकट होने पर वही रूप ग्रहण करती है। उसका ज्ञान होते ही वेद-पुराण कहानी के समान प्रतीत होने लगते हैं तथा और कुछ जानना शेष नहीं रहता।[४]

साधना-प्रकरण में सर्वप्रथम ज्ञानयोग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए परावाक् को आगम, निगम, रामायण, भागवत, वाममार्ग, भक्ति, योग आदि सभी से

---

१. कारण ही सूक्षम विराट तिहूं रूप ध्यान,
बाहर ही भीतर प्रगट छबि हेर है।

२. 'अक्षर अनन्य' ग्यान जोग की जुगति यहै
बानी अनहद कौ अलाप अवलोकिबौ।

३. गुरु कौ सबद ग्यान रूप है सबद ब्रह्म,
सकल सिद्धान्त वेद वाही के अरथ में।

४. जानत जाहि रहै नहिं जानिबौ, लागत बेद पुरान कहानी।

परे मानकर उसे ब्रह्म-ज्ञान का भी मूल तत्व माना गया है।[1] भक्ति मार्ग में नवधा विधि तथा हठयोग में यम, नियम, आसनादि अष्टांग साधना-विधान की आवश्यकता रहती है, किन्तु ज्ञानयोग में न पूजा-अर्चना की ही आवश्यकता है, और न यम-नियम-त्राटकादि साधन की अथवा आसनबद्ध होकर बैठने की।[2] जिस प्रकार पिपीलिका मन्द गति से चलकर, श्रम के द्वारा अत्यन्त लम्बी अवधि में अपने गन्तव्य तक पहुंच पाती है, उसी प्रकार साधना की अन्य प्रणालियाँ हैं, किन्तु ज्ञानयोग "विहंगम सुगम पंथ" है, जिसमें न श्रम करने की और न दीर्घावधि तक साधना-रत रहने की ही आवश्यकता है।[3]

सम्बोधन-प्रकरण में मनोनिग्रह पर जोर दिया जाकर नाना मतों के झगड़ों-बखेड़ों में न पड़ने का निर्देश किया गया है। जिस प्रकार अनेक जड़ी-बूटियों के सेवन से लाभ नहीं और मात्र संजीवनी से अमरत्व की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त चित्-शक्ति अथवा परावाक् की ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वेदों और पुराणों की आवश्यकता नहीं रहती। अतएव साधक के लिए सुगम उपाय यही है कि उसे वेदान्त, सांख्य, न्याय एवं विविध ग्रन्थ-पन्थों की चर्चा का परित्याग कर ज्ञानयोग-

---

१. आगम कौ तत्व आदि देव सिव सक्ति जान,
निगम कौ तत्व ब्रह्म त्रिपदी रतन है।
रामायन तत्व राम नाम कौ महत्तम है,
भागवत तत्व कृष्न पातक पतन है।
वामिनी कौ तत्व भामिनी है उतपत्ति रूप,
भगति कौ तत्व प्रेम दुविधा हतन है।
जोगनि कौ तत्व पौन साधन "अनन्य" भनै,
ग्याननि कौ तत्व ग्यानजोग कौ जतन है॥

२. एक भक्तिजोग भक्ति भाव नव अंग भनै,
पांच अंग पद्धति सौं विधि सौं अराधिबौ।
दूजौ हठजोग आठ अंग है विधान जाकौ,
कठिन कलेस पौन आसन कौ बांधिबौ।
तीजौ ग्यानजोग सिद्धि मारग सहज रीति,
नहीं हठ धर्म कर्म करनी कौ नांधिबौ।
'अक्षर अनन्य' गुरु अक्षर अधार धार,
सारासार सोधन सुरति ही कौ साधिबौ॥

३. ग्यानजोग मारग विहंगम सुगम पंथ,
ग्यान ही के बल ध्यान ही में मन मेल है॥

प्रतिपादित "सुरति ध्यान" में लीन रहना चाहिये।[1] इसी से अविद्या का अन्धकार नष्ट होता है एवं कर्म-बन्धन से मुक्ति प्राप्त होती है। "सुविद्या" अर्थात् शुद्ध विद्या की साधना के बिना अविद्या का पाश टूटता नहीं और जब तक अविद्या से मुक्ति नहीं मिलती, तब तक त्याग-वैराग्य से कोई लाभ नहीं होता।

चित्त को बाह्य वृत्तियों से रोककर स्थान-विशेष में बाँधने को ही ज्ञानयोग की धारणा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस स्थिति में पहुंचे हुए साधक को खाने, पीने, चलने, आदि प्रत्येक अवस्था में चित्तवृत्तियों को साध्य पर केन्द्रित करना चाहिये। तीर्थाटन, देवकथा-श्रवण, वेदाध्ययन, आदि की उसे कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती। बुद्धि की दृढ़ता ही संयम है, हृदय में चेतन ब्रह्म के अतिरिक्त किसी अन्य का ध्यान न आना ही नियम है, चित्त की एकाग्रता ही त्राटक है, सुख-दुख से निःशेष विरक्ति ही दृढ़ आसन है और ध्वनि-ध्यान में रत रहना ही ध्यान है। इसी के पश्चात् 'गुरु अक्षर' में तन्मय होकर चित्त-समाधि की अवस्था में पहुंचा जाता है।

चित्त-समाधिस्थ होने के पश्चात् ही साधक को शिव-नाद का भास होता है, जिसके परिणाम-स्वरूप वेद-पुराण सारहीन कहानी-सदृश प्रतीत होने लगते हैं।[2] परावाक् ही ज्ञान-रूप, अनादि-सिद्धि, निर्गुण-रूप, गुणाधार, त्रिगुण, त्रिदेव और त्रिलोक है तथा त्रिवेद, त्रिपद, त्रिसन्ध्या सब कुछ उसी की व्याख्या-मात्र है।[3] उसका ज्ञान प्राप्त होने से साधक "अनजान" अवस्था में आ जाता है तथा उस अक्षर का एक बार स्मरण हो जाने पर वह कभी विस्मृत नहीं होता। अन्य समाधि एक बार

---

१. वेद औ वेदान्त सौं है वाद न विवाद कछू,
सांख्य की न सीख न्याय मत सौं न न्याव है।
नाना ग्रन्थ पन्थन के चरचा चबाव छाँड़,
जैसौ जहां कहौ तहां तैसौई प्रभाव है।
आपकौं न सूझै तौलौं बूझै कहा काज सरै,
सूझै जिहि अंजन सों कीजै वह दाव है।
'अक्षर अनन्य' गुरु अक्षर सुरति ध्यान,
ग्यानजोग को तौ सरवग्यता सुभाव है॥

२. जाकी धुनि सुनि और सुनिबौ न मन आवै,
वेद हू पुरान ग्रन्थ लगत कहानी है।

३. बानी अनहद ग्यान मूरत अनादि सिद्धि,
निगुन सरूप सब गुनन के गथ में।
त्रिगुन त्रिदेवता त्रिलोक हूं त्रिवेद आदि,
त्रिपद त्रिसन्ध्या सब वाही के अरथ में॥

लग जाने पर भी भंग हो सकती है, किन्तु 'ज्ञान-समाधि' के लग जाने पर किसी भी अवस्था में उसका खुलना सम्भव नहीं।[1]

शब्द-ब्रह्म का ज्ञान होने पर साधक को विराट् ब्रह्म की अनुभूति होती है। शरीर-पिण्ड और ब्रह्माण्ड में कोई अन्तर नहीं। मूलाधार चक्र ही पृथ्वी है, मणिपूर चक्र ही नीर है, उदर की रिक्तता ही आकाश है, नाभि-कमल में अग्नि का निवास है और प्रत्येक अंग में वायु का संचार है। दोनों नेत्र ही रवि-शशि हैं, त्रिगुण ही सृजन-स्थिति-संहार-शक्तियाँ हैं और आत्मा ही निर्गुण ब्रह्म है, रोमावलि ही वनस्पतियाँ हैं तथा रक्त-संचारिणी धमनियाँ ही सरिताएं हैं। इस प्रकार की अनुभूति होने पर साधक पूर्ण स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

जिस प्रकार समस्त सरिताएं सागर में जाकर विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानयोग की साधना में समस्त साधन समा जाते हैं। भक्ति, योग, ज्ञान आदि के मार्ग अलग-अलग हैं; किन्तु ज्ञानयोग में तीनों मतों का समन्वय है।

१३. **गुणान बत्तीसी**—'गुणान बत्तीसी' भक्ति-परम्परा की पद-रचना-शैली में लिखित बत्तीस पदों की छोटी-सी पुस्तिका है, तथापि उसमें निर्गुण-परम्परा का पूर्णरीत्या निर्वाह किया गया है। अक्षर अनन्य ने प्रारम्भ में शिव-शक्ति को ही चेतन ब्रह्म मानकर उनका स्तवन किया है। तुलसी, सूर, मीरा के पदों में अन्तर्कथाओं का अम्बार लग जाता है और शबरी, गीध, अजामिल, गणिका, द्रौपदी, अहिल्या आदि के उल्लेख के बिना पदों की रचना सम्भव ही नहीं प्रतीत होती; परन्तु अक्षर अनन्य के पद उसी प्रकार की भूमिका पर आधारित नहीं। कबीर ने अपने पदों में ज्ञान और गालियों को समान रूप से स्थान दिया है, किन्तु अक्षर अनन्य ने श्रद्धा और ज्ञान से पूरित भावनाओं के आधार पर ठोस सामग्री-संयुक्त पदों की ही रचना की है। 'ईस्वर बिन कबहूं सुख नाहीं', 'मन रे नहीं ईस्वर दूर', 'भक्ति बिन जीवन कौ फल कौन'-जैसी भावनाओं का ही इन पदों में समावेश है। इसी के साथ आपकी साधना-पद्धति के भी संकेत इसमें प्राप्त हो जाते हैं। निर्विकल्प-समाधि की स्थिति को स्पष्ट करते हुए आपने कहा है कि हम पण्डित, मूर्ख, धनी अथवा दरिद्री कुछ भी नहीं हैं, प्रत्युत इन सबमें मुझे कोई अन्तर दिखाई नहीं देता। राग, वैराग्य, राजयोग, हठयोग के सम्बन्ध में सोचने-विचारने की भी आवश्यकता नहीं, प्रत्युत तत्व-नाम के ऊपर इन सबको न्यौछावर किया जा सकता है।

---

१. **अक्षर और पढ़ै बिसरै, वह अक्षर तौ बिसरै न बिसारैं।**
ध्यान समाधि लगै औ खुलै, यह ग्यान समाधि टरै नहिं टारैं॥

यम, नियम, धर्म, व्रत आदि का पालन न कर हम केवल सहज-उपासना-मार्ग के अनुसर्ता हैं। 'गुणान बत्तीसी' में श्रद्धापूरित उपासना पर ही बल दिया गया है। संकेत किया जा चुका है कि अक्षर अनन्य की मान्यता थी कि साधक ज्ञान अथवा भक्ति किसी भी मार्ग का अनुसरण कर सकता है। 'गुणान बत्तीसी' में आडम्बर और मिथ्याचार-विरहित भक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है।

इस पुस्तक में पदों के साथ कान्हरौ, काफी, सोरठ, नट, वसन्त, विहागरौ, अडानौ, कल्याण, सारंग, मल्हार, मारू, मालव, भीमपलासी, गौरी आदि विविध रागों का उल्लेख मिलता है। इनसे सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि काव्य-शास्त्र पर ही नहीं, वरन् संगीत-कला पर भी अक्षर अनन्य का अधिकार था।

१४. निरधार शतक—'निरधार शतक' के एक सौ दोहों में से प्रत्येक दोहा एक-एक मणि के समान है। इन दोहों में नीति, भक्ति, ज्ञान और अक्षर अनन्य के साधना-सिद्धान्तों का सुन्दर संकेत प्राप्त होता है। ज्ञानाश्रयी परम्परा के अन्य कवियों ने भी साखियों के माध्यम से नीति-सम्बन्धी अपने विचारों को अभिव्यक्ति दी है, किन्तु उनके विचारों में सामंजस्य तो है ही नहीं, साथ ही वे अत्यधिक उच्छृंखल-से दिखाई देते हैं। अक्षर अनन्य की न तो साखियों में ही यह दोष है और न 'निरधार शतक' के दोहों में ही। इन दोहों में किसी एक विषय का क्रमबद्ध विवेचन नहीं है, अतएव यहाँ उनके सम्बन्ध में अधिक लिखना संगत प्रतीत नहीं होता।

१५. उत्तर मालिका—'उत्तर मालिका' की कोई भी पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी, अतएव इसके आकार-प्रकार के सम्बन्ध में अधिक कुछ कहना मेरे लिए सम्भव नहीं। प्राप्त अंशों के आधार पर स्पष्ट है कि इसमें कृष्ण-अर्जुन की पारस्परिक वार्ता और प्रश्नोत्तर-शैली के माध्यम से नीति एवं ज्ञान से सम्बद्ध विषयों की चर्चा की गयी है। कतिपय उदाहरणों से ही पाठकों को इसकी विषय-वस्तु और शैली का परिज्ञान हो जायगा :-

> **पंडित को जु ब्रह्म रस लीन। मूरख को विद्या कर हीन।**
> **विद्या कौन वेद अनुसार। सारासार विवेक विचार।**
> **जीवत को जाकौ जस लोक। मृतक कौन अजसी संसोक।**
> **अमृत कहा गुरु मंत्र विसेष। विष कह गुरू अवज्ञा लेख।**
> **निरबन्धन कौ कहा विचार। जग मिथ्या सांचौ करतार।**

१६. सिद्धान्त बोध—'सिद्धान्त बोध' की रचना विभिन्न साधना-पद्धतियों के विवेचन तथा शाक्त-सिद्धान्तों के प्रतिपादन के उद्देश्य की दृष्टि से ही की गयी है। अपना मत स्पष्ट करते हुए आपने लिखा है कि आराधना की त्रिविध पद्धतियों—

भक्ति,योग और ज्ञान–में जिसके प्रति आस्था हो, साधक को उसी का अनुसरण करना श्रेयस्कर है।[1] वस्तुतः उपासना के इन तीनों मार्गों में प्रत्यक्ष वैविध्य प्रतिभासित होने पर भी इनके द्वारा एक ही लक्ष्य की प्राप्ति होती है।[2] इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुए भक्ति, योग और ज्ञान, तीनों मार्गों का विशद विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। यह विवेचन पूर्णतया शास्त्रीय सिद्धान्तों पर ही आधारित है। गुरु-शासन के प्रति अविचल आस्था होने के कारण गुरु-शिष्य-धर्म-वर्णन से इस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया गया है। जिस प्रकार रोग-विशेष की औषधि का ज्ञाता सफल चिकित्सक नहीं, उसी प्रकार योग-विशेष के उपदेशक को सद्गुरु नहीं माना जा सकता। जग, जीवन, सगुण, निर्गुण, माया और तुरीयावस्था सभी का सम्यक् ज्ञाता ही पूर्ण गुरु होने का अधिकारी है। दया, क्षमा, सन्तोष, सत्य, समदृष्टि, निष्कपट भाव एवं यथोचित उपदेश देना ही गुरु के सात लक्षण हैं। इसी प्रकार आज्ञा-पालन, अटल-आस्था, शील, सत्य तथा गुरु को स्वयमेव ईश्वर मानकर उसकी सेवा में रत रहना शिष्य के लक्षण कहे गये हैं। इसके अतिरिक्त वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, युग-धर्म, देश-धर्म, कुल-धर्म आदि का वर्णन किया गया है। अक्षर अनन्य ने आराध्य देवों में शिव-शक्ति को ही सर्वोपरि माना है; अतएव शिव-शक्ति तत्व का विवेचन विस्तारपूर्वक किया गया है।

अज्ञान की विविध अवस्थाओं में पड़कर जीव अनेक दुख-तापों को सहन करता हुआ जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा रहता है। अज्ञान की सात दशाओं—बीज-जाग्रता, जाग्रता, महाजाग्रता, स्वप्न, स्वप्न-जाग्रता, जाग्रता-स्वप्न तथा सुषुप्ति-पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही ज्ञान का उदय होता है। भक्ति, योग अथवा ज्ञान किसी भी मार्ग का अनुसरण कर साधक सिद्धि प्राप्त कर सकता है।

गुरु-आस्था, तन्मयता, शील, तुष्टि, धैर्य, उत्साह, सत्य, दया, दम तथा आराध्य में चित्त का स्थिर रहना ही भक्ति के दस लक्षण हैं। भक्ति के कायिक, वाचिक और मानसिक त्रिविध रूप हैं। इनमें से किसी भी पद्धति का अनुसरण करने से सिद्धि-प्राप्ति सम्भव है।

भक्ति के पश्चात् अष्टांग योग का वर्णन किया गया है। हिंसा, ममत्व, लोभ, मिथ्या-वचन और पर-नारी का परित्याग ही यम है। आहार, निद्रा का नियमन तथा ईश्वराराधना ही नियम है। स्थिर बैठने को ही आसन कहा गया है और सिद्धासन

---

१. प्रभु की त्रिविधि अराधना, भक्ति जोग अरु ग्यान।
अधिकारी जो जासु कौ, ताकहं सो परवान॥

२. भक्ति जोग अरु ग्यान मत, यह विधि कहे 'अनिन्न'।
सिद्धि भयें पद एक है, मारग में मत भिन्न॥

ही श्रेष्ठ आसन है। चंचल चित्त को स्थिर कर नासाग्रदृष्टि होकर साधनावस्थित होना ही प्रत्याहार तथा श्वास-प्रश्वास रोकना ही प्राणायाम है। प्राणायाम-वर्णन के समय अक्षर अनन्य ने कुम्भक, रेचक, पूरक, आदि का विस्तार-सहित वर्णन किया है। शुभाशुभ कर्मफलों से मन को निरासक्त करना, सिद्धि एवं असिद्धि में अडिग रहना तथा चित्त को उपास्य में स्थिर करना ही धारणा है। गुरु शासनानुसार अविचल चिन्तन ही ध्यान है। अक्षर अनन्य ने इन्हीं के साथ षट्चक्रों का भी विशद वर्णन किया है।

अष्टांग योग के पश्चात् ज्ञानयोग-साधना का वर्णन किया गया है। तत्व-रूप चेतन ब्रह्म का परिज्ञान ही ज्ञानयोग-साधना का स्वरूप है। प्रारम्भ में ज्ञान की सप्त भूमिकाओं का वर्णन किया गया है। दुर्वासनाओं का त्याग तथा पुण्य कर्मों के प्रति निष्ठा ही ज्ञान का प्रथम स्तर है। आत्म-शुद्धि के साथ कर्ता, कर्म आदि के सम्बन्ध में जिज्ञासा, स्वयं को शरीर, इन्द्रिय, कर्म, बुद्धि, अहंकार से परे समझना, सृजन, संहार आदि के मूल कारणादि पर विचार करना ज्ञान के दूसरे स्तर अर्थात् "विचारणा" की अवस्था है। गुरु-अनुशासन में स्थिर रहकर उसी मार्ग का अनुसरण करना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर इष्टाराधना में तन्मय रहना ही "तनुमानसा" नामक तीसरी अवस्था है। मन की अपरिपक्वता की समाप्ति, सुख-दुख, हानि-लाभ से विरक्ति तथा शिव-शक्ति के ध्यान में चित्त को स्थिर कर देना "सत्त्वापत्ति" चतुर्थ स्तर है। आत्मा में परब्रह्म के अस्तित्व का आभास, सन्देहों की निवृत्ति ही ज्ञान का पंचम स्तर "असंशय" है। मुक्ति, भुक्ति, सुख, स्वर्गादि सभी के प्रति उदासीनता, संग्रह व त्याग, राग-विराग एवं अन्य समस्त पदार्थों का अभाव ही "पदार्थाभाव" की छठी भूमिका है। द्वन्द्व-भाव की समाप्ति, अद्वैत में निष्ठा, पिण्ड और ब्रह्मांड में समत्व की भावना ही तुरीयावस्था है। इस अवस्था में पहुंचने पर ही साधक पूर्ण ज्ञान की अवस्था में पहुंचता है। मोह और ममत्व का त्याग, निष्काम कर्म, राग-दोषों से मुक्ति, निर्बन्धन, पाप-पुण्यों में अनासक्ति, यही वैराग्य के लक्षण हैं।

वैसे उपासना के भक्ति, योग और ज्ञान ही प्रमुख मार्ग हैं, किन्तु अक्षर अनन्य ने इन सबसे आगे एक चतुर्थ मार्ग का भी संकेत 'सिद्धान्त बोध' में किया है। आपकी मान्यता है कि यदि उपर्युक्त तीनों मार्गों में से किसी का भी अनुसरण करना किसी व्यक्ति के लिए दुष्कर है, तो उसे 'सर्वज्ञ' गुरु के अनुशासन में रहकर उसी के उपदेशों का पालन करना श्रेयस्कर है। सर्वप्रथम गुरु-भक्ति में अपने मन को लगाना चाहिये। गुरु-भक्ति से पाप-कर्मों से छुटकारा मिलता है। पाप-कर्मों से मुक्ति मिलने पर सद्बुद्धि का विकास, बुद्धि-विकास से ज्ञान का विकास, और ज्ञान-विकास से

हृदय में शिव-शक्ति की अनुभूति, तत्पश्चात् उसके सर्वव्यापक होने की स्थिति और परिणामतः साधक, शिव और जीव के एकत्व की स्थिति तक पहुंच जाता है। अक्षर अनन्य के अनुसार 'सिद्धान्त बोध' के द्वारा लोक, वेद और गुरु-पन्थ तीनों का ज्ञान सहज ही हो जाता है।

१७. ज्ञान तरंग–'ज्ञान तरंग' में यद्यपि कुल २५ छन्द हैं, तथापि उसका प्रत्येक छन्द निश्चित रूप से विचार-गाम्भीर्य का एक सुन्दर उदाहरण है। अक्षर अनन्य की अन्य रचनाओं का उल्लेख करते हुए यह संकेत किया जा चुका है कि वे ब्रह्म को एकदेशिक नहीं मानते थे और इसी कारण उन्होंने उसकी सर्व-व्यापकता, सर्वरूपात्मकता पर सबसे अधिक जोर दिया है। 'ज्ञान तरंग' में भी आद्योपान्त केवल ब्रह्म की सर्वरूपात्मकता का ही प्रतिपादन किया गया है। स्थावर, जंगम, देवता, असुर, राम, कृष्ण, रावण, कंस किसी भी नाम से उसे पुकारा जा सकता है। कर्म-फलों का नियामक और भोक्ता सब कुछ वही है। विविध मान्यताओं के अनुसार उस एक ब्रह्म से विविधरूप दृश्य-प्रपंच की उत्पत्ति हुई और यह विश्व उससे अलग प्रतिभासित है, किन्तु ज्ञानियों के लिए इन समस्त विविध रूपों में केवल वही ब्रह्म है। बीज और वृक्ष के समान ही ईश्वर और विश्व एक-दूसरे में समाये हुए हैं। त्रिगुणात्मिका माया-शक्ति से प्रभावित ज्ञान, ध्यान, भक्ति, वैराग्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में फंसे हुए व्यक्ति अपने अलग-अलग विचारों से अलग-अलग भूमियों की रचना करते हैं और केवल यही कारण है कि ब्रह्म से परिव्याप्त विश्व के एक होने पर भी वह वैचित्र्यमय दिखाई देता है।

अक्षर अनन्य ने बार-बार इस बात पर जोर दिया है कि कर्म, धर्म, पुण्य, पाप, आदि सब का विचार त्याग देना ही साधना की सफलता है। 'ज्ञान तरंग' में इसे ही स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि शुभाशुभ कर्म, ज्ञान, अज्ञान, मुक्ति और बन्धन, पाप, पुण्य, लोक, वेद सबको पूर्णरूपेण भुलाकर अबोध की स्थिति में आ जाना चाहिये। अबोध और पूर्ण-प्रबुद्ध में कोई अंतर नहीं। रूप, गुण, नाम, काम आदि जो कुछ भी है, सब कुछ उसी का है; अतएव एक के प्रति अनुरक्ति और दूसरे के प्रति विरक्ति अज्ञान का उदाहरण है। जिस विश्व को सब लोग दुख-रूप भवसागर कहते हैं, वह तो विश्व-रूप शिव-शक्ति का विलास-मात्र है। पाप और पुण्य भी भ्रम-मात्र हैं और इसी प्रकार बन्धन और मुक्ति भी भ्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं; क्योंकि वह आत्म-तत्व तो सदैव ही मुक्ति और बन्धन से भी मुक्त रहता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से 'ज्ञान तरंग' में शिव-शक्ति के विश्वात्मक एवं विश्वोत्तीर्ण रूप का ही वर्णन किया गया है। समस्त चराचर जगत् एवं अखिल ब्रह्मांड शक्ति की स्फुरणा के परिणाम तथा उसी तत्व के व्यापक रूप हैं। दृश्य जगत् में

उस तत्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं; अतएव राग-द्वेष की भावना भी परित्याज्य है। विश्व को शिव-शक्तिमय तथा उसी का रूप समझनेवाला ही सच्चा ज्ञानी है।

१८. **शृंगार योग**—निस्संदेह रूप से 'शृङ्गार योग' अक्षर अनन्य की उन विलक्षण कृतियों में से है, जिसका उदाहरण ज्ञानाश्रयी परम्परा के किसी भी अन्य संत कवि के साहित्य में उपलब्ध नहीं है। यह रचना अक्षर अनन्य की काव्य-प्रतिभा, उक्ति-वैचित्र्य, भाव-प्रवणता, विलक्षण कल्पना और शैली-माधुर्य का उत्कृष्टतम उदाहरण मानी जा सकती है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानयोग-साधना के वर्णन को अत्यंत मधुर, आकर्षक एवं सरस बनाने में संत-परम्परा में सबसे अधिक सफलता अक्षर अनन्य को ही मिली है। आपकी अधिकांश रचनाओं के प्रारम्भ में इसका संकेत किया गया है कि निर्गुण अथवा बोधगम्य न होने के कारण ही वे उस तत्व को सरल-सुबोध बनाने के लिए आकुल थे। उन्होंने इस बात का भली भांति अनुभव किया था कि निर्गुण ब्रह्म और ज्ञानयोग की साधना को न समझ सकने के कारण ही सामान्य व्यक्ति सगुण के प्रति आकृष्ट होता है। पूर्ववर्ती संतों ने निर्गुण-साधना का जो विवेचन किया है, वह ठेठ शैली और भाषा में होने के कारण अधिक आकर्षक सिद्ध नहीं हो सका; अतएव उद्देश्य-पूर्ति के लिए 'अक्षर अनन्य' ने शृङ्गार-वर्णन का सहारा लिया :—

सगुन प्रीति संसार नर, निगुन न समुझत मूढ़।
तातें मिस सिंगार के, कहौं ग्यान गति गूढ़॥

इस 'सिंगार के मिस' मुग्धा और नवागत दुलहिन की प्रेम-क्रीड़ाओं, अभिजात-वर्गीय शीलवती नायिका की चेष्टाओं, प्रियतम के अंक से लिपटी हुई, किन्तु स्वप्न-जनित भ्रम में डूबी हुई प्रेयसी की मनोदशाओं, आदि का बड़ी ही मनोरम शैली में वर्णन किया गया है; किन्तु इन सबका उद्देश्य ज्ञानयोग-साधना का स्पष्टीकरण रहा है और इसमें अक्षर अनन्य को आश्चर्यजनक सफलता भी मिली है। संत-परम्परा के अन्य कवियों ने भी यद्यपि विरह-वर्णन के नाम से आराध्य प्रियतम से मिलने की व्याकुलता अभिव्यक्त की है, किन्तु उनका विरह-वर्णन आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त ज्ञानयोगी साधकों के लिए किसी प्रकार का संदेश नहीं। इसके विपरीत अक्षर अनन्य ने शृङ्गार-वर्णन का सहारा ज्ञानयोग-साधना के विवेचन हेतु ही ग्रहण किया था। साधना का जो मार्ग उन्होंने अपनाया था तथा अवधूत की जिस सहज-दशा को वे पहुंचे हुए थे, उसमें प्रियतम के विरह में रोने-चीखने की उन्हें आवश्यकता ही नहीं थी। उनकी एक भी पंक्ति ऐसी नहीं मिलती, जिसमें जीवात्मा और परमात्मा के भेद को भूलकर भी स्वीकार किया गया हो।

'शृङ्गार योग' की रचना कुंडलिनी-शक्ति एवं सुषुम्ना-साधना के उद्देश्य से की गयी है। इड़ा, पिंगला एवं सुषुम्ना नाड़ियों को 'नारी' शब्द से अभिहित कर उसकी साधना तथा कुंडलिनी-शक्ति के जागरण का संदेश ही 'शृङ्गार योग' का आधार है। ब्रह्मांड में महा-कुण्डलिनी के रूप में व्याप्त शक्ति ही पिण्ड में कुण्डलिनी के रूप में विद्यमान है। मूलाधार चक्र में स्वयंभू लिंग की स्थिति है तथा वहीं कुण्डलिनी-शक्ति का निवास है। साधना के द्वारा जब यह शक्ति जाग्रत होती है, तब सुषुम्ना के मार्ग से ऊपर को उठती हुई तथा षट्चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार-स्थित शिव से मिल जाती है। शिव-शक्ति के इसी मिलन को सामरस्य कहा जाता है तथा यही निर्वाण की स्थिति है। इसी अवस्था की ओर संकेत करते हुए अक्षर अनन्य ने शृङ्गार योग में 'बुधि' (शक्ति) और 'बोध' (शिव) के महामिलन को कामिनी-कामी के मिलन के समान कहा है :-

चित्त तहीं मन वृत्त तहीं, करतुत्त तहीं मनसा बिसरामी।
नैन तहीं मुख बैन तहीं, सुख पूरन प्रेम भये परनामी।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर की, धुनि ध्यान निरंतर अन्तरयामी।
योग संयोग की एक दसा, बुधि बोध मिलै जिमि कामिनी कामी।

पिण्ड में ही कुण्डलिनी-शक्ति का निवास होते हुए भी सिद्धि-प्राप्ति हेतु बाहर भटकना उसी प्रकार विभ्रमित होना है, जिस प्रकार पति के साथ लेटी हुई पत्नी स्वप्नावस्था में उससे बिछुड़कर भटकती है। जागने पर जिस प्रकार पत्नी का पति से बिछुड़ने का भ्रम दूर हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानयोग-साधना से बुद्धि (शक्ति अथवा जीवात्मा) तथा बोध (शिव) की समरस अवस्था अर्थात् अभेद का ज्ञान होता है :-

सोवत संग परी पिय के, सपनै बिछुरी चित भर्म बढ़े अति।
चौंक परी न टरी उर तें, थिर चित्त भई गर लाय लई पति।
यौं महि मोह महा भ्रम नींद, लहै सपनौ जग सोच थकी रति।
जाग्रत योग 'अनन्य' भनै, बुधि बोध वियोग न ग्यान यहै गति।।

इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नाड़ियों का वर्णन भी इसी प्रकार शृङ्गार-शैली में किया गया है। जिस प्रकार बालिका, कुमारिका, किशोरिका, मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा तथा स्वकीया, परकीया, समानिका, अधीरा, धीरा, सादरा, अनादरा एक ही नायिका की विविध दशाएं हैं, उसी प्रकार ज्ञानयोग के निर्गुण-तत्व को सगुण रूप में स्वीकार करने पर उसके अनेक रूपों की कल्पना होती है। आराध्य के प्रति साधक का अनुराग ठीक उसी प्रकार होना चाहिए, जिस प्रकार कामी पुरुष तथा कामिनी स्त्री के बीच होता है। संक्षेपतः 'शृङ्गार योग' की भावभूमि यही है।

१९. हरिहर सम्वाद—इस ग्रन्थ का उल्लेख 'योगशास्त्र' के नाम से भी किया गया है। योग-शास्त्र की जिज्ञासा से प्रेरित होकर कृष्ण ने कैलाश पर जाकर शिवजी से अपनी जिज्ञासा-पूर्ति के लिए प्रश्न किये तथा उत्तर में शिवजी ने योग-साधना की जटिल प्रक्रियाओं को सरल शब्दों में स्पष्ट किया कि विषय वासना ही जीव के आवागमन के बन्धन में बंधने का मुख्य कारण है; लोभवश ही जीव बन्धन में पड़ता है; अविद्या ही जीव को पूर्ण ब्रह्म से अलग रखती है तथा ब्रह्म के साथ एकाकार होने का एकमात्र साधन विद्या ही है; देव-पूजा, स्नान, दान अथवा तीर्थाटन से मुक्ति प्राप्त नहीं होती; इसलिए केवल ज्ञान की आवश्यकता है। विष्णु, शिव अथवा किसी देवी-देवता की उपासना ज्ञान नहीं, अपितु आत्मानुभूति ही ज्ञान है।

ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के अतिरिक्त ज्ञानयोग-साधना की श्रेष्ठता का भी इसमें प्रतिपादन किया गया है। मनुष्य देवताओं की, देवता ईश्वर की और ईश्वर नाद की उपासना करते हैं और नाद भी अनहद नाद में विलीन हो जाता है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि पुराणों में केवल देवताओं और राजाओं का इतिहास है और वेदों में कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन है। जीव-सींव के मिलन का ज्ञान एकमात्र योगशास्त्र के द्वारा ही होता है। इस ग्रंथ द्वारा प्रतिपादित योग-साधना स्पष्टतः शब्द-साधना अथवा परावाणी की साधना है।

२०. अक्षर अनन्य की साखी—यद्यपि ज्ञानाश्रयी परम्परा के लगभग सभी संतों ने 'साखी' की रचना की है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उनके दोहे समय-समय पर स्फुट रूप में ही लिखे जाते रहे थे और उनकी कोई क्रमबद्ध योजना नहीं थी। अक्षर अनन्य की साखी उनके स्फुट दोहों का संकलन नहीं, प्रत्युत वह एक सुनियोजित रचना है। अन्य रचनाओं के समान ही इसका प्रारम्भ भी गुरु तथा शिव-शक्ति के महिमा-वर्णन से किया गया है। शिव-शक्ति-तत्व के अभेद का वर्णन, साधना-सिद्धान्तों का वर्णन तथा सिद्धान्तों की सरल व्याख्या ही इन साखियों का विषय है। इनमें आचार व्यवहार-विषयक दोहों की संख्या भी कम नहीं है, तथापि उनके माध्यम से भी अक्षर अनन्य ने नीति का नहीं, प्रत्युत साधनामूलक आचार का ही निर्देश किया है। इन साखियों में उन्नीस दोहों के पश्चात् नियमित रूप से एक सोरठा लिखा गया है, जो इसके सुनियोजित रचना होने का प्रमाण है। साखियों की संख्या तीन सौ अड़तीस है तथा इनमें शाक्त-दर्शन एवं साधना-सिद्धान्तों का पूर्ण विवेचन प्राप्त हो जाता है।

२१. वैराग्य तरङ्ग—'वैराग्य तरंग' यद्यपि सत्रह छन्दों में लिखी गयी छोटी-सी पुस्तिका है, तथापि विषय-निरूपण की दृष्टि से इसमें किसी प्रकार की अपूर्णता का सन्देह नहीं होता। रागादि दोषों को विकार मानकर उनके प्रति विरक्ति

की भावना उत्पन्न करना ही रचना का उद्देश्य है। अक्षर अनन्य की मान्यता थी कि मात्र संसार-विषयों के प्रति विरक्ति और उदासीनता पर्याप्त नहीं, प्रत्युत समस्त विषयों से विरक्त हो जाना ही वैराग्य की पूर्णता है। इसमें पूर्ण वैराग्य प्राप्त करने की दिशा में संकेत किया गया है।

२२. **विवेक-दीपिका**—'विवेक तरङ्ग' तथा 'वैराग्य तरङ्ग' में प्रतिपादित विषय को ही 'विवेक-दीपिका' में कुछ और अधिक विस्तार से स्पष्ट किया गया है। विविध साधना-पद्धतियों के प्रति संकेत तथा शिव-शक्ति की महत्ता का वर्णन ही इसका प्रतिपाद्य विषय है।

२३. **भक्ति-भावना**—यह एक अत्यंत छोटी सामान्य रचना है। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसी राजा अथवा अन्य को भेजे गये 'चिट्ठा' के रूप में ही इसकी भी रचना की गयी होगी। इसके अन्त में 'अक्षर अनन्य' ने राजाओं को धर्मोपदेश देने से सम्बन्धित अपनी नीति और उद्देश्य के प्रति जो संकेत किया है, उससे प्रतीत होता है कि इसकी रचना पुस्तक के रूप में नहीं की गयी थी।

२४. **अष्टांग योग**—'अष्टांग योग' ब्रजभाषा गद्य में लिखा गया 'अक्षर अनन्य' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। प्रारम्भ में अष्टांग योग का विवेचन किया गया है और तत्पश्चात् शंका-समाधान-शैली में विभिन्न विषयों पर विस्तृत रूप से विचार किया गया है। इसमें ऐसे अनेक विषयों का भी उल्लेख किया गया है, जिनके द्वारा भक्ति की विभिन्न परम्पराओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। निःसन्देह रूप से अष्टांग योग ज्ञानाश्रयी परम्परा की ही नहीं, प्रत्युत ब्रजभाषा गद्य में लिखी गयी मध्यकाल की एक ऐसी रचना है, जिसे उस युग की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कृति माना जा सकता है। इसके सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा गया है।

२५. **स्फुट पद्य**—उपर्युक्त रचनाओं के अतिरिक्त अक्षर अनन्य के अनेक स्फुट छन्द भी प्राप्त होते हैं। यद्यपि स्वयं अक्षर अनन्य ने इस नाम से किसी ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया, तथापि प्राप्त सभी छन्दों को संकलित कर 'स्फुट पद्य' अथवा 'अक्षर अनन्य की कविता' नाम से इनकी प्रतिलिपियाँ उपलब्ध हैं। ग्रन्थावली में इन समस्त छन्दों को एक ही स्थान पर संगृहीत कर दिया गया है।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त भी इतिहासकारों ने अक्षर अनन्य के जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है, उनमें से अधिकांश का उल्लेख नामान्तर-मात्र से हो गया प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ संकेत किया जा चुका है कि 'नागरी प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'अनन्य-ग्रन्थावली' में 'राजयोग', 'विज्ञान योग', और 'विज्ञान बोध' के नाम से जिन ग्रन्थों को प्रकाशित किया गया है, वे कोई स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं, प्रत्युत चौदह अध्यायों में लिखे गये 'अक्षर अनन्य के चिट्ठा' नामक ग्रंथ के तीन अध्याय-मात्र

हैं। 'विज्ञान योग' को ही कहीं-कहीं 'विज्ञान बोध' के नाम से लिखा गया है। इसी प्रकार 'विवेक शतक' और 'विवेक तरंग' नामक दो ग्रंथों का जो उल्लेख मिलता है, वह भी भ्रममूलक प्रतीत होता है। 'विवेक तरंग' अथवा 'विवेक तरंगिणी' के साथ-साथ 'निरधार शतक' नामक ग्रंथ अवश्य उपलब्ध होता है और सम्भवतः इसी को 'विवेक शतक' के नाम से लिखा जाता रहा। इसी प्रकार 'उपासना बोध' को भी 'उपासना सार' के नाम से लिखा जाता रहा तथा ये अलग-अलग ग्रंथ मान लिये गये। 'योग शास्त्र' और 'हर सम्वाद' नाम से जिन दो ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, वह भी निराधार है। वस्तुतः अक्षर अनन्य ने 'योग शास्त्र हरिहर सम्वाद' नाम से एक ही ग्रंथ की रचना की थी। 'सरस मंजावली', 'अंक बत्तीसी' और 'प्रह्लाद चरित्र' नामक अक्षर अनन्य के कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं। इसी प्रकार 'ध्यानयोग', 'अनुभव तरंग', 'ज्ञान बोल', 'ब्रह्मज्ञान' और 'योगशास्त्र स्वरोदय' के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। यह भी सम्भव है कि ये किसी दूसरे ही अनन्य की रचनाएं हों।

अक्षर अनन्य के साहित्य एवं उनकी रचना-प्रक्रिया को देखते हुए यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि न तो उनकी वाणी अन्य सन्तों के समान अटपटी ही है और न विचार ही ऊबड़-खाबड़ तरीके से व्यक्त किये गये हैं। प्रत्येक रचना का अपना अलग विषय है तथा उसका निर्वाह जिस सफलता के साथ किया गया है, उसके आधार पर वे कवि और महात्मा दोनों ही रूपों में संत-परम्परा के शिरोमणि कहे जा सकते हैं।

५. भ्रमर-गीत की परम्परा और प्रेम-दीपिका

'प्रेम-दीपिका', 'महिमा समुद्र', और 'उत्तम चरित्र' महात्मा अक्षर अनन्य की उन अमर कृतियों में से हैं, जो उन्हें प्रबन्ध-काव्य के प्रणेता कवियों की श्रेणी में बैठा देती हैं। ज्ञानाश्रयी परम्परा के जितने भी महात्मा अथवा कवि हुए हैं, उनमें अक्षर अनन्य के अतिरिक्त कोई भी ऐसा नहीं है, जिसने किसी प्रबन्ध-काव्य की रचना की हो। वस्तुतः इस परम्परा के समस्त महात्मा कवियों ने काव्य के किसी उद्देश्य को लेकर ग्रंथों का प्रणयन नहीं किया, प्रत्युत उनकी विद्रोही भावनाएं ही उनकी टेड़ी-तिरछी पंक्तियों के माध्यम से निकल पड़ीं। इस परम्परा में महात्मा ही अधिक उत्पन्न हुए हैं और कवियों की संख्या नाम-मात्र को ही रही है। ऐसे कवियों में श्री महात्मा अक्षर अनन्य तथा सुन्दरदासजी का नाम उल्लेख्य है। इस परम्परा के सभी कवियों के काव्य की अनुपलब्धता के कारण महात्मा सुन्दरदासजी के काव्य में ही कलात्मक सौन्दर्य स्वीकार किया जाता रहा है, जब कि अक्षर अनन्य का काव्यगत सौन्दर्य सुन्दरदासजी की अपेक्षा कई गुना अधिक है और ज्ञानाश्रयी परम्परा में केवल महात्मा अक्षर अनन्य ही ऐसे हैं, जिन पर कलात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से विचार किया जा सकता है। दुर्भाग्य से अक्षर अनन्य का साहित्य अब तक प्रकाश में नहीं आ सका, अन्यथा इतने उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना करनेवाला यह महात्मा इस प्रकार अन्धकार में न रहता। मेरा विश्वास है कि इनके साहित्य के प्रकाश में आते ही कबीर की निर्गुण-साधना के विवेचन तथा सुन्दरदासजी की कलात्मक मधुरता के सम्बन्ध में दिये गये आचार्यों के मत में अवश्य परिवर्तन हो जायगा।

महात्मा कबीर ने हिन्दी साहित्य में निर्गुण-साधना की जिस धारा को अनवरत रूप से प्रवाहित रखना चाहा था, वह उनके अक्खड़पन तथा कला से अपरिचित होने के कारण निर्बाध रूप से प्रवाहित न हो सकी। उस परम्परा में जितने भी अन्य महात्मा हुए, उनमें कबीर के समान भी प्रतिभा न थी; अतएव निर्गुण-परम्परा की वह धारा कबीर के पश्चात् ही अवरुद्ध होने लगी थी। इसके अतिरिक्त उस परम्परा में कोई महात्मा ऐसा नहीं हुआ, जिसका कला एवं पाण्डित्य पर पूर्ण अधिकार रहा हो। साधारण समाज ने कबीर की परम्परा को भले ही स्वीकार किया हो, किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित 'पुहुप बास तैं पातला' तत्व को समझाना अत्यन्त कठिन था। कबीर के परवर्ती महात्मा उतना भी न कर सके, जितना स्वयं कबीर ने अपनी अटपटी वाणी के सहारे किया था। ज्ञानाश्रयी

परम्परा का यह अभाव लगभग दो-ढाई सौ वर्षों तक चलता रहा और उसकी पूर्ति अठारहवीं शताब्दी में श्री अक्षर अनन्य के साहित्य से हुई। ज्ञानयोग-साधना तथा निर्गुण-तत्व का जैसा स्पष्ट विवेचन अक्षर अनन्य के साहित्य में मिलता है, वैसा उस परम्परा के अन्य किसी भी महात्मा के साहित्य में प्राप्त नहीं होता।

'प्रेम-दीपिका' अक्षर अनन्य का एक प्रबन्ध-काव्य है, जो भ्रमर-गीत के विषय को लेकर लिखा गया है। इस पुस्तक को अवधवासी लाला सीतारामजी ने 'हिन्दुस्तानी एकेडमी' से सन् १९३५ में प्रकाशित कराया था। श्री अक्षर अनन्य के पूर्व सूरदास तथा नन्ददास के भ्रमर-गीत लिखे जा चुके थे और उनका पर्याप्त प्रचार भी हो चुका था। इनके अतिरिक्त भक्ति-काल के अन्य कवियों ने इस विषय पर जो कुछ भी लिखा, उनके सम्बन्ध में यहाँ पर इसलिए विचार नहीं करना चाहता कि उन्होंने उसके सम्बन्ध में सूरदास तथा नन्ददास की भाँति स्वतन्त्र रूप से कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। महात्मा सूरदासजी ने अपनी प्रतिभा का सहारा लेकर भ्रमर-गीत को एक ऐसे साँचे में ढाल दिया, जो भागवत से अलग हिन्दी साहित्य की एक मौलिक वस्तु बन गयी, और जिसकी समानता आज भी नहीं की जा सकी। श्रीमद्भागवत के सम्वाद में न तो गोपियों के विरह की तीव्रता ही दिखलाई गयी और न उद्धव के समझाने में ही कुछ विशेषता है। सूरदासजी स्वयं कृष्ण के सौंदर्यरूप के उपासक थे, अतएव वे गोपियों की विरह-वेदना का सब से सुन्दर चित्र खींच सके। सगुणोपासक एवं कृष्ण के सगुण सुन्दर रूप के प्रति श्रद्धा होने के कारण वे गोपियों की प्रेमलक्षणा-भक्ति को ही अधिक स्पष्ट कर सके। ब्रह्म के निर्गुण रूप के प्रति एवं निर्गुण-उपासना के प्रति उनके हृदय में कोई स्थान न था, अतएव उनके भ्रमर-गीत में हमें अच्छी प्रकार यह भी देखने को नहीं मिलता कि कृष्ण ने गोपियों के पास उद्धव द्वारा क्या संदेश भिजवाया था और ब्रज में जाकर उद्धव ने गोपियों को क्या समझाया। केवल दो-एक पदों में ही इसका संकेत-मात्र किया गया है। श्रीकृष्ण ने उद्धव से जाते समय कहा था :—

ऊधौ तुम यह निहचै जानौ।
मन, बच, क्रम मैं तुमहिं पठावत, ब्रज कौं तुरत पलानौ।
पूरन ब्रह्म अकल अविनासी, ताके तुम हौ ज्ञाता।
रेख न रूप जाति कुल नाहीं, जाके नहिं पितु माता।
यह मत दै गोपिनि कौं आवहु, बिरह नदी मैं भासत।
'सूर' तुरत तुम जाइ कहौ यह, ब्रह्म बिना नहिं आसत॥[1]

उद्धव यह सन्देश लेकर गोकुल के लिए प्रस्थान कर देते हैं। गोकुल पहुंचने पर जब समस्त गोपिकाएं उनका सन्देश सुनने के लिए एकत्र हो जाती हैं, उस

१. **सूरसागर (ना० प्र० स०), पद ४०४४**

समय उद्धव ने गोपियों को जो कुछ भी उपदेश दिया होगा, उसका भी उल्लेख सूरदास जी ने अधिक स्पष्ट नहीं किया। उद्धव के द्वारा केवल कुछ ही पंक्तियां कहलायी गयी हैं, जिनमें उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने तथा निराकार ईश्वर से प्रेम करने का उपदेश दिया है। उनमें भी कोई ऐसी बात नहीं कही गयी, जो निर्गुण-साधना, योग-मार्ग तथा निराकार ब्रह्म के स्वरूप को अधिक स्पष्ट कर सके। वे संक्षेप में कह देते हैं :-

जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं, पर पावहिं नहिं पार।
सो ब्रत सीखौ गोपिका, हो छांडि विषय विस्तार।

× × ×

अविगत अगह अपार आदि अविगत है सोई।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई।
नैन नासिका अग्र है, तहां ब्रह्म कौ बास।
अबिनासी बिनसै नहीं, हो सहज ज्योति परकास।।

इसके अतिरिक्त निर्गुण-साधना तथा निराकार ब्रह्म के सम्बन्ध में अधिक कुछ नहीं कहा गया और यह भी इतने रूखे-सूखे ढंग से कह दिया गया है कि उसमें न तो साधना का ही स्पष्टीकरण हुआ और न कलात्मक सौन्दर्य ही उत्पन्न हो सका। ऐसा प्रतीत होता है कि सूरदासजी का मन स्वयं ही निर्गुण-साधना के विवेचन में रमता न था। भ्रमर-गीत में केवल गोपियों के वाक्यों के माध्यम से ही पाठकों को यह ज्ञान होता है कि उद्धव ने गोपियों से क्या कहा था। कहने का तात्पर्य यह कि सूरदासजी ने कृष्ण द्वारा भेजे गये तथा उद्धव द्वारा कहे गये सन्देश को स्पष्ट नहीं लिखा। उनके सन्देश का तथा उद्धव के विचारों का ज्ञान हमें गोपियों के उत्तर-प्रत्युत्तर से ही होता है। किन्तु उन पदों से निराकार ब्रह्म एवं निर्गुण-साधना के सम्बन्ध में पाठकों की जिज्ञासा शान्त नहीं होती। इतना अवश्य है कि गोपियों की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति सूरदासजी के पदों में इतनी तीव्रता एवं उत्कृष्टता के साथ मिलती है कि पाठक स्वयं गोपियों की वेदना में अपने को भूल जाते हैं और उनमें उद्धव के संदेश के प्रति कोई जिज्ञासा नहीं रहती। जब हम देखते हैं कि गोपियां उद्धव से कहती हैं :-

ऊधौ हरि काहे के अन्तरजामी।

× × ×

काहे कौं रोकत मारग सूधौ।
सुनहु मधुप निर्गुन कंटक तैं, राजपंथ क्यौं रूंधौ।।

× × ×

जोग की गति जु सुनत, मेरैं अंग आगि बई।

× × ×

जोग हमकों भोग कुबजहि, कौन सिख सिखई ।

× × ×

ऊधौ ब्रज की दसा विचारौ ।
ता पाछैं यह सिद्धि आपनी जोग कथा विस्तारौ ।।

गोपियों के इन्हीं उत्तरों से हम समझ सकते हैं कि उद्धव ने गोपियों से हरि के अन्तर्यामी होने की बात कही थी, निर्गुण का उपदेश दिया था और उन्हें योग-साधना की ओर प्रेरित किया था। सूरदासजी स्वयं इतने भावुक तथा प्रेम-लक्षणा-भक्ति के अनुगामी थे कि वे स्वयं भी उद्धव द्वारा निर्गुण-मार्ग तथा योग-साधना की बात कहलाना भूल गये । इस प्रकार सूरदासजी के भ्रमर-गीत में गोपियों के प्रेम-पक्ष की ही प्रधानता रही और उद्धव का सन्देश कहीं लिखा ही नहीं जा सका। श्रीमद्‌भागवत में भी इसका विस्तार से उल्लेख नहीं किया गया। वहां पर केवल घटना-वर्णन की ही प्रधानता थी । हिन्दी साहित्य में इस विषय पर नन्ददास की लेखनी सबसे पहले चली थी और उन्होंने 'सुनो ब्रज नागरी' तथा 'सखा सुन स्याम के'-जैसी शैली में साधना-सम्बन्धी तर्कों को प्रमुख स्थान दिया। यदि सूरदासजी-जैसे महान् प्रतिभाशाली कवि का ध्यान ज्ञान-पक्ष के वर्णन की ओर भी गया होता और यदि वे उसमें भी उतने ही सफल हुए होते, जितने कि वे गोपियों के प्रेम-पक्ष के वर्णन में हुए हैं, तो निश्चय ही भ्रमर-गीत-जैसा विलक्षण काव्य कोई दूसरा न होता; किन्तु सूरदासजी का ध्यान उस ओर गया ही नहीं। उस काल के अन्य कवियों ने, जिन्होंने भ्रमर-गीत के विषय को मानो रीति-पालन के अर्थ ही छुआ है, इस सम्बन्ध में कुछ अधिक लिखा ही नहीं। अतएव सूरदास एवं नन्ददास के परवर्ती मध्यकालीन कवियों में श्री महात्मा अक्षर अनन्य ही ऐसे महाकवि हुए, जिन्होंने भ्रमर-गीत विषय पर अपने एक स्वतन्त्र ग्रंथ की रचना की। 'प्रेम-दीपिका' इसी विषय पर लिखा गया एक प्रबन्ध-काव्य है। प्रेम-पक्ष एवं विरह-वेदना की अभि-व्यक्ति में भी श्री अक्षर अनन्य को उल्लेखनीय सफलता मिली है, तथापि ज्ञान-पक्ष को बहुत ऊंचा उठाकर उसे स्पष्ट कर देने का श्रेय भी इन्हें ही अधिक है। यही कारण है कि 'प्रेम-दीपिका' अपनी कुछ नवीनता ही लेकर पाठकों के सामने आयी ।

'प्रेम-दीपिका' की सर्वप्रथम विशेषता यह है कि यह अन्य भ्रमर-गीतों के समान मुक्तक काव्य न होकर एक प्रबन्ध काव्य है। इस प्रबन्ध का तारतम्य जोड़ने के लिए तीन घटनाओं को संयुक्त कर दिया गया है । पहले भ्रमर-गीत के रूप में गोपी-उद्धव-संवाद को लिखा गया है, द्वितीय घटना में श्री बलराम का गोकुल जाकर गोपियों के साथ रमण करने का उल्लेख है, और तृतीय घटना में सूर्य-ग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण का समस्त ब्रजवासियों से मिलन का वर्णन है। अक्षर अनन्य ने उपर्युक्त तीनों घटनाओं को एक सूत्र में बांध दिया

है। जब उद्धव ब्रज से लौटकर गोपियों की विरह-व्यथा श्रीकृष्ण को सुनाते हैं, तब उसे सुनकर बलराम के हृदय में गोकुल जाने की लालसा जाग्रत हो उठती है और वे गोकुल को प्रस्थान कर देते हैं। इसी प्रकार जब बलराम लौटकर श्रीकृष्ण से ब्रज जाने का निवेदन करते हैं, तब श्रीकृष्ण सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र में गोप-गोपियों से मिलने का निश्चय कर लेते हैं और पर्व-काल उपस्थित होने पर कुरुक्षेत्र में जाकर सबसे मिलते हैं। इस प्रकार 'प्रेम-दीपिका' में गोपी-कृष्ण के अन्तिम प्रेम-मिलन तक का वर्णन आ जाता है। 'प्रेम-दीपिका' की एक और विशेषता यह है कि इसमें उद्धव के निर्गुण-ज्ञानयोग का भी उतना ही सशक्त वर्णन है, जितना गोपियों के प्रेम-भाव का। तर्कपूर्ण शैली में योग-साधना का वर्णन सर्वप्रथम नन्ददास ने अपने 'भंवरगीत' में किया। 'प्रेम-दीपिका' की यह सफलता अक्षर अनन्य के महात्मा और कवि दोनों होने में किसी प्रकार का सन्देह शेष नहीं छोड़ती। पहुंचे हुए ज्ञानयोगी होने के कारण वे उद्धव के निर्गुण-साधना-सम्बन्धी संवादों को भी उतने ही अच्छे ढंग से लिख सके, जितनी अच्छी रीति से उन्होंने गोपियों की प्रेम-भावनाओं का वर्णन किया। सूर के भ्रमर-गीत में उद्धव-गोपी-संवाद की अपेक्षा गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन ही अधिक मिलता है। उद्धव-गोपी-संवाद मध्यकालीन कवियों में केवल नन्ददास और अक्षर अनन्य ने लिखे। इन दोनों में भी अक्षर अनन्य की 'प्रेम-दीपिका' नन्ददास के 'भंवरगीत' की अपेक्षा कहीं अधिक सफल और सुन्दर बन पड़ी है। 'प्रेम-दीपिका' की एक और भी विशेषता यह है कि उसका उद्धव-गोपी-संवाद केवल गोपियों की विरह-व्यथा की अभिव्यक्ति एवं उद्धव का सान्त्वना देना मात्र ही नहीं है, प्रत्युत इस संवाद के व्याज से सगुण और निर्गुण-उपासना-पद्धति का बड़ा सुन्दर विवेचन किया गया है। श्री सूरदास की गोपियां जब "निर्गुन कौन देस कौ बासी" या "हमसौ कहत कौन की बातें" आदि कहती हैं, तब ऐसा लगता है कि गोपियां उद्धव के ज्ञानयोग एवं उनके द्वारा उठाये हुए प्रसंगों का गम्भीरतापूर्वक उत्तर नहीं देतीं, प्रत्युत अपने भावुक हृदय से उन प्रसंगों का मजाक-सा उड़ाती हैं। वे स्वयं कहती हैं :-

मधुकर भली करी तुम आये।
वै बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हंसाये।।

इस प्रकार सूरदासजी की गोपियां उद्धव के द्वारा दिये गये सन्देश को निर्गुण-साधना अथवा निराकार ब्रह्म के प्रति चिंतन करने का सन्देश नहीं मानतीं और न तर्क से उनका खंडन ही करती हैं, बल्कि उस प्रसंग को वे केवल एक चलती हुई बात मानती हैं। गोपियां भी सगुण और साकार कृष्ण के प्रति अपने प्रेम का कोई साधना-मूलक कारण नहीं बतातीं; वे केवल अपनी विरह-व्यथा को प्रकट करती हैं। सूरदास जी ईश्वर की सौंदर्य-शक्ति के उपासक थे और ईश्वर के प्रेममय रूप की साधना

क ही मानते थे; अतएव उनके द्वारा गोपियों की जिस प्रेम-पीड़ा का वर्णन हुआ है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है। उनकी लेखनी से उद्धव-गोपियों के साधनामूलक संवाद की अपेक्षा रखना अधिक समीचीन नहीं। श्री अक्षर अनन्य निराकार ब्रह्म के उपासक थे; ज्ञानयोग ही उनकी साधना का मार्ग था; अतएव उनकी 'प्रेम-दीपिका' में भी सूर की गोपियों की विरह-व्यथा खोजना उचित नहीं। गोपियों की व्यथा का जो वर्णन सूरदासजी के काव्य में मिलता है, वह अन्यत्र नहीं मिलता और ठीक उसी प्रकार साधना के सम्बन्ध में 'प्रेम-दीपिका' में जो तर्क-संगत विवेचन मिलता है, वह अन्य भ्रमर-गीतों में प्राप्त नहीं होता।

जिस प्रकार भ्रमर-गीत की रचना में सूरदासजी का उद्देश्य गोपियों की विरह-व्यथा का वर्णन था, उसी प्रकार 'प्रेम-दीपिका' की रचना में अक्षर अनन्य का उद्देश्य गोपी-उद्धव-संवाद के व्याज से सगुण और निर्गुण-उपासना-पद्धति का स्पष्ट विवेचन करना था। 'प्रेम-दीपिका' में उद्धव निराकार ब्रह्म एवं उसके स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए निर्गुण-साधना की विशेषता बताते हैं, तो उनका जोरदार खण्डन करती हुई गोपियाँ साकार एवं सगुण-रूप की विशेषता का उल्लेख कर अपनी प्रेमलक्षणा-भक्ति का प्रतिपादन करती हैं। यह बात श्रीमद्भागवत तथा सूरदासजी के भ्रमर-गीत में नहीं आने पायी। नन्ददासजी के 'भंवरगीत' की अपेक्षा भी 'प्रेम-दीपिका' का यह विवेचन अधिक स्पष्ट एवं मनोरम है और यह 'प्रेम-दीपिका' की सब से बड़ी विशेषता है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण को मथुरा में अपने माता-पिता का स्मरण कर कुछ दुःख हुआ था। गोपियों का भी स्मरण उन्हें हुआ था और उन्होंने उद्धव को विशेष रूप से ब्रज में इसलिए भेजा था कि वहाँ जाकर वे माता-पिता को आनन्दित करें और गोपियों की विरह-जनित पीड़ा को शान्त करें। तात्पर्य यह है कि भागवत्कार ने भ्रमर-गीत के प्रकरण में किसी प्रकार की भक्ति-भावना का संकेत नहीं किया। उससे यह भी अधिक स्पष्ट नहीं कि कृष्ण ने उद्धव को गोपियों के लिए योग-साधना या निर्गुण-उपासना का उपदेश देने का निर्देश दिया था। यहां केवल इतना ही कहा गया है कि कृष्ण का सन्देश देकर गोपियों की विरह-व्यथा को शान्त किया जाय।[1]

---

१. गच्छोद्धव व्रजं सौम्य, पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथंचन।
प्रत्यागमन सन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिका॥ –श्रीमद्भागवत, १०।४६।३।६

आगे चलकर उद्धव ने गोपियों को कृष्ण का जो संदेश दिया है, उसमें अवश्य निराकार ब्रह्म की ही चर्चा की गयी है; किन्तु वहाँ पर भी निराकार ब्रह्म तथा निर्गुण-साधना का स्पष्ट विवेचन नहीं किया गया है। गोपियाँ भी अपने प्रियतम कृष्ण का ही स्मरण करती हैं। श्रीमद्‌भागवत या सूरदास की गोपियों के लिए श्रीकृष्णचन्द्रजी प्रियतम के रूप में पहले हैं और पश्चात् में लीलामय ईश्वर के सगुण अवतार के रूप में आते हैं।[१] सूरदासजी के भ्रमरगीत में उद्धव के ब्रज जाने का कारण केवल गोपियों की विरह-व्यथा को शान्त करना ही नहीं, प्रत्युत कृष्ण का हृदय स्वयं भी ब्रज का स्मरण कर बेचैन हो उठता है। उन्हें वहां की मनोरम प्रकृति का, गोप-गोपियों का, नन्द-यशोदा का स्मरण हो आता है तथा ब्रज की समस्त प्रेम-क्रीड़ाएं उनकी स्मृति में बार-बार लौट आती हैं। सुन्दरता-संयुक्त मनोरम वस्तुएं स्वयं उद्दीपन बनकर उनकी व्यथा में वृद्धि करती हैं। इन्ही कारणों से उनके हृदय में गोपियों को भी सान्त्वना देने का विचार उठता है और वे उद्धव के ब्रज जाने का प्रस्ताव रखते हैं। वे उद्धव को संदेश देते हुए कहते हैं कि मुझे ब्रज का विस्मरण नहीं होता और यहाँ मेरा मन तनिक भी नहीं रमता; यही इच्छा होती है कि इसी क्षण ब्रज को लौट जाऊं। गोप-गोपियों से अलग होते समय मुझे अत्यन्त दुःख हुआ था। सोते-जागते, चलते-फिरते एक क्षण के लिए भी मेरा मन नहीं रमता। राधिका का एवं लता-कुंजों में की गयी क्रीडाओं का स्मरण कर मेरे हृदय की वेदना अधिकाधिक बढ़ जाती है।[२] यह संकेत किया

---

१. ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशांकरम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ।।
अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।
सजीवयन्नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ।।
गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिराहृतधियः कथं तं विस्मरामहे ।।

--श्रीमद्‌भागवत, १०।४७।४३,४४,५१

२. हरि गोकुल की प्रीति चलाई ।
सुनहु उपँग-सुत मोहिं न बिसरत, ब्रजबासी सुखदायी ।
यह चित होत जाउं मैं अबहीं, इहां नहीं मन लागत ।
गोपी ग्वाल गाइ बन चारन, अति दुख पायौ त्यागत ।
कहं माखन-रोटी, कहं जसुमति जेंवहु कहि-कहि प्रेम ।
'सूर' स्याम के बचन हँसत सुनि, थापत अपनौ नेम ।।

—सूरसागर (ना० प्र० स०), ४०४०

ही जा चुका है कि उद्धव की ओर से दिया गया संदेश भ्रमर-गीत में स्पष्ट नहीं मिलता तथा उनके संदेश की परिकल्पना हमें गोपियों के उत्तर से ही करनी पड़ती है। गोपियों के उत्तर से यह भी स्पष्ट है कि वे अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण से प्रेम करती थीं और उन्हीं का वियोग उन्हें व्यथित कर रहा था। उनकी भावनाएं सगुण-भक्तिमूलक कारणों पर आधारित नहीं। यही कारण है कि सूरदासजी के भ्रमर-गीत में साधना-सम्बन्धी विवेचन नहीं आ सका।

वेदान्त-दर्शन के अनुसार मुक्ति चार प्रकार की मानी गयी है--१. सालोक्य, २. सामीप्य, ३. सारूप्य, ४. सायुज्य। प्रथम तीन प्रकार की मुक्ति में साधक की आत्मा अपना अस्तित्व पूर्णतया खोकर ब्रह्म में विलीन नहीं होती और अपना अलग अस्तित्व रखती है; परन्तु चतुर्थ प्रकार की अर्थात् सायुज्य-मुक्ति में साधक की आत्मा का परमात्मा में पूर्ण विलयन हो जाता है। प्रथम तीन प्रकार की मुक्तियों में पुनर्जन्म की भी सम्भावना रहती है, किन्तु सायुज्य-मुक्ति में पुनर्जन्म का कोई भय नहीं रहता। प्रथम तीन प्रकार की मुक्तियाँ सगुणमार्गी भक्तों को तथा सायुज्य-मुक्ति केवल ज्ञानयोगी साधकों को ही प्राप्त होती है। 'प्रेम-दीपिका' की रचना का प्रारम्भ इसी विषय को लेकर हुआ है। यह पहले ही लिखा जा चुका है कि इसकी रचना का उद्देश्य सगुण और निर्गुण-साधना का विवेचन था। 'प्रेम-दीपिका' के श्रीकृष्ण को श्रीमद्भागवत या सूरदासजी के कृष्ण के समान गोपियों का वियोग व्यथित नहीं करता। उन्हें इसकी भी चिन्ता नहीं कि गोपियों को उनके वियोग के कारण अत्यन्त कष्ट हो रहा होगा और उनको सान्त्वना देने की आवश्यकता है। इन सबसे अलग उन्हें इसी बात की चिन्ता होती है कि गोपियों ने अब तक उनकी सगुण-भक्ति-साधना-पद्धति के अनुसार उपासना की थी। उन्होंने कृष्ण को सगुण ईश्वर का लीलामय अवतार मानकर उनकी भक्ति की, अतएव उनको प्रथम तीन प्रकार की मुक्तियाँ ही प्राप्त हो सकेंगी। उन मुक्तियों को प्राप्त कर के भी गोपियों को पुनर्जन्म के चक्र में बार-बार आना पड़ता और वे सांसारिक बन्धनों से मुक्त नहीं हो सकतीं तथा उनकी आत्मा कृष्ण की आत्मा में लीन नहीं हो सकती। सायुज्य-मुक्ति को प्राप्त करने के लिए गोपियों को ज्ञानयोग का अनुसरण कर निर्गुण-साधना की पद्धति का अपनाना आवश्यक था। 'प्रेम-दीपिका' में अक्षर अनन्य प्रारम्भ से इसी आधार को लेकर आगे बढ़े। इसमें श्रीकृष्ण उद्धव को ब्रज जाने के लिए कहते हैं और उसका प्रयोजन भी स्पष्ट कर देते हैं। वे कहते हैं कि हे उद्धव, तुम ब्रज की विरह-व्याकुल गोपियों को सान्त्वना देने के लिए, उनको प्रबोधन देने हेतु ब्रज चले जाओ। गोपियों ने मुझसे बहुत अधिक प्रेम किया है और उनसे बिछुड़ने के पश्चात्

मैंने उनका कभी स्मरण भी नहीं किया; तुम उनको मेरे उपदेशों से अवगत कर उनका दु:ख-समुद्र से उद्धार करो। उनको भली भाँति समझा दो कि कृष्णचन्द्र तुमसे कभी भी दूर नहीं हैं।[1] काम-क्रीडाओं में आसक्त रहनेवाली गोपियों ने मुझे नन्द-सुत सगुण-स्वरूप मानकर मेरी अधिक सेवा की। उसके परिणामस्वरूप मैंने उनको प्रथम तीन प्रकार की मुक्तियाँ प्रदान कर दी हैं। गोपियां सगुणोपासिका एवं भक्तिमार्ग की अनुगामिनी होने के कारण सायुज्य-मुक्ति की अधिकारिणी नहीं; अतएव तुम जाकर उन्हें ज्ञानयोग का उपदेश देते हुए बतला दो कि कृष्णचन्द्र विषय-विकार, जन्म-मृत्यु आदि गुणों से रहित शुद्ध-बुद्ध निरंजन-ब्रह्म हैं।[2] इस प्रकार सर्वव्यापक निराकार ब्रह्म का ज्ञान कराकर गोपियों की विरह-व्यथा को शान्त कर देना। ज्ञानयोग के आधार पर आत्म-तत्व को समझ लेने पर कर्म-फल से मुक्ति प्राप्त होती है और विषय-विकार नष्ट हो जाने पर उपास्य के वियोग का अनुभव नहीं होता।[3]

मुक्ति के संबंध में वेदान्त-दर्शन का मत है कि ज्ञान का आश्रय लिये बिना किसी की मुक्ति नहीं हो सकती।[4] इस मुक्ति से अभिप्राय सायुज्य-मुक्ति से ही है, जो अद्वैत वेदान्त के अनुसार सर्वश्रेष्ठ समझी गयी है। इसे प्राप्त करने के लिए आत्म-तत्व का ज्ञान होना ही अनिवार्य अथवा एकमात्र साधन है।

---

१. माधौ जू इक दिन कही, मधुकर सौं सतभाव।
गोपी गोप प्रबोध कौं, तुम ब्रज मंडल जाव।
तुम ब्रज मंडल जाव, प्रेम अति ही उन कीन्हौं।
जबतें भयो बिछोह, सोध हम कबहुँ न लीनौ।
तुम मम मत दरसाय, हर्‌यो दुख सिन्धु अगाधौ।
कहियो सबसौं यहै, दूर तुम तें नहिं माधौ॥

२. विषया मदमाती त्रिया, काम केलि आसक्ति।
सुन्दर पुरुष विचार कैं, करी हमारी भक्ति।
करी हमारी भक्ति, नन्द सुत गुन सुख दायक।
तीन मुक्ति हम दीन, नहीं चौथी कहं लायक।
तातें तुम परवीन, जाय दीजो निज सिखया।
कृष्ण निरंजन देव, नहीं जानौं नर विषया॥

३. विषय वासना त्रियन की, करियो मन तें दूर।
सुद्ध ब्रह्म दरसाय कैं, रहौ सर्व भरपूर।
रहौ सर्व भरपूर, तासु उपदेसन कीजो।
मम सेवा फल जान, यहै उनकौं सिख दीजो।
ज्ञान योग निज बोध, मिटै कर्मक उपासना।
विरह मिटै सुख होय, मिटै सब विषय वासना॥

४. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता से कहा था कि जिस प्रकार मेघों द्वारा बरसाया हुआ जल सब ओर से सिमटकर सर-सरिताओं के निर्मल जल में मिलकर स्वयं निर्मल बन जाता है, उसी प्रकार 'एक पुरुषोत्तम ब्रह्म ही सब कुछ है' ऐसा जाननेवाला साधक उसी रूप में मिलकर तद्रूप हो जाता है। [१] मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार बहती हुई नदियां अपने नाम-रूप को छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं और अपना अस्तित्व खोकर उसी के साथ एकाकार हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष नाम-रूप से मुक्त होकर उस परात्पर पुरुष ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। [२] हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध ज्ञानमार्गी महात्मा कबीर भी इसी मुक्ति में विश्वास करते थे। [३] इस प्रकार ज्ञानयोग तथा इस परम्परा के अनुगामी ज्ञानयोगी साधकों का मुक्ति के इसी सिद्धान्त में विश्वास रहा है। श्री महात्मा अक्षर अनन्य भी ज्ञानयोगी होने के नाते मुक्ति के इसी रूप को श्रेयस्कर मानते थे। संसार के बन्धनों से मुक्त होने के लिए उन्होंने अपने ग्रंथों में स्थान-स्थान पर ज्ञान का आश्रय लेने के लिए उपदेश दिया है; अतएव 'प्रेम-दीपिका' के कृष्ण भी उद्धव के द्वारा गोपियों के पास सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करने के लिए ज्ञानयोग का सहारा लेने का संदेश भेजते हैं। 'प्रेम-दीपिका' में उद्धव द्वारा यह संदेश भी पहुंचाया गया है कि ज्ञानयोग का अनुसरण कर आत्म-तत्त्व का बोध होने पर कर्म-फलों से मुक्ति मिल जाती है और इस प्रकार वियोग-जनित पीड़ा का शमन हो जायगा। यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि औपनिषद् सिद्धान्तों के अनुसार ज्ञानमार्ग के साधकों को किसी प्रकार का शोक-मोह नहीं होता। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि वह सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा गुरु से गुरुतर परमात्मा इस जीव की हृदय-रूप गुहा में छिपा हुआ है। दृश्य-रूप समस्त विश्वप्रपंच की रचना करनेवाले परमेश्वर की कृपा से जो मनुष्य उस संकल्परहित परमेश्वर को तथा उसकी महिमा को जान लेता है, वह सब प्रकार के दुखों से मुक्त

१. यथोदकं शुद्धेशुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम॥ —कठ०, २।१।१५

२. यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—मुण्डक०, ३।२।८

३. जहां जरा मरण व्यापै नहीं, मुआ न सुणिये कोइ।
चल कबीर तिहि देसड़े, जहा बैद बिधाता होइ।
मरता मरता जग मुआ, औसर मुआ न कोइ।
कबीर ऐसे मरि मुआ, जा बहुरि न मरणा होइ॥
कबीर-ग्रंथावली (चतुर्थ संस्करण), पृ० ७६

होकर आनन्द-स्वरूप परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है।[1] मुण्डकोपनिषद् के अनुसार जो कोई भी उस परब्रह्म परमात्मा को जान लेता है, वह महात्मा स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, उसके कुल में ब्रह्म को न जाननेवाला कोई भी उत्पन्न नहीं होता और वह शोक से परे हो जाता है; पाप-समुदाय से तर जाता है, गुहा-ग्रन्थियों से मुक्त अर्थात् जन्म-मृत्यु से रहित स्वयं ब्रह्म हो जाता है।[2] ईशावास्योपनिषद् में आत्म-तत्वविदों के लिए 'तत्र को मोहः कः शोकः' कहकर शोक-सन्ताप की स्थिति ही समाप्त कर दी गयी है। इन उपनिषद्-मंत्रों से यह भी सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान-मार्ग का अनुसरण कर साधक जब स्वयं उपास्य के साथ तद्रूप हो जाता है, तब वियोग की स्थिति उत्पन्न होने की कोई शंका ही नहीं उठायी जा सकती। इसमें ठीक वही स्थिति उत्पन्न हो जाती है, जिसका अनुभव मीरा ने किया था :—

जिनके पिया परदेस बसत हैं लिख लिख भेजत पाती।
मेरे पिया मेरे हिरदय बसत हैं ना कहुं आती जाती॥

कबीर ने और भी जोरदार शब्दों में कहा है कि हमारा प्रियतम स्वयं हमारे हृदय में ही स्थित है, हमें किसी के वियोग को सहने का प्रश्न ही नहीं।[3] श्री महात्मा अक्षर अनन्य ने भी अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है कि ज्ञानयोगी किसी भी क्षण अपने आराध्य प्रियतम परब्रह्म से विलग होकर नहीं रहता। आपने लिखा है कि जिस प्रकार स्वप्न की अवस्था में कोई प्रियतमा अपने प्रियतम से वियुक्त हो आकुल होकर जाग पड़ती है तथा जागने पर उसका प्रियतम

---

१. **अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।**
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम्॥ —श्वेताश्वतर, ३।२०

२. **स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले**
भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति॥
—मुण्डक०, ३।२।९

३. **हमन है इश्क मस्ताना हमन को होशियारी क्या।**
रहैं आजाद या जग से हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुडे हैं पियारे से भटकते दरबदर फिरते।
हमारा यार है हममें हमन को इन्तजारी क्या।
खलक सब नाम अपने को बहुत कर सिर पटकता है।
हमन गुरु नाम सांचा है हमन दुनिया से यारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है हमन को बेकरारी क्या।
कबीरा इश्क का माता दुई को दूर कर दिल से।
जो चलना राह नाजुक है हमन सिर बोझ भारी क्या॥
—शब्दावली, पृष्ठ १६-१७

उसी के पास मिलता है, उसी प्रकार अज्ञान के भ्रम में पुरुष अपने आराध्य ब्रह्म से अलग होकर रहता है, किन्तु जैसे ही उसे आत्म-बोध होता है तथा ब्रह्म की अपने से अवियुज्य स्थिति का ज्ञान होता है, वह अपने प्रियतम ब्रह्म से मिल जाता है। अद्वैत की यही भावना 'प्रेम-दीपिका' का आधार है।

'प्रेम-दीपिका' के उद्धव ब्रज में पहुंचकर नन्द-यशोदा एवं गोप-गोपियों को लीलामय कृष्ण के सगुण-रूप के उपासक अथवा सगुण-भक्त के रूप में ही देखते हैं। वे उनको सूरदास, नन्ददास आदि के उद्धव के समान कृष्ण की प्रेमी-प्रेमिकाओं की भाँति नहीं मानते। उद्धव नन्द-यशोदा को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे महान् सौभाग्यशाली ब्रजराज, आप धन्य हैं। आप समस्त भक्तों के शिरोमणि हैं; क्योंकि आपने जगत्पिता श्रीकृष्ण के प्रति अटल अनुराग रखा है। श्रीकृष्णचन्द्रजी से इस सृष्टि का सृजन होता है तथा उनके प्रति तुम्हारे हृदय में पूर्ण प्रेम विद्यमान है।[1] तत्व-ज्ञान पर विचार कर उनके परम-रूप का भी ध्यान कीजिये। वे सत्-चित्-रूप होने के कारण समस्त चर-अचर वस्तुओं में विद्यमान रहते हैं और तुमसे भी दूर नहीं। वे अनादि, अजन्मा और सांसारिक स्नेह-सम्बन्धों से सर्वथा मुक्त हैं। केवल भक्ति के वश में होकर कुछ अवधि तक वे तुम्हारे पास रहे।[2] जिस प्रकार विस्तृत आकाश में केवल एक ही शशि की स्थिति है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब अनेक घटों में पड़ने के कारण वह अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार बीज-रूप विराट् आत्मा विभिन्न आकार-संयुक्त शरीरों में प्रविष्ट होकर अपने को प्रतिभासित करती है।[3]

श्रीमद्भागवत के अनुसार निर्गुण-उपासना का सन्देश उद्धव ने सर्वप्रथम ब्रज में नन्द और यशोदा को दिया। ब्रज की गोपिकाओं से उद्धव की भेंट दूसरे दिन

---

१. बोले बचन प्रवीन धन्य ब्रजराज सभागे।
सकल सिरोमनि भक्त जक्त पति सौं अनुरागे।
जक्त पिता जगदीस भयौ जिनतैं जग लेखौ।
तिनसों पूरन प्रेम आज तुम्हरे हम देखौ॥

२. तातैं वे श्रीकृष्न जू तुमसैं नाहीं दूर।
पूरन प्रेम प्रताप तैं रहैं हृदय भरपूर।
रहैं हृदय भरपूर मूल तत ग्यान विचारौ।
व्यापि रह्यौ सब माहि नाम अद्वैत निहारौ।
तात मित्र पितु मात नहीं उनकी ये बातें।
भक्ति हेतु कछु काल बसे तुम्हरे गृह तातैं॥

३. को काकौ माता पिता, को काकौ सुत होय।
आतम एक अनेक है, ज्यौं घट घट ससि होय॥

प्रात:काल यमुना जाते समय हुई। ये गोपियां स्वयं ही अपने ज्ञान-बल से उद्धव को कृष्ण के सन्देशवाहक के रूप में पहिचान जाती हैं। 'प्रेम-दीपिका' में भी श्रीमद्‌भागवत के समान ही प्रात:काल गोपियां नन्द-गृह के द्वार पर आ जाती हैं और कृष्ण के वियोग की पीड़ा कहने लगती हैं। वे यह भी समझ जाती हैं कि उद्धव उनको ज्ञान-मार्ग का उपदेश देने के लिए आये हैं। वे खीझकर कहने लगती हैं कि 'हे उद्धव, तुम प्रेम के विषय में अत्यन्त अज्ञानी हो और उसके रहस्य को नहीं जानते। किसी पिपासाकुल प्राणी से वेद-मंत्रों के कहने से उसको शान्ति नहीं मिलती। इसी प्रकार हमारे लिए तुम्हारा ज्ञानोपदेश भी व्यर्थ ही है।[१] श्रीकृष्ण समस्त प्राणियों पर दया करते हैं।[२] हम उस दिवस की प्रतीक्षा कर रही हैं, जब हम फिर से श्रीकृष्णचन्द्रजी की मुरली की मधुर ध्वनि सुन सकेंगी। उसकी मनोहर ध्वनि हमारे हृदय में बसी हुई है और निकलती नहीं। इस कारण हमारे प्राण भी बड़ी व्याधि में फंस गये हैं। इस विपत्ति को सहने में अक्षम होने के कारण वह रहना भी नहीं चाहते और साथ ही भविष्य की आशाओं के कारण निकलना भी नहीं चाहते।[३]'

गोपियों की इस व्याकुलता को सूरदासजी के उद्धव ने प्रेम-जनित वियोग की पीड़ा समझी थी; किन्तु 'प्रेम-दीपिका' के उद्धव ने उसे गोपियों की सगुण-भक्ति की तीव्रता ही स्वीकार की। उनके लिए वह व्याकुलता गोपियों द्वारा की गयी तन, मन, वचन, कर्म से संयुक्त सर्वांगपूर्ण भक्ति का ही परिणाम थी, जिससे उद्धव को भक्ति के विरोध में अपने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश देने का अवसर मिला। उन्होंने कहा, 'श्रीकृष्णजी को तुम अपनी आत्मा का ही रूप समझो और ज्ञान-मार्ग का अनुसरण कर अपने वियोग की व्यथा का शमन करो। वह पूर्ण ब्रह्म विश्वात्मा तुमसे दूर एवं अलग नहीं और सृष्टि के समस्त चर-अचर प्राणियों में निरन्तर व्याप्त है। तुम उसी विराट्-स्वरूप सर्वव्याप्त परब्रह्म का ध्यान करो, जिसका ध्यान समस्त मुनि एवं ऋषिगण किया करते हैं। ज्ञान-मार्ग के अनुसार निर्गुण-निराकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने पर उससे साधक का अविच्छेद्य सम्बन्ध स्थापित हो

---

१. कह जानौं तुम भेद, कहा कहिये अलि सूधौ।
प्यासे सौं कहि वेद, होत सन्तोष न ऊधौ॥

२. करुना सिन्ध कहाय करत करुना कत ऊधौ।

३. श्री माधो की मूरली, कब सुनिहै हम कान।
जा सुनि कै इस बस भई, मनतें टरत न तान।
मनतें टरत न तान, भयो अबफर कौ जियरा।
ना यहि कढ़ै न रहे, होत व्याकुल अति हियरा॥

जाता है और उससे एक क्षण के लिए भी उसका वियोग नहीं होता।'[1] इतने में एक भ्रमर वहाँ आ पहुंचता है। गोपियां उसे उपालम्भ देती हुई व्याज से पाखण्ड तथा बाह्य आडम्बरों की निन्दा करती हैं। वे कहती हैं कि जिस प्रकार अपना तन-मन-प्राण अर्पित कर चकोर एकाग्रतः शशि की ओर उन्मुख होकर उसी का ध्यान करता है, उसी प्रकार हमारा हृदय भी श्रीकृष्ण की ओर से किसी दूसरी दिशा में हटता नहीं; किन्तु जिस प्रकार चन्द्र और चकोर का सत्य, अटल तथा अकृत्रिम अनुराग कौवे की समझ से परे है, उसी प्रकार प्रेमलक्षणा-भक्ति का रहस्य निर्गुण-ज्ञान की डींग हांकनेवालों को ज्ञात नहीं हो सकता। स्वार्थी और पाखण्डी वृत्ति के पुरुषों को इसका रहस्य प्रकट नहीं होता।[2]

अभी तक उद्धव को गोपियों से श्रीकृष्ण का संदेश कहने का अवसर ही नहीं मिला था। अपनी ओर से एक-दो बातें जो उन्होंने कही थीं, उनका साधारण उत्तर गोपियों ने दे दिया था। गोपियों की प्रेमाकुल अवस्था एवं उनके स्थिर-अटल अनुराग को देखकर उद्धव विस्मित होकर रह गये और उन्होंने श्रीकृष्ण का सन्देश गोपियों से कहने तथा अपना ब्रह्मज्ञान प्रकट करने की आवश्यकता समझी। उद्धव ने गोपियों को सर्वप्रथम यह बतला दिया कि मैं तुम्हारे आराध्य प्रियतम श्रीकृष्ण का स्नेही सखा एवं निर्गुणमार्गी सन्त हूं।[3] इसके पश्चात् उन्होंने श्रीकृष्ण का संदेश उन्हीं के शब्दों में गोपियों को सुनाते हुए कहा, "यदि तुम ज्ञानपूर्वक विचार कर देखोगी, तो समझ सकोगी कि मुझमें और तुम सबमें कोई भेद नहीं। मैं निरंतर ही तुम्हारी अन्तरात्मा में निवास करता हूं। संयोग-वियोग, अनुराग-विराग आदि विषयों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। तुम यदि योग-समाधि का आश्रय

---

१. पूरन भक्ति निहार हिय, सुनहु सकल ब्रज नार।
जिन तन मन वच कर्म करि, सुमिरे कृष्न मुरार।
सुमिरे कृष्न मुरार, पुरुष पूरन परमातम।
वे तुमतैं नहि दूर, जान उनहीं को आतम।
धरि उर ब्रह्मग्यान, तजौ यह बिरह बिसूरन।
देखौ चित्त विचार, ब्रह्म सब में परिपूरन॥

२. ससि चकोर कौ भाव कहा कौवा पहिचानै।
× × ×
तू स्वारथ को मीत है, रहु पाखण्डन पूर।
कपटी कूर कठोर अति, तू रह हमतैं दूर॥

३. जग मोहन श्रीकृष्न, तुम्हारे कन्त जू।
तिनको हौं लघुदास, सनेही सन्त जू॥

लेकर समझने का प्रयत्न करो, तो तुम्हें ज्ञात हो जायगा कि मैं सृष्टि के समस्त प्राणियों में निरन्तर रमनेवाला राम हूँ। यदि तुम्हारी यह कामना है कि मैं एक क्षण के लिए भी तुमसे विलग न होऊं, तो ज्ञानयोग का अवलम्बन ग्रहण करो।"[१]

श्रीकृष्ण का यह सन्देश सुनकर गोपियों ने बड़ी वेदना के साथ कहा कि अब कृष्ण हमसे दूर हो गये हैं; इस पर भी उनके द्वारा की गयी क्रीडाएं, रास-विलास हमसे भुलाये नहीं जाते। यह भी एक विडम्बना का विषय है कि वे स्वयं तो वहाँ अनेक नारियों के साथ विहार करते हैं, और हम सब नारियों को योग का सन्देश भेजते हैं।[२] इसके पश्चात् गोपियों ने बड़े व्यथित हृदय से कहा कि यह अच्छा ही है कि कृष्ण अपने माता-पिता से जाकर मिल गये; वे द्वारका के अधिपति हैं; उनका सुयश समस्त दिशाओं में व्याप्त है तथा रुक्मिणी के समान सुन्दरी उनकी महारानी बनी है; किन्तु हे उद्धव, हमें उनके इस नव-उत्थान तथा नव-विहारों से, आमोद-प्रमोद से क्या प्रयोजन है। हमारे हृदय में उनका स्नेह ही जीवन का एकमात्र सहारा है। यदि किसी आत्मीय प्रियजन को आंखों से देखना असम्भव होता है अथवा उससे मिलना सम्भव नहीं, तो उस दशा में उसकी कुशलता तथा उत्थान का समाचार अपने कानों से सुनने में ही आनन्द होता है।[३]

---

१. हमहिं तुमहिं कछु भेद नहिं, देखौ ग्यान विचार।
हम तुम में ऐसे रमे, ज्यौं सब माहिं विहार।
तुम सब हो मेरी कला, देखौ आपहि आप।
आतम ग्यान विचार कै, तजौ विरह सन्ताप।
विरह विषय मेरे विषय, तुम जनि जानहु वाम।
देखो जोग समाधि धरि, हौं नित रमता राम।
जो तुम मोंहि चाहत सदा, भावत नैक न दूर।
तौ देखौ हिय कमल में, जोग ध्यान भरपूर॥

२. आप महाभोगी उत भोगिबे अनेक नारि।
नारिनि कौ जोग के संदेस दै पठाये हैं।
× × ×
हमकौं पठायो जोग भोग करैं औरन सों,
नवल विहारी के नवल नेह नये री।

३. भली भई ऊधौ उन मथुरा में कंस हन्यौ,
भली भई तात मात मिलौ सब गोत है।
भली भई द्वारका के देस के नरेस भये,
भली भई जस कौ दिसान में उदोत है।
भली भई जोपै श्री रुक्मिनि सी रानी बरी,
हमरैं तौ उनके सनेहई को सोत है।
कहा कीजै 'अक्षर' जो आंखिन न देखिये तौ,
आपने के कानन सुनैई सुख होत है॥

श्रीकृष्ण का संदेश गोपियों को पहले ही सुनाया जा चुका था, किन्तु निर्गुण-साधना के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने की उद्धव की लालसा अभी शान्त नहीं हुई थी। वे भली प्रकार से देख चुके थे कि गोपियां सगुण-भक्ति के मार्ग में कितनी बढ़ी-चढ़ी थीं। उनकी पूर्ण-भक्ति को देखकर सन्त उद्धव अपने ज्ञान-योग की तथा निर्गुण-ब्रह्म की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करने से भला कैसे रुक सकते थे। अपने निर्गुण-ब्रह्मज्ञान पर उन्हें अभिमान था। यह भी कहा जाता है कि श्रीकृष्ण ने उद्धव के इसी अभिमान को समाप्त करने के लिए उन्हें ब्रज भेजा था। उद्धव ने जैसे ही गोपियों के मुख से कृष्ण के 'तात मात मिल्यौ' की बात सुनी, उन्हें अपने निर्गुण एवं मोह-ममता आदि विकारों से रहित ब्रह्म के सम्बन्ध में कहने का अवसर मिल गया। उन्होंने कहा, "कृष्ण निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म हैं; वे मातृ-पितृ आदि समस्त भव-बन्धनों से रहित हैं, अज, अनादि, अनन्त होते हुए स्वयं आनन्द-स्वरूप हैं, कामादि विकारों से रहित होकर भी सृष्टि के समस्त प्राणियों की कामनाएं पूरी करते हैं और केवल अपने प्रिय भक्तों की इच्छा-पूर्ति के लिए ही वे संसार में जन्म धारण करते हैं। ब्रह्म चर-अचर, जड़-चेतन सभी में निरन्तर व्याप्त रहता है और किसी से एक क्षण के लिए भी विलग नहीं होता। इस प्रकार उस सर्वव्यापक ब्रह्म से वियोग का अनुभव करना स्वयं अपना भ्रम है। हे गोपियो, तुम योग का आश्रय लेकर आत्म-तत्व का चिन्तन करो। तुम्हारी आत्मा स्वयं ही तुमसे किसी भी दशा में दूर नहीं हो सकती।"

आत्मा के दूर होने की बात का गोपियों ने उद्धव को मुंहतोड़ उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि हमारी आत्माएं श्रीकृष्ण की आत्मा में इस प्रकार विलीन होकर तद्रूप हो गयी हैं कि अब उन्हें पुनः अलग करना असम्भव है। जिस प्रकार समुद्र के अगाध जल में छोटे जल-सीकर मिलकर अलग नहीं हो सकते, उसी प्रकार हमारी आत्माएं श्रीकृष्ण से अलग होकर लौट नहीं सकतीं।[1] जिस प्रकार निर्मल वारि के मथने से मक्खन नहीं निकलता, उसी प्रकार तुम्हारे निर्गुण-ब्रह्म पर विचार करना व्यर्थ है। भित्ति का आधार लिये बिना अथवा फलक के बिना किसी चित्र का अस्तित्व रह नहीं सकता, जिह्वा की सहायता के बिना वेद-पाठ असम्भव हैं;

---

१. आतम हमारे ऊधौ हममें हिराय गये,
सागर में बूंद फेर कैसें पाइयत है।
सहज समाधि हम रांची स्याम सुन्दर सौं,
रोम रोम रमत रमन ध्याइयत है।
'अक्षर' सो आंखिन में स्वच्छ छबि छाय रही,
सूझत न आन कान्ह रूप भाइयत है।
ऐसौ निज जोग है विहंगम हमारौ ग्यान,
आपुन पिपील ग्यान क्यों दिढ़ाइयत है॥

उसी प्रकार सुगुण और साकार के बिना निर्गुण और निराकार की कोई स्थिति नहीं। गगन-तरु पर चढ़ने की कल्पना के समान ही निर्गुण एवं अस्तित्वविहीन ब्रह्म-तत्व का चिन्तन करना अर्थविहीन है।[1] प्रेम-समाधि तथा प्रेमलक्षणा-भक्ति के द्वारा आत्मा तथा ब्रह्म के एकरूप होने का इतना सुन्दर, सशक्त एवं माधुर्यपूर्ण वर्णन हिन्दी साहित्य के किसी भी अन्य कवि की रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता। अक्षर अनन्य की मान्यता थी कि अहं जब ब्रह्म के साथ तदाकार हो जाता है, तब साधक 'सोऽहम्' की स्थिति से ऊपर केवल 'अहं'-रूप होता है। "आतम हमारे ऊधौ हममें हिराय गये" द्वारा इसी भाव को अभिव्यक्त किया गया है। गोपियाँ कृष्ण को अपनी आत्मा से अलग नहीं मानतीं और यही कारण है कि उन्होंने 'हमारी आत्मा हममें विलीन हो गयी'-जैसी बात कही। यहां निश्चल धारणा के पश्चात् सहज-समाधि की अवस्था के प्रति अत्यन्त लालित्यपूर्ण शैली में संकेत किया गया है। प्रेम को अक्षर अनन्य ने साधना की सफलता के लिए अनिवार्य माना है तथा गोपियों ने भी प्रेम-मार्ग का अनुसरण किया था। सगुण-मार्गी होने के कारण सूरदास निर्गुण ब्रह्म का विवेचन करने में भले ही पीछे रह गये हों, किन्तु निर्गुणमार्गी ज्ञानयोगी होकर भी अक्षर अनन्य ने प्रेमलक्षणा-भक्ति का जो विवेचन किया है, वह निस्सन्देह रूप से श्लाध्य है।

यह बताया जा चुका है कि गोपियों को सायुज्य-मुक्ति प्रदान करना ही श्रीकृष्ण का उद्देश्य था और इसी कारण उन्होंने उद्धव को गोपियों के पास भेजा था; किन्तु प्रेम-भक्ति का आश्रय लेनेवाले भक्त-साधक सायुज्य-मुक्ति की चिन्ता नहीं करते। उनका स्वर तो महात्मा तुलसीदासजी के स्वर में ही मिला होता है :—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, पद न चहौं निर्वान।
जन्म जन्म सिय राम पद, यह बरदान न आन॥

भक्तों के हृदय में अपने प्रियतम-आराध्य के प्रति अनन्य एवं अटल प्रेम होता है। वे अपने आराध्य की पद-भक्ति के स्थान पर किसी भी मुक्ति-भुक्ति की

---

१. **ऊधौ जू तुम्हारे यह निर्गुन में सार कहा,**
पानी के मथे तें कहूं माखन कढ़त है।
देखौ धौं विचार बिना भीत कहाँ चित्र होत,
जीभ बिना जीव कोऊ बेद ना पढ़त है।
'अक्षर' अनेक भांति कहिये कहां लौं और,
बार बार कहे बकवादऊ बढ़त है।
बिन ही अकार निराकार कौ प्रकार वहै,
गगन तरोवर पै धाइ को चढ़त है॥

कामना नहीं करते। निरन्तर आराध्य के चरणों में अनुराग बने रहने तथा जन्म-जन्मान्तरों तक भक्ति-सुख की प्राप्ति में वे किसी भी प्रकार की मुक्ति पर धूल फेंक देते हैं। भक्तों को सायुज्य-मुक्ति के प्रति भी कोई आकर्षण नहीं होता। इसी विचार से 'प्रेम-दीपिका' की गोपियां भी कहती हैं कि 'हे उद्धव, यदि तुम ज्ञानयोग के बिना मुक्ति नहीं मानते, तो हम उस ज्ञानयोग के माध्यम से प्राप्य मुक्ति को भी उसी प्रकार से त्याज्य और हेय मानती हैं, जिस प्रकार किसी भी अन्य अस्पृश्य एवं घृणास्पद वस्तु को। हमें अपने आराध्य के प्रेम के स्थान पर किसी रूखी-सूखी मुक्ति की कामना नहीं।'[1]

यदि ईश्वर के सगुण-स्वरूप को श्रेष्ठ समझा जाय, तो श्रीकृष्ण सगुण-ब्रह्म के स्वरूप हैं, उनके गुणों की कोई सीमा नहीं। यदि निर्गुण और निराकार ही प्रधान है, तो श्रीकृष्ण निर्गुण तथा निर्लिप्त भी हैं। निर्गुण और सगुण में किसी प्रकार का भेद नहीं। शास्त्रीय वाद-विवादों में पड़ने के कारण ही उस अभेद-तत्व में भेद उत्पन्न हो जाता है।[2]

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि 'प्रेम-दीपिका' में उद्धव के सन्देश की विशेषता यही है कि उन्होंने अन्य भ्रमर-गीतों के समान केवल निर्गुण का ही उपदेश नहीं दिया, प्रत्युत गोपियों को ज्ञानयोग-साधना की ओर प्रेरित कर उन्हें सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया था। गोपियों द्वारा भक्ति-पक्ष का प्रतिपादन सुनकर उद्धव ने एक बार फिर उनको मुक्ति-प्राप्ति की ओर मोड़ना

---

१. जो पै तुम ऊधौ कदाचित पुनि ऐसी कहौ,
ग्यान जोग ध्यान बिना मुक्ति नाहि होत है।
ताकौ तुम ज्वाब सुनौ हमरौ विचार यहै,
भक्ति रस मुक्ति हम छांड़ी जिमि छोत है।
'अक्षर अनन्य' कोटि मुक्ति वारौं प्रीतम पै,
जिनकी मुरति कोटि जोतिन की जोत है।
निर्गुन ही सर्गुन कौ रूप और कौन गनै,
मोहन के आगैं जैसें मोतिन में पोत है॥

२. जो पै कहौ सर्गुन तौ सर्गुन प्रतच्छ ही है,
जिनके गुनन कौ न वारपार पेखिये।
जो पैं कहौ निर्गुन तौ निर्गुन निलेप सदा,
गुनन की कहौ तौ गुन उनमें न देखिये।
निर्गुन ही सगुन तैं न न्यारौ है 'अनन्य' भनै,
परम पुरुष वेद भेदन में लेखिये।
ऐसे प्यारे प्रभु तैं हमारौ प्रेम जोग ऊधौ,
ग्यान जोग बीस बिसैं बिष सौ बिसेषिये॥

चाहा और स्पष्ट कहा कि तुम विषय-वासनादि विकारों को अपने हृदय से निकाल दो और मुक्ति का मार्ग ग्रहण करो। जिस क्षण तक हृदय में विकारों की स्थिति रहती है, उस समय तक मुक्ति की कल्पना भी व्यर्थ है।[1]

उद्धव गोपियों से सायुज्य-मुक्ति के उसी स्वरूप का उल्लेख करते हैं, जिसे प्राणी विश्व-प्रपंच से अलग होकर शरीर त्याग कर प्राप्त करता है। वे अद्वैत-वेदांत-प्रतिपादित निरानन्द मुक्ति को ही स्वीकार करते हैं, किन्तु गोपियां उसके विरोध में जीवन-मुक्ति के पक्ष का समर्थन करती हैं। जीव का विनाश होने पर ब्रह्म के साथ तद्रूप होकर निरानन्द मुक्ति प्राप्त करने की गोपियों के सम्मुख कोई महत्ता नहीं। उनके अनुसार योग, संयोग, ज्ञान, वैराग्य तथा जीवन की समस्त क्रियाओं एवं साधनाओं का उद्देश्य जीव-सुख की प्राप्ति है, जिसे भक्ति-मार्ग में स्वीकार किया गया है। ज्ञानयोग की साधना द्वारा शरीर से विलग होकर यदि निरानन्द मुक्ति की प्राप्ति होती है और जीव किसी सुख का अनुभव नहीं कर पाता, तो वह मुक्ति व्यर्थ एवं मृत अवस्था के ही समान है।[2] भक्ति-योग और प्रेम-योग की जिस साधना को गोपियों ने अपनाया था और जिसे निर्गुणमार्गी उद्धव विषय-वासना मानते हैं, उसे गोपियां किसी प्रकार का विषय-विकार नहीं मानतीं। वे अपने प्रेम-योग और रस-रीति को साधना का सफल मार्ग मानती हैं।[3] ज्ञानयोग और भक्ति की परम्परा में विषय-विकार आदि के सम्बन्ध में भी अलग-अलग

---

१. बिरह बिकार कौं निकारौ उर अन्तर तें,
छांड़ि कें कुमति गहौ मारग मुकति कौ।
× × ×
बेद हू पुरान भेद चरचा बिचार देखौ,
बिषय भुअंग तोलौं मुकति न जानिये।

२. करनी तौ कीजै ऊधौ जीव ही के सुख काजै,
मुकति कहां है जहां जीव ही कौ नास है।
मुकति की दसा हरि दासनि मुकति देत,
आपुन करत केलि कमला निवास है।
तिनके बिहार कैसै कहिये बिकार ऊधौ,
सर्व सुख सार प्रेम प्रीति रस रास है।
मुकति की गति जैसैं बेसुध मृतक दसा,
जीवन मुकति सांचौ भगति बिलास है॥

३. बिषयी कहावै ठौर ठौर मन ल्यावै ऊधौ,
एकै मन ल्यावै सो तौ सुधा गुन गीति है।
सब कौं बिसार हिये हरि के बिहार बसैं,
सारन कौ सार तौ हमारैं रस रीति है॥

विचार व्यक्त किये जाते हैं। उपनिषदों ने विश्व एवं जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले प्रत्येक विषय को माया स्वीकार किया है और यहाँ तक कि वेद-शास्त्रों आदि को भी 'अपरा विद्या' मान लिया है; किन्तु भक्ति-परम्परा में भजन, कीर्तन आदि साधना की विशुद्ध एवं सही पद्धतियाँ हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञान-मार्ग जहां ब्रह्म को जानने तथा 'आत्मानं विद्धि' का सन्देश देता है, वहां भक्ति में सेवा-पूजा पर ही बल दिया जाता है। गोपियों ने कृष्ण को अपने आराध्य के रूप में माना था। वे उन्हें भूलकर अपने हृदय को किसी अन्य दिशा में नहीं ले जाना चाहतीं और 'मन की भरमना' को ही विषय-विकार मानती हैं। गोपियां उस परोक्ष सत्ता को भी युगल-स्वरूप में ही स्वीकार करती हैं। उनके अनुसार ब्रह्म-माया, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति, विष्णु-रमा, विरंचि-शारदा, ईश्वर-पार्वती की स्थिति अविच्छेद्य है। इसी प्रकार वे उस परोक्ष सत्ता के भी निर्गुण और सगुण दोनों ही रूप मानती हैं। यदि कोई व्यक्ति उसके किसी एकरूप को ही स्वीकार करता है, तो वह मूर्ख है। गोपियां ब्रह्म के निर्गुण-स्वरूप को साधना के लिए स्वीकार नहीं करतीं। उनके अनुसार यदि वह रूप-गुण से रहित और इन्द्रियानुभूति से परे है, तो उसके सम्बन्ध में कहना-सुनना और विचार करना ही व्यर्थ एवं असम्भव है। यदि वह ज्योति अथवा शून्य-स्वरूप नहीं, जड़ और चैतन्य कुछ भी नहीं, तो निर्गुण संज्ञा किसकी स्वीकार की जाती है। इस प्रकार की परिकल्पनाएं संसार को भ्रम में डाल देती हैं और इस दशा में जिस प्रकार छोटे-छोटे अबोध बालकों को आवश्यकता पड़ने पर 'हाहू' का भय दिखाया जाता है, ठीक उसी प्रकार समाज को आचरण की शुद्धता आदि के लिए लोगों ने निर्गुण ब्रह्म की भी कल्पना कर डाली है। प्रेमयोग की साधना में रीझने-खीझने आदि के जो आनन्द हैं, उनसे निर्गुण-ब्रह्म अपरिचित है। वेद-शास्त्र अविरल रूप से विचार करने पर भी उसके स्वरूप का निर्णय नहीं कर सके। इस प्रकार निर्गुण-ब्रह्म की कल्पना दार्शनिक वाद-विवादों के लिए तथा दूसरे मतों का खण्डन करने के लिए ठीक उसी प्रकार से की गयी है, जिस प्रकार शून्य को आकाश-तत्व के रूप में मान लिया गया है।

यहाँ तक तो दार्शनिक सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन का प्रश्न रहा। उपासना के सम्बन्ध में गोपियों के विचार विशेष रूप से उदार थे। श्री अक्षर अनन्य स्वयं ही किसी साधना-पद्धति का खण्डन करना उपयुक्त नहीं समझते थे और न उनकी रचनाओं में कबीर की भाँति अन्य मार्गों की आलोचना और भर्त्सना ही मिलती है। वे साधना की समस्त पद्धतियों के प्रति उदार थे और उनमें से किसी को सरल या कठिन भले ही मानते रहे हों, किन्तु किसी भी साधना-पद्धति को उन्होंने गलत नहीं माना। उनके यही विचार 'प्रेम-दीपिका' में भी मिलते हैं। गोपियों द्वारा

निर्गुण ब्रह्म तथा ज्ञानयोग-साधना का इतना अधिक खण्डन किये जाने पर उन्हें सन्देह होता है कि गोपियों के इन विचारों से उद्धव कुछ अन्यथा तात्पर्य न लें और उन्हें किसी साधना-पद्धति का निन्दक न मान बैठें। इसी के समाधान के लिए गोपियों ने अपने मत को स्वयं स्पष्ट कर दिया। उन्होंने कहा कि 'हे उद्धव, यदि तुम हमारे विचारों को सुनकर यह समझते हो कि हम निर्गुण-ब्रह्म और निर्गुण-उपासना की निन्दा करती हैं, तो यह तुम्हारी धारणा भ्रममूलक होगी। हम किसी की निन्दा नहीं करतीं, प्रत्युत ये सभी उपासना की विभिन्न पद्धतियां हैं। जिस प्रकार सूर्य-चन्द्र उस विराट् परमात्मा के दो समान नेत्र हैं, उसी प्रकार निर्गुण, सगुण तथा ज्ञान एवं भक्ति दोनों ही समान है; किन्तु जिस प्रकार चकोर का अनुराग चन्द्रमा के ही प्रति होता है, उसी प्रकार हमारा अनुराग ईश्वर के सगुण रूप के प्रति है।[१] लीलामय ईश्वर के अवतार श्रीकृष्ण के हमारे समीप और बीच में होते हुए भी उनसे प्रेम न कर निर्गुण-साधना की ओर जाना पवित्र गंगा के तट पर पानी पीने के लिए कुआं खोदने के समान व्यर्थ है।[२]

श्रीमद्‌भागवत में उद्धव के ब्रज-आगमन का उद्देश्य गोपियों को सान्त्वना देना था, अतएव उसमें उद्धव-सम्वाद का अन्त 'व्यपेत विरहज्वरः' में हुआ। गोपियों ने उद्धव की पूजा की और सम्मान के साथ विदा किया। सूरदास, नन्ददास तथा अक्षर अनन्य ने अपने ग्रन्थों में गोपियों के प्रेम-योग का ही समर्थन किया है। सूरदास के उद्धव स्वयं गोपियों के दास बन गये थे और उनका मन निर्गुण को भूलकर 'सगुन कौ चेरौ' हो गया था।[३] नन्ददास के उद्धव भी गोपियों के दर्शन से कृतकृत्य हो गये थे और उन्होंने अपने ज्ञान का मल दूर हुआ माना था।[४] 'प्रेम-दीपिका' में

---

१. जो पै कहौ ऊधौ तुम निर्गुन कौं निन्दत हौ,
निन्दत न यहै तौ उपासना की रीति है।
चन्द्र अरु सूर दोऊ नैन बिस्वरूप ही के,
तदपि चकोर चित्त चन्द्र ही सौं प्रीति है।
सर्गुन निगुन वासुदेव जू के रूप दोऊ,
हमरें सगुन रूप ही की जु प्रतीति है।
जीवत मरत जैसें तैसें सुख दुख सहैं,
हमरौ जनम नेम ऐही विधि बीति है।

२. खोजत हो जोग जगदीस के समीप बसि,
खोदत हो कूप कूल पावन सु गंग ते।

३. तुम मम गुरु मैं दास तुम्हारौ। भगति सुनाय जगत निस्तारौ॥
गयो तहां निर्गुन कहिबो कौ, भयो सगुन को चेरौ।

४. हौं तो कृतकृत ह्वै गयौ, इनके दरसन मात्र।
मैंटि मल ग्यान को।

भी उद्धव ने अपनी कृतार्थता प्रकट की है और उन्होंने मान लिया था कि प्रेम-योग की ऐसी अटल साधिका गोपियों के लिए योग का सन्देश व्यर्थ ही है। वह अपने को केवल पत्रवाहक के रूप में मानकर गोपियों से तर्क करने के लिए क्षमा मांगने लगे। उन्होंने स्पष्ट कहा कि जिस प्रकार पत्रवाहक के रूप में मैं श्रीकृष्ण का सन्देश तुम तक लाया हूं, उसी प्रकार तुम्हारा सन्देश श्रीकृष्ण तक पहुंचा दूंगा। इस पर गोपियों ने यही सन्देश दिया कि यदि श्रीकृष्ण हमें योग का सन्देश देते हैं, तो हम उसी को स्वीकार करेंगी। वे भक्ति, ज्ञान, ध्यान किसी भी मार्ग से ले चल सकते हैं। हम सभी मार्ग स्वीकार करने को प्रस्तुत हैं, किन्तु हमारे मतानुसार संयोग के समान कोई भी योग नहीं।[1] आत्मा और परमात्मा का मिलन ही योग का तात्पर्य है। प्रेम-योग के सम्बन्ध में 'प्रेम-दीपिका' का यह वर्णन अन्य भ्रमर-गीतों की अपेक्षा मौलिक और विशेष महत्त्वपूर्ण है।

'प्रेम-दीपिका' के उत्तरार्द्ध में बलराम का व्रज-आगमन तथा ग्रहण के अवसर पर इन्द्रप्रस्थ में श्रीकृष्ण और गोपी-मिलन का वर्णन किया गया है। उत्तरार्द्ध का यह वर्णन काव्य तथा कला की दृष्टि से साधारण है। उसमें भावों की नवीनता नहीं, और न उसको कोई कलात्मक रूप ही दिया गया है। केवल इतना समझा जा सकता है कि इन तीन घटनाओं को संयुक्त कर जो प्रबन्ध-काव्य का रूप दिया गया है, वही एक नवीनता है। ज्ञात होता है कि कृष्ण-जीवन के प्रेम-प्रसंगों का वर्णन एक साथ सम्बद्ध करने के उद्देश्य से ही 'प्रेम-दीपिका' को यह रूप दे दिया गया है।

'प्रेम-दीपिका' का प्रकाशन हिन्दुस्तानी एकेडमी, उत्तर प्रदेश से हो चुका है, जिसका सम्पादन रायबहादुर लाला सीताराम ने किया है। उसकी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'प्रेम-दीपिका' में गोपियों के वचन अन्य भ्रमर-गीतों के वाक्यों से कहीं बढ़े-चढ़े हैं। निश्चय ही भ्रमर-गीत की परम्परा में यह एक ऐसा काव्य है, जिसमें लालित्य और गाम्भीर्य तो है ही, साथ ही ज्ञानयोग एवं प्रेमयोग दोनों का ही अत्यन्त सूक्ष्म और आकर्षक वर्णन इसमें प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो उद्धव-गोपी-संवाद के रूप में उपासना-पद्धतियों का विवेचन ही अक्षर अनन्य का उद्देश्य था और उसमें वे पूर्ण सफल भी हुए हैं।

---

१. जोग कहौ हम जोग करैं संग, भक्ति कहौ हम भक्ति गुनैं हैं।
ग्यान कहौ हम ग्यान गहैं संग, ध्यान कहौ हम ध्यान उनैं हैं।
रीति भली जुग में अनरीति ही, तौ हम हू निज सीस धुनैं हैं।
नाही संजोग सौ जोग कहूं, कहुं नारिन सौं हठ जोग सुनैं हैं॥

६. शैव-शाक्त-तन्त्र : सिद्धान्त और साधना

हिन्दी साहित्य के अधिकांश विचारकों ने कबीर प्रभृति निर्गुण सन्तों को सारग्राही सन्तों के रूप में स्वीकार किया है; किन्तु डा० त्रिगुणायत ने साखियों तथा बानियों से कुछ पंक्तियां खोज निकाली हैं, जिनके आधार पर उन्होंने सिद्ध करने की चेष्टा की है कि चार्वाक से लेकर वल्लभ तथा चैतन्य तक सभी दर्शनाचार्यों का प्रभाव निर्गुण सन्तों पर पड़ा था। कर्मकाण्ड के मिथ्यात्व को तो सन्तों ने दूर से ही छोड़ दिया था, यौगिक गुह्य-साधना की जटिलता में उलझना भी उन्हें श्रेयस्कर प्रतीत नहीं हुआ। प्रायः सभी सन्तों ने अपनी बानियों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उनका प्रत्येक कथन उनके स्वयं के अनुभव पर आधारित है। सन्त-बानियों से भी यह स्पष्ट ही है कि दो-चार को छोड़कर शेष सन्तों ने पूर्व-प्रचलित दार्शनिक सिद्धांतों का न तो गहन अध्ययन किया था, और न उसकी आवश्यकता ही समझी थी। वस्तुतः सहजयान और सन्त-साहित्य में 'सहज' शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में किया जाता है, उसके आधार पर सहजानुभूति को निर्विकल्प समाधि के सन्निकट ही समझा जाना चाहिये। इसी सहज-समाधि को सन्तों ने साधना की चरम स्थिति के रूप में स्वीकार किया है और इसी को साधना की उपलब्धि भी कहा गया है। कबीर ने इसी सहज-समाधि को 'साईं से मिलन' तथा 'सुख दुख के इक परे परम पद', जो सन्त-साधना का प्राप्तव्य है, के रूप में स्वीकार किया है।[१] अनुभव-जनित सहज-ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने हेतु कबीरदास जी ने खरा-खोटा परखने का परामर्श भी दिया था :—

---

१. सन्तो, सहज समाधि भली।
साईं तैं मिलन भयौ जा दिन तें, सुरत न अन्त चली।
आंख न मूँदूँ कान न रूंधूँ, काया कष्ट न धारूं।
खुले नैन मैं हंस हंस देखूं, सुन्दर रूप निहारूं।
कहूँ सो नाम सुनूं सो सुमिरन, जो कछु करूं सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ, भाव मिटाऊं दूजा।
जहं जहं जाउं सोई परिकरमा, जो कछु करूं सो सेवा।
जब सोऊं तब करूं दण्डवत, पूजूँ और न देवा।
शब्द निरन्तर मनुआ राता, मलिन वचन कर त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न बिसरै, ऐसी तारी लागी।
कहै कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट कर गायी।
सुख दुख के इक परे परमपद, तेहि मां रहा समायी॥

—हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर, पद सं० ४१

खरा खोट जिन नहि परखाया।
चहत लाभ तिन्ह मूल गंवाया ॥[1]

सन्तों ने अपने पन्थ को 'अनभै सांच पंथ' की भी संज्ञा दी है, जिसका तात्विक अर्थ स्वानुभूति-जनित सत्य ही है। इसके साथ भयराहित्य का अर्थ सम्पृक्त कर देने में सन्तों का मूल उद्देश्य इस बात की ओर संकेत करना था कि सहज-साधना इतर साधनाओं के भय-प्रपंचादिकों से सर्वथा विरहित है। सन्त-मतानुसार अन्ततः स्वानुभूति ही सत्य है :—

जिहि हरि जैसा जांणियां, तिनकूँ तैसा लाभ।
ओसों प्यास न भाजई, जब लगि घसै न आभ।[2]

× × ×

कोऊ कहै ब्रह्म बड़ौ कोऊ कहै विष्नु बड़ौ,
कोऊ कहै रुद्र बड़ौ यहै टेक धरिबो।
बड़े बड़े देवनि की सुनिकैं बड़ाई ग्रन्थ,
आपु आपु थापि मठ आपुस में लरिबो।
'अक्षर अनन्य' जो पै आपुमें न करनी है,
बरबी विवाद करि कैसें पार परिबो।
छोटो है सो आपकौं है बड़ौ है सो आप ही कौं,
आप कौं तो हूहै फल जोई आप करिबो ॥[3]

सन्तों ने जिस करनी और अनुभव की श्रेष्ठता स्वीकार की है, वह मूलतः शाक्तागमों का प्रतिपाद्य विषय रहा है। निगम का प्रतिपाद्य विषय कर्म, उपासना और ज्ञान के तात्विक स्वरूप का मात्र विवेचन है तथा इनके साधन-भूत उपायों का विश्लेषण तन्त्र-साहित्य में ही प्राप्त होता है। अद्वैत वेदान्त तथा अन्य दर्शन विविध युक्तियों एवं तर्कों के सहारे उस परमतत्व को स्पष्ट करने में ही लगे रहे और उसके ज्ञान को ही मुक्ति के रूप में स्वीकार कर लिया गया; किन्तु शाक्तागमों ने इसकी प्राप्ति की व्यावहारिक योजना प्रस्तुत की है। यही कारण है कि तन्त्र-शास्त्र को 'साधना-शास्त्र' कहा जाता है। तान्त्रिक साधना का उद्देश्य प्रकृतितः क्रियात्मक रजोगुण की सहायता से सत्व गुण को जाग्रत करना है। शाक्त-दर्शन तथा तान्त्रिक साधना-सिद्धान्तों का उल्लेख यहां आवश्यक प्रतीत होता है एवं उससे स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि निर्गुण सन्तों ने तांत्रिक साधना-पद्धति को किस प्रकार अनजाने में ही अपना लिया था।

---

१ यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म वेद नेतरः।
२. कबीर-ग्रन्थावली (चतुर्थ सं०), पृष्ठ ६
३. अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १२-१

निगम तथा आगम ही भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के मूलाधार हैं। ज्ञान-मूलक प्रतिभा द्वारा उपार्जित सहज-ज्ञान अथवा आत्मानुभूति का प्रतिपादन निगम द्वारा किया गया है तथा तर्क, अनुभूति एवं व्यावहारिक साधना का प्रतिपादक अथच इस रीति से उस परमतत्व के साथ एकाकार होने का मार्ग ही आगम-शास्त्र है। व्यावहारिक रूप में 'निगम' वेद का सूचक है और 'आगम' तन्त्र-शास्त्र का। क्रिया ही तंत्रों की तथा तान्त्रिक साधना की विशेषता है। वैदिक ग्रंथों में निर्दिष्ट ज्ञान का क्रियात्मक रूप अथवा विधानात्मक आचार आगमों का विषय है। यद्यपि तंत्र-शास्त्र को अवैदिक अथवा वेद-बाह्य स्वीकार नहीं किया जाता, तथापि साधना और सिद्धान्त दोनो में ही किंचित् भेद होने के कारण तंत्र-शास्त्र का अपना अलग और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्री वाचस्पति मिश्र ने 'तत्व-वैशारदी' के भाष्य में आगम की व्याख्या करते हुए लिखा है :—'आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः' अर्थात् जिस शास्त्र के अनुशीलन से साधक को समस्त भौतिक सुख-कल्याण (अभ्युदय) तथा निःश्रेयस् (मोक्ष) के साधनभूत उपायों का ज्ञान सहज ही हो जाता है, वही आगम है। इसी प्रकार 'कामिक आगम' में शैव-सिद्धान्त-तंत्र की व्याख्या करते हुए लिखा गया है :-

> **तनोति विपुलान् अर्थान् तन्त्र मन्त्र समन्वितान्।**
> **त्राणं च कुरुते यस्माल् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥**

तर्क-विवेचना से संयुक्त शास्त्रीय ज्ञान, सत्य-तत्व का ज्ञान करानेवाले दार्शनिक सिद्धान्त तथा मन्त्र-यंत्रादि-संयुक्त साधना-सिद्धान्त, तीनों का समन्वित रूप ही तन्त्र है। उपर्युक्त दोनों ही व्याख्याओं से यह स्पष्ट है कि तंत्र-शास्त्र मात्र ज्ञानमूलक नहीं है, अपितु साधना एवं व्यवहार-पक्ष को भी वह समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानता है। इसके अतिरिक्त भी 'निगम' के समान वह केवल मोक्ष, निःश्रेयस् को ही महत्त्व नहीं देता, वरन् तंत्र की दृष्टि में अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनों ही समान रूप से साध्य हैं।

ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में तंत्र-मूलक साधना तथा तन्त्र-सिद्धान्तों का इतना व्यापक प्रचार था कि बौद्धों और जैनियों को भी अपने-अपने तंत्रों की रचना करनी पड़ी थी। बौद्ध और जैन-तंत्रों के अतिरिक्त हिन्दू अथवा ब्राह्मण-तंत्रों के तीन प्रकार हैं :—

१. **वैष्णव-आगम अथवा वैष्णव-तंत्र**
२. **शैव-आगम अथवा शैव-तंत्र**
३. **शाक्त-आगम अथवा शाक्त-तंत्र**

'कुलार्णव-तंत्र' में कहा गया है :—

कृते श्रुत्युक्त आचारास्त्रेतायाम् स्मृति सम्भवः ।
द्वापरे तु पुराणोक्तम् कलौ आगम केवलम् ।।

इस प्रकार के विश्वास ने भी तांत्रिक साधना को समाज में अत्यधिक प्रचलित कर दिया था ।

वैष्णव-तंत्र अथवा पांचरात्र-तंत्र में विष्णु-भक्ति की प्रधानता का ही प्रतिपादन है । सन्त-साहित्य के अनुशीलन से स्पष्ट है कि सन्तों ने अपने सिद्धान्तों में केवल विष्णु की महत्ता को ही अस्वीकार नहीं किया, प्रत्युत वे देव अथवा अवतारोपसना के घोर विरोधी थे । यद्यपि कबीर को रामानन्द का शिष्य कहा जाता है, किन्तु मेरा स्पष्ट मत है कि कबीर प्रभृति निर्गुण सन्त 'पांचरात्र-तन्त्र' के सिद्धान्तों तथा साधना-पद्धति से प्रभावित नहीं थे । पांचरात्र-तन्त्र में, उसके वेदमूलक होने के कारण, वैदिक यज्ञ-यागादि का आचरण तथा विधान सर्वथा मान्य समझा गया है । भगवान् नारायण में यह तन्त्र उत्पत्ति, स्थिति, विनाश , निग्रह तथा अनुग्रह पाँच शक्तियों का सतत निवास स्वीकार करता है । प्राणियों की दयनीय दशा से द्रवित होकर भगवान् के हृदय में अनुग्रह-शक्ति का स्वतः आविर्भाव होता है । इसके अतिरिक्त साधना के सम्बन्ध में वह निम्नांकित क्रियाओं की आवश्यकता का प्रतिपादन करता है :—

अभिगमन – उपास्य के सम्मुख होना ।
उपादान – पूजन की सामग्री एकत्र करना ।
इज्या – संगृहीत पूजन-सामग्री के द्वारा पूजा करना ।
अध्याय – स्तुति-ग्रंथों का पाठ तथा मनन ।
योग – अष्टांग योग की क्रियाओं का आचरण ।
प्रपत्ति – शरण में जाना ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सन्तों ने उपर्युक्त साधनभूत उपायों का अपनी बानियों में जगह-जगह खण्डन ही किया है, अतएव निर्गुण सन्तों पर 'पांचरात्र-तंत्र' का प्रभाव स्वीकार करने की कोई गुंजाइश दिखाई नहीं देती ।

शैव-तंत्रों में विविध विचारधाराएं प्राप्त होती हैं । 'पाशुपत' तथा 'सिद्धांती' द्वैत के समर्थक हैं, 'वीर-शैव' द्वैताद्वैती हैं तथा 'प्रत्यभिज्ञा दर्शन' पूर्णतः अद्वैतवादी है । शैव-सिद्धान्त का अधिक प्रचलन नहीं हो सका था तथा पाशुपत एवं वीर-शैव भी अधिक लोकप्रिय दर्शन प्रतीत नहीं होते । पाशुपत-मत का क्षेत्र

राजस्थान तथा गुजरात रहा है। इस मत के आद्य संस्थापक 'नकुलीश' अथवा 'लकुलीश' नामक आचार्य हुए, अतएव इस दर्शन को 'नकुलीश पाशुपत' भी कहा जाता है। इन्हें भगवान् शंकर का आद्य अवतार भी माना जाता है। इनकी जो मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं, उनके बायें हाथ में लगुड़ अथवा दण्ड तथा दायें हाथ में बीजपूर का फल रहा करता है और पूरा मस्तक केशावृत होता है। 'अथर्व शिरष्' उपनिषद् में सर्वप्रथम पशु, पाश, पशुपति, व्रत आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिसके आधार पर पाशुपत-मत को अत्यन्त प्राचीन स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत कतिपय विद्वान् प्रथम शताब्दी के आसपास आचार्य लकुलीश का समय मानते हैं।[1] यह भी मान्यता है कि इनका जन्म बड़ौदा राज्य के कायावरोहण (कारवान) नामक स्थान पर हुआ था। 'शिव पुराण' में इस स्थान के माहात्म्य का उल्लेख भी किया गया है। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ विक्रम के दो सौ वर्ष पश्चात् हुआ था। प्रारम्भिक काल में इस मत का अत्यधिक विरोध भी हुआ था और इसे अवैदिक मानकर यह भी कहा जाने लगा था कि इसके अनुयायी पापयोनि पुरुष हैं। श्रीमद्भागवत की एक कथा के अनुसार दक्ष प्रजापति द्वारा भगवान् शिव को शाप दिये जाने पर नन्दीश्वर ने दक्ष को भला-बुरा कहने के साथ कर्मकाण्ड तथा उसके अनुयायियों की घोर भर्त्सना की थी। इस पर क्रुद्ध होकर भृगु ने शैव मतानुयायियों को शाप दे दिया था कि जो व्यक्ति शिव की उपासना करते हैं अथवा शिव-भक्तों के अनुयायी हैं, वे सभी शास्त्र-विरुद्ध मार्ग पर चलनेवाले पाखण्डी हों; जो व्यक्ति शौचादि पवित्राचारों से भ्रष्ट हों, जो बुद्धि-भ्रष्ट हों, जटा, भस्म तथा हड्डियों को धारण करनेवाले हों, वही व्यक्ति शैव-सम्प्रदाय में दीक्षित हों तथा सुरा, आसव ही उन्हें देव-तुल्य प्राप्तव्य पदार्थ हों।[2] इससे स्पष्ट है कि इस मत का वैदिक ब्राह्मणों ने विरोध किया था। 'पाशुपत-मत' द्वैत का समर्थक है। इसके अनुसार १. कार्य, २. कारण, ३. योग, ४. विधि और ५. दुखांत, पांच मुख्य पदार्थ हैं।दु खांत ही मुक्ति है।

---

१. **बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन**

२. **भव व्रत धरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।**
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्र परिपन्थिनः॥
नष्ट शौचा मूढ़धियो जटाभस्मास्थिधारिणः।
विशन्तु शिव दीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम्॥

श्रीमद्भागवत, ४।२-२८-२९

'वीर-शैव मत' के अनुयायी 'लिंगायत' अथवा 'जंगम' नाम से पुकारे जाते हैं। इस मत का साहित्य संस्कृत में बहुत ही थोड़ा मिलता है तथा कन्नड़ भाषा में इसका विशेष साहित्य लिखा गया था। ये लोग शक्ति-विशिष्ट शिव तथा शक्ति-विशिष्ट जीव दोनों को एक-रूप मानने के कारण शक्ति-विशिष्टाद्वैत के ही समर्थक हैं। निष्काम-कर्म को इस दर्शन में साधना का विशिष्ट अंग माना गया है। उत्तर भारत में इस मत का अधिक प्रचार नहीं हो सका। "शैव-सिद्धान्त" नामक सम्प्रदाय दक्षिण भारत में अलग से प्रचलित हुआ था, जो द्वैत का समर्थक था। इसका भी अधिक प्रचार नहीं हो सका था। इनके अतिरिक्त भी 'माहेश्वर-सम्प्रदाय' की 'कालामुख' तथा 'कापालिक' दो और भी शाखाएं चली थीं, जो आज लुप्तप्राय हो चुकी हैं। उनका अधिक उल्लेख करना यहाँ समीचीन प्रतीत नहीं होता। शैव-तंत्र में 'रसेश्वर-सम्प्रदाय' का भी अपना विशिष्ट स्थान है। समस्त व्याधियों से मुक्त दिव्य-देह ही इस मत के अनुसार मुक्ति का एकमात्र साधन है। शरीर को व्याधिमुक्त बनाने हेतु पारद-सेवन ही मुख्य उपाय है। पारद का नाम ही रस है और इस मत के अनुसार रस ही ईश्वर है। रस के सेवन से ही जरा-मरणादि समस्त व्याधियों से प्राणी मुक्त हो जाता है तथा जीवन-मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है।

शैव परम्परा में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन सर्वाधिक प्रचलित तथा लोकप्रिय रहा है। यद्यपि इसके अनुवर्तन-अनुशीलन का मुख्य क्षेत्र कश्मीर रहा है, तथापि भारत के अधिकांश भागों में इसका विशेष प्रचार रहा है। बानवे आगमों में से 'सिद्धागम आगम' और 'मालिनी आगम' ही इस दर्शन के आधार-स्रोत हैं तथा पशु, पति एवं पाश, तीन विषयों का प्राधान्य होने के कारण इस दर्शन को 'त्रिक्‌दर्शन' के नाम से भी पुकारा जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इस मत का इतना अधिक प्रचार किया है कि उन्हें प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का शंकराचार्य माना जाता है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन तथा शाक्त-दर्शन में तत्ववाद तथा साधना दोनों ही दृष्टियों से इतना अधिक साम्य है कि कभी-कभी दोनों में अन्तर ज्ञात करना भी कठिन होता है। दोनों ही दर्शन अद्वैत के समर्थक हैं तथा दोनों के अनुसार शिव-शक्ति का सामरस्यरूप अद्वैत-परमेश्वर ही परमतत्व है। दोनों ही दर्शन भक्ति तथा ज्ञान के पूर्ण सामंजस्य को साधना का प्रमुख रूप मानते हैं। आचार्य शंकर अद्वैतवाद के समर्थक होते हुए भी माया को मिथ्या मानते हैं तथा ज्ञान को ही उनके दर्शन में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है; किन्तु प्रत्यभिज्ञा तथा शाक्त-दर्शन माया तथा ज्ञान को शंकर की दृष्टि से नहीं देखते। इस दर्शन में क्रिया का स्थान ज्ञान की अपेक्षा किसी भी प्रकार कम नहीं। हिंदी साहित्य के निर्गुण संतों पर, विशेषतया महात्मा अक्षर अनन्य पर शाक्त-दर्शन का ही सबसे अधिक प्रभाव पड़ा था; अतएव इसके सिद्धान्तों तथा साधना-पद्धति का अपेक्षाकृत विस्तार से विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है।

"तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तंत्रम्" अर्थात् जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार होता है, वही तंत्र है। तंत्र-शास्त्र द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के विस्तार में उसकी क्रियात्मक अनुभूति भी सम्मिलित है। तंत्र ज्ञान की भी उपेक्षा नहीं करता और इसी कारण 'कुल्लूक भट्ट' ने मनुस्मृति-भाष्य में लिखा है :—

वैदिकी तांत्रिकी चैव द्विविधा श्रुति कीर्तिताः।

श्रीमद्भागवत में भी वैदिक तथा तांत्रिक दो प्रकार के साधन-मार्गों का उल्लेख है। 'देवीभागवत' में तत्र-शास्त्र को वेद के ही एक अंग के रूप में स्वीकार किया गया है। 'तारा प्रदीप' में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि कलियुग में वैदिक धर्म के स्थान पर तांत्रिक धर्म का ही अनुसरण करना चाहिये। वामाचार, षट्कर्म तथा पंचमकार-जैसे शब्दों का तात्विक अर्थ न समझे जाने के कारण अथवा गलत समझे जाने के कारण शाक्त-तंत्रों के सम्बन्ध में सामान्य व्यक्ति की धारणा गलत हो गयी है, अन्यथा तांत्रिक साधना जाने-अनजाने रूप में सर्वाधिक प्रचलित है। सच तो यह है कि जिन व्यक्तियों ने तंत्र-शास्त्र का अध्ययन और मनन किया है, वे तो उससे प्रभावित हुए ही हैं और जिन्होंने उसका अध्ययन करने का विचार ही नहीं किया, वे व्यक्ति तांत्रिक दर्शन से और भी अधिक प्रभावित हैं। यह सत्य है कि कतिपय शाक्त-सम्प्रदायों ने साधना को विकृत किया है, किन्तु इससे भी अधिक सत्य यह है कि मद्य, मांस, मुद्रा, मीन, मैथुन-जैसे शास्त्रीय शब्दों का तात्विक अर्थ समझने की तकलीफ लोगों ने गवारा नहीं की। तंत्र-शास्त्र लगातार गुरु की महत्ता तथा आवश्यकता पर जोर देता रहा, तथापि उसकी ओर ध्यान न देकर उसके सिद्धान्तों का मनमाना अर्थ लगाने में लोगों ने संकोच नहीं किया।

शब्द-ब्रह्म-मूर्ति को निगमादिशास्त्रमय कहा जाता है और आगम को ही उस मूर्ति का परमात्मा स्वीकार किया गया है। चारों वेदों को उसकी जीवात्मा, षड्दर्शनों को इन्द्रियां, पुराण, उप-पुराणों को शरीर, स्मृतियों को हाथ-पैर तथा अन्य शास्त्रों को उसका केशपाश माना जाता है। 'कुलार्णव-तंत्र' में कहा गया है कि कौलधर्म अथवा 'कुलधर्म' वेद-प्रतिपादित सत्य पर ही आधारित है।[1] तंत्र को पंचम वेद तथा 'कौलाचार' को सन्यास से भी परे पंचम आश्रम के रूप में स्वीकार किया गया है। 'मत्स्य सूक्त महातन्त्र' में कहा गया है कि तांत्रिक साधक को शुद्धात्मा होने के साथ-साथ वेद का पूर्ण ज्ञाता होना आवश्यक है तथा वेद-क्रिया-विवर्जित पुरुष को तांत्रिक साधना का पात्र नहीं माना गया है। षड्दर्शनों को इन्द्रियों के रूप में स्वीकार करने के

---

१. तस्मात् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलात्मकं प्रिये।

—कुलार्णव-तंत्र

साथ ही 'कुलार्णव-तंत्र' में शिव ने यह स्पष्ट कहा है कि दर्शनों का अनुसरण करनेवाला साधक केवल मेरी इन्द्रियों तथा शरीरांगों की ही उपासना करता है।

'सम्मोहन तंत्र' के अनुसार शाक्त-तंत्रों की संख्या ६४ है। इनके ३२७ उपतंत्र, ८ यमल, ४ डामर, २ कल्पलता तथा अनेक संहिताएं हैं। शैव-तंत्रों की संख्या ३२ कही जाती है तथा इनके भी अलग-अलग डामर, यमल आदि हैं। 'गायत्री तंत्र' के अनुसार सर्वप्रथम गणेश ने तंत्र-शास्त्र का उपदेश प्राप्त किया; तत्पश्चात् उन्होंने समस्त देवताओं को इसका उपदेश दिया था। 'महानिर्वाण तंत्र' में शिव ने पार्वती के प्रश्नों के उत्तर में तंत्र-सिद्धान्तों के रहस्य को व्यक्त किया। आगमों की उत्पत्ति भगवान् शिव के मुख-पंचकों से मानी जाती है और इस प्रकार मुख्य रूप से पांच 'आम्नाय' माने जाते हैं। पूर्वाम्नाय में अज्ञान की अवस्था रहती है और आराध्य-देव को स्वामी मानकर आराधक स्वयं के दास होने की कल्पना करता है। वह स्वयं को 'पापोऽहं पाप कर्माहं'-जैसा मानकर मुक्ति हेतु प्रार्थना करता है। दक्षिणाम्नाय से ज्ञान की भूमिका का प्रारम्भ होता है। पश्चिमाम्नाय ज्ञान के उत्तरार्द्ध की स्थिति है तथा इस स्थिति में साधक इष्ट देवता से स्वयं को अभिन्न मानता है। पर, अपर, परापरमय सभी कुछ साधक स्वयं होता है। उत्तराम्नाय ज्ञान की पूर्णता की स्थिति है। ऊद्ध्वम्निाय की स्थिति ज्ञान-भूमिका की पराकाष्ठा है। इस स्थिति में पहुंचकर साधक स्वयं सच्चिदानन्द-स्वरूप ही होता है।

'परशुराम कल्पसूत्र' में इन आम्नायों के सम्बन्ध में और भी विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। उसके अनुसार पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप मंत्रयोग, दक्षिणाम्नाय स्थितिरूप भक्तियोग, पश्चिमाम्नाय संहाररूप कर्मयोग तथा उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप ज्ञानयोग है। इनके अतिरिक्त एक और आम्नाय का भी संकेत मिलता है, जिसे गुप्त आम्नाय—सहजावस्था माना जाता है। तंत्र-दर्शन में साधकों की तीन श्रेणियां मानी गयी हैं—पशु, वीर तथा दिव्य। इनका उल्लेख आगे किया गया है। यहां 'निरुत्तर तंत्र' में निर्दिष्ट आम्नाय-साधकों के पारस्परिक सम्बन्ध की ओर संकेत करना ही लक्ष्य है। इस तंत्र में पूर्व तथा दक्षिण आम्नाय पशु-साधकों के लिए, पश्चिमाम्नाय पशु तथा वीर दोनों के लिए, उत्तराम्नाय वीर तथा दिव्य-साधकों के लिए और ऊद्ध्वाम्नाय केवल दिव्य-साधकों के लिए ही कहा गया है।[1]

---

१. पूर्वाम्नायोदितं कर्म पाशवं कथितं प्रिये।
पश्चिमाम्नायजं कर्म पशु वीर समाश्रितम्।
उत्तराम्नायजं कर्म दिव्य वीराश्रितं प्रिये।
ऊद्ध्र्वाम्नायोदितं कर्म दिव्य भावाश्रितं प्रिये॥

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन तथा शाक्त-दर्शन, दोनों ही अद्वैतवाद के समर्थक हैं। दोनों के मतानुसार शिव-शक्ति का सामरस्यरूप ही अद्वय परमेश्वर अथवा परब्रह्म है। वास्तव में शिव तथा शक्ति में कोई भेद नहीं। मूलतः वह एक ही तत्व है :—

शिव शक्तिरिति ह्येकं तत्वमाहुर्मनीषिणः।

इस सामरस्य की अवस्था में अनादि शक्ति परमशिव के साथ अद्वय-रूप होकर ही रहती है। आगम-शास्त्र में परमशिव की अद्वय अवस्था ही पूर्णता की चरम अवस्था मानी गयी है। शिव-तत्व प्रकाशरूप है। इस प्रकाश की जो आत्म-विश्रान्ति है अर्थात् अहं रूप से जो विमर्षन है, वही शक्ति है। परमशिव-तत्व अखंड प्रकाशरूप अथवा चिद्रूप है। चित् ही सत् है तथा सत् ही चित् है। द्वितीय की अपेक्षा न होते हुए अथवा न होने के कारण यह आनन्दमय भी है। इस प्रकार सत्, चित् तथा आनन्द में कोई भेद नहीं। वह परमतत्व सत् के प्रति चैतन्य तथा सत्-चित् होने के कारण आनन्दमय नहीं, प्रत्युत सच्चिदानंद-रूप है। यह सत्ता स्वातंत्र्य-मय है।[1] वस्तुतः यह स्वातन्त्र्य ही शाक्त-दर्शन का प्राण माना जाता है। यदि इस स्वातन्त्र्य का स्वाभाविक गुण उस तत्व में न हो, तो शाक्त-दर्शन का आधार ही समाप्त हो जायगा। इसी स्वातन्त्र्य का प्रभाव है कि वह परमतत्व अद्वय-रूप में स्थित रहते हुए भी स्वतः द्वितीय का स्फुरण कर सकता है तथा निस्पंद होते हुए भी स्पंदनशील हो सकता है। शिव और शक्ति तत्वतः एक होते हुए भी शक्ति के बिना शिव इच्छा-हीन, ज्ञानहीन और क्रियाहीन हो जायगा। यही कारण है कि उस परमशिव की मूलतः इच्छा, ज्ञान और क्रिया, तीन शक्तियां मानी गयी हैं। ज्ञानमार्गी अद्वैत-शिव को परमशिव तथा उपासनामार्गी अद्वैत-शक्ति को परमशक्ति के नाम से अभिहित करते हैं। अद्वय होने के कारण शिव ही शक्ति है और शक्ति ही शिव है। प्रकाश-रूप शिव किसी भी अवस्था में विमर्ष-शक्ति से अलग नहीं होता तथा उसी प्रकार विमर्ष-शक्ति भी प्रकाश को छोड़कर उससे अलग नहीं होती :—

त्वं यथा शिवमयी तथा शिवस्त्वन्मयोहि शिवयोरभेदिनोः।[2]

शक्ति के स्फुरण से ही विश्व का उदय होता है। विश्व की स्थिति और लय भी शक्ति-स्फुरण के ही परिणाम हैं। वस्तुतः शाक्त-दर्शन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति नहीं होती। इसके अनुसार 'इदं'-रूप जगत् 'अहं'-रूप परमतत्व से अलग तथा शंकर-प्रतिपादित माया उद्भूत जगत् की भांति

---

१. **चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः।** —प्रत्यभिज्ञा हृदय

२. **सिद्ध महेश्वरानन्द : कोमल वल्लीस्तव**

मिथ्या नहीं है, वरन् शक्ति का मात्र स्फुरण होने के परिणामस्वरूप 'इदं'-रूप जगत् भी 'अहं'-रूप परमतत्व के समान सत्य है। कारण में कार्य सूक्ष्म रूप से उसी प्रकार वर्तमान रहता है, जिस प्रकार बीज में वृक्ष। 'इदं'-रूप जगत् भी उस परमशक्ति में सदा-सर्वदा विद्यमान रहता है। वस्तुतः प्रकाश-रूप परमशिव की विमर्ष-शक्ति अपने सूक्ष्म रूप में चिद्रूपिणी है तथा स्फुरण के पश्चात् स्थूल रूप में दृश्य-जगत् का रूप धारण कर लेती है। चिद्रूपिणी शक्ति का स्फुरण होने के कारण विश्व की सत्ता भी सत्य ही है। शांकर-वेदान्त ईश्वर और जगत् के बीच में दूसरा ही सिद्धांत स्वीकार करता है, किन्तु शाक्त-दर्शन के अनुसार जगत्कर्त्री शक्ति और सृष्टि के बीच कोई बाहर से जोड़ा गया अथवा आरोपित सम्बन्ध नहीं है :—

> "सृष्टि स्थिति संहारमेलन रूपेयं तुरीया संविद्भट्टारिका
> तत्तत्सृष्ट्यादिभेदानुद्वमन्ती संहरन्तीच सदा पूर्णा च कृशा
> चोभयरूपा चानुभयरूपा चाक्रमेव स्फुरन्ती स्थिता।"

स्थूल रूप से जो जगत् हमें दिखाई देता है, वह प्रकाश-रूप तत्व से स्वयं उसी की स्वातन्त्र्य-शक्ति से कल्पित बाह्य इन्द्रियगोचर सत्तामात्र है। शाक्त-दर्शन जल तथा उसका घनीभूत रूप बर्फ का उदाहरण इस सम्बन्ध में प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत करता है। जिस प्रकार जल और बर्फ में रूपगत भेद के अतिरिक्त तत्वतः कोई भेद नहीं, उसी प्रकार ज्ञान-शक्ति और ज्ञेय में कोई अन्तर नहीं रहता। ज्ञान और ज्ञेय में पृथकत्व केवल अविद्या के कारण ही प्रतीत होता है। यह अविद्या भी उसी शक्ति का रूप है; अतएव वेदान्त-दर्शन की माया की भांति वह मिथ्या नहीं है। सृष्टि के बीज-रूप तथा सृष्टि-रूप होने के कारण ही शक्ति को विश्वात्मिका-शक्ति तथा विश्वोत्तीर्णा-शक्ति कहा जाता है। विश्वात्मिका रूप में वह समस्त जगत् में व्याप्त तथा विश्वोत्तीर्णा के रूप में समस्त पदार्थों से परे रहती है।

शिव के साथ नित्य ही अद्वय-रूप में स्थित पराशक्ति जब आत्मा की स्फुरणा देखने की इच्छा करती है, तब सृष्टि का उदय होता है। सिसृक्षा के उत्पन्न होने के साथ ही वह शक्ति शिव से अथवा स्वयं से अविभक्त रहते हुए भी विभक्त के समान प्रतिभासित होती है। यहीं से शाक्त-दर्शन के तत्ववाद का प्रारम्भ होता है। इसके अनुसार ३६ तत्व माने जाते हैं। ये छत्तीस तत्व शिव-तत्व, विद्या-तत्व तथा आत्म-तत्व, तीन भागों में विभक्त हैं :—

शिव-तत्व—१. शिव, २. शक्ति;

विद्या-तत्व—३. सदाशिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्ध-विद्या;

आत्म-तत्व—६. माया, ७. कला, ८. विद्या, ९. राग, १०. काल, ११. नियति, १२. पुरुष (जीव), १३. प्रकृति, १४. बुद्धि, १५. अहंकार, १६. मन,

१७. श्रोत्र, १८. त्वक्, १९. चक्षु, २०. जिह्वा, २१. घ्राण, २२. वाक्, २३. पाणि, २४. पाद, २५. पायु, २६. उपस्थ, २७. शब्द, २८. स्पर्श, २९. रूप, ३०. रस, ३१. गन्ध, ३२. आकाश, ३३. वायु, ३४. तेज, ३५. जल, और ३६. पृथ्वी।

शिव-शक्ति-तत्व के सम्बन्ध में ऊपर लिखा जा चुका है। सृष्टि के उदय होने के पश्चात् शिव के दो रूप हो जाते हैं। एक रूप में वह स्वयं को तथा इदं-रूप जगत् को अभिन्न मानता है। वह यही मानता है कि यह दृश्य-जगत् मैं ही हूं। इसी को 'सदाशिव'-तत्व कहा जाता है। अपने दूसरे रूप में वह स्वयं को जगत् से अलग मानकर 'यह मैं हूं' तथा 'मुझसे भिन्न यह जगत् है', इस प्रकार मानता है। जगत् को अपने से भिन्न रूप में देखनेवाला तत्व ही 'ईश्वर' है। इस प्रकार जगत् को अपने से अभिन्न और भिन्न मानने की दो दशाएं होती हैं। अभेद के मूल में 'शुद्ध-विद्या' तथा भेद के मूल में 'माया'-तत्व ही कार्य करता है। अभेदमूलक तत्व शुद्ध-विद्या के आच्छादन के परिणाम-स्वरूप ही 'अहं' तथा 'इदं' में भेद प्रतिभासित होता है। इस आच्छादक तत्व को ही अविद्या कहा जाता है। इसी को 'विद्या' नाम से भी अभिहित किया गया है। अविद्या से आवृत होने पर ज्ञान-रूप शिव अपने को सर्वज्ञ न मानकर अल्पज्ञ समझने लगता है तथा सर्वकर्तृत्व-शक्ति भूलकर स्वयं को किंचित्-मात्र करनेवाला मानने लगता है। यही 'कला'-तत्व है। नित्यतृप्ता का अपूर्णतृप्ता अथवा अतृप्ता होना ही 'राग'-तत्व है। नित्यत्व का संकोच और सीमित हो जाना ही 'काल'-तत्व है तथा सर्वव्यापकता का संकीर्ण एवं सीमाबद्ध होना ही 'नियति'-तत्व है।

यहां यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि 'अहं' तथा 'इदं' के मध्य भेद मूलतः माया-तत्व के द्वारा ही उत्पन्न होता है; किन्तु यह भी स्मरणीय है कि इस भेद की स्थिति के उत्पन्न होने पर भी वह परमतत्व अपने रूप से विच्छिन्न नहीं होता। सत्-चित्-रूपा शक्ति की सिसृक्षा के उपरान्त स्वयं उसी से विच्छिन्नवत् प्रतिभासित कराने का कार्य माया के पश्चात् विद्या, कला, राग, काल तथा नियति-तत्वों के द्वारा किया जाता है। तांत्रिक शब्दावली में इन्हें 'पंचकंचुक' कहा जाता है। इन्हीं पंच-कंचुकों से आबद्ध अथवा आवृत शिव जीव-रूप में प्रकट होते हैं। इस प्रकार जीव उस परमतत्व का ही अंश है, जो मूलतः उस सत्ता के साथ अभेद-रूप में होते हुए भी माया तथा पंचकंचुकों के आवरण के कारण उससे अलग-जैसा प्रतिभासित होता है। उपर्युक्त ग्यारह तत्व ही ऐसे तत्व हैं, जिन्हें शाक्त-शैव-दर्शन ने सांख्य-दर्शन में स्वीकृत पच्चीस तत्वों से अधिक एवं उनसे भी परे स्वीकार किया है। शेष पच्चीस तत्व वही हैं, जिन्हें सांख्य-दर्शन मानता है।

सिसृक्षा के पश्चात् भी शिव तथा शक्ति-तत्व पूर्ववत् सत्-चित्-आनन्द-रूप ही रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें 'शिव-तत्व' की संज्ञा दी गयी। सदाशिव और ईश्वर रूप में परमतत्व सत्-चित्-रूप में स्थित रहता है; किन्तु उसका आनन्द-रूप आवृत हो जाता है। शुद्ध-विद्या 'अहं' तथा 'इदं' के बीच एकरूपता बनाये रखती है; अतएव इन तीन को विद्या-तत्व कहा जाता है। इसके पश्चात् सभी तत्वों में आनन्द और चिद्रूप दोनों ही आवृत हो जाते हैं तथा सत्-रूप ही विद्यमान रहता है, अतएव उन्हें आत्म-तत्व–जड़ शरीर का आत्म-तत्व–कहा जाता है। सिसृक्षा-संयुत शक्ति त्रिगुणात्मिका है। उसी के कारण सत्व, रज, तम तीनों गुण पुरुष अथवा जीव में भी विद्यमान रहते हैं। जब ये तीनों गुण न्यूनाधिक रूप में न रहकर साम्यावस्था में रहते हैं, उसी को प्रकृति कहा जाता है। अन्तःकरण में इन तीनों गुणों की न्यूनाधिकता होती ही रहती है। जब रजोगुण की प्रधानता होती है, तभी मनस्तत्व का उदय होता है। मन संकल्पात्मक है। सत्व गुण की प्रधानता तथा शेष दो गुणों की न्यूनता की स्थिति ही बुद्धि-तत्व है। बुद्धि ही निश्चयात्मक ज्ञान का हेतु है। इसी प्रकार जब तमोगुण प्रधान होता है और सत्व तथा रजोगुण की न्यूनता रहती है, तब अहंकार-तत्व का उदय होता है।

स्पष्ट है कि परमशिव अथवा आद्या-शक्ति ही स्वातन्त्र्यमूलक सिसृक्षा के परिणाम-स्वरूप जगत् का रूप धारण करती है। शक्ति के स्फुरण-विस्तार तथा विश्व-सृष्टि में तत्वतः कोई अन्तर नहीं। इस प्रकार जब यह सिद्ध है कि यह जगत् आद्या-शक्ति का ही विस्तृत और व्यापक रूप है, तब यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शिव-शक्ति-तत्व के समस्त गुण-धर्म स्वभावतः जगत् में भी विद्यमान हैं। यह भी संकेत किया जा चुका है कि जीव तथा देह भी शक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं; अतएव सूक्ष्म-रूप शिव-शक्ति से लेकर स्थूल-रूप विश्व तथा देह पर्यन्त एक ही गुण-धर्मों का विद्यमान होना स्वतः सिद्ध है। जो तत्व शिव-शक्ति में है, वही ब्रह्माण्ड में तथा वही पिण्ड में भी विद्यमान है।

शिव-शक्ति-रूप अद्वय चित्-शक्ति ही परमात्मा के नाम से अभिहित की जाती है तथा मन-बुद्ध्यादि तत्वों से युक्त परमात्मा ही जीवात्मा है। जीवात्मा स्थूल देह का आश्रय लिये बिना नहीं रह सकती; अतएव जीवात्मा के साथ शरीर की सृष्टि भी अनिवार्यतः होती ही है। देह भी प्रकृति-शक्ति का ही व्यापार है। विश्व-विस्तार को बृहद् ब्रह्माण्ड कहे जाने के साथ जीवात्मा को क्षुद्र ब्रह्माण्ड कहा जाता है :—

'ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति ते हि सन्ति कलेवरे।'

कुण्डलिनी-साधना के सन्दर्भ में षट्चक्रों का जहां उल्लेख किया जाता है, वहां शरीरस्थ षट्चक्रों के साथ ही निम्न प्रकार से लोकों की कल्पना भी की गयी है :—

सहस्रार	सत्यलोक
आज्ञा	तपलोक
विशुद्धि	जनलोक
अनाहत	महःलोक
मणिपूर	स्वःलोक
स्वाधिष्ठान	भुवःलोक
मूलाधार	भूःलोक

मूलाधार के नीचे ही नरकों की स्थिति मानी जाती है; अस्थियां ही पर्वत हैं; नाड़ियां ही नदियां हैं; सप्त धातुएं ही सप्तद्वीप हैं; स्वेद, अश्रु आदि ही समुद्र हैं, सुषुम्ना नाड़ी तथा मणिपूर चक्र में अग्नि का निवास है; प्राणापान वायु ही वायु है तथा आकाश-तत्व ही आकाश है। पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की एकरूपता के कारण 'प्रपंच' शब्द से देह की अभिव्यक्ति भी की जाती है। "योग दीपिका" में कहा गया है :-

अण्डेतु ये प्रपंचाः स्युः पिण्डे ते च प्रतिष्ठिताः।
लघुत्वं गुरुताश्चर्तं न भेदस्त्वण्डपिण्डयोः ॥

"सौन्दर्य लहरी" के 'डिण्डिम'-भाष्य, श्लोक १० की व्याख्या में पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड की एकरूपता को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि पृथिव्याण्ड में लोकालोक गिरि हैं, पिण्ड में त्वचा है; अण्ड में समुद्र, पिण्ड में रक्त; अण्ड में गंगादि नदी, पिण्ड में इड़ा-पिंगलादि नाड़ियां; अण्ड में तिमिर-निवारण हेतु सूर्यादि नवग्रह, पिण्ड में देह-प्रकाशक एकादश इन्द्रियां हैं। इस प्रकार अण्ड-प्रपंच तथा पिण्ड-प्रपंच में कोई भेद नहीं।[1]

तंत्र-शास्त्र में भुवनों की संख्या अनन्त मानी गयी है। यद्यपि इनके अलग-अलग देवताओं की भी कल्पना की गयी है, तथापि यह मान्य है कि वे सभी

---

१. अण्डे लोकालोक गिरिः पिण्डे त्वचः। अण्डे जलधिः पिण्डे रक्तम्। अण्डे गंगादि नद्यः पिण्डे इड़ा-पिंगलादि नाड्यः। अण्डे भास्करादिनवग्रहाः तिमिर-निराकरणार्थं देहप्रकाशकाः पिण्डे एकादशेन्द्रियाणि, अण्डे ब्रह्म पिण्डे नमः, अण्डे महामेरुः पिण्डे हृदयमलम्। अण्डे पर्वताः पिण्डेऽस्थीनि। अण्डे तदभिमानी जीवात्मा पिण्डे देहाभिमानी जीवात्मा। अण्डे सहस्रचतुर्युगाकारदिवसावसाने सहस्रचतुर्युगाकारसर्वनिशायाम् अवान्तरप्रलयजलप्लावनरूपा ब्रह्मणो निद्रा, पिण्डे दिवसावसाने रात्रौ निद्रा। अण्डे रात्रेरनन्तरम् उत्थानपर्यन्तं वर्तमानान्येव सूर्यादिनवग्रहचक्रेन्द्रियाणि प्रकाश्यन्ते, पिण्डे प्रबोधानन्तरमिन्द्रियप्रचारः। एवं सर्वत्र चिन्त्यमाने अण्डप्रपंचपिण्डप्रपंचयोरैक्यमेवेति योगशास्त्र-हृस्य प्रख्यापनाय प्रपंचशब्देन देहस्याभिधानम्।

देवता शक्ति के ही रूप हैं और यह सब कुछ चित्-शक्ति की प्रकृति-शक्ति का ही व्यापार है। तत्वों का उल्लेख करते समय संकेत किया जा चुका है कि सत्व, रज, तम त्रिगुण की साम्यावस्था का ही नाम प्रकृति है तथा इन गुणों में न्यूनाधिक रूप में वैषम्य उत्पन्न होने के परिणामस्वरूप विश्व में वैविध्य दिखाई देता है। यह गुण निरंतर परिवर्तनशील है। गुण-क्षोभ ही सृष्टि का प्रारम्भ है। चूंकि सृष्टि गुण-क्षोभ का परिणाम है, अतएव उसे विकृति भी कहा जाता है, जो उस अव्यक्त तत्व का ही व्यक्त रूप है। 'कुलार्णव-तंत्र' के अनुसार जीव अष्टपाशों-१. दया, २. मोह, ३. भय, ४. लज्जा, ५. घृणा, ६. कुल, ७. शील, ८. वर्ण से बद्ध रहता है, अतएव उसे 'पशु' भी कहा जाता है। सदाशिव इन पाशों से मुक्त रहने के कारण 'पशुपति' कहे जाते हैं।

कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल-भेद के अनुसार शरीर तीन प्रकार का माना जाता है। सूक्ष्म तथा स्थूल-शरीर की कारणभूत प्रकृति अथवा अविद्या-शक्ति ही कारण-शरीर है। सूक्ष्म-शरीर की रचना बुद्धि, मन, अन्तःकरण, पंच तन्मात्राओं, पंच ज्ञानेन्द्रियों एवं पंच कर्मेन्द्रियों से मानी जाती है। यह नित्य अथवा विभु नहीं, अतएव इसे अणु-परिमाण भी कहा जाता है। मुक्ति प्राप्त होने अथवा जीवात्मा के चित्स्वरूप परमात्मा में लीन होने पर ही सूक्ष्म-शरीर का अन्त होता है।

वेदान्त में जिसे 'अन्नमय कोष' कहा जाता है, वही स्थूल-शरीर है। इसकी रचना तीन दोष, सप्त-धातु तथा पंच-भूतों के द्वारा होती है। चित्-शक्ति जीव-रूप में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीन ही अवस्थाओं में रहती है। जाग्रत अवस्था में जीव-रूप परमशिव स्थूल-शरीर के माध्यम से ही आनन्द की अनुभूति करता है, स्वप्नावस्था में स्थूल-शरीर के निष्क्रिय होने पर भी इन्द्रियां अपना कर्म करती हैं, अतएव इन्द्रियों के द्वारा ही आनन्दानुभूति होती है। सुषुप्ति अवस्था में समस्त इन्द्रियों के भी संज्ञाहीन हो जाने के कारण वह स्वयं अपनी शक्ति से ही आनन्द प्राप्त करता है, अतएव जीव को जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति-अवस्था में क्रमशः बहिर्भुक, प्रविवेकभूक तथा प्रज्ञाघन कहा जाता है। सुषुप्ति-अवस्था में भी जीव प्रकृति-शक्ति के साथ ही रहता है, अतएव इससे भी परे की स्थिति 'तुरीयावस्था' को स्वीकार किया गया है। इससे भी परे 'उन्मेषावस्था' मानी गयी है, जिसमें जीव प्रकृति-शक्ति से भी ऊपर परमशिव की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

शांकर-वेदान्त माया को मिथ्या मानता है, किन्तु शाक्त-आगमों में उसे मिथ्या अथवा जड़-रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। परमशिव जिस आद्या-शक्ति के साथ अद्वय-रूप में स्थित है, वह उससे भिन्न तत्व नहीं, वरन् स्वयं परमशिव का ही रूप है। इस प्रकार शाक्त-दर्शन के अनुसार परमतत्व किसी अन्य तत्व के

साथ नहीं, प्रत्युत अपने साथ है। यही आद्या-शक्ति के रूप में चित्-शक्ति और माया-शक्ति के रूप में स्वयं ही अपना आवरण है। शक्ति और शक्तिमान् में कोई अन्तर नहीं, अतएव माया-शक्ति को सृजनादि कार्य हेतु चित्-शक्ति की उपादान-कारणभूत-शक्ति माना जाता है। शाक्त-दर्शन यह भी स्वीकार करता है कि सत्य से सत्य की उत्पत्ति होती है, अतएव शिव-शक्ति के द्वारा उत्पन्न यह सृष्टि भी सत्य ही है। अहं (मैं) और इदं (जगत्) का जो रूप दिखाई देता है, वह बीज रूप में पहले से ही शिव-शक्ति में विद्यमान है। परमशिव की विमर्ष-शक्ति सूक्ष्म रूप से चिद्रूपिणी तथा स्थूल रूप से विश्वरूपिणी है। दृश्य-जगत् में हमें जो कुछ दिखाई देता है, वह कारण-रूप शक्ति का ही विस्तार है। उसमें यह सब कुछ यदि पहले से विद्यमान न होता, तो बाहर भी दिखाई देना सम्भव न होता। समस्त जीवों की तथा जगत् की स्थिति का भी कारण यही है कि वह तत्व सत् है, हमारा समझना-बूझना उसके चित्-स्वरूप के कारण है तथा हर्ष-विषाद की अनुभूति भी उसके आनन्द-रूप होने के कारण ही होती है। विश्वोत्तीर्णा चिद्रूपिणी विमर्ष-शक्ति दृश्य-प्रपंच से परे रहकर परमशिव के साथ रहती है, अतएव इसी को शिव-शक्ति का 'निष्कल' रूप कहा जाता है। इस चिद्रूपिणी विमर्ष-शक्ति को निषेध-व्यापार-रूपा शक्ति भी कहा जाता है। माया-शक्ति के कारण प्रकाश-रूप—अहं—तथा विमर्ष-शक्ति—इदं—के बीच में भेद दिखाई देता है। इसी कारण माया-शक्ति को ही भेद-बुद्धि कहा जाता है।

परमतत्व की दो शक्तियां हैं—प्रकाश एवं विमर्ष। सृष्टि-व्यापार विमर्ष-शक्ति का स्फुरण, विस्तार है; अतएव शिव-शक्ति एवं जगत् अलग-अलग नहीं, वरन् एक परमतत्व के ही रूप हैं। सांख्य-दर्शन जिसे पुरुष और प्रकृति तथा वेदान्त ब्रह्म और माया कहता है, उसी को शाक्त-दर्शन में शिव और शक्ति के नाम से अभिहित किया गया है। वेदान्त-दर्शन में आत्मा और परमात्मा के बीच अभेद की स्थिति स्वीकार किये जाने पर भी जो भेद दृष्टिगोचर होता है, उसे आवरण तथा विक्षेप की कारणभूत जड़ तथा मिथ्या माया का परिणाम माना गया है; किन्तु शाक्त-दर्शन में प्रतिभासित भेद को भी अद्वय चित्-शक्ति की ही अविद्या-शक्ति का परिणाम माना जाता है। वेदान्त-प्रतिपादित मायावाद के अनुसार समस्त दृश्य-जगत् माया और परिणामतः नाशवान् एवं मिथ्या है। उसमें चित्-शक्ति के प्रतिबिम्बित होने के कारण ही वह चैतन्यवत् प्रतीत होता है। इसी को वेदान्त में 'चिदाभास' की संज्ञा दी गयी है। चिदाभास का तात्पर्य यही है कि मिथ्या जगत् चित् न होते हुए भी चित् का प्रतिबिम्ब प्राप्त कर चित्वत् दिखाई देता है। इसके विपरीत शाक्त-दर्शन में माया को भी चित्-शक्ति का रूप माने जाने के कारण दृश्य-जगत् को, जो चित्-शक्ति की विमर्ष-शक्ति का प्रसार-मात्र है, सत्य मानकर कहा जाता है कि माया अथवा अविद्या

के आवरण के परिणाम-स्वरूप वह मिथ्यावत् दिखाई देता है। संक्षेपतः वेदान्त मिथ्या माया-उद्भूत असत् जगत् के सत्वत् दिखाई देने तथा शाक्त-दर्शन चिद्रूपिणी विमर्ष-शक्ति द्वारा उत्पन्न सत् जगत् के मिथ्या अथवा असत्वत् दिखाई देने को स्वीकार करता है :—

देश काल पदार्थात्मा यद्यत् वस्तु यथा यथा।
तत्तद्रूपेण या भाति तां श्रये संविदां कलाम् ॥[1]

सृष्टि-व्यापार-रूप विमर्ष-शक्ति से संयुक्त शिव को 'सकल' तथा निषेध-व्यापार-रूप विमर्ष-शक्तियुक्त शिव को 'निष्कल' शिव कहा जाता है। इसी को वेदान्त में मायासंवलित ईश्वर तथा माया से परे ब्रह्म कहा गया है। चित्-शक्ति समस्त भूतों में सर्वदा वर्तमान रहती है। भूतों में त्रिगुणात्मिका माया-शक्ति द्वारा आवृत रहने के कारण चित् अप्रकट तथा सत्-रूप ही प्रकट रहता है, तथापि चिद्रूपिणी शक्ति में आवरण के कारण किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं होता। सत्वगुण के विकास तथा तमोगुण के ह्रास होने के साथ ही चित्-शक्ति विकास को प्राप्त होती है तथा जीव चित्-स्वरूप हो जाता है। इस अवस्था में चित्-शक्ति का वह रूप, जो अभी तक माया-शक्ति के रूप में आवरण उत्पन्न किये रहता है, समाप्त होकर स्वयं भी चित्-रूप ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार शाक्त-दर्शन द्वारा स्वीकृत माया-शक्ति का स्वरूप वेदान्त तथा सांख्य द्वारा प्रतिपादित माया एवं प्रकृति से पूर्णतः भिन्न है। माया-शक्ति त्रिगुणात्मिका है, अतएव गुणों की चित्-शक्ति से अलग कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं। शांकर-दर्शन के अनुसार आत्मा-परमात्मा के मध्य पड़े हुए माया के आवरण के विनष्ट होने पर अद्वैत की स्थिति उत्पन्न होती है; किन्तु शाक्त-दर्शन इस आवरण को भी शक्ति-रूप से अलग नहीं मानता। जीवात्मा स्वयं शिव-शक्ति-रूप है तथा वह अपने से अलग किसी अन्य तत्व से आवृत नही होता :—

स्वरूपावरणे चास्य शक्त्याः सतत उत्थिता।

आत्मा को आत्मावत् देखने में व्यवधान-रूप होने के कारण ही माया-शक्ति भेद-बुद्धि-रूप है तथा यह भी सत्य है कि चित् स्वयं अपनी ही शक्ति का आवरण प्राप्त कर अचित् के समान प्रतिभासित होता है।

शाक्त-दर्शन में गुरु का स्थान सर्वोपरि माना गया है तथा तंत्र-प्रतिपादित दीक्षा के बिना व्यक्ति को साधना का अधिकारी नहीं माना गया है। गुरु को पृथ्वी पर ईश्वर का साक्षात् अवतार मानकर कहा गया है कि गुरु की कृपा का आश्रय लिये

---

१. योगिनी हृदय तन्त्र।

बिना किसी भी प्रकार की सिद्धि-प्राप्ति सम्भव नहीं। मध्ययुग में शाक्त-साधना का व्यावहारिक पक्ष यौगिक क्रियाओं के साथ इतना अधिक जुड़ गया था तथा उन क्रियाओं को इतना अधिक गुप्त भी रखा जाता था कि किसी अभ्याससिद्ध गुरु के बिना उनका अनुसरण प्रायः असम्भव-सा ही था। इसके अतिरिक्त दार्शनिक ग्रंथों में 'पंचतत्व' आदि जिन तत्वों की चर्चा की गयी है, उनका वास्तविक अर्थ सामान्य व्यक्ति के लिए समझना भी कठिन था। 'वीराचार' साधकों के लिए उपदिष्ट मत्स्य, मांस, मुद्रा, मदिरा, मैथुन का अभिधात्मक अर्थ लगा लिया गया। इसके साथ ही तन्त्र-ग्रंथों में जहां भी साधना के गूढ़ रहस्यों की चर्चा की गयी है, वहाँ स्थान-स्थान पर यह भी निर्देश किया जाता रहा है कि इनको 'मातृजारवत्' ही गुप्त रखना चाहिये। किसी भी अनधिकारी व्यक्ति से तन्त्रों का रहस्य प्रकट करने का निषेध किया गया है। गुरु, देवता तथा मंत्र में किसी प्रकार का अन्तर स्वीकार न कर तथा इनमें भी अपेक्षाकृत गुरु को श्रेष्ठतर बतलाते हुए कहा गया है कि दैवी क्रोध से रक्षा करने की शक्ति गुरु में है, किन्तु गुरु-क्रोध से बचाने की सामर्थ्य किसी में नहीं होती। समस्त देवता मन्त्रों के अधीन हैं, मन्त्र गुरु के अधीन होते हैं, अतएव गुरु ही सर्वोपरि है। गुरु की श्रेष्ठता को नाथ-पन्थियों ने, जो प्रमुखतः अद्वैत शैव-साधना के ही अनुयायी थे, और भी अधिक ऊपर उठा दिया था। सिद्धों और नाथों के अनुसार समस्त सिद्धियाँ गुरु-कृपा से सहज ही प्राप्य हैं तथा गुरु-उपदेश-अनुसरण ही निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है। गुरु-उपासना के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा गया है कि यदि किसी देवता की आराधना-उपासना न कर केवल गुरु की ही सेवा की जाय, तो भी साधक मुक्ति का अधिकारी होता है।

गुरु की महत्ता के प्रतिपादन के साथ ही थोथे ज्ञान की सभी जगह बुरी प्रकार से खिल्ली उड़ायी गयी है। सैद्धान्तिक दृष्टि से शिव के साथ अद्वय-रूप से वर्तमान शक्ति के ज्ञान एवं क्रिया दो रूप हैं। ज्ञान-रूपिणी शक्ति के पर और अपर दो भेद हैं। पर-ज्ञान शुद्ध रूप से अनुभूतियुक्त आत्मबोध-स्वरूप है तथा अपर-ज्ञान शब्दात्मक वैखरी वाणी है। 'सात्वत संहिता' में पर-ज्ञान को शिव की साक्षात् शक्ति तथा अपर-ज्ञान को तन्त्र कहा गया है। अपर-ज्ञान द्वारा जीव अथवा पशु एवं पाश अथवा मायिक बन्धन तथा पशुपति का मात्र ज्ञान होता है तथा इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् उसकी वास्तविक अनुभूति और एकत्व की प्राप्ति पर-ज्ञान का परिणाम है। इसी के आधार पर वेद-शास्त्रादि के अध्ययन एवं पठन-पाठन को व्यर्थ समझा गया है। वस्तुतः शाक्त-दर्शन केवल ज्ञान को मुक्ति का कारण नहीं मानता। उसके अनुसार अगाध जल-राशि को देखने, उसे पहचानने तथा उसके निकट पहुंचने पर भी तृषित की तृषा शान्त नहीं होती। विपुल रत्नराशि को देखने-मात्र से कोई

व्यक्ति धनवान् नहीं हो जाता; उसके लिए उस राशि को अपना बनाना आवश्यक है। 'सत्कर्मदीपिका' में कहा गया है :—

पुतस्के लिखिता विद्या येन सुन्दरि जप्यते।
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्प कोटि शतैरपि॥

सिद्धों और नाथ-पंथियों ने पुस्तक-ज्ञान की निस्सारता को इतने जोरदार शब्दों में कहा है कि उसके सम्बन्ध में अनेक कथाएं भी प्रचलित हो गयीं। 'गोरक्ष-सिद्धान्त संग्रह' में दी गयी एक कथा के अनुसार दुर्वासा मुनि समस्त वेद-शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर ज्ञानाभिमान-सहित एक बार महादेवजी की सभा में पहुंचे। नारदजी उनके सत्यानुभूति-रहित पाण्डित्याभिमान को समझ गये और उन्हें सभा में भारवाही गर्दभ कहा। दुर्वासा को अपने थोथे ज्ञान पर लज्जित होना पड़ा और उन्होंने समस्त पुस्तकें समुद्र में फेंककर शिवजी से पर-ज्ञान की शिक्षा मांगी। शाक्त-दर्शन जिसको पर-ज्ञान तथा अपर-ज्ञान मानता है, उसको उसी रूप में मानकर नाथ-पंथियों ने श्रुति के सूक्ष्म तथा स्थूल दो रूपों की कल्पना की। यज्ञ-यागादि कर्मों का विधान करनेवाली श्रुति स्थूल-रूप हैं। पुस्तक-ज्ञान के सम्बन्ध में 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में कहा गया है कि घर-घर में पुस्तक-ज्ञान के भार को ढोनेवाले तथा ग्राम-ग्राम में पण्डितों के झुण्ड विद्यमान हैं एवं वनों में तापसियों के अनेक समूह विचरते हैं, किन्तु इनमें से न तो कोई ब्रह्म को ही जानता है, न सत्कर्म का ही कर्ता है। सैकड़ों-सहस्रों तर्क-व्याकरणादि ग्रंथों के पठन-पाठन के परिणाम-स्वरूप व्यर्थ ही लोग शास्त्र-जाल में आबद्ध होते हैं। उन्हें प्रज्ञा प्राप्त नहीं होती, प्रत्युत वे निरे मूढ़ होते हैं। स्वात्म-प्रकाश-रूप जिस अनिर्वाच्य पद का वर्णन देवताओं के द्वारा भी नहीं किया जा सकता, उसे शास्त्र किस प्रकार कह सकता है।[1] परवर्ती काल में कबीर आदि सन्तों ने भी पुस्तक-ज्ञान की निस्सारता को स्वीकार किया था। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि पुस्तक पढ़ता-पढ़ता सारा संसार मर गया, किन्तु कोई भी पण्डित नहीं हुआ। पुस्तक-ज्ञान के स्थान पर राम-नाम के तत्व को समझने का उन्होंने उपदेश

---

१. गृहे गृहे पुस्तकभारभाराः पुरे पुरे पण्डित यूथयूथः।
वने वने तापसवृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्त्ता॥

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः।
पातितः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥

अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यते सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रैः प्रकाश्यते॥

— गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह, पृ० ३०

दिया था ।[१] 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में समस्त पुस्तकों, ग्रंथों को कुएं में डाल देने तक की बात कही गयी है। जो व्यक्ति अपने पाण्डित्य के द्वारा दूसरों को आश्चर्य में डाल देने के लिए, जीविकोपार्जन अथवा व्यापार के लिए ग्रंथों की रचना करते हैं, वे उन व्यक्तियों के बीच किस प्रकार शोभनीय हो सकते हैं, जो सच्चे अर्थ तथा व्यवहार में धर्म का पालन करते हैं।

गुरु की महत्ता का प्रतिपादन करने के साथ ही गुरु-शिष्य के लक्षणों को भी तंत्र-ग्रंथों में स्पष्ट किया गया है। यदि कोई व्यक्ति ब्रह्मवेत्ता, अद्वैत के प्रति आस्थावान्,सत्यभाषी, जितेन्द्रिय, काम-क्रोधादि षड्दोषों को जीतनेवाला, राग-द्वेष रहित पुण्यात्मा नहीं है, तो वह गुरु होने का अधिकारी नहीं। गुरु को शिष्य से किसी प्रकार विनिमय-रूप लाभ की आशा नहीं रखनी चाहिये। इसी प्रकार शिष्य का भी गुरु के प्रति परम श्रद्धावान्, जिज्ञासु, धर्मात्मा-जैसे गुणों से युक्त होना आवश्यक है, अन्यथा उसमें शिष्य बनने की पात्रता नहीं होती। गुरु-शिष्य-लक्षण के उल्लेख के साथ ही निर्देश दिया गया है कि गुरु को शिष्य की परीक्षा लेने के पश्चात् ही उपदेश देना चाहिये तथा पूर्ण सोच-विचार के पश्चात् ही किसी को गुरु बनाया जाना चाहिये। यदि गुरु शास्त्र-प्रतिपादित लक्षणों से युक्त नहीं होता तथा शिष्य में पात्रता नहीं होती, तो दोनों के लिए यह स्थिति अत्यन्त अश्रेयस्कर है। कबीर ने इसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए लिखा है :—

'जाका गुरु भी अंधला, चेला खरा निरंध ।
अंधै अंधा ठेलिया, दून्यूँ कूप पड़ंत ।।

ना गुरु मिल्या न सिष भया, लालच खेल्या डाव ।
दून्यूं बूड़े धार मैं, चढ़ि पाथर की नाव ।।

प्रकृति के त्रिगुणात्मिका होने के कारण समस्त भूतों में सत्व, रज, तम तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। इन्हीं तीन गुणों के आधार पर शाक्त-साधकों की तीन श्रेणियां मानी गयी हैं। इनको पशु-भाव, वीर-भाव तथा दिव्य-भाव के साधक कहा जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने पूर्व-जन्म के पुण्य-कर्मों के परिणाम-स्वरूप निर्मल-प्रकृति नहीं होता, तो वह आठ पाशों से आबद्ध, तीन मलों से युक्त रहता ही है। इस प्रकार से आबद्ध एवं तमोगुण-प्रधान साधक पशु-भाव में रहा करता है। दया, मोह, लज्जा, भय, घृणा, कुल, शील और वर्ण, ये ही आठ पाश हैं, जो व्यक्ति को आबद्ध किये रहते हैं। 'श्री भास्कराचार्य' पशु-भाव के साधकों को, उनके भौतिक सुखों की ओर

---

१. पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोइ ।
एकै आषर पीव का, पढ़ै सु पण्डित होइ ।।

—कबीर-ग्रंथावली, पृ० ३६

उन्मुख होने के कारण, बहिर्मुख साधक मानते हैं। शैव-दर्शन में आणवमल, मायामल, तथा कर्ममल, तीन प्रकार के विकार माने गये हैं, जिनके आधार पर पशु-भाव में स्थित साधकों को सकल, प्रलयाकल तथा विज्ञानाकल, तीन श्रेणियों में विभक्त किया जाता है। शिव-शक्ति तथा आत्मा के सम्बन्ध में सीमित ज्ञान ही आणवमल है। आवरण-रूप माया-शक्ति के कारण व्यक्ति शिव-शक्ति तथा आत्मा में जो भेद स्वीकार करता है, वह मायामल के प्रभाव का ही परिणाम है। कर्म तथा फल में आस्था रखना ही कर्ममल है। सभी 'पशु' इन तीनों मलों से युक्त होते हैं। प्रलयाकल पशु-साधक आणवमल तथा कर्ममल से युक्त एवं विज्ञानाकल 'पशु' केवल आणवमल से युक्त होते हैं। इसका तात्पर्य यह भी है कि पशु-भाव में स्थित व्यक्ति साधना एवं तपश्चर्या के द्वारा जितना आगे बढ़ता है, उतना ही उसका विकारयुक्त पशुत्व कम होता है तथा वह वीर-भाव की ओर शनैः-शनैः अग्रसर होता है। माया-शक्ति अष्टपाशों की सृजनकर्त्री है तथा वह विद्या-शक्ति के रूप में पाशविमोचिनी भी है। वीर-भाव अथवा दिव्य-भाव की स्थिति में पहुंचने के पूर्व साधक पशु-भाव में ही स्थित रहता है। 'कुब्जिका-तन्त्र' में कहा गया है कि पशु-भाव का साधक केवल अपने उपास्यदेव तथा अपनी पूजा-अर्चना में ही आस्था रखता है एवं अन्य देवी-देवताओं तथा उपासना-पद्धतियों का खण्डन करता है। उपर्युक्त भेदों के अतिरिक्त पशु-साधकों के स्वभाव-पशु एवं विभाव-पशु दो अन्य भेद भी माने गये हैं। वीर-भाव के सन्निकट पहुंचे हुए पशु-साधक विभाव-पशु की श्रेणी में आते हैं।

जब साधना के द्वारा साधक पशु-भाव के स्तर से ऊपर उठ जाता है, तब वह वीर-भाव में प्रवेश करता है। यदि उसकी साधना पूर्णता की स्थिति में है, तो वह सीधे दिव्य-भाव में भी प्रवेश कर सकता है। जिस प्रकार तमोगुण-प्रधान साधक पशु-भाव में होते हैं, उसी प्रकार रजोगुण-प्रधान साधकों को वीर-भाव में स्थित माना जाता है। इस स्थिति में रजोगुण की सहायता से तमोगुण पर विजय प्राप्त करना ही साधक का लक्ष्य रहता है। वीर-साधक के रजोगुण-प्रधान होने के कारण इसे 'राजसिक साधना' तथा इसके उपचार-विधान को 'राजसिक उपचार' भी कहा जाता है। वीर-साधकों के लिए शाक्त-तंत्रों में पूजा-अर्चना का जो विधान किया गया है, वह किसी प्रकार के रहस्य से पूर्ण न होने पर भी इतना अधिक रहस्यमय बन गया है कि उसके संबंध में अनेक भ्रान्त धारणाएं भी प्रचलित हो गयीं। शाक्त-दर्शन सिद्धान्ततः शिव, शक्ति तथा जगत् में ही अद्वैत नहीं मानता, प्रत्युत किसी भी विषय में द्वैत की कल्पना उसको स्वीकार्य नहीं। साध्य तथा साधक में भी वह एकत्व को ही स्वीकार करता है। भोग्य तथा भोक्ता में भी किसी प्रकार के द्वैत की कल्पना शाक्त-तन्त्रों में नहीं की गयी है। इस प्रकार दृश्य-जगत् में प्रवंचनामयी माया के कारण अद्वैत वेदान्त

तथा अन्य द्वैत-दर्शन जो दोष स्वीकार करते हैं, शाक्त-तन्त्रों में उनके स्वीकार किये जाने की कोई गुंजाइश नहीं। मायावाद साधना की सफलता के लिए मायामय जगत् के त्याग को अनिवार्य मानता है, तो शाक्त-तन्त्रों के अनुसार योग तथा भोग में कोई अन्तर नहीं। सृष्टि स्वयं माया-शक्ति का विस्तार है, अतएव उसके त्याग का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। भौतिक जगत् एवं जीवन स्वयं ही निःश्रेयस्-प्राप्ति के साधन हैं। यहां यह बात भी विशेष रूप से ध्यान में रखी जानी चाहिये कि शाक्त-तन्त्र साधक की दृष्टि तथा मनोवृत्ति को सर्वाधिक प्रधान मानता है। संसार में कोई भी कृत्य पुण्य अथवा पाप नहीं। साधक की दृष्टि, कृत्य के प्रति उसकी इच्छा एवं भावना, उद्देश्य की पवित्रता अथवा अपवित्रता ही वस्तु एवं कृत्य को अच्छी-बुरी अथवा पाप-पुण्य की परिधि में लाने के कारण हैं। सात्विक मनोवृत्ति के उदय एवं उसके विकास के परिणाम-स्वरूप साधक के मन का कलुष-भाव धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है तथा वह जीवन अथवा जगत् को अपनी किसी कुत्सित इच्छा की पूर्ति का साधन न मानकर परमतत्व के ज्ञान एवं उसकी उपलब्धि का ही साधन मानता है। उपर्युक्त दृष्टि से वीर-साधकों के लिए पंच-तत्वों की उपासना का विधान किया गया है। ये पंच-तत्व क्रमशः मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन हैं। तन्त्र-ग्रंथों में इन तत्वों का विविध प्रकार से उल्लेख किया गया है। 'महानिर्वाण-तन्त्र' (५, २३-२४) के अनुसार पंच-तत्वोपासना के बिना शक्ति-साधना निष्फल और निरर्थक है। जिस प्रकार शिलाखण्ड पर डाले गये बीज उगते नहीं, उसी प्रकार पंच-तत्वों के बिना शक्ति की आराधना फलदायी सिद्ध नहीं होती। 'ज्ञानार्णव-तंत्र' के अनुसार पंच-तत्वों का विधान केवल इस हेतु किया गया है कि साधक इनका व्यवहार करते हुए भी सत्व-गुण की सहायता से इनके दोषों से सर्वथा मुक्त रहे। उसके अनुसार यदि साधक की दृष्टि एवं इच्छा कलुषपूर्ण नहीं है, तो वह वीतराग होकर इनका उपभोग करते हुए भी इनके जागतिक दोषों से मुक्त रह सकता है, और यही साधना की उत्कृष्टता है। खान-पान, उठना-बैठना सभी अर्चना-उपचार के साधन हैं।

यद्यपि पशु, वीर तथा दिव्य, तीनों साधकों के लिए पंच-तत्वों की उपासना का विधान किया गया है, तथापि साधकों के मन-स्तर को दृष्टि में रखते हुए इन तत्वों के अलग-अलग भावों को भी ग्रहण किया गया है। इस प्रकार कहीं-कहीं पशु-साधकों द्वारा पंच-तत्वों का अनुकल्प-रूप, वीर-साधकों द्वारा प्रत्यक्ष-रूप तथा दिव्य-साधकों द्वारा तत्वों के दिव्य-रूप का व्यवहार विहित है। 'कुलचूड़ामणि' में वर्ण-भेद के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के लिए इन तत्वों के अलग-अलग रूपों की कल्पना की गयी है। यथा मद्य के स्थान पर ब्राह्मण के लिए दूध, क्षत्रिय के लिए घृत, वैश्य के लिए शहद तथा शूद्र के लिए

चावल-निर्मित पेय का विधान किया गया है। वीर-साधकों द्वारा जहां प्रत्यक्ष तत्वों के व्यवहार का विधान है, वहां इस बात को ध्यान में रखा गया है कि जितेन्द्रिय होने के कारण वह इनका उपयोग करते हुए भी इनके जागतिक दोषों से सर्वथा मुक्त रहे। वीर-साधक के लक्षणों में लिखा गया है :—

जितेन्द्रियः सत्यवादी नित्यानुष्ठानतत्परः।
कामादिबलिदानश्च स वीर इति गीयते ॥

'कुलार्णव-तन्त्र' के अनुसार जो तत्व तथा विषय व्यक्ति के पतन के कारण होते हैं, वही तत्व उसके मोक्ष के कारण भी हैं। मन किसी भी अवस्था में नाम-रूपादि विषयों से मुक्त नहीं हो सकता, अतएव नाम-रूपात्मक विषयों का सहारा लेकर रागादि दोषों से मुक्त होना भी संभव है। ईश्वर के सगुण रूप की उपासना के मूल में भी यही सिद्धान्त है। परवर्ती काल में बौद्ध-साधकों, सिद्धों तथा नाथों ने भी इसी सिद्धान्त को अपनाया था। बौद्ध-साधिका 'लक्ष्मीकरा' ने कहा है :—

येनैव बध्यते जन्तुस्तेनैव हि विमुच्यते।

'महानिर्वाण-तन्त्र' (७-११०) में पंच-तत्वों को क्रमशः अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी तथा आकाश का रूप कहा गया है। 'कौल-तन्त्र' के अनुसार मद्य कोई पेय पदार्थ नहीं, प्रत्युत योग-साधना के द्वारा भौतिक जगत् के सुख-दुःखों का विस्मरण एवं परमतत्व का निरन्तर चिन्तन ही मद्यपान है। कौल-साधक पूजा-अर्चना तथा अन्य जो भी कार्य करता है, उन्हें निष्काम भाव से करता है तथा समस्त कर्म एवं कर्म-फल आराध्य-शक्ति को समर्पित कर देता है। इस प्रकार कर्म-फल-बंधन से मुक्त होना ही मांस-भक्षण है। समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता का भाव मत्स्य, राग, काम, क्रोधादि दोषों से मुक्त रहना ही मुद्रा तथा मूलाधार-स्थित कुण्डलिनी-शक्ति का सहस्रार में शिव के साथ सामरस्य ही मैथुन है। 'आगम सार' का मत है कि सहस्रदल कमल— सहस्रार से निसृत सोम-सुधा——ही 'मद्य', पाप-पुण्य-जैसे कर्म-फलों से मुक्त रहना 'मांस', इड़ा-पिंगला नाड़ियों में श्वास-प्रश्वास के रूप में प्रवाहित वायु तथा प्राणायाम के अवसर पर कुम्भक क्रिया ही 'मत्स्य', असत्-संग का त्याग 'मुद्रा' तथा सहस्रार-स्थित शिव के साथ कुण्डलिनी-शक्ति का महामिलन ही 'मैथुन' है। 'योगिनी-तन्त्र' में भी मैथुन की यही परिभाषा दी गयी है :-

सहस्रारोपरि बिन्दौ कुण्डल्या मेलनं शिवे।
मैथुनं परमं द्रव्यं यतीनां परिकीर्तिताम् ॥

दिव्य-साधकों के लिए पंच-तत्वों के सात्विक रूप को अपनाने का ही विधान है। इन पंच-तत्वों को मोक्षदायक कहा गया है :

मद्यमांसश्च मीनश्च मुद्रामैथुनमेव च।
मकार पंचक प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥

वीर-साधकों द्वारा तत्वों के प्रत्यक्ष व्यवहार का उल्लेख होने पर भी इनके सात्विक रूप को ही विशेष महत्त्व दिया गया है तथा इतर मद्यपायी को शराबी, मांसाहारी को मांसाशी, प्राण-हिंसक, विलासी आदि के रूप में माना जाता है। तत्वों की सात्विक परिभाषाएं इस प्रकार हैं :-

मद्य–व्योमपंकजनिष्पन्दसुधापानरतो भवेत् ।
मद्यपानमिदं प्रोक्तमितरे मद्यपायिनः ।
ब्रह्मस्थानसरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा ।
या शुभ्रांशुकलासुधाविगलिता सा पान योग्या सुरा ॥

सहस्रार-चक्र अथवा सहस्रदल-कमल से निसृत सुधा का पान साधक को करना चाहिये; यही मद्यपान है। अन्य मदिरा पीनेवाले व्यक्ति शराबी हैं। सहस्रदल-कमल से झरनेवाली सोम-सुधा अखिल ब्रह्माण्ड को तृप्ति प्रदान करती है; वही पीने योग्य है।

मांस–पुण्यापुण्य पशुं हत्वा ज्ञान खड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेत् चित्तं मांसाशी स निगद्यते ॥

योग के रहस्य को समझनेवाला जो साधक ज्ञान-रूपी खड्ग से पुण्य-पाप-रूपी पशुओं का हनन कर अपने चित्त को परमतत्व में लीन कर दे, उसे ही मांसभक्षी कहा जाता है।

मीन--मानसादीन्द्रियगुणं संयम्यात्मनि योजयेत् ।
स मीनाशी भवेद्देवि इतरे प्राणहिंसकाः ॥

अपने मन तथा इन्द्रियों को संयमित रख उन्हें आत्म-तत्व में नियोजित करने-वाला साधु ही मीनभक्षी है। अन्य प्रकार से मीनादि प्राणियों के आहार करनेवाले व्यक्ति प्राण-हिंसक होते हैं।

मुद्रा--आशातृष्णाजुगुप्साभयविषयमानलज्जाप्रकोपाः ।
ब्रह्माग्नावष्ट मुद्रा परसुकृतिजनः पच्यमानः समन्तात् ॥

आशा, तृष्णा, जुगुप्सा आदि अष्टपाशों को ब्रह्माग्नि में भस्म कर देना ही मुद्रा है।

मैथुन–या नाड़ी सूक्ष्मरूपा परमपदगता सेवनीया सुषुम्णा ।
सा कान्तालिंगनार्हा न मनुज रमणी सुन्दरी वारयोषित् ॥
कुर्याच्चन्द्रार्क योगे युग पवन गते मैथुनं नैव योनौ ।
योगीन्द्रो विश्ववन्द्यः सुखमय भवने तां परिष्वज्यनित्यम् ॥

चन्द्र-सूर्य-रूपिणी इड़ा-पिंगला नाड़ियों के मध्य सूक्ष्म-रूपिणी सुषुम्ना का सेवन करना ही उपयुक्त है तथा अन्य किसी मनुज-रमणी का आलिंगन करना किसी

भी दशा में उचित नहीं। इस प्रकार सुषुम्ना-साधना में रत रहनेवाला योगी विश्ववन्द्य है।

दिव्य-भाव में स्थित साधकों के लिए पंच-तत्वों का उपर्युक्त सात्विक-रूप अपनाने का ही विधान है। जब साधक दिव्य-भाव की स्थिति प्राप्त कर लेता है, तब उसके लिए समस्त ब्रह्माण्ड शिव-शक्तिमय होता है, उसके लिए किसी प्रकार की अर्चना अथवा उपचार आदि की आवश्यकता शेष नहीं रहती। इस प्रकार वह अद्वैत की जिस परमावस्था में पहुंच जाता है, वहां साधक तथा साध्य में कोई अन्तर न रहने के कारण साधक स्वयं ही शिव-रूप होता है तथा वह उठना, बैठना, चलना, खाना, पीना, जो कुछ भी करता है, वह सभी पूजा-अर्चना ही है। दिव्य-भाव की इसी सहज-दशा को कबीर ने सहज-समाधि कहा है। इससे भी आगे 'अक्षर अनन्य' ने कहा है कि जब तक मायाजनित भेद की स्थिति वर्तमान रहती है, तभी तक 'सोऽहं' की भावना है तथा जब ईश्वर, ब्रह्म, जीव, संसार आदि में किसी प्रकार की भेद-बुद्धि रहती ही नहीं, साधक स्वयं शिव-रूप होता है, तब सः (वह) की भावना भी समाप्त होकर केवल 'अहम्' (मैं) रह जाता है और उस दशा में 'सोऽहम्' की भावना का भी कोई आधार शेष नहीं रहता।[1]

'महानिर्वाण-तन्त्र' (१-५६) में कहा गया है कि दिव्य-साधक साक्षात् शिव-रूप होता है, उसके मन में किसी प्रकार का कलुष शेष नहीं रहता तथा वह राग, द्वेष, मोह आदि से सर्वथा मुक्त होता है। वस्तुतः दिव्य-भाव साधना की चरम स्थिति है।

उपर्युक्त जिन तीन भावों का उल्लेख किया गया है, वे साधक की मानसिक स्थितियां हैं। साधना के द्वारा जब शनैः-शनैः साधक की मनःस्थिति उत्तरोत्तर उठती जाती है, उसको आबद्ध किए हुए अष्टपाश क्षीण होकर टूटते जाते हैं, तब वह पशु-भाव से उठकर क्रमशः वीर-भाव तथा दिव्य-भाव की स्थिति में प्रवेश करता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार-क्रिया की दृष्टि में साधक सात प्रकार के आचारों से होकर गुजरता है। ये आचार वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार हैं। इन सप्त आचारों में से प्रथम चार दक्षिणाचार तथा अन्तिम तीन वामाचार की श्रेणी में माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त पशु-भाव के साधकों के लिए प्रथम चार आचारों का, वीर साधकों के लिए कौलाचार का अनु-

---

१. देह की जाति कै जीव कै ईस्वर, ब्रह्म किधौं इन चार में कोहं।
चार विचार में संसय सोच है, संसय सोच सु मायिक मोहं।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर मूरति, ध्यान अधार न दूसरौ टोहं।
मान बिसार दसा लवलीन, तें सोई भयौ तब कौन को सोऽहं॥

—स्फुट पद्य

सरण विहित है। जिस प्रकार पशु, वीर तथा दिव्य-भाव साधक के उत्तरोत्तर विकास की दशाएं हैं, उसी प्रकार इन सात आचारों का व्यवहार-विधान भी साधना के उत्तरोत्तर विकास के साथ सम्बद्ध है। पशु-भाव में स्थित साधक प्रारम्भ में वेदाचार का अनुसरण करता है तथा तदनन्तर वैष्णवादि आचारों का पालन करता हुआ अन्त में कौलाचार की स्थिति तक पहुंचता है। कौलाचार के व्यवहार-विधान एवं साधना-प्रणाली सर्वोत्कृष्ट तथा दिव्य-भाव के साधकों के लिए हैं। सप्त आचारों का अलग-अलग संक्षिप्त उल्लेख आगे किया जा रहा है :—

१. वेदाचार—वेदाचार का तात्पर्य वेदादि श्रुतियों द्वारा प्रतिपादित कर्मकाण्ड तथा आचार-व्यवहार से नहीं, अपितु वैदिक नियमों का पालन करते हुए तन्त्र-सिद्धान्त के अनुसार शिव-शक्ति की उपासना ही इसका विशेष लक्षण है। इस आचार के अनुसर्ता-साधक के लिए वैदिक नियम-विधानों का परिपालन करने, पर्व-दिवसों पर मांस-भक्षण न करने तथा रात्रि में देवता की पूजा-अर्चना न करने का विधान है। धर्म-पालन में साधक की दृढ़ आस्था होना आवश्यक है तथा बाह्य पूजा करने का निर्देश किया गया है। 'कुलार्णव' तथा 'विश्वसार-तंत्र' के अनुसार वेदाचार क्रिया-मार्ग है।

२. वैष्णवाचार—वेदाचार की स्थिति पार कर वैष्णवाचार में स्थित साधक की मनःस्थिति बहुत अधिक ऊंची नहीं उठती। उस दशा में नियमों का पालन न करने से वह पुनः पीछे की ओर लौट सकता है, अतएव वैष्णवाचार में भी वेदाचार के नियमों का पालन आवश्यक समझा गया है। वेदाचार में स्थित साधक का आस्थावान् होना आवश्यक है, किन्तु वैष्णवाचार में उसके स्थान पर विवेक को अधिक महत्त्व दिया जाता है। मांसाहार तथा नारी-संसर्ग पूर्णरूपेण निषिद्ध है। वैष्णवाचारी को तपस्वी साधक होना चाहिये। जिस प्रकार बाह्य पूजा-विधान के कारण वेदाचार को क्रिया-मार्ग कहा गया है, उसी प्रकार विवेक, श्रद्धा तथा तप-विधान के कारण वैष्णवाचार को भक्ति-मार्ग की संज्ञा दी गयी है।

३. शैवाचार—शैवाचार की स्थिति तक पहुंचने पर भी साधक को वेदाचार के नियम-पालन की आवश्यकता शेष रहती है। धर्म-अधर्म, सत्-असत् का विवेक तथा धर्म में आस्था एवं अधर्म में अनास्था, दया-प्रेम की भावना, श्रद्धा-भक्ति के साथ अन्तस्साधना की ओर उन्मुख होना ही शैवाचार का व्यवहार-विधान है। विवेक जाग्रत होने के कारण शैवाचार के साथ ही ज्ञान-मार्ग का तथा ज्ञानयोग-साधना का प्रारम्भ होता है।

४. दक्षिणाचार—संकेत किया जा चुका है कि प्रथम चार आचार पशु-भाव के साधकों के लिए विहित हैं तथा इस प्रकार दक्षिणाचार में पहुंचते-पहुंचते साधक

के पशुभाव की समाप्ति होने लगती है तथा वह वीर-भाव एवं दिव्य-भाव में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। वस्तुतः यहीं से उच्चस्तरीय शाक्त-साधना का प्रारम्भ समझा जाना चाहिये। वैष्णवाचार तथा शैवाचार में क्रमशः विष्णु एवं शिव की पूजा-अर्चना का विधान है, तो दक्षिणाचारी साधकों के लिए दक्षिणकालिका देवी की आराधना का निर्देश किया गया है। इस आचार में स्थित साधक को ध्यान एवं धारणानिष्ठ होकर ब्रह्म की इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया-शक्ति की उपासना करनी चाहिये। इस स्थिति तक पहुंचते-पहुंचते पशुभाव में वर्तमान तमोगुण की मात्रा कम होकर सत्व, रज, तम तीनों गुण समान मात्रा में आ जाते हैं तथा तमोगुण की न्यूनता के साथ ही सत्वगुण में वृद्धि होती जाती है। साधक ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों में कोई अन्तर न मानते हुए उन्हें परमतत्व का ही रूप मानकर शक्ति की आराधना करता है, रात्रि-काल में पूजारत रहकर पराशक्ति के चिन्तन में लीन रहता है। वस्तुतः दक्षिणाचार को वीर तथा दिव्य-भाव की भूमिका के रूप में ही माना जाना चाहिये।

उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त चार आचार साधक को निवृत्ति की ओर अग्रसर करते हुए भी उसे विश्व-जीवन से सर्वथा अलग नहीं करते। इनके पश्चात् शेष तीन आचारों को निवृत्तिमूलक कहा जाता है। उनमें प्रवेश करने के साथ ही साधक जीवन के क्रिया-कलापों का इस प्रकार निर्वाह करता है तथा भौतिक सुख-साधनों को इस प्रकार ग्रहण करता है कि वे किसी भी दशा में उसके मन में प्रवृत्तिमूलक विकारेच्छा उत्पन्न ही न कर सकें। जीवन-व्यापार तथा जागतिक सुखों के प्रति उसके हृदय में किसी प्रकार की आसक्ति का भाव शेष नहीं रहता। रागादि वृत्तियों को सांसारिक जीवन से मोड़कर पारमार्थिक जीवन की ओर उन्मुख कर दिया जाता है। दक्षिणाचार की साधना प्रमुख रूप से अष्टपाशों से मुक्त होने की साधना है।

५. **वामाचार** —वामाचार में प्रवेश करने के साथ ही साधक वीर-भाव की स्थिति प्राप्त कर लेता है। वामाचार तथा सिद्धान्ताचार वीर-भाव के साधकों के लिए ही विहित हैं। संसार तथा जीवन के प्रति अनासक्ति एवं निवृत्ति-भाव का उदय होने के कारण ही इसे वामाचार अथवा वाम-मार्ग कहा जाता है। ब्रह्मचर्य का पालन तथा पंच-तत्वोपचार का विधान इस आचार में किया गया है :—

"पंचतत्वक्रमेणैव रात्रौ देवीं प्रपूजयेत्।"

वामाचार का अनुवर्ती साधक अष्टपाशों से पूर्णरूपेण मुक्त शिव-रूप होता है। यह भी मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति का जन्म दक्षिणाचार में ही होता है तथा पूर्णाभिषेक के पश्चात् ही वह वामाचार में प्रवेश करने का अधिकारी होता है। दार्शनिक दृष्टि से वामाचार पूर्ववर्णित आचारों की अपेक्षा अद्वैत के अधिक निकट है।

इस स्थिति में साधक शिव-स्वरूप होने के कारण कर्म-फलों से सर्वथा मुक्त रहता है। 'निरुक्त' में 'वाम' शब्द का अर्थ 'प्रशस्य' अर्थात् प्रज्ञावान् लिखा गया है तथा इस प्रकार प्रज्ञावान् पुरुषों का मार्ग ही वाम-मार्ग है। 'मेरु-तन्त्र' में कहा गया है :—

परद्रव्येषु योऽधश्च परस्त्रीषु नपुंसकः।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः।
तस्यैव ब्रह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता॥

भगवान् शिव ने वाम-मार्ग को अगम्य तथा अत्यन्त गहन कहा है :—

"वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।"

६. **सिद्धान्ताचार**— इस स्थिति में साधक वामाचार की अपेक्षा अधिक उच्च स्तर पर होता है। वेद-शास्त्रादि का ज्ञान सिद्धान्ताचारी के लिए काष्ठ में निहित अग्नि के समान ही रहता है। प्रत्यक्ष शिव-रूप यह साधक घृणा-द्वेष आदि विकारों से मुक्त, सत्यनिष्ठ, पृथ्वीतल पर साक्षात् भैरव के रूप में विचरण करता है। भूतल पर इसके लिए कोई भी वस्तु इसीलिए अपवित्र, अग्राह्य नहीं रहती कि वह अपने सात्विक भावों के कारण उनको शुद्ध करता है तथा प्रयोग का उद्देश्य किंचित् भी दोषयुक्त नहीं होता। ब्रह्म से लेकर मृत्तिका-पिंड तक कोई भी वस्तु परमशिव-शक्ति-तत्व से भिन्न नहीं होती।

७. **कौलाचार**——यह साधना की उच्चतम स्थिति मानी जाती है। इसके लिए पूजा-अर्चना, खान-पान, उठने-बैठने, समय अथवा स्थान किसी विषय का कोई विधान नहीं। 'नित्य तन्त्र' के अनुसार कौल-साधक कभी अत्यन्त शिष्ट तथा भद्र पुरुषों-जैसा व्यवहार करते हैं, तो कभी पूर्णतया भ्रष्ट-जैसे दिखाई देते हैं। 'जिस प्रकार हस्ती के पद-चिह्न में अन्य समस्त प्राणियों के पद-चिह्न विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार कौल-साधना में समस्त धर्म, आचार-व्यवहार एवं साधना-प्रणालियों के लोप हो जाने के कारण कौल-साधक को विधि-निषेध का कोई बन्धन नहीं रहता।'[1] वह परमतत्व को समस्त चराचर में व्याप्त तथा समस्त जगत् को शिव के रूप में ही देखता है। 'नित्य तंत्र' में कहा गया है कि कौलाचार निगमागम-रूपी समुद्र को ज्ञान की मथानी से विलोड़ित किये जाने के फलस्वरूप प्राप्त तत्व है। 'भाव चूड़ामणि तन्त्र' के अनुसार कौल-साधक के लिए समस्त अच्छी-बुरी वस्तुओं में, कीचड़ तथा चन्दन में, पुत्र-शत्रु में, श्मशान और घर में, स्वर्ण और तिनके में कोई अन्तर नहीं होता :-

कर्दमे चन्दनेऽभिन्नं पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये।
श्मशाने भवने देवि तथा वै काञ्चने तृणे।
न भेदो यस्य लेशोऽपि स कौलः परिकीर्तितः।

---

१. **महानिर्वाण-तंत्र, १४-१८०**

'महानिर्वाण-तन्त्र' (४,२०-२१) में कहा गया है कि कलियुग में कौल-साधना के द्वारा ही सिद्धि-प्राप्ति सम्भव है। कौल-साधक जीवन-मुक्त होकर जन्म-मरण के बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जाता है तथा वह पूर्णतया निर्विकल्प समाधिस्थ परमहंस होता है। पूजा-उपासना का विधान कौल-साधक के लिए अर्थहीन होता है तथा वह शाक्त, शैव, वैष्णव सभी कुछ होता है :—

अन्तः शाक्ताः बहिः शैवाः सभायां वैष्णवा मता।
नानारूपधराः कौलाः विचरन्ति महीतले ॥

निवृत्ति-साधना का उद्देश्य भव-बन्धन में जीव को आबद्ध करनेवाले अष्टपाशों से मुक्ति प्राप्त करना है। वामाचार में साधना के जिस रूप का प्रारम्भ होता है, उसकी पूर्ण निष्पत्ति सिद्धान्ताचार तथा कौलाचार में होती है। कौल-साधक अपनी साधना की पूर्णता के पश्चात् अवधूत की अवस्था में पहुंच जाता है।

उपर्युक्त सप्ताचारों के अतिरिक्त 'समयाचार' नामक अष्टम आचार का महत्त्व शांकर-मतावलम्बियों के अनुसार सर्वाधिक है। मान्यता है कि श्री शंकराचार्य साधना की दृष्टि से तन्त्र-साधना एवं समयाचार के साधक थे। शाक्त-ग्रंथों में शंकराचार्य-प्रणीत 'सौन्दर्य-लहरी' का विशिष्ट स्थान है। श्री लक्ष्मीधर ने सौन्दर्य-लहरी पर भाष्य लिखते हुए समयाचार की विशद व्याख्या की है। उन्होंने कौलाचार को 'बाह्य पूजा' तथा समयाचार को 'आन्तर पूजा-विधान' कहा है।[1] 'शुभागम-तन्त्र-पंचक' में वैदिक नियमानुसार पूजा, अनुष्ठान आदि का विधान है। इसके प्रवर्तक वसिष्ठ, सनक, शुकदेव, सनन्दन, सनत्कुमार को माना जाता है। इनके द्वारा प्रवर्तित मार्ग ही समयाचार है।[2] समयाचार-साधकों को शरीरस्थ षट्चक्रों की साधना आवश्यक नहीं, प्रत्युत वे केवल सहस्रार-स्थित शिव की आराधना करते हैं; बाह्याराधन तथा षोडशोपचार पूजा को दूर से ही त्याग दिया जाता है।[3] इनके लिए जप, पुरश्चरण, अनुष्ठान, होम आदि किसी की आवश्यकता

---

१. समयाचारो नाम आन्तरपूजारतिः।
कुलाचारो नाम बाह्यपूजारतिरिति रहस्यम्। —सौं० ल०

२. शुभागमतन्त्रपंचके वैदिकमार्गेणैव अनुष्ठानकलापो निरूपितः। अयं शुभागम पंचकनिरूपितो मार्गः वसिष्ठसनकशुकसनन्दनसनत्कुमारैः पंचभिः मुनिभिः प्रदर्शितः। अयमेव समयाचार इति व्यवह्रियते —सौं० ल०

३. समयपूजकाः समयिनः। तेषां षट्चक्रपूजा न नियता, अपि तु सहस्रकमल एव-पूजा। सहस्रकमलपूजा नाम सहस्रकमलस्य बैन्दवस्थानत्वेन तन्मध्यगत चन्द्रमण्डलस्य चतुरश्रात्मना, तन्मध्यबिन्दोः पंचविंशतितत्त्वातीत-षड्विंशात्मकशिवशक्तिमेलनरूपसादाख्यात्मना च अनुसन्धानम्। अतएव समयिमते बाह्याराधनं दूरत एव निरस्तम्। षोडशोपचाररूपपूजांगकलापश्च ततोऽपि दूरत एव। --सौन्दर्य-लहरी—लक्ष्मीधरी व्याख्या

नहीं होती ।[1] वस्तुतः उपासना के बहिर्याग एवं अन्तर्याग दो मार्गों में से अन्तर्याग-विधान ही समयाचार है। ये जो कुछ बातचीत करते हैं, वही मन्त्र-जप है, इनका चलना-फिरना ही प्रदक्षिणा है, भोजन करना ही यज्ञ-आहुति है तथा समस्त क्रिया-कलाप पूजा-विधान है।[2]

तन्त्र-शास्त्र के अनुसार शक्ति-पूजा उत्तम, मध्यम तथा अधम तीन प्रकार की होती है। अधम तथा मध्यम पूजा उत्तम पूजा के सोपान-मात्र हैं। जिस प्रकार दिव्य-भाव तथा कौलाचार अथवा अवधूत की स्थिति प्राप्त करने के पूर्व साधक को पशु-भाव, वीर-भाव तथा पूर्वोक्त आचारों से गुजरना पड़ता है, उसी प्रकार उत्तम पूजा के लिए अधम तथा मध्यम पूजा का आश्रय लेकर अभ्यास आवश्यक होता है। सिद्धान्ततः जब तक जीव माया के आवरण से आवृत रहता है, तब तक अधम-पूजा का अधिकार भी प्राप्त नहीं होता; किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से द्वैत भावना से युक्त बाह्य-पूजा ही अधम पूजा है। मध्यम पूजा के अधिकारी साधक के मन में द्वैत की भावना क्षीण होती जाती है तथा पूर्ण अद्वैत के प्रति निष्ठावान साधक ही उत्तम पूजा का अधिकारी होता है। इसी स्थिति को प्राप्त कर श्री शंकराचार्य ने 'शिव-मानस-पूजा-स्तोत्र' में कहा है :—

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहं।
पूजा ते विषयोपभोग रचना निद्रा समाधिस्थितिः।
संचारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो।
यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्॥

---

१. समयिनां मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्य होमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। — सौं० ल०

२. जपो जल्पश्शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना।
गतिः प्रादक्षिण्यक्रमणमशनाद्याहुतिविधिः।
प्रणामस्संवेशस्सुखमखिलमात्मार्पणदृशा।
सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्॥

समयिनां मते समयस्य सादाख्यतत्वस्य सपर्या सहस्रदलकमल एव, न तु बाह्ये पीठादौ। ये ये समयिनो योगीश्वरा जीवन्मुक्ताः संसारयात्रामनुवर्तमानाः सादाख्यतत्वमनुचिन्तयन्त आत्मैकप्रवणाः वर्तन्ते तेषां 'जपो जल्पश्शिल्पम्' इत्यादिना सपर्याप्रकारो निरूपितः। ये तु समयिनो योगीश्वराः विजने गुहान्तरे वा बद्धपद्मासनाः निगृहीतेन्द्रियाः सादाख्यतत्वध्यानैकनिष्ठाः वर्तन्ते तेषां वक्ष्यमाण चतुर्विध-षड्विधैक्यानुसन्धानमेव भगवत्याः सपर्येति अर्थादुक्तं भवति। अतश्च पक्ष-द्वयेऽपि बाह्यपूजायां तत्क्रियाकलापे च तत्सम्पादनायां च क्लेशो नास्ति समयिनामिति रहस्यम्।

—सौन्दर्य-लहरी – लक्ष्मीधरी व्याख्या

अर्थात् मेरी आत्मा स्वयं तुम्हारा रूप है; मेरी बुद्धि तुम्हारी शक्ति-रूपिणी पार्वती है, प्राण सहचर हैं; शरीर तुम्हारा ही निवास-स्थान है; मेरे समस्त विषयोपभोग-कर्म ही तुम्हारी पूजा हैं, निद्रा ही समाधि है, मेरा चलना-फिरना ही प्रदक्षिणा है, मेरी बातचीत ही स्तुति है तथा जो कुछ भी करता हूं, यह सब तुम्हारी ही आराधना है ।

वस्तुतः शाक्त-दर्शन सैद्धान्तिक क्षेत्र में ही नहीं, साधना के क्षेत्र में भी अद्वैत-भावना को प्रधान मानता है । 'अहंदेवी न चान्योऽस्मि' तथा 'देवो भूत्वा यजेद् वम्'-जैसे सिद्धान्त-वाक्य शाक्त-साधना के प्राण हैं । ज्ञान और क्रिया की इसी संयुक्त साधना से साधक को निर्वाण की प्राप्ति होती है । 'महानिर्वाण-तन्त्र' (१४-११५,११६) में कहा गया है कि जप अथवा यज्ञ-यागादि तथा होम से निर्वाण की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत 'सोऽहम्' की अनुभूति तथा आत्मा के द्रष्टा, सत्, सर्वव्यापक, अद्वय, परम तथा शरीरस्थ होते हुए भी शरीर से परे होने की अनुभूति ही निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग है ।

७. ज्ञानयोगी अवधूत

श्री अक्षर अनन्य ने स्वयं को 'ज्ञानयोगी अवधूत' कहा है[1]; अतएव 'अवधूत' के सम्बन्ध में भी विचार करना समीचीन प्रतीत होता है। निर्गुण-सन्तों में कबीर तथा अक्षर अनन्य के अतिरिक्त अन्य कवियों ने 'अवधूत' का अधिक स्मरण नहीं किया है। यद्यपि कबीर ने भी 'अवधूत' के प्रति विशेष अनास्था प्रकट नहीं की है, तथापि अवधूत की अपेक्षा वे 'सन्त' को ही अधिक समादरणीय मानते हैं। उनके पदों में 'अवधूत' का जिस प्रकार उल्लेख किया गया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में अवधूत-परम्परा समाज में अत्यधिक प्रचलित थी तथा उनको पहुंचा हुआ साधक माना जाता था। यही कारण है कि कबीर ने विशिष्ट प्रतिभा-गुणसम्पन्न ऐसे अवधूत को, जो उनकी शंकाओं का समाधान करने में समर्थ हो, अपना गुरु बनाने की बात कही थी।[2] यद्यपि 'जो यह पद कौ करै निबेरा'-जैसी बात कहकर अवधूत की प्रतिभा को वे चुनौती-सी देते हुए प्रतीत होते हैं, किन्तु दूसरी ओर उसे संसार से पूर्ण विरक्त,

---

१. तुम बैकुण्ठ के निवासी धनी वासुदेव,
हम कुटी बासी बे प्रवाह सुख सूत हैं।
तुम चारों फल के दिवैया कर्मफल दाता,
हम फलाफल की करैं न कस्तूत हैं।
तुम देव देव हौ अदेवन के रिपुराज,
हमरे अदेव देव सब सर्वभूत हैं।
तुम दीनबन्धु दीनानाथ हौ 'अनन्य' भनै,
हम दीन नाहीं ग्यानयोगी अवधूत हैं॥

— स्फुट पद्य

२. अवधू सो योगी गुरु मेरा, जो या पद कौ करै निबेरा।
तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहिं वाकैं, अष्ट गगन मुख बागा।
पैर बिन निरति करां बिन बाजै, जिभ्या हीणा गावै।
गावणहार के रूप न रेखा, सतगुरु होइ लखावै।
पंखी का खोज मीन का मारग, कहै कबीर बिचारी।
अपरम्पार पार परसोतम, वा मूरति की बलिहारी॥

—कबीर-ग्रंथावली, १६५

महारस का पान करनेवाला 'जग से न्यारौ जोगी' भी मानते हैं।[1] अवधूत शब्द का कबीर की वाणी में 'अवधू' के रूप में प्रयोग देखकर महाराज श्री विश्वनाथ सिंह ने इसका अर्थ "वधू जाके न होय सो अवधू कहावै" किया है, किन्तु यह अर्थ उपहासास्पद है। वस्तुतः यह शब्द तांत्रिकों का है, जिसे परवर्तीकाल में योगियों, सिद्धों, सहजयानियों तथा नाथों ने अपना लिया।

'शाक्त-तन्त्र' अध्याय में संकेत किया गया है कि कौल-साधक साधना की उच्चतम स्थिति में पहुंचकर अवधूत की अवस्था प्राप्त करता है। 'भैरव डामर' में अवधूत की चार श्रेणियां मानी गयी हैं--कौलावधूत, शैवावधूत, ब्रह्मावधूत और हंसावधूत। कतिपय तन्त्रों में सामान्यतया शैवावधूत तथा ब्रह्मावधूत दो ही श्रेणियां मानकर उनकी तीन-तीन श्रेणियों का उल्लेख किया गया है। शैवावधूत के तीन प्रकार बताये गये हैं–अपूर्ण शैवावधूत, परिव्राजक और पूर्ण शैवावधूत। इसी प्रकार ब्रह्मावधूत के भी तीन प्रकार कहे गये हैं--अपूर्ण ब्रह्मावधूत, परिव्राजक और हंसावधूत।

वर्णमाला के विविध वर्णों को तन्त्र-शास्त्र में 'मातृका' नाम से अभिहित किया जाता है तथा इनमें ही परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी के रूप में शक्ति विराजमान रहती है। 'अ' से लेकर 'ह' तक समस्त वर्णों की पराशक्ति के रूप में अनुभूति ही 'अहं' की भावानुभूति है। वेदान्त-दर्शन ने 'सोऽहम्' के द्वारा जिस आत्मानुभूति की स्थिति की ओर संकेत किया है, उसी को तंत्र-शास्त्र में 'हंस' शब्द से अभिहित किया गया है। आत्मा-परमात्मा की अद्वैतानुभूति ही 'हंस'-अवस्था है। इस प्रकार पूर्ण अद्वैत की स्थिति को प्राप्त अवधूत ही 'हंसावधूत' है। 'महानिर्वाण-तन्त्र' के अनुसार भी शैवावधूत तथा ब्रह्मावधूत दो ही श्रेणियाँ हैं। इनके पूर्ण एवं अपूर्ण दो-दो भेद होने से चार प्रकार के अवधूत माने गये हैं। पूर्ण ब्रह्मावधूत ही हंसावधूत है। अपूर्ण अवधूत के लिए 'सोऽहम्' की भावना से युक्त और 'तत्-सत् के निरन्तर जप का निर्देश किया गया है। इस प्रकार साधना-रत रहकर जब वह

---

१. अवधू जोगी जग थें नारा।
मुद्रा निरति सुरति करि सींगी नाद न खंडै धारा।
बसै गगन में दुनी न देखै चेतनि चौकी बैठौ।
चढ़ि अकास आसण नहिं छांड़े पीव महारस मीठौ।
परगट कंथा माहै जोगी दिल में दरपन जोवै।
सहस इकीस छ सै धागा निहचल नाकै पोवै।
ब्रह्म अगिनि में काया जारै त्रिकुटी संगम जागै।
कहैं कबीर सोई जोगेसुर सहज सुन्नि ल्यौ लागे॥

— कबीर-ग्रंथावली

जल में कमल-पत्रवत् स्थिति प्राप्त कर लेता है, तभी हंसावधूत की स्थिति में पहुंचता है। 'महानिर्वाण-तन्त्र' के अनुसार हंसावधूत के लिए नारी का संसर्ग एवं धातु का स्पर्श वर्जित है। वह पूर्ण निर्बन्ध होकर संसार में रहता है। हंसावधूत के लिए जाति आदि का बन्धन नहीं रहता; वह शरीर के प्रति निरासक्त एवं चिन्ता तथा इच्छाओं से सर्वथा मुक्त होता है। न उसे सुख, दुख, रागद्वेषादि द्वन्द्व ही प्रभावित करते हैं, न उसके लिए पूजन-उपचार, ध्यान-धारणा की ही कोई आवश्यकता होती है। वह स्वयं शिव-रूप होता है।

'महानिर्वाण-तंत्र' (१४-१५०) में कहा गया है कि अवधूत के संस्कार पूर्ण करने पर भी जिस साधक का ज्ञान अपूर्ण होता है, उसे पूर्णज्ञान की उपलब्धि हेतु प्रयत्नशील होना चाहिये। यह निर्देश अपूर्णावधूत के लिए ही दिये गये हैं। अपूर्णावधूत के इन्हीं संस्कारों के सम्बन्ध में कहा गया है कि तत्व-परायण होकर सन्यास की समस्त विधियों का पालन करना, केश धारण करना अथवा रुद्राक्षमाला धारण करना, पूर्णतया दिगम्बर होकर रहना, अस्थिमाला अथवा कौपीन-मात्र धारण करना, रक्त-चन्दन तथा शरीर पर भस्म का लेपन करना ही अवधूत के संस्कार हैं; अर्थात् इन संस्कारों की पूर्ति के पश्चात् साधक अवधूत की स्थिति में पहुंच जाता हैं।[1] इसके पश्चात् ज्ञान-साधना के द्वारा वही अपूर्णावधूत हंसावधूत की स्थिति प्राप्त करता है तथा उस स्थिति में उसके लिए किसी प्रकार के नियम-पालन का कोई बन्धन नहीं।

अधिकांश विद्वानों की धारणा है कि बौद्ध-धर्म के सिद्धान्तों में विकृति आने के परिणाम-स्वरूप ही सहजयानी सिद्धों की परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ था। सिद्धों के व्यावहारिक पक्ष को वे महायान की तथा चिन्तन-पक्ष को हीनयान की परम्परा में स्वीकार करते हैं। चौरासी सिद्धों में से अधिकांश ब्राह्मणेतर अथवा शूद्र जाति के थे और बौद्ध-धर्म जाति-प्रथा में विश्वास नहीं करता, अतएव इस तर्क

---

१. श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि अवधूतो यथा भवेत्।
वीरस्य मूर्ति जानीयात् सदा तत्वपरायणः।
यद्रूपं कथितं सर्वं सन्यासधारणं परम्।
तद्रूपं सर्वकर्माणि प्रकुर्यात् वीरवल्लभम्।
दण्डिनोमुण्डनं चामावस्यायामाचरेद्यथा।
तथा नैव प्रकुर्यात्तु वीरस्य मुण्डनं प्रिये।
असंस्कृतं केशजालं मुक्तालंबि कचोच्चयम्।
अस्थिमाला विभूषा वा रुद्राक्षानपि धारयेत्।
दिगम्बरो वा वीरेन्द्रश्चाथवा कौपिनी भवेत्।
रक्तचन्दनसिक्तांगं कुर्याद् भस्मांग-भूषणम्॥
—निर्वाण तन्त्र, १४ पटल

को उपर्युक्त धारणा के प्रमाण-स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है । बौद्धों ने वैदिक कर्मकाण्ड का विरोध किया था, अतएव उसी को सिद्धों की सहज-साधना का आधार मानने की भी परम्परा चली आ रही है । आश्चर्य है कि विद्वानों का ध्यान अभी तक इस तथ्य की ओर नहीं गया कि सहजयानी सिद्धों और नाथों की परम्परा विकृत बौद्ध-धर्म की नहीं, प्रत्युत तान्त्रिक साधना की देन है । शाक्त-तन्त्रों में जाति के महत्त्व को किसी भी दशा में स्वीकार नहीं किया गया है तथा सभी जाति के पुरुषों, शूद्रों तथा नारी-जाति को भी साधना का समान रूप से अधिकारी माना गया है । सिद्धों और नाथों के व्यवहार एवं चिन्तन दोनों ही पक्ष तान्त्रिक साधना से ही ग्रहण किये गये हैं । 'महानिर्वाण-तन्त्र' (१४-१२१) में वैदिक कर्मकाण्ड, व्रतोद्यापन, तीर्थ-स्नान आदि की निरर्थकता की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि यदि कठोर व्रत धारण करते हुए केवल वायुपान करने, वृक्ष की पत्तियां आदि खाने, अथवा केवल जलपान कर निर्वाह करने से निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है, तो सर्पों, पशुओं, पक्षियों को सबसे पहले निर्वाण की प्राप्ति होनी चाहिये । वस्तुतः तन्त्र-दर्शन की इसी विचारधारा ने सिद्धों को सहज-साधना की ओर प्रेरित किया था । सिद्धों ने जिस सहज-साधना तथा सहजावस्था का निर्देश किया है, वह निस्सन्देह रूप से तन्त्र-प्रतिपादित कौल एवं अवधूत-साधना ही है । जब सिद्ध तिलोपा ने कहा था कि जिस प्रकार विष ही विष के प्रभाव को समाप्त करता है, उसी प्रकार भव-भोग ही भव-मुक्ति का साधन है[1], तो उनकी वाणी तांत्रिक सिद्धांत—जिस माया-शक्ति के द्वारा जीव बन्धन में पड़ता है, उसी के द्वारा उसे मुक्ति भी प्राप्त होती है—के प्रभाव से अछूती नहीं थी । सरहपा ने भोग में ही निर्वाण-प्राप्ति का मार्ग बतलाते हुए कहा है कि आहार-विहार में किसी प्रकार के नियमों का बन्धन न मानने, सुखोपभोग के साथ परम-तत्व का चिन्तन करने तथा अद्वैत की भावना के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है ।[2] सिद्ध कण्हपा ने भी इसी सहज-मार्ग का उपदेश देते हुए कहा है कि शान्त और स्थिर-चित्त साधक को पाप-पुण्य के झमेले में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं । आसक्तिरहित होकर जीवन के समस्त कार्य-व्यापारादि का पालन करते हुए भी निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है ।[3] इस प्रकार सिद्धों ने जिस

---

१. जिम बिस भक्खइ विसहि पलुत्ता, तिम भव भुञ्जइ भवहि ण जुत्ता ।
खण आनंद भेउ जो जाणइ, सो इहि जम्महि जोइ भणिज्जइ ॥

२. खाअन्त पीअन्ते सुहहि रमन्ते, णित्ति पुण्णु चक्काविभरन्ते ।
अइस धम्म सिज्झई परलोअइ, नाहपाये दलीउ भअ लोअह ॥

३. णित्त रंग सम सहज रुअ, सअल कलुस विरहिस ।
पाप पुण्य रहिए कुच्छ णाहि, काण्ह फेर कहिये ॥

सहज-साधना को महत्त्व दिया था, वह नियममुक्त अवधूत-साधना ही है। पूर्णावधूत अथवा हंसावधूत के लिए किसी प्रकार के नियम, वेश-भूषा, स्थान, जप-विधान आदि का बन्धन नहीं रहता। कबीर की पंक्ति 'मुद्रा निरति सुरति करि सींगी' का यह अर्थ लगाना कि अवधूत मुद्रा, निरति, सुरति और सींगी धारण करता है, स्पष्ट रूप से अर्थ का अनर्थ ही है। कबीर ने 'अवधू जोगी जग थैं न्यारा' कहकर उपर्युक्त शब्दों के द्वारा वस्तुतः उसके सम्बन्ध में यही कहा है कि अवधूत 'निरति' की मुद्रा तथा 'सुरति' की सींगी धारण करता है। 'चढ़ि अकास आसण नहिं छांड़े' से उनका तात्पर्य सहस्रार-स्थिति शिव-तत्व के साथ एकात्मकता की भावना से एवं नाक में निश्चल रूप से इक्कीस सहस्र छः सौ धागे पिरोने से उनका अभिप्राय किसी भी हठयोग-प्रक्रिया, यथा प्राणायाम आदि से मुक्त सहज-भाव से श्वास-प्रश्वास-क्रिया, से ही है। इस प्रकार स्पष्टतः कबीर ने भी अवधूत को नियम एवं पूजा-अर्चना के विधानों से सर्वथा मुक्त, पहुंचा हुआ साधक माना है। अपने इसी विचार को उन्होंने एक अन्य पद के द्वारा अभिव्यक्त कर कहा है कि हृदय में मुद्रा धारण करनेवाला, मन में ही खप्पर तथा सींगी धारण करनेवाला, अंतस्साधना में रत साधक ही सच्चा योगी है।[1] ये समस्त उल्लेख तांत्रिक अवधूत–हंसावधूत–के प्रति स्पष्ट संकेत हैं।

श्री अक्षर अनन्य ने ज्ञानयोगी एवं अवधूत के जीवन, उसके रहन-सहन आदि का अपनी कृतियों में अनेक स्थलों पर वर्णन किया है। उनके ज्ञानयोगी एवं अवधूत में किंचित्-मात्र भी अन्तर प्रतीत नहीं होता, प्रत्युत दोनों एक ही हैं। उनके अनुसार ज्ञानी पुरुषों के साथ ज्ञानवान् की भांति तथा अज्ञानियों के साथ अज्ञानीवत् व्यवहार करना, गृहस्थों में गृहस्थ की भांति, अतीत के साथ अतीत की भांति रहना और स्वयं किसी भी संग-दोष से प्रभावित न होते हुए भी जिस प्रकार का समाज हो, उसमें उसी प्रकार का व्यवहार करना ज्ञानी पुरुष का लक्षण है।[2] बुद्धि की अपरिपक्वता के

---

१. सो जोगी जाके मन मैं मुद्रा। राति दिवस ना करई निद्रा॥
मन मैं आसण मन मैं रहणा। मन का जप तप मनसूं कहणा॥
मन मैं खपरा मन मैं सींगी। अनहद बैन बजावै रंगी॥
पंच पर जारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका॥
—कबीर-ग्रंथावली, २०६

२. जानिनि में जान से अजान से अजानिनि में,
जानिनि अजान बान तैसिये कहन है।
गेहिनि में गेही से अतीत से अतीतिनि में,
गेहिनि अतीत भेष लीला सी लहन है।
जैसिनि में तैसे आप जैसे ही के तैसे सदा,
ऐसे प्रतिभान धुनि अन्तर गहन है।
सहज सुभाव ही सौं बिहरै जगत माँहि,
बरनी 'अनन्य' ऐसी ग्यानी की रहन है॥ -अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १-६

कारण ही व्यक्ति संग-दोष से प्रभावित होता है। जिस प्रकार जल का संसर्ग जिस किसी भी रंग से होता है, वह उसी रंग के अनुरूप हो जाता है, उसी प्रकार कच्ची अर्थात् अपरिपक्व बुद्धि से युक्त व्यक्ति साधु की संगति में साधु-जैसा आचरण करता है तथा चोर के साथ मिलकर चोरी करता है। इस प्रकार के आचरण एवं क्रिया-व्यापार में जो व्यक्ति उन संग-दोषों के प्रभाव से प्रभावित होता है तथा ज्ञानी की भाँति निर्लिप्त नहीं रहता, वह अज्ञानी है एवं इस प्रकार पुरुषार्थ का क्षयकर्ता है। योगी को अग्नि के समान आत्मविजयी होना चाहिए, जिससे वह बाह्य स्थितियों के प्रभाव से पूर्णरूपेण मुक्त रहकर उन सबको एवं संसर्ग में आनेवाले समस्त व्यक्तियों को अपने प्रभाव से ठीक उसी प्रकार अभिभूत कर दे, जिस प्रकार अग्नि के संसर्ग में आते ही सभी घास-पात, कूड़ा-करकट स्वयं अग्नि-रूप हो जाते हैं।[1] अक्षर अनन्य के ज्ञानयोग के सम्बन्ध में अन्यत्र विचार किया गया है। जो साधक राग-द्वेष आदि विकारों से, हर्ष-विषाद आदि द्वन्द्वों से सर्वथा मुक्त रहता है तथा विश्व-जीवन अथवा मुक्ति की आशा-इच्छा का भी परित्याग कर देता है, जिसके लिए शत्रु-मित्र, जय-पराजय, प्रशंसा और गालियों में कोई अन्तर नहीं रहता, जो न किसी के प्रति अनुरक्त होता है, न किसी से विरक्त तथा परमशिव-शक्ति-तत्व के साथ एकरूप होकर रहता है, वही 'अनन्य' के शब्दों में 'अवधूत' है।[2] अक्षर अनन्य के जिस कवित्त को प्रारम्भ में उद्धृत किया जा चुका है, उसके अनुसार उन्हें पुरुषार्थ-चतुष्टय में से

---

१. जौलौं बुद्धि कांची तौलौं पानी कैसौ अंग जान,
जाही रंग मिलै होत ताही रंग मय है।
साधु संग साधु चोर संग मिलि चोरी करै,
कैसौ सावधान पुरुषारथ को छय है।
'अक्षर अनन्य' ग्यान अंग है अगिनि जैसौ,
घास पात कंडा करकट काठ लय है।
पलटै न आपु मिलै ताहि करै आपुही सौ,
जीतै संग दोष ताही जोगी की विजय है॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १-१

२. राग न दोष न हर्ष न सोक,
न बंधन मोक्ष की आस रही है।
बैर न प्रीति न हार न जीत,
न गारि न गीत सुरीति गही है।
रक्त विरक्त न मान कछू,
सिव सक्ति निरन्तर जोति लही है।
निर्गुन ग्यान 'अनन्य' भनै,
अवधूत अतीत की रीति यही है॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ३-५

किसी की भी, मुक्ति की भी, अभिलाषा नहीं थी; देव तथा अदेव सभी उनकी दृष्टि में समान थे तथा वे अन्य साधकों की भांति अपने आराध्य के सम्मुख भिखारी की भांति हाथ फैलाकर खड़े नहीं हो गये, प्रत्युत वे पूर्णरूपेण राग-द्वेष से रहित पूर्ण-काम, मनोजयी ज्ञानयोगी अवधूत थे ।

श्री भर्तृहरि ने अवधूत-साधक की चर्या का वर्णन करते हुए लिखा है कि वह भिक्षा के द्वारा प्राप्त अन्न का ही भक्षण करता है, समाज के मध्य रहते हुए उसके प्रति पूर्णतया निःसंग रहता है । नियमादि से स्वतन्त्र अपने कार्य-व्यापार में रत, हानि-लाभ से पूर्ण उदासीन, जीर्ण-शीर्ण वस्त्रों को धारण कर, मान अथवा अहंकार की भावना से रहित कन्थासीन अविचलित शान्ति-सुख के आनन्द का अनुभव करने-वाला ही सच्चा तपस्वी है ।[1] जिस साधक के लिए हाथ ही पवित्र पात्र हैं, जो भिक्षान्न के द्वारा ही अपने शरीर का पोषण करता है, कलुषरहित दिशाएं ही जिसके वस्त्र हैं, संग-दोष-विवर्जित आत्मतुष्ट वह साधक समस्त पाप-पुण्यों के फलों को निर्मूल कर देता है ।[2]

उल्लेखनीय है कि नाथ-सम्प्रदाय को 'अवधूत मत' भी कहा जाता है । 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' की एक कथा के अनुसार श्री शंकराचार्य को कापालिकों द्वारा पराजित होना पड़ा था । कापालिकों ने अपने मत की प्रतिष्ठा में वृद्धि करने के उद्देश्य से ही यह प्रयास किया था; किन्तु इसके पश्चात् भी यह कहा जाकर कि 'हमारा मत तो अवधूत मत ही है'[3] अवधूत मत को ही श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया । 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में अवधूत को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा गया है । इसकी वाणी में स्वयं वेद निवास करते हैं तथा जहां भी अपना पैर रखता है, वहीं तीर्थ बन जाता है । इसकी दृष्टि में ही कैवल्य स्थित रहता है । उसके एक हाथ में भोग तथा दूसरे हाथ में त्याग रहता है अर्थात् भोग और निर्वाण दोनों का ही समान अधिकारी होते हुए दोनों के प्रति पूर्ण निर्लिप्त रहता है, यहां तक कि त्याग और भोग के प्रति भी

---

१. भिक्षाशी जनमध्यसंगरहितः स्वायत्तचेष्टः सदा ।
हानादानविविक्तमार्गनिरतः कश्चित्तपस्वी स्थितः ।
रथ्याकीर्णविशीर्णजीर्णवसनः संप्राप्तकन्थासनो ।
निर्मानो निरहंकृतिः शमसुखाभोगैकबद्धस्पृहः ॥

२. पाणिः पात्रं पवित्रं भ्रमणपरिगतं भैक्षमक्षय्यमन्नं ।
विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमपमलं तल्पमस्वल्पमुर्वी ।
येषां निःसंगतांगीकरणपरिणतस्वान्तसंतोषिणस्ते ।
धन्याः संन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकराः कर्म निर्मूलयन्ति ॥

३. "अस्माकं मतं त्ववधूतमेव"

उसकी कोई आसक्ति नहीं होती।[1] अवधूत की साधना सहज-साधना है। उत्तम कौल-साधक को ही 'अवधूत' की श्रेणी में मानकर 'गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह' में कहा गया है कि बहिरंग उपासना से उठकर जब साधक अंतस्साधना की स्थिति ग्रहण कर लेता है, तब वही साधक अवधूत है। इसके लिए बाह्य वेश-भूषा, आचार-विचारों का कोई महत्त्व न होने के कारण यह कभी योगी, त्यागी, तपस्वी की भांति रहता है, कभी नग्न पिशाचवत् विचरण करता है, तो कभी राजा के समान एवं आचार-परायण होकर रहता है।[2]

अक्षर अनन्य ने जिस ज्ञानयोग की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, वह स्वयं साधना का ऐसा उच्चतम रूप है कि उस स्थिति में साधक समस्त राग-द्वेषों से मुक्त होकर उपासना के समस्त विधि-विधानों से ऊपर उठकर जीवन-मुक्त की स्थिति में होता है। यह स्थिति अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाती, प्रत्युत इसे प्राप्त करने हेतु साधक को प्रारम्भ में इन्द्रियनिग्रह, संयम-नियम, उपासना-विधान सभी का पालन करना होता है। जब तक अविद्या का पाश साधक को आबद्ध किये रहता है, तब तक उसके भ्रम की निवृत्ति नहीं होती। 'विद्या' की साधना से ही अविद्या का पाश टूटता है। उसके लिए पढ़ना-लिखना, वेदादि ग्रंथों का अध्ययन करना तथा त्यागी-तपस्वियों का वेश धारण करना निरर्थक है। शरीर पर चिता-भस्म अथवा चंदनादि अंगराग का लेपन करने में भी कोई अन्तर नहीं। जो साधक परमतत्व के ध्यान में लीन रहता है, वही अवधूत है।[3]

---

१. **वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे।**
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः।
एकहस्ते धृतस्त्यागो योगश्चैककरे स्वयम्।
अलिप्तस्त्यागयोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः॥

—गोरक्ष-सिद्धान्त-संग्रह

२. **क्वचिद्योगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत्।**
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतो विधीयते॥

३. **साधै नहीं विद्या तौलौं छूटै न अविद्या पास,**
छूटै न अविद्या तौलौं मन भ्रम भूत है।
कहा पढ़ें गुनैं कहा त्याग हू विराग करैं,
स्वांग धरैं बन्दर न होत रजपूत है।
'अक्षर अनन्य' सिद्ध साधुन कौ मत यहै,
साधै धुनि ध्यान दूरि करै अघदूत है।
भसम लगावै कै चढ़ावै चोवा चन्दन कौ,
वहै जग मांझ राजजोगी अवधूत है॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-६

अक्षर अनन्य ने जिस प्रकार का जीवन व्यतीत किया, वह पूर्ण रूप से ज्ञान-योगी अवधूत का ही जीवन था। यद्यपि वे पृथ्वीसिंह के अनुरोध पर सेंवढ़ा आकर रहे, तथापि वहां पर दृढ़तापूर्वक अपने स्थान पर ही रहे और वहां से डिगे तक नहीं। महाराज छत्रसाल के निमन्त्रण को अस्वीकार करते हुए उन्होंने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि हमने इधर-उधर आना-जाना छोड़ दिया है।[1] सेंवढ़ा में पृथ्वीसिंह भी उनको राज-महलों में आने हेतु सादर आमन्त्रित करते थे, किन्तु अक्षर अनन्य ने तो राज-सभाओं में जाना, तीर्थाटन, देवालयों में जाना आदि सब कुछ 'भ्रमना' समझकर त्याग दिया था। अपना स्थान छोड़कर किसी दूसरे स्थान पर न जाने के सम्बन्ध में अनन्य को उनके गुरु द्वारा आदेश दिया गया था, जिसका उल्लंघन उन्होंने जीवन भर कभी नहीं किया।[2] उनके स्थान पर ही उनके लिए भला-बुरा जो कुछ हो जाता था, उसी को वे सहर्ष स्वीकार करते थे; किन्तु किसी दूसरे स्थान पर पैर रखना भी उन्हें स्वीकार नहीं था।[3] अपने को ज्ञानयोगी अवधूत कहते हुए उन्होंने देव-अदेव के प्रति सम भाव प्रकट किया है तथा राम-रावण, कृष्ण-कंस, गृहस्थ-अतीत, चर-अचर सभी में एक ही परमतत्व की स्थिति का अनुभव करते हुए उन्हें किसी में कुछ भी भेद दिखाई नहीं दिया।[4] ज्ञानयोगी अवधूत की दृष्टि में

---

१. आयबो जैबौ हमारो नहीं,
सनकादि के धाम में आसन मंडी।
तीरथ देवल राज सभाननि,
जात नहीं भ्रमना सब छंडी॥

२. आसन तें न चलौं विय आसन,
आयसु दीन गुरू सर्वग्या।
सो न उलंघि परै हम पैं,
गिरि मेरुहि तें गरुई गुरु अग्या॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-१७

३. आसन होय सु होय भलैं,
पर आसन पांय परै न हमारौ।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३-४

४. राम रूप सो है कहो रावन में को है,
कृष्न रूप जग मोहै कहौ कंस कहा लाग्यौ है।
सुरासुर सोई रूप ईस्वर के दोई,
और दूसरौ न कोई पाप पुन्य यहै पाग्यौ है।
चराचर देही धरै आतमा विदेही कौन,
अतित को ग्रेही यहै जानै भ्रम भाग्यौ है।
परापर ब्रह्म छराछर कौ बिचार नाहीं,
याही अनुभव सौं 'अनन्य' अनुराग्यौ है॥
—ज्ञान-तरंग, ११

एक ही परमतत्व समस्त भूतों में जीवात्मा के रूप में अवतरित होने के कारण सभी समान हैं। इस प्रकार की समत्व दृष्टि किसी पहुंचे हुए साधक को ही प्राप्त हो सकती है। अक्षर अनन्य ने आत्मा के एकत्व की पूर्ण अनुभूति प्राप्त की थी, अतएव उन्हें चींटी, हाथी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, हरि, हर, विष्णु, इन्द्र, विप्र, चाण्डाल, सम्पन्न, दरिद्र, देवता, राक्षस, सेव्य, सेवक, साधु, असाधु किसी में कोई अन्तर नहीं रहा था। जिस प्रकार एक ही माला की छोटी-बड़ी गुरियों में कोई भेद नहीं, उसी प्रकार छोटे-बड़े शरीरधारी विभिन्न प्राणियों की आत्मा में उनके लिए किसी प्रकार का भेद नहीं रहा था।[1] कोई व्यक्ति रूपवान एवं सुन्दर होता है, कोई दुर्बल तथा कुरूप होता है, कोई पंडित और कोई अज्ञानी मूर्ख होता है; शूरवीर, सुपुत्र, कायर, कुपुत्र, सम्पन्न, दरिद्र, निष्काम, साधु, कामी, रसिक, दाता, याचक विभिन्न स्वभाव-प्रकृति से युक्त विभिन्न प्रकार के व्यक्ति समाज में होते हैं, किन्तु उनकी यह विविधता केवल उनके गुण-दोषों के कारण है; उनके ब्रह्मैक-रूप आत्मा में किसी प्रकार का अन्तर अक्षर अनन्य ने नहीं देखा।[2]

साधक की किसी भी प्रकार की बाह्य वेश-भूषा में अक्षर अनन्य को किंचित्-मात्र भी विश्वास न था। उनके मतानुसार भक्ति की कोई वेश-भूषा नहीं होती।[3]

---

१. चैंटी हू गयंद कहा तारे रबि चंद ब्रह्म,
हरिहर इन्द्र की उपासना न टेक है।
बिप्र हू चंडार कहा दारिदी भंडारवार,
राम ही महार सौ महारनै विसेष है।
देव हू अदेव सेव सेवक की साध नाहीं,
साधु ही असाधुनि के चिन्ह तन भेद है।
माला कैसे गुरिया ज्यौं भिन्न न 'अनन्य' भनै,
छोटे बड़े आतमा हमारें सब एक हैं॥
—ज्ञान-तरंग, १२

२, सुन्दर सरूप एकै दुर्बल कुरूप लसै,
पंडित सुजान एकै मूरिख अजान है।
सूरिवां सपूत एकै काइर कपूत तहां,
संपति प्रधान एकै दारिद निधान है।
साधु निहकाम एकै रसिक सकाम सदा,
दाता बहु दानि एकै जाचक प्रमान है।
गुननि के भेद ब्रह्म भेद न 'अनन्य' भनै,
मेरे जान मान सबै मानस समान हैं॥
—ज्ञान-तरंग, १३

३. भेष नहीं कछु भक्ति कौ, नहीं तिलक नहिं छाप।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, २–११

ज्ञानयोगी अवधूत की स्थिति में वे पण्डित, मूर्ख, धनी अथवा दरिद्र कुछ भी नहीं थे, प्रत्युत ये सभी उनकी दृष्टि में समान थे। अवधूत की 'सहज दसा' प्राप्त कर योग, राग, वैराग्य, नियम, धर्म, व्रत सभी का उन्होंने परित्याग कर दिया था।[1] इसके अतिरिक्त केवल उसी 'वैरागी' के प्रति उन्होंने अपनी श्रद्धा प्रकट की है, जो साधना के बाह्य आचार-विधानों से ऊपर उठकर 'सहज-दसा' में स्थित संसार में जीवनमुक्त होकर विचरण करता हो। बाह्य रूप से धारण किया हुआ वेश, तिलक, छापा, माला, श्रवणी, कंठी, गूदरी, कौपीन आदि उतारकर रखा जा सकता है और इस प्रकार कोई भी व्यक्ति इनके धारण करने से न तो भक्त बन सकता है और न कोई भक्त अथवा सच्चा साधक इनके धारण न करने से साधक-पद से च्युत ही होता है। इसके विपरीत जो साधक अपने सिर पर सत् की टोपी पहनता है, जत की कौपीन पहिनता है, गुरु-सबद की श्रवणी, सुकृत की कंठी, ज्ञान की गूदरी धारण करता है, उसका यह वेश किसी भी दशा में उतारा नहीं जा सकता। ज्ञान-योगी का यही अटल वेश है तथा इसी को धारण करनेवाले योगी-वैरागी के प्रति अनन्य के हृदय में आस्था थी।[2]

इस प्रकार अक्षर अनन्य का अवधूत वह शाक्त साधक है, जो कौलाचार से भी ऊपर उठकर सहज-दसा में स्थित जीवन-मुक्त की अवस्था प्राप्त कर लेता है। अक्षर अनन्य ने स्वयं अपने सम्बन्ध में जो उल्लेख किया है, उसके अनुसार वे स्वयं भी ज्ञानयोगी अवधूत थे।

---

१. **गुरु कौ सबद अधार हमारैं।**
आन धरम धन नजर न आवत, तत्व ग्यान के गारैं।
ना हम पण्डित ना हम मूरख, धन दारिद न हमारैं।
धनी दारिदी मूरख पण्डित, एकहि नजर निहारैं।
ना हम रागी ना बैरागी, राज न जोग बिचारैं।
राजजोग रागनि बैरागनि, तत्वनाम पर वारैं।
ना हम नैम धरम ब्रत जानैं, सहज दसा मतवारैं।
हमरी गति सिव सक्ति महा प्रभु, कहि 'अनन्य' निरधारैं॥
—गुणानबत्तीसी, २५

२. **सो बैरागी मो मन भावै।**
तन करि सहज दसा जग बिहरै, मनहि भेष पहिरावै।
सत कौ टोप देय सिर ऊपर, तत्त कौ तिलक लगावै।
मत की माला पहिर हिये में, जत कौपीन करावै।
गुरू सबद की स्रवणी स्रवननि, सुकृत की कंठी नावै।
ग्यान गूदरी ओढ़ि महा दृढ़, सिद्ध महन्त कहावै।
और भेष पाखण्ड डिंभ गुन, पलक धरै मिट जावै।
कहि 'अनन्य' निज ग्यान जोग मत, अटल भेष पद पावै॥ —गुणानबत्तीसी, २६

८· अक्षर अनन्य के साधना-सिद्धान्त

जिस प्रकार 'सिद्ध' शब्द से चौरासी सिद्धों का तथा 'नाथ' शब्द से 'मछन्दरनाथ', 'गोरखनाथ' आदि नव-नाथों का बोध होता है, उसी प्रकार 'सन्त' शब्द से यद्यपि हिन्दी साहित्य के सधना (सं० १३२७-१४०७) और कबीर (पंद्रहवीं शताब्दी) से लेकर श्री शिवदयाल (सं० १८७५-१९३५) तक का बोध हो जाता है, तथापि इन सन्तों को दर्शन एवं साधना-मूलक दृष्टि से किसी एक निश्चित परम्परा का स्वीकार करने में कठिनाई होती है। जब हम देखते हैं कि ज्ञानाश्रयी-साधना-रत इन सन्तों के साथ-साथ अन्य समाज-सुधारक तथा सन्त-पदवीधारियों को भी सन्त-परम्परा के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाने लगा अथवा विशुद्ध रूप से भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने-वाले महात्माओं और ज्ञानाश्रयी सन्तो को एक श्रेणी में रखा जाने लगा, तब हमारा यह कार्य और भी कठिनतर बन जाता है। यद्यपि भक्तों एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को 'सन्त' शब्द से अभिहित किये जाने का मैं विरोधी नहीं हूं, तथापि जहां तक हिन्दी साहित्य का प्रश्न है, उसमें केवल उन्हीं कवि-महात्माओं को, जिन्होंने अपनी वाणी के द्वारा निर्गुण ब्रह्म तथा ज्ञानाश्रयी साधना का उपदेश दिया है, सन्त-परम्परा के अन्तर्गत मानने का समर्थक अवश्य हूं। इस परम्परा के समस्त सन्तों ने ब्रह्म के सगुण-साकार रूप को अस्वीकार न करते हुए भी उसके निर्गुण-निराकार रूप की साधना का ही प्रतिपादन किया है। साधना के बाह्य आचार-विधानों का, जिनके कारण मध्यकाल में आडम्बर और पाखण्ड को पनपने का अवसर मिला था, तथा मूर्तिपूजा का, सभी सन्तों ने खण्डन किया और मध्यम-मार्ग का अनुसरण करते हुए साधना की सहज-पद्धति अपनाने पर ही बल दिया। इसके अतिरिक्त न तो उन्होंने ब्रह्म, जीवन और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध-जैसे दार्शनिक विवेचन के झमेले में पड़ने की आवश्यकता समझी और न साधना की किसी निश्चित पद्धति का ही निर्देश किया। इन सन्तों के द्वारा अथवा इनके नाम पर उनकी शिष्य-मंडली द्वारा अलग-अलग पंथों की स्थापना भी की गयी थी; किन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है, ये पंथ भी किसी विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा के अथवा निश्चित साधना-पद्धति के द्योतक नहीं। हिन्दी साहित्य के प्रायः समस्त समीक्षकों एवं सन्त-साहित्य के विद्वानों ने स्वीकार किया है कि ये सन्त न तो अधिक पढ़े-लिखे थे और न उन्होंने वेद-शास्त्रादि का ही अध्ययन किया था। केवल स्वानुभूति के आधार पर ही अटपटी वाणी में उन्होंने

अपने विचारों को अभिव्यक्त किया और इस दशा में गंभीर दार्शनिक विवेचन एवं क्रमबद्ध साधना-सिद्धान्तों के निर्देश की उनसे अपेक्षा भी नहीं की जा सकती। गुरु के प्रति श्रद्धालु शिष्यों का समुदाय गुरु के नाम पर पंथ की स्थापना कर स्वयं को अलग कर लेता था। रैदासी सम्प्रदाय-जैसे पंथों की स्थापना तो मात्र जाति के आधार पर हुई थी। इस प्रकार पूरी संत-परम्परा की न तो एक निश्चित विचार-धारा ही है, और न किसी विशेष साधना-पद्धति को ही संतों की साधना-पद्धति माना जा सकता है। कबीर के जीवनवृत्त और उनकी वाणी से स्पष्ट है कि एक ओर उन्होंने नाथ-पंथियों और योगियों के प्रभाव में आकर उनकी साधना-पद्धति का श्रद्धा के साथ उल्लेख किया[1] और दूसरी ओर यौगिक क्रियाओं की निस्सारता प्रतिपादित करते हुए उनका परित्याग कर सहज-साधना का निर्देश किया।[2] अद्वैतवाद के प्रबल

---

१. अवधू गगन मण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंक नालि रस पीवै॥
मूल बांधि सर गगन समाना सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोउ भया पलीता तहां जोगणी जागी॥
मनुवाँ जाइ दरीबै बैठा मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर जिय संसा नाहीं सबद अनाहद बागा॥ —कबीर-ग्रंथावली, ७०

नर हरि सहजैं हीं जिनि जाना।
गत फल फूल तत्त तर पल्लव अंकुर बीज नसांनां॥
प्रगट प्रकास ग्यान गुरुगमि थैं ब्रह्म अगनि प्रजारी।
ससि हर सूर [illegible] दूरतर लागी जोग जुग तारी॥
उलटे पवन चक्र षट बेधा मेर डंड सर पूरा।
गगन गरजि मन सुन्न समाना बाजे अनहद तूरा॥
सुमति सरीर कबीर विचारी त्रिकुटी संगम स्वामी।
पद आनंद काल थैं छूटै सुख में सुरति समानी॥ —कबीर-ग्रंथावली, ७
गगन की ओट निसाना है।
दहिने सूर चन्द्रमा बायें तिनके बीच छिपाना है॥
—हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर

२. आसन पवन किये दिढ़ रहै रे, मन का मैल छांड़ि दे बौरे।
क्या सींगी मुद्रा चमकाये, क्या विभूति सब अंग लगाये॥
—कबीर-ग्रंथावली, ३५५

मन ना रंगाये रंगाये जोगी कपड़ा।
आसन मारि मंदिर में बैठे, ब्रह्म छांड़ि पूजन लागे पथरा॥
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाये जोगी होय गैले बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी होय गैलै हिजरा॥
मथवा मुड़ाय जोगी कपड़ा रंगौले, गीता बांच के होय गैलै लबरा।
कहहि कबीर सुनौ भई साधो, जमदर बगवा बांधल जैबे पकड़ा॥
—हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर

समर्थक होते हुए भी उन्होंने स्वयं को 'राम का कुत्ता' कहने में भी संकोच नहीं किया।[१] डा० मोती सिंह ने भी यह स्वीकार किया है कि कबीर प्रारम्भ में यौगिक साधना के महत्त्व को स्वीकार करते थे, किन्तु बाद में उन्हें वे व्यर्थ मानने लगे थे। उन्होंने लिखा है कि इस अवस्था में पहुंचकर कबीर को योग की शारीरिक क्रियाएं भी व्यर्थ प्रतीत हुईं। उन्हें सहज-समाधि की अवस्था ही साधना की अन्तिम परिणति प्रतीत हुई, जिसमें कभी सुरति का अन्त नहीं होता और जिसमें प्रति क्षण उठते-बैठते उसका विस्मरण नहीं होता। इस प्रकार कबीर का योग समन्वय-योग नहीं था; वह ऐसा योग था, जिसमें सभी बाह्य उपचारों का परिहार करके केवल अन्तर्मन की साधना को ही साध्य माना गया था। कबीर ने प्रेम और विरह का जो वर्णन किया है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। उनके पदों तथा अन्य साखियों में भक्ति-भावना का जो सशक्त वर्णन किया गया है, उसके आधार पर वे भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा किसी भी दशा में कम महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। डा० मोती सिंह ने कबीर के इन विचारों के सम्बन्ध में लिखा है :—"ऐसा प्रतीत होता है, कबीरदास पर भक्ति-भावना का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। रामानन्द का शिष्यत्व जनश्रुति के अनुसार इन्होंने आरम्भ में ही ग्रहण किया था, किन्तु इनके ऊपर इस मार्ग का प्रभाव निरन्तर प्रबल होता गया। निर्गुण-सगुण तथा प्रेममूला-भक्ति, तथा सब के मूल में भक्त और साधक की आत्मसमर्पण की विह्वलता, सर्वप्रथम थी। अतः कबीर का झुकाव जिस रूप में भक्तिवाद की ओर बढ़ा, उसमें अनिवार्य था कि बाह्य क्रिया-बहुल योग-मार्ग उन्हें हेय प्रतीत हो।"[२] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[३] के मतानुसार कबीर तात्विक दृष्टि से अद्वैतवादी नहीं थे और उनके निर्गुण राम में और वेदान्तियों के पारिभाषिक निर्गुण-ब्रह्म में मौलिक भेद है। श्री द्विवेदीजी अद्वैत-भावना को भक्ति-मार्ग में बाधक न मानकर कबीर को भी भक्ति की विशिष्ट पद्धति का अनुयायी मानते हैं। कबीर ने अपने विचारों को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ज्ञान की आंधी के द्वारा भ्रम का विनाश हो जाता है, माया का बन्धन टूट जाता है, मोह-ममता का अन्त हो जाता है, तृष्णा और कुबुद्धि की भी समाप्ति हो जाती है, अन्तर्मन में विद्यमान कपट-भाव भी शेष नहीं रहता; किन्तु इन सबको उन्होंने लक्ष्य-प्राप्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया। ज्ञान को आंधी के रूप में स्वीकार कर, उसके पश्चात् जल-वर्षण एवं सूर्य-प्रकाश के उदय को महत्त्व देकर सम्भवतः उन्होने ज्ञान को भक्ति

---

१. कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउं।
गले राम की जेवड़ी, जित खैंचें तित जाउं॥

२. डा० मोती सिंह : निर्गुण-सम्प्रदाय : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

३. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर

के सोपान के रूप में ही स्वीकार किया है।[१] डा० मोती सिंह के शब्दो में "ज्ञान की यह आंधी भक्ति-रूपी जल-वर्षा के पहले की भूमिका है।" ज्ञान की सहायता से मन को निर्मल करके भगवत्-प्रेम की प्राप्ति ही कबीर का लक्ष्य था। संत रैदास ने 'परम वैराग' की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए 'अष्टांग साधन' का निर्देश किया।[२] धन्ना भगत को 'दयालु दामोदर' पर अटल विश्वास था और इनकी साधना का आधार भी उसकी दयालुता है।[३] नानक ने मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, जाति-पांति का खण्डन करते हुए त्रिमूर्ति—ब्रह्मा, विष्णु, महेश के सिद्धान्त को स्वीकार किया।[४] उससे भी परे प्रणव को सर्वाधिक महत्त्व देते हुए नाम-सुमिरन को ही उन्होंने साधना का प्रमुख अंग माना। 'दादूदयाल' की रचनाओं में कबीर की तरह अक्खड़पन और खण्डन की उतनी तीव्र प्रवृत्ति नहीं है; उनमें आत्म-समर्पण और दास्य-भावना की नम्रता विशेष मात्रा में है। ऐसा प्रतीत होता है कि दादूदयाल पर कबीर की अपेक्षा सूफी-सम्प्रदाय का अधिक प्रभाव था; क्योंकि उनकी रचनाओं में दर्द, विरह और दैन्य की व्यंजना अधिक सफल हुई है।[५] वस्तुत: दादूदयाल दास्य-भाव के प्रभाव को इतना अधिक स्वीकार करते थे कि उनकी वाणी में ज्ञान की गरिमा के स्थान पर दैन्य की ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है। घर और वन को साधना की दृष्टि से सर्वथा समान स्वीकार करनेवाले इन सन्तों की परम्परा में ही सुन्दरदासजी ने गृह त्यागकर वन जाने के महत्त्व का भी प्रतिपादन किया है।[६] कबीर-जैसे सिद्ध

---

१. संतो भाई आई ग्यान की आंधी रे।
भ्रम की टाटी सबै उडाणी माया रहै न बांधी॥
हित चित्त की द्वै थूनी गिरानी मोह बलींडा टूटा।
त्रिस्ना छानि परी घर ऊपर कुबुधि का भांडा फूटा॥
जोग जुगति कर संतौं बांधी निरचू चूवै न पाणी।
कूड़ कपट काया का निकस्या हरि की गति सब जाणी॥
आंधी पीछे जो जल बूठा प्रेम हरी जन भीना।
कहै कबीर भान के प्रगटैं उदित भया तम षीना॥
— कबीर-ग्रंथावली, १६

२. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत परम्परा

३. वही

४. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय

५. डा० मोती सिंह : निर्गुण सम्प्रदाय : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

६. कन ही कनकूँ बिललात फिरैं, सठ जाचत है जन ही जनकूं।
तन ही तनकूं अति सोच करै, नर खात रहै अन ही अनकूं।
मन ही मन की तृषणा न मिटी, पुनि धावत है धन ही धनकूं।
छिन ही छिन सुन्दर आयु घटी, कबहूँ न गयौ बन ही बनकूं॥
—सुन्दर-विलास

संतों ने जब चांडाल-वैष्णव को हृदय से लगाने और ब्राह्मण-शाक्त से दूर रहने का उपदेश दिया था,[1] तब उनकी बात भी कठिनाई से ही समझ में आती है। निर्गुण-निराकार ब्रह्म एवं सर्वव्यापक राम की सत्ता को स्वीकार करने तथा ईश्वर-अल्लाह में अभेद माननेवाले कबीर को विष्णु और शक्ति अथवा वैष्णव और शाक्तों के बीच भेद दिखाई देने का आधार उनकी बानी से भी स्पष्ट नहीं होता। सुन्दरदासजी[2] की तो बात ही क्या, कबीर-जैसा संत भी जब नारी के नाम से घबड़ा जाता है, तब आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।[3]

संतों के सम्बन्ध में ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिन्होंने समीक्षकों और विद्वानों को यहां तक कहने के लिए विवश कर दिया कि उनका कोई शास्त्र न था और न कोई शब्द-प्रमाण था। जितने भी सन्त हुए, उनमें दो-एक को छोड़कर प्रायः सभी या तो अशिक्षित थे अथवा साधारण शिक्षित थे, किन्तु किताबी ज्ञान न होते हुए भी उनमें आत्म-ज्ञान का तेज था। उनकी शिक्षा, उपदेश तथा साधना-पद्धति सभी गुरु के उपदेश पर ही निर्भर रहते थे।[4] यद्यपि समस्त संतों ने ज्ञान और भक्ति को समान रूप से महत्त्वपूर्ण माना, बाह्याचारों का खण्डन किया, आडम्बर और पाखण्ड की निन्दा की, साधना की सत्यता को स्वीकार किया, मध्यम मार्ग के अनुसरण का उपदेश दिया और सहज-साधना की श्रेष्ठता प्रतिपादित की, तथापि सब की एक निश्चित साधना-पद्धति स्वीकार करना संभव नहीं। डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सन्तों को अद्वैतवादी, भेदाभेदवादी तथा विशिष्टाद्वैतवादी, तीन श्रेणियों में विभक्त करते हुए

---

१. साकत बांभण मति मिलै, बैस्नो मिलै चंडाल।
अंक माल दै भेंटिये, मानौं मिले गुपाल। —कबीर-ग्रन्थावली

२. उदर में नरक नरक अध द्वारन में,
कुचन में नरक नरक भरी छाती है।
कंठ में नरक गाल चिबुक नरक बिंब,
मुख में नरक जीभ लालहु चुचाती है।
नाक में नरक आंख कान में नरक वहै,
हाथ पांव नख सिख नरक दिखाती है।
'सुन्दर' कहत नारी नरक कौ कुंड यह,
नरक में जाइ परे सो नरक पाती है॥
—— सुन्दर-विलास

३. नारि नसावै तीन सुख, जा नर पासैं होय।
भगति मुकति निज ग्यान में, पैसि न सकई कोय॥
नारी कुंड नरक का, बिरला थंभै बाग।
कोइ साधू जन ऊबरै, सब जग मूवा लाग॥
--कबीर-ग्रंथावली

४. डा० मोती सिंह : निर्गुण-सम्प्रदाय : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कबीर, दादूदयाल, सुन्दरदास, जगजीवनदास, भीखा और पलटूदास को अद्वैतवादी, नानक तथा उनके अनुयायियों को भेदाभेदवादी एवं शिवदयाल, प्राणनाथ, दरिया, दीनदरवेश, बुल्लेशाह, इत्यादि को विशिष्टाद्वैतवादी के रूप में स्वीकार करते हैं।[1] इसके साथ ही उन्होंने यह भी लिखा है कि "कबीर ने पूर्ण ब्रह्म का एक ही दृष्टिकोण से विचार नहीं किया है। उसका निर्वचन करने के लिए सब दृष्टिकोणों से विचार करना पड़ता है, परन्तु अन्त में सब का समन्वय किये बिना पूर्णावस्था का ज्ञान नहीं हो सकता। कबीर-जैसे अद्वैतवादियों ने यही किया भी है। इसी से कबीर में एक साथ ही निम्बार्क के भेदाभेद और रामानुज के विशिष्टाद्वैत का दर्शन हो जाता है।"[2] संत पलटूदास भक्त को सर्वश्रेष्ठ मानने के पक्षपाती हैं। उनके मतानुसार हरि-नाम की अपेक्षा भी भक्त अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि कबीर आदि सन्तों ने अवतारों के प्रति किसी प्रकार की आस्था प्रकट न करते हुए उन्हें माया कहा है; किन्तु पलटूदास जी दशावतारों के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्हें भी प्रणाम करते हैं।[3] कबीर आदि सन्तों ने यद्यपि 'वेद कितेब' तथा पुस्तक-ज्ञान को निरर्थक माना है, तथापि औपनिषद् सिद्धान्तों का प्रत्येक स्थल पर उन्होंने समर्थन ही किया है। इसके विपरीत शिवदयालजी ने अद्वैतवादी वेदान्तियों के सम्बन्ध में कहा है कि वे पूर्ण ब्रह्म की अंश-रूप आत्मा के रहस्य को समझने में भी असमर्थ हैं।[4]

संतों की विचारधारा में विद्यमान इस वैविध्य के कारण ही उनके सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के मत व्यक्त किये जा रहे हैं। संत-साहित्य के जो समीक्षक सन्तों पर पूर्ववर्ती विचारधाराओं के प्रभाव की खोज करने का प्रयत्न करते हैं, वे स्वयं इसमें ऐसे उलझ जाते हैं कि जाने-अनजाने रूप में समस्त दर्शनों एवं विचारधाराओं का प्रभाव स्वीकार करने हेतु विवश हो जाते हैं। डा० मोती सिंह ने एक स्थान पर कहा है कि 'संत-कवियों पर उपनिषदों, बौद्धों और पूर्ववर्ती साधकों का प्रभाव एक बँधी हुई कड़ी के रूप में मिलता है।'[5] किन्तु दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'ऐसा कहा जा सकता है कि हिन्दी के निर्गुणी कवियों को यदि सूफी-संतों का दर्द और पीड़ा न मिली होती, तो उनकी रचनाओं में खंडन-मंडन और निपट तथ्यात्मकता के अतिरिक्त

---

१. डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल : हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय

२. वही

३. सब में बड़ हैं संत तब नाम है।
तिसरे दस औतार तिन्हें परनाम है॥ —बानी, भाग ३, पृ० ७५-७

४. सुरत अंश का भेद न पाया।
जो सत पुरुष में आन समाया॥ —सार-वचन, भाग १, पृ० ८५

५. डा० मोती सिंह : निर्गुण-सम्प्रदाय : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

कुछ विशेष आकर्षण नहीं मिलता।'[1] डा० त्रिगुणायत षड्दर्शनों तथा अन्य दर्शनों का संतों पर प्रभाव खोजते-खोजते इतने गहरे पानी में पैठ गये कि उनकी बात भी अत्यन्त गहरी और गूढ़ हो गयी। उनका विचार है कि 'षड्दर्शनों का संबंध बौद्धिक व्यायाम से अधिक और स्वानुभूति से कम है। यही कारण है कि सुन्दरदास, रज्जब, सहजोबाई, दादू, पलटू आदि संतों ने षड्दर्शनों के प्रति अधिकतर अनादर और उपेक्षा का भाव ही प्रकट किया है। वे लोग अपनी विचारधारा को षड्दर्शनों के परे मानते थे; क्योंकि षड्दर्शन वाद के इन्द्रजाल में फँसे हुए हैं और संतों की विचारधारा स्वानुभूति-प्रधान है।'[2] इस प्रकार का मत व्यक्त करने के साथ ही डा० त्रिगुणायत एक स्थल पर लिखते हैं कि 'वेदान्त ही ऐसा दर्शन है, जिसमें अनुभूति का महत्त्व है; अतः संत वेदान्त के प्रति श्रद्धा रखते थे।[3] इतना ही नहीं, अपितु उन्होंने वैष्णव मत, योगवासिष्ठ, गीता, सांख्य, योग, बौद्ध, जैन, तन्त्र, सिद्धों तथा नाथों सभी का प्रभाव संतों पर स्वीकार किया है। उनके मतानुसार 'संतों ने निर्गुण का प्रयोग द्वैताद्वैत विलक्षण परमतत्व-रूपी यौगिक ब्रह्म, यौगिक साधना और वैदांतिक विचारधारा के पारिभाषिक अर्थ में किया है।'[4] डा० मोती सिंह के मतानुसार कबीर का अद्वैतवाद सगुण और निर्गुण के परम्परागत भेद पर आधारित प्रतीत नहीं होता। वे पूर्ववर्ती औपनिषद् अद्वैत-साहित्य से अलग रहे और उनका मत स्वतन्त्र था।[5] संतों की विचारधारा को आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'द्वैताद्वैत विलक्षणवाद' मानते हैं; किंतु डा० मोती सिंह ने उसे उस रूप में स्वीकार न कर 'भावात्मक अद्वैतवाद' कहना अधिक उपयुक्त समझा। मतभेद की इस स्थिति में यद्यपि संतों को 'सारग्राही' कहने का एक रास्ता खोज निकाला गया है, किन्तु हम देखते हैं कि सन्तों में किसी को अद्वैतवाद पर आधारित ज्ञान ही सार है, तो किसी को भक्ति और नाम-स्मरण। कबीर हठपूर्वक मगहर में देह त्याग कर मोक्ष-प्राप्ति की सामर्थ्य रखते हैं,[6] तो नानक मोक्ष के द्वार का खुलना उसकी दया पर निर्भर मानते हैं।[7] एक ओर सुमिरन के महत्त्व को इतना अधिक स्वीकार किया जाता है कि उसे शील, संतोष, जीवन और मोक्ष

---

१. डा. मोती सिंह : **निर्गुण-सम्प्रदाय : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि**
२. डा. गोविन्द त्रिगुणायत: **हिन्दी की निर्गुण-काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि**
३. **वही**
४. **वही**
५. डा. मोती सिंह : **निर्गुण-सम्प्रदाय : सांस्कृतिक पृष्ठभूमि**
६. **जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहौरा रे।**
७. **करमी आवै कपड़ा, नदरी मोखु दुआरु।**
नानक एवै जाणीऐ, सभु आपे सचिआरु॥

सबका आधार माना जाता है,[१] तो दूसरी ओर साधना की वह सहज स्थिति है कि साधक को सुभिरन की भी आवश्यकता इस कारण नहीं रहती; क्योंकि ईश्वर स्वयं उसका स्मरण करता है ।[२] इस प्रकार संतों के 'सार' के सम्मुख भी एक प्रश्नवाचक चिह्न लग जाता है ।

उपर्युक्त विचारों के परिप्रेक्ष्य में ही अक्षर अनन्य की दार्शनिक मान्यताओं एवं साधना-सिद्धान्तों पर विचार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है । यहां यह उल्लेख करना असंगत न होगा कि संत-साहित्य के समीक्षकों का यह विचार कि संतों ने वेद-शास्त्रादि का अध्ययन नहीं किया था, इस परम्परा के अन्य संतों के संबंध में भले ही सत्य हो, किन्तु अक्षर अनन्य इसके सर्वथा और सबसे बड़े प्रतिवाद हैं । दूसरे संतों ने भले ही अटपटी वाणी में अटपटे विचार व्यक्त किये हों, किन्तु अक्षर अनन्य के विचार अत्यन्त स्पष्ट एवं सुलझे हुए हैं । उनके विचारों की अभिव्यक्ति भी पूर्णरीत्या सर्वमान्य शैली के माध्यम से हुई है । न तो उन्होंने रूपक और उलटबांसियों का सहारा लेकर अपनी कमजोरी छिपाने का ही प्रयास किया है, और न किसी विचार को ऐसी रहस्यमयी भाषा-शैली में अभिव्यक्त किया है कि पाठकों को उसका तात्पर्य समझने हेतु विशेष बौद्धिक व्यायाम करना पड़े । वे इस बात का भली भांति अनुभव करते थे कि निर्गुण-ब्रह्म तथा ज्ञानयोग की साधना का वर्णन पूर्वाचार्यों ने संस्कृत भाषा के माध्यम से दर्शन की ऐसी पारिभाषिक शब्दावली में किया है कि वह सामान्य व्यक्ति के लिए सुबोधगम्य नहीं । यही कारण है कि दर्शन और साधना के जटिल सिद्धान्तों को सामान्य जन की भाषा में अभिव्यक्त कर उन्हें अत्यन्त सरल एवं सहज-बोध्य बनाने के अपने उद्देश्य को वे कभी भुला नहीं सके । वे यह भी भली भांति जानते थे कि सामान्य व्यक्ति सगुण साकार लीलामय ईश्वर की भक्ति का मार्ग सरल और सहज-साध्य मानने के कारण अधिकांशतः उसी का अनुसरण करते हैं तथा निर्गुण-ब्रह्म और उसकी उपासना का मार्ग उनके लिए समझ से परे बना हुआ है । कहने की आवश्यकता नहीं कि निर्गुण-ब्रह्म और तद्विषयक ज्ञान को कदाचित् शुष्क-जैसा मानकर सूरदासजी ने भी सगुण ईश्वर के लीलामय रूप का ही आश्रय ग्रहण

---

१. 'सुन्दर' सुरति समैटि कैं, सुमिरन सौं लैलीन ।
मन वच क्रम करि होत है, हरि ताके आधीन ।।
सुमिरन ही में सील है, सुमिरन में संतोष ।
सुमिरन ही तें पाइये, 'सुन्दर' जीवन मोष ।। —सुन्दरदास

२. माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम ।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम ।।
—मलूकदास

किया था।[1] स्थिति की इस विषमता को ध्यान में रखकर ही 'अक्षर अनन्य' ने निर्गुण-साधना तथा निर्गुण-ब्रह्म-विषयक विचारों को सरल, बोधगम्य एवं रुचिकर बनाने के उद्देश्य से अपने ग्रंथों का प्रणयन किया। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्हें कभी-कभी अपनी विशेष प्रतिभा का भी सहारा लेना पड़ा और इस विषय का अत्यंत आकर्षक शैली में वर्णन किया।[2] संस्कृत के सामान्य जन की भाषा न होने के कारण ही उन्होंने लोकभाषा में लिखना तथा विषय को सरस एवं रुचिकर बनाने हेतु छन्द-कवित्तों की शैली अपनायी थी।[3]

स्पष्ट है कि निर्गुण-ब्रह्म-विषयक ज्ञान के प्रसार के इस महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति अटपटी वाणी और अटपटे विचारों के माध्यम से संभव न थी। 'अक्षर अनन्य' ने वेद, शास्त्र, पुराण, आगम, निगम, तंत्र, स्मृति, धर्मशास्त्र, सांख्य, न्याय, योग आदि षड्दर्शनों, जैन, बौद्ध आदि दर्शनों तथा प्रचलित पंथों का भली भांति गहन अध्ययन किया था। उनकी वाणी में प्रयुक्त पदों से इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के संदेह की गुंजाइश नहीं रहती कि वे न केवल इन सबके सूक्ष्म सिद्धांतों से ही परिचित थे, प्रत्युत इनके तात्विक रहस्यों का भी उन्हें पूर्ण परिज्ञान था। ज्ञान के अहं को साधना की सफलता में बाधक मानने के कारण एवं साधक के लिए सब कुछ जानकर भी अबोध बालक की भांति अनजान होने अर्थात् अहंकार-शून्य होने की आवश्यकता को

---

१. रूप रेख गुन जाति जुगति बिन निरालंब मन चक्रत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहि तातैं 'सूर' सगुन लीला पद गावै॥

२. सगुन प्रीति संसार नर, निगुन न समुझत मूढ़।
तातैं मिस सिंगार के, कहौं ग्यान गति गूढ़॥

माथैं सुबरन बीज अलक बिराजमान,
कंठ महं कंठसिरी सुन्दर सुहाई है।
हिरदै मुकतमाल पायन उरज कंज,
दीपति उदर नाभि दीप छबि छाई है।
सोरह सिंगार उपचारन सहित नारि,
मनोरथ पथ मनोकामना सुहाई है।
'अक्षर अनन्य' कह्यौ प्रगट सिंगार गूढ़,
ग्यान जोग मारग की जुगति बताई है॥

—शृङ्गार-योग, १–२

३. भाषा बानि सुहावनी, सुन्दर छन्द कबित्त।
पढ़त गुनत सीखत सुनत, अटकहिं सबके चित्त।
चित्त लगै पढ़ अपढ़ कौ, भाषा सुनहु सुजान।
चलत न कलजुग संस्कृत, बिद्या जुगहि प्रमान॥

—महिमा-समुद्र, ४–५

स्वीकार करने के कारण ही वे स्वयं सब कुछ जानने के पश्चात् भी उससे परे 'सहज' की स्थिति में पहुंच गये थे।[१] अलग-अलग पुराणों के मत-वैविध्य तथा उनके द्वारा अलग-अलग देवताओं की प्रतिष्ठा के प्रतिपादन को वे अधिक महत्त्वपूर्ण न मानकर उसे काल-प्रवाह का परिणाम ही मानते थे। पुराणों की इस विविधता का उल्लेख उन्होंने अनेक स्थानों पर किया है। उनकी दृष्टि विशेषतया परमतत्व उसे ब्रह्म अथवा शिव-शक्ति कुछ भी कहें—के स्वरूप तथा प्रकृति अथवा माया के विवेचन पर ही पड़ती थी। बाह्य आचार-विधानों के वैविध्य को उन्होंने अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माना; किन्तु ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क उन्हें किसी भी दशा में सह्य न था। वेदान्त-दर्शन ब्रह्म और आत्मा के एकत्व को स्वीकार कर उसे घट-घट में व्याप्त मानता है, तो जैन-दर्शन सभी प्राणियों में जीवात्मा की अलग-अलग सत्ता में विश्वास करता है। जैन-दर्शन की ओर से इस सम्बन्ध में तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि किसी एक व्यक्ति के सुख-दुख, नींद, भूख-प्यास की अनुभूति अन्य प्राणियों को स्वतः उसके साथ नहीं होती, अतएव समस्त प्राणियों में व्याप्त आत्मा के एकत्व की मान्यता भ्रमपूर्ण है। 'अक्षर अनन्य' को इस प्रकार आत्मा के एक अथवा अनेक होने के तर्क-वितर्कों में कोई सार्थकता दिखाई नहीं दी थी;[२]

---

१. **सुन्यौ ब्रह्म ग्यान जोग ध्यान कौ बिधान सुन्यौ,**
सुन्यौ देवतानि कौ महातम अपार है।
नाना ग्रन्थ पंथन के भेद सुनै जानै सब,
सुनिबे में जानिबे में बुद्धि भ्रम जार है।
'अक्षर अनन्य' सब जानिकैं अजान भये,
जानी यहै बात करतूत एक सार है।
सब कौ बिसारि सारासार निरधार करि,
गुरु के सबद ही की धारना अधार है॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ५-६

२. **एक कहैं आतमा है एक सर्व घट माँहि,**
दूसरौ न कोउ एक ब्रह्म सम मानिये।
एक कहै आतमा जुदे हैं सब न्यारे न्यारे,
काहू की न जानै कोउ कैसै एक मानिये।
'अक्षर अनन्य' दोनों पच्छ बकवाद छांड़ि,
गुरु कौ सबद सर्व सार उर आनिये।
कहा एक जानै कहा सरतु अनेक जानैं,
जानिबौ वहै है जाहि जानै सब जानिये॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १०-२

अतएव उन्होंने सिद्धान्तों के प्रति आस्था रखते हुए भी वाद-विवाद को निरर्थक कहा।[1]

'अक्षर अनन्य' समन्वयवादी होने के साथ-साथ किसी भी सिद्धान्त की निन्दा करने के पक्ष में न थे; अतएव उन्होंने ब्रह्म और माया के सम्बन्ध में वेदान्त-दर्शन के विवेचन को, कर्म और कर्त्ता-सम्बन्धी मीमांसा तथा न्याय-दर्शन की मान्यताओं को, ब्रह्म को ज्योति अथवा शून्य-स्वरूप स्वीकार करनेवाली अन्य दार्शनिक विचारधाराओं को, निर्गुण-सगुण, राम-कृष्ण आदि के पक्ष-विपक्ष में प्रचलित मतों को भ्रमोत्पादक मानकर छोड़ दिया था।[2] 'आगम कौ सार आदि देव सिव सक्ति जान, निगम कौ सार ब्रह्म त्रिपदी रतन है'-जैसे वाक्य एक ओर उनके गहन दार्शनिक अध्ययन के सूचक हैं, तो दूसरी ओर 'दान कौ प्रमान जैसैं बनिज ब्यौपार नफा, जग्य कौ प्रमान जैसैं खेती कौ जमाइबौ' जैसे अंश इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि वे वेद, शास्त्र, ज्ञान और कर्म के सिद्धान्तों के तात्विक एवं वैज्ञानिक रहस्यों से भी भली भाँति परिचित थे। भक्ति, योग तथा ज्ञान के प्रतिपादक शास्त्रों से सार-सिद्धान्त ग्रहण करने के पश्चात् ही लोक-हित के उद्देश्य से उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की थी।[3]

---

१. बेद सौं न बाद न बेदान्त सौं बिवाद कछू,
सांख्यकी न सीख न्याय मत सौं न न्याव है।
नाना ग्रन्थ पंथनि की चरचा चबाव छांड़ि,
जैसौ जहां कह्यौ तहां तैसौई प्रभाव है। —ज्ञानयोग, २-५

२. ब्रह्म है कै माया है करम है कै करता है,
जोति है कै सुन्न है धरम है कै मार है।
राम है कै क्रष्न है बिधाता है कै बिष्नु है,
सर्गुन है कै निर्गुन कै त्रिगुन औतार है।
"अक्षर अनन्य" ऐसे मत तौ हजार सुनै,
भरम बजार कौ मिलत नाहीं पार है।
सब कौं बिसारि सिद्ध साधुनि बिचार यहै,
गुरु कौ सबद सर्व सारनि कौ सार है॥
— उपासना-बोध, २१

३. भक्त जुदे जोगी जुदे, ग्यानी जुदे महान्त।
तीनों मत संयुक्त यह, ग्यान जोग सिद्धान्त॥
—ज्ञानयोग, ५-२२

तत्व वेद बेदान्त कौ, धर्‌यो थोरि ही ग्रन्थ।
जग्यासी यह ग्यान सुनि, लगैं तुरत ही पंथ।
भाषा सब समुझैं तुरत, सास्त्र सु बरसनि माहिं।
काम न भाषा सास्त्र सौं, तत समुझन लौं आहिं॥
—अनन्य प्रकाश, ११७-११८

वेदान्त उस परमतत्व को ब्रह्म के रूप में, न्यायदर्शन कर्त्ता के रूप में, बौद्ध बुद्ध के रूप में, जैन मतावलम्बी अर्हन् तथा योग एवं वैशेषिक दर्शन के अनुयायी उसे अलग-अलग रूप में स्वीकार करते हैं, किन्तु 'अक्षर अनन्य' ने वाद विवाद, तर्क-वितर्कों से परे तत्व-रूप में ही उसे स्वीकार किया था ।[1] वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति, धर्म-शास्त्र तथा षड्दर्शनों द्वारा अलग-अलग अभिमत व्यक्त किये जाने के कारण सामान्य साधक की बुद्धि प्रायः भटक जाती है । यही कारण है कि 'अक्षर अनन्य' ने उनमें से किसी एक के प्रति अपनी आस्था प्रकट नहीं की ।[2] निन्दा एवं खण्डनात्मक प्रवृत्ति को भी उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किया । वेद के कर्म, उपासना तथा ज्ञान-काण्ड को उसी रूप में स्वीकार कर उन्होंने उनका विस्तार के साथ अपने ग्रंथों में वर्णन किया ।[3] 'अनन्य प्रकाश' नामक ग्रंथ में विविध दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख है तथा उसके प्रारम्भ में ही सृष्टि-विकास का क्रम अलग-अलग दर्शनों के मतानुसार दिया गया है । 'सिद्धान्त-बोध' में ज्ञान तथा अज्ञान की सात-सात भूमिकाओं का जो विशद वर्णन किया गया है, वह 'महोपनिषद्' (५-८-४) तथा 'योगवासिष्ठ' के वर्णन के अनुसार ही है । शाक्त एवं शैव-आगम तथा तान्त्रिक साधना-सिद्धान्तों के वे पूर्ण पण्डित ही नहीं थे, प्रत्युत उन्होंने उसे दर्शन एवं साधना दोनों ही दृष्टियों से स्वीकार किया था एवं ग्रंथों के माध्यम से उसी का प्रचार किया । 'अष्टांग योग' का वर्णन भी उन्होंने ठीक उसी आधार पर किया है, जैसा यौगिक ग्रंथों में उपलब्ध है । सुषुम्ना-साधना का विवेचन भी 'षट्-चक्र-निरूपण'-जैसे ग्रंथों के अनुसार ही किया गया है ।

'अक्षर अनन्य' का 'अष्टांग योग' नामक ग्रंथ पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को भेजे गये पत्रों का संकलन—एक स्वतन्त्र गद्य-ग्रंथ—है । इन पत्रों के माध्यम से 'रसनिधि' द्वारा प्रस्तुत की गयी आशंकाओं तथा उनकी ओर से प्रस्तुत दर्शन-सम्बन्धी, साधनामूलक एवं अन्य विविध समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है । 'रसनिधि' की ओर

---

१. ब्रह्म सरूप वेदांत कहै, अरु न्याय कहै करता उर सूरे ।
बौध कहैं प्रभु बुद्ध सरूप, पतंजलि जोग सरूप गरूरे ।
जैन कहैं अरिहंत सरूप, बिसेष प्रकृत्ति नरोत्तम रूरे ।
तत्त सरूप "अनन्य" भनै, प्रभु सर्व प्रभा पुरुषारथ पूरे ।।
—ज्ञान-पंचासिका, २४

२. बेद के बिचार चार चार ही प्रकार सुनै,
सुम्रति पुरान धर्म कथनि कौ पार ना ।
सास्त्र छह छहूं भांति भिन्न भिन्न वाद करैं,
एक बात काहू की दिढ़ात सुबिचार ना ।।
—उपासना-बोध, २०

३. तीन कांड सुनि बेद के, कर्म उपासन ग्यान । —सिद्धान्त-बोध, ४०

से प्रस्तुत प्रश्नों में से अनेक प्रश्नों का सम्बन्ध गीता, 'केशवदास' की रामचन्द्रिका, शाक्त-दर्शन, वाममार्ग, दक्षिणमार्ग, ज्ञान, भक्ति, ब्रह्म, विद्या, ॐकार, महाभारत, जयदेव तथा उनकी पत्नी माया-जैसे विषयों से रहा है तथा उनके उत्तर 'अक्षर अनन्य' की ओर से पाण्डित्यपूर्ण शैली में सप्रमाण दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त उनके ग्रंथों में उस समय प्रचलित विविध पंथों, यथा कबीर-पंथ, नानक पंथ, दादू-पंथ, कमाल-पंथ, मोहन-पंथ एवं धन्ना भगत, संत पीपा, आदि के भी उल्लेख मिलते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि वे ज्ञान की पुरानी परम्परा की ही नहीं, प्रत्युत उसकी अधुनातम जानकारी रखते थे। 'प्रेम-दीपिका' श्रीमद्भागवत तथा भ्रमर-गीत की परम्परा में लिखा गया प्रबन्ध काव्य है, 'महिमा-समुद्र' की रचना शिवपुराण तथा पद्मपुराण के प्रसंगों पर आधारित है एवं 'उत्तम चरित्र' दुर्गासिप्तशती का भावानुवाद है।

वेद-शास्त्रादि तथा आगम-शास्त्र के पण्डित होने के साथ ही 'अक्षर अनन्य' का छन्द-शास्त्र, अलंकार, भाषा तथा काव्य-शास्त्र पर पूरा अधिकार था। 'महिमा-समुद्र' तथा 'उत्तम चरित्र' में उन्होंने दोहा, सवैया, घनाक्षरी, छप्पय, कुण्डलिया-जैसे प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त तोमर, त्रोटक, मुरिल्ल, मोतीदाम, त्रिकूटगति, मृदु, प्रिया, अरिल्ल, घाता, मनोरम, विशेषक, पद्मावती, त्रिभंगी, नागस्वरूपिणी, सरस्वती, विजय, अमृतगति तथा इस प्रकार के अन्य अनेक छन्दों का अत्यन्त सफल प्रयोग किया है। सन्त-परम्परा में केवल 'अक्षर अनन्य' ही ऐसे कवि हैं, जिनका दर्शन, साधना-सिद्धांन्त, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्रादि सभी विषयों पर पूर्ण अधिकार था। आगम, निगम तथा पुराणों का भली-भाँति मन्थन करने के पश्चात् ही उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की थी।[1]

जहाँ तक 'अक्षर अनन्य की स्वयं की मान्यताओं का सम्बन्ध है, शाक्त-आगम तथा तान्त्रिक साधना-पद्धति को ही उन्होंने स्वीकार किया था। औपनिषद् सिद्धान्त, अद्वैत वेदान्त, गीता और योगवासिष्ठ के प्रति भी उनकी समान आस्था दिखाई देती है। परम्परा के अन्य सन्तों के समान वेद-शास्त्रादि की उन्होंने निन्दा नहीं की, तथापि शैव-शाक्त-सिद्धान्तों को ही सर्वोपरि माना। 'अक्षर अनन्य' के ग्रंथों में 'नाथ' शब्द का अनेक स्थलों पर प्रयोग हुआ है[2] और उसके आधार पर उन पर

---

१. **आगम निगम पुरान मत, मथि काढ्यौ यहि सार।** —ज्ञानयोग, १-६

२. **'नाथ कृपा कौ प्रताप अपार'।** —अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १३-१
'आयसु जो गुरुनाथ कर्‌यौ'। —वही, ४-२०
'हम फक्करनाथ के फक्कर हैं'। —स्फुट पद्य
'अनुभव नाथ दीनों अनुभव उदोत हैं'॥ —अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १२-३
'अक्षर अनन्य' गुरु नाथ से न बैद और'। —सिद्धान्त-बोध, ४
'कहि 'अनन्य' भजि नाथ सदासिव'। — गुणानबत्तीसी, २१

नाथ पंथ के प्रभाव का भ्रम हो सकता है; किन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिये कि शाक्त-सम्प्रदाय में भी नाथों की अपनी एक अलग परम्परा रही है तथा शैव तन्त्रों में शिव को 'आदिनाथ' के नाम से अभिहित किया गया है। 'कुलचूड़ामणि-तन्त्र' में कौल-साधक के लिए प्रह्लादानन्द, सनकानन्द, कुमारानन्द, वसिष्ठानन्द, आदि नाथों का ध्यान करने तथा 'कुल नाथ' की आराधना का विधान है।[1] शैव तथा शाक्त आगमों द्वारा प्रतिपादित शिव-शक्ति के अद्वय-रूप को ही 'अक्षर अनन्य' ने परमतत्व के रूप में स्वीकार किया है। यदि उसे शिव, शक्ति, ब्रह्म, ईश्वर, पुरुष प्रकृति, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, राम, कृष्ण-जैसे नामों से अभिहित किया जाय अथवा सगुण अथवा निर्गुण माना जाय, तो वह नाम-रूप की परिधि में सीमित हो जाता है, जब कि सत्य यह है कि दृश्य-प्रपंच से प्रभावित होकर अथवा कल्पना के सहारे बुद्धि में जितनी भी संज्ञाएं आ सकती हैं अथवा विभिन्न प्रकार के जितने रूप-अरूपों की कल्पना की जा सकती है, वे सब उसी के नाम तथा उसी के रूप हैं। वह रूप अरूप, सगुण-निर्गुण, नाम-अनाम सभी में व्याप्त है तथा सब से परे है।[2] वह सर्वरूप तथा अरूप दोनों ही है; उसके रूप का वर्णन हो सकता है, किन्तु 'अरूप' का वर्णन सम्भव नहीं। वह सार-असार भी है, वह भेद में अभेद तथा अभेद में भेद-रूप है; सभी नाम उसके हैं तथा उस 'अनाम' के सम्बन्ध में कुछ कहे जाने की किसी में सामर्थ्य नहीं। 'अनन्य' के सम्मुख यही समस्या थी :—

सब रूप कौ रूप सरूप वहै, अनरूप कौ रूप सबै लहिये।
सब सार कौ सार विचार वहै, सब सार असार वहै गहिये।
सब भेद कौ भेद अभेद मतौ, अनभेद कौ भेद वहै थहिये।
सब नाम सु नाम 'अनन्य' भनै, अननाम कौ नाम कहा कहिये॥

—ज्ञान-पंचासिका ११

यही कारण है कि उन्होंने शिव, शक्ति, ब्रह्म, ईश्वर, चैतन्य, ज्योति, आत्म-तत्व, सनातन, परमात्मा, पूर्ण-ब्रह्म, अद्वैत-पद, तत्व, सत्य आदि अनेक नामों का

---

१. **मूलादि ब्रह्मरन्ध्रान्तं कुलं ध्यात्वा गुरुं स्मरेत्।**
प्रह्लादानन्दनाथाख्यं सनकानन्दमेव च।
कुमारानन्दनाथं च वसिष्ठानन्द नाथकम्।
क्रोधानन्दसुखानन्दौ ज्ञानानन्दमतः परम्।
बोधानन्दमथाभ्यर्च्य ध्यायेत् कुलमथोपार॥ –कुलचूड़ामणि-तन्त्र, १-३४-३६

२. **नहिं निरगुन नहिं सरगुन जानै। निरगुन सरगुन मांझ लुपानै।**
नहिं निरूप नहिं रूप बिराजै। रूप निरूप कहत स्रुति लाजै।
नहिं निरनाम नाम नहिं जाकौ। नाम नृनाम नाम जसु ताकौ।
नहिं करता न अकरता मानौ। कारन करन वहै पहिचानौ।
नहिं अनेक नहिं एक दो काया। एक अनेक सरूप सुभाया॥

—गुणान बत्तीसी, ११

प्रयोग किया है। अवतारों के प्रति उनको कोई आस्था न थी, अतएव विष्णु अथवा अवतार-नाम का प्रयोग परमतत्व के लिए उनके द्वारा नहीं किया गया। 'अक्षर अनन्य' का आधारभूत सिद्धान्त 'सब में सिव सक्ति सबै बिच सो है' था तथा वे विभिन्न गुण-रूपों में सर्वत्र शिव-शक्ति को ही व्याप्त देखते थे; अतएव उनके द्वारा किये गये अनेक नामों का प्रयोग परमशिव-शक्ति-तत्व के लिए ही समझा जाना चाहिये।[1] उस तत्व को 'अनन्य' के मतानुसार ब्रह्म, ईश्वर, ईश्वरी, शम्भु, विरंचि, कृष्ण, शून्य, ज्योति किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है।[2] राम, रावण, कृष्ण, कंस सभी में वह व्याप्त है तथा सब उसी के रूप हैं, अतएव साधक को उसका जो भी रूप प्रिय हो, उसके जिन किन्हीं भी गुणों में उसकी आस्था हो, उसके जिस किसी भी नाम पर उसका विश्वास हो, उसी का ध्यान श्रेयस्कर है। विविध नाम-रूपों की मान्यताओं एवं आस्था-आराधनाओं से उसके परमरूप अथवा नाम में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं होता। वह 'जैसे का तैसा' ही रहता है।[3]

---

१. जल में जल सौ थल में थल सौ तल में तल सौ जग जोति छई।
बन में बन सौ धन में धन सौ तन में तन सौ तन मान दई।
सुर में सुर सौ सु 'अनन्य' भनै, यह भेद लहै सरवग्य सुई।
बहु रूप अनेक सुभाय वहै, जित देखि तितै सिव सक्तिमयी॥

— ज्ञान-पंचासिका, १०

२. ब्रह्म कहौ ईस्वर कहौ, सम्भु विरंचि मुरार।
जो कछु कहौ सु है वहै, कहि 'अनन्य' निरधार।
ईस्वर कहौ कै ईस्वरी, ना वह पुरुष न नार।
नाम तेज ज्वाला वहै, कहि 'अनन्य' निरधार॥ — निरधार शतक

३. नाम हैं अनेक सर्वनाम परनाम वाके,
दीनों गुरु नाम सोई नाम जु अनूप है।
गुन हैं अनेक सर्व निर्गुन सगुन भेद,
जोई गुन आवै आपु सोई गुन भूप है।
रस हैं अनेक सर्व रस में रसाल वही,
जाही रस भजै ताकौं सोई रस कूप है।
रूप हैं अनेक सर्व रूप सो 'अनन्य' भनै,
जोई रूप मन बसै सोई निज रूप है।
निर्गुन बिचारै ताकौं निर्गुन निरीह नाथ,
सर्गुन बिचारै ताकौं सर्गुन गुनै से हैं।
जोति से बिचारैं ताकौं जोति ह्वै प्रकास करै,
सुन्न से बिचारै ताकौं सुन्नमय जैसे हैं।
दूरि कै बिचारै ताकौं दूर ही 'अनन्य' भनै,
आपु में बिचारै ताकौं आपु ही में वैसे हैं।
वे तौ सिव सक्ति सर्व सक्ति सर्व गति नाथ,
जैसे ही कौं तैसे आपु जैसे ही के तैसे हैं॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, २-१४;४-१६

इतना ही नहीं, प्रत्युत देवता, असुर, गंधर्व, स्थावर, जंगम, आकाश, पृथ्वी, आत्मा, शरीर, जल, थल, अग्नि, वायु, सुर, नर, नाग, महल, खंडहर सबको उन्होंने तत्वरूप अथवा ब्रह्ममय माना तथा यह सब नाम एवं रूप उनके मतानुसार शिव-शक्ति के ही वाचक हैं। सर्वनाम-रूप शिव-शक्ति को जगत् में उन्होंने इस प्रकार व्याप्त अनुभव किया कि किसी रूप-विशेष के प्रति अनुरक्ति-विरक्ति के भाव को, मुक्ति तथा बन्धन को भी उससे अलग नहीं माना।[१]

'अक्षर अनन्य' शिव-शक्ति के अद्वय-रूप को ही परमतत्व के रूप में स्वीकार करते थे; अतएव जहां भी उन्हें उसके प्रति संकेत करने की आवश्यकता हुई, उन्होंने शिव-शक्ति शब्द का ही प्रयोग किया है। सत्रूपेण व्याप्त शिव-तत्व ही आनन्द-रूप से स्थित रहता है तथा चिद्रूपिणी शक्ति के द्वारा ही सृजन-स्थिति-संहारादि क्रियाएं सम्भव होती हैं। इसी परमतत्व से गुणों की सृष्टि होती है, जिसके परिणामस्वरूप त्रिगुण-रूप त्रिदेव--ब्रह्मा, विष्णु, महेश--की उत्पत्ति होती है।[२] जिस प्रकार माणिक तथा उसकी ज्योति, अंकुर तथा बीज, वाणी एवं अर्थ और अग्नि तथा दाहकत्व को अलग-अलग विभक्त नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार शिव-शक्ति-तत्व अद्वय-रूप में ही नित्य स्थित है।[3]

---

१. हरि हर ब्रह्म हम तुम सब ब्रह्म ही में,
हेम कैसे भूषन सरूप सब वाही के।
कासौं अनुरक्त ह्वजे कौन सौं विरक्त ह्वजे,
काके पुनि भक्त ह्वजे इत उत जाही के।
बन्धन मुकति कहा मानिये 'अनन्य' भनै,
आतमा अनंत कौं जंजीर कृत वाही के।
रूप सब वाही के हैं गुन सब वाही के हैं,
नाम सब वाही के हैं काम सब वाही के।।
—ज्ञान-तरंग, २३

२. आदि तत्व अद्वैत पद, जामें दुतिय न उक्ति।
द्वै आख्या करि कहत तिहि, नाम मंत्र सिव सक्ति।।
सिव कहियत कल्यान सौं, जाको नास न होय।
सक्ति कहत चैतन्न पद, समरथ करता सोय।।
सक्ति कहौ कै सिव कहौ, कारन वहै निदान।
तत्व एक सिव सक्ति पद, आख्या एक प्रमान।।
—सिद्धान्त-बोध, ४५, ४६, ४८

३. मानिक जोति सु जोति जु मानिक, मानिक जोति स्वयं मनि सग्यन।
अंकुर बीज जु बीज सु अंकुर, अंकुर बीज न द्वै कृत तग्यन।
वाक अरथ्थ अरथ्थ सु वाक, अरथ्थ यहै निरधार गुनग्यन।
यों अनभेद 'अनन्य' भनै, सिव सक्ति सरूप कह्यौ सरवग्यन।।
—सिद्धान्त-बोध, ५०

चिद्रूप-शिव-शक्ति-तत्व ही समस्त चर-अचर में व्याप्त है और इसी कारण यह चेतनवत् दिखाई देता है। 'शैव-शाक्त-तन्त्र' अध्याय में लिखा जा चुका है कि परम-शिव-तत्व प्रकाश-रूप है तथा 'अहं' रूप से उसकी विमर्ष-शक्ति ही शक्ति-तत्व है। न तो प्रकाश-रूप शिव किसी भी अवस्था में अपनी विमर्ष-शक्ति से अलग होता है और न विमर्ष-शक्ति प्रकाश को छोड़कर अलग होती है। इस प्रकार शिव-तत्व शक्ति-रूप तथा शक्ति-तत्व शिव-रूप होने के कारण तत्वतः दोनों एक ही हैं। अद्वय की इसी स्थिति का 'अक्षर अनन्य' ने 'ईश्वर' और 'ईश्वरता' कहकर वर्णन किया है। जिस प्रकार पृथ्वी में गन्ध, जल में रस, तेज में ताप, वायु में स्पर्श तथा आकाश में शब्द अभिन्न एवं तद्रूप होकर स्थित हैं, उसी प्रकार शिव-शक्ति-तत्व—'ईश्वर' तथा 'ईश्वरत्व' एक ही हैं।[1]

विश्व का सृजन स्वातन्त्र्य के परिणामस्वरूप शक्ति की स्फुरणा के द्वारा ही होता है। 'अक्षर अनन्य' ने 'धारक उपज बीज', 'दाहक प्रकाश रूप', 'वाहक विपच्छ'-जैसे प्रयोगों के द्वारा स्पष्ट रूप से सृष्टि के उदय होने में शक्ति-तत्व के कारण-रूप होने के प्रति संकेत किया है।

शिव के 'सकल' तथा 'निष्कल' दो रूप होने का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। सृष्टि-व्यापार-रूप विमर्ष-शक्ति से संयुक्त 'सकल' रूप शिव ही गुणों का आधार है। विमर्ष-शक्ति परमशिव-तत्व में सदा-सर्वदा अद्वय-रूप से रहती ही है; अतएव जिस प्रकार उस तत्व के 'सकल' और 'निष्कल' रूपों में तत्वतः कोई भेद नहीं, उसी प्रकार सगुण और निर्गुण में भी भेद की स्थिति स्वीकार करना भ्रमपूर्ण है। वह सनातन चैतन्य-तत्व ही निर्गुण-सगुण रूप है।[2] उसको सगुण-निर्गुण किसी भी रूप में स्वीकार करें, किन्तु चिद्रूप-तत्व में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं होता। जिस प्रकार ईंधन अर्थात् काष्ठ में अग्नि नित्य-निरन्तर विद्यमान रहती हैं, ईंधन का

---

१. धरनि में गंध वहै धारक उपज बीज,
    नीर कौ सुरस रस द्रावक सुलच्छ है।
तेज में तपनि वहै दाहक प्रकास रूप,
    पौन में परस वहै वाहक विपच्छ है।
गगन में धुनि बहै सुन्नता भरम भय,
    चन्द्रमा नखत भानु जोति जग रच्छ है।
व्यापक चराचर में चेतन 'अनन्य' भनै,
    ईस्वर की ईस्वरता सब में प्रतच्छ है॥

—विवेक-तरंग, ३

२. तत्व ग्यान चैतन्य सनातन, निर्गुन सर्गुन सोई।
उत अभास इत भास जानि नृप, ज्यौं दर्पन गति होई॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-२

आधार लिये बिना उसका विद्यमान रहना संभव नहीं; गंध का आधार पुष्प है, अक्षर की स्थिति जिह्वा में ही है, उसी प्रकार निर्गुण और सगुण भी एक ही हैं।[1] परम-शिव-शक्ति-तत्व शुद्ध चेतन स्वरूप है[2] तथा इच्छा, ज्ञान, क्रिया तीन शक्तियां इसी की हैं। शाक्त-दर्शन के अनुसार शिव-शक्ति-तत्व के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है; अतएव प्रकृति-शक्ति भी चित्-शक्ति का ही रूप है। सत्व, रज, तम गुणों से संयुक्त शक्ति ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में प्रादुर्भूत होती है।[3] परमशिव-शक्ति-तत्व को ही 'अक्षर अनन्य' ने शुद्ध-सदाशिव के नाम से अभिहित किया है। यह चिद्रूपिणी शक्ति, जिससे त्रिगुणात्मिका प्रकृति-शक्ति का आविर्भाव होता है, स्वयं त्रिगुणातीत है।[4] 'पर' और 'अपर' रूप उसी के हैं तथा ब्रह्म, माया, ईश्वर, जीव, देव-दानव सब कुछ वही है।[5] समस्त प्राणियों में, चर-अचर में चिद्रूपिणी शक्ति ही रहती है, किन्तु त्रिगुणात्मिका प्रकृति-शक्ति द्वारा उसके स्वयं के आवृत होने के कारण चित्-शक्ति के स्थान पर गुणों का ही प्रत्यक्ष आभास होता है। गुणों की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है; किन्तु वही गुण जब वैषम्य को प्राप्त होते हैं, तब विकृति की अवस्था उत्पन्न होती है।

---

१. इंधन ही महं आगि रहै, बिन इंधन आगि लहै किहिं ठांहीं।
फूलनि ही महं बास बसै, बिन फूलहिं बास की आसति नाहीं।
'अक्षर' अक्षर जीभ ही में, बिन जीभहिं अक्षर क्यों कहि जाहीं।
सर्गुन ही महं निर्गुन है, बिन सर्गुन निर्गुन बाद ब्रथा हीं॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ५-१

२. कहि 'अनन्य' सिव सक्ति प्रभु, चेतन सुद्ध सरूप।
-साखी, २८६

३. सुद्ध सदासिव रूप तें, तीन रूप गुन भिन्न।
भव संकर हरि नाम इमि, करतुत भेद 'अनिन्न'॥
—साखी, २३

४. पंच तत्व गुन तीन नहिं, मायहि लिपत न होय।
कहि 'अनन्य' अविचल सदा, नाम सदासिव सोय॥
-साखी, २१७

५. परिपूरन सिव सक्ति अखंडित पर हू अपर निहारौ।
वहै सुन्न वह जोति सरूपी वहै त्रिविध बिस्तारौ।
वहै ब्रह्म माया वह ईस्वर जीव वहै निरधारौ।
वहै देव दानव पुनि वहई वहै अवनि अवतारौ॥
—गुणानबत्तीसी, २३

इस प्रकार प्राणियों में तथा समस्त दृश्य-जगत् में बैषम्य की प्रतीति वस्तुत: बिकृति की ही प्रतीति है और वह भी प्रकृति-शक्ति अथवा माया-शक्ति का ही परिणाम है।[1]

शिव-शक्ति-तत्व से ही सृष्टि का उदय होता है। सृष्टि की स्थिति भी उसी तत्व में रहती है और अन्त में उसी में लीन हो जाती है। इस प्रकार सृजन, स्थिति और लय सब उस आद्याशक्ति का ही विलास है। अवतारों तथा देवी-देवताओं की उत्पत्ति भी उसी से है। अवतार ग्रहण करने के पश्चात् ही राम-कृष्ण आदि की प्रतिष्ठा स्थापित हुई; किन्तु इनका आदि-रूप शिव-शक्ति-तत्व नित्य ही वर्तमान है।[2]

इस प्रकार राम-कृष्ण आदि समस्त देवी-देवताओं में, अवतारों में 'अक्षर अनन्य' को मात्र नाम-भेद दिखाई देता था। उससे परे वे सभी में शिव-शक्ति की ही सत्ता स्वीकार करते थे। उनके मतानुसार, जिस प्रकार 'आतिश' और 'आग' अलग-अलग नामों से अभिहित एक ही तत्व हैं, उसी प्रकार विविध नामों से कहा जानेवाला तत्व भी अलग-अलग नहीं। 'सदाशिव' और 'खुदा'-जैसे अलग-अलग नाम उस परमतत्व में कोई अन्तर उत्पन्न नहीं करते।[3]

---

१. हरि कौ सुभाव सील हर कौ सुभाव कोप,
विधि कौ सुभाव गर्व राजस विलास है।
रबि कौ सुभाव तेज ससि कौ सुभाव सीत,
सबकौ सुभाव न्यारौ न्यारौ गुन बास है।
याही तैं जगत भिन्न लगत 'अनन्य' भनै,
चेतन न भिन्न भिन्न प्रकृति विलास है।
प्रकृति सुभाव परमातम तैं बाहर है,
जाहिर है ताहि जाहि आतम प्रकास है॥ –अनन्य प्रकाश, ४६
कोऊ ग्यान ध्यान जोग भगति बैराग रत्यौ,
कोऊ काम क्रोध लोभ मोह में पगत है।
आपु आपु चिन्तन सौं रचे सब न्यारे न्यारे,
तातैं जग जग ही में न्यारौ सौ लगत है।
जैसें जल एक सब ब्रच्छनि में व्यापक है,
ब्रच्छ के सुभाव जुदे रस लै रगत है।
लीला गुन भिन्न तत्त भिन्न न 'अनन्य' भनै,
जगत में ईस्वर है ईस्वरै जगत है॥ –ज्ञान-तरंग, १६

२. जिहि जब तैं अवतार लिय, तब तै तिहि की थाप।
सदा सदासिव संभवै, निर्गुन सगुन आप॥
निरगुन सरगुन भेद में, भरमि रह्यौ संसार।
परिपूरन सिव सक्ति प्रभु, कौ लख अलख विचार॥
अक्षर अनन्य की साखी, २७६,२८१

३. वेद कतेब प्रमान यहै, मरजाद यहै नहिं तत्त जुदा है।
आतिस आग 'अनन्य' भनै, जग जोई सदासिव सोई खुदा है॥ –ज्ञान-पंचासिका, १८

वेदान्त-दर्शन यद्यपि माया को ब्रह्म की अपृथक्भूता शक्ति के रूप में स्वीकार करता है, तथापि उसे सत् न मानकर सत्-असत् अनिवर्चनीया एवं मिथ्या कहा गया है। उसकी आवरण और विक्षेप, दोनों शक्तियां ब्रह्म-रूप आत्मा को आवृत किये रहती हैं तथा दृश्य-प्रपंच की प्रतीति कराती हैं। जब तक इस माया का आवरण दूर नहीं होता, उस समय तक आत्मा अंशी-ब्रह्म के साथ तदाकार नहीं हो पाती। माया का आवरण केवल ज्ञान के द्वारा ही दूर हो सकता है। इसी कारण इसे ज्ञान-विरोधी भाव-रूप भी कहा गया है। ब्रह्म का बोध होने के साथ ही माया का तिरोधान हो जाता है, अतएव उसे सत् नहीं कहा जा सकता; किन्तु उसकी प्रतीति होती है, अतएव असत् भी न कहा जाकर अनिर्वचनीया कहना ही उपयुक्त समझा गया। श्री शंकराचार्य के शब्दों में माया सत्-असत्, भिन्न अभिन्न, अंगसहित अथवा अंगरहित न होकर उभयात्मिका है, महा-अद्‌भुत् और अनिर्वचनीया है। जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होते ही उसके सर्प होने का भ्रम नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान के साथ ही माया का विनाश हो जाता है।[1] 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' में भी इसे भ्रान्ति अवलंब-हीन तथा सर्वन्यायविरोधिनी कहा गया है।[2] भ्रान्ति-रूपी माया के कारण ही सत्-ब्रह्म में असत्-जगत् का आभास होता है। इसके विपरीत, जैसा कि पूर्व में संकेत किया जा चुका है, शाक्त-दर्शन माया को असत् अथवा मिथ्या न मानकर उसे सत् मानता है। चित्-रूप परमशिव-तत्व अपनी जिस आद्याशक्ति के साथ अद्वय-रूप में रहता है, वह आद्याशक्ति भी चिद्रूपिणी है। इस प्रकार चित्-तत्व किसी अन्य के साथ नहीं, प्रत्युत स्वयं अपने ही साथ है। यही चित्-शक्ति माया-शक्ति के रूप में स्वयं को स्वयं से ही आवृत कर अपने को अपने से भिन्नवत् कर देती है, यद्यपि उस अवस्था में भी अद्वय-रूप विच्छिन्न नहीं होता। शांकर-दर्शन में माया का तिरोधान ब्रह्म-ज्ञान से होता है, किन्तु शाक्त-दर्शन के अनुसार, जिस प्रकार शक्ति स्वयं को

---

१. सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो,
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो,
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा।
शुद्धाद्वयब्रह्मविबोधनाश्या,
सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा।
रजस्तमः सत्वमिति प्रसिद्धा,
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः॥

—विवेक-चूड़ामणि, १११-११२

२. सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी।

—नैष्कर्म्य सिद्धि, २-६६

स्वयं से आवृत करती है उसी प्रकार आवरण निवृत्ति का कार्य भी शक्ति के द्वारा ही होता है। अद्वय-तत्व के साथ नित्य स्थित शक्ति तत्व चिद्रूप है; अतएव माया भी जड़, असत् अथवा भ्रान्ति नहीं। वेदान्त-दर्शन में चैतन्य ब्रह्म को आच्छादित करनेवाली माया जड़ है; किन्तु शाक्त-दर्शन में चित् ही चित् को आवृत करता है और चित् के ही द्वारा उस आवरण का तिरोधान भी होता है; क्योंकि सत्, चित्, आनंद-रूप शिव-शक्ति के अतिरिक्त और कुछ जगत् में है ही नहीं। शक्ति और शिव में अन्तर न होने की स्थिति में प्रकृति-शक्ति अथवा माया-शक्ति भी शिव-रूप ही है। ब्रह्म अथवा माया किसी भी नाम से उस तत्व को अभिहित किया जा सकता है।[1]

माया-शक्ति के सम्बन्ध में 'अक्षर अनन्य' को शाक्त-दर्शन का सिद्धान्त मान्य था। जिस प्रकार भूमि और मिट्टी में, जल और समुद्र में, दीपक और उसकी ज्वाला में तत्वतः कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार ब्रह्म और माया में भी कोई भेद नहीं। अग्नि और उसके दाहकत्व के समान ही ब्रह्म और माया में अभेद है। वैश्वानर और ज्वाला, देह और काया शब्दों में पुल्लिग और स्त्रीलिंग-जैसा भेद प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म और माया में अन्तर होने का आभास होता है; किन्तु जिस प्रकार ज्वाला ओर वैश्वानर तथा काया और देह में मात्र नाम का अन्तर है, उसी प्रकार ब्रह्म और माया एक ही तत्व के दो नाम हैं।[2]

अलग-अलग दर्शनों ने जिस परम-तत्व की कल्पना की है, वे उसे भले ही विभिन्न नामों से अभिहित करते रहें, किन्तु अनेक नामों के कारण ही वह एक से अनेक नहीं हो जाता। वेदान्त का ब्रह्म, सांख्य का पुरुष, मीमांसा का कर्म, न्याय का कर्त्ता, ये सब एक ही तत्व हैं। वह सर्वरूप तथा सर्वनाममय है, अतएव जो व्यक्ति उसके जिस

---

१. ब्रह्म कहौ भल माया कहौ, कहिबे में कहा है कहा कहि कीजै।

—ज्ञान-पंचासिका, १६

२. माटी की भूमि है भूमि सु माटी है, माटिहि भूमिहि भेद न भाया।
पानी कौ सिन्धु है सिन्धु कौ पानी है,पानिहि सिन्धुहि द्वै न बताया।
यौं अनभेद 'अनन्य' भनै, कहिवे महं भेद गुरू समुझाया।
दीपक ज्वाल है ज्वाल सु दीपक, माया सु ब्रह्म है ब्रह्म सु माया॥
ज्वाला कहैं जुवती सी लगैं, वैसान्दुर में पुरषारथ आया।
देह कहैं नर नाम लगै, अरु नारि लगै जब ही कहौ काया।
यौं अनभेद 'अनन्य' भनै, हठि मूढ़नि बादहि बाद बढ़ाया।
एक ही तत्व की मांड़ सबै, भल वाही सौं ब्रह्म कहौ भल माया॥

—ज्ञान-पंचासिका, १४-१५

रूप-नाम को समझता है अथवा स्वीकार करता है, वह उसी का प्रतिपादन एवं विवेचन करता है। वेदान्त के अनुयायी उसे ब्रह्म कहते हैं; शाक्त उसे शक्ति कहकर पुकारते हैं। यह नाम-भेद उपासकों के बीच आस्था-भेद का परिणाम है। वह परम-चित्-तत्व, दक्षिण-वाम, नर-नारि कुछ भी नहीं, अतएव उसे 'टेक' अर्थात् हठ-पूर्वक ब्रह्म-माया, प्रकृति-पुरुष, अथवा शिव-शक्ति कुछ भी कहना उपयुक्त नहीं।[१]

संकेत किया जा चुका है कि सिसृक्षा के परिणामस्वरूप ही शक्ति-तत्व शिव-तत्व अथवा अद्वय-तत्व से अविभक्त रहते हुए विभक्त के समान कार्य करता है और उसी से सृष्टि का उदय होता है। निर्गुण और सगुण रूप का मूल भी यही है; किन्तु सिसृक्षा और सृष्टि के पश्चात् भी उस अद्वय-तत्व में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सगुण, निर्गुण, ज्योति, शून्य, चर, अचर, ईश्वर, जीव, ब्रह्म, माया सब कुछ उस तत्व में हैं, अतएव उसे किसी भी नाम से अभिहित किया जा सकता है।[२]

शाक्तागमों द्वारा मान्य तत्ववाद के अनुसार शिव-शक्ति-तत्व से विद्या-तत्व (सदाशिव, ईश्वर, शुद्ध-विद्या) तथा आत्म-तत्व (माया, कला आदि) का उदय होता है। सृष्टि के पश्चात् भी ये अद्वय-तत्व से अभिन्न रहते हैं; किन्तु सदाशिव की दशा में 'अहं' तथा 'इदं' की एकरूपता रहती है एवं ईश्वर की दशा में अहं स्वयं को इदं-रूप जगत् से अलग मानता है। अभेद के मूल में शुद्ध-विद्या तथा भेद के मूल में माया-तत्व कार्य करता है। माया-तत्व के विस्तार के साथ ही भेद-बुद्धि का भी विस्तार होता है तथा इस भेद की प्रतीति पंच-तत्वों एवं तन्मात्राओं के इन्द्रियों के संयोग के कारण होती है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, आदि का भी मूल कारण भेद-बुद्धि ही है। तत्ववाद के इसी सिद्धान्त को स्वीकार कर 'अक्षर अनन्य' ने कहा है कि पंच-तत्व, तन्मात्राएं, पंच-ज्ञानेन्द्रियां, पंच-कर्मेन्द्रियां, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार तथा राग-द्वन्द्व सब कुछ माया के ही विस्तार हैं तथा ये समस्त तत्व यद्यपि नित्य-निरंतर

---

१. आपु ही निर्गुन आपु ही सर्गुन, आपु ही निर्गुन भेद बताया।
आपु ही सुन्न है आपु ही जोति है, आपु ही व्यापि चराचर काया।
आपु ही मंत्र "अनन्य" भनै, सिव सक्ति अखंड परापर छाया।
आपु ही जीव है आपु ही ईस्वर, आपु ही ब्रह्म है आपु ही माया॥
—ज्ञान-पंचासिका, १३

२. चेतन ब्रह्म कहैं तिहि दच्छिन, चेतन सक्ति कहैं तिहि वामी।
चेतन के द्वय नाम लिये, परि नाम में बाद उपासक नामी।
चेतन सो नर नारि नहीं अरु जैसे कौ तैसेहि अन्तरयामी।
'अक्षर' के मत टेक यहै, न कहै कछु टेक कै स्वामिनि स्वामी॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४-११

शिव-शक्ति-तत्व में विद्यमान रहते हैं तथापि वह माया एवं माया-जनित पंच-कंचुकों से सदैव पूर्णतः परे है।[1]

अभेदमूलक-तत्व शुद्ध-विद्या को आच्छादित करने का कार्य अविद्या-तत्व के द्वारा होता है। अविद्या के द्वारा आच्छादित होने के पश्चात् ज्ञान-रूप शिव सर्वज्ञ होते हुए भी स्वयं को अल्पज्ञ तथा सर्वकर्तृत्व-शक्तिमय होते हुए भी अपनी कर्तृत्व-शक्ति को सीमित समझने लगता है। इसी के साथ कला, राग, काल, नियति तत्वों के प्रभाव से शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य शिव जीव-रूप धारण करता है। अविद्या-तत्व के प्रभाव तथा उसके आवरण की समाप्ति होते ही जीव पुनः शिव-रूप को प्राप्त होता है। इस प्रकार अभेद-बुद्धि तथा भेद-बुद्धि दोनों ही क्रमशः शुद्ध-विद्या एवं अविद्या के परिणाम हैं। ये दोनों तत्व भी उसी चित्-शक्ति के ही रूप हैं।[2]

माया तथा पंच-कंचुकों के प्रभाव के कारण ही शिव-रूप जीव अपने सर्व-कर्तृत्व तथा सर्वज्ञता आदि गुणों को भूलकर अपने को संकुचित, सीमा में आबद्ध अनुभव करता है; राग-तत्व उसके नित्य-तृप्तित्व गुण को संकुचित कर देता है, जिसके कारण जीव विषय-वासनाओं में लिप्त होता है और सुख-दुख का अनुभव करता है। शुद्ध-विद्या के द्वारा जब अविद्या-जनित आवरण की निवृत्ति होकर अभेदमूलक बुद्धि का उदय होता है, तब वही जीव ईश्वर के रूप में होकर सर्वज्ञ एवं सर्वकर्तृत्व-शक्ति-

---

१. रूप रस गंध सब्द परस अकास पौन,
तेज जल भूमि भिन्न भिन्न कृत करे हैं।
मन चित बुद्धि अहंकार काम क्रोध लोभ,
मोह मद मत्सर समस्त रस भरे हैं।
आस प्यास नींद भूख आलस हरष सोक,
इन्द्री गुन कर्म एते माया बिस्तरे हैं।
आतमा अधार सर्व व्यापक 'अनन्य' भनै,
सब ही कों धरें आप सब ही तें परे हैं॥

—विवेक-तरंग, २२

२. मूल प्रकृति है एक निदान, तिहि की द्वै प्रकृतें परिवान।
बिद्या और अबिद्या लेख, सबै सुभासुभ तिनि में देख॥
सुभ गुन सब बिद्या के जान, असुभ अबिद्या गुन पहिचान।
बिद्याबिद्या कारन आहि, व्यापि रही ते घट सब माँहि॥
सब घट रमी बिद्या अबिद्या, सुभासुभ गुन कारनी।
बिद्या अबिद्या के बिषै, वह मूल प्रकृति बिचारनी।
है मूल प्रकृति सु एक, घट घट का सुभासुभ मानिये।
ज्यों आतमा है एक त्यों, एकै प्रकृति सब जानिये॥

—अनन्य प्रकाश, ५४–५६

सम्पन्न हो जाता है। इसके पश्चात् अहं तथा इदं-रूप भाव की भी जब समाप्ति हो जाती है, तब जीव को शिवत्व की प्राप्ति होती है। इन दोनों के लिए 'अक्षर अनन्य' ने 'योग' और 'ब्रह्म-विद्या' शब्दों का भी प्रयोग किया है तथा यह भी स्पष्ट किया है कि पंच-कंचुकों से आबद्ध जीव, मायामुक्त ईश्वर तथा शुद्ध चैतन्य-शिव, तीनों ही उस परमतत्व के ही रूप हैं। जिस प्रकार भूपति, किसान एवं सिद्ध पुरुष, तीनों ही यद्यपि समान रूप से मनुष्य हैं, उसी प्रकार जीव, ईश्वर, शिव में मात्र कर्म-गुणों के कारण भेद परिलक्षित है, अन्यथा उनमें किसी प्रकार का भेद नहीं।[1]

जो जैसा है, उसको यथार्थतः वैसा ही समझना प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का आधारभूत सिद्धांत है। जीव तत्वतः शिव-रूप है, किन्तु माया तथा अविद्या के आवरण के कारण वह स्वयं को सीमित मानता है। इस आवरण-निवृत्ति के पश्चात् वह न तो शिव में लीन ही होता है और न शिव के गुणों का ही उसमें अवतरण होता है, प्रत्युत इसके विपरीत उसे यह ज्ञान एवं अनुभूति होती है कि वह स्वयं शुद्ध-बुद्ध-चैतन्य शिव ही है। अविद्या-जनित आवरण से आच्छादित होने के पूर्व अल्पज्ञत्व, किंचित् कर्तृत्व, आदि गुण-दोषों से परे वह था ही और आवरण-निवृत्ति के पश्चात् फिर उसी रूप में है। इसी ज्ञान को 'अक्षर अनन्य' ने विद्या कहा है।[2]

काष्ठ अग्नि का नित्य अधिष्ठान है, तथापि सामान्य व्यक्ति को प्रत्येक लकड़ी में अग्नि की प्रतीति नहीं होती। उसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा के शिव-रूप होने पर

---

१. व्यापक अविद्या पाप धरम करम बंध्यौ,
याही तें कहत जीव दुखित खराब है।
जोग की जुगति मन इन्द्री गुन बस करै,
तब वहै जोगेसुर ईस को हिसाब है।
साधै ब्रह्म बिद्या बिद्यमान होइ ग्यान रूप,
ब्रह्म पद पावै तब आवै निज आब है।
भूपति किसान सिद्ध नर ज्यौं 'अनन्य' भनै,
एक आतमा के तीन करनी खिताब है।।

—उपासना-बोध, १०

२. त्यों जग जीव अंस ईस्वर के, परे अबिद्या माहीं।
मानि रहे भ्रम जाति भेष, क्रम आपै जानत नाहीं।
जीव ब्रह्म निज जाति एक है, यह सन्देह न मानौ।
मिलै अबिद्या जीव भयौ, मिलि बिद्या ब्रह्म बखानौ।
बिद्या नाम पढ़न कौ नाहीं, नहिं पोथी न पुराना।
जैसे को तैसे ही समझौ, यहै विदित विग्याना।।

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-१४,१५

भी अविद्या के आवरण के कारण वह स्वयं को माया-मुक्त चिद्रूप में अनुभव नहीं करती।[1] विद्या की साधना द्वारा अविद्या-जनित आवरण की निवृत्ति के पश्चात् जीव शिव-रूप होता है। वह पाप-पुण्य, कर्मफल, जन्म-मरण तथा अन्य समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है।[2] इस प्रकार सारासार की यथार्थता तथा परमतत्व को समझना ही विद्या है। इसके अतिरिक्त अन्य पठन-पाठन, वेद-शास्त्रादि का ज्ञान सभी कुछ अविद्या का ही रूप है।[3] अविद्या-जनित अष्टपाशों–दया, मोह, भय, लज्जा, घृणा, कुल, शील, वर्ण–से जीव निरन्तर आबद्ध रहता है। सदाशिव अन्तर्निमेष[4] होने के कारण इन अष्टपाशों से मुक्त रहता है। विद्या के द्वारा ही इन अष्टपाशों का बन्धन टूटता है और जब तक यह नहीं होता, तब तक पाशबद्ध जीव को अनेक प्रकार के भ्रम-जालों में भटकना पड़ता है।[5] जिस प्रकार विविध वेश-भूषा धारण करने के पश्चात् भी बन्दर राजपूत नहीं हो जाता, उसी प्रकार विद्या की साधना के बिना समस्त पढ़ना-लिखना, त्याग, वैराग्य, तपस्या, साधना और ज्ञान की चर्चा करना भी निरर्थक है।

अविद्या के द्वारा शुद्ध-विद्या-तत्व के आवृत हो जाने, माया के द्वारा अहं-रूप शिव तथा इदं-रूप जगत् में भेद-बुद्धि उत्पन्न होने एवं पंच-कंचुकों के प्रभाव के परिणामस्वरूप ही जीव-तत्व का उदय होता है। दूसरे शब्दों में माया-जनित भेद-बुद्धि-संयुक्त, अविद्या, कला, राग, काल, नियति तत्वों से प्रभावित, अष्टपाशों से आवद्ध शिव-तत्व ही जीव है। एक ही परमतत्व की अविद्या के संसर्ग से जीव तथा शुद्ध-विद्या के संसर्ग से शिव अथवा ब्रह्म संज्ञा होती है।[6] ईश्वर, जीव, ब्रह्म तथा माया

---

१. छूटै न अविद्या बिद्यमान ब्रह्म भासै नहीं,
तौलौं ब्रह्म ग्यान काठ अगिनि कौ भाव है।
—ज्ञानयोग, १–११

२. छूटि जात पातक भरम सब फूटि जात,
टूटि जात बन्धन सु बिद्या गुन बांधै तैं।
—ज्ञानयोग, २–६

३. सारासार बूझै तत्व सूझै सोइ बिद्या जान,
और सब बिद्या है अबिद्या ही कौ वाइदो।
—उपासना-बोध, ६

४. ईश्वरो वहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।
समानाधिकरण्यञ्च सद्विद्याहमिदं धियोः॥

५. साधै नहीं बिद्या तौलौं छूटै न अबिद्या पास,
छूटै न अबिद्या तौलौं मन भ्रम भूत है।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६–६

६. जीव ब्रह्म निज जाति एक हैं, यह सन्देह न मानौ।
मिलै अविद्या जीव भयौ, मिलि बिद्या ब्रह्म बखानौ॥
— अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६–१५

नामों से अभिहित सर्वत्र वही चैतन्य-तत्व विद्यमान है।[1] माया एवं अविद्या आदि से मुक्त रहने की अवस्था में वह देह, गुण, कर्म, रस, वासना तथा इन्द्रियों से परे रहता है एवं जीव इन सबसे संयुक्त है।[2] माया के कारण चित्-तत्व जीव-रूप में स्वयं के चिद्रूप को भूल जाता है तथा अविद्या की निवृत्ति एवं राग, कला, नियति, काल के द्वारा उत्पन्न अल्पज्ञत्व, किंचित्-कर्तृत्व, राग-मोह, द्वेष आदि से मुक्त होने के पश्चात् वही जीव चिद्रूप शिव के ही रूप में पहुंच जाता है।[3]

शाक्त-दर्शन के अनुसार जगत् शिव-शक्ति-तत्व से पूर्णरीत्या अभिन्न है। वेदान्त-दर्शन ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान-कारण दोनों ही मानता है, किन्तु शाक्तागमों की मान्यता है कि कार्य-रूप जगत् कारण-रूप शिव-शक्ति-तत्व में नित्य-निरन्तर वर्तमान रहता है। यदि बीज में वृक्ष विद्यमान न हो, तो बीज से वृक्ष की उत्पत्ति संभव नहीं। सृष्टि का उदय होने के पश्चात् भी जगत् उस परमतत्व से अलग नहीं होता, प्रत्युत जिस प्रकार समुद्र में उत्पन्न लहरों की स्थिति जल से अलग संभव नहीं, उसी प्रकार विराट्-रूप शिव-तत्व में समस्त चराचर जगत् एवं अखिल अथवा कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों की प्रतीति होती है।[4] दधि-मन्थन के द्वारा घृत की उत्पत्ति का कारण केवल यही है कि उसमें घृत वर्तमान रहता है। पानी के मथे जाने पर घृत का निकलना संभव नहीं। काष्ठ से भी अग्नि उसमें पहले से ही विद्यमान होने के कारण उत्पन्न होती है। सूक्ष्म रूप से शिव-शक्ति-तत्व में विद्यमान चराचर जगत् स्वातंत्र्य-शक्ति एवं सिसृक्षा के परिणामस्वरूप समुद्र में वायु-संचार

---

१. **विद्यमान चैतन्न सिव, जीव अविद्या साथ।**

—हरिहर-सम्वाद, १०७

२, **आपु ही जीव है आपु ही ईस्वर, आपु ही ब्रह्म है आपु ही माया।**

—ज्ञान-पंचासिका, १३

३: **वहै परमातमा है वहै जीव आतमा है,**
वहै प्रतिबिम्ब कैसी आसा घट घट है।
वाके गुन कर्म देह इन्द्री रस वासना न,
याके रस वासना की सदा चरपट है।
तातैं यह अग्य भूल्यौ आपुपौ 'अनन्य' भनै,
यह सरवग्य नहीं माया अटपट है।
जानै एक ब्रह्म बिना जानै ही अनेक जीव,
एक तैं अनेक यहै लीला नटवट है।

—विवेक-तरंग, ४

४. **सर्वदा जक्त वा तत्व माहिं, कहुं भयौ गयौ सु भवतु नाहिं।**
जैसें समुद्र लहरैं सुभाय, त्यौं करता महं संसार आय॥

—अनन्य प्रकाश, ३७

से उत्पन्न लहरों की भाँति दृश्य-रूप ग्रहण करता है।[1] अपने विश्वात्मिका रूप के द्वारा शक्ति-तत्व ही मन, व्योम, मरुत, अग्नि, जल, भूमि आदि के रूप में प्रकट होता है[2] तथा प्रलय काल में उसी तत्व में यह समस्त दृश्यमान जगत् उसी प्रकार विलीन हो जाता है, जिस प्रकार वायु के प्रवहमान न होने की स्थिति में लहरें जल में ही शान्त हो जाती हैं।[3] जगत् में दिखाई देनेवाला वैविध्य जिस त्रिगुणात्मिका प्रकृति-शक्ति का परिणाम है, वह भी कारण-रूप चित्-शक्ति में अभिन्न रूप से विद्यमान रहती है। इस प्रकार कार्य-रूप विश्व में जो कुछ दिखाई देता है, वह सब कुछ कारण-रूप शिव-शक्ति-तत्व में विद्यमान है। उस एक से ही अनेक का उदय होता है। समुद्र के जल में उत्पन्न होने के पश्चात् भी लहरें उससे भिन्न होकर नहीं रह सकतीं तथा अन्त में लहरों का लय भी जल में ही होता है, उसी प्रकार उदय होने के पश्चात् सृष्टि उसी तत्व में स्थित रहती है तथा लय भी उसी तत्व में होता है। शक्ति-तत्व में अभिन्न रूप से स्थित विश्व जब सिसृक्षा के परिणामस्वरूप अलग से विश्व-रूप में प्रकट होता है, तब मानो पूर्ण-अहं स्वयं ही अहं तथा इदं रूप धारण करता है। स्वर्ण एवं स्वर्णरचित आभूषणों में, सागर और लहरों में, काष्ठ और काष्ठनिर्मित वस्तुओं में, भूमि और भवनों में जिस प्रकार तत्वतः कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार कारण-रूप शिव-शक्ति और

---

१. **भयौ तौ बताव, जो न हतौ तौ कहां तें भयौ,**
काठ ज्वाल लागै जो न होय क्यों लगत है।
गयौ तौ बताव जो न भयौ फेरि गयौ कहां,
कलप कलप गाइबे के नख गत है।
लहरें समुद्र कैसी उठती समाती जातीं,
भयौ गयौ कहूँ तत्व क्यों हू न लगत है।
जोई वह सोई सतासत कहै कौन कैसे,
'अक्षर अनन्य' ब्रह्म मूरत जगत है॥

— अनन्य प्रकाश, ४१

२. **मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि।**
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां न हि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा।
चिदानन्दाकारं शिवयुवति भावेन बिभृषे॥

—सौन्दर्य-लहरी, ३४

३. **तैर्मिलितैर्ब्रह्माण्डमुत्पद्यते। तच्चानेकसङ्ख्यमनेकरूपम्। एवं सृष्टिव्युत्क्रमेण जन्तवः अण्डे लीयन्ते, अण्डमपि पञ्चभूतेषु, पञ्चभूतान्यपि शब्दादितन्मात्रपञ्चकेषु, तन्मात्रपञ्चकमप्यहङ्कारे, अहंकारो बुद्धितत्वे, बुद्धितत्वमपि प्रकृतिरूपिण्यां परदेवताभट्टारिकायां लीयते, सा तु कुत्रापि न लीयते तत्रैव सर्वस्य लयात्।**

— सौन्दर्य-लहरी (डिण्डिम भाष्य), २६

कार्य-रूप जगत् में अभेद है। उस एक ही कारण से अनेक कार्यों की उत्पत्ति होती है; उसके बिना इस दृश्य-जगत् का उदय संभव नहीं।[१]

इस प्रकार सृष्टि के सम्बन्ध में शाक्त-दर्शन परिणामवाद अथवा विवर्तवाद को स्वीकर नहीं करता। स्वातन्त्र्य के कारण ही सृष्टि का उदय होता है; अतएव उसे स्वातन्त्र्यवाद कहा जाता है। इसके अतिरिक्त उदय के पश्चात् भी सृष्टि की उस तत्व से अलग कोई स्थिति नहीं, प्रत्युत जल में उठती हुई लहरों के समान ही वह दिखाई देती है, अतएव उसे आभासवाद के रूप में भी स्वीकार किया जाता है। अक्षर अनन्य ने भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार किया था।

दृश्य-जगत् शक्ति-तत्व के विश्वात्मिका रूप का ही प्रसार है तथा पंच-तन्मात्राओं, पंच-तत्वों, दस इन्द्रियों, मन, बुद्धि, अहंकार आदि सब की उत्पत्ति उसी तत्व से होती है, अतएव उदय होने के पश्चात् भी सृष्टि सत्-चिद्रूपिणी शक्ति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। शक्ति-तत्व ही स्वयं अपनी इच्छा से स्फुरणा प्राप्त कर विराट् विश्व-रूप धारण करता है। बृहद् ब्रह्माण्ड में अगणित जगत् समुद्र-रूपी शक्ति-तत्व में उठती हुई लहरों के समान है। स्वर्ण से आभूषणों की रचना होने के पश्चात् आभूषण स्वर्ण-रूप ही रहते हैं, भूमि तथा भवनों में तत्वतः कोई अन्तर नहीं, उसी प्रकार शिव-शक्ति-तत्व से उत्पन्न सृष्टि में तथा उस तत्व में कोई भेद नहीं।[२]

---

१. भूषन हाटक सागर घाटक, काठ कपाटक नाम कहै हैं।
भूमि सु भौननि खांड खिलौननि, यौननि के उनमान वहै हैं।
कारन एक अनेक सु कारज, कारज कारन एक यहै हैं।
अन्नि न वस्तु 'अनन्य' भनै, सिव सक्ति समस्त सरूप लहै हैं॥

हाटक के बहु भूषन हैं, तिन भूषनि में नहि हाटक हानी।
सागर में लहरें लहिये, लहरैनि विषै वह सागर पानी।
यौं तत रूप 'अनन्य' भनै, न बिना तत अन्नि यहै उर आनी।
एक तें रूप अनेक लहै, सु अनेक में एक लहैं सुई ग्यानी॥

—ज्ञान-पंचासिका, २२-२३

बिस्व सकल सिव सक्ति महं, सूच्छम रूप समूल।
ज्यौं तरुवर के बीज महं, डार पात फल फूल॥—अक्षर अनन्य की साखी, ३१७

२. कंचन सो भूषन जो भूषन सो कंचन है,
कंचन सौं भूषन सौं भेद न लगत है।
धरनि सो मंदिर जो मंदिर सो धरनी है,
धरनि सौं मंदिर सौं न अन्तर खगत है।
रंग सो चतेवर चतेवर सो रंग जानि,
रंग ही चतेवर कौ रंग ज्यौं रँगत है।
एक ही अनेक यों अनेक एक भिन्न नहीं,
'अक्षर अनन्य' ब्रह्म मूरत जगत है। —अनन्य प्रकाश, ४२

चित्-तत्व ही शिव-शक्ति के रूप में विराजमान है तथा सदाशिव और ईश्वर के रूप में भी उसी तत्व का उदय होता है। माया-शक्ति अथवा अविद्या के कारण ही ईश्वर अहं को इदं से भिन्न मानता है, किन्तु यह भिन्नता सत्य नहीं। विश्वोत्तीर्ण रूप में विश्वात्मिका-रूप नित्य ही यथावत् वर्तमान है एवं सृष्टि के उदय होने के पश्चात् भी दोनों रूपों में अभेद की स्थिति वर्तमान रहती है। प्रकृति की भिन्नता के कारण अथवा सत्व, रज, तम गुणों के परिणामस्वरूप प्राणियों के स्वभाव में विविधता के आधार पर जगत् को चित्-तत्व से अलग मानना भ्रम है।[1]

माया-शक्ति शिव की ही शक्ति है तथा शक्ति-रूप होने के कारण वह मूलतः चैतन्यरूपिणी है, तथापि माया-शक्ति के रूप में वह स्वयं को स्वयं से आवृत करती है। यही माया-शक्ति सृजन-कार्य में शिव की उपादान-कारणभूत-शक्ति है। प्रकाश अथवा चिद्रूपिणी शक्ति तथा विमर्ष-शक्ति, दोनों ही परमशिव-तत्व की शक्तियां हैं और उसी में अभेद-रूप से विद्यमान रहती हैं। सृष्टि का उदय विमर्ष-शक्ति का परिणाम है, अतएव इस रूप में सृष्टि परमशिव-शक्ति-तत्व में बीज में वृक्ष की भाँति वर्तमान रहती है। विमर्ष-शक्ति के भी चिद्रूपिणी विमर्ष-शक्ति तथा विश्वरूपिणी विमर्ष-शक्ति दो रूप हैं। चिद्रूपिणी विमर्ष-शक्ति को दृश्य-प्रपंच से परे रहने के कारण विश्वोत्तीर्णा कहते हैं। जब यही शक्ति स्वयं परासंवित् से अपने को अलग करती है, तब वही प्रपंच के रूप में प्रकट होती है। चराचर जगत् की स्थिति इसी कारण है कि सत्-तत्व इसमें विद्यमान है, बुद्धि का और ज्ञान का कारण चित्-तत्व है तथा हर्ष-विषाद आदि का अनुभव आनन्द-रूप-तत्व के विद्यमान रहने के कारण होता है। इस प्रकार सृष्टि के रूप में वही तत्व स्थित है।[2] जिस प्रकार घट तथा मिट्टी को अथवा समुद्र और लहरों को अलग-अलग नहीं किया जा सकता, उसी

---

१. चेतन पुरुष एकै चेतनता सक्ति वहै,
चेतन पुरुष हैं न चेतनता जाया है।
निरंजनी जोति निरंजन जोति रूप कहै,
जोति में न कछु नर नारि कैसी काया है।
विस्वरूप ईस्वर ईस्वरी विस्व मूरति है,
यहै विस्वरूप दोनों छाप करि पाया है।
तत्व यौं अभेद भेद वाद यौं 'अनन्य' भनै,
कोउ कहै ब्रह्म कोउ कहै जोग माया है॥

—अनन्य प्रकाश, ५६

१. आत्मशक्ति विकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः।

—रेणुकाचार्य : सिद्धान्त-शिरोमणि

प्रकार चराचर जगत् को भी उस तत्व से अलग करना संभव नहीं।[1] 'अक्षर अनन्य' ने चराचर जगत् को शिव-शक्ति के रूप में ही देखा था :—

जानि परापर जक्त मय, श्री सिवसक्ति विलास। —अनन्य प्रकाश, ३

सामान्य व्यक्ति प्रकृति अथवा माया-शक्ति के प्रभाव के कारण स्थूल-विश्व को देखकर चित्-तत्व को भूल जाते हैं। उन्हें चारों ओर फैला हुआ संसार दिखाई देता है तथा उन्हें इस बात का अनुभव ही नहीं होता कि संसार के रूप में सत्-चित्-आनन्द-रूप तत्व ही सर्वत्र व्याप्त है। इसके विपरीत 'अक्षर अनन्य' की दृष्टि विश्व-रूप में व्याप्त चित्-तत्व पर इस प्रकार पड़ी थी कि उन्हें उसके अतिरिक्त संसार का कोई रूप दिखाई ही नहीं दिया :—

संसारहि धोखौ यहै, है कहुँ सिरजन हार।
कहि 'अनन्य' धोखौ हमें, है धौं कित संसार॥ —अक्षर अनन्य की साखी

शाक्त-तन्त्र के समान अक्षर अनन्य की भी मान्यता है कि सृजन, स्थिति तथा संहार तीनों का कारण वही शिव-तत्व है। ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्र क्रमशः रज, सत्व, तम गुणों से युक्त होकर उपर्युक्त कार्यों का सम्पादन करते हैं, किन्तु इन रूपों में वही तत्व कर्त्ता-रूप से व्याप्त है। विधि के रूप में शिव ही सृष्टि की रचना करते हैं, विष्णु के रूप में विश्व का पोषण करते हैं तथा रुद्र के रूप में समस्त विश्व को अपने में समेट लेते हैं।[2] जिस प्रकार मकड़ी अपनी नाभि से इच्छानुसार जाल का प्रसार करती है

---

१. **यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम्।**
तस्मादेतान्न भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः॥
शिवतत्वात्समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते।
फेनोर्मि बुद्बुदाकारो यथा सिंधोर्नभिद्यते॥
यथा पुष्पफलाशादि वृक्षरूपान्न भिद्यते।
तथा शिवात्पराकाशात् जगतो नास्ति भिन्नता॥

—सिद्धान्त-शिरोमणि

२. **विधि रूप रचै रचना रुचि सौं, हरि रूप प्रजै प्रतिपालत है।**
ससि सूरज रूप प्रकास करै, धरि रुद्र सरूप संघारत है।
सिव सक्ति विलास 'अनन्य' भनै, मकरी जिमि जाल पसारत है।
नहिं दूसरौ कारन कारज में, प्रभु आपुहि आप बिहारत है॥

है सब में सब ही तें परे, यह सगुँन निर्गुंन है गति जाकी।
दर्पन ज्यौं विवि पच्छ धरै, इत भास उतै अनभास प्रभा की।
ज्यों निधि एक 'अनन्य' भनै, सो अनेक तरंगनि सोभा है वाकी।
कारन कारज करतुति एक, कथा कहि भेदनि-भेदनि वाकी॥

—ज्ञान-पंचासिका, २५,३५

तथा अपनी इच्छा से उसे अपने में समेट लेती है, उसी प्रकार शिव-शक्ति से इस संसार का उदय होता है तथा वह उसी में विलीन हो जाता है।[1]

पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकरूपता के सम्बन्ध में अन्यत्र लिखा जा चुका है। जो पराशक्ति अखिल ब्रह्माण्ड की सृष्टि का कारण है, उसी से पिण्ड की उत्पत्ति होती है, अतएव पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में समान तत्वों का होना तथा दोनों का एकरूप होना स्वाभाविक है। विश्वात्मिका-शक्ति का ही सृष्टि के रूप में उदय होता है तथा वही तत्व जीव-रूप में भी अवतरित होता है; अतएव ब्रह्माण्ड एवं पिण्ड की रचना-प्रक्रिया में कोई अन्तर न होने के कारण उनमें एकरूपता विद्यमान रहती है। सत्व, रज, तम गुणों की अधिकता अथवा न्यूनता के कारण ही भेद प्रतीत होता है। समस्त ब्रह्माण्ड में जो महाकुण्डलिनी-शक्ति व्याप्त है, वही पिण्ड में भी विद्यमान है। 'अक्षर अनन्य' ने पिण्ड-ब्रह्माण्ड की एकरूपता का विशद विवेचन ठीक उसी प्रकार से किया है, जैसा शैव-शाक्त आगमों में पाया जाता है।[2] मूलाधार चक्र में पृथ्वी-तत्व, मणिपूर में जल, नाभि में अग्नि, उदर में आकाश, समस्त देह में व्याप्त पवन ही वायु है। दोनों नेत्र ही सूर्य-चन्द्र हैं, सत्व, रज, तम ही त्रिदेव हैं तथा आत्मा निष्कल शिव-तत्व है। रोम वनस्पति के समान तथा नाड़ियाँ सरिताओं के समान हैं।[3]

सृष्टि के उदय होने के पश्चात् जो कुछ हमें दिखाई देता है, उसको किसी-न-किसी नाम से ही पुकारा जाता है। प्रत्यक्ष वस्तु के नाम को ही मोटे तौर पर हम 'शब्द' कह सकते हैं। जिस प्रकार समस्त सृष्टि और विशाल ब्रह्माण्ड सूक्ष्म-रूप से कारण-

---

१. यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णतेच यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥
—मुण्डकोपनिषद्, १—१-७

२. 'जोई है ब्रह्मांड सोई पिंड में बनाव बन्यौ' —ज्ञानयोग, ४ २०

३. देख ब्रह्मण्ड रूप विराट। है सोइ पिण्ड कौ सब ठाठ।
महि निज मूल चक्र बखान। पुनि मनिपूर नीरहि जान॥
ज्वाला नाभि कमल निवास। खाली उदर सीस अकास।
व्यापक पवन अंग अंग हेर। जानि हृदय कमल सुमेर॥
कण्ठ अकास बानि सुबानि। रबि ससि जुगल चच्छु बखान।
त्रिगुन देवता हैं तीनि। निर्गुन ब्रह्म आतम चीन्ह॥
मस्तक परम धाम अनूप। तत सिव सक्ति जोति सरूप।
सुख रस भोग स्वर्ग समान। दुख मल मूत्र नर्क प्रमान॥
रोम बनस्पती सम लेख। नारी सकल सरिता देख।
—ज्ञानयोग, ५-३७

भूत शिव-तत्व में अन्तर्निहित रहता है, उसी प्रकार शब्द अथवा नाम का उदय भी उसी तत्व से है। दूसरे शब्दों में जिस प्रकार स्थूल सृष्टि शक्ति-तत्व की स्फुरणा का परिणाम है और यह समस्त दृश्य-जगत् उसी शक्ति का व्यापक रूप है, उसी प्रकार शब्द भी उसके स्पन्दन का परिणाम है। वाणी के द्वारा हम जिस किसी भी शब्द का उच्चारण करते हैं अथवा कर सकते हैं, वह सूक्ष्म रूप से चित्-तत्व में पहले से ही विद्यमान है। परासंवित् सत्-चित्-आनन्द-रूप शिव निष्कल, निस्पन्द, निष्क्रिय, तथा अशब्द है। स्फुरण तथा स्पन्दन शक्ति-तत्व के स्वभाव हैं। अद्वय-रूप से स्थित परमतत्व की स्फुरणा-शक्ति को ही वाक्शक्ति कहा गया है।[१] वाक् को ही महाभारत में वेदों की जननी कहा गया।[२] इसी कारणभूत वाक् में अथवा कारण-रूप शब्द में अर्थ और प्रत्यय भी सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। स्पष्टतः हम जो कुछ भी स्थूल-रूप जिह्वा अथवा श्रोत्र इन्द्रियों से बोलते अथवा सुनते हैं, वह शब्द का स्थूल रूप है। उसका सूक्ष्म और उसका भी कारण-रूप शब्द होना ही चाहिये, अन्यथा स्थूल शब्द की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं। परमशिव की सिसृक्षा-शक्ति ही वह कारण-रूप शब्द है तथा उसी को परावाक् के नाम से कहा जाता है। इस प्रकार नाम-रूप दोनों परमतत्व के ही रूप हैं। चिद्रूप-शिव स्वभावतः निस्पन्द तथा चिद्रूप-शक्ति स्वभावतः सस्पन्द हैं। जो वस्तु हम अपनी स्थूल आँखों से देखते हैं, उसका सूक्ष्म तथा कारण-रूप उसके सूक्ष्म तथा कारण-रूप में नित्य ही अन्तर्निहित है। इस प्रकार परावाक् और शक्ति-तत्व में कोई अन्तर नहीं। शब्द, अर्थ, प्रत्यय भी शक्ति एवं सृष्टि के समान एक ही तत्व हैं, किन्तु नाम-रूप के कारण उनमें भेद प्रतिभासित है। ब्रह्म का आत्मस्वरूप निर्विकार है तथा उसके शक्तिस्वरूप में ही स्पन्द आदि होता है। स्पन्द में ही शब्द की स्थिति है। जहाँ स्पन्द नहीं, वहाँ शब्द की भी सम्भावना नहीं होती। स्फुरणामयी शक्ति ही परावाक् अथवा ईश्वर है। इसी को शब्द-ब्रह्म कहा जाता है। परावाक् ही शब्द की कारण-रूप ध्वनि, शब्द-तन्मात्रा, उसकी सूक्ष्म ध्वनि तथा आकाश द्वारा गुञ्जित शब्द ही उसका स्थूल रूप है। ईश्वर में परा-शब्द, सूक्ष्म-शब्द तथा स्थूल-शब्द तीनों ही विद्यमान रहते हैं।

स्थूल-शब्द की उत्पत्ति 'आहत' अथवा दो वस्तुओं, यथा जिह्वा, दन्त, ओष्ठ, अधर, तालु, कण्ठ, वायु अथवा ऐसी ही किन्हीं दो वस्तुओं के पारस्परिक संघात से ही होती है। जब एक वस्तु किसी अन्य वस्तु को आहत करती है अर्थात् चोट मारती है, उससे उत्पन्न जो ध्वनि हमें कानों से सुनायी देती है, वही स्थूल-शब्द है। इसका

---

१. प्रजापतिर्वै इदमासीत् तस्य वाक् द्वितीय आसीत्।

२. महाभारत : शान्ति पर्व, ५-१२-९, २०

सूक्ष्म तथा कारण-रूप शब्द, जो किसी संघात से व्यक्त नहीं हुआ, अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। इसी अव्यक्त ध्वनि को अनाहत ध्वनि अथवा अनाहत नाद कहा जाता है, जो मध्यकालीन सन्तों की भाषा में 'अनहद नाद' के रूप में वर्णित है। यह अनाहत नाद नित्य एवं सर्वत्र व्याप्त है। परावाक् को स्थूल शब्द के रूप में व्यक्त होने के लिए विभिन्न स्थितियों को पार करना पड़ता है। व्यक्त होने के पूर्व तथा व्यक्त होने की इच्छा उत्पन्न होने के साथ ही उसमें किंचित् स्पन्दन प्रारम्भ होता है, जिसके परिणामस्वरूप वह अव्यक्त से व्यक्त की ओर गतिशील होती है। इसी सामान्य स्पन्दनशील वाक् को पश्यन्ती कहा जाता है। वाणी और मन का संयोग इसी अवस्था में होता है। स्वभावत: संकल्पात्मक होने के कारण मन उसी के अनुरूप धारणा बनाता है तथा मन में ही अर्थ एवं वस्तु के आकार की कल्पना का भी उदय होता है। शब्द, अर्थ, प्रत्यय तीनों का संयुक्त रूप ही मध्यमा वाक् है। धारणा के अनुरूप भावों को व्यक्त करने हेतु जो कुछ उच्चारण के द्वारा कहा जाता है, वही वैखरी वाक् अथवा शब्द का स्थूल रूप है।

जिस प्रकार समस्त सृष्टि में सत्-चित्-आनन्द-रूप ब्रह्म व्याप्त रहता है, उसी प्रकार स्थूल रूप से इस जगत् में, जिस किसी भी भाषा में, जो कुछ भी कहा-सुना जाता है, उसमें सदा-सर्वदा परावाक् विद्यमान है। यही कारण है कि चराचर जगत् में जहाँ सर्वव्यापक परमात्मा के अनुभव करने का निर्देश है, वहीं शब्द की कारण-रूप परावाक् की साधना का भी निर्देश किया गया है। यही रूप और नाम दोनों की साधना है तथा परावाक् का श्रवण ही अनहद नाद का श्रवण है।

'ज्ञानयोग' में 'अक्षर अनन्य' ने शब्द-ब्रह्म की आराधना को सर्वाधिक महत्त्व दिया। शब्द-ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान होना तथा उसी के ध्यान में निरन्तर लीन रहना सहज-समाधि की अवस्था है। इस अवस्था में इधर-उधर की व्यर्थ चर्चा करने की इच्छा का भी सहज ही शमन हो जाता है तथा लोक एवं वेद की मर्यादाएँ भी पीछे छूट जाती हैं।[1]

संकेत किया जा चुका है कि परावाक् ही ईश्वर है। इसी का 'अक्षर अनन्य' ने 'शिवनाद' के नाम से उल्लेख करते हुए कहा है कि इसको सुनने के पश्चात् कुछ

---

१. धुनि ही के ध्यान में मगन लवलीन रहै,
सहज समाधि मिटै इच्छा बकवाद की।
लोक की न मानि कानि टूटि जात वेदहू की,
भेदि मन पार होत भीति मरजाद की॥

—ज्ञानयोग, २–१

भी श्रवण-योग्य शेष नहीं रहता तथा वेद, पुराण, शास्त्रादि उसी से उत्पन्न होने के कारण कथा-कहानी-जैसे रह जाते हैं।[1]

'अक्षर अनन्य' ने परावाक्-शक्ति तथा अनहद वाणी का विस्तार के साथ वर्णन किया है। अन्य संतों ने भी यद्यपि 'अनहद नाद' का अपनी बानियों में उल्लेख किया है, तथापि उसके सम्बन्ध में वे इतना अधिक स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत नहीं कर सके, जितना 'अक्षर अनन्य' के साहित्य में मिलता है। अपनी प्रतिभा के द्वारा इस विषय को भी उन्होंने इतना अधिक सुबोधगम्य एवं लालित्यपूर्ण बना दिया है कि दर्शन की सभी गुत्थियाँ सुलझकर सीधे सूत्र ही हमारे सामने आये। कारण-रूप शब्द का कोई रूप नहीं, किन्तु व्यक्तावस्था में वही स्थूल रूप ग्रहण करता है तथा उसके श्रवण के पश्चात् और कुछ देखना-सुनना व्यर्थ हो जाता है।[2]

चित्-शक्ति को चराचर जगत् में व्याप्त देखने अथवा समस्त सृष्टि को शक्ति-रूप में देखने के समान ही, अनहद नाद का श्रवण भी साधना की उच्चतम

---

१. भासै सिव नाद नाद वेदनि कौ आदि बीज,
जाही सौं सिद्ध होत अनहद बानी है।
जाकी धुनि सुनि और सुनिबौ न मन आवै,
वेद हू पुरान ग्रन्थ लगत कहानी है॥ —ज्ञानयोग, ४–१

२. बानी अनहद ग्यान मूरत अनादि सिद्ध,
निगुन सरूप सब गुननि के गथ में।
त्रिगुन त्रिदेवता त्रिलोक हूं त्रिवेद आदि,
त्रिपद त्रिसन्ध्या सब वाही के अरथ में।
सिद्धिनि की धुनि लोक वेद जो प्रसिद्ध नाहीं,
भासै स्वयं सिद्ध सिद्धि साधन के पथ में।
'अक्षर अनन्य' जाकौ वाहन न धाम कहूँ,
बसै ग्यान जोगी के मनोरथ के रथ में॥

मनसा की दानी आदि विद्या अनहद बानी,
वाही की जुबानी बोध विद्या अरु पारसी।
सबद अरूप है सरूप वा सबद ही में,
भासैं वह रूप चित्त ही की कर आरसी।
'अक्षर अनन्य' वा सरूप सों सुरति मिलै,
सुरति अनूप सदा आतम अधार सी।
ध्यान के महल ग्यान मूरति बिराजमान,
देखै वह छबि और छबि लागै छार सी॥

—ज्ञानयोग, ४–३, ४

स्थिति है। 'अक्षर अनन्य' देह, जीव, ईश्वर, ब्रह्म सब के सोच-विचार को माया अथवा अविद्या का परिणाम मानते थे तथा उनके अनुसार जीवात्मा अविद्या के पाशों से मुक्त होकर जब स्वयं ही शिव-रूप अथवा 'अहं'-रूप को प्राप्त कर लेती है, तब 'सोऽहम्' की स्थिति भी समाप्त होकर केवल 'अहम्' की स्थिति रहती है।[1] इसी के अनुरूप परावाक् तथा अनहदनाद-साधना के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा है कि दूसरी सभी विद्याएँ, वर्ण और अक्षर पढ़ने के पश्चात् भी विस्मृत हो जाते हैं, किन्तु यह अक्षर कभी विस्मृत नहीं होता और यह समाधि अन्य समाधियों की भाँति कभी टूटती नहीं।[2]

'अक्षर अनन्य' ने साधना के व्यावहारिक पक्ष को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानते हुए केवल ज्ञान को निर्वाण-प्राप्ति के साधनभूत उपाय के रूप में स्वीकार करने से स्पष्टतया इनकार किया है। यहां इस बात की ओर संकेत कर देना असंगत नहीं होगा कि जिस प्रकार अपनी दार्शनिक मान्यताओं को उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट एवं सुलझे हुए शब्दों में व्यक्त किया है, उसी प्रकार साधना-सिद्धान्तों के विवेचन के प्रति भी वे पूर्ण जागरूक रहे। हिन्दी साहित्य की संत-परम्परा के अन्य कवि साधना एवं सिद्धान्त दोनों के सम्बन्ध में इतने भटके हुए रहे कि उनकी वाणी में कोई भी पक्ष स्पष्ट नहीं हो सका। वेदान्त-दर्शन ज्ञान के बिना मुक्ति-प्राप्ति सम्भव नहीं मानता[3], किन्तु शाक्त-दर्शन साधना-शास्त्र होने के कारण सैद्धान्तिक दृष्टि से ज्ञान की अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए भी व्यावहारिक साधना को किसी भी दृष्टि से गौण नहीं मानता। 'अक्षर अनन्य' ने केवल ज्ञान की निस्सारता को स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक अथवा अनेक मानने की कोई सार्थकता नहीं है। न तो उसको एक मानने से उसका सर्वव्यापकत्व सीमित होता है और न अनेक मानने से ही उसका एकत्व खण्डित होता है। एक अथवा अनेक मानने पर भी ब्रह्म यथावत् रहता है। सोने के सुमेरु पर्वत का ज्ञान होने मात्र से ज्ञाता का दारिद्र्य दूर

---

१. देह की जाति कै जीव कै ईस्वर, ब्रह्म किधौं इन चार में कोहं।
चार विचार सें संसय सोच है, संसय सोच सु मायिक मोहं।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर मूरति, ध्यान अधार न दूसरो टोहं।
मान बिसारि दसा लवलीन, तें सोई भयौ तब कौन की सोऽहं॥

—स्फुट पद्य

२. अक्षर और पढ़ें बिसरैं, वह अक्षर तौ बिसरै न बिसारे।
ध्यान समाधि लगै औ खुलै, यह ग्यान समाधि टरै नहिं टारे॥

—ज्ञानयोग, ४–८

३. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

नहीं हो जाता तथा अगाध जलनिधि के ज्ञान-मात्र से तृषित की तृषा शान्त नहीं होती।[1]

ज्ञान की सार्थकता तदनुरूप आचरण एवं व्यवहार में ही है, अन्यथा थोथा ज्ञान बकवाद के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। जीवन भर अमृत की चर्चा करने पर भी जब तक उसका पान नहीं किया जाता, अमरत्व की प्राप्ति सम्भव नहीं।[2]

वेद-शास्त्रादि के अध्ययन से ब्रह्म का ज्ञान भले ही हो जाय, किन्तु आत्मानुभूति के लिए व्यावहारिक साधना की आवश्यकता फिर भी शेष रहती है। उपनिषदों में भी आत्मा को केवल 'ज्ञातव्य' मानकर ही नहीं छोड़ दिया गया, वरन् उसके साथ ही उसके 'निदिध्यासितव्य' भी कहने की आवश्यकता समझी गयी थी।[3] निदिध्यासन के बिना अन्तरात्मा में ब्रह्म-रूप प्रबुद्ध नहीं होता तथा बोध होने पर भी अबोध की स्थिति बनी रहती है। आचरणविहीन व्यक्ति ब्रह्म-ज्ञान का दम्भ भरनेवाले मिथ्याचारी हैं। ऐसे ज्ञानाभिमानी व्यक्ति कर्म एवं कर्मफल से मुक्त होने का दावा कर दुष्कर्म करने में संकोच नहीं करते तथा सत्कर्मों की उपेक्षा कर उनका परित्याग कर देते हैं।

---

१. जानै सर्व एक कै अनेक जीव करि जानै,
जानै अनजानै होत ग्यान कौ न ग्यान है।
बड़े बड़े देवता नरेस अवतारन की,
कथनि के जानै ही न कारज निदान है।
'अक्षर अनन्य' जैसें सोने कौ सुमेरु जानै,
छूटै न दरिद्र बाढ़ै संपति न थान है।
दान ब्रत जोग जग्य जप तप ग्यान ध्यान,
जानिबौ प्रमान नाहीं करनी प्रमान है॥
—उपासना-बोध, १२

२. जानिबो बड़ो है जानि कै जो करतूत करै,
बिना करतूत ग्यान मिथ्या बकवाद है।
मन में न धरै तौलौं कहा जो बखान करै,
अमृत की चरचा में कौन सौ सवाद है॥
—उपासना-बोध, १३

३. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। —बृहदारण्यक
श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येतत्पूर्णं बोधस्य कारणम्॥ — शुक-रहस्य, ३-१३

इस प्रकार के मिथ्याचारी ब्रह्मवादियों पर आक्षेप करने में 'अक्षर अनन्य' को संकोच नहीं हुआ।[1]

उपर्युक्त उल्लेख के अनुसार व्यावहारिक साधना के महत्त्व को ध्यान में रखकर ही 'अक्षर अनन्य' ने 'ज्ञानयोग' की अपनी विशिष्ट साधना-पद्धति का निर्देश किया है। आपका ज्ञानयोग केवल ज्ञान की साधना नहीं, प्रत्युत ज्ञान एवं योग दोनों की सम्मिलित साधना है। 'योग' से आपका तात्पर्य हठयोग-प्रतिपादित आसन, प्राणायाम आदि क्रियाओं से नहीं, वरन् उस विशिष्ट साधनभूत प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा ज्ञान के माध्यम से प्राप्तव्य तत्व को प्राप्त किया जा सके। दूध अथवा दही में घृत विद्यमान होने का ज्ञान भी आवश्यक है, किन्तु उस घृत को प्राप्त करने हेतु मथानी द्वारा मथने-जैसी युक्ति का सहारा लिये बिना भी काम नहीं चलता।[2] काष्ठ में अग्नि विद्यमान होने का ज्ञान उस समय तक निरर्थक ही है, जब तक किसी युक्ति के द्वारा उस अग्नि को निकाला नहीं जाता। वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि ब्रह्म का केवल ज्ञान कराने के साधन-ग्रंथ ही नहीं हैं, प्रत्युत उस तत्व की प्राप्ति का मार्ग भी इनमें निर्दिष्ट है। 'बूझ' तथा 'सूझ' शब्दों के प्रयोग द्वारा 'अक्षर अनन्य' ने अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है कि यद्यपि अंजन में दृष्टि-दान की क्षमता है, परन्तु जिस प्रकार जब तक उसका प्रयोग आंख में नहीं किया जायगा, तब तक हमें कुछ दिखाई नहीं देगा, उसी प्रकार ज्ञान में विवेक को जाग्रत करने की सामर्थ्य है, किन्तु जब तक उसके द्वारा हमें आत्मानुभूति नहीं होती, तब तक वह भी निस्सार है। ज्ञान के द्वारा उस परमतत्व के रहस्य को समझने के

---

१. छाड़ें न कुकर्मनि सुकर्म छांड़ें निंदा करि,
मानैं हम ग्यानी भये कमैं न डरत हैं।
ब्रह्म ठहरात भहरात हैं अविद्या ही में,
जानैं ब्रह्म विद्या कौं न टेकहि धरत हैं।
'अक्षर अनन्य' सूझ बूझ कछू आपु में न,
सुनि कै कथानि अभिमानहि धरत हैं।
अंतर अबोध ब्रह्म रूप कौ प्रबोध नाहीं,
बादि ही बिवाद ब्रह्मवादी ते करत हैं॥
—उपासना-बोध, १५

२. ग्यान कहावै जानिबौ, जुगति कहावै जोग।
दधि घृत जाननि जुगति मथि, तब पावै रस भोग॥
—ज्ञानयोग, १–२

पश्चात् युक्ति के द्वारा उसकी सिद्धि अर्थात् उपलब्धि ही 'अक्षर अनन्य' का ज्ञान-योग है।[1]

'अक्षर अनन्य' के साहित्य में ज्ञान का बड़ा ही स्पष्ट एवं विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। श्रीमद्भगवद्गीता में ज्ञान के लक्षणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति निरभिमानी होता है, दम्भी नहीं होता, अहिंसा का पालन करता हुआ दूसरों के प्रति क्षमाशील होता है, सरल-स्वभाव, गुरु-आचार्य की सेवा में संलग्न, शरीर और मन से शुद्ध, निष्ठावान्, आत्मनिग्रही, इन्द्रिय-विषयों के प्रति विरक्त, अहंकार-भावना से मुक्त, जन्म, मरण, जरा आदि के दोषों के प्रति जागरूक, पुत्र, दारा, गृह आदि के प्रति अनासक्त, इष्ट-अनिष्ट के प्रति समबुद्धि, अनन्य-भाव से ईश्वर का भक्त होता है, वही ज्ञानी है, तथा यही साधन समुदाय ज्ञान है।[2] श्री शंकराचार्य ने अपने गीता-भाष्य में यम-नियम आदि साधनों को भी 'ज्ञान सहकारि कारण' होने से ज्ञान के ही रूप में स्वीकार किया है।[3] जिन साधनों से घट के घट होने का ज्ञान होता है, वे साधन भी 'ज्ञान' की परिभाषा में आते हैं।

---

१. ग्यान नाम जानिबौ जुगति नाम जोग कौ है,
काठ में अगिनि ज्यौं जुगति सौं निकार है।
वेद हू पुरान सास्त्र सुम्रतैं बखान जेते,
जानिबे के पंथ ग्रंथ कथा बिसतार हैं।
प्रापति कौ मारग गुपित कह्यौ इन ही में,
'अक्षर अनन्य' पूरे गुरु कौ बिचार है।
ग्यान भेद जानि कै जुगति साध सिद्ध करै,
यहै ग्यान जोग ब्रह्म ग्याननि कौ सार है॥
—ज्ञानयोग, १-६

२. अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्म मृत्यु जराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च सम चित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्व ज्ञानार्थ दर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, १३-७,११

३. ज्ञाननिमित्तत्वाद् ज्ञानम् उच्यते इतिहि अवोचाम।
ज्ञान सहकारि कारणत्वात् च।
—गीता-शांकरभाष्य

ज्ञान के स्वरूप का विवेचन करते हुए 'अक्षर अनन्य' ने 'तत्व-स्वरूप' के भास होने को ही ज्ञान का लक्षण माना है :–

'ग्यान कहत हैं भास सौं, भासै तत्त सरूप ।' —सिद्धान्त-बोध, १२६

'अक्षर अनन्य' 'ज्ञान' तथा 'आत्म-ज्ञान' में किंचित् भेद स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं। आत्म-ज्ञान की स्थिति ज्ञान से परे की स्थिति है। सारासार का विचार करते हुए जगत् की निस्सारता को समझकर उसकी ईति-व्याधियों से अविचलित रहना, पूर्ण-प्रबुद्ध शुद्ध-ब्रह्म के चिन्तन, कर्म तथा कर्मफलों के प्रति अनासक्ति एवं समस्त चराचर जगत् में शिव-शक्ति-तत्व के विद्यमान होने का भास ही 'ज्ञान' है।[1]

'योगवासिष्ठ' तथा 'महोपनिषद्' द्वारा प्रतिपादित ज्ञान की सप्त-भूमिकाओं को ही 'अक्षर अनन्य' ने स्वीकार किया है। शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुर्यगा, सातों भूमिकाओं का विशद विवेचन 'सिद्धान्त-बोध' में किया गया है। ये भूमिकाएं भी शाक्त-तंत्र द्वारा निर्दिष्ट सप्त आचारों की भांति साधक के उत्तरोत्तर विकास की निर्देशिका हैं। योगवासिष्ठ के ही आधार पर इनका वर्णन भी किया गया है :–

शुभेच्छा—सुभ इच्छा जब जीव की, सुभ कर्मनि सौं प्रीति ।
भूमि सुभेच्छा जानि यह, चलै सुराह सुरीति ॥[2]

विचारणा—हृदै सुद्ध सुभ कर्म करि, उपज्यौ तत्त विचार ।
को कर्त्ता को कर्म है, को हम को संसार ॥[3]

तनुमानसा—करि विचार निरधार करि, कीनौ तन मन सुद्ध ।
तनुमानसा सु तीसरी, बाढ़ै हियै प्रबुद्ध ॥[4]

---

१. आतमा बिचारि सारासार निरधार जानि,
जगत असार में न सीस धुनियत है ।
पूरन प्रबुद्ध सुद्ध रूप ही कौ सोधि हियौ,
कर्मनि अलीन ते न पाप पुनियत है ।
चराचर रूप चारि ब्रह्म परजंत जिते,
देखियत आंख और कान सुनियत है ।
जानै सिव सक्ति ही सरूप सर्व रूप एक,
'अक्षर अनन्य' ऐसौ ग्यान गुनियत है ॥
—सिद्धान्त-बोध, १२५

२. स्थित: किं मूढ़ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनै: ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधै: ॥

३. शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥

४. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा ॥

सत्त्वापत्ति--सकल कचाई पचि गई, बाढ़्यौ हिरदै सत्व ।
सत्वापति यह भूमिका, चीन्ह्यौ चेतन तत्व ।।[१]

असंसक्ति—हृदै ग्यान दीपक दियैं, निहचैं कियौ सरूप ।
असंसक्ति यह भूमिका, पंचम महा अनूप ।।[२]

पदार्थाभावना—मुक्ति भुक्ति सुख स्वर्ग धन, सब कौ भयौ अभाव ।
यह पदारथाभावना, भूमि अभूत प्रभाव ।।[३]

तुर्यगा— द्वन्द भेद नासै सबैं, जीव सींव भये एक ।
जीवन मुक्त अभेद पद, तुर्जग भूमि बिसेष ।।[४]

यहां संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'अक्षर अनन्य' ज्ञान, भक्ति, योग तथा वैराग्य सभी को निर्वाण-प्राप्ति का साधन मानते हैं तथा किसी भी साधन-पद्धति से उन्हें द्वेष नहीं है । ज्ञानयोग-मार्ग को सरल, निर्विघ्न, सहज-साध्य, विहंगम-पंथ के रूप में स्वीकार करने के कारण ही उन्होंने इसका प्रबल समर्थन किया है, तथापि यह कहने में उन्होंने संकोच नहीं किया कि रुचि और सामर्थ्य के अनुसार साधक इनमें से किसी भी मार्ग का अनुसरण कर सकता है तथा उसे उस मार्ग के द्वारा भी उसी परम-पद की प्राप्ति होगी, जो अन्य मार्गों के अनुसरणकर्त्ताओं को होती है :–

भक्ति जोग अरु ग्यान मत, इहि बिधि कहे 'अनिन्न' ।
सिद्धि भयैं पद एक है, मारग में मत भिन्न ।।
तीनि क्रियनि में एक करि, मन न डिगै सुनि और ।
वहै क्रिया पूरन भयैं, होय सिद्ध सिरमौर ।।

–सिद्धान्त-बोध, १५५-१५६

---

१. भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्ति रुदाहृती ।।

२. दशा चतुष्टयाभ्यासादसंसंग फलेन च ।
रूढ़ सत्व चमत्कारात् प्रोक्तासंसक्ति नामिका ।।

३. भूमिका पंचकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढ़म् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ।
पर प्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थाभावना नाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ।।

४. भूमि षट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ।।
—योगवासिष्ठ, उ० प्र०, सर्ग ११८

ज्ञान की उपर्युक्त सप्त-भूमिकाओं के साथ वैराग्य, योग तथा भक्ति के भी क्रमशः छः, आठ तथा नौ लक्षणों का विस्तृत विवेचन करते हुए अनन्य ने उन्हें क्रम-विकास की सीढ़ियों के रूप में ही माना है।[1]

आत्मबोध अथवा आत्मानुभूति की अवस्था को सबसे परे की अवस्था मानी गयी है। ज्ञान तथा प्रक्रिया-रूप योग के द्वारा आत्मानुभूति की अवस्था प्राप्त होने पर जीवात्मा और परमात्मा तथा विद्या और अविद्या के एकत्व का केवल ज्ञान ही नहीं होता, वरन् दोनों के बीच के भेद की स्थिति भी समाप्त हो जाती है। मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार तथा इन्द्रिय-विषयों का भी अन्त हो जाता है और साधक स्वयं शिव-शक्ति-रूप हो जाता है। इस दशा में उसे किसी प्रकार के ज्ञान, ध्यान की आवश्यकता शेष नहीं रहती।[2]

आत्मा-परमात्मा, शिव-शक्ति और जगत् आदि के बीच किसी भी प्रकार की भेद-बुद्धि न रहने को अर्थात् संशय नष्ट हो जाने को ही 'अक्षर अनन्य' ने ज्ञान कहा है।[3] अलख का देखना, अलभ्य की उपलब्धि, अथाह का अवगाहन, अग्राह्य का ग्रहण तथा अकथ्य का कथन भी ज्ञान का ही परिणाम है।[4] जो साधक समस्त चराचर जगत् को शिव-शक्तिमय देखता है, जिसकी भेद-बुद्धि सर्वथा तिरोहित हो जाती है, जिसकी इच्छाएँ पूर्णतः शान्त हो जाती हैं, तथा जो 'सहज-दशा' में स्थित रहता है, वही आत्मानुभूति की स्थिति में होता है।[5] सूर्य और चन्द्रमा के प्रकाश के

---

१. छ गुन बिराग सात भूमिका गियान, आठ अंग जोग नवधा भगति सुख सरसत।
क्रम क्रम बढ़त चढ़त परिवान पद, तब निरवान पद करमनि परसत।
—सिद्धान्त-बोध, १५६

२. जीव हू अविद्या ब्रह्म विद्या को अभेद जहां,
एक तत्त ही में पंच तत्त परिवान की।
मन चित्त बुद्धि अहंकार के बिकार मैंटि,
इन्द्री गुन देह कर्म लीला प्रतिमान की।
आपु ही सहित सर्व रूप सिव सक्ति जान,
पूरन नजर रही हाजत न ध्यान की।
भासत न अन्नि घन्नि अनुभौ 'अनन्य' भनै,
ऐसी एक अस्थिर अवस्था निज ग्यान की॥
—सिद्धान्त-बोध, १७८

३. संसय मिटनि कौ कहि ग्यान।

४. अछर अच्छ अलहैं लहैं, अथहैं थहैं प्रमान।
अरह रहैं अगहैं गहैं, अकहैं कहैं सु ग्यान॥ — अक्षर अनन्य की साखी, २८२

५. जानहिं सब सिव सक्ति मय, मानहिं भेद न आन।
सहज दसा इच्छा रहित, कहि 'अनन्य' निज ग्यान॥
— अक्षर अनन्य की साखी, ४४

सहारे हमें अपने सामने की वस्तु दिखाई देती है, किन्तु पीछे की वस्तु दृष्टि से ओझल ही रहती है। इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष के लिए कहीं भी अन्धकार नहीं रहता और दृश्य-जगत् तथा उसमें व्याप्त तत्व सब कुछ उसके लिए प्रत्यक्ष होता है।[1]

'अक्षर अनन्य' ने ज्ञान के सात्विक, राजस, तामस, निर्गुण तथा पूर्ण-ज्ञान, इस प्रकार पाँच भेद स्वीकार किये हैं। निर्गुण-ज्ञान को ही उन्होंने 'अवधूत ज्ञान' कहा है। विधि-निषेध के अन्तर को न समझना, अपनी मति के अनुसार समझने को ही सत्य मानना, गुरु के समझाने पर भी कुछ न समझना तामस ज्ञान है। विवेक तथा विचारपूर्ण रीति से कार्य करना, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के प्रति रुचिशील होना, व्रत, नियम, संयम का पालन, सकाम-भाव से उपासना, देवताओं की सेवा-पूजा राजस ज्ञान हैं। शील, संतोष, धैर्य, गाम्भीर्य, धर्म, दया निर्लोभ, निरासक्ति, निष्काम-कर्म सात्विक ज्ञान के लक्षण हैं। राग, द्वेष, हर्ष, शोक, बन्धन, मोक्ष, बैर, प्रीति, हार, जीत, निन्दा, प्रशंसा, मान, अपमान के प्रति समबुद्धि तथा सर्वत्र शिव-शक्ति को व्याप्त देखना ही निर्गुण-ज्ञान है। हरि, हर, सुर, नर, ऊपर, नीचे, घर, वन, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, निर्गुण, सगुण, संत, असंत, सभी के प्रति सम-भाव तथा सभी को एक ही तत्व के विविध रूप मानना ही पूर्ण-ज्ञान है। संस्कार एवं संगति के परिणाम-स्वरूप जो व्यक्ति जिसका अधिकारी होता है, उसके लिए वही प्रमाण है।

परम-तत्व के भास को ज्ञान मानने के साथ ही 'अक्षर अनन्य' की मान्यता रही है कि ज्ञान के बिना शिव-शक्ति के रूप का भास होना सम्भव नहीं।[2] अज्ञानियों के लिए जगत् में वैविध्य दिखाई देता है, किन्तु अनेकता में एकता देखना ज्ञानियों के लिए ही सम्भव है।[3] इस प्रकार ज्ञान के माध्यम से तत्व-ज्ञान के पश्चात् युक्ति के द्वारा उसकी अनुभूति करना ही साधना की चरम स्थिति है। व्यावहारिक

---

१. लहि उदोत ससि सूर, मुख प्रकास पाछैं तिमिर।
ग्यान जोति गुरु पूर, सर्वत सर्व प्रकास कर॥

—अक्षर अनन्य की साखी, २००

२. ग्यान बिना जु 'अनन्य' भनै, सिव सक्ति सरूप अखण्ड न भासै।

—ज्ञान-पंचासिका, २१

३. एक तैं अनेक भिन्न जगत 'अनन्य' भनै,
ग्याननि अनेक मांझ एक ब्रह्म जान्यौ है।

—ज्ञान-तरंग, ७

साधना के बिना ज्ञान की कोई सार्थकता नहीं।[1] यदि तत्व-ज्ञान के बिना साधक पूजा-अर्चना का मार्ग ग्रहण करता है, तो उसकी वे समस्त क्रियाएं भांड द्वारा किये गये अभिनय के समान हैं। उसी प्रकार व्यावहारिक साधना के बिना वेद-शास्त्रादि का ज्ञान भी किसी अन्य व्यक्ति के नेत्रों के समान है, जिनके द्वारा हम स्वयं कुछ देख नहीं सकते। साधनाविहीन व्यक्ति को मात्र अध्ययन के कारण ज्ञानी मानना संगत नहीं।[2]

व्यावहारिक साधना की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए 'अक्षर अनन्य' ने ज्ञान और योग दोनों को परस्पर एक-दूसरे का पूरक माना है।[3] संकेत किया जा चुका है कि योग से उनका तात्पर्य अष्टांग-योग-साधना से नहीं, प्रत्युत प्रीति, प्रतीति, श्रद्धा एवं दृढ़ता-युक्त व्यावहारिक साधना-प्रक्रिया से रहा है। हठयोग-साधना का उन्होंने कहीं भी समर्थन नहीं किया तथा उसे कष्ट-साध्य मानते हुए केवल दीर्घायु प्राप्त करने का साधन माना है। चौरासी आसनों को शारीरिक व्यायाम मानकर[4] अष्टांग योग को स्पष्ट शब्दों में अज्ञानियों द्वारा अनुसरणीय[5] छोटा योग[6] कहा गया है। वे केवल जीवात्मा तथा परमात्मा के मिलन को ही योग मानते हैं।[7]

---

१. दान व्रत जोग जग्य जप तप ग्यान ध्यान,
जानिबौ प्रमान नाहीं करनी प्रमान है। —उपासना-बोध, १२

२. कीजे ब्रह्म ग्यान कै भगति जोग जाप ताप,
थापिये जु मत तौ जुगति वहै धारिये।
जुगति के साधै बिना अकलैं न काम आवैं,
भांड़ कैसी नकलैं न जोगी सो बिचारिए।
'अक्षर अनन्य' ग्रंथ पंथनि में ग्यान सुनि,
ग्यानी नहीं होत जौलौं आपु न सम्हारिए।
आपनै ही नैननि सौं सूझत कुरूप रूप,
औरनि के नैननि सौं रूप न निहारिए॥ —उपासना-बोध, १६

३. जोग बिना लघु ग्यान है, ग्यान बिना लघु जोग।
—ज्ञानयोग, १-३

४. अरु आसनै चौरासी कही हैं। ते सब देह की कसरत माफिक हैं।
—अष्टांग योग

५. अरु हठयोग अग्यानिनि कौ कह्यौ है। वामें ईस्वर की प्रापति बड़ी कठिन सौ होति है।
—अष्टांग योग

६. सु या अष्टांग जोग सौं छोटो जोग कहत हैं।
—अष्टांग योग

७. दो के मिलिबे कौ नाव जोग है। सु जीवातमा परमातमा कौ मिलिबो जोग है।
—अष्टांग योग

'योग-शास्त्र हरिहर-सम्वाद' में प्राणायाम आदि साधनाओं के साथ ही शब्द-योग एवं ध्यान-योग का भी वर्णन किया गया है। जीवन के समस्त द्वन्द्वों से मुक्त होकर शिव-शक्ति के चिन्तन में निरन्तर लीन रहना तथा स्थिर चित्त होकर सहज समाधिष्ठ होना ही सर्वोत्कृष्ट योग कहा गया है तथा इसी को 'लय-योग' के नाम से भी अभिहित किया गया है।[1] 'अक्षर अनन्य' ने 'चिठ्ठा' में लय-योग की प्रशंसा में कहा है कि इसके समान ज्ञान-ध्यान कुछ भी नहीं है तथा लययोगी सर्वश्रेष्ठ योगी है।[2]

लय-योग की सहज समाधि-दशा प्राप्त करने हेतु ज्ञान, मंत्र, जप तथा मूर्ति-पूजा आदि मात्र आधार हो सकते हैं। वेद-शास्त्रादि का अध्ययन तथा पुराणादि की कथाओं के श्रवण से मन में साध्य को प्राप्त करने की लालसा जाग्रत होती है। मंत्र-जप से दुष्प्रवृत्ति के अन्त होने के साथ ही ईश्वर के अनवरत चिन्तन-स्मरण की वृत्ति का उदय होता है तथा मूर्ति के ध्यान से अपने साध्य के रूप के प्रति प्रेम-भावना उत्पन्न होती है। इनके परिणामस्वरूप चित्त पूर्णरीत्या साध्य-रूप परमतत्व में लीन रहता है तथा यही अखण्ड समाधि की अवस्था है। प्राणवायु के अवरोध एवं बहिर्गमन के साथ हठयोग-प्रतिपादित समाधि लगती और खण्डित हो जाती है; जब तक चित्त विभ्रमित होकर अन्यत्र नहीं भटकता, तभी तक ध्यान-योग की समाधि स्थिर रहती है; किन्तु लय-योग की प्रेम-समाधि में चित्त अक्षर-ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है तथा जिस प्रकार कामी पुरुष का मन अपनी प्रियतमा से कभी हटता नहीं, उसी प्रकार साधक का मन भी साध्य के अनवरत चिन्तन-ध्यान के परिणाम-स्वरूप उसी के साथ तद्रूप हो जाता है।[3]

साधना के क्रियात्मक पक्ष पर 'अक्षर अनन्य' ने जितना बल दिया है, उसके प्रति संकेत किया जा चुका है। निष्कपट भाव, सच्चाई एवं आस्था के साथ 'भक्ति' को ही उन्होंने सर्वश्रेष्ठ 'कर्म' स्वीकार किया है। गुरु-उपदेश के प्रति पूर्ण आस्था, भजन-पूजन के प्रति प्रेम, शील-गाम्भीर्य, तुष्टि, धैर्य, दृढ़ता, सत्य, दया, मन की

---

१. लौ सम ग्यान न लौ सम ध्यान, न लौ सम जोग सुनौ जदुराई।
लौ न कहैं सुनैं आवत है, निज प्रेमिनि कौ यह सिद्धि सुधाई।
साधन और कहे तिन कौ, जिनके हिरदै महं लौ नहिं आई।
लौ सम साधन और नहीं, लव साधन है ये समाधि सहाई॥

२. चित्त सदा लवलीन रहै, कहि 'अक्षर' सोइ समाधि कहावै।

३. जोग समाधि पवन्न चढ़ै, उतरै खुलि जात रहै नहिं नित्तहि।
ध्यान समाधि लगै तब लौं, चित नैन खुलै मुरकै मन दत्तहि।
प्रेम समाधि सदा कहि 'अक्षर', अक्षर रूप रहै मिलि चित्तहि।
ज्यौं बिसनी मन नारि बसै, लवलीन दसा बिसरै न निमित्तहि॥

अक्षर अनन्य के चिट्ठा, २–६

एकाग्रता तथा इष्टदेव के प्रति अनन्य भाव ही भक्ति के दस लक्षण हैं। मोह-ममता का परित्याग, निष्काम-कर्म, राग-द्वेष का त्याग, निर्बन्ध, निष्काम-धर्म और ज्ञान के द्वारा आत्मानुभूति ही वैराग्य के लक्षण हैं। वाचिक और मानसिक भक्ति में तो 'भेष' का कोई प्रश्न ही नहीं, कायिक भक्ति में भी 'अक्षर अनन्य' 'भेष' की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करते।[१] उनके अनुसार भक्ति अथवा वैराग्य का सम्बन्ध शरीर से नहीं, प्रत्युत मन से है।[२] मन की एकाग्रता के लिए ही अन्य साधनों की आवश्यकता पड़ती है और यदि मन स्थिर नहीं, तो समस्त साधन एवं उपचार-विधान भी निरर्थक हैं। राजयोग-साधना पूर्णरीत्या अन्तस्साधना है। यदि किसी कारण इस मार्ग के अनुसरण में कठिनाई होती है अथवा यदि साधक मन की चंचलता के कारण सीधे ही अंतस्साधना का मार्ग ग्रहण नहीं कर पाता, तो उसे अजपा-जाप का मार्ग अपनाना चाहिये। अजपा-जाप भी न अपना सकने की स्थिति में इष्टदेव का ध्यान करना ही श्रेयस्कर है। यदि किसी आधार के बिना ध्यान स्थिर नहीं रहता, तो इष्टदेव की प्रतिमा की स्थापना कर ध्यान स्थिर किया जा सकता है। यदि इस पर भी स्वाभाविक चंचलतावश मन स्थिर नहीं होता, तो नियमपूर्वक मन्त्र का जप तथा उसमें भी कठिनाई अनुभव होने की स्थिति में नाम-स्मरण का मार्ग ही अनुसरणीय है। कुछ दिनों तक आराधना-उपासना का मार्ग ग्रहण करने के परिणामस्वरूप ही मन का वह स्वभाव बन जाता है।[३] भक्ति के साधन-व्यवहारमूलक कर्म ही सर्वश्रेष्ठ कर्म हैं[४] तथा भक्ति-भावना से विरहित शुष्क ज्ञान निरर्थक, निष्फल एवं हेय है।[५]

---

१. भेष नहीं कछु भक्ति कौ, नहीं तिलक नहिं छाप।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, २–११

२. बैराग दसा कहावै, भेष कौ नाउ नाहीं।
—अष्टांग योग

३. यह राज जोग यह भक्ति ग्यान। मनसा सुमिरन धुनि रूप ध्यान॥
जो यह न सधै धुनि ध्यान गूढ़। तौ अजपा साधन सांस मूठ॥
जौ यह न सधै अजपा उचार। तौ इष्ट देव धरि ध्यान सार॥
जो ध्यान न आवहि बिना देख। तौ प्रतिमा थापहि इष्ट भेष॥
नित प्रतिमा पूजन दरस नित्त। सोइ मूरति राखहि ध्यान चित्त॥
इहि भांति ध्यान उर बसहि आन। यह ध्यान राह नरनाह जान॥
जो ध्यान न सधहि न लगहि चित्त। तौ नैम सहित जप मंत्र नित्त॥
जो मंत्र न विधि सौ सधै राव। तौ पावन प्रभु कौ लेय नाव॥
कछु दिन साधन करिये उपाव। परि जात बहुरि मनसा सुभाव॥
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १४–२०-२३,२६

४. कर्मनि के सिरैं भक्ति जोग हठ जोग जानि,
जोगनि के सिरैं राज जोग सिरमौर है।—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १०-५

५. धृक सोई ग्यान बिना भक्तिहि 'अनन्य' भनै,
धृक सोई भक्ति जो अनन्यता बिहूनी है।–अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ५·१२

ज्ञानयोग की श्रेष्ठता स्वीकार करते हुए 'अक्षर अनन्य' ने भक्ति तथा योग दोनों को ज्ञान का कारणभूत साधन ही माना है।[1] भक्ति-मार्ग का विवेचन करते हुए आपने 'अष्टांग योग' में सामान्य भक्ति तथा विशेष भक्ति दो प्रकार के मार्गों का उल्लेख किया है:—

'तहां भक्ति दो भांति की है। एक तौ सामान्नि भक्ति है एक बिसेष भक्ति हैं। तहां सामान्नि भक्ति ऐसी कही हैं जु इष्ट देवता कौ नाम लेइ, गुन गावै, प्रतिमा पूजा दंडौत प्रनाम करै, तिलक माला धरै, कथा कीर्तन में मन लगावै। यह सामान्नि भक्ति कही। यामें मौताजु नाहीं; बेग दरसन होइ कै बहुत दिनन में होइ अरु एक ही जनम में होई कै हजार जनम में होई। यह मौताजु सामान्नि भक्ति में नाहीं। अरु बिसेष भक्ति में मौताजु है, कै इतने दिननि में, महीननि में, कै बरसनि में, जितनौ जाकौ मौताजु है, तितनौ पूजै तब ही दरसनि पावै। तहां बिसेष भक्ति कौ उपदेस पूरे गुरु तें होत हैं'।

'अष्टांग योग' में विशेष भक्ति के द्वारा अनुष्ठानपूर्वक साधना-क्रिया की ओर संकेत करते हुए कवच, पद्धति, स्तोत्र, सहस्र-नाम तथा पटल—पंचांग भक्ति का विवेचन किया गया है। भक्ति तथा योग को ज्ञान का कारणभूत उपाय मानने की स्थिति में ज्ञानयोग-प्रतिपादित सिद्धि की प्राप्ति के लिए साधना के प्रारम्भ में भक्ति अथवा योग-मार्ग के अनुसरण को आवश्यक माना गया है। इस प्रकार 'अक्षर अनन्य' का ज्ञान पठन-पाठन एवं अध्ययनादि के द्वारा प्राप्त ऐसा ज्ञान नहीं, जिसके द्वारा आत्मा-परमात्मा के अभेद की बात कही जाती है, प्रत्युत उसमें ज्ञातव्य तत्वों का सम्यक् ज्ञान एवं अनुभूति दोनों ही सम्मिलित हैं। भक्ति-विरहित ज्ञान को हेय मानने का भी यही कारण है। जिस प्रकार उन्होंने भक्ति-विरहित ज्ञान को धिक्कारा है, उसी प्रकार ज्ञान-विरहित वैराग्य को भी निष्फल एवं निरर्थक कहा है।[2] इसके साथ ही मुक्ति अथवा भुक्ति किसी भी उद्देश्य की कामना से की गयी भक्ति भी समादरणीय नहीं। निष्काम-भाव तथा उपास्य के प्रति प्रेमभक्ति की आवश्यक शर्त है। कामना-पूर्ति के उद्देश्य से की गयी भक्ति साधना नहीं, प्रत्युत किसी मजदूर की

---

१. **भक्ति करत करत अंतहकरन सुद्ध होत है। तब ग्यान है। सु ग्यान कौ कारन भक्ति है अरु ग्यान ही कौ कारन जोग है। कै जोग तै ग्यान होत है कै भक्ति तै ग्यान होत है।**

—अष्टांग योग

२. **ग्यान बिना बैराग धिक, धर्म बिना गृह चार।**
भक्ति बिना नर देह धिक, कहि 'अनन्य' निरधार॥

—निरधार शतक

भांति की गयी मजदूरी है, जो यद्यपि तन-मन से परिश्रम करता है, किन्तु उस परिश्रम का पुरस्कार भी चाहता है और उसे प्राप्त करने के पश्चात् सिद्धिदाता उपास्य को भी भूल बैठता है।[1] भक्ति की इन्हीं समस्त स्थितियों पर विचार करते हुए 'अक्षर अनन्य' ने भक्त की भिक्षुक, आर्त, जिज्ञासु एवं निष्काम, चार श्रेणियां स्वीकार की हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार निर्धन भिखारी प्राप्ति की आशा से दाता को प्रसन्न करने हेतु उसकी सेवा-सुश्रूषा करता है, गुणगान द्वारा चापलूसी करता है तथा धनादि प्राप्त होने के पश्चात् दाता से मुंह फेर लेता है, उसी प्रकार स्वार्थपूर्ति के उद्देश्य से उपास्य की सेवा-अर्चना, स्तवन-स्मरण भी भिक्षुक-वृत्ति के समान है। इस प्रकार की भक्ति में साधक के हृदय में इष्टदेव के प्रति न तो प्रेम ही होता है और न उसके पूजन में ही सच्चाई होती है।[2]

'अष्टांग योग' के अनुसार किसी भय अथवा कष्ट से त्राण पाने हेतु समर्थ की शरण में जाने के समान ही आर्त भक्त उपास्य-देवता की शरण ग्रहण करता है। यह कष्ट जन्म-मरणादि भव-बन्धन का भी हो सकता है। त्रिविधि व्याधियों से भी मुक्ति प्राप्त करने हेतु ईश्वर की शरण में जाना आर्त भक्तों की परम्परा है।[3]

ज्ञानोपदेश के अर्थ जिस प्रकार शिष्य गुरु की शरण में जाता है, उसी प्रकार जीवन की भटकन समाप्त करने के मार्ग का ज्ञान प्राप्त करने तथा बौद्धिक विकास की आकांक्षा से भक्ति का आश्रय ग्रहण करनेवाले जिज्ञासु-भक्त हैं। निष्काम भक्ति में साधक का न कोई स्वार्थ होता है और न वह उपास्य तथा अपने बीच में किसी प्रकार के भेद का ही अनुभव करता है। उपास्य के प्रति उसके हृदय में पतिव्रता

---

१. भुक्ति मुक्ति हित भक्ति नहिं, यह मजूर की रीति।
भक्ति 'अछिर' इच्छा रहित, सहित प्रेम प्रभु प्रीति॥

--अक्षर अनन्य की साखी, ११०

२. 'एक तौ जैसे गरीब भिखारी दाता कैं जात है, हर भांति वाहि रिझवत हैं, गुनी होइ तौ गुन कैं रिझवै, कातर हो मांगे, मतलब प्रापति सौं दाता सौं मुंह खुसामधि करत हैं। निदान प्रीति नाहीं। जब पावै तब अपनौ कारज करै। दाता की बड़ाई करै, तैसे जाकैं फल की कामना होइ धन की, कै सन्तान की, कै मुक्ति की, तौ इष्ट देवता की आराधना करै, फल पावै। यह भक्ति भिखारी कैसी रीति है।

—अष्टांग योग

३. 'अरु दूसरी भक्ति ऐसी है जैसे कोउ काहु के डर बड़े के सरन आवैं; वासौं दीन होइ कैं 'तुमही मोहि सूझत हो, तुम्हारे सरन हौं', ऐसी बातें कहै; मतलब अपने बचाउ कौ। तैसे गाढ़ौ कछू परै, कै बंद परै, कै कछू पीरा होइ, तौ रच्छा के लयैं ईस्वर कौ आसरौ लेइ; ईस्वर रच्छा करै। ये आरत भक्त कहावैं।

--अष्टांग योग

स्त्री के समान ही प्रेम की भावना रहती है। धन-संतान पर स्त्री-पुरुष दोनों का समान अधिकार होता है; दोनों को एक-दूसरे के स्मरण से, देखने से, आनन्द की अनुभूति होती है; दोनों के स्वार्थ एक होते हैं, कामनाएं एक होती हैं। 'अष्टांग योग' के अनुसार निष्काम-भक्ति का यही रूप है।[१]

यद्यपि 'अक्षर अनन्य' प्रतिमा-पूजन को उपास्य के प्रति प्रेम-भावना के उदय का कारण मानते हैं, तथापि प्रतिमा को परमेश्वर मान बैठना उनके विचार से निरी मूर्खता है। अज्ञान की इससे भी गहनतर स्थिति वह होती है, जब साधक परमात्मा का वास किसी विशिष्ट आकार की प्रतिमा में ही स्वीकार करता है। ब्रह्म का कोई रूप नहीं तथा जितने भी रूपों की कल्पना की जा सकती है, वे सभी उसी के रूप हैं; अतएव किसी विशिष्ट आकार की प्रतिमा में ही उसको स्वीकार करना उसके सर्व-रूप होने की खण्डनात्मक भावना है और इसी कारण हेय भी है। अवतार-कथाओं का श्रवण-पारायण, व्रतोद्यापन, तीर्थाटन आदि उपासना के मध्यम मार्ग हैं। आत्म-तत्व का अनवरत चिन्तन एवं ज्योति-रूप ब्रह्म का विचार-विवेक उपासना की उत्तम विधि है, किन्तु इससे भी परे पूर्ण ज्ञान की स्थिति वह है, जब साधक समस्त चराचर जगत् में शिव-शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं देखता।[२]

साधना की सफलता उपास्य के प्रति प्रेम पर निर्भर है। प्रेम-भावना से शून्य रहकर भी साधक जो अर्चना-उपासना करता है, उसकी समस्त क्रियाएं तेल के बिना दीपक जलाने के समान हैं। जिस प्रकार लोभी व्यक्ति धन-सम्पत्ति से प्रेम होने के कारण अर्जित राशि को व्यय किये बिना सुरक्षित रखता है तथा उसका मन प्रति क्षण उसी में लगा रहता है अथवा पतिव्रता स्त्री निष्काम-भाव से निरन्तर अपने प्रियतम

---

१. 'तीसरे जग्यासी है। जैसे विद्यार्थी विद्या के निमित्त गुरु की सेवा करै, धन देय, विद्या सीकै। जब सीखि सुनि चुकै, पढ़ि चुकै, तब गुरू सौ साधारन भाव हो जाय; न वह सेवा रहै न देबौ रहै। तैसे जब जी की भर्मना न मिटै, न बुद्धि बढ़ै तब देवता की आराधना करै। ताके प्रसन्न भयें तें सब बात को ग्यान होइ। ते जग्यासी भक्त कहावै। अरु जु निहकाम भक्त हैं तिनकी रीतें ऐसी हैं जैसे अस्त्री पुरुष कौं चाहै, पुरुष अस्त्री कौं चाहै। मिलिबे कौ प्रेम, देखिबे कौ सुख। तैसे जाकै दरसन में, मिलिबे में लगनि है तेई केवल भक्त हैं; तेई ग्यानी हैं, तेई जोगी हैं।'

२. मूरख कै प्रतिमा परमेसुर, बालक रीति गही सु गही है।
मध्यम कै अवतार कथा ब्रत, तीरथ राह सु राह लही है।
उत्तम जोति सरूप बिचार, सु आतम ध्यान में बुद्धि दई है।
पूरन ग्यान 'अनन्य' भनै, सरवग्य नि कौं सिव सक्ति मयी है॥

—ज्ञान-पंचासिका, ६

का ध्यान करती हैं, उसी प्रकार साधक के हृदय में भी उपास्य के प्रति अविचलित प्रेम की भावना का होना आवश्यक है ।[1]

विरह-पीड़िता को प्रिय-मिलन के अतिरिक्त चन्दनादि अंगराग, भूषण-वसन आदि कुछ भी सुखद प्रतीत नहीं होते । यदि विरह की अवस्था में किसी भी सुख-साधन के द्वारा उसका मनस्ताप दूर होता है, तो प्रियतम के प्रति उसका प्रेम सन्देहास्पद ही है । साधक के मन से भी जब तक भौतिक जीवन के सुख-लाभ की लालसाएं दूर नहीं हो जाती, तब तक उपास्य के प्रति उसका प्रेम भी स्थिर नहीं रहता । प्रेम-भावना का उदय भी सहज ही नहीं होता, अतएव इस हेतु प्रारम्भ में नियम-पालन की आवश्यकता समझी गयी है । प्रेम और नियम-पालन की औपचारिकता के पारस्परिक विरोध का ध्यान रखते हुए 'अक्षर अनन्य' ने कहा कि प्रेम उत्पन्न करने हेतु प्रारम्भ में ही नियम-पालन की आवश्यकता रहती है; किन्तु उसके परिणाम-स्वरूप शनैः शनैः जब प्रेम का समुद्र उमड़ने लगता है, तब उसमें नियम भी सरिताओं की भाँति विलीन हो जाते हैं ।[2] प्रेम के महत्त्व एवं रहस्य को न समझने के कारण ही लोगों ने उसे तलवार की धार, अगाध समुद्र तथा विकराल नदी आदि के समान कहा है; किन्तु उसके मर्मज्ञ यह भली भाँति अनुभव करते हैं कि प्रेम के समान अमृत दूसरा नहीं । उपास्य के प्रति प्रेम में लवलीन हो जाने पर साधक लोक अथवा वेद दोनों के भय से स्वतः एवं सर्वथा मुक्त हो जाता है ।[3] उसके तन, मन, प्राण आराध्य के साथ तद्रूप हो जाते हैं तथा सिद्धि-असिद्धि, फलाफल की भी उसे चिन्ता नहीं रहती । प्रेम के कारण उपास्य के चिन्तन-ध्यान में चित्त के निरन्तर लीन रहने को ही 'अक्षर-अनन्य' ने 'समाधि' कहा है ।[4]

---

१. प्रेम बिना जे करैं अरचा जप, तेल बिना जिमि बारत बाती ।
होत प्रकास नहीं तिन कौं, जिनकी नहिं प्रेम बिषै मति राती ।
दूसरी कामना प्रेम नहीं, जिनि प्रेम बिषै दुबिधा मिटि जाती ।
'अक्षर' मांगै नहीं वर कौं, धरि ध्यान हृदय जिमि सूम की थाती ।।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, २–३

२. जौं लगि प्रेम न ऊपजै, तौं लगि नैंम निबाहि ।
उमगै प्रेम समुद्र तब, नैंम नदी मिलि जाहि ।।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ३–१६

३. पूरन प्रेम प्रमान यहै, न रहै जब लोक ही बेद की भौ है ।
'अक्षर' ताहि सुहाइ न और, परै जब वा रस कौ चसकौ है ।।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ५–४

४. मूरति ध्यान तें प्रेम बढ़ै, जब रूप सुधा निधि कौ रस पावै ।
चित्त सदा लवलीन रहै,, कहि 'अक्षर' सोइ समाधि कहावै ।।
—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, २–५

मत-मतान्तरों के झगड़े-बखेड़ों को तो 'अक्षर अनन्य' ने कभी महत्त्व दिया ही नहीं; वे किसी मार्ग अथवा पद्धति-विशेष के भी पूर्वाग्रही पक्षपाती नहीं। छत्रसाल का निमंत्रण स्वीकार करने में भी उन्हें इसी कारण कठिनाई हुई थी कि उन्होंने आग्रह-पूर्वक धाम-पंथ को स्वीकार किया था और 'अक्षर अनन्य' उपासना-पद्धति की किसी टेक-विशेष को स्वीकार न कर विवेक के समर्थक थे। जो साधक ईश्वर के किसी विशेष नाम-रूप को ही स्वीकार कर अन्य नाम-रूपों को अमान्य ठहराते हैं, वे मानो उसके पूर्णत्व को मानने से इनकार करते हैं। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में विशेष नाम-रूप का आधार ग्रहण अवश्य किया जा सकता है, किन्तु ईश्वर को उसी नाम-रूप में सीमित समझ बैठना भी समीचीन नहीं। इसी प्रकार कर्म, उपासना, ज्ञान, भक्ति, योग, वैराग्य सभी उसकी प्राप्ति के साधन-मार्ग हैं; अतएव आग्रहपूर्वक किसी एक पद्धति का समर्थन कर अन्य का खंडन करना भी उपयुक्त नहीं। राम, कृष्ण, विष्णु, ईश्वरी, शिव किसी भी रूप-नाम को आधार मानकर उसकी उपासना की जा सकती है। इसके विपरीत यदि रामोपासक कृष्ण की निन्दा करते हैं अथवा कृष्णोपासक राम के महत्त्व को स्वीकार नहीं करते, तो उनके हृदय में स्वयं अपने उपास्य के प्रति अन-न्यता का भाव रहता है, यह भी सन्देहास्पद है।[1] हठपूर्वक देवता अथवा पद्धति-विशेष का समर्थन एवं अन्य देवताओं की निन्दा करने को 'अक्षर अनन्य' ने स्पष्ट शब्दों में मूर्खता कहा है।[2] अपनी इस मान्यता के आधार पर उन्होंने भक्ति, योग और ज्ञान, तीनों ही मार्गों का समान रूप से समर्थन किया, सगुण एवं निर्गुण के भेद को अस्वीकार किया तथा ब्रह्म-माया, प्रकृति-पुरुष, शिव-शक्ति सभी रूपों में उस परम-तत्व को मान-कर उसके किसी भी रूप-नाम का आधार लेकर पक्ष-विपक्ष के झगड़े-बखेड़ों में न पड़कर केवल प्रेम-पूर्वक भक्ति का निर्देश किया है।[3] किसी भी देवता की निन्दा अथवा प्रशंसा उन्हें प्रिय नहीं और यहां तक कि गृहस्थ अथवा सन्यास एवं धर्म अथवा

---

१. **जौन पक्षधारी आनि देवनि की निन्दा करैं,**
तिनकौ अनन्य भाव कैसैं ठहरात है।

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा ४-३

२. **ग्यान उपासन सिद्ध मत, पक्ष उपासन मूढ़।**

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४–२

३. **टेक न करिये पक्ष कहं, करिये केवल भक्ति।**
ब्रह्म वही माया वही, प्रकृति पुरुष सिव सक्ति॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४–१२

अधर्म के प्रति भी किसी प्रकार की हठवादिता उन्होंने स्वीकार नहीं की। चिन्तन-पक्ष में वे वेदस्तरीय ज्ञान, अभेद-बुद्धि तथा व्यवहार-पक्ष में बेकैद अर्थात् बन्धन-मुक्त रीति-व्यवहार के समर्थक हैं।[1]

कर्म, उपासना तथा ज्ञान तीन मार्गों के अनेक भेद-प्रभेद कर अपने-अपने स्वतन्त्र पंथों के प्रवर्तन का भी 'अक्षर अनन्य' ने विरोध किया है। उनके अनुसार द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत अथवा रामानन्दी, राधावल्लभी आदि नाम और सम्प्रदायों के रूप में साधना-पद्धति को विभाजित कर देने की कोई सार्थकता नहीं। साधक उस परमतत्व को जिस रूप में मानता है तथा जिस भावना के साथ उसकी आराधना करता है, उसको उसी के अनुसार फल की भी प्राप्ति होती है। आगम, निगम, योग, स्मृति, पुराण, आदि के द्वारा उत्पन्न आस्था के अनुसार किसी भी साधना-मार्ग को ग्रहण करना तथा ज्ञान अथवा भक्ति किसी भी पद्धति का अनुसरण उपयुक्त एवं फलप्रद है। जो व्यक्ति अन्य मतों का खंडन कर केवल अपने मत का समर्थन करते हैं, उनके विचार व्यर्थ की बकवास हैं।[2] अष्टांगयोग-साधना को कष्टकर एवं उसके द्वारा दीर्घावधि में ईश्वर की प्राप्ति मानने की स्थिति में ज्ञान अथवा भक्ति में से किसी एक के अनुसरण का ही उन्होंने निर्देश किया है। यदि ज्ञानयोग के द्वारा हरि-हर-ब्रह्म का भी आराध्य 'शब्द'-रूप का भास साधक को नहीं होता, तो उसे नाम-मंत्र-जप का मार्ग ग्रहण करना चाहिए। शुद्ध-बुद्ध आत्मा यद्यपि कोटि तीर्थों की भी पावनकारिणी है, किन्तु यदि

---

१. ग्रेही कहै अतित अतीत सब ग्रेही कहैं,
 ग्रेही न अतीत ऐसी रीति ही सौं रहै है।
 निंदै काहू मत कौं न बंदै काहू देवता कौं,
 धर्म हू अधर्म के न मारग में बहै है।
 'अक्षर अनन्य' आपु मत ही सौं मति रहै,
 जैसी जासु मति तैसी तासौं बात कहै हैं।
 वेद कैसी चरचा बेकैद कैसी रीति सदा,
 भेद कैसी बात पै अभेद ग्यान गहै है॥
 —अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १२–४

२. आगम निगम जोग सुम्रतैं पुरान सुनि,
 कौनू एक रीति गहै मतैं सब आदि है।
 करिये विवेक तौ बिसेष सब मत जोरि,
 सब ही की साखि मिलै मत सो अनादि है।
 दो में एक कीजै ग्यान पच्छ कै भगति पच्छ,
 'अक्षर अनन्य' सत्य भाषै मोहि खादि है।
 औंर सब खंडि मतौ आपनौ दिढ़ावत हैं,
 ऐसे बकवादनि की बातैं सब बादि है॥
 — उपासना-बोध, ३२

इसके प्रति आस्था नहीं, तो तीर्थाटन आदि धर्माचरण का अनुसरण ही श्रेयस्कर है। निष्काम भाव के उदय होने पर कर्म-धर्म से कोई सम्बन्ध रह ही नहीं जाता, चित्त के सकाम होने की स्थिति में सत्कर्म करने की इच्छा एवं उनका सम्पादन ही कल्याण का मार्ग है। इस प्रकार ज्ञान अथवा भक्ति किसी भी एक मार्ग का अनुसरण करना सिद्धि की दृष्टि से उपादेय है। भक्ति, योग तथा ज्ञान-मार्ग के केवल क्रिया-व्यवहार में ही अन्तर है, अन्यथा उनके साध्य एवं सिद्धि में कोई अन्तर नहीं।[1] आस्था एवं विश्वास के आधार पर जो व्यक्ति जिस मार्ग के अनुसरण का अधिकारी पात्र होता है, उसके लिए वही श्रेयस्कर है।[2] अगणित देहधारियों में केवल मनुष्य का शरीर ही धर्माचरण का श्रेष्ठतम साधन है; अतएव शिव-शक्ति की आराधना और भक्ति ही मनुष्य-जन्म की सार्थकता है।[3] नर-देह प्राप्त होने पर भी जो व्यक्ति जन्म-मरणादि भव-बन्धन से मुक्त होने की दिशा में प्रयत्नशील नहीं रहता, उसके लिए मुक्ति-प्राप्ति की संभावना भी सदैव के लिए धूमिल रहती है। संसार में जन्म-ग्रहण करने के पश्चात् दैहिक, दैविक और भौतिक—त्रिविध तापों के उपशमन हेतु प्रत्येक प्राणी को छटपटाना पड़ता है। इन समस्त व्याधियों का सफलतापूर्वक सामना करने हेतु तथा भविष्य में कभी भी व्याधियों के उत्पन्न होने की सम्भावना को समाप्त करने के लिए दो के अतिरिक्त तीसरे किसी मार्ग की कल्पना भी नहीं की जा सकती। या तो हम स्वयं ही इतने समर्थ एवं सशक्त हों कि उन समस्त व्याधियों को सहज ही समाप्त कर दें अथवा हम किसी ऐसे समर्थ शक्तिमान का आश्रय प्राप्त करें, जो हमें अभय दान देकर समस्त ईति-व्याधियों से मुक्ति दे सके। इनमें से पहला ज्ञान मार्ग तथा दूसरा भक्ति-मार्ग है। ज्ञान के द्वारा साधक स्वयं सर्वशक्तिमान, चराचर-नियंता शिव-शक्ति-रूप होता है तथा भक्ति के माध्यम से उसे पूर्ण-समर्थ, शक्ति-रूप ईश्वर का आश्रय प्राप्त होता है। 'अक्षर अनन्य' ने ज्ञान तथा भक्ति के इन्हीं गुणों की ओर संकेत करते हुए कहा है कि

---

१. भक्ति जोग अरु ग्यान की, क्रिया भिन्न पद एक।
--सिद्धान्त-बोध, ८०

२. प्रभु की त्रिविधि अराधना, भक्ति जोग अरु ग्यान।
अधिकारी जो जासु कौ, ताकहं सो परिवान॥
--सिद्धान्त-बोध, ७९

३. नर देही कौ फल यह राजा, सबद ब्रह्म आराधै।
— अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १२-१६

व्यक्ति को या तो स्वयं शक्तिमान होना चाहिये अथवा शक्तिमान का आश्रय ग्रहण करके रहना चाहिये ।[1]

राम, कृष्ण आदि अवतारों को प्रकृति-शक्ति का ही क्रीड़ा-विलास मानने के कारण उनके प्रति किसी प्रकार की अनास्था प्रकट न करते हुए भी 'अक्षर अनन्य' उस परब्रह्म को राम, कृष्ण आदि के रूप में आयोध्या, व्रन्दावन-जैसी स्थल-सीमाओं के भीतर सीमित मानने तथा उसी रूप में उपासना के विरोधी हैं। देवी-देवताओं के सभी रूप और नाम उस परब्रह्म के ही नाम और रूप हैं, अतएव किसी भी नाम, रूप, स्थल के प्रति आस्था एवं श्रद्धा उत्पन्न होने पर उसी के अनुसार भक्ति-उपासना का मार्ग ग्रहण करना यद्यपि उचित और आवश्यक है, तथापि केवल उसी नाम-रूप-स्थल में उस तत्व को सीमित देखना किसी भी दृष्टि से संगत नहीं। वैष्णव, शैव, राधावल्लभी अथवा रामानन्दी, आदि सम्प्रदायों का चश्मा पहनकर इस प्रकार का विश्वास करना कि विष्णु का निवास बैकुण्ठ में ही है अथवा शिव राधावल्लभ और राम क्रमशः कैलाश, वृन्दावन और आयोध्या में ही रहते हैं, उस परब्रह्म के सम्बन्ध में भ्रममूलक ही नहीं, और भी भ्रमोत्पादक तथा भटकानेवाला है। सर्व-व्यापक, विभु एवं व्योम-समान अखंडित ईश्वर को एकदेशिक मान बैठना उसके वास्तविक रूप का खण्डन है। समस्त चराचर जगत् एवं कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड उससे उत्पन्न होते हैं और उसी में स्थित रहते हैं। इस प्रकार अनन्त ब्रह्माण्डों को अपने में समेटे हुए ईश्वर को छोटी-छोटी पुरियों और नगरों में अवस्थित मानना बड़ी भारी भूल है।[2]

---

१. ध्याइये सबद जाहि ध्यावैं हरि हर ब्रह्म,
सो धुनि न जानि नाम लीजे हरि हर के।
अन्तर बिसुद्ध कोटि तीरथ कहत बुद्ध,
अंतर न सुद्ध होहु तीरथ कौं सरके।
चित्त निहकाम तौ न काम कर्म धर्मनि सौं,
चित्त जो सकाम कर्म करौ धर्म नर के।
'अक्षर अनन्य' ग्यान जोग कै भगति जोग,
हूजिये जबर कै रहूजिये जबर के॥
—उपासना-बोध, ३१

२. बैष्नव कहैं विष्नु बसें बैकुण्ठ धाम,
सैव कहैं सिव जू कैलास सुख भरे हैं।
कहैं राधाबल्लभी बिहारी बृन्दावन ही में,
रामानन्दी कहैं राम अजुध्या न टरे हैं।
एतौ सब देव एकदेसिक 'अनन्य' भनै,
हम तुम सब आपु ठौरनि ज्यौं धरे हैं।
ईस्वर अखंड जामें कोटिनि ब्रह्मांड भरे,
ऐसे परब्रह्म कहा पुरिनि में परे हैं॥—विवेक-तरंग, १४

सर्व-व्यापक तथा सर्व-नाम-रूप ईश्वर को जिस प्रकार एकदेशिक मानना भूल है, उसी प्रकार उसे किसी विशिष्ट रूप अथवा नाम में ही सीमित मानना भी अज्ञान का ही परिणाम है। इस प्रकार की धारणा पूर्ण और अंशी को अपूर्ण एवं अंश मानने के सदृश ही भ्रांतिमूलक है। उस परम-तत्व को केवल निर्गुण-निराकार मानना भी सही नहीं। न उसे केवल ज्योति-रूप माना जा सकता है, न केवल शून्य-रूप; न वह केवल कर्ता-रूप है, न केवल कर्म-रूप। विशिष्ट अवतार-रूप मानना भी उसके पूर्णत्व एवं विभुत्व को नकारना है। जिस प्रकार हाथी के विशाल रूप को देखने में असमर्थ अन्धे व्यक्ति उसके किसी एक अंग को छूकर अज्ञानवश उसे अलग-अलग छोटे विशिष्ट आकार-प्रकार का मान बैठते हैं, उसी प्रकार पर ब्रह्म को भी राम, कृष्ण, गोपाल, अरहन्, दत्त, अलेख, किसी विशिष्ट नाम-रूप में सीमित मानना भी अज्ञान है।[1] ईश्वर में समस्त चराचर जगत् को तथा जगत् में ईश्वर को देखना ही ज्ञान का लक्षण है। निर्गुण चैतन्य-तत्व ही सगुण रूप में सर्वत्र दिखाई देता है। गुणों के प्रभाव के कारण वह विविध रूपों में विद्यमान है, अतएव उसके सम्बन्ध में विभिन्न कथाओं की कल्पना भी की जा सकती है; किंतु सर्वज्ञ पुरुष के लिए वह रूप-अरूप नाम-अनाम सब कुछ तथा सबसे परे है। उस पूर्ण ब्रह्म को केवल बैकुण्ठ में अवस्थित मानने में उसके चराचर जगत् में व्याप्त रूप का खण्डन होता है तथा उसे देवताओं का रंजक एवं असुरों का दलन करनेवाला भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि सुर, असुर दोनों उसी के रूप हैं तथा वह सबके लिए समभाव है।[2] घर-बाहर सर्वत्र ही उसका विहार होने के कारण उसे कुंजविहारी कहना भी भ्रामक है। वह ब्रह्म तो तत्व-स्वरूप, सर्वस्वरूप, पूर्ण, पर तथा अपर सब कुछ है। राम, कृष्ण, आदि अवतार उस परम-तत्व की मायिक कलाओं की उत्पत्ति हैं तथा वे भक्तों की रक्षा एवं असुरों का संहार करने के कारण स्वयं भी त्रिगुणात्मिका माया-शक्ति से अभिभूत हैं।[3] उनकी कथा श्रवण कर उपासना करने से उनके प्रति श्रद्धा एवं प्रेम उत्पन्न होता है तथा उनके द्वारा नष्ट किये गये असुरों के प्रति घृणा एवं विद्वेष की भावना का जन्म होता है।

---

१. कोउ राम कहै परनाम कहै, कोउ कान्ह गुपाल जुबानत है।
अरिहंत कोऊ भगवंत कहै, कोउ दत्त अलेख बखानत है।
वह ईस्वर एक अनेक मतै, अपने अपने उर आनत है।
गज अंधनि गाथ 'अनन्य' भनै, यह भेद सुजान सुजानत है॥

—ज्ञान-पंचासिका, १६

२. अरु जे ग्यानी हैं ते निन्दा काहू की नाहीं करत। अपनी अपनी जांगा सब भले हैं।

—अष्टांग-योग

३. अवतारी एकनि हनत, एकनि पालत प्रीति।
ग्यानिनि कैं सब क से, भेदाभेद न रीति॥ —सिद्धान्त-बोध, १६६

इसके विपरीत ज्ञानी पुरुष सुर-असुर में भी किसी प्रकार का भेद नहीं देखता तथा उसके लिए सब समान हैं। हरि-हर-ब्रह्म, सुर-असुर, घर-बाहर, मनुष्य-वृक्ष, लघु-दीर्घ, निर्गुण-सगुण, शून्य-ज्योति, जीव-जगत्, गुण-कर्म, इन्द्रियां, सुरलोक-नरलोक,नगर-हाट, दिन-रात्रि, राम-रावण, कृष्ण-कंस सब कुछ वही तत्व है। जिस प्रकार एक जलनिधि से छोटी-बड़ी असंख्य लहरें उत्पन्न होने पर भी वे जलनिधि-रूप से भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार गुण-कर्मों के कारण छोटे-बड़े भले-बुरे दिखाई देनेवाले सभी प्राणी, समस्त दृश्य-प्रपंच वही तत्व-रूप हैं। उसे किसी भी एक रूप में मानना अज्ञान है।

तत्व-रूप को न समझने के कारण ही सामान्य व्यक्ति उसे छोटा-बड़ा, किसी विशिष्ट रूप अथवा स्थल में अवस्थित मान बैठते हैं। अवतारों को मानने के अतिरिक्त, जो व्यक्ति और भी छोटे-छोटे देवी-देवताओं को ही आराध्य मानकर उपासना करते हैं, वे स्वयं तो धोखे में रहते ही हैं, ईश्वर को भी धोखा देने का प्रयत्न करते हैं।[1] 'अक्षर अनन्य' ने उसे किसी एक रूप में न मानकर सर्व-नाम-रूप माना और सर्वत्र इसी का निर्देश भी दिया। उसके छोटे और सीमित रूप की आराधना करने पर छोटे फल की और पूर्ण-रूप की आराधना करने से पूर्ण फल की प्राप्ति होती है, अतएव पूर्ण-रूप के प्रति आस्था रखकर पूर्ण की आराधना ही श्रेयस्कर है।

शाक्तागमों में जिसे पशु-भाव, वीर-भाव तथा दिव्य-भाव कहा गया है, उन्हीं तीन स्थितियों को 'अक्षर अनन्य' ने पशु-पंथ, नर-पंथ और मुनि-पंथ के नाम से अभिहित किया है। पशु-पंथ-स्थित साधक वेद-शास्त्रादि द्वारा प्रतिपादित किसी साधना-पद्धति का अनुसरण न कर, तिलक-माला आदि बाह्य वेश धारण कर ईश्वर की शरण ग्रहण करता है। वेद, स्मृति, पुराणादि का अध्ययन तथा अनुसरण एवं शास्त्र-विहित रीत्यानुसार भक्ति नर-पंथ के साधकों की पद्धति है। वासना-रहित शुद्ध अन्तःकरण तथा नियम-संयमपूर्वक उपासना ही मुनि-पंथ की साधना-प्रणाली है। इनके अतिरिक्त 'अक्षर अनन्य' ने ज्ञानयोग की चौथी पद्धति का भी निर्देश किया है। इसे उन्होंने सिद्ध-मार्ग कहा तथा सबके प्रति समभाव, ज्ञानयोग की सहज-समाधि, शब्द-ध्वनि की धारणा ही इसके प्रमुख लक्षण हैं।[2]

---

१. कहि 'अनन्य' संसार की, अलप बुद्धि अनरीति।
ईस्वर कौ धोखौ करै, भूतनि की परतीति ॥ —अक्षर अनन्य की साखी, १७

२. एक पसु पंथ ग्रंथ पद्धति न रीति भांति,
धारिकै तिलक माल हरि के सरन हैं।
दूजौ नर पंथ बेद सुम्रति पुरान बूझि,
भगति की रीति भजै नाथ के चरन हैं।
तीजौ मुनि पंथ नैम संजम उपासना सौं,
वासना निवारि सुद्ध अंतहकरन हैं।
चौथो ग्यान जोग सिद्ध मारग 'अनन्य' भनै,
समता समाधि धुनि धारना धरन हैं॥—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ८-४

ज्ञान के तामस, राजस, सात्विक, निर्गुण एवं पूर्ण-ज्ञान, पांच भेदों के सम्बन्ध में संकेत किया जा चुका है। साधना की दृष्टि से बुद्धि के भी 'अक्षर अनन्य' ने पांच स्तर स्वीकार किये हैं––देह-बुद्धि, जीव-बुद्धि, ब्रह्म-बुद्धि, सर्वज्ञ एवं पूर्ण। देह-बुद्धि में स्थित साधक देहधारी देवताओं की रामकृष्णादि अवतारों के रूप में उपासना करता है। ईश्वर के निराकार रूप की कल्पना भी उसके लिए कठिन होती है तथा उपासना के लिए उसके मन-बुद्धि आराध्य के सदेह रूप को ही ग्रहण कर पाते हैं। देह-बुद्धि के स्तर से ऊपर उठने पर जब जीव-बुद्धि का विकास होता है, तब वह ब्रह्म के निर्गुण निराकार ज्योति-रूप को ग्रहण करता है। इस स्थिति में भी साधक उस परम-तत्व को ज्योति-रूप से बाहर सर्वव्यापक रूप में देखने में असमर्थ होता है तथा उससे ध्यान हटते ही दृश्य-जगत् प्रपंच-रूप में उसे दिखाई देता है। ब्रह्म-बुद्धि के उदय होने पर उसे घट-घट में ब्रह्म की ही अनुभूति होती है; ब्रह्मा, विष्णु, महेश में उसके लिए कोई अन्तर नहीं रहता तथा वह सत्व, रज, तम गुणों से भी परे होता है। सर्वज्ञ-बुद्धि की स्थिति प्राप्त होते ही भेद-अभेद की भावना का भी पूर्णतया अन्त हो जाता है तथा सुर-असुर, चर-अचर, मित्र-शत्रु सब उसके लिए समान होते हैं। बुद्धि की इन चार अवस्थाओं को पार करने के पश्चात् ही साधक पूर्ण-बुद्धि की अवस्था को प्राप्त करता है। इस स्थिति में समस्त जगत् उसे शिव-शक्ति-रूप दिखाई देता है तथा शिव-शक्ति के अतिरिक्त कुछ भी उसके लिए शेष नहीं रहता। आत्मानुभूति होने के साथ ही वह स्वयं शिव-रूप होता है।[1] बुद्धि की ये स्थितियां क्रमिक विकास का ही परिणाम हैं। तात्पर्य यह कि व्यक्ति सामान्यतया साधना की प्रारम्भिक स्थिति में देह-बुद्धि की अवस्था में ही रहता है तथा साधना के द्वारा ही क्रमशः उच्चस्तरीय अवस्था प्राप्त करता है।

शाक्त-साधना में निर्दिष्ट सप्त आचारों के समान 'अक्षर अनन्य' ने भी सात सीढ़ियों का निर्देश किया है। इनका उल्लेख करते समय आपने यह भी स्पष्ट किया है कि वेद-शास्त्र एवं गुरु-उपदेश के अनुसार ही इनका वर्णन किया गया है। इस प्रकार शाक्तागमों के प्रति उनका स्पष्ट संकेत है। गुरु-प्रतीति से ही इन सीढ़ियों का प्रारम्भ होता है। जिस प्रकार औषधि को जाने-पहिचाने बिना ही केवल वैद्य के प्रति

---

१. देह बुद्धि जौलौं तौलौं देहधारी देव भजैं,
जीव बुद्धि भयैं जोति रूप कौं लहत हैं।
ब्रह्म बुद्धि भासैं ब्रह्म चीन्हैं घट घट मांझ,
त्रिबिधि त्रिबुद्धि साधु इष्टता गहत हैं।
जब सरबग्यता प्रकासहि 'अनन्य' भनै,
अनुभौ अभेद भेदाभेद न रहत है।
पूरन समस्त जक्त रूप सिव सक्ति थापि,
आपु ही में आपु जान अकह कहत है। –अनन्य प्रकास, ६६

दृढ़ विश्वास कर उसके सेवन से आरोग्य-लाभ होता है, उसी प्रकार गुरु-उपदेश के प्रति भी दृढ़ आस्था का होना ही पहली सीढ़ी है। इसके पश्चात् क्रमशः धर्म-पालन, नियम-संयम, प्रेम, निश्चल-धारणा, सुरति, इष्ट से अभेद सीढ़ियों को पार कर साधक ज्ञान-सिंहासन पर पहुंचने में समर्थ होता है। उन्होंने पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' को भेजे गये ग्यारहवें चिट्ठा में इनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इसके साथ ही एक अन्य स्थल पर धर्म, सत्संग, हरि-भक्ति, चित्त-शुद्धि, बुद्धि, उनमान, ज्ञान के अनुसरण-क्रम का भी निर्देश किया गया है। यहां यह भी स्पष्ट कह दिया गया है कि तत्स्वरूप शिव-शक्ति का भास अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने हेतु क्रमशः नीचे की सीढ़ियों को पार करना आवश्यक होता है। इस आशय की व्याख्या 'अष्टांग-योग' में की गयी है :-

'ऊंच नीच सिढ़ी हैं। दूसरे कवित्त में क्रम कह्यौ है। पहिलैं धर्म है। जु धर्म होइ तौ साधु संगति होइ। साधु संगति तैं भक्ति होति है। भक्ति भजन सैं हिरदौ सुद्ध होत है तब बुद्धि बढ़त है। बुद्धि तैं उनमान होत है। उनमान यह कहावै, जु वस्तु देखी सुनी न होइ, ताकौ बुद्धि सों अटकर कीजै। तासौं उनमान कहत हैं। उनमान तैं ग्यान होत है। ग्यान जनिबे सौं कहत हैं। जैसे कौ तैसौ जानि परै सु ग्यान कहावै। ग्यान तैं तत सरूप भासति है। सु ये क्रम सौं ऊंच नीच सिढ़ी कही हैं।'

निर्गुण-परम्परा के संतों ने वेद को प्रमाण मानने से इनकार करते हुए शास्त्र-ज्ञान का मजाक उड़ाने में किसी प्रकार का संकोच नहीं किया। मात्र इनकी वाणी के अध्ययन के आधार पर किसी व्यक्ति को सन्देह हो सकता है कि इन संतों ने ज्ञान एवं साधना का जो उपदेश दिया है, वह वेद-शास्त्रादि से सर्वथा अलग एवं उनसे परे है। कबीर आदि संतों की खंडनात्मक प्रवृत्ति इतनी अधिक प्रबल थी कि साधना की कोई ऐसी प्रणाली अथवा ज्ञान की कोई भी ऐसी विचार-धारा शेष नहीं बची, जिसका खंडन इनकी वाणी में प्राप्त न हो सके। वह इस बात को सदैव भूले रहे कि ज्ञान अथवा व्यावहारिक साधना के सम्बन्ध में उन्होंने अपनी जो मान्यताएं दी हैं, उनमें से कोई भी बात नयी नहीं कही गयी थी और उन्होंने जाने-अनजाने वह सब-कुछ आगम-निगमादि शास्त्रों से ही ग्रहण किया था। इस दृष्टि से 'अक्षर अनन्य' हिन्दी साहित्य की संत-परम्परा से सर्वथा अलग हैं। उन्होंने व्यावहारिक साधना-विहीन थोथे ज्ञान का किंचित् भी महत्त्व स्वीकार न करते हुए भी वेद तथा वेद-प्रतिपादित मर्यादाओं को सदैव ही प्रमाण माना है। उनकी मान्यता थी कि ज्ञान एवं विभिन्न साधना-प्रणालियों के सम्बन्ध में आवश्यक समस्त जानकारी वेद-शास्त्रों में ही निहित है, किन्तु

सर्वज्ञ सिद्ध-गुरु के माध्यम से ही उसे प्राप्त किया जा सकता है।[1] बुद्धि के समान कोई धन-सम्पत्ति तथा धर्म के समान कोई सार वस्तु नहीं है, उसी प्रकार वेद के समान श्रेष्ठ कोई दूसरा मत भी नहीं।[2] वैदिक धर्म अगाध जलनिधि के समान, साधना की पद्धतियां सरिताओं के समान तथा इतर धर्म बरसाती नालों के समान हैं।[3] सरिताओं तथा नालों में समुद्र के समान गाम्भीर्य तथा पूर्णत्व भी नहीं एवं जिस प्रकार उन्हें अन्त में समुद्र में विलीन हो जाना पड़ता है, उसी प्रकार विविध साधना-प्रणालियाँ एवं धर्म भी वैदिक धर्म में ही समाहित हो जाते हैं। वेद-प्रतिपादित एवं गुरु द्वारा उपदिष्ट धर्म से ही धर्म की मर्यादा है तथा इनके विरुद्ध जितने भी धर्म हैं, वे अधर्म एवं फिजूल की बकवास हैं। जिस प्रकार जार-गर्भ को धारण किये हुए रूपवती सुन्दरी के लिए उपयुक्त विशेष पति की प्राप्ति सम्भव नहीं, उसी प्रकार वेद-विरुद्ध पंथों का अनुसरण करते हुए तत्वस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति भी असम्भव है।[4] इन्हीं मान्यताओं के आधार पर 'अक्षर अनन्य' ने वेद-विरुद्ध मार्ग के अनुसरण का सर्वत्र निषेध किया है। वेद के ज्ञान, कर्म एवं उपासना, तीनों काण्डों की महत्ता 'अक्षर अनन्य' ने समान रूप से स्वीकार की है तथा 'सिद्धान्त-बोध' में इनका विशद विवेचन भी किया गया है। अविद्या की समाप्ति तथा आत्मानुभूति के बिना ब्रह्म-ज्ञान की स्थिति काष्ठ में विद्यमान अग्नि के समान है। काष्ठ-स्थित अग्नि का ज्ञान होने पर भी व्यावहारिक युक्ति-साधना के बिना व्यक्ति को उसकी दाहकत्व-शक्ति की अनुभूति नहीं होती। यदि देवता की उपासना वेद-शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट विधिपूर्वक नहीं की जाती, तो वह निष्फल है; वेद-विधि के अनुसार ही यदि सत्कर्म नहीं किये

---

१. बेद हू पुरान सास्त्र सुम्रतें बखान जेते,
जानिबे के पंथ ग्रंथ कथा बिसतार हैं।
प्रापति कौ मारग गुपित कह्यौ इनही में,
'अक्षर अनन्य' पूरे गुरु कौ बिचार हैं।
—ज्ञानयोग, १–६

२. बुद्धि बराबर धन नहीं, धर्म बराबर सार।
बेद बराबर मत नहीं, कहि 'अनन्य' निरधार॥
—निरधार-शतक

३. बेद धर्म सागर सदा, पद्धति नदी बिचार।
आनि धर्म जिमि पोहरा, कहि 'अनन्य' निरधार॥
—निरधार-शतक

४. बेद धर्म गुरु धर्म सौं, बंधी धर्म मरजाद।
बेद बिना जे धर्म हैं, ते अधर्म बकवाद।
बेद बिना जे पंथ हैं, ते कुपंथ सब लेख।
जार गर्भ जिमि सुन्दरी, पति पावै न बिसेष॥
—सिद्धान्त-बोध, ३८-३६

जाते तो समस्त लोकाचार व्यर्थ हैं। इसी प्रकार ज्ञान एवं योग की संयुक्त साधना के बिना हठयोग, कर्म, धर्म सब कुछ व्यर्थ का परिश्रम है।[1]

नये पंथ-प्रवर्तन के विरुद्ध होने की स्थिति में स्वभावतः 'अक्षर अनन्य' ने पारम्परिक धर्म के परिपालन को ही श्रेयस्कर कहा है। यह परम्परा अवतारों की उपासना प्रारम्भ होने से भी बहुत पूर्व, शिव-शक्ति-रूप परमतत्व के ज्ञान एवं आत्मानुभूति से जुड़ी हुई अनादि काल से चली आ रही सनातन है। परब्रह्म अवतारों के रूप में जन्म ग्रहण करता है, अतएव अवतारोपासना का प्रारम्भ भी उनकी प्रतिष्ठापना के समय से होता है और यह आदि-परम्परा है। शिव-शक्ति अनादि है, अतएव उनकी साधना-परम्परा भी अनादि है।[2] परम्परा के प्रति अपनी आस्था के आधार पर 'अक्षर अनन्य' ने धर्म के चार चरण अथवा रूप—देश-धर्म, कुल-धर्म, गुरु-धर्म तथा वेद-धर्म—स्वीकार किये हैं।[3] शाक्तागमों का भी यही सिद्धान्त रहा है कि त्रिकालज्ञ एवं त्रैलोक्य को अपने प्रति आकर्षित करने में सक्षम होने पर भी लोकाचार का कभी मन से भी उल्लंघन नहीं करना चाहिये।[4] परम्परा-

---

१. छूटै न अबिद्या बिद्यमान ब्रह्म भासै नहीं,
तौलौं ब्रह्म ग्यान काठ अगिनि कौ भाव है।
देव की अराधना बिधान सौं न सिद्ध करै,
तौलौं गुन गाइबौ सुरति काजै नाव है।
उत्तम करम बेद बिधि सौं न साधि जानै,
तौलौं लोक करनी गड़र कौ प्रभाव है।
'अक्षर अनन्य' ग्यान जोग सौं न मत जौलौं,
तौलौं हठ जोग कर्म धर्मनि उपाव है॥
—ज्ञानयोग, १-११

२. 'अछिर अनिन्न' बिचारि चित, बेद सास्त्र बुधि आप।
सो मारग मत ब्रत धरौ, परम्परा जिहि थाप॥
—अक्षर अनन्य की साखी, २७८

३. जगत महं ईस्वर सुमिरन सार।
और धर्म सब जुग मरजादा, यह जुग जुग निरधार।
जानि सनातन नाम नाथ कौ, सुमिर बार ही बार॥
—गुणानबत्तीसी, २०

४. देस धर्म कुल धर्म गुनि, पुनि गुरु धर्म सुधारि।
बेद धर्म परिवान लहि, धर्म चरन ये चारि॥
—सिद्धान्त-बोध, ३१

५. यद्यप्यस्ति त्रिकालज्ञस्त्रैलोक्याकर्षणक्षमाः।
तथापि लौकिकाचारम् मनसापि न लंघयेत्॥
— शक्ति-संगम तन्त्र

पालन, देश-धर्म तथा कुल-धर्म का भी यही तात्पर्य है। साधना की अन्य सीढ़ियों की भाँति चार चरण क्रमानुसार नहीं, प्रत्युत चारों के एक साथ पालन की अनिवार्यता समझी गयी है। घर, लोक-व्यवहार, नित्य नैमित्तिक कर्म तथा संसार का परित्याग कर सन्यास लेकर वन जाने के 'अक्षर अनन्य' घोर विरोधी रहे हैं। वेद-धर्म और गुरु-धर्म, साधना-मूलक तथा देश-धर्म, कुल-धर्म व्यवहार-मूलक हैं। यदि केवल वेद-धर्म और गुरु-धर्म का ही पालन किया जाता है, तो देश, कुल, परिवार आदि सबका परित्याग आवश्यक होता है तथा केवल देश-धर्म और कुल-धर्म के पालन में वैदिक मर्यादाएं भंग होती हैं, आवश्यक धर्मों का उच्छेद होता है एवं श्रेय प्राप्ति में व्यवधान उपस्थित होता है। शाक्त-साधना केवल मुक्ति अथवा केवल भुक्ति को साध्य नहीं मानती, प्रत्युत दोनों की प्राप्ति ही उसका लक्ष्य है। श्रीमद्-भगवद्गीता केवल स्वधर्म और परधर्म के प्रति ही संकेत करता है।[1] किंतु 'अक्षर अनन्य' ने वेद-धर्म और गुरु-धर्म के साथ देश-धर्म तथा कुल-धर्म के पालन की व्यवस्था कर धर्म एवं साधना को मुक्ति तथा भुक्ति दोनों की प्राप्ति का साधन बना दिया है। इस प्रकार न तो देश और समाज की व्यवस्था ही भंग होती है और न निःश्रेयस् की प्राप्ति में ही व्यवधान उपस्थित होता है।

अपने देश में जिस प्रकार धर्म के पालन की परम्परा चलती रही है, उसका परित्याग कर किसी विदेशी धर्म के अनुरसरण का 'अक्षर अनन्य' ने निषेध किया है।[2] जिस कुल में व्यक्ति जन्म ग्रहण करता है, उसको उस कुल में मान्य धर्म का ही पालन करना चाहिए। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार का आग्रह भी नहीं किया गया है, प्रत्युत यह भी निर्देश है कि यदि किन्हीं कारणों से, ये कारण वर्ण-जाति-सम्बन्धी हो सकते हैं, व्यक्ति अपने कुल-धर्म के स्थान पर किसी अन्य धर्म को ग्रहण करना चाहता है, तो उसे नीति के अनुसार ही ऐसा करना चाहिए।[3] गुरु-उपदेश का आस्थापूर्वक पालन गुरु-धर्म[4] तथा वेदविहित धर्म का आचरण ही वेद-धर्म है।[5]

---

१. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनिष्ठतात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ —श्रीमद्भगवद्गीता, ३-३५

२. धर्म जु अपने देस महं, चलि आयौ परिवान।
सो मरजाद न खंडिये, करिये रीति न आन॥ —सिद्धान्त-बोध, ३२

३. जो उपज्यौ जा कुल बिषै, तासु बरन कुल रीति।
सो तजि और करै नहीं, करै तौ साधि सुनीति॥ वही, ३३

४. जो उपदेस गुरू दियौ, लघु दीरघ जनि लेख।
सो करतव्य 'अनन्य' भनि, यह गुरु धर्म बिसेष॥ वही, ३४

५. जौन धर्म जाकौं उचित, बरतै बेद बिधान।
तौन धर्म ताकौं फलै, करनै वहै निदान॥ वही, ३५

भुक्ति तथा मुक्ति दोनों को लक्ष्य मानकर धर्म एवं लोकाचार को समान रूप से महत्त्वपूर्ण मानने की अवस्था में संसार के परित्याग का प्रश्न उपस्थित ही नहीं होता। जो व्यक्ति घर-परिवार त्याग कर निर्जन वन में तपस्या करते हुए मुक्ति प्राप्त करने का प्रयास करते हैं अथवा जो लोग निःश्रेयस् की साधना से विरत होकर केवल लोक-व्यवहार में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं, उनमें से किसी के जीवन की कोई सार्थकता नहीं। उनकी साधना में भी किसी प्रकार की विशेषता 'अक्षर अनन्य' ने स्वीकार नहीं की। वे कबीर की भाँति घर फूँककर तमाशा देखने का उपदेश नहीं देते।[1] उनकी दृष्टि में जागतिक जीवन के पूर्ण उपभोग के साथ ही पूर्णपुरुष अर्थात् परब्रह्म को प्राप्त करनेवाला पुरुष ही पूर्ण-पुरुष है।[2] मात्र कर्मेन्द्रियों का संयम अर्थहीन है[3] तथा मन एवं ज्ञानेन्द्रियों पर नियंत्रण रखना ही साधना की सफलता का आधार है। व्यक्ति का खान-पान, चलना-फिरना, हाथों द्वारा किये हुए कार्य एवं अन्य कर्मेन्द्रियों की क्रियाएं उसके बन्धन और मोक्ष का कारण नहीं होतीं। ज्ञानेन्द्रियों का अधिपति मन है, अतएव केवल मन को ही बन्ध-मोक्ष का कारण माना गया है।[4] इसे और भी स्पष्ट करते हुए 'अक्षर अनन्य' ने अष्टांग-योग में कहा है :—

'सरीर कौ, गुननि कौ, इन्द्रिनि कौ राजा मन है। मन ही की क्रिया सौं सब क्रिया लगी है। जु काम करतब होइ सु पहिले मन में उपजत है कै यही कीजै। खैबौ पीबौ लीबौ दीबौ जैबो आइबौ कहिबौ, सु ये सकल कर्म हैं। सु पहिले मन में विचार होत है तब करिबे में आवत है तातैं बन्धन के कर्म, कहा मुक्ति के कर्म सब कौ कारन मन हैं।'

---

१. कबिरा खड़ा बजार में, लिये लुकाटी हाथ।
जो घर फूंकें आपना, चलै हमारे साथ॥
—कबीर-ग्रंथावली

२. घर अरु बन के धरम दोऊ पालि जानै,
स्वारथ प्रमारथ के राखत दुरुख है।
पूरन पुरुष सर्व पूरन जगत लहै,
सोई या जगत मांझ पूरन पुरुष है॥
—विवेक-तरंग, ११

३. कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसास्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, ३-६

४. मन एव मनुष्याणाम् कारणं बन्धमोक्षयोः।

व्यक्ति का शरीर ही धर्म-साधन का माध्यम है [1] तथा कर्मेन्द्रियों का सहारा लिये बिना पूजा-अर्चना, भक्ति-उपासना एवं अन्य सत्कर्मों के सम्पादन में भी हम समर्थ नहीं। अवस्था आदि के परिणामवस्रूप इन्द्रियों के निष्क्रिय हो जाने पर वैराग्य अथवा सन्यास को साधना नहीं, प्रत्युत व्यक्ति की विवशता ही कहा जायगा। ईंधन से बचाकर उससे दूर अग्नि के रखने में न तो कोई चातुर्य ही है और न इस प्रकार रखी गयी अग्नि को अधिक समय तक प्रज्वलित ही रखा जा सकता है। इन्द्रिय-सुखोपभोग उपलब्ध न होने की स्थिति में उनके त्याग की बात करना भी निरर्थक ही है। घर से दूर निर्जन वन में रहनेवाले साधु-सन्यासी भी इसी प्रकार त्याग की बात करते हैं। घर में सांसारिक जीवन व्यतीत करते हुए भी जो व्यक्ति इन्द्रिय-सुखों का मन से परित्याग कर देता है, वही श्रेष्ठ साधु है।[2] बन्धन और मोक्ष का कारण केवल मन है; शरीर और इन्दियों का इससे कोई सीधा सम्बन्ध नहीं, अतएव मन के संयोग के बिना प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति-मार्गों का अनुसरण तथा घर और वन सब कुछ स्वयं में निष्प्रभावी हैं।[3] यदि मन इन्द्रिय-दोषों से सर्वथा मुक्त है, तो जागतिक जीवन तथा सुखोपभोग का परिणाम भी बन्धनकारक नहीं। इसी प्रकार मन से लोक-जीवन के प्रति अनुरक्त व्यक्ति का निर्जन निवास भी उसके लिए बन्धन-मुक्ति का सफल साधन नहीं। घर अथवा वन स्वतः बन्धन और मुक्ति नहीं हैं, इन दोनों के श्रेयस्कर परिणामों हेतु चित्तवृत्तियों पर नियंत्रण रखना ही साधना की सफलता का आधार है।[4]

---

१. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

२. ईंधन बिहूनी आगि राखे कौ निहोरौ कहा,
        ईंधन महं आगि राखै ताही कौ जतन है।
   इन्द्रिनि गलित बृद्ध भयैं कौन साधुता है,
        इन्द्रिनि बलित बांधै सोई साधुपन है।
   'अक्षर अनन्य' बिना पायैं बिषै त्याग कहा,
        पाय करै त्यागन बैराग सोई मन है।
   घर छांड़ि बन जोग साधे की जुगति कहा,
        घर ही में बन करै सोई गुरुजन है॥
                                        - वैराग्य तरंग, १४

३. कहा नगर कह बन बसै, कहा प्रवृत्ति निवृत्ति।
   कहि 'अनन्य' थिर चाहिये, एक चित्त की वृत्ति॥
                                        - अक्षर अनन्य की साखी, २२१

४. नहिं ग्रह महं बंधन कछू, नहिं बन मुक्ति बिचार।
   मति गति कारन कह लहै, कहि 'अनन्य' निरधार॥
                                        —निरधार-शतक

श्रद्धा, विश्वास, मनः-शुद्धि एवं चित्तवृत्तियों पर नियन्त्रण किये बिना ज्ञान, योग अथवा भक्ति किसी भी साधन के द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति संभव नहीं। इन गुणों से विरहित आचार ही मिथ्याचार है। ईश्वर हमारे बाह्य क्रिया-कलाप के साथ ही हमारे मन का भी द्रष्टा है, अतएव मिथ्याचार-भावना के साथ संसार का परित्याग कर निर्जन वन में रहने के द्वारा उसे धोखा नहीं दिया जा सकता। जो व्यक्ति परिस्थितियों से विवश होकर आवेश के कारण घर त्याग कर वन की ओर चल देते हैं, उनके लोक-व्यवहार तो छूट ही जाते हैं, साथ ही मन के सांसारिक विषय-वासनाओं में उलझे रहने के कारण वे वैराग्य-धर्म के पालन में भी सफल नहीं होते। इन्द्रिय-विषयों से आबद्ध उनका मन संसार में ही भटकता रहता है और इस दशा में वे घर अथवा वन कहीं के भी नहीं रहते। तत्वज्ञान के बिना घर और वन के बीच इस प्रकार भटकते हुए व्यक्तियों को 'अक्षर अनन्य' ने धोबी के कुत्ते के समान कहा है, जो घर अथवा घाट कहीं का नहीं होता।[1] मन को वश में रखकर ईश्वर के श्री-चरणों को हृदय में धारण करने से घर में ही वन-साधना का लाभ प्राप्त हो सकता है, निरन्तर हरि-नाम-स्मरण के द्वारा अपना शरीर ही सिंह-मढ़ी अथवा देवालय बन जाता है तथा गुरु-उपदेश का पालन ही गुदड़ी होती है। इस प्रकार सहज-साधना के द्वारा जो व्यक्ति घर में रहकर भी कुछ नहीं कर सकते, उनसे वन में रहकर भी वैराग्य-साधन की आशा नहीं की जा सकती।[2] पाप-पुण्य तथा अन्य द्वन्द्व-भेदों के समान ही 'अक्षर अनन्य' ने घर और वन के भेद को भी अविद्या का परिणाम मानकर उसे किंचित् भी महत्त्व देना निरर्थक समझा।[3]

---

१. इतै बिवहार के बिहार गुन कर्म छूटे,
उतहू न जानै अध ईस्वर बिराट के।
बिना तत्व ग्यान प्रानी भ्रमित 'अनन्य' भनै,
धोबी कैसे कुत्ता जैसे घर के न घाट के॥

—स्फुट पद्य

२. श्री पद पद्म धरौ हिरदै, मन छार करौ घर ही बन है।
हरि नाम कौ जाप जपैबौ करौ, करि सिंहमढ़ी अपनौ तन है।
गुरु ग्यान की गूदरी डारौ गरैं, जु कछू धन है सु वही धन है।
जिनि सौं घर मांझ कछू न बनौ तिनि सौं बन मांझ कहा बन है॥

स्फुट पद्य

३. कहि 'अनन्य' घर बन कहा, कहा पुन्य कह पाप।
ब्रथा अबिद्या भेद सब, मानि लिये की थाप॥

— अक्षर अनन्य की साखी, १०६

नाथ, सिद्ध एवं संतों ने यद्यपि मध्यम मार्ग के अनुसरण का ही उपदेश दिया है, तथापि निवृत्ति की ओर संकेत करना भी वे भूले नहीं। 'अक्षर अनन्य' ने प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों को ही अविद्यामूलक मानकर सहज-जीवन-यापन का ही निर्देश दिया। संसार त्याग कर वन जाने के स्थान पर व्यक्ति को शरीर के द्वारा लोक-व्यवहार का पालन करते हुए मन के द्वारा निरन्तर ईश्वर का स्मरण करना चाहिये।[1] चित्त का इधर-उधर न भटकने देना ही साधना है।[2] राग-द्वेष, हर्ष-शोक, मान-अपमान आदि द्वन्द्वों से ही नहीं, प्रत्युत बन्धन और मोक्ष तथा अनुराग और वैराग्य से भी मन को हटा लेना ही मध्यम मार्ग है। ज्ञानयोग की साधना का उल्लेख करते हुए 'अक्षर अनन्य' ने राग-वैराग्य, पाप-पुण्य सभी के प्रति सम-भाव रखने का निर्देश दिया है। मन पर नियंत्रण रखना ही मूलबंध है; ईश्वर का निरन्तर ध्यान ही त्राटक है; चित्त-वृत्तियों का अवरोध ही आसन है; दुविधा में न उलझना ही संयम-नियम है; गुरु-शब्द का स्मरण ही धारणा है; मन से चेतन-स्वरूप की आराधना ही ध्यान है, तथा समस्त विषय-वृत्तियों से चित्त को हटाकर चित्स्वरूप में रमण करना ही ज्ञानयोग की सहज समाधि है।[3]

भक्ति के क्षेत्र में दासभाव, सखाभाव, सखीभाव, आदि को आधार मानकर ईश्वर की उपासना का 'अक्षर अनन्य' ने विरोध किया है। भक्ति एवं भक्त के अलग-अलग प्रकारों के सम्बन्ध में उनके विचारों की समीक्षा करते हुए उल्लेख किया जा चुका है कि मुक्ति की कामना से युक्त भक्ति-भावना को भी वे भिक्षुक-वृत्ति मानते थे तथा निष्काम-भक्ति को ही उन्होंने स्वीकार किया था। भक्ति-मार्ग के अनुसरण-

---

१. मन ईस्वर सुमिरन रहै, तन बिहरन ब्यहार।
सो निर्द्वन्द सदा सुखी, कहि 'अनन्य' निरधार॥

—निरधार शतक

२. साधन यहै है चित्त अन्त न भ्रमन पावै।

— ज्ञानयोग, १-१८

३. मूल तत्व मन बांधि यहै मूलबंध करि,
सुरति के त्राटक सौं सुमिरन साधिहै।
चित्त ही की अस्थिरता आसन असीन सदा,
संजम नियम बुद्धि दुबिधा न बांधिहै।
गुरु के सबद ही की धारना अधार धरि,
चेतन सरूप ध्यान मनसा अराधिहै।
'अक्षर अनन्य' आठौ अंग लवलीन दसा,
यहै ग्यान जोग सिद्ध सहज समाधिहै॥

—ज्ञानयोग, १-२१

कर्ताओं की भी यही मान्यता है कि ईश्वर ही समस्त चराचर जगत् का स्रष्टा और पिता है। एक ही पिता की सन्तान होने के नाते, व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे के प्रति मैत्री-भाव रख सकते हैं, किन्तु पिता के प्रति सखाभाव रखने की कोई संगति नहीं। दास्य-भावना तो भिक्षुक, आर्त, शरणार्थी तथा मजदूर की भावना है। सखीभाव को कलियुग का विचित्र तमाशा मानकर कहा गया है कि ध्रुव, प्रह्लाद, दत्त, नारद, सनक, व्यास, उद्धव, अर्जुन तथा अन्य अनेक राजर्षि योगी ईश्वर के अत्यन्त घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के पश्चात् भी स्वयं को उसकी सखी नहीं मानते। पुरुष-जन्म ग्रहण करने पर भी सखीभाव की धारणा भक्ति-भावना नहीं, प्रत्युत तमाशा है। अविद्या के परिणामस्वरूप, परम-पिता ईश्वर के स्रष्टा और जनक होने की बात भूलने के कारण ही उसके प्रति दासभाव और सखाभाव-जैसी कल्पनाओं का उदय होता है। किसी चरवाहे को जंगल में बाघ का नवजात शिशु प्राप्त हो गया। उसके द्वारा पोषित वह बाघ-शिशु भेड़-बकरियों के साथ ही चरता-घूमता रहा और उसका स्वयं के बाघ होने का ज्ञान अविद्या अथवा अज्ञान के द्वारा आवृत हो गया। एक समय बाघ के आने पर, उसकी गर्जना सुनकर, समस्त भेड़-बकरियों के साथ, उन्हीं के समान वह बाघ का बच्चा भी भय के कारण भागने लगा। बाघ द्वारा पकड़े जाने और पूछने पर वह बाघ-शिशु स्वयं को भेड़-बकरियों की जाति का ही कहता था। अन्त में बाघ द्वारा समझाने-बुझाने पर उसको भी स्वयं के बाघ होने का ज्ञान हुआ। इसी भाँति ईश्वर-अंश होने पर भी अज्ञान के कारण व्यक्ति स्वयं की सत्यता को भूलकर भटकता रहता है। बाह्य वेश को ही सत्य मानकर वैरागी-सन्यासी अथवा योगी का वेश धारण कर उसी भाव का अनुसरण करना तथा दासभाव, सखाभाव, सखीभाव, आदि के प्रति आस्था पूर्णतया भ्रममूलक है। भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने में नर-नारायण के पुत्रभाव को ही 'अक्षर अनन्य' ने स्वीकार किया है।[1] जीव और ब्रह्म के एक होने की स्थिति में भी अविद्या के कारण व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है तथा अविद्या का विनाश होने पर वही जीव ब्रह्म-रूप अथवा आत्म-रूप को प्राप्त करता है।[2]

---

१. **कलि अतीत जे ग्यान बिहूने भेषहि पै ठहरानै।**
बैरागी सन्यासी जोगी जंगम जाति बखानै॥
दास भाव अरु सखा भाव इक सखी भाव भ्रम मंडे।
नर नारायन बने बनाये पुत्र भाव सो छंडे॥

—अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६–६

२. **जीव ब्रह्म निज जाति एक है, यह संदेह न मानौ।**
मिलै अबिद्या जीव भयौ मिलि बिद्या ब्रह्म बखानौ॥

—वही, ६–१५

भक्ति, योग तथा ज्ञान, तीनों मार्गों का विस्तृत विवेचन करते हुए 'अक्षर अनन्य' ने यद्यपि ज्ञानयोग की सहज-साधना का ही प्रतिपादन किया है, तथापि उनकी यह भी मान्यता है कि व्यक्ति अपनी स्थिति और मानसिक अवस्था के अनुसार इनमें से किसी भी मार्ग का अनुसरण कर लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। भक्ति तथा योग-मार्ग में साधना-सम्बन्धी जो कठिनाइयां आती हैं, ज्ञानयोग में उन विघ्न-बाधाओं की कोई गुंजाइश नहीं। भक्ति में नव साधनों एवं पाँच पद्धतियों के अनुसरण की आवश्यकता होती है; हठयोग में अष्टांग साधना का क्रम है; किन्तु ज्ञानयोग में किसी प्रकार के धर्म-कर्म का बन्धन नहीं। आसन की दृढ़ता का नियम न होने की दशा में आसन के डिगने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता; पूजा-जप का भी कोई बन्धन नहीं; अतएव उसमें भी कोई त्रुटि नहीं हो सकती। वैराग्य ग्रहण कर वनवास की इसमें आवश्यकता ही नहीं पड़ती; अतएव छल-प्रपंचों के द्वारा साधना से विचलित होने की भी कोई सम्भावना नहीं। दुख-सुख, हानि-लाभ सब कुछ स्वप्न के समान मानने पर सिद्धि-असिद्धि का विचार भी उत्पन्न नहीं होता। बैठते-उठते, चलते-फिरते, खाते-पीते प्रत्येक दशा में प्रेम और श्रद्धापूर्वक ईश्वर का स्मरण करते रहना ही ज्ञानयोग-साधना का मूल है। अन्य पिपीलिका-मार्गों की तुलना में ज्ञानयोग-साधना विहंगम-पंथ के सदृश है तथा अन्य समाधियाँ भंग हो सकती हैं, किन्तु ज्ञानयोग की सहज-समाधि के भंग होने की भी सम्भावना नहीं रहती।

उक्तियों एवं तर्क-वितर्कों के द्वारा अन्य व्यक्तियों को समझाना बुद्धि है तथा स्वयं समझना 'बोध' है। आत्मबोध के बिना पठन-पाठन, अध्ययनादि तोता-रटन की भाँति निरर्थक है। शुभ-अशुभ तथा सिद्धि-असिद्धि में मन का सम-भाव से स्थिर रहना ही धारणा है। भेद बुद्धि की समाप्ति तथा चराचर जगत् में सर्वत्र शिव-शक्ति को ही व्याप्त देखना 'केवल भक्ति' है। सहज-भाव से जीवन यापन करते हुए गुरु-उपदेश के अनुसार निरन्तर ईश्वर का मनसा स्मरण करना, मनसा-वाचा-कर्मणा राग-द्वेष से बचना, प्रेम तथा आस्थापूर्वक रीत्यानुसार आराधना, गुरु शब्द के ध्यान में लीन रहना ही 'केवल उपासना' की पद्धति है। यदि किन्हीं कारणों से भक्ति, योग अथवा ज्ञान किसी एक मार्ग के अनुसरण में भी किसी व्यक्ति को कठिनाई होती है, तो 'अक्षर अनन्य' के अनुसार उस व्यक्ति के लिए सर्वज्ञ गुरु की शरण में जाकर श्रद्धापूर्वक उनकी सेवा करना ही एकमात्र मार्ग है। जिस प्रकार लकड़ी में आग लगने से लकड़ी भी अग्नि-रूप हो जाती है, उसी प्रकार गुरु-प्रताप के द्वारा शिष्य

भी सिद्धावस्था प्राप्त करने में सफल होता है ।[1]

साधना-सिद्धान्तों के इस विवेचन के साथ ही उस बात की ओर भी संकेत कर देना आवश्यक है, जिसका स्वयं 'अक्षर अनन्य' ने 'सौ बात की एक बात' कहकर उल्लेख किया है । संग-दोषों पर विजय प्राप्त कर लोक व्यवहार करना, चित्तवृत्तियों पर नियंत्रण रखकर शील-सत्य का पालन तथा नियमपूर्वक धर्म का आचरण, निष्काम भाव से अपने कर्तव्य का निर्वाह, कर्म का ईश्वरार्पण, तत्व-रूप का ज्ञान, बन्धन-मुक्ति के सोच विचार का परित्याग ही साधना का एकमात्र मार्ग है । भक्ति, योग अथवा ज्ञान, जिस किसी भी पद्धति का दृढ़तापूर्वक अनुसरण करना, लोक-रीति के विपरीत कर्म न करना, वेद-विरुद्ध विचारों का परित्याग तथा गुरु-उपदेश का आस्थापूर्वक पालन ही पुरुषार्थ है । इस मार्ग के अनुसरण से स्वार्थ एवं परमार्थ दोनों की प्राप्ति होती है, और यही साधना के सम्बन्ध में 'अक्षर अनन्य' की 'सौ बात की एक बात' है ।[2]

---

१. भक्ति जोग अरु ग्यान मत, यह बिधि कहे 'अनिन्न' ।
सिद्धि भयें पद एक है, मारग में मत भिन्न ।
तीनि क्रियनि में एक करि, मन न डिगै सुनि और ।
वहै क्रिया पूरन भयें, होय सिद्ध सिरमौर ।
जो कथचित इनि तीनि महुं, कौनू करी न जाइ ।
अरु चाहै सिद्धांत पद, ताकहुं कहत उपाय ।
ताकहुं यहै उपाय है, गुरु करिये सरवग्य ।
तिनि के दरस प्रताप तैं, दूर होत तम अग्य ।
जैसैं अगिनि लगाइतैं, लकरि अगिनि हो जाइ ।
तैसैं सुगुरु प्रताप तैं, सिष्य सिद्ध पद पाइ ।।
--सिद्धान्त बोध, १५५-१५८, १६१

२. जीति संग दोष लोक रीति बिवहार कीनै,
साधिये धरम नैम चित्त सील सत्त है ।
कीजिये करम ते अरप दीजै ईसुर कौं,
मांगिये न फल कछू जानि ग्यान तत्त है ।
बंधन मुकति कौ न राखिये भरम सोच,
जानिहै सु करिहै सुरति ध्यान रत है ।
'अक्षर अनन्य' कहै सुनौ राव प्रथीचन्द,
मो मत यहै है यहै सौ मत कौ मत है ।
× × ×
सौ मत कौ मत एक यहै, जु गहै दृढ़ता करि इष्ट अधारहि ।
लोक विरुद्ध न कर्म करै, नहिं बेद विरुद्ध बिचार विचारहि ।
आयसु जो गुरु नाथ करौ, सु धरौ हिरदै सुधि सो न बिसारहि,
ये पुरुषारथ लच्छिन है, परमारथ स्वारथ दोउ समारहि ।।
--अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ४-१६-२०

अन्त में यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि 'अक्षर अनन्य' सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति को भी स्वीकार न कर उनसे परे निर्वाण की स्थिति को स्वीकार करते हैं। 'अनन्य प्रकाश' में मुक्ति के उपर्युक्त चारों स्वरूपों का खण्डन कर 'निर्वाण' का ही प्रतिपादन किया गया है। विष्णु के प्रतिहार जय-विजय को सालोक्य एवं सामीप्य मुक्ति प्राप्त होने पर भी श्रापवश जन्म धारण करना पड़ा। वाराह एवं नृसिंह अवतारों के रूप में ईश्वर द्वारा हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकश्यप का वध कर स्वयं अपने में लीन कर सायुज्य मुक्ति प्रदान किये जाने पर भी उन्हें असुर-योनि में जन्म लेना पड़ा। श्री रामचन्द्र ने रावण और कुम्भकर्ण को मारकर सायुज्य मुक्ति प्रदान की थी, तथापि उन्हें शिशुपाल एवं दुर्व्रत के रूप में अवतरित होना पड़ा। अन्त में कृष्ण द्वारा मारे जाने पर पुनः उन्हें जय-विजय का पद प्राप्त हुआ। इन समस्त प्रमाणों के आधार पर सायुज्य मुक्ति प्राप्त होने पर भी आवागमन से मुक्ति नहीं मिलती। इन मुक्तियों को 'अक्षर अनन्य' ने केवल भक्ति का चतुर्विध फल माना है तथा आत्मबोध के द्वारा आत्म-रूप की उपलब्धि को ही निर्वाण के रूप में स्वीकार किया है।[1] सायुज्य मुक्ति में जीवात्मा परमात्मा का रूप ग्रहण करता है तथा 'अक्षर अनन्य' द्वारा प्रतिपादित निर्वाण-प्राप्ति में अविद्या के विनष्ट होने पर आत्मा स्वयं आत्म-रूप को ही प्राप्त होता है,[2] और यही निर्वाण की उपलब्धि है।[3]

---

१. है भक्ति कौ फल भोग चौबिधि बेद सास्त्र बखानिये।
निज आपु रूप लहे बिना नहिं मुक्ति कबहूँ जानिये॥

—अनन्य-प्रकाश, १०६

२. आपुन कौं बूझै यहै अनुभौ 'अनन्य' भनै,
आपुनपौ सूझै तब आपै आपु हो रहै।

—अनन्य-प्रकाश, १०८

३. चार मुक्ति लौं मुक्ति नहिं, जियन भक्ति फलसार।
पंचम पद निर्वान है, कहि 'अनन्य' निरधार॥

—निरधार-शतक

९. ज्ञानाश्रयी सन्त और अक्षर अनन्य

यद्यपि संत-परम्परा पर सिद्धों, नाथों एवं अन्य पूर्व-प्रचलित साधना-परम्पराओं का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया जाता है, तथापि हिन्दी-साहित्य में कबीर को ही इस परम्परा का प्रवर्तक मान लिया गया है। परवर्ती अनेक सन्तों ने कबीर का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया एवं उनकी शिष्य-परम्परा भी ग्रंथ-प्रचलन के परिणामस्वरूप देश के अनेक भागों में फैल गयी, अतएव अधिकांशतः संतों द्वारा अपने-अपने पंथों का प्रवर्तन किये जाने पर भी उन्हें कबीर-परम्परा का ही मानने में संकोच नहीं किया जाता। कबीर का प्रभाव सभी संतों पर एक मत से स्वीकार किया जाता है और यह असंगत भी नहीं। इसी विचार-प्रवाह के परिणामस्वरूप 'अक्षर अनन्य' को भी हिन्दी-साहित्य की सन्त-परम्परा के अन्तर्गत स्वीकार किया गया। यद्यपि यह सर्वथा अनुपयुक्त भी नहीं, तथापि अपने साधना-सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के आधार पर संत होते हुए भी निश्चित रूप से उन्हें उस परम्परा से अलग मानना भी असंगत नहीं होगा। इस दशा में उन्हें किसी अन्य परम्परा से सम्बद्ध किये जाने का प्रश्न उपस्थित हो सकता है, किन्तु उस स्थिति में यही कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वे एक ऐसे प्रकाश-स्तम्भ की भांति हैं, जो सबके बीच रहते हुए भी सबसे अलग दिखाई देता है। सन्त-परम्परा में जिन सन्त-कवियों को सम्मिलित किया जाता है, उनके विचारों में किंचित् अन्तर होते हुए भी अधिकांशतः उनके स्वर समान थे। भाव-साम्य की दृष्टि से निम्नांकित विषयों को लिया जा सकता है:—

१. वेद-शास्त्रादि को प्रमाण न मानकर उनका खण्डन किया गया।
२. वेश-भूषा एवं बाह्य क्रियाओं की निस्सारता प्रतिपादित की गयी।
३. मूर्ति-पूजा का विरोध किया गया।
४. जाति-पांति एवं वर्ण-व्यवस्था का खण्डन किया गया।
५. ब्रह्म के निर्गुण रूप को स्वीकार किया गया।
६. माया को मिथ्या एवं प्रवंचना माना गया।
७ कनक-कामिनी की निन्दा कर उनसे बचने का उपदेश दिया गया।
८. प्रेम और विरह की महत्ता स्वीकार की गयी।
९. सहज-जीवन-यापन का निर्देश दिया गया।

१०. साधु की प्रशंसा और असाधु की निन्दा की गयी।
११. गुरु के प्रति आस्था व्यक्त की गयी।
१२. घट में ही ईश्वर मानकर कस्तूरी और मृग के उपमान द्वारा उसकी पुष्टि की गयी।
१३ सुमिरन को ही श्रेष्ठ साधना माना गया।
१४. दया, सत्य, नम्रता, निर्बैर आदि गुणों के अपनाने का निर्देश दिया गया।
१५. राम-रहीम तथा हिन्दू-मुसलमान में अभेद माना गया।
१६. संसार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया गया।

उपर्युक्त विषयों के सम्बन्ध में लगभग सभी सन्तों ने समान विचार व्यक्त किये हैं, अतएव उनको एक ही परम्परा के अन्तर्गत मानना संगत भी है। इसके विपरीत 'अक्षर अनन्य' की विचार-मान्यताएं इन विषयों के सम्बन्ध में अन्य सन्तों से सर्वथा अलग हैं। पूर्व में संकेत किया जा चुका है कि 'अक्षर अनन्य' शाक्त परम्परा के अनुयायी थे तथा शाक्त मत किसी भी दशा में अवैदिक नहीं। इस दशा में वेद-शास्त्रादि को 'अक्षर अनन्य' ने प्रमाण तो माना ही है, साथ ही वेद-विरुद्ध न चलने का निर्देश देते हुए वेद-बाह्य धर्म को अधर्म एवं वेद-विरुद्ध पंथों को उन्होंने कुपंथ की संज्ञा दी है। यहां पर यह भी संकेत कर देना अनुचित नहीं कि निरे पठन-पाठन अथवा थोथे ज्ञान की संतों द्वारा की गयी निन्दा सर्वथा मौलिक और नयी नहीं थी। उपनिषदों में भी परा एवं अपरा विद्या का विवेचन करते समय वेद-शास्त्रों को अपरा विद्या मानकर पराविद्या की साधना का ही निर्देश दिया गया है। अक्षर ब्रह्म का ज्ञान करानेवाली परा विद्या ही आत्मानुभूति की साधनभूत विद्या है,[1] जिसका संतों ने 'करनी' के नाम से उल्लेख किया है। उपनिषदों में पहले ही इस बात को स्वीकार किया जा चुका था कि आत्मा की उपलब्धि केवल प्रवचन, पठन-पाठन अथवा शास्त्रादि के श्रवण से नहीं होती।[2] 'अक्षर अनन्य' ने भी स्वीकार किया है कि वेद-शास्त्रादि मात्र दृष्टिप्रद अंजन के समान हैं। यदि उस अंजन को आंख में लगाया नहीं जाता, तो दृष्टि प्राप्त होने तथा दिखाई देने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। ब्रह्म के जिस रूप का दर्शन-शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है, उसकी उपलब्धि के साधनों का भी विस्तृत

---

१. **तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।**

—मुण्डकोपनिषद्, १-५

२ **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।**

—कठोपनिषद्, २ २३

विवेचन उनमें प्राप्त होता है। अधिकांशतः सभी समीक्षकों ने स्वीकार किया है कि संत-परम्परा के कवि विशेष पढ़े-लिखे नहीं थे, जिन्होंने अपने भाव का प्रकाशन किसी प्रकार टूटे-फूटे शब्दों में ही किया और जिनकी रचनाएं बहुत कुछ स्वतंत्र हैं।'[1] श्री वियोगि हरि के अनुसार संतों की वाणी में वेद, उपनिषद् और त्रिपिटिक की झीनी झांकी मिलती है, सूफी औलियों की मौज-मस्ती भी नजर आती है, वेदान्त, भागवत, भक्ति, ब्रह्म-विहार और तसव्वुफ, इन सब धाराओं का सहज सुन्दर संगम भी देखने को मिलता है, तथापि वे भी कबीर के तत्व-दर्शन की थाह दार्शनिक विवेचन और विश्लेषण के द्वारा सम्भव नहीं मानते।[2] संत-वाणी से तो यह स्पष्ट है कि वे अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित थे, और उनकी दृष्टि भी केवल बाह्य उपचार-विधानों एवं लोक-व्यवहारों पर ही पड़ी थी। उन्होंने मात्र इतना ही देखना पर्याप्त समझा था कि हिन्दू मन्दिरों में जाकर मूर्तियों की पूजा करते हैं, सिर मुड़ा देते हैं अथवा बड़े-बड़े बाल रखते हैं और मुसलमान मसजिद में जाकर जोरों से अजान देते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी दृष्टि हिन्दुओं की जाति-व्यवस्था, सन्यासियों-वैरागियों के रँगे हुए कपड़ों तथा मुसलमानों द्वारा मान्य खतना-व्यवस्था-जैसी स्थूल बातों पर पड़ी थी। इन्हीं ऊपरी और सतही बातों को देखकर वे मान बैठे थे कि देवालयों में मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, गेरुवा वस्त्रों का पहिनना, माला द्वारा जप करना, बाल रखना अथवा मुड़ा देना ही हिन्दू-धर्म का तथा मसजिद में अजान देना अथवा खतना कराना ही इस्लाम का रहस्य है। कबीर ने देखा कि हिन्दू लोग अपना घड़ा किसी को छूने नहीं देते और मुसलमानों के पीर औलिया द्वारा मुर्गा-मुर्गी की बलि दी जाती है तथा वे अपनी खाला की लड़की से शादी कर बैठते हैं, तो वेगागर में हिंदुत्व और मुर्गा-मुर्गी में इस्लाम मानकर इन धर्मों पर पूरी शक्ति के साथ टूट पड़ते थे। ऐसे अवसरों पर मानो वे हाथ उठाकर घोषणा करते हैं कि मैंने हिन्दुओं का हिन्दुत्व और मुसलमानों का इस्लाम देख लिया है और इन दोनों के रास्ते गलत हैं।[3]

---

१. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परम्परा (प्र०सं०), पृ० ९
२. वियोगी हरि : संत-सुधा-सार
३. अरे इन दोहुन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करै बड़ाई गागर छुवन न देई।
बेस्या के पायन तर सोवै यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर औलिया मुर्गी मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहै घरहि में करै सगाई।
बाहर से इक मुर्दा लाये धोय धाय चढ़वाई।
सब सखियां मिलि जेमन बैठीं घर भर करें बड़ाई।
हिन्दुन की हिन्दुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भाई साधौ कौन राह ह्वै जाई॥ -संत-सुधा-सार, पृ० १०९

लोकाचार के अतिरिक्त कबीर जब ब्रह्म के सत्-रूप का वर्णन करते हैं, तब भी उनकी वाणी इसी प्रकार ऊटपटाँग ही दिखाई देती है। परमात्मा को घट के भीतर ही मानने की स्थिति में सहज-साधना के द्वारा उसको प्राप्त करने का निर्देश देते समय जब वे बाह्य उपचार-विधानों की निन्दा करते हुए ब्रह्म को भेड़ों, बकरियों, छुरी, गंड़ासे, पूँछ, चमड़ी, हड्डी, मांस में खोजने का निषेध करते हैं, तब यह बात समझ में नहीं आती कि उसे भेड़ों, बकरियों, हड्डी, चमड़ी में खोजने के लिए चला ही कौन था।[1] ब्रह्म को सर्वव्यापक मानते हुए भी मन्दिर-मसजिद में उसके अस्तित्व को अस्वीकार किया गया, उसके पूर्ण विभु-रूप होने पर भी विष्णु और शक्ति में भेद दिखाई दिया, तथा चींटी के पग में बजते हुए नूपुरों की ध्वनि सुनने में समर्थ साहिब को यदि मुल्ला जोरों से पुकारता है, तो उसके साधना-ज्ञान के संबंध में भी उन्हें संदेह हुआ। तिलक, छापा, माला, मूर्ति-पूजा, व्रत, तीर्थाटन, मन्दिर, मसजिद आदि उपासना के साधना-विधानों में निहित आस्था, श्रद्धा एवं भावना को समझे बगैर ही उन्होंने एकदम और एक स्वर से सबको पाखण्ड घोषित कर दिया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है कि 'कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टि में ज्यादा खटकता था, पर उस पूजा या उत्सव के पीछे छिपा तत्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टि में उपस्थित नहीं होता था। मूर्ति की उपासना उनको बुरी लगती थी, पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्तिवाला तत्ववाद उन्हें मालूम ही न था।[2]

कबीर के सम्बन्ध में दार्शनिक दृष्टि से विचार किये जाने की आवश्यकता का समीक्षकों द्वारा प्रतिपादन ही नहीं किया गया, अन्यथा यह भी कहा जा सकता है कि ब्रह्म, जीव और जगत् किसी का भी स्पष्ट वर्णन उनकी वाणी में नहीं मिलता। ब्रह्म के सम्बन्ध में कबीर आदि संतों को 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'खं ब्रह्म'—जैसे मोटे सिद्धान्तों का ही ज्ञान था। वे या तो उसके निर्गुण रूप को ही स्वीकार कर सके थे अथवा निर्गुण-सगुण दोनों को त्यागने की बात ही उन्हें उपयुक्त प्रतीत होती थी;[3]

---

१. मो कौं कहा ढूंढ़ो बंदे मैं तो तेरे पास में।
ना मैं बकरी ना मैं भेड़ी ना मैं छुरी गंडास में।
नहीं खाल में नहीं पोंछ में ना हड्डी ना मांस में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद ना काबे कैलास में।
ना मैं कौनो क्रिया कर्म में नहीं जोग बैराग में।
खोजी होय तौ तुरतै मिलिहौं पलभर की तालास में।
मैं तो रहों सहर के बाहर मेरी पुरी मवास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो सब सांसौ की सांस में॥ संत-सुधा-सार, पृ० ११२

२. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी : कबीर

३. सरगुन निरगुन तजहु सोहागिन, देख सबहि निज धाम। —संत-सुधा-सार, पृ० ९९

किन्तु सगुण-रूप के प्रतिपादन में सभी संतों ने मानो संकोच किया है। गुरु नानक उसकी महिमा से ही इतने अधिक प्रभावित रहे कि उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहने की उन्होंने आवश्यकता ही नहीं समझी। उन्होंने उस परम-तत्व को तथा उसके नाम को 'सत्य' कहकर छुट्टी ले ली[1] तथा उसकी महिमा का अनेक प्रकार से वर्णन करते हुए अनेक बार यह दोहराया कि 'मेरी क्या बिसात, जो मैं तेरा बखान कर सकूं'।[2] नानक की महिमा-वर्णन-शैली भी 'कुरान शरीफ' के ही समान है और 'जपुजी' के अनेक अंश 'कुरान शरीफ' के भावानुवाद-जैसे ही प्रतीत होते हैं। ब्रह्म की व्याख्या के सम्बन्ध में गुरु नानक के, 'वह स्वयं अर्थ है, वाणी है और ब्रह्म है'[3]-जैसे वाक्य भी महिमा-वर्णन में ही विलीन हो जाते हैं। उसकी महानता का उल्लेख करने पर भी नानक ने यही कहा कि उसकी महानता को वह स्वयं ही जानता है।[4] इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि जिस प्रकार 'कुरान शरीफ' में अल्लाह के साथ अल्लाह के 'हुक्म' की महिमा का वर्णन किया गया है, उसी प्रकार नानक ने भी ईश्वर के हुक्म का गुणगान करते हुए ईश्वर के समान 'हुक्म' को भी अनिर्वचनीय कहा है।[5]

दादू दयाल ने अलख, इलाही, राम, रहीम, मालिक, मोहन, केशव, सिरजनहार, साहिब, सुलतान, अविगत, अल्लाह, गुनी, गुसाईं आदि नामों का उल्लेख कर उसके अनेक नाम स्वीकार किये हैं। सुन्दरदास ने इस सम्बन्ध में कहा है कि सृष्टि के आदि में केवल वही तत्व विद्यमान था, उससे माया की, सत्व, रज, तम गुणों की, पंच तत्वों तथा तीनों लोकों की उत्पत्ति हुई। उस तत्व का कोई रूप नहीं, रेखा नहीं तथा वह काला अथवा सफेद, कैसा भी नहीं। वही तत्व समस्त दिशाओं में व्याप्त है।[6] मलूकदास उसे केवल निर्मल कहते हैं। इसी प्रकार अन्य संतों ने भी राम और रहीम का एकत्व स्वीकार करने, सर्वव्यापक, घटघटवासी, अविनाशी, अनादि, अनंत मानने में ही उस तत्व के निरूपण की पूर्णता समझ ली थी। हिन्दू और इस्लाम दो ही धर्म संतों के सामने प्रकट रूप में थे, अतएव उनकी दृष्टि भी राम-रहीम के एकत्व एवं

---

१. साचा साहिबु साचु नाइ भाखिआ भाउ अपार। —जपुजी
२. कुदरति कवण कहा वीचार। —वही
३. सुअसति आथि वाणी बरमाउ। —वही
४. नानक बड्डा आखीए आपे जाणै आपु। —वही
५. हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई।
   हुकमी होवनि जीअ हुकमि मिलै वड़िआई॥ —वही
६. आदि तुम ही हुते अवर नहिं कोइ जी।
   अकह अति अगह अति बर्न नहिं होइ जी।
   रूप नहिं रेख नहिं, श्वेत नहिं श्याम जी।
   तुम सदा एकरस राम जी राम जी॥ —रामाष्टक (सुन्दरदास)

इन धर्मों के आचार-विधानों तक ही सीमित रही थी। अवतारवाद के प्रति यद्यपि संतों ने विशेष आस्था प्रकट नहीं की, तथापि दादू की 'गोविन्द' के प्रति प्रीति है, कबीर प्रह्लाद का उद्धार करनेवाले नृसिंह का गुणगान करते हैं और महात्मा दूलनदास रामदूत हनुमान का स्मरण करते हैं।[1]

कबीर के अनुसार परम-तत्व के सत्य रूप को कोई नहीं जानता और लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से उसके रूप का निरूपण करते हैं।[2] वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उस तत्व के सम्बन्ध में बोलने की कोई सार्थकता नहीं, क्योंकि बोलने से तत्व ही नष्ट हो जाता है।[3] तथापि वाणी के आनन्द के लिए ही जब वे उस 'सिरजनहार' के सम्बन्ध में कुछ कहने को प्रवृत्त होते हैं,[4] तब उसे परे से भी परे सबसे परे कहने की ही उनकी प्रवृत्ति रही है। वे उसे एक-दो, छोटा-बड़ा, मोटा-पतला, बाहर-भीतर कुछ नहीं मानते। 'बाहर भीतर सकल निरन्तर'-जैसे वाक्यों का प्रयोग कम करते हुए उसे इन सबसे परे मानने के प्रति ही उनकी विशेष आस्था रही। उसके निर्गुण-रूप का वर्णन करते समय उन्होंने उसे बालक-वृद्ध, चमकदार, तोल-मोल, भारी-हलका सबसे परे तथा पानी और धुआं से पतला कहा।[5] इसी प्रकार सुन्दरदास तथा अन्य संतों ने भी उसे 'है' अथवा 'नहीं' कुछ भी न मानकर 'है' तथा 'नहीं' दोनों से परे अथवा 'है'-'नहीं' के मध्य में स्वीकार किया।

सर्वव्यापक ब्रह्म को मन्दिर-मसजिद से बाहर निकालने पर भी संतों की समस्या का समाधान नहीं हो सका था और प्रतीत होता है कि इसी कारण सबसे

---

१. सुमिरौं मैं रामदूत हनुमान।
-महात्मा दूलहदास

२. जस तू तस तोहि कोहु न जान।
लोग कहैं सब आनहि आन॥
-कबीर-ग्रन्थावली, ४७

३. बोलना का कहिये रे भाई। बोलत बोलत तत्त नसाई॥
-वही, ६७

४. बोलन के सुख कारणै, कहिये सिरजनहार।
-ग्रन्थ, पृ० २३६

५. ना हम बार बूढ़ नाहीं हम, ना हमरै चिलकाई हो।
-कबीर ग्रन्थावली, ५०

तोल न मोल माप कछु नाहीं गिणती ग्यान न होई।
ना सो भारी ना सो हरुआ ताकी पारिख लखै न कोई।
-वही, १६६

६. नाहीं नाहीं कर कहै, है है कहै बखानि।
नाहीं है के मध्य है, सो अनुभव करि जानि॥ -ज्ञान-समुद्र, ४४

ऊपर गगन-मंडल में उसे बैठा देने की बात उनके मन में उत्पन्न हुई थी। इसके पूर्व गगन-मंडल शब्द का प्रयोग सहस्रार के लिए भी किया जाता रहा, किन्तु अनेक संतों ने इसका प्रयोग शुद्ध रूप से आकाश के अर्थ में ही किया है। उनका ब्रह्म गगन-मंडल में ऐसे स्थान पर विराजता है, जहां रवि, शशि, पवन का प्रवेश नहीं, चींटी भी नहीं पहुंच सकती तथा वह स्थल इतना सूक्ष्म है कि वहां राई के रखे जाने की भी गुंजाइश नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि सत्-चित्-रूप ब्रह्म के सम्बन्ध में वृद्ध-बालक, भारी, हलका, चिकना, खुरदरा होने न होने अथवा आकाश-मंडल में विराजने-जैसी बात कहना स्थूल दृष्टि का ही परिचायक है। इसके विपरीत 'अक्षर अनन्य' द्वारा किये गये तत्व-निरूपण से ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों रूप स्पष्ट हो जाते हैं। न तो वे निर्गुण के निरूपण में ही इतने अधिक लीन हो गये कि उसके सगुण रूप का खण्डन हुआ हो और न सगुण रूप के प्रतिपादन में ही वे इतने रस-विभोर हुए कि निर्गुण का निराकरण हुआ हो। इन दोनों का अत्यन्त सधे हुए और सुलझे रूप में ही वर्णन किया गया है। स्पष्टतः उन्होंने इसके प्रति पूर्ण सावधानी बरती है कि ब्रह्म के सर्वव्यापक, सर्वरूप, सर्वनाम, सर्वगुण होने तथा साथ ही निर्गुण-निराकार होने के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भ्रान्ति शेष न रह सके। किसी भी स्थल पर न तो उन्होंने एकान्ततः निर्गुण का समर्थन किया और न सगुण का, तथा इन दोनों से परे कहने की भी उन्हें आवश्यकता नहीं हुई। सगुण-निर्गुण, छोटा-बड़ा, नीचे-ऊपर, रूप-अरूप, नामी-अनामी, दूर-निकट, कर्ता-अकर्ता, एक- अनेक, ब्रह्म-माया सबका एक साथ ही वर्णन किया गया है। समस्त रूपों का रूप तथा अरूप, सार और असार, भेद-अभेद, सब कुछ वही परम-तत्व है। जितने भी नामों और रूपों की कल्पना की जा सकती है, सब उसी के नाम-रूप हैं। हरि, हर, ब्रह्मा में वह उनके समान है। चर में चर रूप से, अचर में अचर रूप से, देवताओं में देव रूप से, नरों में नर रूप से, छोटे में छोटे रूप से और बड़े में बड़े रूप से वही तत्व सर्वत्र व्याप्त है। चित्-रूप निर्गुण तत्व ही सगुण और साकार होकर दृश्य-जगत् में सर्वत्र दिखाई देता है। शून्य-ज्योति, ईश्वर-जीव, ब्रह्म-माया, शिव-शक्ति, प्रकृति-पुरुष सब कुछ वही है। उस तत्व के सम्बन्ध में जो व्यक्ति जैसा सुनता है, उसी प्रकार की धारणा बना लेता है; किन्तु इसके पश्चात् भी उसके अपने सत्-चित्-रूप में किसी प्रकार का अन्तर उत्पन्न नहीं होता। विशेष नाम-रूप के मानने को किंचित् भी महत्त्व न देकर 'अक्षर अनन्य' ने कहा है कि इस प्रकार की मान्यताओं में अथवा इनके विरोध में कुछ नहीं रखा। किसी भी नाम अथवा रूप के प्रति श्रद्धा और विश्वास रखकर उसकी उपासना की जा सकती है। ब्रह्म को पूर्ण मानने की सार्थकता भी उसे निर्गुण अथवा सगुण, शून्य-ज्योति, राम-कृष्ण आदि किसी विशेष नाम-रूप की सीमा में आबद्ध करने में नहीं, प्रत्युत सब कुछ मानने में है। निर्गुण-सगुण के भेद में संसार व्यर्थ ही भटकता रहता है। उस तत्व को परि-

पूर्ण मानकर चलना ही एकमात्र मार्ग है ।[1] साधना-सिद्धान्तों का विवेचन करते समय लिखा जा चुका है कि 'अक्षर अनन्य' जगत् और ईश्वर में अभेद स्वीकार करते हुए प्रत्येक वस्तु को ईश्वरमय तथा ईश्वर में समस्त वस्तुओं की स्थिति मानते थे । कबीर आदि सन्तों तथा 'अक्षर अनन्य' के बीच में इस सम्बन्ध में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि अन्य संत जहां उस तत्व को घट-घट-व्यापक कहते हुए भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म, परात्पर, निर्गुण-सगुण से भी परे, अस्ति-नास्ति के मध्य, धरती से बहुत दूर आकाश तथा आकाश से भी परे मानते चले गये, वहां 'अक्षर अनन्य' ने उसके निर्गुण-निराकार रूप का प्रतिपादन करने के साथ ही उसे हमारे सबके सामने धरती पर लाकर खड़ा कर दिया ।

प्राय: समस्त संतों ने माया को मिथ्या, प्रवंचना और ठगिनी के रूप में ही माना है । कबीर के अनुसार विष्णु के साथ लक्ष्मी तथा शिव के साथ पार्वती, उसी प्रकार माया का रूप हैं, जिस प्रकार पंडा के यहां मूर्ति, तीर्थों में पानी, राजा के यहां रानी तथा हीरा-कौड़ी माया हैं । राम-कृष्ण आदि अवतार भी माया हैं । यह माया अपने स्वभाव के अनुसार शिकार खेलने के लिए निकली है और इसने अपने अनेक जालों में फँसाकर मुनि, पीर, दिगम्बर, साधनारत योगी, वेदाभ्यासी पंडित, सेवक, स्वामी सबको मार डाला है। कबीर के समान कबीर की माया भी शाक्तों को नहीं छोड़ती, किन्तु वही माया हरि-भक्तों की दासी बनकर रह जाती है ।[2] कबीर ने यहां मुनि, पीर, योगी, सेवक, वेदाभ्यासी आदि को किस आधार पर हरि-भक्तों की श्रेणी से अलग कर दिया, यह स्पष्ट नहीं । मान, सम्मान, जप, तप, योग, जल, थल, आकाश, माता-पिता सब कुछ माया हैं । सभी प्रकार से प्रयत्न करने पर भी माया से छुटकारा नहीं मिलता । 'गुरुग्रंथ साहिब' के अनुसार मछली पानी में माया द्वारा फंसायी गयी है, पतंग दीपक के प्रति माया के कारण ही आकृष्ट होता है तथा बंदर,

---

१. निरगुन सरगुन भेद में, भरम रह्यौ संसार ।
परिपूरन सिव सक्ति प्रभु, कौ लख अलख बिचार ।।
- अक्षर अनन्य की साखी, २८१

२. तू माया रघुनाथ की खेलण चढ़ी अहेड़ै ।
चतुर चिकारे चुणि चुणि मारे कोइ न छोड्या नेड़ै ।
मुनियर पीर डिगंबर मारे जतन करंता जोगी ।
जंगल महि के जंगम मारे तूँर फिरै बलबन्ती ।
बेद पढ़ंता ब्राह्मण मारा सेवा करंता स्वामी ।
अरथ करंता मिसर पछाड्या तूँर फिरै मैं मंती ।
साषित कै तू हरता करता हरि भगतन कै चेरी ।
दास कबीर राम कै सरनै ज्यूं लागो त्यूँ तोरी ।।
—कबीर-ग्रन्थावली, १८७

चीता, कुत्ते, सियार सभी माया में फँसे हुए हैं।[1] इस प्रकार के कथनों से माया के प्रति संतों की विचारधारा का संकेत अवश्य मिल जाता है, किन्तु इसे तात्विक निरूपण मानना कठिन ही है। जल से बाहर निकाले जाने पर मछली माया से मुक्त नहीं हो जाती तथा बंदर, कुत्ता, सियार के माया में फँसे रहने की बात कहना भी फिजूल ही है। कबीर ने माया को 'डाइन' के रूप में मानकर उसके पांच पुत्रों का संकेत किया है।[2] आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के मतानुसार काम,क्रोध,मोह,मद,मत्सर का ही कबीर ने पांच माया-पुत्रों के रूप में उल्लेख किया है।[3] सच तो यह है कि कबीर आदि संतों ने माया को मिथ्या तो माना, किन्तु उसके मिथ्यात्व के रहस्य को समझा ही नहीं था। जब वे उसके स्थूल रूप की चर्चा करते हैं, तब धन-संपत्ति, महल-बावड़ी, हाथी-घोड़ा को ही माया मानते हैं[4] और मृत्यु के पश्चात् भाई-बन्धु तथा धन-संपत्ति के छूट जाने को ही कदाचित् उन्होंने माया का मिथ्यात्व समझा था।[5] संत रैदास ने भी माया के सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। वे कहते हैं कि ऊंचे भवन, सालि, रसोई एक घड़ी के लिए भी नहीं टिक सके। लोगों के शरीर घास की भांति जलकर मिट्टी में मिल गये और भाई-बन्धु किसी ने भी साथ न दिया, यहां तक कि पत्नी भी भूत-भूत कहकर भाग खड़ी हुई। इस माया ने समस्त संसार को लूट लिया, किन्तु मैं राम नाम का सहारा लेकर जिस किसी प्रकार उसके चंगुल से बच निकला। श्री सुन्दरदास जी से इस सम्बन्ध में अवश्य कुछ आशा की जा सकती थी, किन्तु उन्होंने भी कबीर के स्वरों में ही माया का निरूपण किया। माया को वे भी हाथी-घोड़ा, राजा-रानी, पति-पत्नी, सोने-जागने, आगे-पीछे सभी के समान

---

१. गुरुग्रन्थ साहिब, पद १३, पृष्ठ ११६१

२. इक डाइनि मेरे मन में बसै रे, नित उठि मेरे जिय कौं डसै रे।
या डाइन्य के लरिका पांच रे, निस दिन मोहि नचावै नाच रे॥
—कबीर-ग्रन्थावली, पद २३६

३. उत्तरी भारत की संत-परम्परा।

४. काहे कूँ माया दुख करि जोरी,
हाथि चून गज पांच पछेवरी।
नां को बंध न भाई साथी, बांधै रहै तुरंगम हाथी।
मँड़ी महल बावड़ी, छाजा, छांड़ि गये सब भूपति राजा।
कहै कबीर राम ल्यौ लाई, धरी रही माया काहू खाई॥
—वही, पद १००

५. अनेक जतन करि गाड़ि दुराई, काहू सांची काहू खाई।
तिल तिल करि यहु माया जोरी, चलती बेर तिणां ज्यूं तोरी।
—वही, पद १०१

मिथ्या मानते हैं।[1] उस मिथ्या सर्पिणी ने समस्त संसार को खा लिया है। लोग जीवन भर अथक परिश्रम करके 'माया' का संचय करते हैं, किन्तु अन्त में वह भी अन्य नाशवान् वस्तुओं के समान साथ छोड़ देती है। इसके साथ ही जब संतों ने माया का दार्शनिक दृष्टि से निरूपण करना चाहा, तब उनके विचार और भी विचित्र और अटपटे प्रतीत होते हैं। कबीर की माया 'हड़हड़' करके हँसती है, पागल होकर आड़ी-तिरछी फिरती है तथा च्यौं-च्यौं, म्यौं-म्यौं करती है।[2] इस प्रकार संतों ने माया का मात्र मायावी निरूपण ही किया।

'अक्षर अनन्य' ने ब्रह्म और माया में अभेद स्वीकार करते हुए केवल विश्व-वैचित्र्य को ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति-शक्ति अथवा माया-शक्ति का परिणाम माना। मिट्टी और भूमि, पानी और समुद्र तथा दीपक और उसकी ज्वाला के समान ही ब्रह्म और माया में कोई भेद नहीं। शिव-शक्ति-तत्व ही निर्गुण-सगुण, शून्य-ज्योति, ईश्वर-जीव और माया के रूप में सर्वत्र व्याप्त है। हरि, हर, ब्रह्मा की क्रमशः स्थिति, संहार तथा सृजन-शक्ति एवं अन्य प्राणियों का स्वभाव-वैचित्र्य माया-शक्ति के कारण है और इसी के परिणामस्वरूप जगत् में भिन्नता दिखाई देती है। शाक्त दर्शन के तत्ववाद के अनुसार पंचतत्व, तन्मात्राएँ, मन, चित्त, बुद्धि, अहंकार, इंद्रियां आदि सभी कुछ माया का विस्तार हैं। सर्वव्यापक परमात्म-तत्व माया-शक्ति के साथ अभेद-रूप से स्थित रहकर भी उससे परे रहता है और इसी का 'अक्षर अनन्य' ने भी प्रतिपादन किया है। इसके अतिरिक्त वेदान्त-प्रतिपादित माया के मिथ्यात्व का 'अक्षर अनन्य' ने 'विवेक तरंग' में जहां वर्णन किया है, वहां पर भी उन्होंने हाथी-घोड़ा, धन-सम्पत्ति-जैसी ऊपरी और उथली बातों की चर्चा नहीं की है। दृश्य-जगत् में गुण-कर्म के कारण प्रतीत होते हुए भेद को मिथ्या मानकर केवल एक चेतन तत्त्व की सर्व-व्यापकता की अनुभूति ही माया का अन्त है। आशा-तृष्णा-रूपी माया के खण्डन हेतु कबीर ईश्वर के चरणों में गिरकर उससे प्रार्थना करते हैं,[3] किन्तु 'अक्षर अनन्य' भेद-बुद्धि माया की समाप्ति चित्-रूप सर्वव्यापक परमतत्व के ज्ञान के द्वारा ही मानते हैं।

'अक्षर अनन्य' के साधना-सिद्धान्तों का विवेचन करते समय संकेत किया जा चुका है कि वे भक्तों के भिक्षुक, आर्त, जिज्ञासु तथा निष्काम, चार प्रकार स्वीकार

---

१. सुन्दर विलास
२. कबीर-ग्रन्थावली, पद १०६
३. जे बैरागी श्रास पियासी, तिनकी माया कदे न नासी।
कहै कबीर मैं दास तुम्हारा, माया खंडन करहु हमारा॥
-संत-सुधा-सार, पृ० ७२

करते थे । यदि इसी आधार पर विचार किया जाय, तो संत-परम्परा के प्रायः समस्त संत भिक्षुक अथवा आर्त दो ही प्रकार की स्थितियों में दिखाई देते हैं । ज्ञानयोग-साधना में भेद-बुद्धि की समाप्ति तथा चित्-रूप आत्म-तत्व का बोध ही साध्य है । मृत्यु के अनन्तर अस्थियों को लकड़ी की भांति, केशों को घास के समान तथा पूरे शरीर को जलता हुआ देखकर कबीर विश्व-जीवन से उदास हो गये थे ।[1] उन्हें इस विचार से भी सम्भवतः परेशानी होती थी कि मिट्टी को अपने पैरों से रौंदनेवाले कुम्हार का शरीर भी एक दिन मिट्टी में ही मिल जाता है और माली प्रतिदिन खिली हुई कलियों को तोड़ लेता है । आजकल अथवा दो-चार दिन पश्चात् मर जाने तथा शरीर के जल जाने पर उसी स्थान पर घास उग आती है तथा पशु चरा करते हैं ।[2] इन्हीं सब दुखों ने कबीर के हृदय में ईश्वर के दर्शनों की तड़प उत्पन्न कर दी थी ।[3] वे यह जानते थे कि विश्व-जीवन के इन समस्त दुखों तथा त्रितापों के शमन की सामर्थ्य ईश्वर के अतिरिक्त किसी में नहीं[4], अतएव अत्यन्त आर्त भाव से क्षमा मांगते हुए उन्होंने उसकी कृपा की कामना की थी ।[5] संत रैदास स्वयं को कुएं में पड़े हुए ऐसे दादुर के समान मानते हैं, जिसे देश-विदेश का कुछ भी ज्ञान नहीं । उनका मन विषयों में ऐसा उलझ गया है कि उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता ।[6] इस संसार में बन्धु-बान्धव, पुत्र आदि कोई किसी का साथी नहीं तथा मरने के बाद वही बड़ी निर्ममता के साथ जला देते हैं । [7] काम, क्रोध, लोभ आदि राग-द्वेषों से भी वे

---

१. हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी, केस जलै ज्यूँ घास ।
सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास ।।
· कबीर-ग्रन्थावली, पृ० २२

२. आज कि काल्हि कि पैंचे दिन, जंगल होइगा बास ।
ऊपरि ऊपरि फिरहिंगे, ढोर चरंदे घास ।।
–संत-सुधा-सार, पृ० १३३

३. कहत कबीर हमकौं दुख भारी, बिन दरसन क्यूँ जीवहि मुरारी ।
–वही, पृ० ८०

४. तुम से बैद न हम से रोगी, उपजी बिथा कैसै जीवै बियोगी ।
–वही, पृ० ८०

५. देह छता तुम्ह मिलहु कृपा करि आरतिवंत कबीर ।
- वही, पृ० ८०

६. कूप पर्‌यो जैसै दादिरा कछु देसु बिदेसु न बूझ ।
ऐसे मेरा मनु बिख्या विमोह्या, कछु आरापारु न सूझ ।।
- वही, पृ० १८८

७. माया के भ्रम कहा भूल्यौ जाहुगे कर झारि ।
देखि धौं इहां कौन तेरौ सगा सुत नहिं नारि ।।
तोरि उतंग सब दूरि करिहैं देहिगे तन जारि ।
प्रान गये कहौ कौन तेरा, देखि सोचि बिचारि ।। - वही, पृ० १९४

परेशान थे तथा समस्त देवताओं, ऋषि-मुनियों में यम-पाश से मुक्ति प्रदान की सामर्थ्य न देखकर ही उन्होंने ईश्वर का आश्रय लिया था।[१] यहां यह भी संकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि रैदास अन्य संतों की अपेक्षा जिज्ञासु के रूप में अधिक दिखाई देते हैं। कबीर की भांति नाशवान् शरीर का अन्त देखने के कारण वे उदास नहीं होते, अपितु उनके उदास होने का कारण यही है कि वे यज्ञ, योग, गुण कुछ भी नहीं जानते।[२] वे सीधे शब्दों में दुख दूर कर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति देने की प्रार्थना नहीं करते, प्रत्युत 'सुमति' की ही कामना करते हैं।[३] अपनी तपन के शान्त न होने पर भी ईश्वर से ताप-शमन हेतु वे निवेदन नहीं करते, अपितु 'मर्म' पाने के लिए ही अधिक आकुल हैं।[४] उन्हें इस बात का विश्वास रहा है कि मर्म प्राप्त कर लेने पर वे निरंजन का ध्यान कर सकेंगे। दादू दयाल ने यह अनुभव किया था कि संसार में सभी व्यक्ति केवल सुख के साथी हैं और दुख पड़ने पर ईश्वर के अतिरिक्त कोई सहारा नहीं देता, इसी व्यथा से परेशान होकर उन्होंने ईश्वर का सहारा लिया था।[५] गरीबदास उसे पतितपावन, भक्त-वत्सल मानकर उससे दुख दूर कर सुख देने की आशा करते हैं।[६] संत वषनाजी चौरासी योनियों में भटकने के पश्चात् कहीं सहारा न मिलने के कारण ही अनाथ के रूप में उसकी शरण में आते हैं।[७] ज्ञानयोगी साधक होते हुए भी संतों ने मृत्यु का, नाशवान् शरीर का, भाई-बंधु, पुत्र-पत्नी किसी के साथ न चलने का तथा अन्य सांसारिक व्यथा-व्याधियों का जो

---

१. **जन कौ तारि तारि बाप रमइया, कठिन फंद पर्‌यौ पंच जमइया।**
   तुम बिन सकल देव मुनि ढूँढूं, कहूँ न पाऊं जमपास छुड़इया।
   हम से दीन दयाल न तुम से, चरन-सरन रैंदास चमइया।
   —संत-सुधा-सार, पृ० १६५

२. **राम भगत कौ जन न कहाऊं सेवा करूं न दासा।**
   जोग जग्य गुन कछू न जानूँ, तातैं रहूँ उदासा॥ —वही, पृ० १८६

३. **करहु कृपा भ्रम चूकई मैं, सुमति देहु समझाय।** —वही, पृ० १८८

४. **कहि रैंदास मरम जो पाऊं, देव निरंजन सत करि ध्याऊं।**
   —वही, पृ० १६२

५. **सुख का साथी जगत सब, दुख का नाहीं कोइ।**
   दुख का साथी सांइयां, दादू सतगुर होइ॥ —वही, पृ० ४५३

६. **गरीबदास आस तुम बिन कौन पूरे,**
   एकमेक सुख दीजें दरद निवारिये। —वही, पृ० ५०७

७. **भरमतो भरमतो तुम्हारै सरणैं आयो।**
   दीन दयाल पतित पावन एक तूं ही बतायो।
   चौरासी लख भरमतो श्रायौ तुम्हारौ घर नीठि पायो।
   श्रनाथ कौ नाथ एक तूं ही जु बतायो। —वही, पृ० ५५०

वीभत्स वर्णन किया है, उसे किसी भी दशा में ज्ञानयोग-साधना के अनुरूप नहीं कहा जा सकता।

'अक्षर अनन्य' ने उपर्युक्त स्थितियों को पार कर पूर्णरूपेण निष्काम भाव की स्थिति प्राप्त की थी। ब्रह्म और माया में अभेद स्वीकार करने की दशा में उनके सामने माया द्वारा किसी प्रकार की परेशानी उत्पन्न किये जाने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। विद्या की साधना द्वारा अविद्या अथवा त्रिगुणात्मिका माया के समाप्त होने तथा भेद-बुद्धि के सर्वथा तिरोहित हो जाने के परिणामस्वरूप न तो काम-क्रोधादि राग-द्वेषों के कारण ही उन्हें किसी प्रकार की परेशानी हुई थी, और न जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होने के लिए भटकना पड़ा था। मुक्ति को भी बन्धन के समान मानकर उसकी इच्छा और आशा का भी उन्होंने परित्याग कर दिया था। यही कारण है कि अन्य संतों के समान उनको सगे-सम्बन्धियों का साथ न देने के खिलाफ कोई शिकायत नहीं रही, नाशवान् शरीर के अन्त तथा सांसारिक भय-व्याधियों ने अथवा मृत्यु के भय ने किसी भी प्रकार उनको विचलित नहीं किया और इस प्रकार की बातों को उनकी लेखनी से एक भी शब्द मिलने तक की गुंजाइश नहीं हो सकी। ज्ञानयोगी अवधूत के रूप में स्वयं को कुटीवासी, फलाफल के कर्मों से निर्लिप्त, देव-अदेव के प्रति समभाव तथा दीन-भिखारी की स्थिति से अलग मानकर किस प्रकार उन्होंने स्वर्ग, अर्थ, धर्म, काम, मुक्ति सबको ठुकरा दिया था, इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है।

'भक्त-वत्सल' शब्द का प्रयोग पूरे अनन्य-साहित्य में केवल एक बार मिलता है तथा पतित-पावन, दुष्ट-दलन, असुर-संहारक-जैसे शब्दों के प्रयोग की उन्हें आवश्यकता ही नहीं पड़ी। 'अक्षर अनन्य' का शिव-शक्ति-रूप ईश्वर राम-रावण, कृष्ण-कंस दोनों में समान रूप से विद्यमान है; एक ही तत्व के रूप होने के कारण देव-दानव में उनके लिए कोई अन्तर नहीं तथा राम-कृष्ण द्वारा रावण और कंस का वध एवं प्राणियों का जन्म-मरण, काम, क्रोध, लोभ आदि राग-द्वेष सब त्रिगुणात्मिका प्रकृति-शक्ति अथवा अविद्या के परिणाम हैं। किसी देवता के प्रति अनुरक्त अथवा किसी असुर-रूप से विरक्त होने की स्थिति को भी उन्होंने पार कर लिया था और एक की प्रतिष्ठापना तथा दूसरे की उखाड़-पछाड़ में उनका लेशमात्र भी विश्वास न था। हरि-हर ब्रह्मा का कर्तृत्व स्वभाव, सूर्य की उष्णता, चन्द्रमा की शीतलता प्रकृति की भिन्नता के कारण है तथा प्रकृति-प्रभाव के कारण ही अलग-अलग व्यक्ति ज्ञान, ध्यान, भक्ति, योग, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि में उलझ जाते हैं। कर्म-गुणों में वैविध्य होने पर भी सबमें एक ही चित्-तत्व विद्यमान है। गुण-दोषों के कारण वैविध्य की प्रतीति एवं उसमें आस्था ही अज्ञान है तथा सब में एक ब्रह्म को देखना ही ज्ञानी

पुरुष अथवा ज्ञानयोगी का लक्षण है। पुण्य और पाप दोनों को अविद्यामूलक व्यर्थ समझकर उन्होंने अन्य संतों के समान अपने को पातकी मानकर उद्धार के लिए आर्त भिखारी की भांति गिड़गिड़ाते हुए किसी देवता के सामने हाथ नहीं फैलाये। किसी राजा अथवा किसी सम्पन्न व्यक्ति से कुछ मांगने की तो बात ही नहीं, हरि से मांगना भी उन्हें हीनता का द्योतक प्रतीत हुआ था।[1] इतना ही नहीं, आत्म-बोध को ही साध्य मानने की स्थिति में आराध्य देवता को प्रणाम करना भी उन्होंने दैन्य भाव की अभिव्यक्ति माना।[2] वे किसी के मित्र अथवा शत्रु नहीं थे, किसी के स्वामी अथवा दास नहीं थे; उन्हें किसी जाति-पांति से कोई मतलब न था तथा प्राप्ति की आशा में किसी के द्वार जाकर हाथ फैलाने से उन्हें कोई प्रयोजन न था।[3] उन्होंने केवल भुक्ति से ही नहीं, मुक्ति से भी सन्यास लिया था तथा 'निर्भय खेल' ही उनकी साधना थी।[4] अमृत फल प्राप्त होने पर शाक-भाजी दुर्लभ हो जाती है; द्रव्य-आभूषण उपलब्ध होने पर कम्बल-वसन छूट जाते हैं; उच्च सिंहासन पर आसीन होते ही सेवकों के प्रति सद्भावना समाप्त हो जाती है; राजा की प्रशंसा करते समय निर्धन-पीड़ितों की निन्दा होती है; अतएव इन समस्त द्वैधी भावों को हेय मानकर सबका परित्याग कर शब्द-साधना में ही वे लीन हो गये थे। दु:ख-व्याधियों में दोष मानकर सुख के प्रति अनुराग, निन्दकों के प्रति द्वेष-भाव तथा प्रशंसकों के प्रति सद्भाव, किसी अन्य के प्रति पूजन-अर्चन अथवा स्वयं अपनी पूजा कराना, प्राप्ति के प्रति हर्ष तथा हानि के प्रति विषाद, जीवन-मरण के सम्बन्ध में सोच-विचार, सभी को 'अक्षर अनन्य' फकीरी

---

१. 'अक्षर अनन्य' देखौ मंगिबै की हीनताई,
जदपि करोड़ मांग आनै धन धामा कौ।
हरिही पै मांगै हरुवाई भई रिषिनि में,
दारिदी खिताब परौ अजहूं सुदामा कौ॥
—स्फुट पद्य

२. नाचिबौ न प्रेम नहीं बांचिबे सौं प्रेम कहैं,
पूजिबौ न प्रेम न प्रनाम जु है दीनता॥
—स्फुट पद्य

३. न काहू के सत्रु न काहू के मित्र, न काहू के नाथ न चक्कर हैं।
नहिं काहू सौं जत्ति न काहू सौं पांति, न काहू सौं भांति बितक्कर हैं।
नहिं काहू कै द्वारै सौं द्वारै कछू, अपने मत में परिपक्कर हैं।
निज फक्कर कृत्य 'अनन्य' भनै, हम फक्कर नाथ के फक्कर हैं॥
—स्फुट पद्य

४. सोच कहा जब फक्करता लई, लोक कहा जब ग्यान गहा है।
बेद कहा जब भेद लह्यो निज, भेष कहा जब तत्व लहा है।
मुक्ति कहा जब भक्ति भई, गुरु सब्द तनै मन लागि रहा है।
निर्भय खेल 'अनन्य' भनै, जब लागि गई तब लाज कहा है॥ —स्फुट पद्य

की फजीहत मानकर पूर्ण निष्काम भाव की स्थिति को पहुंचे हुए थे ।[1] उनके साहित्य में न तो मायाजनित भ्रम-विषाद की कोई शिकायत है, न मृत्यु अथवा अस्थि, केश, शरीर के जलने का वीभत्स वर्णन है, न दीनता से युक्त गिड़गिड़ाहट है, न असहाय दास की विवशता है और कहीं भी ऐसे विचार को उन्होंने प्रकट नहीं किया, जिससे वे पूर्ण निष्काम ज्ञानयोगी की स्थिति से विचलित हुए प्रतीत होते हों।

डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का मत है कि अधिकांश संत निर्विकल्प भावना तक पहुंच ही नहीं पाये थे और कबीर का भी अपने को निर्गुणी कहना केवल नकारात्मक प्रणाली का अनुसरण है ।[2] संत-साहित्य के अन्य समीक्षकों ने भी उनके सम्बन्ध में इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं और वे प्रायः सत्य भी हैं; किन्तु 'अक्षर अनन्य' के सम्बन्ध में इस प्रकार की शंका करने की लेश-मात्र भी गुंजाइश नहीं। वे सभी से हार मानकर अलग हो गये थे, जिससे किसी के प्रति बैर अथवा प्रीति की भावना बनाये रखने की उनकी आवश्यकता ही समाप्त हो गयी थी। उन्होंने मन पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, जिसके परिणामस्वरूप जीतने हेतु कहीं कुछ भी उनके लिए शेष न रहा था। परमतत्व का बोध होने तक ही ज्ञान की सीमा है और उन्होंने उसका भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया था, जिससे कोई भी वस्तु ऐसी न बची थी, जिसके सम्बन्ध में जानकारी की उन्हें अपेक्षा रही हो। समता-समाधि की स्थिति में पहुंचकर नीति-अनीति, पाप-पुण्य, मुक्ति-भुक्ति सब कुछ उनके पीछे, बहुत दूर छूट गये थे ।[3]

---

१. दुखनि कौं दोष अरु सुखनि सौं अनुराग,
निन्दक सौं बैर अरु बन्दक सौं बीरी है।
पूजिबे कौ भरम पुजाइबे की साध जौलौं,
पाइबे कौ हरष गये की दिलगीरी है।
जीवे की है आस और मरिबे की संक जौलौं,
बिना भगवतै सुभासुभ मानि जीरी है।
'अक्षर अनन्य' एती फटी ना फिकिर जौलौं,
तौलौं न फुरै बाबा फजियत फकीरी है॥ —स्फुट पद्य

२. हिन्दी-काव्य में निर्गुण-सम्प्रदाय ।

३. हारि हम बैठे कहा हारे कौं हरावै कोउ,
सबही सौं हारे हम बैर है न प्रीति है।
जीति हम बैठे और जीतिबे रह्यो न कोउ,
मनही के जीतै और सब जग जीति है।
जानि हम बैठे कछू जानिबे रह्यौ न और,
एक ही के जानिबे लौ जानिबे की रीति है।
'अक्षर अनन्य' गुरु अक्षर अधार धारि,
समता समाधि साधि नीति न अनीति है॥ —अष्टांग योग

जहाँ तक व्यावहारिक साधना का सम्बन्ध है, 'अक्षर अनन्य' के अतिरिक्त किसी भी संत के विचार इस प्रकार स्पष्ट नहीं। निर्गुण, सगुण, भक्ति, ज्ञान, अष्टांग-योग, सहज-साधना, नाम-स्मरण, सदाचार, भजन-पूजन, वैराग्य आदि के सम्बन्ध में इन सन्तों के दिमाग में जब जैसा भी विचार आया, उसे मानो बिना सैद्धान्तिक दृष्टि से सोचे-विचारे ही उन्होंने व्यक्त कर दिया। बाह्य आचार-विधानों को छोड़कर, जिनका लगभग सभी ने खण्डन ही किया है, प्रायः समस्त साधना-पद्धतियों का खण्डन तथा मण्डन दोनों ही इनकी वाणी में उपलब्ध हो जाता है और बड़ी खींचातानी करने के पश्चात् कठिनाई से ही इनकी साधना-पद्धति और सिद्धान्तों के निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। स्वयं कबीर को एक ओर भक्त मानने की परम्परा चली आ रही है और दूसरी ओर तीर्थाटन, व्रतोद्यापन, पूजन-अर्चन आदि का खण्डन करने के कारण उन्हें निर्गुणपंथी भी माना जाता है। उन्होंने ब्रह्म की सर्वव्यापकता, योग-क्रियाओं, सींगी-सबदी आदि का भी वर्णन किया है, अतएव उन्हें वेदान्ती, योगी तथा नाथपंथी भी कहा जाता है। उनको समाज-सुधारक मानने के तो अनेक आधार उनकी वाणी में उपलब्ध ही हैं; प्रेम और विरह-वर्णन के कारण उनके सूफी-मतावलम्बी होने का भी विश्वास किया जाता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार इनके मत में कोई मौलिकता नहीं दीख पड़ती और न ऐसी कोई भी बात लक्षित होती है, जो इनकी ओर से हमारे लिए एक देन कही जा सके। श्री चतुर्वेदी जी ने आगे यह भी कहा है कि 'कबीर साहब की रचनाओं के अन्तर्गत विविध प्रकार के सिद्धान्तों के उदाहरण अवश्य बिखरे पड़े हैं और उनमें बाह्यतः दीख पड़नेवाली विभिन्नताओं के कारण इनके वास्तविक मत के विषय में सहसा निर्णय कर लेना सरल नहीं।' केवल रैदास ही एक ऐसे सन्त हैं, जिनकी खण्डन में विशेष रुचि दिखाई नहीं देती तथा वे अन्य सन्तों के समान इधर-उधर की बातें भी नहीं करते, अन्यथा खण्डन के प्रति समस्त सन्तों की प्रवृत्ति इतनी अधिक तीव्र थी कि साधना और धर्माचरण के नाम पर हिन्दू और मुसलमानों में जो कुछ भी उन्हें स्थूल दृष्टि से दिखाई दिया, उसी को उन्होंने पाखण्ड घोषित कर दिया। उन्हें इस बात का ध्यान ही नहीं रहा कि क्रियात्मक साधना से विरहित ज्ञान अथवा ज्ञान-चर्चा भी आडम्बर अथवा थोथी बकवास हो सकती है। कबीर-वाणी का अधिकांश विधिमूलक न होकर निषेधात्मक है। उन्होंने ज्ञान, योग, कर्म, सन्यास, वैराग्य किसी भी साधना-पद्धति का स्पष्ट समर्थन नहीं किया। ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करते समय इन सन्तों को भक्ति की उपादेयता विस्मृत रही तथा वैराग्य के समर्थन के अवसर पर वे ज्ञान के महत्त्व को भूल बैठते थे। कबीर अपनी अद्वैतानुभूति की स्थिति का उल्लेख करते हुए स्वयं को आराध्य से अलग नहीं मानते तथा प्रियतम से वियुक्त साधकों का उसकी खोज में

दर-बदर भटकने का मजाक उड़ाते हैं,[१] तो दूसरी ओर विरह की अनुभूति में वहीं रो पड़ते हैं और मृत्यु का वरण करने हेतु प्रस्तुत हो जाते हैं।[२] आगम तथा निगम में अभेद स्वीकार करनेवाले व्यक्तियों के प्रति यद्यपि कबीर ने अपनी आस्था प्रकट की है[3], किन्तु शाक्तों को जिस प्रकार से भद्दी गालियाँ उन्होंने दी हैं, उससे स्पष्ट है कि आगम-निगम किसी के सम्बन्ध में वे कुछ जानते ही न थे। यदि वे केवल वैष्णव सन्तों की भूरि-भूरि प्रशंसा करके ही संतुष्ट हो गये होते, तो भी उनके समत्व-ज्ञान के प्रति शंका न की जाती, किन्तु शाक्तों को उन्होंने कुत्ते का भाई कहा[४] तथा शूकर को भी शाक्त से भला माना।[५]

ईश्वर मरता है, तो हम भी मरेंगे और यदि ईश्वर नहीं मरता, तो हम क्यों मरेंगे-जैसे वाक्य कहकर उन्होंने स्वयं के आत्मबोध-प्राप्त अविनाशी ब्रह्म के साथ एकाकार होने का संकेत किया है, किन्तु वही कबीर अपने को राम का गुलाम, और राम की कुतिया तक मानते हैं। वे स्वयं को एक ऐसी मछली के समान मानते हैं, जो राम-रूपी जलनिधि में रहकर भी पानी के बिना मरी जा रही है। वे राम-रूपी पिंजड़े में बन्द तोते के समान दर्शनों के लिए तड़पते हैं।[६] राम के समान समर्थ दाता और स्वयं के समान पापी उन्हें कोई दिखाई नहीं दिया।[७] सहज-साधना, सहज-

---

१. जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर बदर फिरते।
हमारा यार है हममें, हमन को इन्तजारी क्या।
न पल बिछुड़े पिया हमसे न हम बिछुड़े पियारे से।
उन्हीं से नेह लागी है, हमन को बेकरारी क्या॥
— कबीर की शब्दावली

२. कै बिरहिण कूं मींच दै, कै आपा दिखलाइ।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सह्या न जाइ॥
— कबीर-ग्रंथावली

३. आगम निगम एक करि जाना।
ते मनुआ मन माँहि समाना॥
— कबीर-ग्रंथावली

४. साषित सुनहा दूनो भाई, वो नींदै वो भौंकत जाई॥
— कबीर-ग्रंथावली

५. साकत तें सूकर भला, सूचा राखै गांव।
बूढ़ा साषत बापुड़ा, बैसि संभरणी नाव॥
— कबीर-ग्रंथावली

६. तुम्ह जलनिधि मैं जलकर मीना, जल में रहौं जलहिं बिन पीना।
तुम्ह प्यंजरा मैं सुवना तोरा, दरसन देहु भाग बड़ मोरा॥
— सन्त-सुधा-सार

७. कहै कबीर सुनि केसवा, तू सकल बियापी।
तुम समानि दाता नहीं, हमसे नहिं पापी॥
— कबीर-ग्रंथावली

समाधि और मध्यम-मार्ग की चर्चा करने पर भी जप, तप, वैराग्य की कठोर शब्दों में निन्दा करते हुए भी, कबीर की यह मान्यता रही है कि ईश्वर की प्राप्ति सुखमय जीवन व्यतीत करते हुए सम्भव नहीं। कदाचित् उन्होंने सुन रखा होगा कि पूर्ववर्ती संतों ने भी कष्ट सहन करने के पश्चात् ही ईश्वर को प्राप्त किया था, अतएव वे स्पष्ट शब्दों में हँसना-खेलना छोड़कर रोने-चीखने का निर्देश देते हैं।[१] इसकी अपेक्षा भी विचित्रतर बात तो यह कि वे परमानन्द ईश्वर का दर्शन इस शरीर से नहीं, प्रत्युत मृत्यु के अनन्तर ही सम्भव मानते हैं। मृत्यु का भय उन्हें इसी विश्वास के कारण कष्टकर नहीं है कि मरने पर वे उस ईश्वर को देख सकेंगे।[२] जिस गोविन्द को पहिचानकर उसके साथ तदाकार हो जाने की बात वे करते हैं, उसी से अत्यधिक डरते भी हैं।[3] कबीर के अनुसार हरि को रिझाने का मार्ग जप-तप नहीं, प्रत्युत दया-धर्म का पालन करते हुए जग से उदास रहना है।

नानक जिस सत्ता में विश्वास करते हैं, उसका वर्णन करने में वे स्वयं को असमर्थ मानकर उसकी महिमा उसी पर छोड़ देते हैं। निन्दकों और विश्वासघातियों को बाढ़ बहा ले जायगी[४]-जैसी उनकी आस्थाओं का सिद्धान्त अथवा साधना से कोई सम्बन्ध नहीं। बिना तत्व-ज्ञान के स्तवन, पदों के गायन, मुल्ला के मसजिद में रहने, कनफटे जोगी बन जाने, गुरु और पीर बनकर भीख मांगने आदि सबको व्यर्थ मानकर नानक ने पसीने की कमाई खाने को ही सही रास्ता माना।[५] दादू दयाल के मतानुसार गोविन्द के गुणों का गान करनेवाला, विषय-त्यागी, निरहंकारी, सत्यभाषी, पर-निन्दा से दूर, अवगुणों को त्यागकर गुणों को ग्रहण करनेवाला, निर्बैरी तथा सबसे निर्लिप्त साधु ही साधु-शिरोमणि है। नाम-स्मरण, प्रपत्ति तथा

---

१. हँसि हँसि कंत न पाइये, जिनि पाया तिनि रोइ।
जो हांसै ही हरि मिलै, तो नहीं दुहागिनि कोइ।
कबीर हंसणा दूरि करि, करि रोवण सौं चित्त।
बिन रोयां क्यूं पाइये, प्रेम पियारा मित्त॥ —कबीर-ग्रंथावली

२. जिस मरने थे जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहूँ कब देखिहूं, पूरन परमानन्द॥ —सन्त-सुधा-सार

३. गोब्यंदे तुम थैं डरपों भारी। —संत-सुधा-सार

४. निन्दक लाइतवार मिले सड़वाणीए।
गुरु मखि सचि समाइ सु दरगह जाणीए॥ —संत-सुधा-सार

५. गियान बिहूणा गावै गीत। मुखै मुलाँ धरे मसीत।
मखटू होइ कै केन पड़ाएं। पकरु करे होरु जाति गंवाए।
गुरु पीर सदाए मंगणा जाइ। ताके भूलि न लागिए पाइ।
घालि खाइ किछु हथउ देइ। नानक राहु पछाड़हि सोइ॥
—सन्त-सुधा-सार

गर्व न करने को आवश्यक मानते हुए घर-परिवार से अलग, परमेश्वर से डरकर रहने की ही उन्होंने सलाह दी है। ईश्वर हमारे कर्मों का लेखा-जोखा लेता है; उसमें उद्धार करने और मारने की शक्ति है, इसलिये गर्व का परित्याग कर उससे डरकर रहना ही भला है।[1] दादू दयाल को ब्रह्म के स्थान पर सब को खा जानेवाला काल ही सर्वव्यापक दिखाई दिया था[2] और इस दशा में उनके सामने डरकर चलने के अतिरिक्त कोई मार्ग था भी नहीं। इसी परवशता के कारण वे अपने आराध्य के सम्मुख हार मानकर घुटने टेक देते हैं और मुक्ति अथवा दण्ड सब कुछ उसकी 'खुशी' पर छोड़ देते हैं।[3] पाप और पाखण्ड की निन्दा करने के प्रवृत्ति-प्रवाह में रज्जबजी ने चौके में दस चींटियों के मारनेवाले को ही महान् पातकी कह दिया। यद्यपि भक्ति में उनकी आस्था है, किन्तु उसे वे साधक की प्रवृत्ति का परिणाम न मानकर लड़की की भाँति मानते हैं, जिसे उसका पिता (ईश्वर) जहां चाहे, वहां भेज देता है।[४] रज्जबजी को सम्भवतः इस बात का ध्यान ही न रहा कि समय बदलने पर लड़कियाँ भी स्वेच्छा और पिता की आज्ञा और इच्छा के विरुद्ध जहां चाहें, वहां जा सकेंगी और उस दशा में भक्ति के लिए प्रयुक्त उनकी उपमा गलत हो जायगी।

कनक और कामिनी की निन्दा करते हुए उनका परित्याग मानो संतों की साधना का अनिवार्य अंग रहा है, किन्तु 'अक्षर अनन्य' ने नारी और गृह-त्याग का सर्वत्र विरोध ही किया। परवर्ती संतों पर कबीर का इतना जबर्दस्त प्रभाव पड़ा था कि उनके अपने चिन्तन की मौलिकता ही प्रायः समाप्त हो गयी थी और विचारों का एक ही प्रवाह थोड़े-बहुत अन्तर के साथ लगातार लम्बी अवधि तक चलता रहा। इस परम्परा में केवल 'अक्षर अनन्य' ही एक ऐसे संत हुए, जिन्होंने कबीर आदि

---

१. डरिये रे डरिये परमेसुर थैं डरिये।
लेखा लेवै भरि भरि देवै तार्थं बुरा न करिये रे।
डरिये रे डरिये देखि देखि पग धरिये।
तारे तरिये मारे मरिये तार्थं गर्व न करिये रे॥

—संत-सुधा-सार

२. सत गुरु सबद उलंघि करि, जिनि कोई सिख जाइ।
दादू पग पग काल है, जहां जाइ तहं खाइ॥

—संत-सुधा-सार

३. खुशी तुम्हारी त्यूं करां, हम तौ मानी हारि।
भावे बन्दा बकसिये, भावे गहि करि मारि॥

—संत-सुधा-सार

४. भक्ति जाति कूं क्या करै सुनियो रे भाई।
बेटी सहारे बाप के भेजै तहं जाई॥

—संत-सुधा-सार

पूर्ववर्ती संतों के प्रभाव और महत्त्व को स्वीकार करने से स्पष्ट शब्दों में इनकार कर दिया था। साधना-सिद्धान्तों का विवेचन करते हुए उल्लेख किया जा चुका है कि सिद्धान्त और व्यवहार दोनों के सम्बन्ध में उनके विचार अत्यन्त स्पष्ट और सुलझे हुए हैं। भक्ति और ज्ञान दोनों का उन्होंने जो विवेचन किया, वह समीक्षकों और साधकों, सभी की उलझनों को समाप्त कर देता है। न तो उनका ब्रह्म ही जगत् से दूर गगन-मण्डल में बैठकर एक पहेली बनता है, और न वे साधना के नाम पर शून्य-महल में दीपक जलाने-जैसी ही बात करते हैं। उनका ईश्वर चींटी के नूपुरों की ध्वनि और मुल्ला की अजां, दोनों सुनने में समर्थ है और सुनता भी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो कबीर आदि संतों ने सिद्धान्त और साधना के विषय में सामान्य व्यक्तियों से चलते-फिरते जो कुछ सुना, उसी के आधार पर वे स्वयं को दर्शन का पारंगत समझने लगे थे। तीर्थाटन, व्रत, मूर्ति-पूजन, जप-तप, जाति-पांति, नमाज, रोजा, खतना, गाय, मुर्गा, मुर्गी, वस्त्र, केश आदि स्थूल दृष्टि से दिखाई देने वाली वस्तुएं हैं और इन्हीं सबको देखकर उन्होंने घोषित कर दिया था कि हिन्दुओं की हिन्दुवाई तथा तुरकों की तुरकाई सबके रहस्य को उन्होंने समझ लिया है। ईश्वर को सर्वव्यापक और घट के भीतर ही मानने की बात कम-से-कम इस देश में किसी भी युग में सामान्य व्यक्ति के लिए भी नयी नहीं रही। नाथ-पंथियों के प्रभाव के कारण उस युग में यौगिक साधना का भी प्रचार था तथा भक्ति की अनादि काल से चली आती परम्परा के सम्बन्ध में जो ऊपरी बातें इन संतों ने इधर-उधर सुनीं, उन्हीं को उन्होंने अपनी अटपटी वाणी में व्यक्त कर दिया। विकृत शाक्त-साधना के अनुयायी जो पंच तत्वों — मद्य, मांस, मीन, मुद्रा, मैथुन के प्रत्यक्ष व्यवहार में विश्वास करते थे, उन्हीं को देखकर इन संतों के हृदय में शाक्तों के प्रति घृणा उत्पन्न हुई थी। सामान्य जन की भांति धन-सम्पत्ति को ही इन्होंने माया माना और और सबको मरता हुआ देखकर ही इनके हृदय में संसार को मिथ्या समझने का भाव उत्पन्न हुआ था। यही कारण है कि संत-साहित्य में सभी साधना-पद्धतियों का संकेत एवं केवल सर्वज्ञात सिद्धान्तों की चर्चा ही देखने को मिलती है। यदि इन्होंने निन्दा की, तो केवल ऐसी ऊपरी बातों की, जिनका धर्म और साधना से कोई सम्बन्ध नहीं और समर्थन किया, तो केवल उन्हीं बातों का, जिन्हें सदाचार और सद्व्यवहार के रूप में प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करता है।

कबीर के परवर्ती संतों ने उनके प्रभाव से अभिभूत होकर उनका गुणगान किया है। संत वषना जी के अनुसार ध्रुव-प्रह्लाद, नामदेव तथा कबीर किंचित् भी पाखण्डी न थे और उनकी वाणी वेद तथा भागवत के भाष्य के समान है।[1] उन सबके

---

१. ध्रू पहलाद कबीर नामदेव पाषण्ड कोई न राख्या।
बैठे इकंत नाव निज लीया बेद भागति यूं भाख्या॥ —संत-सुधा-सार

विपरीत 'अक्षर अनन्य' ने कबीर, नानक, दादू, आदि को स्पष्ट शब्दों में पाखण्डी घोषित किया है। उनके अनुसार इन संतों की वाणी और पंथ निरे अशिक्षित गंवारों के पंथ हैं।[१]

डा० रामकुमार वर्मा ने भी स्वीकार किया है कि संत-साहित्य में भाषा की सरलता के अतिरिक्त विचारों का लेशमात्र गाम्भीर्य नहीं। उन्होंने कहा है-'संत-मत का काव्य उच्च कोटि का नहीं है। इस मत की भावना शास्त्र-पद्धति के आधार पर भी नहीं थी, जिससे शिक्षित वर्ग उसकी ओर आकृष्ट होता। हां, जनता के हृदय तक पहुंचाने के लिए भाषा की सरलता उसमें अवश्य थी। संत-मत में एक ही प्रकार के विचारों की आवृत्ति अनेक बार की गयी है, वह भी एक ही प्रकार के शब्दों में; अतएव शिक्षित जन-समुदाय के लिए उसमें कोई विशेष आकर्षण नहीं हो सकता था।'

कबीर आदि संतों के साधना-सिद्धान्तों का ही समझना जब सरल नहीं, तो इस निष्कर्ष पर ही कैसे पहुंचा जा सकता है कि समाज के लिए उन्होंने अमुक मार्ग के अनुसरण का निर्देश दिया था। एक ओर इन संतों की उलझी और अटपटी वाणी है और दूसरी ओर 'अक्षर अनन्य' के स्पष्ट और सुलझे हुए विचार हैं। निस्संकोच रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि तत्व-निरूपण तथा साधना-विषयक सिद्धान्तों को, जिन्हें कबीर आदि संतों ने बुरी प्रकार से उलझा दिया था, सरल और सुलझे रूप में सहज-बोध्य बनाकर समाज के सामने रखने का श्रेय 'अक्षर अनन्य' को है।

उपर्युक्त विचारों के साथ यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि संतों का हृदय अत्यन्त उदार था। उन्होंने बाह्याचारों का पूरी शक्ति के साथ खंडन किया, हिन्दू और मुसलमान दोनों को भटका हुआ कहा, थोथे ज्ञान की निन्दा की, वेद-शास्त्रादि को प्रमाण मानने से इनकार किया, साधना की बाह्य क्रियाओं को पाखण्ड कहा, तीर्थाटन, व्रत, जप, तप सबको सारहीन कहा, तथापि इस सब के पीछे उनका उद्देश्य धर्म का खण्डन करना नहीं, प्रत्युत धर्म की प्रतिष्ठापना ही था। हिन्दू और मुसलमान दोनों को सही रास्ता दिखाने की उनके हृदय में जो बेचैनी थी, वह उनके एक-एक शब्द से छलकती है। तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों, कट्टर धर्मावलम्बियों तथा धर्म

१. 'सु पाखंडी सब जुगनि में चलि आये हैं। जैसे अब कबीरपंथी, दादूपंथी, मोहनपंथी ऐसे-ऐसे के पंथ चलाये हैं ते अपने अपने ग्यान सब कयत हैं। बेद सास्त्रनि की निंदा करत हैं। सु इनके पंथ गई-गवां में अरु गवांरनि में बहुत चलत हैं। जो बेद पुरान नाहीं सुनत जानत, ते इनकी चरचा में आउत हैं।'

— अष्टांग योग

के नाम पर कोरा पाखण्ड रचनेवालों ने उनके हृदय और मस्तिष्क दोनों को ही बुरी प्रकार से झकझोर दिया था। ईश्वर में उनकी अनन्य आस्था थी और उसकी प्राप्ति हेतु अत्यन्त सुगम मार्ग का निर्देश देने हेतु वे बुरी प्रकार से आकुल भी थे। पूर्ण आस्थावान, सरल-हृदय तथा ईश्वर और साधना के प्रति निःशेष रूप से ईमानदार होने के कारण धर्म और साधना की विडम्बना उनके लिए असह्य थी और यही कारण है कि मिथ्याचारी पाखण्डियों के विरुद्ध वे बुरी प्रकार से झल्ला पड़े थे। अलग-अलग पाखण्डियों को भली-बुरी सुनाना भी सम्भव नहीं, अतएव उनके कृत्यों तथा आचार-व्यवहारों को ही पाखण्ड मानकर उसका खण्डन करने का एक-मात्र मार्ग उनके सामने था। इसी आवेश में आकर उन्होंने समस्त उपचार-विधानों की निन्दा कर डाली, जब कि उनका उद्देश्य जप-तप की निन्दा करना नहीं, प्रत्युत मिथ्याचारपूर्ण भावना के साथ जप-तप की निंदा करना रहा। यदि केवल उनके प्रार्थना-पदों को देखा जाय, तो उनके हृदय की सरलता तथा ईश्वर के प्रति उनकी आस्था में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रहता। संत-साहित्य में जो झल्लाहट और आक्रोश मिलता है, उसे भी इन संतों की असहिष्णुता अथवा ऐसी कमजोरी माना जा सकता है, जो संत-स्वभाव के अनुरूप नहीं। आवेश में उन्होंने समस्त धर्माचरणों का खण्डन तो किया, किन्तु अशिक्षित होने के कारण किसी भी सिद्धान्त अथवा साधना-पद्धति की प्रतिष्ठापना करने में वे सफल नहीं हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति 'अक्षर अनन्य' के साहित्य से हुई।

संत-परम्परा में केवल 'अक्षर अनन्य' ही ऐसे कवि और महात्मा हुए, जिन्होंने कबीर-पंथ, नानक-पंथ, दादू-पंथ आदि को गंवारों का पंथ तथा इन संतों को पाखंडी संत कहने का साहस किया। ब्रह्म, जगत्, जीव और माया तथा साधना-सिद्धान्तों का जैसा स्पष्ट और सरल विवेचन 'अक्षर अनन्य' के साहित्य में मिलता है, वैसा किसी अन्य संत के सहित्य में सम्भव नहीं। कबीर आदि संतों को ज्ञानाश्रयी संत कहने की परम्परा चली अवश्य आ रही है, किन्तु सही अर्थ में ज्ञानाश्रयी कहे जाने के अधिकारी 'अक्षर अनन्य' ही हैं।

१०. अक्षर अनन्य का कवि-कर्म

निर्गुण-परम्परा के संत-कवियों के सम्बन्ध में समीक्षकों द्वारा एकमत से स्वीकार कर लिया गया है कि उनकी बानियां काव्यगत विशेषताओं से सर्वथा विरहित हैं। इस दशा में संत-साहित्य के विषय में कलात्मक दृष्टि से विचार करने की न तो आवश्यकता ही समझी जाती है, और न उसका औचित्य ही स्वीकार किया जाता है। श्री वियोगी हरि 'रीति-साहित्य का फीता लेकर संत-वाणी के असीम क्षेत्रफल को मापने' के विरोधी हैं। यद्यपि यह सही है कि संत-कवियों ने स्वयं को काव्य की परम्परा तथा प्रणाली की किसी परिधि में आबद्ध नहीं रखा और उनका अनुभूति पक्ष ही विवेच्य विषय है, तथापि इस प्रश्न पर तो विचार किया ही जा सकता है कि वे अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति एवं उनके साधारणीकरण में कहां तक सफल हुए हैं। उनकी अभिव्यक्ति के द्वारा ही हम उनकी अनुभूतियों की गहराई को समझने में भी समर्थ हो सकते हैं। रीति-कवियों की अपेक्षा संत-कवियों के लिए अधिक गम्भीर एवं मूल्यवान बात यह थी कि वे अपने विषय अथवा कथ्य का इस प्रकार निरूपण करते कि वह सहज-संवेद्य बन सकता और शिक्षित-अशिक्षित सभी को आकर्षित करता। प्रत्येक कविता के कवि की आत्माभिव्यक्ति होने की दशा में भी संतों की कवि के रूप में आत्माभिव्यक्ति से कुछ अधिक अपेक्षा की जाती है और की भी गयी थी। यदि कोई शृङ्गारी कवि अपने कवि-कर्म में असफल होता है, और अनेक हुए भी हैं, तो उससे किसी का कुछ बिगड़ा नहीं; किन्तु संत-कवि एक विशिष्ट उद्देश्य लेकर चले थे और अपने विचारों तथा अनुभूतियों को जन-जन तक पहुंचाना ही उनका लक्ष्य था। स्वान्तः-सुखाय राम-गुण-गान करने के लिए नहीं, प्रत्युत जिस आनन्द की उन्होंने स्वयं अनुभूति की थी, उसकी अभिव्यक्ति के द्वारा सभी के मानस को उद्वेलित करने की दिशा में ही वे अग्रसर हुए थे। किन्तु जब यह स्वीकार किया जाता है कि इन संतों ने कोई ऐसी बात नहीं कही, जो इनकी विशिष्ट देन मानी जा सके, तो यह भी स्वीकार करना ही पड़ेगा कि या तो इनकी अनुभूतियां पूर्ण नहीं थीं, अथवा अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने में वे पूर्ण सफल नहीं हुए।

अनुभूतियों की सीमाएं और स्तर अलग-अलग हो सकते हैं, किन्तु अनुभूति सभी को होती है और उसे व्यक्त करने हेतु ही कला का सहारा लिया जाता है। प्रत्येक सामान्य व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं और यहां तक कि कभी-कभी ऐसे उद्भट व्यक्ति, जो स्वयं कवि होने का दावा करते हैं, अपनी अनुभूतियों को सहज-संवेद्य

बनाने में असफल रहे और दूसरी ओर स्वयं को कवि अथवा किंचित् भी चतुर न माननेवाले व्यक्ति की अनुभूतियाँ इस प्रकार सब की अपनी अनुभूतियां बन जाती हैं कि उन्हें अलग करना भी सरल नहीं। संतों के सम्बन्ध में कवि, कविता, छंद, शैली, रस, व्यंजना, ध्वनि-जैसे रीति-शब्दों को अप्रयोज्य मानकर छोड़ा भी जा सकता है, किन्तु अभिव्यक्ति, विषय के साधारणीकरण तथा भाषा के भावमय प्रयोग का प्रश्न फिर भी शेष रहता है। यदि तुलसी अपनी अनुभूतियों को सहज-संवेद्य न बना सके होते, तो उनके रामचरितमानस और केशव की राम-चन्द्रिका में कोई भेद न रहता। सामान्य कवि द्वारा व्यक्त किये गये विचार पाठक के मन में निर्दिष्ट विषय के प्रति मात्र जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं, उसका थोड़ा-सा ज्ञान भी जगाते हैं, किन्तु विशिष्ट कवि उसका भावन भी करा देता है। दूसरी स्थिति में पाठक अथवा श्रोता के हृदय में कवि द्वारा व्यक्त विचारों के अनुरूप भावनाओं का उदय होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं समस्याओं ने भामह, वामन, दंडी, उद्‌भट, विश्वनाथ-जैसे काव्याचार्यों को काव्य के सम्बन्ध में रीति-पद्धति पर सोचने-विचारने हेतु विवश किया था।

रस, अलंकार, ध्वनि, व्यंजना, पद-लालित्य अथवा शब्दार्थ-प्रतिपत्ति आदि सिद्धान्तों के विवेचन तथा उनमें से किसी एक की स्थापना के प्रश्न को अलग रखकर यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि पाठक के हृदय में कवि की अनुभूतियों के अनुरूप भावना की उत्पत्ति, उक्ति-वैचित्र्य, शब्द-योजना तथा लालित्य को ही इन आचार्यों ने अपनी धारणा के अनुसार कविता की आत्मा माना, किन्तु सब का उद्देश्य कविता के उस मूल तत्व को पकड़ना था, जिसमें कवि-कर्म की सफलता निहित है। संतों ने दोहों और पदों को ही भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया था, अतएव उनके सम्बन्ध में अन्य रीति-शब्दों को छोड़ने पर भी कवि शब्द का प्रयोग किये बिना काम चलाना सम्भव नहीं और इस दशा में उनके कवि-कर्म की ओर भी दृष्टि जाना स्वाभाविक ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने नाथों और सिद्धों की बानियों को जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से असम्बद्ध, मात्र साम्प्रदायिक शिक्षा मानकर उन्हें साहित्यिक रचनाएं मानने के प्रति अरुचि प्रदर्शित की है। इस पर भी यदि निर्गुण कवियों को हिन्दी साहित्य के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, तो उनके कवि-रूप पर भी विचार करना असंगत प्रतीत नहीं होता।

कवि जिन शब्दों के द्वारा अपने भावों को व्यक्त करता है, उनमें उनका अर्थ भी अद्वय रूप से संश्लिष्ट रहता है। यही कारण है कि काव्य के सम्बन्ध में विचार करते समय शब्द और अर्थ दोनों का ध्यान रखना अनिवार्य है। सामान्य कविता में

प्रयुक्त शब्द सदोष भी हो सकते हैं, अतएव मम्मट ने "शब्दार्थौ सहितं काव्यम्"[1] से भी आगे सफल काव्य के लिए दोषरहित शब्दार्थ के प्रयोग की आवश्यकता समझी थी ।[2] शब्द और अर्थ के अद्वय रूप होने के कारण ही कुछ आचार्यों ने दोनों का उल्लेख न कर केवल शब्द को ही काव्य माना, किन्तु उसके रमणीय अर्थ के प्रतिपादक होने की शर्त को वे भी छोड़ नहीं सके ।[3] संत-वाणी के सम्बन्ध में रस और ध्वनि-जैसे सिद्धातों को आधार मानकर विचार करने की अधिक गुंजाइश नहीं, किन्तु जैसा निवेदन किया जा चुका है, कथ्य के साधारणीकरण पर विचार किये जाने की आवश्यकता को भुला देना भी उचित प्रतीत नहीं होता ।

संत-वाणी के धरातल को असीम मानकर भी संतौं की अनुभूतियों को असीम अथवा पूर्ण मानना निष्पक्ष अभिव्यक्ति का द्योतक नहीं । सीमित अनुभूतियों को भी व्यक्त करने के लिए संतों के पास, उनके अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित होने के कारण, अनुरूप अर्थ-गर्भित शब्दों का पर्याप्त भंडार न था । इसके अतिरिक्त जब किसी संवेदनशील व्यक्ति के हृदय में भावनाओं का ज्वार पूरे आवेश के साथ उमड़ता है, तब उसे अभिव्यक्ति के उपयुक्त शब्द मिलने की सम्भावना भी अपेक्षाकृत अधिक रहती है । मीरा के विदुषी न होने पर भी उनके पदों में प्रियतम कृष्ण के प्रति अनुरक्ता साधिका के हृदय का तथा अनुभूतियों का स्पष्ट प्रतिविम्ब है । रैदास के पदों में भी अन्य संत-कवियों के पदों की अपेक्षा अधिक लालित्य मिलता है । अधिकांश संत अपने साधक-रूप को विस्मृत कर मानो छड़ी लेकर शिक्षक के रूप में ही समाज के सामने आये थे और अपने शिक्षा-उपदेशों को व्यक्त करने के लिए ही उन्होंने 'साखी' की शैली ग्रहण की थी । समाज में उन्हें अपनी दृष्टि से जो भी बुराइयां दिखाई दीं, उन्हीं के विरुद्ध वे सबको डांटते-फटकारते रहे । कबीर के हृदय में आक्रोश की यह भावना इतनी अधिक उद्दीप्त हो उठी थी कि पदों में भी उसको व्यक्त करने से वे स्वयं को बचा नहीं सके तथा उसके कारण उनके उपदेशक के रूप ने भाव-प्रवण भक्त के हृदय को भी दबा दिया । अभीष्ट उद्देश्य के प्रतिपादन तथा विधि-मूलक शैली के द्वारा भी ये उपदेश दिये जा सकते थे, जैसा कि 'अक्षर अनन्य' ने किया है, किन्तु संतों ने खंडनात्मक प्रवृत्ति, निन्दा तथा निषेधात्मक शैली का ही सहारा लिया था । दोष-दर्शन से अपनी आंखें बन्द कर गुणों की प्रशंसा करने से भी बुरे की निन्दा हो जाती है और सहृदय व्यक्तियों का यही लक्षण भी है; किन्तु इसके विपरीत संतों ने गुणों

---

१. भामह ।

२. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि । — काव्यप्रकाश

३. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।

— पंडितराज जगन्नाथ : रस-गंगाधर

और अच्छाइयों की ओर से अपनी दृष्टि हटाकर बुराइयों की ओर संकेत करने और निन्दा करने का ही मार्ग अपनाया था।

दर्शन-शास्त्र, इतिहास तथा रचना की अन्य विधाएं जिस उद्देश्य की पूर्ति में पंगु होती हैं, उसी के लिए काव्य और कला का सहारा लेना पड़ता है। असत्य, अशिव और असुन्दर से कितनी भी घृणा क्यों न हो, किन्तु असत्य पर दृष्टि गड़ा देने मात्र से सत्य को समझा नहीं जा सकता, अशिव के माध्यम से शिव-लाभ की कल्पना नहीं की जा सकती और असुन्दर को मन में बसाकर सुन्दरम् की अनुभूति भी सम्भव नहीं। जिस प्रकार दर्शन का उद्देश्य सत्, चित्, आनन्द की उपलब्धि है, उसी प्रकार सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की प्राप्ति काव्य का लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में, दर्शन ने जिस तत्व को सच्चिदानन्द के नाम से अभिहित किया, उसी को काव्य में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् कहा गया। इतिहास आदि का यह उद्देश्य नहीं; अतएव न तो उनमें काव्य-जैसा लालित्य ही रहता है और न किसी प्रकार का आकर्षण ही। हृदय में जिन भावनाओं का उदय होता है, उन्हें अभिव्यक्त करने हेतु नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि अनुरूप छन्द-शैली आदि का चयन करता है। इसके लिए भी सहृदयता, धैर्य, गाम्भीर्य आदि गुणों की आवश्यकता होती है, ताकि हृदयोद्भूत विचारों को आकर्षक रूप में व्यक्त किया जा सके, अन्यथा भावावेश में कुछ दूसरी ही बात निकल पड़ने की अधिक सम्भावना रहती है और वह कवि का धर्म नहीं।

संतों के कवि-कर्म के सम्बन्ध में विचार किये जाने की किंचित् भी गुंजाइश न होने की अवस्था में सीधे 'अक्षर अनन्य' पर ही दृष्टि डालना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। यहां इस बात का संकेत कर देना भी आवश्यक है कि 'अक्षर अनन्य' जिस प्रकार संत के रूप में पूर्णता को पहुंचे हुए मिलते हैं, उसी प्रकार कवि के रूप में भी उन्हें कला अथवा शास्त्र, किसी भी कसौटी पर रखा जा सकता है। विचारों, अनुभूतियों और भावों की दृष्टि से संत होते हुए भी रचना की दृष्टि से वे एक सफल कवि के रूप में दिखाई देते हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों का प्रणयन अन्य संतों के समान केवल साखियों और पदों में ही नहीं किया, प्रत्युत कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, छप्पय, चौपाई, कुंडलिया आदि प्रचलित छन्दों के अतिरिक्त तोमर, तोटक, मुरिल्ल, मोतीदाम, पद्धरी, चंचल, त्रिकूटगति, मृदु, प्रिया, हंस, गीतिका, दोधक-मोदक, अरिल्ल, मरहठा, धाता, पद्धटिका, मोटनका, अभीर, अर्द्धनराच, नराच, महानराच, रोला, तामरस, चामर, मचकुंद, त्रिभंगी, हीरा, विशेषक, पद्मावती, भुजंग-प्रयात, सुन्दरी, अमृतगति, अमृत-ध्वनि, कमला, नाग-स्वरूपिणी-सरस्वती, विजय, रेखता, मदनमोहन-जैसे अप्रचलित छन्दों का भी उन्होने सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। कलात्मक सौन्दर्य एवं विचार-गाम्भीर्य उनकी समस्त रचनाओं में पूर्णता तक विद्यमान है।

'उपासना-बोध', 'विवेक-तरंग', 'अनन्य-प्रकाश', 'ज्ञानयोग', 'सिद्धांत-बोध'-जैसी रचनाओं में हमें वे पहुंचे हुए पूर्ण संत के रूप में मिलते हैं, तो 'उत्तम-चरित्र', 'महिमा-समुद्र', 'प्रेम-दीपिका' में उनका कवि-रूप अत्यन्त उभरा हुआ है। शिव, शक्ति एवं प्रेममूला भक्ति की प्रतिष्ठापना के उद्देश्य से ही क्रमशः 'महिमा समुद्र, 'उत्तम-चरित्र' तथा 'प्रेम-दीपिका' की रचना की गयी प्रतीत होती है। इन ग्रन्थों में यद्यपि उनके साधना-मूलक विचार किसी प्रकार दबे नहीं, तथापि रचना-विधा की दृष्टि से ये रीति-ग्रन्थों की शैली पर ही लिखे गये हैं। 'उत्तम-चरित्र' में असुर-संग्राम का वर्णन भुजंगप्रयात, नराच, अर्द्ध नराच, महानराच, छप्पय, त्रिभंगी-जैसे छन्दों में, स्तुति-प्रार्थनाएं विजय, गीतिका, सवैया में, तथा कथा का संकेत दोहों में ही मिलता है। साधना-विषयक ज्ञान के विवेचन हेतु उन्होंने कवित्त, सवैया और दोहे का ही अधिक प्रयोग किया है। आराध्य के प्रति भावानुरक्ति प्रकट करने के लिए उन्होंने पदों की रचना भी की है, किंतु वे शिव-शक्ति के अद्वय रूप के इतने अधिक निकट पहुंचे हुए थे कि अधिक संख्या में प्रार्थनामूलक पद-रचना की आवश्यकता ही नहीं रही। उनके पदों में शिक्षा और उपदेशों को कोई स्थान नहीं। साखी के रूप में उनके द्वारा लिखे गये दोहों की संख्या भी कम नहीं है, किन्तु अन्य संतों की साखियों की तुलना में इनकी यह विशेषता है कि इनमें प्रतिपादित विषय की क्रमबद्धता कहीं भंग नहीं हुई। प्रत्येक उन्नीस दोहों के पश्चात् एक सोरठा तथा उन्नीस दोहों की एक ही भाव-भूमि इस बात का स्पष्ट संकेत है कि इन साखियों की रचना फुटकर दोहों के रूप में नहीं, प्रत्युत सुनियोजित शैली के आधार पर की गयी थी।

'महिमा-समुद्र', 'प्रेम-दीपिका' तथा 'उत्तम-चरित्र' में विविध प्रकार के अप्रचलित छंदों का प्रयोग देखकर प्रतीत होता है, मानो 'अक्षर अनन्य' को अपने कवि-जीवन के प्रारम्भ में इस प्रकार के प्रयोगों के प्रति विशेष मोह रहा हो। धीरे-धीरे यह प्रवृत्ति कम होती दिखाई देती है और परवर्ती काल की प्रौढ़ रचनाओं में कवित्त, सवैया तथा दोहों के प्रयोग तक ही उन्होंने स्वयं को सीमित कर लिया था। छंद-प्रयोग, विषय-निरूपण तथा भाषा की दृष्टि से 'महिमा-समुद्र' उनकी सर्वप्रथम रचना प्रतीत होती है। शिवपुराण तथा देवी-भागवत आदि में वर्णित शिव-शक्ति-महिमा से सम्बद्ध कथा-सूत्रों को जोड़कर इस ग्रंथ की रचना की गयी और यद्यपि इसका उद्देश्य भी शिव-शक्ति-महिमा की प्रतिष्ठापना रहा है, तथापि विविध छंदों के प्रयोग पर से वे अपना ध्यान हटा नहीं सके थे। इस ग्रंथ की कथा-वस्तु में एकसूत्रता का अभाव है और जल्दी-जल्दी छंद-परिवर्तन के कारण कथा की गत्यात्मकता भी भंग हो गयी है। किसी एक छंद का लगातार चार-छः बार भी प्रयोग न कर तुरन्त ही दूसरे छन्द को ग्रहण कर लिया गया है। इसका परिणाम भी यह हुआ है कि विवाहादि जैसे प्रसंगों का वर्णन छप्पय, मुरिल्ल, कुंडलिया, पद्धरी,

दोधक, त्रिभंगी, तोमर, तोटक-जैसे छंदों में किया गया है और पाठक के मन पर छंद इस प्रकार हावी हो जाते हैं कि मूल कथा दृष्टि से सर्वथा ओझल हो जाती है। छंदों के लक्षण इस ग्रंथ में नहीं दिये गये, अन्यथा यह पूर्णरीत्या केवल लक्षण-ग्रंथ ही होता। लक्षणों के अभाव में इसे छंदों का उदाहरण-ग्रंथ माना जा सकता है। 'उत्तम-चरित्र' में भी यद्यपि अनेक छंदों का प्रयोग किया गया है, किन्तु उसमें न तो कथा की एक-सूत्रता ही भंग हुई है और न रस-परिपाक को ही आघात पहुंचा है। 'महिमा-समुद्र' के पश्चात् 'प्रेम-दीपिका' और तत्पश्चात् 'उत्तम-चरित्र' की रचना की गयी, ऐसा प्रतीत होता है। 'सिद्धांत-बोध' तथा 'अनन्य-प्रकाश' की रचना इसके बाद में हुई और इनमें छंद-प्रयोग के प्रति कवि का मोह धीरे-धीरे घटता गया।

'अष्टांग योग' 'अक्षर अनन्य' द्वारा लिखी गयी एक अनूठी गद्य-कृति है। वस्तुतः ब्रज-भाषा गद्य का प्रारम्भ इसके बहुत समय पूर्व हो चुका था और ध्रुवदास जी के 'सिद्धान्त-विचार'-जैसे प्रौढ़ गद्य-ग्रंथ की रचना भी हो चुकी थी, तथापि 'अक्षर अनन्य' के अतिरिक्त संत-परम्परा के किसी अन्य कवि ने गद्य-शैली में अपने विचार व्यक्त नहीं किये। 'सिद्धान्त-विचार' की भांति 'अष्टांग योग' भी पूर्णरीत्या एक विचार-ग्रंथ है। इसके प्रारम्भिक भाग में अष्टांग-योग-साधना का विवेचन तथा शेष भाग में श्रद्धा, कर्मयोग, सन्यास, ज्ञानयोग, वाममार्ग तथा साधना की अन्य विभिन्न पद्धतियों के सम्बन्ध में गंभीर विवेचन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, गीता, रामचन्द्रिका, संत पीपाजी, जयदेव, योगवासिष्ठ आदि के सम्बन्ध में एवं प्रचलित विविध पंथों के विषय में भी विचार व्यक्त किये गये हैं। इसके द्वारा हमें 'अक्षर अनन्य' के साधना-विषयक विचारों का ज्ञान तो होता ही है, साथ ही कबीर, नानक, दादू, आदि के सम्बन्ध में उन्होंने जो आलोचनात्मक विचार व्यक्त किये, उनसे इस बात का भी परिज्ञान हो जाता है कि इन सन्तों द्वारा किये गये पाखण्ड-खण्डन को भी 'अक्षर अनन्य ने' पाखण्ड माना था।

'अष्टांग योग' भी पृथ्वीसिंह 'रसनिधि' द्वारा प्रस्तुत आशंकाओं के समाधान के रूप में 'अक्षर अनन्य' द्वारा भेजे गये पत्रों का संकलन है, किन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से इसने एक स्वतन्त्र गद्य-ग्रंथ का रूप ले लिया और इसी रूप में इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां भी प्राप्त होती हैं। ये पत्र निश्चित रूप से स्वतन्त्र निबन्धों के रूप में प्रतीत होते हैं। इसके प्रारम्भ में ही 'रसनिधि' की ओर से प्राप्त आशंका की ओर संकेत किया गया है, किन्तु विषय का विवेचन प्रारम्भ होते ही वे निबन्ध-शैली ग्रहण कर लेते हैं।

ब्रजभाषा-गद्य पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसमें विचारों को स्पष्टतया अभिव्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकी थी। इसके साथ ही स्वीकार किया जाता है कि मध्यकालीन कवि पद्य-शैली को छोड़कर गद्य में

अपने विचारों को व्यक्त करने में, उस शैली के अपरिपक्व होने के कारण, असमर्थ रहे हैं। इस सम्बन्ध में अधिक न लिखकर यहाँ केवल इतना ही संकेत पर्याप्त प्रतीत होता है कि ब्रजभाषा के गद्य-ग्रंथों को देखकर यह धारणा सर्वथा निराधार सिद्ध हो जाती है। इस दशा में केवल यही प्रश्न उठता है कि यदि गद्य का विकास पद्य की भाँति ही समानान्तर रूप से हुआ था, तो गद्य-साहित्य उसी की भाँति सम्पन्न क्यों न हो सका। इसका कारण गद्य-शैली का अविकसित होना नहीं, प्रत्युत कुछ अन्य ही है। किन्हीं अंशों में यह कहा जा सकता है कि साहित्य और भाषा की प्रकृति के अनुसार प्रत्येक भाषा में गद्य-शैली के पूर्व पद्य-शैली का प्रयोग एवं विकास होता है। संस्कृत में भी वाण और सुबन्धु-जैसे गद्य के आचार्य, अश्वघोष, कालिदास-जैसे महाकवियों के बाद में ही आये। जिस प्रकार 'भाषा' शब्द का प्रयोग शुद्ध रूप से भाषा के अर्थ में न कर हिन्दी के पर्याय के रूप में करने की परम्परा चली थी, उसी प्रकार कविता को 'कविता' तथा गद्य को 'भाषा' के नाम से अभिहित किये जाने की भी एक परम्परा रही है। कहीं-कहीं गद्य के लिए 'प्राकृत भाषा' के नाम का भी प्रयोग किया गया है।[1] 'सिद्धान्त-विचार' तथा 'अष्टांग योग'-जैसे ग्रंथों को देखकर ब्रजभाषा-गद्य में विचारात्मक निबंध-शैली, 'राजा भुवचन्द कौ किस्सा' और 'माधवानल की कथा'-जैसी रचनाओं के आधार पर कहानी और उपन्यास-शैली, 'श्री जी साहब कौ स्वरूप' से चरित्र-वर्णन-शैली तथा टीका-वर्ताओं के आधार पर टीका तथा वार्ता-शैली के अपनाये जाने का स्पष्ट संकेत मिलता है।

'अष्टांग योग' को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि 'अक्षर अनन्य' का पद्य की भाँति गद्य-शैली पर भी पूर्ण अधिकार था। दर्शन और साधना-सम्बन्धी गहन विषयों का विवेचन करते समय भी उनकी भाषा के प्रवाह में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आने पायी। ब्रह्मबुद्धि और ॐकार के सम्बन्ध में निम्नांकित उद्धरण 'अक्षर अनन्य' की गद्य-शैली का परिचय कराने हेतु पर्याप्त प्रतीत होते हैं:-

'ब्रह्मबुद्धि यह कहावै जैसैं जौलौं मानस सोवत है तौलौं अनेक भरमना के सपने होत हैं। जब जाग्यौ तब भरमना मिट गई। खबर तौ सब रही पै सपने की भरमना झूठी लगी। ऐसैं ब्रह्मबुद्धि भयैं तैं जीव-बुद्धि, देह-बुद्धि के भरम मिटि जात हैं। अस्थिर बुद्धि सौं ब्रह्मबुद्धि कहत हैं। ता ब्रह्मबुद्धि की धारना यह है जु

---

१. **सिद्धान्त सब सारनि कौ सार श्री मुख सौं श्री स्वामी जी ने काहू काहू समय कह्यौ है सो जितनौ सुनौ मेरी बुद्धि में समायौ सो प्राकृत भाषा में लिख लियौ जो तत्काल समझ्यौ परै।**

—श्री ललितकिशोरी जी की वचनिका

वह अक्षरनि कौ भेद कह्यौ। तीन अक्षर कहे हैं। अकार उकार मकार। अ उ म यह तीन अक्षर कहे। इन तीन अक्षरनि सौं तीन गुन, तीन देव, तीन लोक, तीन अवस्था उन तीन अक्षरनि सौं लगी है। वे तीन अक्षर मिलि कैं एक करौ। नीचे जु तीन रेखा, सु आस्था है, ऊपर की रेफ है। उ उ है। मस्तौ देत हैं सु म है। ये तीन मिलि ॐकार भयौ। सु ॐकार काहू देवता कौ नाम नाहीं। सब कौ बीजु है। यह रामायन में राम जू कह्यौ। गीता में कृष्न जू कह्यौ अरु वेद में कह्यौ है। अरु 'राजजोग' कह्यौ है 'धरि त्रिगुन बीज धुनि सब्द मूल'। सु त्रिगुन बीज ॐकार ही सौं कहत हैं। सु ॐकार बीज विद्या है। याही तैं सब विद्या भई हैं। यह धुनि साधत हैं ते ब्रह्म-बुद्धि कहावैं।'

'अक्षर अनन्य' के विचारों एवं विविध प्रसंगों द्वारा यह तो स्पष्ट ही है कि वे संस्कृत-साहित्य के पूर्ण ज्ञाता थे, तथा ग्रंथ-रचना का उनका उद्देश्य साधना-विषयक गहन ज्ञान को सर्व-साधारण के लिए सहज-बोधगम्य बना देना था। पूर्व में प्रसंगानुसार संकेत किया जा चुका है कि वे भली भाँति यह अनुभव करते थे कि संस्कृत भाषा में लिखे गये ग्रंथों को लोग वर्षों के अनवरत अध्ययन के पश्चात् ही समझने में समर्थ होते थे और इसी कारण उन्होंने 'भाषा' का सहारा लिया था। मुख्य रूप से उन्होंने ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है तथा संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों के उपयोग से सर्वथा बचते रहे। अन्य संतों ने दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन न कर केवल ऊपरी बातें कही हैं, अतएव उनके सामने दर्शन की शब्दावली के सम्बन्ध में कोई समस्या नहीं थी। इसके विपरीत यद्यपि 'अक्षर अनन्य' सिद्धान्तों के उच्चतम धरातल पर ही रहे, तथापि उन्होंने दार्शनिक शब्दावली को व्याख्या अथवा लोक-भाषा के उपयुक्त शब्दों के माध्यम से इतना सरल बना दिया कि वह पूर्णरीत्या सामान्य जन का विषय बन गया। इसके साथ ही विशेषता यह है कि भक्ति अथवा ज्ञान के सम्बन्ध में कोई ऐसी बात उनसे छूटी भी नहीं, जिसकी जानकारी साधना-मूलक दृष्टि से शेष रही हो। संस्कृत से उतरकर वे भाषा पर आये थे और आवश्यकता पड़ने पर उन्होंने लोक-भाषा का सहारा लिया। परिणामस्वरूप ब्रजभाषा के साथ ही उनकी रचनाओं में बुन्देली लोक-भाषा के पर्याप्त शब्दों का प्रयोग हुआ है। बुन्देली भाषा के क्रिया-पदों तथा विभक्तियों का भी आवश्यकतानुसार उपयोग किया गया है; किन्तु इस प्रकार के प्रयोगों के होते हुए भी भाषा में कहीं भी ग्राम्य-दोष उत्पन्न नहीं हो सका है। पुरुषई (पुरुष ही), ईश्वरै (ईश्वर ही), औरउ (और भी)-जैसे लोक-प्रचलित प्रयोगों के द्वारा जहाँ भाषा सशक्त हुई है, वहां 'विहरैत समै' (घूमते-फिरते ही समय) - जैसे शब्दों के द्वारा कथ्य की प्रेषणीयता में पर्याप्त सहजता भी उत्पन्न हुई है। कीबौ (करना), लीबौ (लेना) तथा जिवावै (जिलाती है)- जैसे क्रिया-पद विषय-वस्तु को सहज-बोध्य बनाने के उद्देश्य से ही प्रयुक्त किये गये हैं।

'अक्षर अनन्य' के काल में राजा-महाराजाओं का प्रभुत्व सबसे अधिक था और व्यक्ति-समाज में वही शीर्षस्थ पुरुष थे । क्षत्रिय जाति के लोगों के लिए सामान्यतः 'ठाकुर' शब्द का प्रयोग किया जाता था तथा ईश्वर के लिए भी इस शब्द (ठाकुरजी) का उपयोग होता है। समानाधिकरण के इस रूपक तथा राज्य-व्यवस्था के विभिन्न अंगों के संकेत से 'अक्षर अनन्य' ने अपने विचारों को अत्यन्त सरल बनाकर इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उनकी अनुभूतियाँ सहज ही में सामान्य व्यक्ति की अनुभूतियां बन गयीं। भाषा और शब्दों के प्रयोग में उन्होंने सर्वत्र ही पूर्ण सावधानी बरती है। उर्दू शब्दों का प्रयोग यद्यपि उनकी रचनाओं में नगण्य-सा है, तथापि कथ्य को स्पष्ट करने हेतु जहाँ भी आवश्यकता पड़ी, उनका प्रयोग किया गया है। राम-रहीम के एकत्व को स्पष्ट करने के लिए कबीर आदि संतों ने लगातार प्रयत्न किये, किन्तु 'अक्षर अनन्य' ने इस मात्र भाषागत भेद को अत्यन्त सुन्दरता के साथ व्यक्त किया । ईश्वर और खुदा का भेद विशेषतः हिन्दी-भाषा-भाषी हिन्दू और उर्दू-भाषा-भाषी मुसलमानों के बीच था; अतएव उन्होंने दोनों भाषाओं के शब्दों को लेकर यही कहा कि जिस प्रकार एक ही वस्तु को उर्दू में 'आतिश' तथा हिन्दी में 'अग्नि' कहकर पुकारते हैं, उसी प्रकार शिव और खुदा में मात्र भाषागत भेद है तथा तत्वतः उसमें कोई भेद नहीं ।[1]

'अक्षर अनन्य' द्वारा किये गये विषय-निरूपण को ध्यान में न रखने के कारण ही कबीर आदि संतों की बानियों में प्राप्त विवेचन को महत्त्व दिया जाता है; किन्तु संकेत किया जा चुका है कि अन्य संतों ने कथ्य को जितना ही स्पष्ट करने का प्रयास किया, उतना ही वह विषय और भी अधिक उलझता गया है । ब्रह्म तथा साधना-विषयक जिस ज्ञान के साधारणीकरण का लक्ष्य संतों के सामने था, वह उनकी बानियों में उलझकर असाधारण बन गया । धरती की वस्तु ऊपर उठकर आसमान और आसमान से भी परे पहुंच गयी । कबीर का ब्रह्म गगनमंडल में षट्चक्र की कनक-कोठरी में रहता है । वह लोक-वेद से न्यारा अरचित, अविगत है; वह जवान, वृद्ध, बालक नहीं; उसके सास-ससुर, साले नहीं होते; वह ऐसे स्थल पर रहता है जहाँ सूत-कपास-पौनी नहीं होती और सूर्य-चद्रमा का उदय नहीं होता। 'अक्षर अनन्य' की विशेषता यह है कि विषय-निरूपण के लिए उन्होंने परोक्ष अथवा बुद्धि से परे किसी प्रतीक अथवा उपमान का सहारा नहीं लिया तथा उनकी दृष्टि ऐसी स्थूल बातों पर भी नहीं टिकी, जो कथ्य-निरूपण के अनुरूप नहीं । दैनिक जीवन के अनुभूत तथ्यों

---

१. **आतिस आग 'अनन्य' भनै,**
जग जोई सदा सिव सोई खुदा है ।

— ज्ञान-पंचासिका, १८

को ही उन्होंने कथ्य-निरूपण के लिए प्रतीक चुना था। उदाहरणार्थ, साधना में उत्पन्न होनेवाली विघ्न-बाधाओं की उपमा राजा से मिलने के इच्छुक व्यक्ति के मार्ग में आनेवाली कठिनाइयों से ही दी गयी। जिस प्रकार कोई साधारण व्यक्ति राजा के पास पहुंचने का जब प्रयत्न करता है, तब सर्वप्रथम प्रतिहारी उसे प्रताड़ित कर लौटाने का प्रयास करता है। प्रताड़ना की चिन्ता न करते हुए यदि वह व्यक्ति अटल रहता है, तो उसे कुछ लोभ-लालच दिया जाता है तथा इसके पश्चात् भी यदि वह अपने पथ से विचलित नहीं होता, तो राजा प्रसन्न होकर उसे अपने समीप बुलाता है। उसी प्रकार साधना के मार्ग में आनेवाली बाधाओं एवं ऋद्धि-सिद्धियों के होते हुए भी अविचलित साधक को ही आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है।

लोक-व्यवहार के सामान्य तथा सुपरिचित धरातल से प्रत्यक्ष उपमानों को ग्रहण कर 'अक्षर अनन्य' ने अभिव्यक्ति को इतना अधिक सजीव बना दिया है कि कथ्य पाठक के हृदय में सीधा प्रवेश करता है। वेद-शास्त्रों के कोरे पठन-पाठन तथा मिथ्याचारपूर्ण त्याग-वैराग्य के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि ये सब उसी प्रकार से निष्फल एवं निरर्थक हैं, जिस प्रकार अनुरूप वेश-भूषा धारण करने पर बन्दर राजपूत नहीं बन जाता।[1] परमतत्व ईश्वर का ध्यान किये बिना पूजा, अर्चना, एवं साधना भांड़ द्वारा किये गये अभिनय के समान हैं।[2] चारण कवि के छन्दों में ओज गुण का प्राधान्य होते हुए भी उनके रचयिता स्वयं वीर, ओजस्वी नहीं होते; उसी प्रकार व्यावहारिक क्रिया से विरहित ज्ञान भाट के कवित्त के समान स्वयं के लिए फलप्रद नहीं। कहीं-कहीं तो एक ही छन्द में इसी प्रकार के तीन-चार उपमानों का प्रयोग कर कथ्य को अत्यन्त कलात्मक ढंग से पाठकों तक पहुंचाया गया है।[3]

---

१. **कहा पढ़ें गुनें कहा त्यागहू बिराग करें,**
स्वांग धरें बन्दर न होत रजपूत है।
— अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ६-६

२. **ध्यान ही पदारथ सधत जातें स्वारथ है,**
ध्यान में न मति तौलौं भांड़ कैसौ खेल है।
अक्षर अनन्य के चिट्ठा, १०-७

३. **गुरु बिना ग्यान कहा करिया बिहीन नाव,**
ग्यान बिना गुरु कहा लीबे ही में चित्त है।
लोभी की प्रतीति कहा कहै जो हजार बार,
स्वारथी सौं प्रीति कहा दैबे ही लौं हित है।
इच्छा बिना क्रिया कहा तौजी किहि काम आवै,
क्रिया बिन ग्यान कहा भाट कौ कवित्त है।
'अक्षर अनन्य' दया धर्म बिन भक्ति कहा,
भक्ति बिन जोग जैसें सिला कैसौ वित्त है॥
— अक्षर अनन्य के चिट्ठा, ७-४

'अक्षर अनन्य' ने अपनी रचनाओं में काव्य के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टि से कहीं कुछ लिखा नहीं, किन्तु 'अष्टांग योग' के एक सन्दर्भ के द्वारा यह संकेत अवश्य मिलता है कि उपमा को वे काव्य-सौन्दर्य के प्रतिमान के रूप में स्वीकार करते थे। जो बात सीधे शब्दों में कही जा सकती थी, उसे उन्होंने सीधे कहा और जहां आवश्यकता समझी, वहां उपमान का सहारा लिया। उनकी अधिकांश उपमाएं अलंकार के रूप में नहीं, प्रत्युत कथ्य को स्पष्ट, सशक्त तथा प्रेषणीय बनाने के लिए उदाहरण के रूप में प्रयुक्त हुई हैं।[1]

'अक्षर अनन्य' ने अपने छंदों में स्थान-स्थान पर लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है और उन्हें इस प्रकार जड़ दिया गया है कि रचना का लालित्य तथा गाम्भीर्य दुगुना-चौगुना बढ़ जाता है :—

१. **बिना तत्व ग्यान प्रानी फलाफल जानैं नहीं,**
आंधेरे कुँदेरे कैसौ करम कमाइबौ। —स्फुट पद्य

२. **आतम तत्व बिचार बिना,**
नर डोलत ज्यौं मगवार कौ मूसर। —स्फुट पद्य

३. **बिना तत्व ग्यान प्रानी भ्रमत 'अनन्य' भनैं,**
धोबी कैसे कुत्ता जैसे घर के न घाट के। —स्फुट पद्य

'अक्षर अनन्य' की कलात्मकता की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उनके द्वारा सीधे-सादे शब्दों में कही गयी बात भी प्रभावहीन अथवा लचर नहीं। विचारों के साथ कल्पना की उनके पास कमी नहीं थी और उनके हृदय में इन सबका एक ऐसा उमड़ता हुआ समुद्र था कि उन्हें किसी के लिए भटकना नहीं पड़ा। वे दर्शन के प्रकांड पण्डित थे, अतएव सैद्धान्तिक विवेचन की कोई बात उनसे छूटी नहीं और उन्होंने व्यावहारिक लोक-जीवन से भी अपनी आंखें बन्द नहीं की थीं, इसलिए उनकी बात धरती से उठकर आसमानी नहीं बन गयी। बाह्याचारों और पाखंडों की उन्होंने जहां निन्दा की, वहां वे पंडितों और मौलवियों पर सीधे नहीं टूट पड़े और विषय का प्रतिपादन करते समय भी उनकी वाणी भटकने नहीं पायी। उनका साहित्य ऐसा प्रशान्त समुद्र है, जिसमें पाठक की नाव लहरों और तूफानों में उलझे बगैर पार हो जाती है। उनकी शैली में गाम्भीर्य है, जिसने दर्शन और साधना-जैसे विषय को सामान्य पाठक के लिए भी अत्यन्त सरल बना दिया है, जिससे जिज्ञासुओं की जिज्ञासा शान्त होने के साथ-साथ काव्य-रसिकों के आनन्दविभोर होने में कमी नहीं

---

१. **अक्षर अनन्य के चिट्ठा**, १-१,३; २-३,१६; ४-२२; ५-८; १०-३; वि० त०, १३

रहती। कला और शास्त्र का ऐसा सुन्दर समन्वय अन्य संत-कवियों की वाणी में देखने को नहीं मिलता। उदाहरण के लिए 'ज्ञानयोग' से सुषुम्ना का वर्णन लिया जा सकता है :—

आनँद रूप ससांक मुखी, षट पंकज बाट चलै गज गामिनि।
चेतन चारु सुधामयि मूरति, जोति कला सुकला कुल कामिनि।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर की धुनि, नाद सवाद भरी अभिरामिनि।
प्रान अधार बिहार सदा, मन की सुख दानि सुषुम्मनि स्वामिनि॥

सूरज चन्द सौं रंचक बीच, दुबीच समागम ग्यान रुखी कौ।
पूरि रही धुनि रूप निरंतर, अंतरवर्तिनि नाम सुखी कौ।
जोग ही भोग कला दुरुखी, दुख दूरि करै छिन माँझ दुखी कौ।
'अक्षर' कौ चित चेतन चारु, चकोर भयौ तिहि चंदमुखी कौ॥

जोगिनि की निज इष्ट अधार, मुरार के तार तें सूच्छम बामा।
बिस्व सरूप लसै जिहि के मुख, सिद्धनि के पुजवै सब कामा।
चेतन ब्रह्म सरूप वहै कहि, 'अक्षर' है मन कौ बिसरामा।
अन्तर राज सरोजनि की, सुख सेज बिराजति सुन्दरि स्यामा॥

—ज्ञानयोग, ४-१३,१४,१६

आलंकारिक शैली और चमत्कारपूर्ण उक्तियों को 'अक्षर अनन्य' ने अधिक महत्त्व नहीं दिया, तथापि उस सीधी-सादी वाणी में जो सरसता उत्पन्न हुई है, वह उनकी कला-सर्जना की सबसे बड़ी विशेषता है। अत्यन्त सीधे शब्दों में जो बात कही गयी है, उसमें भी सहज ही काव्य-लालित्य तथा कलात्मक सौन्दर्य भर गया है। कोरे ज्ञान तथा मन पर नियन्त्रण न रखकर साधना की निस्सारता का वर्णन उदाहरण के लिए पर्याप्त होगा :—

कीजे ब्रह्म ग्यान कै भगति जोग जाप ताप,
थापिये जु मत तौ जुगति वहै धारिये।
जुगति के साधे बिना अकलैं न काम आवै,
भांड़ कैसी नकलैं न जोगी सो बिचारिये।
'अक्षर अनन्य' ग्रंथ-पंथनि में ग्यान सुनि,
ग्यानी नहीं होत जौलौं आपु न सम्हारिये।
आपने ही नैननि सौं सूझत कुरूप रूप,
औरनि के नैननि सौं रूप न निहारिये।

—उपासना-बोध, १६

ईंधन बिहूनी आग राखै कौ निहोरो कहा,
ईंधन महं आग राखै ताही कौ जतन है।
इन्द्रिनि गलित बृद्ध भयैं कौन साधुता है,
इन्द्रिनि बलित बांधै सोई साधुपन है।
'अक्षर अनन्य' बिना पायैं बिषय त्याग कहा,
पाय करै त्यागन बैराग सोई मन है।
घर छाँड बन जोग साधै की जुगति कहा,
घर ही में बन करै सोई गुरुजन है॥

—स्फुट पद्य

'अनन्य' की वाणी का सौन्दर्य कथ्य का सहज सौन्दर्य है। रीति-कवियों की भांति उन्होंने अपनी कविता को अलंकारों से जबरदस्ती सजाने-संवारने की कोशिश नहीं की। साधना-पद्धतियों के विवेचन के लिए सामान्य धरातल से सुपरिचित प्रतीकों एवं उपमानों का ही 'अक्षर अनन्य' ने प्रयोग किया है। प्रतीकात्मक शैली में विषय के निरूपण में उन्हें स्पृहणीय सफलता मिली है। 'शृंगार-योग' में कथ्य-निरूपण के उद्देश्य हेतु वे नारी को प्रतीक मानकर चले और आदि से अन्त तक उसका सफलतापूर्वक निर्वाह किया। कहीं इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का नारी-रूप में, और कहीं बुद्धि और बोध का कामिनी-कामी के रूप में चित्रण किया : तो कहीं साधक के हृदय में आराध्य के प्रति पतिव्रता के समान प्रेम होने का निर्देश दिया गया। इड़ा, पिंगला का तन्त्र-ग्रंथों में शुक्लवर्णा तथा दाडिमी केसर-प्रभा मानकर वर्णन किया गया है। सुषुम्ना को वह्निरूपा रक्तवर्णा तथा कुण्डलिनी को श्यामा कहा गया है।[1] दिन के समय चन्द्र-स्वरूपिणी इड़ा तथा रात्रि के समय सूर्य-स्वरूपिणी पिंगला के माध्यम से श्वास-संचार का निर्देश भी है। इन्हीं चार नाड़ियों को चार नारियों के रूप में मानकर 'अक्षर अनन्य' ने कहा है कि शुक्लवर्णा तरुणी नारी (इड़ा) का विहार दिन के संताप का हरण करता है; रात्रि में अरुणाभा नारी पिंगला का संयोग सुखप्रद है; गौरवर्णा (सुषुम्ना) के साथ संलाप में आनन्द आता है तथा साँवरी सलोनी

---

१. वामगा या इड़ा नाड़ी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी।
शक्तिरूपाहि सा देवी साक्षादमृतविग्रहा।
दक्षे तु पिंगला नाम पुंरूपा सूर्यविग्रहा।
रौद्रयात्मिका महादेवी दाडिमी केसरप्रभा॥

— संमोहन-तन्त्र

तद्बाह्ये तु तयोर्मध्ये सुषुम्णा वह्निसंयुता।

— त्रिपुरा-सार-समुच्चय

ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयंभूलिंगवेष्टिनीम्॥
श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम्॥

(कुण्डलिनी) अहर्निशि आनन्दप्रदा है। व्यावहारिक जीवन में चार सपत्नियों का संयोग भले ही कष्टकर हो, किन्तु साधना-क्षेत्र में उपर्युक्त चार नारियों (नाड़ियों) का भोग साधक-योगी को सर्वज्ञ सिद्ध बना देता है :-

उज्वल तरुनि कौ बिहार दिन ताप हरै,
अरुनी तरुनि रात सीत बात हति है।
सांवरी सलौनी सुख दैनी निसि बासर हूँ,
गोरी मुख भोरी बतरस ही में रति है।
आपुस में सौतैं जो मिलैं तौ तन बाधक हैं,
साधै चहूं पतिनी कौं सोई सुरपति है।
जोग ही में भोग ही में जोगिये 'अनन्य' भनै,
इन ही सौं जोगी सरवग्यनि कौ गति है ॥

---शृंगार-योग २७

सत्व, रज, तम गुणों के परिणामस्वरूप ही भेद-बुद्धि का उदय होता है तथा गुणरहित अर्थात् निर्गुण-तत्व में किसी प्रकार के भेद की कल्पना का आधार नहीं। निर्गुण ब्रह्म की साधना में मत-मतान्तर, सम्प्रदाय तथा पक्ष-विपक्ष की समस्या भी उत्पन्न नहीं होती। उस परमतत्व को निर्गुण अथवा सर्वगुणमय मानने की दशा में किसी भी पद्धति से उसकी उपासना की जा सकती है, किन्तु विशिष्ट गुणों से संयुक्त मानने की अवस्था में ही अलग-अलग सम्प्रदायों तथा साधना-पद्धतियों का जन्म होता है। नारी को कुमारिका, प्रौढ़ा, वृद्धा, स्वकीया, परकीया आदि के रूप में देखना तथा उसके गुणों को देखना ही विवाद का मूल है। इस रूप में उसके गुणों पर ही हमारी दृष्टि रहती है, नारीत्व पर नहीं। इसी प्रकार रूप-गुण-सम्पन्न ईश्वर के विविध रूपों की उपासना ही पक्ष-विपक्ष का कारण है तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना में भेद-वाद की कोई गुंजाइश नहीं। नारी को प्रतीक मानकर यही विचार अत्यन्त सुन्दर रूप में व्यक्त किया गया :—

बालिका कुमारिका किसोरिका मुगध मध्या,
प्रौढ़ा अरु बूढ़ा एक ही के पन सात हैं।
स्वकीया परकिया समानिका अधीरा धीरा,
सादरा अनादरा अनंत गुन गात हैं।
नारी पद एकस में टेक गुन औगुन की,
गुन तैं अनेक नाम कबिता कमात हैं।
निर्गुन अभेद तत्व ग्यान ज्यौं 'अनन्य' भनै,
सगुन के भेदनि में पच्छ ठहरात हैं॥

—शृंगार-योग, २३

साधना के विभिन्न मूलभूत सिद्धान्तों का 'शृंगार-योग' में प्रतीकात्मक शैली में जो वर्णन किया गया है, उसके कुछ उदाहरण देना असंगत न होगा :

गति मंद चलै बिचलै न कहूं, पग पैंजनि बाजनि लाज डरै।
दृग नाटक घूंघट ओट अधोमुख अंग, कसैं अनुराग भरै।
गुरु नागरि संग 'अनन्य' भनै, परलै पिछलै मग पैग धरै।
इहि भाय सुभाय सुसील त्रिया, चलि जोग मतै उपदेस करै।।

सिसुता तजि चंचलता तजि कैं, गुरु लाज हिये उर आनत है।
मति की गति कौं थिरता करि कैं, रति जोग कथा सुख सानत है।
लघु भोजन बोलन हूं लघुता, मरजाद क्रिया सब ठानत है।
कहि 'अक्षर' बाल बधू करनी, मुनि जोगिनि के मन मानत है।।

सोवति संग परी पिय के, सपनै बिछुरी चित भर्म बढ़ै अति।
चौंक परी न टरी उर तैं, थिर चित्त भई गर लाय लई पति।
यौं महि मोह महा भ्रम नींद, लहै सपनौ जग सोच थकी रति।
जाग्रत जोग 'अनन्य' भनै, बुधि बोध बियोग न ग्यान यहै गति।।

-शृंगार-योग, ३,४,१०

जहां तक नव रसों का सम्बन्ध है, 'अक्षर अनन्य' का शान्त और वीर रस के वर्णन पर समान अधिकार दिखाई देता है। ईश्वर को ऐश्वर्य, उदारता, सुयश, विभूति, ज्ञान और वैराग्य षड्गुणों तथा नव रसों से युक्त मानकर 'महिमा-समुद्र' में उसके नव रसमय होने का वर्णन किया गया है। 'शृंगार-योग' की वर्णन-शैली से कवि के रूप में उनका झुकाव शृंगार रस की ओर प्रतीत अवश्य होता है, किन्तु विशुद्ध रूप से इस रस को उन्होंने कभी अपनाया नहीं। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य के वर्णन में शान्त रस का जिस सफलता के साथ प्रयोग किया गया है, उसका उदाहरण देने की भी आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। उनकी किसी भी रचना को पढ़ते समय पाठक का हृदय अनुभूतियों और विचारों के साथ तदाकार हो जाता है। अपने पूरे साहित्य में किसी सिद्धान्त अथवा पद्धति के प्रति न तो किसी प्रकार की हठवादिता ही उन्होंने प्रदर्शित की, और न कोई ऐसी बात ही कही गयी, जिसके प्रति पाठक के हृदय में असहमति अथवा विरोध की भावना उत्पन्न हो सके। ब्रह्म को वाद-विवाद से परे मानने की अवस्था में उसके सम्बन्ध में तर्क-वितर्कों में उलझना भी उन्हें कभी रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। जहां कहीं भी नाम-रूप के झगड़े का प्रश्न उपस्थित हुआ, उन्होंने तुरन्त कह दिया कि नाम में कुछ नहीं रखा, उसे कुछ भी कहा जा सकता है। विषय-निरूपण की इस शैली के अपनाये जाने के कारण उनकी रचनाओं में

शान्त रस का प्रवाह कहीं भंग नहीं हुआ। उनका साहित्य ऐसे प्रशान्त सागर के समान है, जिसमें चंचल उर्मियों की भी हलचल नहीं।

'उत्तम-चरित्र' में असुर-संग्राम का जो ओजपूर्ण वर्णन किया गया है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि शांत रस के अतिरिक्त वीर रस ही उनको अधिक प्रिय था। वीर-रस-वर्णन के अनुकूल छंदों की संरचना पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। 'उत्तम-चरित्र' यद्यपि दुर्गासप्तशती का भावानुवाद है, तथापि वर्णन-शैली, छंदों के चयन तथा रस-परिपाक की दृष्टि से वह पूर्णतः वीर-काव्य के रूप में ही लिखा गया दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो प्रारम्भ में लक्षण-ग्रंथों तथा वीर-काव्य 'रासो' आदि से 'अक्षर अनन्य' अत्यधिक प्रभावित रहे हों। 'उत्तम-चरित्र' रासो की शैली में ही लिखा गया है। सुरथ राजा और समाधि वैश्य के संक्षिप्त संदर्भ के साथ ही महिषासुर और सुंभ-निसुंभ के साथ देवी के संग्राम का वर्णन प्रारम्भ हो गया है। छंद और रस की दृष्टि से दो-चार उदाहरण देना ही यहां पर्याप्त होगा :---

महानराच छंद

हुंकार पाय सिव सिंघ हिंगुलाज मातु कौ,
नृसिंघ तैं प्रसिंघ जोरि घोर गर्ज जी लही।
धर्यौ कराल काल सौ बिसाल पंजि कट्ठि कैं,
तवट्ठि कैं प्रकोपियौ पचट्ठियौ डुसीलही।
भनै 'अनन्य' भाव धन्य भिन्न भिन्न सैन की,
त्रिनैन की प्रभा जथा तथा प्रभाव डीलही।
बिदारि ठौर ठौर कौर कौर कीन मस्त हू,
समस्त रच्छ जच्छ भच्छि लील लीन लीलही॥

पद्मावती छंद

सुनि बिनय निरंजनि श्री भय भंजिनि प्रबल सिंघ पर चड्ढी।
चड्ढी हरि हंकरि सारँग टंकरि करन जुध्ध हुव ठड्ढी।
ठड्ढी लहि उद्धित मातु प्रमुद्दित अनहद नौबद बज्जी।
बज्जी सुर दुंदुभि मुदित मुकुंदभि अग्र कालिका गज्जी॥

भुजंगप्रयात छंद

जुरे जुध्ध जोधा दुहूँ ओर जोरं। हहंकार हंकारि कै क्रुध्ध घोरं॥
तजैं अस्त्र पै अस्त्र ढालत्र बोढ़ैं। तकैं दाव पै दाव आयुध्ध छोड़ैं॥

जुटे त्रान सौं त्रान ज्वाला जरै हैं। टुटे बान सौ बान भू पै परै है॥
चलै चक्र पै चक्र सक्रादि कंपै। झरै खर्ग सौं खर्ग ज्वाला बितंपै॥

अमृतध्वनि छन्द

श्री भवानि अति कोप करि, धनुष बान धरि हथ्थ।
प्रबल सुंभ दल बल मिलत, सु चलत चपल गति रथ्थ।
रथ्थहि चलत ररथ्थहि धरत रुकथ्थहि रथ्थ करनिकर।
हयपति समरथ्थहि बैर बिरथ्थहि झरकर भथ्थहि असिवर॥

उपमा का जिस रूप में 'अक्षर अनन्य' ने प्रयोग किया है, उसका संकेत किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अलंकार-प्रयोग के प्रति उनकी कोई अभिरुचि दिखाई नहीं देती। अनुप्रास का सुन्दर प्रयोग अवश्य उनकी रचनाओं में प्राप्त होता है, किन्तु उसमें कृत्रिमता की लेश-मात्र भी गंध नहीं। शब्दों के चयन के साथ अनुप्रास का यह सौन्दर्य सहज ही उत्पन्न हो गया है। सांगरूपक और यमक-जैसे अलंकार भी उनकी रचनाओं में प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु सच तो यह है कि उन्होंने विषय का निरूपण इस सहज भाव से किया है कि उनकी रचनाओं में अलंकारों की प्रयत्नपूर्वक खोज-बीन करने का औचित्य नहीं। सहज रूप से प्रयुक्त अलंकारों के दो-चार उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा :—

अनुप्रास

(१) सारनि कौ सार सबँसार करतार नाथ,
आपु निराकार बिस्वकारन बखानिये।
सत्त चिदानंद सु प्रकास चिदाभास ब्रह्म,
आपु निराभास सर्ब भासकर मानिये।
(२) रागनि में रंगनि में सतासत संगनि में,
नारी नर अंगनि में अंग पहिचानिये।
सुरासुर अरचा में परापर चरचा में,
चरचि अखण्ड ब्रह्म खण्डित न जानिये।
(३) मिलि तन जक्त रहौ अंतर विरक्त रहौ,
मूल सिव सक्ति जू की भक्ति उर आनिये।

(४) बोध विधान समो अभिधान, मनोरथ ध्यान सुभासुभ भेवा।
होम अहार है पूजा बिहार, जु नैन निहार सु मूरति देवा।
बरनौं परनाम कहौं सुई नाम, अकाम सकाम समर्पन सेवा।
भाव न भिन्न 'अनन्य' भनै, परिपूरन की परिपूरन सेवा॥

यमक

'अक्षर अनन्य' ग्यानजोग सौं अराध सदा,
राखौ समरथ कौं मनोरथ के रथ में।

सांगरूपक

कर्मन की नदी जामैं भर्मन के भौंर परैं,
लहरैं मनोरथ की कोटि निकरत हैं।
काम से कमठ महा मोह से मगर जामें,
क्रोध से जहर जासौं देव से जरत हैं।
लोभ जल पूरन अनंत सु 'अनन्य' भनैं,
नहीं वार पार देखि धीरज टरत हैं।
तहां सिव सक्ति ध्यान ग्यान सौ जहाज साजि,
ऐसे भव सागर कौं बिरले तरत हैं॥

कला और शास्त्र दोनों पर अधिकार होंने की स्थिति में भी 'अक्षर अनन्य' ने इनमें से किसी को उद्देश्य न मानकर तत्व-निरूपण को ही महत्त्व दिया था।[1] भाषा और शास्त्र परमतत्व के निरूपण के मात्र माध्यम हैं, साध्य नहीं। 'उपसना-बोध', 'विवेक-तरंग', 'ज्ञान-पंचासिका', 'ज्ञान-तरंग', 'ज्ञानयोग', 'अनन्य-प्रकाश' आदि ग्रंथों में उस परमतत्व का जो निरूपण किया गया है, उससे नेति-नेति की धारणा भी कमजोर पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त उनके साधना-सिद्धान्त भी एक पहेली बनकर नहीं रह गये। ब्रह्म, माया, जीव, जगत्, ज्ञान, भक्ति, जिस किसी भी विषय को उन्होंने लिया, वह सामान्य व्यक्ति के लिए भी सहज-बोध्य बन गया। कबीर अपनी अनुभूतियाँ दूसरों को पूर्ण रूप से समझा नहीं सके और उन्हें विवश होकर ब्रह्म को रहस्यमय एवं अकथनीय कह देना पड़ा[2], किन्तु 'अक्षर अनन्य' अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में कहीं कमजोर पड़ते हुए दिखाई नहीं देते।

---

१. भाषा सब समुझैं तुरत, सास्त्र सु बरसनि मांह।
काम न भाषा सास्त्र सौं, तत समुझन लौं आह॥
—अनन्य-प्रकाश, १८८

२. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की संत-परम्परा।

'अक्षर अनन्य' ने उत्तम, मध्यम और कृत्रिम तीन प्रकार के कवि तथा स्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति को ही काव्य माना है। शास्त्र-ग्रंथों का अध्ययन कर काव्यसर्जना करनेवाला कवि कृत्रिम कवि है; देवाराधन के परिणामस्वरूप काव्य-प्रतिभा अर्जित कर मध्यम कवि बना जा सकता है तथा स्वानुभूतियों की अभिव्यक्ति में नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही उत्तम कवि है।[1] इसके अतिरिक्त उन्होंने उत्तम, मध्यम कृत्रिम और अधम चार प्रकार की अभिव्यक्ति अर्थात् काव्य के प्रकार स्वीकार किये हैं। दूसरों की निन्दा करना अधम काव्य, मनुष्य को काव्य का नायक मानकर उसका देव-तुल्य वर्णन करना कृत्रिम काव्य, देवी-देवताओं का वर्णन मध्यम काव्य तथा वेद-प्रतिपादित तत्व का निरूपण ही उत्तम काव्य है।[2]

'अक्षर अनन्य' के काव्य-ग्रन्थों के शास्त्रीय अध्ययन तथा 'महिमा-समुद्र', 'उत्तम-चरित्र' एवं 'प्रेम-दीपिका' की रचना-शैली के आधार पर स्पष्ट है कि रीतिबद्ध काव्य-सर्जना के क्षेत्र में रीतिकालीन कवियों-जैसी प्रतिभा की उनमें कमी न थी। 'उत्तम-चरित्र' वीर-काव्य के रूप में लिखा गया है तथा भक्त कवियों की शैली में उन्होंने पदों की रचना की है। साखी के दोहे भी रचना की दृष्टि से किंचित् भी शिथिल नहीं। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में जो शैथिल्य दिखाई देता है, वह धीरे-धीरे समाप्त हो गया तथा 'ज्ञानयोग', 'ज्ञान-पंचासिका', 'ज्ञान-तरंग', 'अनन्य-प्रकाश' आदि तक आते-आते उनकी सृजन-प्रतिभा पूर्णता तक पहुंच चुकी थी। उनके काव्य में रीति-काव्य का लालित्य है, अनुभूतियों की गम्भीरता है, भक्ति-काव्य का प्रसाद है, कलात्मक सौन्दर्य एवं रागात्मकता है। श्री सूर्यकुमार वर्मा के शब्दों में 'अक्षर अनन्य' की कविता रोचक, हृदयग्राही, सरल, सबके समझने योग्य और भावमय है।[3] दुर्गा-सप्तशती तथा सौन्दर्य-लहरी के भावानुवाद के रूप में उन्होंने क्रमशः 'उत्तम-चरित्र' तथा

---

१. कबिता मत कवि बंस महं, उपजत तीन प्रकार।
उत्तम मद्धिम कृतिम कवि, तिनके तीन बिचार।
तिनके तीन बिचार, कृतिम कबिता पढ़ि ग्रन्थनि।
मद्धिम देव अराधि, देव प्रगटे कवि पंथनि।
उत्तम मद्धिम रहित, सहज उदिता जिमि सबिता।
कहि 'अनन्य' अनुभूति जानि, अनुभव सुइ कबिता॥

२. कबिता तीन प्रकार इमि, बरनन चार प्रकार।
उत्तम मद्धिम कृतिम कवि, तिनके तीन बिचार।
चौथौ अधम बिचार, अधम बरनै परभंडी।
कृतिम मनुष्य कबित्त, देव उपमा पाखण्डी।
मद्धिम देव उपास, हठी मन सुख नहिं फबिता।
साख बेद परवान, जान उत्तम सुइ कबिता॥ —— महिमा-समुद्र

३. अनन्य ग्रन्थावली : नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

'भवानीस्तोत्र' की रचना की, 'प्रेम-दीपिका' के द्वारा भ्रमर-गीत की परम्परा में नवीनता उत्पन्न की,' श्रृङ्गार योग' के द्वारा विषय-निरूपण में आकर्षण उत्पन्न किया, अन्य काव्य-ग्रन्थों के द्वारा ज्ञानयोग की साधना-पद्धति को स्पष्ट किया और 'अष्टांग-योग'-जैसे गद्य-ग्रन्थ की रचना कर संत-साहित्य को पूर्णता तक पहुंचा दिया। सूर, तुलसी और जायसी के समान निर्गुण-परम्परा में भी नैसर्गिक प्रतिभा-सम्पन्न किसी ऐसे कवि की आवश्यकता थी, जो शिक्षित वर्ग के लिए भी अध्ययन, मनन और चिन्तन का आधार प्रस्तुत करता तथा काव्य-रसिकों को अपनी ओर आकर्षित करता। इस उद्देश्य की पूर्ति 'अक्षर अनन्य' और उनके साहित्य से हुई।

द्वितीय खण्ड

१. अक्षर अनन्य के चिट्ठा

प्रथम प्रकाश

कवित्त

जौलौं बुद्धि कांची तौलौं पानी कैसौ अंग जान,
जाही रंग मिलै होत ताही रंग मय है।
साधु संग साधु चोर संग मिलि चोरी करै,
कैसौ सावधान पुरुषारथ की छ्य है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान अंग है अगिनि जैसौ,
घास पात कंडा करकट काठ लय है।
पलटै न आपु मिलै ताहि करै आपु ही सौ,
जीतै संग दोष ताही जोगी की विजय है ॥१॥

बिसन सिकार के सराहे दसरथ्थ पाण्डु,
जुआ कौ बिसन नल पाण्डव निकारिये।
नारी कौ बिसन भयैं इन्द्र कैं हजार भगैं,
रावन कौ बंस ज्यौं बिनासौ पर नारिये।
"अक्षर अनन्य" जाहि जाही कौ बिसन पर्‌यौ,
ताकौ काज ताही तैं नसानौ जुग चारिये।
सुनहु सुजान तातैं रहौ सावधान सदा,
कीजै सब कछू न बिसन कछू पारिये ॥२॥

वेद हू पुरान सास्त्र चरचा बखान करै,
धारना न आवै तौलौं भील कौ अंगूठा है।
आसन कौं साधै नैन कान मूंद ध्यान करै,
मन थिर नाहीं तौलौं पौन कैसौ मूठा है।
मूड़हि मुड़ाय कैं बढ़ाय जटा जूट सिरैं,
आसा बस फिरै स्वान भखत ज्यौं जूठा है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान साधन सन्तोष सील,
जौलौं लोभ लालच है तौलौं ग्यान झूठा है॥३॥

छूटै न अविद्या विद्यमान ब्रह्म भासै नहीं,
तौलौं ब्रह्म ग्यान काठ अगिनि कौ भाव है।
देव की अराधना विधान सौं न सिद्ध करै,
तौलौं गुन गाइबौ सुरति काजें नाव है।
उत्तम करम वेद विधि सौं न साधि जानै,
तौलौ लोक करनी गड़र कौ प्रभाव है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग सौं न मत जौलौं,
तौलौं हठ जोग कर्म धर्मनि उपाव है॥४॥

जगत में मगन ते न भक्ति कौ मरम जानैं,
भक्ति में मगन तिन्हैं जगत कौ न ज्वर है।
सर्गुन में मगन ते न निरगुन कौ भेद लहैं,
निरगुन मगन कैं न सरगुन कौ स्वर है।
तुरी में मगन तिन्हैं माया देह सुधि नाहीं,
माया में मगन तिन्हैं भासत न तुर है।
"अक्षर अनन्य" एक एक में मगन सबै,
सब ही में मगन रहै सोई सत गुर है॥५॥

जानिनि में जान से अजान से अजानिनि में,
जानिनि अजान बानि तैसिये कहन है।
गेहिनि में गेही से अतीत से अतीतिनि में,
गेहिनि अतीत भेष लीला सी लहन है।

जैसिनि में तैसे आप जैसे ही के तैसे सदा,
ऐसे प्रतिमान धुनि अंतर गहन है।
सहज सुभाव ही सौं बिहरै जगत माहिं,
बरनी "अनन्य" ऐसी ग्यानी की रहन है ॥६॥

ध्रुव प्रहलाद दत्त नारद सनक व्यास,
ऊधौ अरजुन जौन निकट सखा से हैं।
औरुऊ अनेक भक्त राजरिषि जोगी सुनैं,
सखी न कहाये कोउ जगत प्रकासे हैं।
पुरुष तौ साधु महा पुरुषई कहावै फेरि,
पुरुष तैं सखी नाम कौन मत भाषे हैं।
"अक्षर अनन्य" राह पाछिली सु पूछै नहीं,
अब कलजुग माहिं अजब तमासे हैं ॥७॥

दोहा

भेष डिंभ पाखण्ड बहु, कलजुग की विपरीति।
जैसी की तैसी कहै, यह "अनन्य" की रीति ॥८॥

द्वितीय प्रकाश

सवैया

ज्यौं नृप पास गरीब चलै, तिहि मार छरी प्रतिहार भगावै ।
जो न भगै न डरै तन त्रासहि, तौ कछु दामन दै पधरावै ।
लाभ डगै न भगै भय तैं, तिहि राज दया करि पास बुलावै ।
"अक्षर" भक्ति की रीति यहै, पहिलैं पुनि सिद्धि असिद्धि डिगावै ।।१।।

सिद्धि लहैं जे करैं हठ जोगहिं स्वर्ग लहैं जिन जग्य नंधे हैं ।
बुद्धि लहैं जे पढ़ैं गुन ग्रन्थहिं, द्रव्य लहैं जिन दान कंधे हैं ।
कर्मनि के फल भिन्न सबै, फल कर्मनि सौं जग जीव बंधे हैं ।
"अक्षर" प्रेम प्रताप जुदौ, जिहि सौं प्रभु प्रान अधार बंधे हैं ।।२।।

प्रेम बिना जे करैं अरचा जप, तेल बिना जिमि बारत बाती ।
होत प्रकास नहीं तिन कौं, जिनकी नहिं प्रेम विषै मति राती ।
दूसरी कामना प्रेम नहीं, जिन प्रेम विषैं दुविधा मिटि जाती ।
"अक्षर" मांगै नहीं वर कौं, धरि ध्यान हृदय जिमि सूम की थाती ।।३।।

सूम ज्यौं खाय नहीं खरचै, धन जोरत जाय सरीर सहै दुख ।
त्यौं जन आपु न मांगै कछू, अरु श्राप असीस बनायें रहै रुख ।
जैसे पतिव्रत की महिमा, निसि बासर नाथ सौं प्रेम बहै रुख ।
"अक्षर" भक्ति सनेह सदा, धरि मूरति ध्यान अधार सदा सुख ।।४।।

ग्यान कथा अरचा चरचा, रुचि सौं मन कौ अभिलाष बढ़ावै ।
मन्त्र के जाप तैं पाप कटै, अरु नाम रटैं बस रामहि आवै ।
मूरति ध्यान तैं प्रेम बढ़ै, जब रूप सुधा निधि कौ रस पावै ।
चित्त सदा लवलीन रहै, कहि "अक्षर" सोइ समाधि कहावै ।।५।।

जोग समाधि पवन्न चढ़ै, उतरै खुलि जात रहै नहिं नित्तहिं ।
ध्यान समाधि लगै तब लौं, चित नैन खुलै मुरकै मन दत्तहिं ।
प्रेम समाधि सदा कहि "अक्षर" अक्षर रूप रहै मिलि चित्तहिं ।
ज्यौं बिसनी मन नारि बसै, लवलीन दसा बिसरै न निमित्तहिं ।।६।।

राग वहै अनुराग वहै, बैराग वहै पुनि जो गहिये ।
निज प्रीति वहै परतीति वहैं, रस रीति वहैं रस जो चहिये ।
सत ग्यान वहै जप ध्यान वहै, परिपूरन प्रेम सुधा लहिये ।
कहि 'अक्षर" सर्व प्रवीन वहैं, गहिये गह तामहं के रहिये ।।७।।

जु गही सु गही जु कही सु कही, जु करो सु करी कर पारन है ।
अपनौ पन बोल निबाहनबो रु, यहै जग में जस कारन है ।
पन धारी कैं और सहाय नहीं, समरथ्थ धनी धन धारन है ।
कहि "अक्षर" लोकहु वेद यहै, दृढ़ता पर और विचार न है ।।८।।

दोहा

"अक्षर" आपुन इष्ट करि, दृढ़ करि करिये प्रीति ।
दुख सुख माँझ न भूलिये, यहै भक्त को रीति ।।९।।

जब जैसी संगत रहै, तब तैसी मति होय ।
यहै विघन है भक्ति में "अछर" समुझिबौ सोय ।।१०।।

भेष नहीं कछु भक्ति कौ, नहीं तिलक नहिं छाप ।
"अछर" भक्ति सुमिरन करौ, बिघ्न बचावन आप ।।११।।

पाप लोभ तैं होत है, अरु पुनि काम सहाइ ।
एक ठौर करि राखिये, "अछर" सुधर्म उपाइ ।।१२।।

और धर्म बिचलैं सकल, जोग जग्य व्रत चार।
कहि "अनन्य" कलि काल महं, केवल नाम अधार ॥१३॥

कवित्त

नाम हैं अनेक सर्वनाम परनाम वाके,
दीनों गुरु नाम सोई नाम जु अनूप है।
गुन हैं अनेक सर्व निर्गुन सगुन भेद,
जोई गुन आवै आप सोई गुन भूप है।
रस हैं अनेक सर्व रस में रसाल वही,
जाही रस भजै ताकौं सोई रस कूप है।
रूप हैं अनेक सर्व रूप सो "अनन्य" भनै,
जोई रूप मन बसै सोई निज रूप है ॥१४॥

कथनि में वेदनि में विधिहि निषेधनि में,
नाना गुन भेदनि में भेदहि न आनिये।
रागनि में रंगनि में संतासंत संगनि में,
नारी नर अंगनि में अंग पहिचानिये।
पंचायत अरचा में नाना मति चरचा में,
चरचा बिचारनि में दुविधा न मानिये।
मनसा के बांधन कौ साधन "अनन्य" भनै,
जहां मन लहै तहां वहै करि मानिये ॥१५॥

करता कौं जानि कैं अकरता हो रहैं आप,
करतै अरप करै करम जो न्यान हैं।
पाहन की जाति मैंटि देवता लहत जैसैं,
जैसौ लहै रूप बिष्नु रूप तैसौ ध्यान है।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर सुरति थापि,
आपुन हो रहैं जैसैं खंग कौ मियान है।
ऐसी मति जागै तबै लागै नहीं पाप पुन्य,
वेद के प्रमान यहै विदित विग्यान है ॥१६॥

गीतिका

विग्यान आनन्द मूल मूरति, निगम आगम गाइयौ ।
तिहि दरस रस अभिलाष तैं, वह साध करत उपाइयौ ।
तिहि रिद्धि सिद्धिहिं घेरि, वर नहिं आप अन्तर खोलहीं ।
धन जोर जोर जमात चढ़ि, सुख पाल ते जन डोलहीं ।
इक वचन कहत सु होत सिद्ध, प्रसिद्ध जात लगावहीं ।
ते मूढ़ उत तैं निमिष द्वै, अपनौ महत्त बढ़ावहीं ।
इहि भांति बहुतक सिद्ध साधु, सु बीच ही सिद्धिनि ठगे ।
जानै न मूढ़ विचार, हम काकौं कढ़े कासौं लगे ।
जे होत संत सुचेत, ते नित वहै लगन बढ़ावहीं ।
कह "अछर" परमानन्द, प्रेम पियूष सो रस पावहीं ॥१७॥

तृतीय प्रकाश

दोहा

सात्विक राजस तामसी, निर्गुन पूरन ग्यान ।
अधिकारी जो जासु कौ, ताकहं सो परवान ॥१॥

सवैया

विधि भेद निषेध न जानै कछू, मति के अनुसार लही सु लही ।
नहिं वेद पुरान की रीति कछू, अनरीति सु टेक ठई सु ठई ।
समुझायें नहीं समुझै गुरु के, मन के उनमान कही सु कही ।
यह तामस ग्यान "अनन्य" भनै, हठि मूरख गांठ गही सु गही ॥२॥

जु करै सु विवेक विचार करै, फल चार बिषै हित साजत है ।
व्रत संयम नैम सकाम क्रिया, करि भक्ति भली विधि छाजत है ।
करि सेवहि देव रिझाय भले, वर पाय धरा पर गाजत है ।
यह राजस ग्यान "अनन्य" भनै, जन धर्म सौं राज विराजत है ॥३॥

सील संतोष सुबुद्धि सुलच्छन, धीर गम्भीर मिले जग न्यारे ।
धर्म दया निरलोभ निरासक, निरभय भक्ति अराधन हारे ।
धर्म करै सु करै प्रभु अर्प, नहीं फल चाहत बुद्धि उज्यारे ।
सात्विक ग्यान "अनन्य" भनै, तेइ सन्त सदा भगवंत पियारे ॥४॥

राग न दोष न हर्ष न सोक, न बन्धन मोक्ष की आस रही है ।
बैर न प्रीति न हार न जीत, न गारि न गीत सुरीति गही है ।
रक्त विरक्त न मान कछू, सिव सक्ति निरन्तर जोति लही है ।
निर्गुन ग्यान "अनन्य" भनै, अवधूत अतीत की रीति यही है ॥५॥

को हरि को हर को सुर को नर,को तर को पर और न आस्यौ ।
को घर को वन को बुधि को मन, निर्गुन सर्गुन भर्म बिनास्यौ ।
को पुनि सन्त असन्त गिनै, सब सौं समता तत रूप प्रकास्यौ ।
पूरन ग्यान "अनन्य" भनै, परिपूरन ब्रह्म अखंडित भास्यौ ।।६।।

दोहा

पांच भांति कौ ग्यान इमि, यथा योग्य उपदेस ।
संसकार सत संग बिन, बढ़त न ग्यान सुदेस ।।७।।

सवैया

धर्म बिना सतसंग नहीं, सतसंग बिना हरि भक्ति न आसै ।
भक्ति बिना उर सुद्धि नहीं, उर सुद्धि बिना नहिं बुद्धि विलासै ।
बुद्धि बिना उनमान नहीं, उनमान बिना नहिं ग्यान प्रकासै ।
ग्यान बिना जु "अनन्य" भनै, परमातम तत्व सरूप न भासै ।।८।।

जो फल की कछु कामना होय, तौ उत्तम कर्म क्रिया विधि नांधै ।
जो निहकाम उपासना होय, तौ नाम सरूप बिषै मन बांधै ।
जो पै लखाउ कौ चाहै विग्यान, तौ जाग्रत सूत की संधिनि साधै ।
"अक्षर" तीन हूँ भेद कहे गुरु, अक्षर तीन हुं भेद अराधै ।।९।।

दोहा

प्रभु की त्रिविधि अराधना, यथा योग्य आराध ।
कायिक वाचिक मानसिक, त्रिविधि साधना साध ।।१०।।

सवैया

उत्तम गात क्रिया करिकैं, तिलकावलि साजि सुखासन लावै ।
मूरति थापि महाप्रभु की, महि पाहन धातु जुई मन भावै ।
षोडस मन्त्र प्रचारन सौं, अरचै चरचै चित अन्त न धावै ।
जोवन प्रेम "अनन्य" भनै, पहिलो यह कायिक भक्ति कहावै ।।११।।

बोलै नहीं बकवाद बृथा, भगवन्त कथानि सुनै रु सुनावै ।
सांची कहै परमारथ हेतु, करै चरचा दुनिया ढंग लावै ।
जो उपदेस दियौ गुरु जू, तिहि सब्द बिषै रसना सरसावै ।
अस्तुति पाठ "अनन्य" भनै, दुतिया यह वाचिक भक्ति कहावै ॥१२॥

कै उर सुद्ध सुबुद्धि हिये, गुरु सब्द सरूप हिये लव लावै ।
आवत जात कमातहि खात, न जागत सोवत सो बिसरावै ।
ज्यौं सुरभी वन में सुत में, मन में मन यौं मन मूरि मिलावै ।
प्रेम सनेह "अनन्य" भनै, यह तीसरी मानस भक्ति कहावै ॥१३॥

दोहा

प्रेम न जानै रोयबौ, नहीं गायबौ गीत ।
प्रेम दसा कछु और है, जिहि रस मतै अतीत ॥१४॥

कवित्त

लावै कोउ चन्दन खवावै कोउ नाना रस,
भूषन बसन भांति भांति पहिरावहीं ।
बिरह दसा में जैसें ताहि न सुहावै कछू,
जौलौं प्रानपति के न दरसन पावहीं ।
"अक्षर अनन्य" ऐसी लगन सौं लागी रहै,
प्रेम प्रीति रीति छांड़ि दुतिया न भावहीं ।
लाख ठौर चित्त अभिलाष नाना भोगनि में,
तौलौं प्रेम भक्ति कहौ कैसें उर आवहीं ॥१५॥

दोहा

जौं लगि प्रेम न ऊपजै, तौं लगि नैम निवाहि ।
उमगै प्रेम समुद्र तब, नैम नदी मिलि जाहिं ॥१६॥

घरी पहर कौ नैंम करि, सुमिरहि सुरति लगाय ।
वहै प्रेम निसि दिन रहै, यहै प्रेमता आय ॥१७॥

कवित्त

प्रेम की कथानि सुनै प्रेमता न आवत है,
नैंम हू बराय आवै ऐसी मति कूर है।
वेद हू पुरान सुनै ग्यान नहीं सूझत है,
बूझत है स्यान जैसैं पाती पढ़ि दूर है।
प्रेम ही कौ ग्यान ही कौ मन ही कौ लच्छन है,
'अक्षर अनन्य' बीज अंकुर ज्यौं मूर है।
ग्यान योग साधन में नैम अरु थान नाहीं,
प्रेम अरु ग्यान ध्यान रहै भरपूर है ॥१८॥

चतुर्थ प्रकाश

दोहा

पृथीचन्द नृपराज यह, सुनहु ग्यान विग्यान ।
नाना मत निरधार करि, जो हम कियौ प्रमान ॥१॥

ग्यान उपासन सिद्ध मत, पक्ष उपासन मूढ़ ।
पक्षपात भ्रम खंडिकै, सुनहु ग्यान गति गूढ़ ॥२॥

कवित्त

जौन पक्षधारी आनि देवनि की निन्दा करैं,
तिनकौ अनन्य भाव कैसैं ठहरात है ।
सीत बात सूरज अगिनि ही की आस करैं,
पौन सौं जियत अन्न पानी सौं अधात हैं ।
एते सब देवन कौ आसरौ न छूटै अरु,
निन्दैं पुनि सब ही कौं कुमति की बात है ।
एक ही कौं जानै सब एक ही कौ रूप मानै,
"अक्षर अनन्य" सो अनन्यता की बात है ॥३॥

दोहा

यह अनन्यता कौ मतौ, जानि राज निज भेद ।
तीन देव कौ भेव सुन, कहत सदा जिमि वेद ॥४॥

कवित्त

बिष्नु के पुरान में कहत बिष्नु आदि देव,
बिष्नु तैं विरंचि तातैं रुद्र पुनि मानिये।
रुद्र के पुरान में कहत सिव आदि नाथ,
सिव जू तैं बिष्नु तातैं ब्रह्म कृत ठानिये।
ब्रह्म के पुरान में कहत ब्रह्म आदि देव,
ब्रह्म ही तैं बिष्नु तातैं संकर बखानिये।
"अक्षर अनन्य" भिन्न भांति के पुरान भेद,
कलप के पलटैं उलट फेर जानिये ॥५॥

ब्रह्म बिष्नु रुद्र तीनौं रूप ये त्रिगुन भेद,
त्रिगुन कौ रूप एक निर्गुन निदान है।
एक ही तैं तीनि तीनि मिलिही कैं एक होत,
तीनि चार नाहीं एक कारन प्रमान है।
जैसें एक सूत कौ जनेऊ तीनि ताग जान,
तीनि हू कौ सूत एक जाहिर जहान है।
"अक्षर अनन्य" ग्यानवन्त गति एक लहैं,
भिन्न भिन्न मानत ते मानस अजान हैं ॥६॥

दोहा

भिन्न भिन्न लहिये नहीं, गहिये एकौ नाम।
निर्गुन सगुन सरूप नृप, जानि एक परनाम ॥७॥

निर्गुन सगुन विचार इक, जानि राज पृथिचन्द।
सक्ति पुरुष द्वै भेद मति, सुनहु मैंट भ्रम द्वन्द ॥८॥

कवित्त

एकै कहैं ब्रह्म आदि पुरुष निरंजन है,
कारन करन सर्व लायक पुरुष है।
एकै कहैं देवी आदि सक्ति परमेस्वरी है,
सक्ति तैं पुरुष बिना सक्ति को पुरुष है।

दच्छिन हू बाम दोउ पक्ष या प्रमान कहे,
"अक्षर अनन्य" ग्यान एकता उरुख है।
नजर के दोष दोय चन्द ज्यौं गगन देख,
देखैं रुख दोय जाकी दृष्टि में दुरुख हैं ॥९॥

सवैया

ज्वाला कहैं जुवती सी लगै, बैसान्दुर में पुरुषारथ आया।
देह कहैं नर नाम लगै अरु, नारि लगै जबहीं कहौ काया।
नाम कौ भेद "अनन्य" भनै, हठि मूढ़नि बादहि बाद बढ़ाया।
एकहि तत्व स्वयं परिपूरन, वाही सौं ब्रह्म कहौ भल माया ॥१०॥

चेतन ब्रह्म कहैं तिहि दच्छिन, चेतन सक्ति कहैं तिहि वामी।
चेतन के दुव नाम लिये, परि नाम में बाद उपासक नामी।
चेतन सो नर नारि नहीं, अरु जैसे कौ तैसेहि अन्तर यामी।
"अक्षर" के मत टेक यहै, न कहै कछु टेक कै स्वामिनि स्वामी ॥११॥

दोहा

टेक न करिये पक्ष कहं, करिये केवल भक्ति।
ब्रह्म वही माया वही, प्रकृति पुरुष सिव सक्ति ॥१२॥

एक तत्व द्वै नाम इमि, लहि प्रथिचन्द नरेस।
रहै कहा प्रापत कहा, सुनौ वहै उपदेस ॥१३॥

सवैया

एक कहैं निज धाम बसैं प्रभु, एक कहैं सिर जोति लही मैं।
एक कहैं सरवत्र है व्यापक, थापि करी सब भांति सही मैं।
है सब ही पर हाथ न आवहि, बात यहै निरधार कही मैं।
आग चकम्मक ही लहिहै, कहि "अक्षर" है गुरु अक्षर ही मैं ॥१४॥

दोहा

गुरु सब्दहिं लौ लाइये, जानि यहै सब ठौर।
कैसौ वाकौ रूप है, सुनौ भूप सिरमौर ॥१५॥

कवित्त

निर्गुन बिचारै ताकौं निर्गुन निरीह नाथ,
सर्गुन बिचारैं ताकौं सर्गुन गुनै रहै।
जोति से बिचारैं ताकौं जोति ह्वै प्रकास करै,
सुन्न से बिचारैं ताकौं सुन्नमय जैसे हैं।
दूरि कै बिचारै ताकौं दूर ही "अनन्य" भनै,
आपु में बिचारैं ताकौं आपु ही में वैसे हैं।
वे तौ सिव सक्ति सर्व सक्ति, सर्व गति नाथ,
जैसे ही कौं तैसे आपु जैसे ही के तैसे हैं ॥१६॥

दोहा

ऐसौ ग्यान बिचार नृप, सर्व भाव प्रभु एक।
बहु संगति नहिं भूलिये, चरचा पक्ष अनेक ॥१७॥

कवित्त

जौलौं बुद्धि कांची तौलौं पानी कैसौ अंग जान,
जाही रंग मिलै होत ताही रंग मय है।
साधु संग साधु चोर संग मिलि चोरी करै,
कैसौ सावधान पुरुषारथ की छय है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान अंग है अगिनि जैसौ,
घास पात कंडा करकट काठ लय है।
पलटै न आपु मिलै ताहि करै आपु ही सौ,
जीतै संग दोष ताही जोगी की विजय है ॥१८॥

जीति संग दोष लोक रीति बिवहार कीनै,
साधिये धरम नैम चित्त सील सत्त है।
कीजिये करम ते अरप दीजे ईसुर कौं,
मांगिये न फल कछू जानि ग्यान तत्त है।

बंधन मुकति कौ न राखिये भरम सोच,
जानिहै सु करिहै सुरति ध्यान रत है।
"अक्षर अनन्य" कहैं सुनौ राव प्रथीचन्द,
मो मत यहै है यहै सौ मत कौ मत है ॥१९॥

सवैया

सौ मत कौ मत एक यहै, जु गहै दृढ़ता करि इष्ट अधारहि।
लोक विरुद्ध न कर्म करै, नहिं वेद विरुद्ध विचार विचारहि।
आयसु जो गुरु नाथ करौ, सु धरौ हिरदै सुधि सो न बिसारहि।
ये पुरुषारथ लच्छिन हैं, परमारथ स्वारथ दोउ समारहि ॥२०॥

आयसु जो गुरु नाथ कर्यौ, सु धर्यौ उर इष्ट अधार हमारै।
बाहर हू घर हू वन हू, बिहरैति समै सुधि सो न बिसारै।
सिद्धि असिद्धिनि तैं न चलै, पन अक्षर छाप "अनन्य" सम्हारै।
कोटिन जो गजराज जुरैं, गिरिराज की टोर टरै नहिं टारै ॥२१॥

गेह में हाल हवाल कितेक, किते दुख सुखन के झकझोला।
लोक में चाल चबाउ कितेक, किते बकवादनि के बिच बोला।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं धरि, धारना धीरज चित्त अडोला।
झांखर सूख न रोकि सकैं, करि कोप कढ़ै नृप तोप कौ गोला ॥२२॥

भांतिनि भांतिनि के भ्रम जार, निवारि सबै गहिकैं मत मारौ।
भांतिनि भांतिनि की चरचा सुनि, जानि करौ सबकौ निरवारौ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर इष्ट, अधार धरौ वन जोग उज्यारौ।
यौं प्रथिचन्द नरेस सुनौ, यह केवल ग्यान विग्यान हमारौ ॥२३॥

दोहा

वेद सास्त्र सुनि जानिबौ, तासौं कहियत ग्यान।
लहै आपु तैं आपु सब, ताहि कहत विग्यान ॥२४॥

यहै ग्यान विग्यान कौ, भेद जानि नृप राय।
सब विधि समता साधि कैं, रहै सब्द लौ लाय ॥२५॥

पंचम प्रकाश

सवैया

ईंधन ही महं आगि रहै, बिन ईंधन आगि लहै किहि ठांहीं ।
फूलनि ही महं बास बसै, बिन फूलहिं बास की आसति नाहीं ।
"अक्षर" अक्षर जीभ ही में, बिन जीभहि अक्षर क्यों कहि जाहीं ।
सर्गुन ही महं निर्गुन है, बिन सर्गुन निर्गुन बाद ब्रथा हीं ॥१॥

निर्गुन सर्गुन की चरचा सुनि, मूरख लोग बकैं बकवादै ।
देखि अमूरतवन्त नहीं, बिन मूरतवन्तहिं देहि प्रसादै ।
राग ज्यौं राग ही में प्रगटै, जब रागहि राग करै अहिलादै ।
"अक्षर" अक्षर में दरसै, तब पावहि अक्षर प्रेम प्रसादै ॥२॥

एकनि प्रेम की पार गही, अरु एकनि प्रेम कहौ असिधारा ।
एकनि प्रेम समुद्र कहौ, अरु एकनि प्रेम नदी बिकरारा ।
दूरि तैं ये दुरभाव कहे, न मिल्यौ जिन्हें प्रीतम प्रान अधारा ।
प्रेम तैं अमृत और नहीं, कहि "अक्षर" जानत जाननि हारा ॥३॥

माधुरी मूरति कौ मधुरापन, कोटि सुधारस तैं सुघरौ है ।
चित्त बिषै छवि छाइ रहै, जब लागि रहै निसि बासर लौ है ।
पूरन प्रेम प्रमान यहै, न रहै जब लोक ही वेद की भौ है ।
"अक्षर" ताहि सुहाइ न और, परै जब वा रस कौ चसकौ है ॥४॥

कवित्त

दीपक पतंग मृग स्रवन ज्यौं राग रंग,
निसिपति अंग त्यौं चकोर ज्यौं लहत है ।
एकै तन एकै मन एकै प्रान पन बांधि,
लगन लगाय कैं मगन हो रहत है ।
प्रेम सौं सहित नैम सहै न सुहाय और,
चातक रटनि गुरु सब्द कौं गहत है ।
सिद्धि ही असिद्धि फलाफल तैं न चित्त चलै,
"अक्षर अनन्य" ऐसी धारना कहत है ॥५॥

टेक तैं न टरै सदा एक सी धरनि धरै,
बिसरै न सुधि बुधि जैसी गुरु सासना ।
मन वच कर्म ही तैं दोषनि बचायैं रहै,
ओखद के खायें जैसें बर्जित न चासना ।
रीति सौं सहित प्रेम प्रीति सौं अराधै सदा,
बांधै नहीं और रिद्धि सिद्धिनि की वासना ।
गुरु के सवद में सुरति लवलीन रहै,
"अक्षर अनन्य" ऐसी बरनी उपासना ॥६॥

उत्तिम उपासना में वासना रहै न और,
देखै सब ठौर सर्वव्यापक कौ ध्यान है ।
मद्धिम उपासना में कामना फलनि की है,
जानै एकदेसी प्रभु प्रतिमा प्रमान है ।
दो में एक साधै जो अराधै तन मन लाइ,
"अक्षर अनन्य" होत अनुभौ निदान है ।
आपु ही कौं ब्रह्म मानि दूषै ध्यान धर्मनि कौं,
यह तौ मुगध नासतीकन कौ ग्यान है ॥७॥

ग्यान तौ वहै है जाहि जानि करतूत करै,
बिना करतूत ग्यान मिथ्या बकवाद है ।
हिरदै न धरै तौलौं कहा जो बखान करै,
अमृत की चरचा में कौन सौ सवाद है ।

"अक्षर अनन्य" ग्यान जानि कैं भगति राखै,
भाषै वह नाम जो गुरू की मरजाद है।
जानै सर्वव्यापक न मानै दूरि आपुनि तैं,
सांचौ ब्रह्म ग्यान जैसें रांचौ प्रहलाद है ॥८॥

सुन्यौ ब्रह्म ग्यान जोग ध्यान कौ विधान सुन्यौ,
सुन्यौ देवतानि कौ महत्तम अपार है।
नाना ग्रन्थ पन्थन के भेद सुनै जानै सब,
सुनिबे में जानिबे में वुद्धि भ्रम जार है।
"अक्षर अनन्य" सब जानि कैं अजान भये,
जानी यहै बात करतूत एक सार है।
सब कौं बिसारि सारासार निरधार करि,
गुरु के सबद ही की धारना अधार है ॥९॥

ग्यान हू अग्यान की तरंगनि में बूड़िये न,
रागहु वैराग के न रागनि में रागिये।
संगति कुसंगति की बातनि में भूलिये न,
सम्पति विपति ही में समता न त्यागिये।
काम निहकाम कौ न करिये विचार सोच,
धारना अधार धरि सुरति सौं न जागिये।
राज जोग भक्ति की सु पद्धति "अनन्य" भनै,
सावधान होकैं आपु साधन सौं लागिये ॥१०॥

रुचि काम रांचिये न विरचि कैं त्यागिये न,
बैठि हठि जागिये न भूलि नींद लहिये।
अफरि कैं खाइये न आतमा लंघाइये न,
वादहिं बढ़ाइये न मौनताई गहिये।
लोभ कौं न गहिये दुकान दान मंडिये न,
छांड़िये बिसन पाप पुन्य में न बहिये।
राखिये सहज सर्व समता "अनन्य" भनै,
राज जोग साधि ऐसी जुगति सौं रहिये ॥११॥

धृक सोई साधु जो न साध जानै साधन कौं,
धृक सोई साधन जो सुद्धता नदूनी है।
धृक सोई सुद्धता न जानै ध्यान धारन कौं,
धृक सोई धारना जु साँच करि सूनी है।
धृक सोई सांच गुरु सबद सौं न बुद्धि लागी,
धृक सोई बुद्धि जौन ग्यान धन ऊनी है।
धृक सोई ग्यान बिना भक्तिहि "अनन्य" भनै,
धृक सोई भक्ति जो अनन्यता बिहूनी है ॥१२॥

षष्ठ प्रकाश

चौबोला

पृथीचन्द नृपराज आपु सौं ग्यान कथा हम भाषैं ।
सकल भांति संबोधन करिकैं संभ्रम कछू न राखैं ।
अपने अपने पक्ष महातम सब कोउ ग्यान सुनावैं ।
तत्व ग्यान हमसें सुन राजा जथा वेद समुझावैं ॥१॥

तत्व ग्यान चैतन्य सनातन निर्गुन सर्गुन सोई ।
उत अभास इत भास जानि नृप ज्यौं दर्पन गति होई ।
निर्गुन ब्रह्म अखण्ड सदा सिव परम जोति गुरु जोवै ।
सर्गुन ब्रह्म आदि नारायन छीर समुद्रहिं सोवै ॥२॥

नारायन के नाभि कमल तैं उपजे आपु विधाता ।
उनि अपने मन की इच्छा तैं प्रगट किये सुत साता ।
तिनके बेटा नाती पंती संती बढ़ि संताना ।
भयौ जगत परवार परापर सात गोत परिवाना ॥३॥

बाप अजा पर अजा खोज कैं नसिल नसिल जो लेखै ।
सप्त रिषिन विधि नारायन लौं सबकी नसिल विसैषै ।
नसिल माहिं सन्देह नहीं नर नारायन कौ बच्चा ।
पुरखनि गति की राह न जानै भयौ कुसंगति कच्चा ॥४॥

पाँच सात दस साखि खोजि कैं सब कोउ जाति बखानै ।
उन पुरखनि की जाति भूलि गये तातैं भये दिवानै ।
कौन करम साधे उन पुरखनि कौन करम ठहराये ।
ते सत करम सुनै नहिं जानै मिथ्या करम उपाये ॥५॥

ज्यौं पंडित को नाती पंती जाति बरन कुल सोई ।
बिन पंडित विद्या कौं साधैं क्यों पंडित पद होई ।
जो गुरु पाय पढ़ैं निज विद्या तौ पंडित पद पावै ।
नातर खेती बनिज चाकरी नीच करम उपजावै ॥६॥

त्यौं ही नारायन के कुल में जनम धर्‌यो जग माहीं ।
नारायन की राह लहै तौ नारायन के आहीं ।
नारायन की राह लहे बिन ब्रथा जनम नर देही ।
भ्रमत फिरत जैसें पसु पंछी का अतीत का ग्रेही ॥७॥

ग्रेही लोग जाति यह समुझैं खेरे खूंट बतावैं ।
ब्रह्मन छत्री बैस सूद्र अरु अंतिज जाति कहावैं ।
सोनो गढ़ै सुनार कहावै लोहो गढ़ै लुहारा ।
तेल पेरि ते तेली कहियत यों जग जाति विचारा ॥८॥

कलि अतीत जे ग्यान बिहूने भेषहि पै ठहराने ।
वैरागी सन्यासी जोगी जंगम जाति बखाने ।
दास भाव अरु सखा भाव इक सखी भाव भ्रम मंडे ।
नर नारायन बने बनाये पुत्र भाव सो छंडे ॥९॥

जो यह उपज्यौ होय और तें और भाव तौ राखै ।
यह तौ नर नारायन कौ सिसु वेद साख गुरु भाषै ।
वेद साख पितु साख न खोजै नहिं पूरौ गुरु पावै ।
जगत भगत निज जाति भूलि कैं मन मुख संभ्रम छावै ॥१०॥

जैसें एक बाघ कौ बच्चा डरौ गड़रियन पायौ ।
जाति करम भूले उहि अपने गाड़र मानि धरायौ ।
चरै फिरै गाड़र भयौ डोलै सदा गड़रिये कम्पै ।
बाघ पराक्रम कछू न जानै मांसहिं दांत न चम्पै ॥११॥

एक दिना बन चरत फिरत ते तहां बाघ इक गाज्यौ।
भजे गड़रिया लै सब गाड़र तिनही में यहि भाज्यौ।
तब उहि बाघ बाघ यहि देखौ अपुन बराबर सो है।
भूल्यौ जाति जानि यह पकर्यो कही बात तू को है ॥१२॥

तब यहि बाघ बाघ नहिं जानै गाड़र ओक बतावै।
सुनि उहि लही जाति यहि बिसरौ देखौ सो कहि आवै।
तब वह बाघ बताइ आपु गति जाति करम समुझायौ।
भयौ बाघ कौ बाघ गयौ भ्रम तब अपनौ पद पायौ ॥१३॥

त्यौं जन जीव अंस ईस्वर के परे अविद्या माहीं।
मानि रहे भ्रम जाति भेष क्रम आपै जानत नाहीं।
बाघ समान मिलै जब सतगुरु तब सब भरम भजावै।
कटै अविद्या विद्यमान ह्वै जीव ब्रह्म पद पावै ॥१४॥

जीव ब्रह्म निज जाति एक है यह संदेह न मानौ।
मिलै अविद्या जोव भयौ मिलि विद्या ब्रह्म बखानौ।
विद्या नाम पढ़न कौ नाहीं नहिं पोथी न पुराना।
जैसे कौं तैसौ ही समझौ यह विद्या विग्याना।
'अछिर अनिन्न' कही यह गाथा बीच भरम करि दूरी।
प्रथीचन्द नृप जानि जुगति मत यहै ग्यान गति पूरी ॥१५॥

कवित्त

आज कलिकाल में कुचाल देखी जहां तहां,
उद्यम की धुन प्रानी ग्यान बिसराये है।
हांसी ठगसार मसखरन कौ रिझैबौ नृप,
कपट पाखंड भेष भिच्छुक बढ़ाये हैं।
पूरौ संसकार ऐसे कुमति के जुग मांझ,
रावरी सुमति सत जुग उपजाये हैं।
देखत तुम्हारैं भक्ति भाव राव प्रथीचंद,
देत हम आसिष रहत सुख पाये हैं ॥१६॥

सवैया

आसिष देहिं,भलो सिख देहिं, सबै तुव द्वार करैं जप जग्या ।
आवन जान कौ ऐब न मानिबी, चित्त सदा तुमरे हित लग्या ।
आसन तैं न चलौं विय आसन, आयसु दीन गुरू सवंग्या ।
सो न उलंघि परै हमपै, गिरि मेरुहि तैं गरुई गुरु अग्या ॥१७॥

दोहा

हम सिसु सोरह बरस के, हते सुनौ नृपराज ।
तब तैं आसन बन्द किय, गुरू गरीब निवाज ॥१८॥

सप्तम प्रकाश

कवित्त

धाम की खबरि बन्धु बाम की खबरि जैसें,
ग्राम की खबरि देस खबरि ज्यौं भाखिये ।
मेला की खबरि ज्यौं तबेला की खबरि और,
सब की खबरि सर्व भाँति अभिलाषिये ।
एते उठिमिल्लन की राखत खबरि सदा,
जिनसौं न साथ लोक वेद सुनि साखिये ।
आदि मध्य अन्त कौ संघाती जो "अनन्य" भनै,
ताही करतार की खबरि क्यों न राखिये ॥१॥

नैननि बिसन रूप रंग छवि देखिबे कौ,
रसना बिसन तैं अनेक रस चाखिये ।
काननि बिसन राग रंगनि के सुनिबे कौ,
नासिका बिसन तैं सुगन्ध अभिलाषिये ।
इन्द्रिनि के बिसन लगे हैं सब भांति भांति,
बुद्धि के बिसन बात चातुरी सौं भाषिये ।
"अक्षर अनन्य" जैसें एतिक बिसन राखै,
तैसें एक बिसन भजन ही कौ राखिये ॥२॥

धन अभिलाष काहू गुन अभिलाष काहू,
विद्या अभिलाष भावै चरचा संभाष है ।
जस अभिलाष काहू नारी अभिलाष काहू,
पुत्रनि अभिलाष मोह पास मन राखि है ।

नाना अभिलाषनि में जगत जंजाल भूल्यौ,
यहै माया जाल जामैं कछुवै न साध है ।
"अक्षर अनन्य" जो पै भक्ति अभिलाष राखै,
वहै लाख भाँति के पुजावै अभिलाष है ॥३॥

गुरु बिना ग्यान कहा करिया विहीन नाव,
ग्यान बिना गुरु कहा लीबे ही में चित्त है ।
लोभी की प्रतीति कहा कहै जो हजार बार,
स्वारथी सौं प्रीति कहा दैबे ही लों हित है ।
इच्छा बिना क्रिया कहा, तौजी किहि काम आवै,
क्रिया बिन ग्यान कहा भाट कौ कवित्त है ।
"अक्षर अनन्य" दया धर्म बिन भक्ति कहा,
भक्ति बिन जोग जैसैं सिला कैसौ वित्त है ॥४॥

साधु तौ वहै है जोइ साधै गुन इन्द्री मन,
सती तौ वहै है जो रहै है प्रेम भरि कैं ।
सूर तौ वहै है जो न मुरकै गिरत सीस,
दानी तौ वहै है जो चलै न द्रव्य धरि कै ।
जोगी तौ वहै है जो जुगति जीव सींव मिलै,
राजा तो वहै है जो बिराजै धर्म धरिकैं ।
ध्यानी तौ वहै है जो न चंचल "अनन्य" भनै,
ग्यानी तौ वहै है सर्व जानै एक करि कै ॥५॥

शिष्य तौ है सोइ साखि समुझि कैं भूलै नहीं,
गुरु तो है सोई जो सकल ग्यान खानि है ।
भावना तौ सोई जो अभावना न होय फेरि,
करनी तौ सोई जो अकरनी न सानि है ।
साधन तौ सोई सधै मनसा "अनन्य" भनै,
चतुराता सोई तत्व चेतन कौं जानि है ।
परसन तौ सोई जो अपरसन न होय फेरि,
दरसन तौ सोई जो अदरसन हानि है ॥६॥

दरसन ऐसौ जहाँ रूप रेख भेष नाहीं,
रूप रेख भेष सब ताही में दरसिये।
परसन ऐसौ जहां सेवा पूजा बंदगी न,
सेवा पूजा बन्दगी न पद सो परसिये।
दरस परस दोनों विषै अभिलाष तौलौं,
जौलौं जीव ब्रह्म के अभेद में न रसिये।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर सुरति लीन,
सहज सरूप यहै धारना सरसिये ॥७॥

सवैया

निर्गुन सर्गुन एक दुऔ, करतार दुहूं करतार बजावै।
जंगम होत मिलै नर नारिहिं, थावर कौ धरनीर मिलावै।
द्वै मिलिनौ यह जोग मतौ, बिन जोग अजोग कहा फल पावै।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर सौं, मनसा मिलि आतम जोग जगावै ॥८॥

अष्टम प्रकाश

कवित्त

कागद छदाम कौ दुदाम की न मसि जामें,
लेखनि लकरि ही की मिहनत बात है।
जेते बड़े साहिब कौ लिखौ फरमान तामें,
तेती बड़ी कीमत हजारन बिकात है।
"अक्षर अनन्य" त्यौं मनुष्य पसु पंछि जैसें,
खात ही कमात बिषै बुद्धि जड़ गात है।
जेते बड़े गुरु को सबद सिद्ध मत पावै,
तेतौ बड़ौ पद ग्यान जोगी ठहरात है ॥१॥

सब ही में रूप रस गन्ध सपरस सब्द,
सब ही में इन्द्री गुन तत्व तन छाइये।
सब ही में मन चित्त बुद्धि अहंकार बसै,
सब ही में नींद भूख दुःख सुख गाइये।
सब ही में माया अरु ब्रह्म पुनि सब ही में,
"अक्षर अनन्य" सर्व समता बताइये।
छूटत अविद्या विद्यमान जातें सिद्ध होत,
सो तौ सत विद्या सत गुरु ही में पाइये ॥२॥

पंडित पढ़ावै पितु मात हू पढ़ावै गुरु,
भ्रात हू पढ़ावै जासु जैसौ कुल कायदौ।
धन ही की आस न धनी कौ विसवास कहूँ,
उद्यम को विद्यनि में सबही भ्रमायदौ।

पूरौ गुरु पावै सो पढ़ावै सार विद्या निज,
"अक्षर अनन्य" जामें चारौं फल फायदौ ।
सारासार बूझै तत्व सूझै सोइ विद्या जान,
और सब विद्या है अविद्या ही कौ वायदौ ।।३।।
एक पसु पंथ ग्रन्थ पद्धति न रीति भाँति,
धारिकैं तिलक माल हरि के सरन है ।
दूजौ नर पंथ वेद सुमृति पुरान बूझि,
भगति की रीति भजै नाथ के चरन है ।
तीजौ मुनि पंथ नैम संजम उपासना सौं,
वासना निवारि सुद्ध अन्तह करन है ।
चौथौ ग्यान जोग सिद्ध मारग "अनन्य" भनै,
समता समाधि धुनि धारना धरन है ।।४।।
भक्ति ग्यान जाति कर्म उद्यम प्रवीन होय,
भक्ति ग्यान देव मन्त्र पद्धति उपासहीं ।
वेद ग्यान जग्य दान जप तप धर्म रीति,
नाद ग्यान राग भेद स्रवन विलासहीं ।
काव्य ग्यान उक्ति जुक्ति कविता सुछंद पद,
छंद तैं सकल ग्यान ध्यान मति आसहीं ।
भासै तत्व ग्यान तुच्छ ग्यान वे "अनन्य" भनै,
भासकर भासैं तैं तरैया ज्यौं न भासहीं ।।५।।

सवैया

ज्यौं नृप मन्त्र लहै निज मन्त्रिय, चित्त सुकाज चलाउन चल्ला ।
और सरे दरबार विचार, कहैं अपनौ अपनौ मत भल्ला ।
सो सुनि बूझि "अनन्य" भनै, कछु जोर कैं और गलीन में गल्ला ।
ज्यौं मत सिद्ध प्रसिद्ध मतैं, षट पंथ हजार बजार के झल्ला ।।६।।
आपने आपने पंथ चलाइबौ, आपनी आपनी मांड़ को कीबौ ।
नीकौ लगै सब कौ अपस्वारथ, जानै न मूढ़ किते दिन जीबौ ।
"अक्षर" स्वारथ कौ तजि कैं, परमारथ के उपदेस कौ दीबौ ।
साधुनि कौ यह मारग है, गुरु मारग नाम निरन्तर लीबौ ।।७।।

कवित्त

धरिबे कौं नाम नैम निहचौ धरम ध्यान,
करिबे कौं इन्द्री मन आतमा जबद है।
तजिबे कौं पाप द्रोह झूठ परनारि संग,
सजिबे कौं भक्ति जोग ग्यान की रबद है।
लहिबे कौं ईस्वर सरूप सम दृष्टि सर्व,
कहिबे कौं सांच बकवाद कौ अबद है।
सोधिबे कौं सुद्ध आप अन्तर "अनन्य" भनै,
साधिबे कौं सिद्ध एक गुरु कौ सबद है ॥८॥

नवम प्रकाश

कवित्त

एकै भक्ति जोग भक्ति भाव नव अंग जामें,
पाँच अंग पद्धति सौं विधि सौं अराधिबौ।
दूजौ हठ जोग आठ अंग है विधान जाकौ,
कठिन कलेस पौन आसन कौ बांधिबौ।
तीजौ ग्यान जोग सिद्ध मारग सहज रीति,
नहिं हठ धर्म कर्म करनी कौ नांधिबौ।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर अधार धारि,
सारासार सोधन सुरति ही कौ साधिबौ ॥१॥

आगम कौ सार आदि देव सिव सक्ति जान,
निगम कौ सार ब्रह्म त्रिपदी रतन है।
रामायन सार राम नाम कौ महातम है,
भागवत सार क्रष्न पातक पतन है।
भारत कौ सार धर्म कीबौ सुभ कर्मनि कौ,
भक्तिनि कौ सार प्रेम दुविधा हतन है।
जोगनि कौ सार पौन साधन "अनन्य" भनै,
ग्याननि कौ सार राज जोग कौ जतन है ॥२॥

इन्द्रिनि कौ सार मन मनसा करम साधि,
पवन कौ सार चित्त चित्त ही कौं रोकिये।
गुननि कौ सार बोध बुद्धि हू को बोध करि,
तत्वनि कौ सार तत्व चेतन विलोकिये।

विद्यनि कौ सार सिद्ध गुरु कौ सबद जानै,
सदा गुरु सब्द ही में सुरति अटोकिये ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग की जुगति यहै,
बानी अनहद कौ अलाप अवलोकिये ॥३॥

रचि काम रांचिये न विरचि कैं त्यागिये न,
बैठि हठि जागिये न भूलि नींद लहिये ।
अफरि कैं खाइये न आतमा लंघाइये न,
बादहि बढ़ाइये न मौनताई गहिये ।
लोभ कै न गाड़िये दुकान दान मंडिये न,
छाँड़िये बिसन पाप पुन्य में न बहिये ।
राखिये सहज सर्व समता "अनन्य" भनै,
राज जोग साधि ऐसी जुगति सौं रहिये ॥४॥

मूल तत्व मन बांधि यहै मूलबन्ध करि,
सुरति के त्राटक सौं सुमिरन साधिहै ।
चित्त ही की अस्थिरता आसन असीन सदा,
संजम नियम बुद्धि दुविधा न बांधिहै ।
गुरु के सबद ही की धारना अधार धरि,
चेतन सरूप ध्यान मनसा अराधिहै ।
"अक्षर अनन्य" आठौं अंग लवलीन दसा,
यहै ग्यान जोग सिद्ध सहज समाधि है ॥५॥

धुनि ही के ध्यान में मगन लवलीन रहै,
सहज समाधि मिटै इच्छा बकवाद की ।
लोक की न मानि कानि टूट जात वेद हू की,
भेद मन पार होत भीति मरजाद की ।
मन्त्र मिलि बान ज्यौं पलटि चन्द्र भानु होत,
त्यौं ही मन बुद्धि बाढ़ अनहद नाद की ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग उनमत्त दसा,
सावधान बुद्धि पेट पचवै प्रमाद की ॥६॥

सावधान रहै सिद्ध पदवी न मान रहै,
सिद्धि हू असिद्धि जान बिघन की घात है।
नाना दुख सुखनि में बिचलै न चित्त कहूँ,
संगति कुसंगति में बहकै न बात है।
"अक्षर अनन्य" धुनि अन्तर तैं छांड़ै नहीं,
बैठैं उठैं ठांड़े परैं खेलत ही खात है।
विद्या ही अविद्या के विवादनि विदारि डारै,
छार डारै चरचा पै चित्त चलि जात है ॥७॥

ओखद की चरचा अनेक सुनै रोगी नर,
सरतु कछू न कोउ हरत न व्याधि है।
पूरौ वैद दैहै तौन खैहै तब जैहै रोग,
रैहै वाही जुगति सौं दुर्मति न नांधि है।
"अक्षर अनन्य" त्यौं ही नाना मति ग्यान सुनै,
पावै न प्रमान जौलौं एक न अराधि है।
गुरू के सबद आपु सुरति सौं जोगु जुरै,
ह्वैहै सिद्ध साधु जोई ऐसौ मत साधि है ॥८॥

साधै नहीं विद्या तौलौं छूटै न अविद्या पास,
छूटै न अविद्या तौलौं मन भ्रम भूत है।
कहा पढ़ैं गुनैं कहा त्याग हू विराग करैं,
स्वांग धरैं बन्दर न होत रजपूत है।
"अक्षर अनन्य" सिद्ध साधुनि कौ मत यहै,
साधै धुनि ध्यान दूरि करै अघदूत है।
भसम लगावै कै चढ़ावै चोवा चन्दन कौ,
वहै जग मांझ राज जोगी अवधूत है ॥९॥

दशम प्रकाश

कवित्त

ब्रह्म बिष्नु रुद्र देवी अगिनि गनेस भानु,
मच्छ कच्छ बाराह नृसिंघ क्रष्न राम है।
जाही कौ पुरान तहां ताही कौ महातम है,
दूसरे में साख न विरुद्ध गुन ग्राम है।
एक एक साख कही भारत में सब ही की,
एक ठहराउ नाहीं संभ्रम कौ धाम है।
"अक्षर अनन्य" जामें सब ही की साख मिलै,
सो मत बतावै ताही गुरु कौं प्रनाम है ॥१॥

एक कहैं आतमा है एक सर्व घट माहं,
दूसरौ न कोउ एक ब्रह्म सम मानिये।
एक कहैं आतमा जुदे हैं सब न्यारे न्यारे,
काहू की न जानै कोउ कैसें एक मानिये।
"अक्षर अनन्य" दोनों पच्छ बकवाद छाँड़ि,
गुरु कौ सबद सर्व सार उर आनिये।
कहा एक जानै कहा सरतु अनेक जानै,
जानिबौ वहै है जाहि जानै सब जानिये ॥२॥

जानै सब एक कै अनेक जीव करि जानै,
जानै अनजानै होत आन कौ न आन है।
बड़े बड़े देवता नरेस अवतारनि की,
कथनि के जानै नहीं कारज निदान है।

"अक्षर अनन्य" जैसै सोने को सुमेरु जानै,
छूटै न दरिद्र बाढ़ै सम्पति न थान है।
दान व्रत जोग जग्य जप तप ग्यान ध्यान,
जानिबौ प्रमान नाहीं करनी प्रमान है ॥३॥

एकै ब्रह्म विद्या साधि ब्रह्म ही सरूप होत,
एकै जोग विद्या साधि जोगी भगवान हैं।
एकै देव विद्या साधि भक्ति वरदान पावै,
एकै वीर विद्या साधि चेटक प्रमान हैं।
एकै मंत्र विद्या साधि बांधै अहि भूत बाघ,
"अक्षर अनन्य" नाना विधि के विधान हैं।
जेही जौन विद्या जाहि विधि सौं अराधि साधी,
ताकौं तौन विद्या ताहि भांति विद्यमान है ॥४॥

विद्यनि के सिरैं ब्रह्म विद्या है सबद बीज,
विधिनि के सिरैं वेद विधि सी न और है।
गुननि के सिरैं धर्म साधन महा गुन है,
धर्मनि के सिरैं सत्य भाषै सब ठौर है।
सिद्धिनि के सिरैं ग्यान सिद्धि है "अनन्य" भनै,
सिद्धिनि असिद्धिनि की जानै भ्रम भौंर है।
कर्मनि के सिरैं भक्ति जोग हठ जोग जानि,
जोगनि के सिरैं राज जोग सिरमौर है ॥५॥

सुख ही कौ पंथ जामैं बिघन कौ लेस नहीं,
घर ही में वन ही में एकै गति बरनी।
मन ही कौ खेल और खेलनौ मुकर मेल,
भोग अरु त्याग आपु इच्छा अनुसरनी।
तन के करम कौं करम की अटक नाहीं,
अंतह करन में अधार वहै धरनी।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर सुरति ध्यान,
यहै राज जोग की समाधि सिद्धि करनी ॥६॥

जोगहु की करनी जो बरनी है आठ अंग,
सो तौ अंग साधनता कसनी वसेल है ।
ध्यान ही पदारथ सधत जातें स्वारथ है,
ध्यान में न मति तौलौं भांड़ कैसौ खेल है ।
"अक्षर अनन्य" जैसें मारग पिपीलिका कौ,
क्रम सौं चढ़ाउ पौन बिघन तौ ठेल है ।
ग्यान जोग मारग विहंगम सुगम पंथ,
ग्यान ही के बल ध्यान ही में मन मेल है ॥७॥

सवैया

जाग्रति और सुषोपति की, दुहुं संधिनि में धुनि ध्यान अराधै ।
अर्पन वाच करै कृत अर्पन, जाग्रत कौ गुन दोष न बांधै ।
जाग्रत में मन सुद्ध रहै, सपनन्तर हू पुनि सो विधि नांधै ।
सिद्ध सिरोमनि जोग यहै, कहि "अक्षर" जो इहि रीति सौं साधै ॥८॥

साधन भक्ति अराधन के, बहु भांतिनि कष्ट क्रिया अवगाहीं ।
सिद्ध पदारथ हाथ परौ, लव लागि रही सहजै मन माहीं ।
"अक्षर" अक्षर पाठ भयें, जिमि कागद लागत रद्द सुभाहीं ।
कागद की भरि मोट हती, मति कोटि कौ भार रती भर नाहीं ॥९॥

दोहा

जौलौं बाहिर व्रत सधै, तौलौं साधन जान ।
जब आवै अंतहकरन, तब सिद्धान्त प्रमान ॥१०॥

एकादश प्रकाश

प्रथीचन्द नृपराज विचच्छन, सुनहु ग्यान कौ साधन ऐसौ।
सात सिढ़ी कौ यह सिंघासन, वेद साधु गुरु भाषत जैसौ।
प्रथम सिढ़ी परतीति जानिये, गुरु परतीति चित्त धरि लीजै।
ज्यौं औषधि चीन्हें बिन राजा, वैद वचन निहचै करि पीजै।
दूजी सिढ़ी धर्म की कहियतु, दया धर्म गुरु मारग डाटै।
आगें उग्र दोष तैं बचनौ, पिछले दोष भजन करि काटै।
तीजी सिढ़ी नैम पुनि जानहु, थोरौ बहुत नैम कछु धरिये।
जौलौं लव न सधै चित चंचल, नित्य नैम अंकुस मन करिये।
चौथी सिढ़ी प्रेम निज कहियत, प्रेम सहित सुमिरन मन लावै।
प्रेम बिना जो साधन साधै, तौ मजूर की रीति कहावै।
पंचम सिढ़ी धारना निहचल, धरनि धरै सो सदा निबाहै।
कुमति कुसंग बिघन दुख सुख बहु, बिचलहि नहीं ग्यान अवगाहै।
छठई सिढ़ी सुरति कौ त्राटक, सुमिरन भजन भक्ति अभिलाषै।
भ्रमत फिरत मन ताहि पकरि हठि, सुरतहि सुरति अराधन आसै।
सातइं सिढ़ी अभेद इष्ट सौं, मिलवहि चित्त ध्यान रस भोगी।
चित्त निरोध बोध कौ कारन, यह सिद्धान्त कहत मुनि जोगी।
इहि विधि सात सिढ़ी साधन करि, तबहिं ग्यान सिंघासन सोहै।
"अछिर अनिन्न" कहत सुन राजा, ता समान सुर नर मुनि को है॥

द्वादश प्रकाश

कवित्त

कोऊ कहै ब्रह्म बड़ौ कोऊ कहै बिष्नु बड़ौ,
कोऊ कहै रुद्र बड़ौ यहै टेक धरिबौ।
बड़े बड़े देवनि की सुनिकैं बड़ाई ग्रन्थ,
आपु आपु थाप मठ आपुस में लरिबौ।
"अक्षर अनन्य" जोपै आपु में न करनी है,
बरनी विवाद करि कैसें पार परिबौ।
छोटौ है सु आपु कौं बड़ौ है सु तौ आपु ही कौं,
आपु कौं तौ ह्वहै फल जोई आपु करिबौ ॥१॥

कीबौ करामात नाहीं जोरिबौ जमात जमा,
लीबौ नहीं दीबौ कीबौ भजन भनिन्नता।
राग न वैराग कर्म धर्मनि कौ परित्याग,
गर्व न गरीबी सर्व समता गनिन्नता।
सेवै जिहि देवै तिहि देव ही पै जाँचै नहीं,
और की कहा है इष्ट व्रत की बनिन्नता।
एक गुरु सब्द कौ सहज धुनि ध्यान धरै,
"अक्षर अनन्य" ऐसो बरनी अनिन्नता ॥२॥

कहिये ग्रहस्थ तौ ग्रहस्थनि कौ दावा लगै,
नाना सत्रु मित्र जाति पांति कुल गोत है।
कहिये विरागी तौ विरागी भेष दोष लगै,
सन्यासिन हू सौं बैर दावा पुनि होत है।

तातें तजि दावा निरदावा हो अतीत हूजै,
अतितहु भयें कहा दावा करि होत है।
"अक्षर अनन्य" निरदावा निरभय खेलै,
अनुभव नाथ दीनों अनुभौ उदोत है ॥३॥

ग्रेही कहै अतित अतीत सब ग्रेहो कहैं,
ग्रेही न अतीत ऐसी रीति ही सौं रहै है।
निंदै काहू मत कौं न वंदै काहू देवता कौं,
धर्म हू अधर्म के न मारग में बहै है।
"अक्षर अनन्य" आपु मत ही सौं मति रहै,
जैसी जासु मति तैसी तासौं बात कहै है।
वेद कैसी चरचा बेकैद कैसी रीति सदा,
भेद कैसी बात पै अभेद ग्यान गहै है ॥४॥

चौबोला

प्रथीचन्द नृप नाथ तुम्हारें ग्यान सुनन की इच्छा।
भांति भांति के ग्यान जगत में सुनौ हमारी सिच्छा।
एकै वेद पुरान सास्त्र व्याकर्न काव्य पढ़ि जानै।
नाना अर्थ कथनि कौ कहिबौ यहै ग्यान करि मानै।
अन्तर धुनि की खबर नहीं बाहर चातुरि विस्तारी।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ॥५॥
एकै छंद वंद कविता रचि ग्रन्थ कवित्त बखानै।
नाना उक्ति जुक्ति को बरनन यहै ग्यान करि मानै।
दातनि के रिझवन की आसा प्रभु की आस बिसारी।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ॥६॥

एकै ज्योतिष लगन महूरत घरी गनोत्तर जानै।
पूछै तैसी विदी मिलैबौ यहै ग्यान करि मानै।
विदी मिलै तो भीख मिलै न तु कहैं दैव गति भारी।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ॥७॥

एकै साधु स्वरोदय साधै सुर भेदनि मन लावै ।
जो कोउ जाय प्रस्न कौं पूछै सुर कौ भेद बतावै ।
यह तौ रीति सगुनिया जैसी जगत महातम भारी ।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ।।८।।

एकै वीलन कौ बस करि कै यह सिद्धान्त जु मानै ।
खबर मंगाय लेत इत उत की सबसौं आपु बखानै ।
इहि विधि जतन लगावत जग में आखिर कुगति विचारी ।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ।।९।।

एकै लोग प्रयोग साधि कैं कहत सिद्धि करि दैनै ।
क्यों न सिद्ध करि लेत आपु कौं मिस करि धन ठग लैनै ।
क्रिया सिद्ध क्यों होत भक्ति बिन बैंचत इष्ट भिखारी ।
यहै ग्यान नाहीं सुन राजा उद्यम गति संसारी ।।१०।।

ऐसें और कहां लौं कहिये भाँति भाँति गुन ल्यावै ।
अपनी अपनी गौं की बातें दाता कौं भरमावै ।
जद्दपि हैं अति चतुर विचच्छन लोभ लहरि उरझानै ।
तातैं इन सौं ग्यान न कहियत करता के बिन जानै ।।११।।

जग मिथ्या करतार सत्य लहि ग्यान कहत हैं या सौं ।
जग प्रपंच में भूलि न रहिये सुरति बांधिये वा सौं ।
दुख सुख हानि वृद्धि संसारी होनी होइ सु होई ।
मन वच कर्म विचार चित्त में सुरति बांधिये सोई ।।१२।।

यहै ग्यान यह भक्ति जोग है सुमिरन सुरति लगावै ।
वन सेदै कै करै राज सुख करनी कौ फल पावै ।
तप तैं राज राज तैं नर्क कहत मूरख मति वारे ।
क्यों न जुधिष्ठिर गये नर्क में स्वर्ग सदेह सिधारे ।।१३।।

पाप धर्म सौं स्वर्ग नर्क गति बरनत वेद पुराना ।
राज रंक ग्रेही अतीत कौं करनी फलति निदाना ।
करनी भांति भांति पुनि राजा भांति भांति फल जानौ ।
सबके सिरैं सिद्ध करनी निज आतम ग्यान बखानौ ।।१४।।

आतम ब्रह्म सकल घट देखै दया भाव की पूजा।
सब्द ब्रह्म कौ साधन कोजे या सम ग्यान न दूजा।
आतम ब्रह्म अंध पुनि कहिये सब्द ब्रह्म है पंगा।
कारज सिद्ध होत राजा जब जुरत दुहुनि सौं संगा ॥१५॥

सब्द ब्रह्म आतमा ब्रह्म सौं जोग जुरै तो जोगी।
नातर नर पसु पंछि बराबर खान पान रस भोगी।
नर देही कौ फल यह राजा सबद ब्रह्म आराधौ।
और सकल संसारी कारज धरम रीति सौं साधौ ॥१६॥

जो कोउ आपु आस तकि आवै बनि आवै सो दीजे।
जो कोउ आपु लगे लपटे जन दया सबनि पर कीजे।
तन करि मन करि वचन कर्म करि दुख न काहु कौं दैनौ।
सौ बातनि की बात यहै है नाम धनी कौ लैनौ।
"अछिर अनिन्न" देत सिख पूरी बड़ौ ग्यान गुरु अर्चा।
प्रथीचन्द नृप राज जानिये या पर और न चर्चा ॥१७॥

त्रयोदश प्रकाश

सवैया

भक्ति सुलच्छन बुद्धि विचच्छन, हौं जु लही नृप रीति तिहारी ।
चाहत हौ हम कौं हित सौं, चरचा पर चित्त चहै अधिकारी ।
पैंहौ नहीं चरचा करि राज, निरन्तर की गति गूढ़ हमारी ।
नाथ कृपा कौ प्रताप अपार, कथा यह लोकहु वेद तें न्यारी ॥१॥

बेद कबै प्रहलाद पढ़े, प्रहलाद समान भयौ को पढ़ैया ।
"अक्षर" मूल वहै पढ़िबौ, गुरु अक्षर की धुनि ध्यान रटैया ।
साधु कौ मारग साधु लहै, न लहै कवि पंडित वाद बतैया ।
कौतुकहार कहा गति जानहि, जो गति जानहि बाँस चढ़ैया ॥२॥

राज सभानि कौ रीझि रिझायबौ, भिच्छुक लोगनि कौ यह काम है ।
आसन वास विलास इकंतहि, संतनि साधुनि कौ बिसराम है ।
ग्यान वहै करनी महं भेद है, जो करनी लहि सो परनाम है ।
"अक्षर" सिद्ध मतौ पकरौ, सु नहीं कलि काल के भेष कौ धाम है ॥३॥

पंडित वेद पुराननि बैंचत, बैंचत राग गुनै गुनवारौ ।
छंद कवित्तनि कौं कवि बैंचत, मन्त्रनि बैंचत है गुरु भारौ ।
या कलि काल कौ कौतुक देखि, "अनन्य" भयौ सब बात तें न्यारौ ।
आसन होय सु होय भलैं, पर आसन पाँय परै न हमारौ ॥४॥

दोहा

जहं आसन अस्थिर तहां, गच्छत देस विदेस ।
साधुनि की पद्धति यहै, नहिं हठ गर्व नरेस ॥५॥

कवित्त

जल देखौ थल देखौ चल ही अचल देखौ,
अनिल अनल देखौ नर नारि नाकुरो।
घट देखौ पट देखौ निकट प्रगट देखौ,
मठ ही अमठ देखौ पूरन प्रभा कुरी।
वास ही अवास देखौ वास वसुदेव जू कौ,
"अक्षर अनन्य" ग्यान ध्यान समता कुरी।
सब कोउ कहै चलौ ठाकुर के दरसन कौं,
है धौं कौन ठौर जिहि ठौर है न ठाकुरी ॥६॥

सवैया

आपुन तौ सब लाइक हौ, सब भांतिनि सौं वरदाइक साजी।
सील संतोष धरैं हम हूँ, समता छमता हिरदै महं छाजी।
सिच्छक हैं सुभ इच्छुक हैं, पर भिच्छुक नाहिं न जानत बाजी।
होइ सु होइ न होइ भलैं, हम तौ महराज के हेत सौं राजी ॥७॥

सिन्धु नदी वन दंडक सौ, सनकादि सौ छेत्र सदा जल गाजै।
कासी सौ वास घने मठ संभु के, साधु समाज जै बोलै सदा जै।
कोट अटूट बन्यौ गिरि पै, प्रथु सौ प्रथिचन्द नरेस बिराजै।
उद्दित मन्दिर तीर नदी, तिहि आसन अस्थिर "अक्षर" छाजै ॥८॥

चौबोला

जो कहिये कै बड़े विधाता, जिनि यह सृष्टि उपाई।
तौ या महं सन्देह कहा है, करता मांड़ मंड़ाई।
जो कहिये कै बिष्नु बड़े हैं, रक्षनहार दुनी के।
बिन रक्षक करतार करै, कह रक्षक सबतैं नीके ॥९॥

जो कहिये कै रुद्र बड़े हैं, जे संहरति त्रिलोकै।
रक्षनहार बड़ौ कहिये जो, मारत प्रबलहि रोकै।
जो कहिये कै ब्रह्म बड़े हैं, आतम सब घट सोई।
बिन आतम ठहरात नहीं कत; चित्र भीति पर होई ॥१०॥

जो कहिये चित सक्ति बड़ी है, सक्ति सार संसारा।
सक्ति बिना बेसक्ति करै कहि, चेतन सक्ति अधारा।
जो कहिये बुधि विद्या लक्ष्मी, तीन्यौं देवि गरूरी।
इन बिन नर तिनका भिनका सम, ये सब विधि सुख पूरी ॥११॥

भुव जल तेज पवन आकासौ चंद सूर अरु मेहा।
छोटौ बड़ौ कौन सौं कहियै, सबसौं लागी देहा।
ज्यौं तन एक अनेक अंग हैं, हाथ पांव मुख नैना।
ताकौ करम होय ताही पर, कर पद कहत बनै ना ॥१२॥

एक बंदि निंदत औरन कहं, ते अपराधी अंधे।
विस्व रूप संघटहि न जानत, कुमति कर्म सौं बंधे।
'अछिर अनिन्न' सर्व समता करि, दुविधा बाद न बहिये।
श्री गुरु सब्द अधार निरन्तर, वहै इष्ट दृढ़ गहिये ॥१३॥

चतुर्दश प्रकाश

सवैया

आतम ग्यान सु ग्यान वहै, परमातम ध्यान सु ध्यान सुरेसुर।
वेद विधान विधान वहै, सत पात्रहि दान सु दान धनेसुर।
अन्तर भक्ति सु भक्ति वहै, गति अन्तर की परखै परमेसुर।
वेद प्रमान "अनन्य" भनै, यह भेद सुनौ प्रथिचन्द नरेसुर ॥१॥

पद्धरि छंद

यह भेद सुनहु प्रथिचन्द राउ, फल चारिहु को साधन उपाउ।
इक लोक साध लोकीक लोग, खातहु कमात रचि काम भोग ॥१॥

यह लोक सधै सुत पुत्र वाम, परलोक नसै बसि नर्क धाम।
परलोक साध इक हैं अतित्त, तप व्रत तीरथ करि कष्ट नित्त ॥२॥

इहि लोक न तिन कहं सुख विलास, परलोक सधै सुख स्वर्गवास।
परलोक लोक दुव सधै जाहि, सोइ राज जोग सिद्धान्त आहि ॥३॥

निज राज जोग ग्यानी करंत, हठि धर्म मूढ़ साधत अनन्त।
इक पवन खैंचि आसननि जोरि, इक हाथ पांव कटि ग्रीव तोरि ॥४॥

इक घाम सीत जल सहत अंग, इक पंच अगिनि तप देह भंग।
इक लंघन जुत वोगरा खात, इक भ्रमत फिरत तीरथनि जात ॥५॥

यह विविध पंथ काया कलेस, दुर्लभ करि पावत पद प्रवेस।
जैसे भुजंग बाँबी मंझार, इक खोदि कूटि काटन प्रचार ॥६॥

हठि करि पकरहि कै काटि खाइ, त्यौं हठ धर्मनि के पंथ राइ।
इक ऊपर नहिं खोदन करंत, पढ़ि मन्त्र खैंचि पकरत तुरन्त ॥ ७ ॥

त्यौं राज जोग सुख सहज माहिं, सिद्धान्त लहत तन कष्ट नाहिं।
ऊपर विलास विलसै समस्त, निज ग्यान ध्यान मनसा दुरस्त ॥ ८ ॥

अपनौ करि कछु रहिये न मानि, सब ईस्वर ही कौ विभव जानि।
धरि त्रिगुन बीज धुनि सब्द मूल, सो मनसा सुमिरन प्रेम फूल ॥ ९ ॥

बैठे सब महं रहिये सुखैन, दिखिये सब कछु नहिं मूँदि नैन।
करिये सब कछु करिबे जु होइ, मनसा सुमिरन धुनि सहज सोइ ॥१०॥

बातें करिये तौ चारि उक्ति, कै अर्थ धर्म कै काम मुक्ति।
इन चारिहु में नहिं सधै एक, ते मिथ्या वचन बिना विवेक ॥११॥

हाँसी चबाउ गिल्ला विवाद, का इन बातनि महं है सवाद।
कहिबौ सुनिबौ मतलब प्रमान, लहि मनसा सुमिरन सुरति ध्यान ॥१२॥

बैठत उठंत चितवत चलंत, खातहु कमात सुमिरन करंत।
जो अन्तर सुमिरन सुरति आहि, तौ बाहिर कर्म न लगत ताहि ॥१३॥

जो मति सो गति यह कहत वेद, मति गति साधन यह ग्यान भेद।
जो मति न सधै मन कर्म मोह, तौ टोपी दियैं न मुक्ति होइ ॥१४॥

जो मति गति साधन सुरति ध्यान, तौ पाग नहीं रोकंत ग्यान।
यह मन ही कौ कारन विचार, नहिं बंधन सुत परिवार नारि ॥१५॥

का होत मुड़ायें मूड़ बार, का होत रखायें जटा भार।
का होत भामिनी तजैं भोग, जौलौं न सधै थिर चित्त जोग ॥१६॥

थिर चित्त करै सुमिरन मंझार, ऊपर साधै सब लोक चार।
यह राज जोग सुख कौ निधान, कोउ ग्यानवंत जानत प्रमान ॥१७॥

अर्जुन जनक प्रथु आदि लोग, राजनि साधै यह राज जोग।
सुख राज कर्‌यौ अरु भये सिद्ध, को अतित भयौ उन सम प्रसिद्ध ॥१८॥

यह अतितन हू तें अति अनूप, सुन राज जोग सिद्धान्त भूप।
मुख मारग यह प्रथिचन्द राज, या सम न आन तत मत इलाज ।।१६।।

यह राज जोग यह भक्ति ग्यान, मनसा सुमिरन धुनि रूप ध्यान।
जो यह न सधै धुनि ध्यान गूढ़, तो अजपा साधन सांस मूठ ।।२०।।

जो यह न सधै अजपा उचार, तो इष्ट देव धरि ध्यान सार।
जो ध्यान न आवहि बिना देख, तो प्रतिमा थापहि इष्ट भेष ।।२१।।

नित प्रतिमा पूजन दरस नित्त, सोइ मूरति राखहि ध्यान चित्त।
इहि भांति ध्यान उर बसहि आन, यह ध्यान राह नरनाह जान ।।२२।।

जो ध्यान न सधहि न लगहि चित्त, तौ नैम सहित जप मन्त्र नित्त।
जो मन्त्र न विधि सौं सधै राव, तौ पावन प्रभु कौ लेय नाव ।।२३।।

तन सुद्ध होइ मुख सुद्ध बानि, मन सुद्ध ईस सरवग्य जानि।
मन कौ सुभाव भ्रमिबौ अकथ्थ, त्यौं सुमिरन साधन ग्यान गथ्थ ।।२४।।

मुख कौ सुभाव बकिवौ नरेस, त्यौं नाम भजन चरचा सुदेस।
करि भक्ति भजन सुमिरन सुबुद्धि, मैंटहि मन की भ्रमना कुबुद्धि ।।२५।।

जित जित मनसा भरमै अनन्त, तित तित सुमिरन साधन सतन्त।
कछु दिन साधन करिये उपाव, परि जात बहुरि मनसा सुभाव ।।२६।।

मनसा सुमिरन धुनि ध्यान लीन, यह राज जोग जानहु प्रवीन।
जो राज जोग यह सधै राज, तौ मन वांछित सब होत काज ।।२७।।

अरु कर्म लिप्त कबहूं न होत, जग जीवन मुक्त सदा उदोत।
यह ग्यान भेद अरु वेद साखि, "अक्षर अनन्य" सिद्धान्त भाषि ।।२८।।

दोहा

राज जोग सिद्धान्त यह, जान राज प्रथिचन्द।
या सम मत नहिं दूसरौ, खोजि सास्त्र बहु द्वन्द ।।२६।।

जो चाहौ संसार सुख, अरु सिद्धान्त प्रकास।
तौ साधौ सरवग्य यह, राज जोग अनयास ।।३०।।

२. उपासना बोध

दोहा

गुरू सदासिव रूप लहि, पिता पितामह रूप ।
जग माता माता तथा, बिष्नु कला लहि भूप ॥१॥
ये चार्‍यों परतच्छ प्रभु, उन चार्‍यों के अंग ।
जथा जोग उपदेस यह, भक्ति करै चतुरंग ॥२॥
स्वामि धर्मं जन कहं उचित, तात मात सुत सेव ।
साधु पंथ सिच्छा यहै, वंदन श्री गुरु देव ॥३॥
श्री गुरु देव महा पुरुष, सब देवन के इष्ट ।
सुर नर मुनि गंधर्वं गन, सब से गुरू गरिष्ट ॥४॥

सवैया

जद्दपि बैल महा बलवान, पराक्रम घोर करै भर खेवा ।
तद्दपि नाथ के हाथ करै सोई, नाथ करावहि पावहि मेवा ।
त्यौं सब देव बड़े प्रभु हैं, तिन मन्त्रन कील करै बस नेवा ।
वेद प्रमान "अनन्य" भनै, गुरु देव बराबर और न देवा ॥५॥

दंडक

देवता सबहि मन्त्र ही के बस आवत हैं,
मन्त्र बस गुरु जू के विधि कौ विधात हैं ।
विधि सौं अराध जानैं देत वरदान देव,
विधि ही के चूकत ही देवता रिसात हैं ।
आपु तैं सम्हार न सम्हार करै सुर फेरि,
गुरु जू सम्हारै सुत सरन ज्यौं तात हैं ।
"अक्षर अनन्य" तातैं नातौ निज गुरु ही सौं,
गुरु ही के नातैं सुर नातौ जुरि जात है ॥६॥

कागद छदाम कौ दुदाम की न मसि जामैं,
लेखनि लकरि ही की मिहनत बात है।
जेते बड़े साहिब कौ लिखौ फरमान वामें,
तेती बड़ी कीमत हजारनि बिकात है।
"अक्षर अनन्य" त्यौं ही नर पसु पंछी जैसें,
खात ही कमात बिषै बुद्धि जड़ गात है।
जेते बड़े गुरु कौ सबद सिद्ध मत पावै,
तेतौ बड़ौ पद सिद्ध जोगी ठहरात है ॥७॥

सब ही में रूप रस गन्ध सपरस सब्द,
सब ही में इन्द्री गुन तत्त तन छाइये।
सब ही में मन चित्त बुद्धि अहंकार लसैं,
सब ही में नींद भूख दुख सुख गाइये।
सब ही में माया अरु ब्रह्म पुनि सब ही में,
"अक्षर अनन्य" सर्व समता समाइये।
छूटत अविद्या विद्यमान जातैं सिद्ध होत,
सो तौ सत विद्या सत गुरु ही में पाइये ॥८॥

पंडित पढ़ावै पितु मात हू पढ़ावै गुरु,
भ्रात हू पढ़ावै जासु जैसौ कुल कायदौ।
धन ही की आस न धनी कौ बिसवास काहू,
उद्यम की विद्यनि में सब ही भ्रमाइदौ।
पूरौ गुरु पावै सो पढ़ावै सार विद्या निज,
"अक्षर अनन्य" जामें चार्‌यों फल फाइदौ।
सारासार बूझै तत्व सूझै सोइ विद्या जान,
और सब विद्या है अविद्या ही कौ वाइदौ ॥९॥

व्यापक अविद्या पाप धरम करम बंध्यौ,
याही तैं कहत जीव दुखित खराब है।
जोग की जुगति मन इन्द्री गुन बस करै,
तब वहै जोगेसुर ईस कौ हिसाब है।

साधै ब्रह्म विद्या विद्यमान होइ ग्यान रूप,
ब्रह्म पद पावै तब आवै निज आब है।
भूपति किसान सिद्ध नर ज्यौं "अनन्य" भनै,
एक आतमा के तीन करनी खिताब है ॥१०॥

एकै कहैं आतमा है एक सब घट मांझ,
दूसरौ न कोऊ एक ब्रह्म सब मानिये।
एकै कहैं आतमा जुदे हैं सब न्यारे न्यारे,
काहू की न कोउ जानै कैसें एक मानिये।
"अक्षर अनन्य" दोनों मिथ्या बकवाद छांड़ि,
गुरु कौ सबद ग्यान भाव उर आनिये।
कहा एक जानैं कहा सरतु अनेक जानैं,
जानिबौ वहै है जाहि जानै सब जानिये ॥११॥

जानै सर्व एक कै अनेक जीव करि जानै,
जानै अनजानैं होत आन कौ न आन है।
बड़े बड़े देवता नरेस अवतारन की,
कथनि के जानै ही न कारज निदान है।
"अक्षर अनन्य" जैसें सोने कौ सुमेरु जानै,
छूटै न दरिद्र बाढ़ै सम्पति न थान है।
दान ब्रत जोग जग्य जप तप ग्यान ध्यान,
जानिबौ प्रमान नाहीं करनी प्रमान है ॥१२॥

जानिबौ बड़ौ है जानि कैं जो करतूत करै,
बिना करतूत ग्यान मिथ्या बकवाद है।
मन में न धरै तौलौं कहा जो बखान करै,
अमृत की चरचा में कौन सौ सवाद है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जानि कै भगति राखै,
भाषै वहै नाम जो गुरू की मरजाद है।
जानै सर्व व्यापक न मानै दूरि आपुनि तें,
सांचो ब्रह्म ग्यान जैसें रांचो प्रहलाद है ॥१३॥

उत्तिम उपासना में वासना रहै न और,
देखै सब ठौर सर्व व्यापक कौ ध्यान है।
मध्धिम उपासना में कामना फलनि की है,
जानै एक देसी प्रभु प्रतिमा प्रमान है।
दो में एक साधै तौ अराधै तन मन लाइ,
"अक्षर अनन्य" होत अनुभौ निदान है।
आपु ही कौं ब्रह्म मान कहै और को है कहां,
यह तौ मुगध नासतीकन कौ ग्यान है ॥१४॥

छांड़ै न कुकर्मनि सुकर्म छांड़ै निन्दा करि,
मानै हम ग्यानी भये कर्मं न डरत हैं।
ब्रह्म ठहरात भहरात हैं अविद्या ही में,
जानै ब्रह्म विद्या कौं न टेकहि धरत हैं।
"अक्षर अनन्य" सूझ बूझ कछू आपु में न,
सुनि कैं कथानि अभिमानहि धरत हैं।
अंतर अबोध ब्रह्म रूप कौ प्रबोध नाहीं,
बादि ही विवाद ब्रह्म वादी ते करत हैं ॥१५॥

कीजे ब्रह्म ज्ञान कै भगति जोग जाप ताप,
थापिये जु मत तौ जुगति वहै धारिये।
जुगति के साधे बिना अकलैं न काम आवै,
भांड़ कैसी नकलैं न जोगी सो विचारिये।
"अक्षर अनन्य" ग्रन्थ-पंथनि में ग्यान सुनि,
ग्यानी नहीं होत जोलौं आपु न सम्हारिये।
आपने ही नैननि सौं सूझत कुरूप रूप,
औरनि के नैननि सौं रूप न निहारिये ॥१६॥

आपने ही सम्पति सौं संपति विपति हरै,
औरनि की सम्पति सौं कारज न धाम के।
आपने ही विद्या सोई विद्या उर विद्यमान,
औरनि की विद्या सुनि पंडित न नाम के।

आपने ही करम के फल दुख सुख फलैं,
और के करम सौं न फल बिसराम के।
आपने ही करमन सौं करनी "अनन्य" भनै,
औरनि के करनी बखान कौन काम के ॥१७॥

कोऊ कहै ब्रह्म बड़ौ कोऊ कहै बिष्नु बड़ौ,
कोऊ कहै रुद्र बड़ौ यहै टेक धरिबौ।
बड़े बड़े देवनि की सुनिकैं बड़ाई ग्रन्थ,
आपु आपु थापि मठ आपुस में लरिबौ।
"अक्षर अनन्य" जौलौं आपु में न करनी है,
बरनी विवाद करि कैसें पार परिबौ।
छोटो है सु आपु कौं बड़ौ है सो तौ आपु ही कौं,
आपु कौं तौ ह्वहै फल जोई आपु करिबौ ॥१८॥

सुन्यो ब्रह्म ग्यान जोग ध्यान कौ विधान सुन्यौ,
सुन्यौ देवतानि कौ महातम अपार है।
छोटे बड़े ग्रन्थ पंथ सुनै अरु जानै सब,
सुनिबे में जानिबे में बुद्धि भ्रम जार है।
"अक्षर अनन्य" सब जानि कैं अजान भये,
जानी यहै बात करतूत एक सार है।
नाना भ्रम मैंटि सिद्धि चार निरधार करि,
गुरु के सबद ही की धारना अधार है ॥१९॥

वेद के विचार चार चार ही प्रकार सुनैं,
सुम्रति पुरान धर्म कथनि कौ पार ना।
सास्त्र छह छहूं भांति भिन्न भिन्न बाद करैं,
एक बात काहू की दिढ़ात सुविचार ना।
"अक्षर अनन्य" तातैं नाना मत छार डार,
कहै अरु सुनै कहा कीनै बिन सार ना।
सिद्धनि कौ साधुनि कौ मारग प्रसिद्ध यहै,
गुरु के सबद की धरहि एक धारना ॥२०॥

ब्रह्म है कै माया है करम है कै करता है,
जोति है कै सुन्न है धरम है कै मार है।
राम है कै क्रष्न है विधाता है कै बिष्नु है,
सगुन है कै निर्गुन है त्रिगुन औतार है।
"अक्षर अनन्य" ऐसे मत तौ हजार सुनै,
भरम बजार कौ मिलत नाहीं पार है।
सब कौं बिसारि सिद्ध साधुनि बिचार यहै,
गुरु कौ सबद सर्व सारनि कौ सार है ॥२१॥

वेद के विवाद छांड़ लोक के विषाद छांड़,
बुद्धि के प्रमाद छांड़ यों ही भरभस है।
भावना भरम छांड़ कामना करम छांड़,
पाप हू धरम छांड़ मिथ्या परबस है।
बरनासरम जीव ब्रह्म हू की मानि छांड़,
मानि है न कछू चित्त काजैं करबस है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग की जुगति जान,
गुरु कौ सबद साध यहै सरबस है ॥२२॥

मन अनुरक्त होत मनई विरक्त होत,
मन निज भक्त होत मन खल पीन है।
मन जग जीव होत मन उठि ब्रह्म होत,
मन सुख इन्द्रि होत मन दुख दीन है।
मन भ्रम भूत होत मन अवधूत होत,
मन ही के भाव सबै छिन भंग छीन है।
"अक्षर अनन्य" मैंटि मन के प्रभाव सबै,
धुनि ही के ध्यान मन कीजे लवलीन है ॥२३॥

नाना ग्रन्थ पंथनि की चरचा न चित्त दीजे,
नाना भव भीतिनि में भय न अवगाहिये।
नाना दुख दारिद में विकल हो बिछांड़िये न,
नाना सुख संपति में बिषै ना बिसाहिये।

नाना भ्रम जारनि में मन ना बेजार कीजे,
सिद्धि ही असिद्धिनि के फल कौ न चाहिये ।
"अक्षर अनन्य" इष्ट धारना अधार यहै,
गुरु कौ सबद एक टेक निरवाहिये ॥२४॥

एकै भेदवादी एकै कोविद अभेद वादी,
ऐसे बहुवादिनि के वादनि बिसारि दैं ।
अरथ धरम काम मुकति भुगति स्वर्ग,
राज सुख संपति की बासना उखारि दै ।
नाना सुर कीरति महातम कथानि सुनि,
धारिये न आन कान दुविधा निकारि दै ।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर उचारि हियें,
चार ही कुचार के विचार सब बारि दै ॥२५॥

ग्यान हू अग्यान की तरंगनि में बूड़िये न,
रागहु बैराग के न रागनि में रागिये ।
संगति कुसंगति की बातनि में भूलिये न,
सम्पति बिपति ही में समता न त्यागिये ।
काम निहकाम कौ न कीजिये विचार सोच,
धारना अधार धरि सुरति सौं जागिये ।
केवल उपासना की पद्धति "अनन्य" भनै,
सावधान होकैं आप साधन सौं लागिये ॥२६॥

दोपक पतंग मृग स्रवन ज्यौं राग रंग,
निसिपति अंग त्यौं चकोर ज्यौं लहत है ।
एकै तन एकै मन एकै प्रान पन बांधि,
लगन लगाइ कैं मगन हो रहत है ।
प्रेम सौं सहित नैम यहै न सुहाइ और,
चातक रटनि गुरु सब्दहि गहत है ।
सिद्धि हू असिद्धि फलाफल तैं न चित्त चलै,
"अक्षर अनन्य" ऐसी धारना कहत है ॥२७॥

धरिबे कौं ध्यान धीर धारना अधार उर,
करिबे कौं इन्द्री मन आतमा जबद है ।
तजिबे कौं पाप द्रोह झूठ पर नारि संग,
सजिबे कौं भक्ति जोग ग्यान की रबद है ।
लहिबे कौं ईस्वर सरूप समदृष्टि सर्व,
कहिबे कौं सांच बकवाद कौ अबद है ।
सोधिबे कौं सुद्ध आपु अंतर "अनन्य" भनै,
साधिबे कौं सिद्ध एक गुरु कौ सबद है ॥२८॥

सेइबे कौं ब्रह्म है न बिष्नु पुनि सेइबे कौं,
सेइबे कौं जोति है न सुन्न पुनि तंत्र है ।
सेइबे कौं सिव है न सक्ति पुनि सेइबे कौं,
सेइबे कौं नहीं और सुर गुन जंत्र है ।
सेइबे कौं दूसरौ न कारन "अनन्य" भनै,
सेइबौ कहावै पावै प्रगट इकंत है ।
मन्त्र बस देवता जहां हैं तहां प्रेरि ल्यावै,
सेइबे सुमरिबे कौं एक गुरु मन्त्र है ॥२९॥

देवता उरग भूत महा यौं प्रबल जानि,
छल बल जिन सौं चलत कछू ना हिये ।
होइ जो सबद तासु मन्त्र तौ सहज माहिं,
फल के समान सौं पकरि कर माहिये ।
चेतनि सबद है नियंता सब देवनि पै,
वहै है सबद ब्रह्म वेद गुन गाहिये ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान ध्यान भक्ति जोग करि,
साधिये सबद जो अलख लख्यौ चाहिये ॥३०॥

ध्याइये सबद जाहि ध्यावैं हरि हर ब्रह्म,
सो धुनि न जानि नाम लीजे हरि हर के ।
अंतर बिसुद्ध कोटि तीरथ कहत बुद्ध,
अंतर न सुद्ध होहु तीरथ कौं सरके ।

चित्त निहकाम तौ न काम कर्म धर्मनि सौं,
चित्त जो सकाम कर्म करौ धर्म नर के ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग कै भगति जोग,
हूजिये जबर कै रहूजिये जबर के ॥३१॥

आगम निगम जोग सुभ्रतैं पुरान सुनि,
कौनू एक रीति गहै मतै सब आदि है ।
करिये विवेक तौ बिसेष सब मत जोरि,
सब ही की साखि मिलै मत सो अनादि है ।
दो में एक कीजै ग्यान पच्छ कै भगति पच्छ,
"अक्षर अनन्य" सत्य भाषै मोहि खादि है ।
और सब खंडि मतौ आपनौ दिढ़ावत हैं,
ऐसे बकवादनि की बातैं सब बादि है ॥३२॥

टेक तैं न टरै सदा एक सी धरनि धरै,
बिसरै न सुधि बुधि जैसी गुरु सासना ।
मन वच कर्म ही तैं दोषनि बचाय रहै,
औषधि के खायै जैसे बर्जित न चासना ।
रीति सौं सहित प्रेम प्रीति सौं अराधै सदा,
नाना फल सिद्धिनि की उपजै न वासना ।
गुरु के सबद सौं सुरति लवलीन करै,
बरनी "अनन्य" ऐसी केवल उपासना ॥३३॥

सवैया

एक उपासक भिच्छुक से, तिन कौ वर मान महातम थोरा ।
एक उपासक चाकर से, मरजाद लहै फल नैम निहोरा ।
एक उपासक दास जथा, दुख हूँ सुख हूँ न कहूँ मुख मोरा ।
एक उपासक आसिक से, कहि "अक्षर" ज्यौं पतिनी पति जोरा ॥३४॥

दोहा

ग्यान उपासन सिद्ध मत, भक्ति उपासन दास ।
श्री गुरु सबद उपास्य है, जातैं सकल प्रकास ।।३५।।

जैसौ जाकौं गुरु मिलै, तैसौ ताकौं इष्ट ।
देव बंधे गुरु सबद सौं, सब तैं गुरू गरिष्ट ।।३६।।

गुरु विचारि कैं कीजिये, नहीं वेद सुर सोध ।
गुरु कौ सबद उपास्य है, यहै उपासन बोध ।।३७।।

३. ज्ञान पञ्चासिका

सवैया

विधि भेद निषेध न जानै कछू, मति के अनुसार लही सु लही ।
समुझायैं नहीं समुझैं गुरु के, मन के उनमान कही सु कही ।
नहिं वेद पुरान की रीति कछू, अनरीति सौं टेक ठही सु ठही ।
यह तामस ग्यान "अनन्य" भनै, हठि मूरख गांठ गही सु गही ॥१॥

जु करै सु विवेक विचारि करै, फल चार बिषै हित साजत है ।
ब्रत संजम नैम सकाम क्रिया, करि भक्ति भली विधि छाजत है ।
करि सेवहिं देव रिझाइ भलैं, वर पाय जु भू पर गाजत है ।
यह राजस ग्यान "अनन्य" भनै, जन धर्म सौं राज बिराजत है ॥२॥

सील संतोष सुबुद्धि सुलच्छिन, धीर गम्भीर मिलै जग न्यारे ।
धर्म दया निरलोभ निरासक, निर्भय भक्ति अराधन हारे ।
कर्म करै सु करै प्रभु अर्प, नहीं फल चाहत बोध उज्यारे ।
सात्विक ग्यान "अनन्य" भनै, तेइ संत सदा भगवंत पियारे ॥३॥

राग न दोष न हर्ष न सोक, न बंधन मोख की आस रही है ।
बैर न प्रीति न हार न जीत, न गारि न गीत सुरीति गही है ।
रक्त विरक्त न मानि कछू, सिव सक्ति निरन्तर जोति लही है ।
पूरन ग्यान "अनन्य" भनै, अवधूत अतीत की रीति यही है ॥४॥

को हरि को हर को सुर को नर, को तर को पर और न आस्यौ ।
को घर को वन को प्रभु को जन, निर्गुन सर्गुन भर्म बिनास्यौ ।
को पुनि संत असंत गनै, सब सौं समता तत रूप प्रकास्यौ ।
पूरन ग्यान "अनन्य" भनै, परिपूरन ब्रह्म अखंडित भास्यौ ॥५॥

मूरख कैं प्रतिमा परमेसुर, बालक रीति गही सु गही है।
मध्यम कैं अवतार कथा ब्रत, तीरथ राह सु राह लही है।
उत्तम जोति सरूप विचार, सु आतम ध्यान में बुद्धि दई है।
पूरन ग्यान "अनन्य" भनै, सरवग्यनि कौं सिव सक्ति मई है ॥६॥

कोऊ कहै बैकुण्ठ बसै प्रभु, कोऊ कहै निज धाम दुलीचैं।
कोऊ कहै इक ईसै ब्रह्मण्ड, परै परब्रह्म सबै अध बीचैं।
वस्तु प्रतच्छ "अनन्य" भनै, जिमि आपु ही गोपि करी दृग मीचैं।
व्योम समान अखंडित ईस्वर, जैसोई ऊपर तैसोई नीचैं ॥७॥

प्रभु जो बरनौ बैकुण्ठहि में, कहि व्यापक कौन चराचर है।
सुर मंडन खंडन दुष्ट कहौ, तौ अखण्ड समस्त बराबर है।
हरि राधिका कुंज बिहारी कहौ, तौ बिहार तौ तासु धराधर है।
तत सर्व सरूप "अनन्य" भनै, परिपूरन ब्रह्म परापर है ॥८॥

हरि में हरि सौ हर में हर सौ, सुर में सुर सौ सुख दाइक है।
नर में नर सौ तर में तर सौ, घर में घर सौ घर धाइक है।
बढ़ि में बढ़ि सौ सु "अनन्य" भनै, घटि में घटि सौ घटि नाइक है।
हम में हम सौ तुम मैं तुम सौ, सब में सबसौ सब लाइक है ॥९॥

जल में जल सौ थल में थल सौ, तल में तल सौ जग जोति छई।
वन में वन सौ धन में धन सौ, तन में तन सौ तन मानि दई।
सुर में सुर सौ सु "अनन्य" भनै, यह भेद लहै सरग्वय सुई।
बहु रूप अनेक सुभाय वहै, जित देखि तितै सिव सक्ति मई ॥१०॥

सब रूप कौ रूप सरूप वहै, अनरूप कौ रूप सबै लहिये।
सब सार कौ सार विचार वहै, सब सार असार वहै गहिये।
सब भेद कौ भेद अभेद मतौ, अनभेद कौ भेद वहै थहिये।
सब नाम सु नाम "अनन्य" भनै, अननाम कौ नाम कहा कहिये ॥११॥

निर्गुन सर्गुन आपु अभेद पै, भेद सनातन ही चलि आयौ।
निर्गुन रूप है एक चिदातम, सर्गुन रूप अनेक है छायौ।
वाही तें भर्म बढ़ौ जग में, जिहि जोई सुन्यौ तिहि सो ठहरायौ।
अंग अनंग "अनन्य" भनै, सरवग्यनि सो सरवग्य बतायौ ॥१२॥

आपु ही निर्गुन आपु ही सर्गुन, आपु ही निर्गुन भेद बताया।
आपु ही सुन्न है आपु ही जोति है, आपु ही व्यापि चराचर काया।
आपु ही मन्त्र "अनन्य" भनै, सिव सक्ति अखंड परापर छाया।
आपु ही जीव है आपु ही ईस्वर, आपु ही ब्रह्म है आपु ही माया ॥१३॥

माटी की भूमि है भूमि सु माटी है, माटिहि भूमिहि भेद न भाया।
पानी कौ सिंधु है सिंधु कौ पानी है, पानिहि सिंधुहि द्वै न बताया।
यों अनभेद "अनन्य" भनै, कहिबे महं भेद गुरू समुझाया।
दीपक ज्वाल है ज्वाल सु दीपक, माया सु ब्रह्म है ब्रह्म सु माया ॥१४॥

ज्वाला कहै जुवती सी लगै, वैसान्दुर में पुरुषारथ आया।
देह कहैं नर नाम लगै, अरु नारि लगै जब हो कहौ काया।
यों अनभेद "अनन्य" भनै, हठि मूढ़नि बादहि बाद बढ़ाया।
एकहि तत्त की माड़ सबै, भल वाही सौं ब्रह्म कहौ भल माया ॥१५॥

ब्रह्म कहौ भल माया कहौ, कहिबे में कहा है कहा कहि कीजे।
वस्तु है एक भयौ तिहितें सब, सर्व बिषै सु वहै गुनि लीजे।
एक अनेक "अनन्य" भनै, सु अनेक में एक विवेक धरीजे।
एक ही साधें सधै सब ही, सु बरीहि बरी प्रति नौन न दीजे ॥१६॥

अन्य अभाव अनन्य सुभावहि, पूरन ब्रह्म प्रभाव अखंडित।
रूप विराट निराट निराटक, फाटक कोटन ओटक दंडित।
आपुन हू झझकै बिझकै, उझकै गुरु भेद अभेद सुमंडित।
आपु में आपु "अनन्य" भनै, सु वहैं तत ग्यान कहै सत पंडित ॥१७॥

छोटे बड़े सब पंथ उपासक, ग्रन्थ उपासक बंधि हुदा है।
ब्रह्म वहै सरवग्य अखंडित, व्यापक सर्व समान उदा है।
वेद कतेब प्रमान यहै, मरजाद यहै नहिं तत्त जुदा है।
आतिस आग "अनन्य" भनै, जग जोई सदा सिव सोई खुदा है ।।१८।।

कोउ राम कहै परनाम कहै, कोउ कान्ह गुपाल जुबानत है।
अरिहंत कोऊ भगवंत कहै, कोउ दत्त अलेख बखानत है।
वह ईस्वर एक अनेक मतै, अपने अपने उर आनत है।
गज अंधनि गाथ "अनन्य" भनै, यह भेद सुजान सुजानत है ।।१९।।

इक निर्गुन रूप निरूपत है, इक सर्गुन रूपहि पेखत है।
इक जोति सरूप बखान करै, इक सुन्न सरूपहि लेखत है।
इक मानत है अवतारनि कौं, करता विधि एक बिसेषत है।
सरवग्य सु धन्य "अनन्य" भनै, प्रभु कौं सब में सब देखत है ।।२०।।

धर्म बिना सत संग नहीं, सत संग बिना हरि भक्ति न आसै।
भक्ति बिना उर सुद्ध नहीं, उर सुद्धि बिना नहिं बुद्धि बिलासै।
बुद्धि बिना उनमान नहीं, उनमान बिना नहिं ग्यान प्रकासै।
ग्यान बिना जु "अनन्य" भनै, सिव सक्ति सरूप अखंड न भासै ।।२१।।

भूषन हाटक सागर घाटक, काठ कपाटक नाम कहै हैं।
भूमि सु भौननि खाँड खिलौननि, यौननि के उनमान वहै हैं।
कारन एक अनेक सु कारज, कारज कारन एक यहै हैं।
अन्नि न वस्तु "अनन्य" भनै, सिव सक्ति समस्त सरूप लहै हैं ।।२२।।

हाटक के बहु भूषन हैं, तिन भूषनि में नहिं हाटक हानी।
सागर में लहरैं लहिये, लहरैन बिषै वह सागर पानी।
यों तत रूप "अनन्य" भनै, न बिना तत अन्नि यहै उर आनी।
एक तैं रूप अनेक लहै, सु अनेक में एक लहै सुइ ग्यानी ।।२३।।

ब्रह्म सरूप वेदान्त कहै, अरु न्याय कहै करता उर सूरे।
बौध कहैं प्रभु बुद्ध सरूप, पतंजलि जोग सरूप गरूरे।
जैन कहैं अरिहंत सरूप, बिसेष प्रकृत्ति नरोत्तम रूरे।
तत्त सरूप "अनन्य" भनै, प्रभु सर्व प्रभा पुरुषारथ पूरे ॥२४॥

विधि रूप रचै रचना रुचि सौं, हरि रूप प्रजै प्रतिपालत हैं।
ससि सूरज रूप प्रकास करै, धरि रुद्र सरूप संघारत हैं।
सिव सक्ति बिलास "अनन्य" भनै, मकरी जिमि जाल पसारत है।
नहिं दूसरौ कारन कारज में, प्रभु आपुहि आप बिहारत है ॥२५॥

आपु ही पूरन ब्रह्म अखंडित, आपु भये जग जीव निहारै।
ज्यौं निधि में लहरैं लहरैं, निधि एक अनेक सुभाव सो धारै।
क्यौं लहि भिन्न "अनन्य" भनै, अपकर्म के बंधन फंद न पारै।
भेद कहा यह भेद कहौ, जोइ वेद कहै सोइ वेद हमारै ॥२६॥

जनि वेद पुराननि में भरमौ; जनि देव उपासनि में उरझौ।
जनि इन्द्रिनि के रस भूलि रहौ, जनि राजस तामस में खुरझौ।
लहि आतम ब्रह्म प्रमोद रहौ, जनि जीव दसा गहि कैं मुरझौ।
करि तत्त विचार "अनन्य" भनै, क्रम सौं इन कर्मनि तैं सुरझौ ॥२७॥

चाहत कर्मनि तैं सुरझौ, तौ तजौ फल कर्मनि कौ अभिलाषौ।
पूरन ब्रह्म लहौ सब में, निज आपु में ईस्वर भिन्न न भाषौ।
बंधनि मानि न मुक्ति कौ आसरौ, पूरन ग्यान सुधारस चाखौ।
आपु अमानि "अनन्य" भनै, करतूत सबै करतार पै राखौ ॥२८॥

तनु गर्भ बनावत जन्म जनावत, कर्म कमावन कै थपनौं।
प्रति साँस खिचावत बुद्धि रमावत, भुक्ति पचावत है थपनौ।
द्रग जोति जगावत रैनि सुवावत, सूत दिखावत है सपनौ।
करता करतूत "अनन्य" भनै, न कर्यौ क्रत होत कछू अपनौ ॥२९॥

तारन बोरन बंधन छोरन, मारन पारन हार रहै है।
सोषन पोषन तोष वितोषन, दूषन भूषन लोक लहै है।
रच्छन भच्छन यौं सब लच्छन, वेद विचच्छन टेरि कहै है।
कारन कर्म "अनन्य" भनै, सरवग्य मतै सरवग्य वहै है ॥३०॥

वहै सुर लोक वहै नर लोक, वहै तर लोक अलोक भयौ है।
वहै बन बाट वहै घर घाट, वहै पुर हाट विराट छयौ है।
वहै सब ठौर न दूसरौ और, वहै सबकौ ठिक ठौर ठयौ है।
व्यापक सर्व "अनन्य" भनै, यह भेद विचारत भेद गयौ है ॥३१॥

वाही की रैनि है वाही कौ वासर, वाही की ग्रीषम वाही कौ सावन।
वाही कौ सुन्न है वाही की जोति है, वाही की भूमि अकास उपावन।
वाही की माँड "अनन्य" भनै, बड़ छोट चराचर रूप रुपावन।
वाही कौ कंस है वाही कौ कन्हर, वाही कौ राम है वाही कौ रावन ॥३२॥

वाही सरूप के रूप सबै, तब आपु कहा पर बाहर है।
कहि काहे कौं देवनि ध्यान करै, तब होइ इते मत माहिर है।
तजि दूसरी मानि प्रमान यहै, फल कर्मनि तैं अनचाहि रहै।
लहि ईस्वर आपु "अनन्य" भनै, सब ही तैं दुरौ अरु जाहिर है ॥३३॥

आवै सुगंध कुरंग की नाभि, कुरंग न सो समुझै मन माहीं।
दूध सुधार धरैं सुरभी, सुरभी न सवाद लहैं तिहि ठाहीं।
जान कौ सार असार अजान कौ, जानै बिना सब वाद ब्रथा ही।
ईस्वर आपु "अनन्य" भनै, इमि है सब में सब जानत नाहीं ॥३४॥

है सब में सब ही तैं परे, यह सर्गुन निर्गुन है गति ताकी।
दर्पन ज्यौं विवि पच्छ धरै, इत भास उतै अनभास अभा की।
ज्यौं निधि एक "अनन्य" भनै, सु अनेक तरंगनि सोभा है वाकी।
कारन कारज करतुति एक, कथा कहि भेदनि भेदनि वाकी ॥३५॥

आपु निरीह निरंजन है, अरु रंजनरीह समस्त महै है।
आपु अभास प्रभास नहीं, सब भासकरादिनि भास लहै है।
आपु अभेद निरागुन है, गुन भेदनि में निरभेद रहै है।
आपु अरूप "अनन्य" भनै, सब रूपनि कौ निज रूप वहै है ॥३६॥

रूप न रेख न भेष कछू, सब रूपनि रेखनि भेष निरौ है।
जाति न पाँति न भांति कछू, सब जातिनि पाँतिनि भाँतिनि भौ है।
भेद न भाव प्रभाव गुनै, सब भेदनि भावनि सौं मन मोहै।
ईस्वर गाथ "अनन्य" भनै, प्रभु एक अनेक सुभाव ही सौ है ॥३७॥

एक कहैं तौ अनेक लहौ, जु अनेक कहौ तत एक सुभाऊ।
रूप कहौ तौ अरूप लहौ, बिन रूप कहौ सत रूप प्रभाऊ।
भेद अभेद कहै न बनै, अरु भेद अभेदनि ही महं पाऊं।
ईस्वर गाथ "अनन्य" भनै, न अहा न कहा सु कहा कहि गाऊं ॥३८॥

इनि सर्वमयी सरवग्य लहै, धरि पूरन सर्व कला धरि कैं।
उनि सर्व परै नहिं जानि परै, स्रुति गावत नेति थके अरि कैं।
इमि सर्गुन निर्गुन भेद धरै, प्रभु आपु अभेद रहे भरि कैं।
अनरूप सरूप "अनन्य" भनै, तिन रूप निरूपहु का करि कैं ॥३९॥

रूप अखण्ड कहौ तौ विराट, अनेक ब्रह्मण्ड परे तन तूरन।
सूछम रूप कहौ तौ विराट न, दृष्टि लहै है वहै मति कूरन।
दूरि कहौ तौ अलेख अपार, नजीक कहौ पग सैं हू है दूर न।
लाइक सर्व "अनन्य" भनै, सिव सक्ति समस्त प्रभा परिपूरन ॥४०॥

सर्व परैं बरनौ तौ परंपर, सर्व तरैं तौ घरै घर घाइक।
सर्व अतीत कहौ तौ निरंजन, सर्व गती सगुनौ गुन माइक।
सर्व स्वयं सरवग्य अखण्डित, निर्गुन सर्गुन सर्व सिधाइक।
सर्व प्रकास "अनन्य" भनै, सिव सक्ति समस्त कला सब लाइक ॥४१॥

बिन रूपनि रूप रचै सबके, बिन थाम्हनि देत सबै थुनिया।
बिन पायन पाव न कोउ जिन्हें, बिन हाथनि हाथ धरै दुनिया।
बिन लोकन लोक लिये सबही, बिन दामनि मोल लियौ मुनिया।
बिन भास ही भास "अनन्य" भनै, गुन निर्गुन गान करै गुनिया ।।४२।।

निर्गुन सर्गुन कौन गुनै, अनरूप निरूप नहीं चित काया।
लोक अलोक विलोक नहीं, पुनि दूरि नजीक न ठीक ठहाया।
निर्वचनीय "अनन्य" भनै, मुनि मूक सवाद मनोमय छाया।
पूरन ब्रह्म सबै परिपूरन, पूरन भौ तिहि पूरन पाया ।।४३।।

देवनि में अनदेवनि में, गन देवनि में तत व्यापक है सो।
तारनि में अवतारनि में, नर नारिनि में करता कृत तैसौ।
चींटिहु में अरु माटिहु में, कपि कुंजर में प्रभु व्यापक जैसौ।
करतुत भेद "अनन्य" भनै, तत रूप अभेद निरूपन ऐसौ ।।४४।।

चेतनि में कृत चेतन चेष्टि, अचेतनि में जड़ता कृत जो है।
देवनि में कृत देव चरित्र, अदेवनि में बल विक्रम सो है।
साधुनि में कृत जोग विवेक, विषैनि विषै सुख भोग विभो है।
भेद न अन्नि "अनन्य" भनै, सब में सिव सक्ति सबै विधि सो है ।।४५।।

वेद पुरान सिंगार कथा, कविता सब ईस्वर के गुन जानौ।
चारि हू खानि चराचर जो, नर नारि हू रूप सरूप सो जानौ।
भावना सिद्धि "अनन्य" भनै, तजि दूसरौ भाव वहै उर आनौ।
पूरन ग्यान विचार यहै, मन जाहि रमै सो वहै करि मानौ ।।४६।।

जानि वहै सु चराचर में, सब में समता मत दीजतु है।
सुभ कर्म दुनी व्यवहार सबै, सहजै तन धर्म धरीजतु है।
यह ग्याननि रीति "अनन्य" भनै, कछु आपुन मानि न लीजतु है।
जल सागर सागर अर्पन ज्यौं, इमि सब्द सदा सिव कीजतु है ।।४७।।

वह प्रीति नटी व्रत नीति नटी, अरु रीति नटी अनुराग मयी ।
जन मानि मिटी प्रभु कानि घटी, उलटी बुधि बोधहि लीन भई ।
विधि विस्व चिटी परजन्त जिते, कन कंचन भूषन दृष्टि दई ।
सब ही सिव सक्ति "अनन्य" भनै, समता महं दृष्टि समाय गई ।।४८।।

पहिलैं सब तीरथ धर्म करै, अरु संगति संतनि की परसै ।
पुनि भक्ति करै अवतारनि की, अरु जोगनि की जुगतैं करसै ।
फिर आतम तत्त विचार करै, तब पूरन ग्यान प्रभा सरसै ।
क्रम सौं इमि रीति "अनन्य" भनै, सिव सक्ति सरूप स्वयं दरसै ।।४९।।

हरि में हर में सुर में नर में, गिरि में तर में घर मंडित है ।
तन में मन में धन में जन में, वन में घन में सु ब्रह्मण्डित है ।
हम में सब में सु "अनन्य" भनै, परिपूरन आपु अखण्डित है ।
सब अंगनि में सरवग्य वहै, सरवग्य लहै सोइ पण्डित है ।।५०।।

दोहा

सोइ पंडित सोइ सिद्ध है, सोइ ग्यानी सिरमौर ।
सर्व भाव ईस्वर लहै, रहै न दुविधा और ।।५१।।

४. ज्ञान तरंग

दण्डक

एकै कहैं सुन्न रूप एकै कहैं सब्द रूप,
एकै कहैं जोति रूप रूप कब हान सौ।
एकै कहैं निरंकाल एकै कहैं महाकाल,
एकै कहैं महादेव महत महान सो।
एकै कहैं ब्रह्म बिष्नु एकै कहैं राम क्रष्न,
नाम गुन भिन्न लोग गुनत अहान सो।
कोऊ कछू कहै सब कछू सो "अनन्य" भनै,
होनै कछू कहौ ऐसे अकथ कहान सो ॥१॥

जोई नाम कहौ सोई नाम परनाम वाके,
नाम निरनाम कहा कहनौ अरूप कौ।
जोई गुन गुनौ सोई गुन गुन सागर के,
निर्गुन ही सर्गुन सुभाव भव भूप कौ।
जोई क्रत करौ सोई क्रत करतार ही के,
सुक्रत अक्रत भेद मेंट्यौ भ्रम कूप कौ।
जोई आनि भासै सोइ अनुभौ "अनन्य" भनै,
जोई रूप देखौ सोइ रूप जग रूप कौ ॥२॥

देवता सरूप वहै राजत है लोक लोक,
दैयत सरूप वहै देवनि दवतु है।
थावर सरूप वहै थिर हो प्रमोद रहै,
जंगम सरूप वहै जंगमै भवतु है।

ईस्वर सरूप वहै दंड फलदायक है,
जीव के सरूप वहै कर्मनि नवतु है।
आतमा सरूप विस्व रूप सो "अनन्य" भनै,
विविध सरूप धरैं आपु ही रवतु है ॥३॥

जल रूप वहै सर्व जीवनि जिवावतु है,
थल रूप वहै धरै जंगमहि थावरौ।
पौन रूप वहै प्रान जान सर्व प्राननि कौ,
तेज रूप वहै लहै पूरन प्रभावरौ।
ब्रह्म रूप वहै करै चेतन चराचर कौं,
उपति खिपति जाकौ सहज सुभावरौ।
ईस्वर प्रगट विस्व रूप सु "अनन्य" भनै,
न्यारौ परमेसुर बतावत सु बावरौ ॥४॥

वहै ब्रह्म रूप रहै निर्गुन निरीह दसा,
वहै माया रूप धरै सर्गुन ब्यौहार है।
वहै जीव रूप पाप पुन्य दुख सुख भोगै,
वहै ईस रूप दंड फल दैन वार है।
वहै स्वर्ग रूप नर्क रूप वहै कहै कौन,
भलौ बुरौ दूसरौ न यहै निरधार है।
पूरन पुरुष सर्व पूरन "अनन्य" भनै,
वहै वारापार वहैं अपरम्पार है ॥५॥

वहै निराभास वहै चेतन अभास जान,
वहै सु प्रकास जोति रूप सिरमौर है।
वहै ब्रह्म माया जीव ईस्वर करम काल,
वहै मन चित्त बुद्धि इन्द्री गुन दौर है।
वहै रूप रस गंध परस अकास पौन,
वहै जल तेज भूरि धूरि सब ठौर है।
एक सिव सक्ति जक्त मूरत "अनन्य" भनै,
वहै अद्वितीय वस्तु दुतिया न और है ॥६॥

तीन सुर चारि वेद पांच तत्त सात रिषि,
आठ वसु नौ ग्रह सरूप दस मान्यौ है।
अमर तैंतीस कोटि सहस अठासी मुनि,
असुर असंख्य अष्ट कुली अहि गान्यौ है।
चार खानि सहित चौरासी लाख जाति पांति,
चराचर रूप लोक चौदह बखान्यौ है।
एक तै अनेक भिन्न जगत "अनन्य" भनै,
ग्यानिनि अनेक मांझ एक ब्रह्म जान्यौ है ॥७॥

बीज ही में वृक्ष वृक्ष ही में जिमि बीज जानि,
बीज अरु वृक्ष कौ विचार पद एक में।
खांड के खिलौना ज्यौं खिलौननि में खांड वहै,
खांडहि खिलौनै कौ न दुविधा विवेक में।
ईस्वर में विस्व विस्व मांझ ऐसै ईस्वर है,
ईस्वर कौ विस्व नहीं जानै भ्रम टेक में।
जानत अनेकनि में एक सु "अनन्य" भनै,
एकतैं अनेक एक चेतन अनेक में ॥८॥

लहरैं समुद्र फेन फलका भ्रमर किते,
भ्रम ही के भेद किते जल ही कौ झांसौ है।
गड़ई सुराही थारि बेला बिलियानि केते,
न्यारे न्यारे नाम रूप देखौ वहै कांसौ है।
ऐसे सुर नर नाग कोटि हू पतंग भ्रंग,
अंग धरैं वहै जानि दुतिया न आसौ है।
जानै सब एक सब जानै न "अनन्य" भनै,
ऐसौ कछू ईस्वर कौ अजब तमासौ है ॥९॥

नुपूर मुकुट बारी किंकिनि ही कंचन कौ,
कंचन है एक धरे न्यारे नग नाम हैं।
गढ़ मठ अटा भौन मंडल महल साल,
घटि बढ़ि थापि एकै धरनि के धाम हैं।

ईस्वर तें ऐसे सुरासुर सर्व देह धरें,
कहा देह धारिनि के भजन सौं काम है।
आतमा विचारि सार सबकौ "अनन्य" भनै,
सब ही में राम ही में रमिता सु राम है ॥१०॥

राम रूप सो है कहौ रावन में को है,
कृष्न रूपै जग मोहै कहौ कंसै कहा लाग्यौ है।
सुरासुर सोई रूप ईस्वर के दोई,
और दूसरौ न कोई पाप पुन्य यहै पाग्यौ है।
चराचर देही धरै आतमा विदेही कौन,
अतित को ग्रेही यहै जानै भ्रम भाग्यौ है।
परापर ब्रह्म छराछर कौ विचार नाहीं,
याही अनुभव सौं "अनन्य" अनुराग्यौ है ॥११॥

चैंटो हू गयन्द कहा तारे रवि चन्द ब्रह्म,
हरि हर इन्द्र की उपासना न टेक है।
विप्र हू चंडार कहा दारिदी भंडारवार,
राम हो महार सौ महारनै बिसेष है।
देव हू अदेव सेव सेवक की साध नाहीं,
साधु ही असाधुनि के चिन्ह तन भेद है।
माला कैसे गुरिया ज्यौं भिन्न न "अनन्य" भनै,
छोटे बड़े आतमा हमारें सब एक हैं ॥१२॥

सुन्दर सरूप एकै दुर्बल कुरूप लसै,
पंडित सुजान एकै मूरिख अजान है।
सूरिवां सरूप एकै काइर कपूत तहां,
सम्पति प्रधान एकै दारिद निधान है।
साधु निहकाम एकै रसिक सकाम सदा,
दाता बहुदानि एकै जाचक प्रमान है।
गुननि के भेद ब्रह्म भेद न "अनन्य" भनै,
मेरे जान मान सबै मानस समान हैं ॥१३॥

वहै सिंघ बाघ वहै सुरभी गयंद रूप,
वहै मृग व्याध वहै पापी दोउ टाटी कौ।
वहै कुही बाज वहै तीतुर कपोत माहं,
वहै राहगीर वहै तसकर घाटी कौ।
बहै राम क्रष्न वहै रावन ही कंस जानि,
अंस सबै ईस्वर के भेद परिपाटी कौ।
माटी के बटानि ज्यौं जुटाइबौ "अनन्य" भनै,
फूटै वहै माटी कौ बचै सु वहै माटी कौ ॥१४॥

वहै ब्रह्म माया वहै ईस्वर जगत जान,
वहै जीव काया वहै इन्द्रिनि सुखित है।
वहै भ्रम बोध वहै प्रीति हू विरोध जानि,
वहै सील क्रोध वहै त्रस्ना तुषित है।
वहै जीति हार वहै रमै नर नारि रूप,
परापर वहै नहीं दूसरौ रुखित है।
ऐसौ एकाएक ग्यान आनंद "अनन्य" भनै,
जौलौं द्रोह दोषत है तौंही लौं दुखित है ॥१५॥

कोऊ ग्यान ध्यान जोग भगति बैराग रत्यौ,
कोऊ काम क्रोध लोभ मोह में पगत है।
आपु आपु चिन्तन सौं रचे सब न्यारे न्यारे,
तातैं जग जग ही में न्यारौ सौ लगत है।
जैसें जल एक सब ब्रच्छनि में व्यापक है,
ब्रच्छ के सुभाव जुदे रस लै रगतु है।
लीला गुन भिन्न तत्त भिन्न न "अनन्य" भनै,
जगत में ईस्वर है ईस्वरै जगत है ॥१६॥

जग ही में ब्रह्म ब्रह्म ही में जग विद्यमान,
जग रूप ब्रह्म यौं बखानै स्रुति सत्य है।
नरनि कौ बंस बंस ही में नरदेह धरै,
नर भेद बंस ज्यौं न जानै नर अग्य है।

ऐसैं विस्व ही में विस्वरूप वह विस्वनाथ,
परापर तासौं कछू कहत न तग्य है ।
व्यापक न व्यापि आपै पूरन "अनन्य" भनै,
ऐसौ सरवग्य लहै सोई सरवग्य है ॥१७॥

पृथ्वी जल तेज वायु गगन सरूप लसै,
चन्द्रमा नखत भानु दीप दृगमगै है ।
सुर नर नाग पसु पंछी चराचर अंग,
नाना रंग नाना रूप रंग रगमगै है ।
जैसैं कहु चित्र के चरित्रनि में चित्र भरे,
रंग कौ विचारै नहीं चित्र उगमगै है ।
जानै बिना यह जग जाल है "अनन्य" भनै,
जानै यहै ब्रह्म जगरूप जगमगै है ॥१८॥

येई पद येई पानि येई मुख नैन जानि,
जिनकौ बखान कवि नाना जुक्ति स्यान में ।
येई नर नारि ख्याल येई गुन गोपी ग्वाल,
येई सब ताल है समान सब ग्यान में ।
येई विस्वरूप के सरूप सब अब तब,
सिन्धु कैसी लहरैं विचारि देखौ न्यान में ।
पूरन पुरुष सर्व मूरत "अनन्य" भनै,
देखिये प्रतच्छ वहै देखौ धरि ध्यान में ॥१९॥

नारी को पुरुष कौन हिन्दू को तुरक ऊंच,
नीच को उरुष सुभासुभ भर्म कैसौ है ।
आतमा अजाति सर्व जातिनि में एक वहै,
एकै जल तेज पौन सब ही में कैसौ है ।
विधि हू निषेध भेदाभेद जे अनेक भेद,
वेद मरजाद कौ विचार यहै ऐसौ है ।
जानिबे कौं एक ब्रह्म सबमें "अनन्य" भनै,
मानिबे कौं वहै लहै जैसौ जहां तैसौ है ॥२०॥

जाननि में जान सौ अजान सौ अजाननि में,
सीलनि में सील सौ कुरुष में कुरुष सौ ।
राजनि में राज सौ गरीब सौ गरीबनि में,
हिन्दुनि में हिन्दू सौ तुरुक में तुरुक सौ ।
भूतनि में भूत सौ अभूत सो "अनन्य" भनै,
धूत अवधूत जाहि देखिये दुरुख सौ ।
नारिन पुरुष नारि पुरुष हो केलि करै,
नारिनि में नारि सौ पुरुष में पुरुष सौ ॥२१॥

ग्यानी नहिं अग्य मानि पंडित न मूढ़ वान,
बंध न मुकति जान छमता न क्रोध है ।
ग्रेही न अतीत रीति मानि न अनीति नीति,
सब सौं न हार जीति प्रीति न विरोध है ।
सुभासुभ कर्म कोटि पाप अरु धर्म मेंटि,
लोक हू न वेद सेंटि विद्या कौ न सोध है ।
अनुभौ अभेद द्वन्द भेद न "अनन्य" भनै,
केवल अबोध तैसौ पूरन प्रबोध है ॥२२॥

हरि हर ब्रह्मा हम तुम सब ब्रह्म ही में,
हेम कैसे भूषन सरूप सब वाही के ।
कासौं अनुरक्त हूजे कौन सौं विरक्त हूजे,
काके पुनि भक्त हूजे इत उत जाही के ।
बंधन मुकति कहा मानिये "अनन्य" भनै,
आतमा अनन्त कौ जंजीर क्रत काही के ।
रूप सब वाही के हैं गुन सब वाही के हैं,
नाम सब वाही के हैं काम सब वाही के ॥२३॥

जान हो जनावै वहै मूढ़ता भुलावै धरै,
चेतनि सुभावै वहै जड़ता निवास है ।
देवता हो राजै वहै सेवक हो साजै सेव,
राज हो विराजै वहै प्रजा पुर वास है ।

जोग हो सु जानै वहै भोग रस पावै वहै,
राग रागै अनुरागै जीव पद तासु है।
जैसें जाल लीला करै मकरी "अनन्य" भनै,
लीला बिस्वरूप विस्वनाथ सु विलास है।।२४।।

जासौं सब कहैं भव सागर दुखित विस्व,
सो तौ बिस्वरूप के विलास है परम के।
जासौं सब कहैं देव लोक बयकुण्ठ धाम,
सो तौ देव भोग फल भोगवै धरम के।
जासौं सब कहैं पाप पुन्य महा बाधक है,
सो तौ लहिताऊ तुच्छ लच्छन करम के।
आतमा विमुक्त निरबंधन "अनन्य" भनै,
बंधन मुकति दोनों भाव हैं भरम के।।२५।।

५. विवेक तरङ्ग

दण्डक

झूठौ है प्रपंच ज़ग सांचौ सिरजन हार,
वाही की सचाई यह सांचौ सौ लगत है।
जगत अचेत वह चेतन है चिदानन्द
वाको चेतना तैं सब चेतन रहत है।
यह सब बाजी बाजीगर की "अनन्य" भनै,
बाजी सब मिथ्या सत्य वाही कौं गहत है।
सारभूत ईस्वर संसारहि असार जान,
सारासार ग्यान यहै कोविद कहत है ॥१॥

सारनि कौ सार सर्वसार करतार नाथ,
आपु निराकार विस्व कारन बखानिये।
सत्त चिदानन्द सु प्रकास चिदाभास ब्रह्म,
आपु निराभास सर्व भासकर मानिये।
अलख अरूप रूप ही में रस जान्यौ जात,
सर्गुन में निर्गुन सरूप पहिचानिये।
इंधन में भासै अनभासै ज्यौं "अनन्य" भनै,
तेज कैसौ रंजन निरंजन कौ जानिये ॥२॥

धरनि में गंध वहै धारक उपज बीज,
नीर कौ सुरस रस द्रावक सुलच्छ है।
तेज में तपनि वहै दाहक प्रकास रूप,
पौन में परस वहै वाहक विपच्छ है।

गगन में धुनि वहै सुन्नता भरम भय,
चन्द्रमा नखत भानु जोति जग रच्छ है।
व्यापक चराचर में चेतन "अनन्य" भनै,
ईस्वर की ईस्वरता सब में प्रतच्छ है ॥३॥

वहै परमातमा है वहै जीव आतमा है,
वहै प्रतिबिंब कैसी आसा घट घट है।
वाके गुन कर्म देह इन्द्री रस वासना न,
या के रस वासना की सदा चरपट है।
तातें यह अग्य भूल्यौ आपुपौ "अनन्य" भनै,
यह सरवग्य नहीं माया अटपट है।
जानै ब्रह्म एक बिना जानै ही अनेक जीव,
एक तें अनेक यहै लीला नट वट है ॥४॥

भाव परापर वहै चराचर व्यापक हैं,
वहै सुरासुर के सरीरनि में छायौ है।
तिलनि में तेल जैसैं फूलनि में बास बसै,
काठ में अगिनि ऐसैं अंग ही में गायौ है।
पवन सवत्र ज्यौं मिलत रोकें घट ही में,
यौं ही जिन खोज्यौ तिन आपु ही में पायौ है।
ऐसौ मत जानै तब जानिबे रहै न और,
"अक्षर अनन्य" यहै जानिकैं जनायौ हैं ॥५॥

देखिबे परखिबे कौं कौड़ी अरु पैसा नहीं,
अगम अगोचर सो निगम बखानिये।
स्रद्धा बिसवास ही तें मिलत है सो घट ही में,
कहत सब अकल तें खुदा पहिचानिये।
जैसें उनमान मिले कुल कौ अलल पंछि,
ऐसें परिवान ग्यान सबद में जानिये।
"अक्षर अनन्य" जामें सबद की बूझ नहीं,
ता जन अजान कौं कहां तें प्रभु आनिये ॥६॥

प्रभु है प्रतच्छ परमातमा सरीर ही में,
चेतन प्रकास जो विलास गुन करे है।
ताकी गूढ़ गति कौं न जानै मूढ़ मति प्रानी,
हठ अहंकार ही तैं अहं पद धरे है।
माया के समुद्र में न बिहरै अमानि ग्यान,
बूढ़े मूढ़ मानि गगरीहि बांधि गरे है।
व्यापक न ईस्वर कौ थापना "अनन्य" भनै,
आपु आपु मानि अंध आपदा में परे है ॥७॥

आपु कौं बिसारि ब्रह्म आपु में विचारि चित्त,
खैंचि सब ठौर तैं मनहि ग्यान अरि कै।
कीजे गुरु भक्ति सदा ध्यान सिव सक्ति जू कौ,
सब सौं विरक्त बैर प्रीति परिहरि कै।
तजि आस संक नाथ भजि निरसंक सदा,
राउ अरु रंक सौं समान दृष्टि धरि कै।
व्यापक सकल देखि ईस्वर "अनन्य" भनै,
दुविधा न मानौ सब जानौ एक करि कै ॥८॥

एक करि जानौ काहू भिन्न कै न मानौ लोक,
वेद के प्रमानौ आन उलँघि न डारिये।
सुभ कर्म कीजे मानि आपुपौ न लीजै,
अर्पि ईस्वर कौं दीजे कछू फल न विचारिये।
मिलि तन जक्त रहौ अंतर विरक्त रहौ,
मूल सिव सक्ति जू की भक्ति उर धारिये।
जल में कमल जैसैं निर्मल "अनन्य" भनै,
ऐसे मत जगत व्यौहारनि बिहारिये ॥९॥

सहज सुकर्म कीजे हठ धर्म छांड़ि दीजे,
दुन्दहि न मानि लीजे सुभासुभ गत है।
वासना न बांधिये अराधिये सदासिव कौं,
साधिये धरम नैम चित्त सील सत है।

लेखिये न और ब्रह्म देखिये सकल ठौर,
पेखिये समान ही न ऊंच नीच तत है।
ग्याननि की रीति वेद विधि सो "अनन्य" भनै,
मो मत यहै है यहै सो मत को मत है ॥१०॥

घर अरु बन के धरम दोऊ पालि जानै,
स्वारथ प्रमारथ के राखत दुरुख है।
धरमाधरम के विचार विचारंत लोक,
सुख दुख आनि परैं होत है उरुख है।
साधु अनुकूल भक्ति लच्छन "अनन्य" भनै,
सबै गुन जामें नहीं औगुन उरुख है।
पूरन पुरुष सर्व पूरन जगत लहै,
सोई या जगत मांझ पूरन पुरुष है ॥११॥

धरिबे कौं नाम नैम निहचौ धरम ध्यान,
करिबे कौं इन्द्री गुन मन को जबद है।
तजिबे कौं पाप द्रोह झूठ परनारि संग,
सजिबे कौं भक्ति जोग ग्यान को रबद है।
लहिबे कौं ईस्वर सरूप समदृष्टि सर्व,
कहिबे कौं सांच बकवाद को अबद है।
सोधिबे कौं सुद्ध आपु अंतर "अनन्य" भनै,
साधिबे कौं सिद्ध एक गुरु को सबद है ॥१२॥

गुरु के सबद सब दुख के हरन हार,
तिन्हें तजि तीर भूमि तीरथनि करै को।
देवन के देव परमातम विदेव छांड़ि,
आन देव पूजन प्रपंच मन धरै को।
सारनि को सार चारु मत यौं "अनन्य" भनै,
आतम भुलान आन धर्मनि में अरै को।
सींचै जिमि मूल डार पात फल फूल सुखी,
पात पात सींचि उतपात मांझ परै को ॥१३॥

बैष्नव कहैं बिष्नु वसैं बैकुण्ठ धाम,
सैव कहैं सिव जू कैलास सुख भरे हैं ।
कहैं राधावल्लभी बिहारी बृन्दावन ही में,
रामानन्दी कहैं राम अजुध्या न टरे हैं ।
एतौ सब देव एक देसिक "अनन्य" भनै,
हम तुम सब आपु ठौरनि ज्यौं धरे हैं ।
ईस्वर अखण्ड जामें कोटिनि ब्रह्मांड भरे,
ऐसे परब्रह्म कहा पुरिनि में परे हैं ॥१४॥

पुरनि में पुरिनि में सुरनि में असुरनि में,
नारिनि में नरनि में रमत रसग्यता ।
जड़नि में चेतनि में गननि में प्रेतनि में,
गुनागुन हेतनि में गुनत गुनग्यता ।
देवता औतारनि में चराचर चारनि में,
कहा सूर स्यारनि में स्याने अरु अग्यता ।
मानै नहीं भिन्न जानि समता "अनन्य" भनै,
सब ही में ब्रह्म लहै यहै सरवग्यता ॥१५॥

कथनि में वेदनि में विधि हू निषेधनि में,
नाना गुन भेदनि में भेदहि न आनिये ।
रागनि में रंगनि में सतासत संगनि में,
नारी नर अंगनि में अंग पहिचानिये ।
सुरासुर अरचा में परापर चरचा में,
चरचि अखण्ड ब्रह्म खंडित न जानिये ।
मनसा के बाँधन कौ साधन "अनन्य" भनै,
जहां मन लहै तहां वहै कर मानिये ॥१६॥

ग्यान करि ध्यान करि वेद के विधान करि,
जप तप दान करि ईस्वर अराधिये ।
व्रत करि जोग करि त्रिपति सौं भोग करि,
जत के प्रयोग करि इन्द्री गन बांधिये ।

प्रेम करि प्रीति करि आतम प्रतीति करि,
सुभासुभ रीति करि साधन समाधिये ।
विविध प्रकार करि विधि सौं "अनन्य" भनै,
जुम्मस न खाइ मन ऐसौ मन बांधिये ।।१७।।

साधु तौ वहै है जोइ साधै गुन इन्द्री मन,
सती तो वहै है जो रहै है प्रेम जरिकैं ।
सूर तौ वहै है जो न मुरकै गिरत सीस,
दानी तौ वहै है जो चलै न द्रव्य भरिकैं ।
जोगी तौ वहै है जो गगन जीव सींव मिलै,
राजा तौ वहै है जो बिराजै धर्म धरिकैं ।
ध्यानी तौ वहै है जो न चंचल "अनन्य" भनै,
ग्यानी तौ वहै है सर्व जानै एक करिकैं ।।१८।।

सिष तौ है सोई फिर दूसरे न सीख लेइ,
गुरु तौ है सोई जो सकल ग्यान खानि है ।
भावना तौ सोई जो अभावना न होइ फेरि,
करनी तौ सोई जो अकरनी नसानि है ।
अनुभव सोई जामें भ्रम न "अनन्य" भनै,
चेतन तौ सोई चिदानन्द कहै जानि है ।
परसन सोई जौ अपरसन न होइ फेरि,
दरसन सोई जो अदरसन हानि है ।।१६।।

दरसन ऐसौ जहां रूप रेख भेष नाहीं,
रूप रेख भेष सब ताही में दरसिये ।
परसन ऐसौ जहां सेवा पूजा बंदगी न,
सेवा पूजा बंदगी कौ फल सो परसिये ।
दरस परस दोऊ बिषै अभिलाष तौलौं,
जौलौं जीव ब्रह्म के अभेद में न रसिये ।
व्यापक अनूप सर्व रूप सो "अनन्य" भनै,
सहज सरूप वहै धारना सरसिये ।।२०।।

राम कहैं रमिता रमित रोम रोम वहै,
ताही राम रमिता में मनसा रमाइये ।
राम प्रसराम बलराम स्याम आदि और,
मायिक कलानि नहीं चित्तहिं भुलाइये ।
आतमा विदेव बिस्वदेव बसै घट ही में,
सो तजि त्रिदेवनि के कर्म न कमाइये ।
पूरन अखण्ड सर्व व्यापक चराचर में,
ऐसे जगदीस्वर में सुरति रमाइये ॥२१॥

रूप रस गंध सब्द परस अकास पौन,
तेज जल भूमि भिन्न भिन्न क्रत करै है ।
मन चित बुद्धि अहंकार काम क्रोध लोभ,
मोह मद मत्सर समस्त रस भरै है ।
आस प्यास नींद भूख आलस हरष सोक,
इन्द्री गुन कर्म एते माया बिस्तरै है ।
आतमा अधार सर्व व्यापक "अनन्य" भनै,
सब ही कौं धरै आपु सब ही तें परै है ॥२२॥

सगुन सदोष गुन दोषनि सहित जान,
निर्गुन अदोष गुन तातें सब लेखिये ।
रूपवंत देव अवतारनि कौ छय न्यान,
अछय अरूप सर्व रूप वहै पेखिये ।
कर्तुत करत कर्म बंधन परत जीव,
जीव निहकर्म कर्म करता बिसेषिये ।
जहां सब कछू तहां कछू न "अनन्य" भनै,
जहां नहिं कछू तहाँ सब कछू देखिये ॥२३॥

देखिये अखण्ड भक्ति भावना बिचार यहै,
वहै सब माहं को बड़ौ को लरमातमा ।
जक्त कौं बिसारि जक्त रूप सिव सक्ति जानि,
भेदाभेद मैंटि कौन पापी धरमातमा ।

पूरौ आभवान न बिसर्जन "अनन्य" भनै,
ग्यान अन्हवाइ कै निवारि करमातमा ।
सर्वसु अरपि चित्त चंदन चढ़ाइ ताहि,
या विधि अखण्ड पूजा पूजै परमातमा ॥२४॥

जौलौं परमातमा न जानत अजान बुद्धि,
तौलौं आन देवतानि सेवा में पगत है ।
अंतहकरन जौलौं सुद्ध न प्रबुद्ध होत,
तौलौं भ्रम तीरथ के मारग लगत है ।
ग्यान जोग जौलौं नहीं आवत "अनन्य" भनै,
तौलौं भोग धारना के ख्याल में जगत है ।
जौलौं ब्रह्म ग्यान कौ न अनुभौ उदोत होत,
तौलौं कर्म धर्मनि कौ भर्म न भगत है ॥२५॥

कर्मक कहत एक कर्म ही की मांड़ लोक,
कर्म तौ है जड़ जड़ कहा क्रत धरिहै ।
करता चेतन्न देह कर्म जिहि दोइ रचे,
नचै ज्यौं खिलौना डोरि बाजीगर धरिहै ।
ऐसें करतूत सब जानि करतार ही की,
जिनके भजत कर्म क्रूरा सब जरिहै ।
"अक्षर अनन्य" तातैं सत्य करतार जानि,
जान्यौ सो करौ है अरु जानिहै सो करिहै ॥२६॥

जानिबौ वहै है नर जानै परमातमा कौं,
जाके जानि ही तैं जीव ब्रह्म पद पायहै ।
त्राटक हू चेटक मन्त्र जंत्रनि में भूलै जनि,
कहा भ्रम सिद्धिनि कौं रह्यौ ललचायहै ।
तो ही माहं ईस्वर तू ईस्वर कौ अंस आहि,
स्वांसा कौ सबद खोज सो जु समुझायहै ।
सिद्धनि कौ मारग प्रसिद्ध सो "अनन्य" भनै,
इहि पंथ आइहै सो बहुरि न आयहै ॥२७॥

कर्मन की नदी जामें भर्मनि कैं भौंर परैं,
लहरैं मनोरथ की कोटि निकरत हैं।
काम से कमठ महा मोह से मगर जामें,
क्रोध से जहर जासौं देव से जरत हैं।
लोभ जल पूरन अनन्त सु "अनन्य" भनै,
नहीं वार पार देखि धीरज टरत हैं।
तहां सिव सक्ति ध्यान ग्यान सौ जहाज साजि,
ऐसे भव सागर कौं बिरले तरत हैं ।।२८।।

बिरले मनुष्य पालि जानत ग्रहस्त धर्म,
बिरले मनुष्य लहैं मारग बिरक्ति कौ।
बिरले मनुष्य दान जुद्ध में त्रिसुद्ध रहैं,
बिरले मनुष्य नैम धरैं गुरु भक्ति कौ।
बिरले मनुष्य दुख सुख में समान रहैं,
बिरले मनुष्य हेतु पावैं स्रुति वक्ति कौ।
बिरले मनुष्य सत्य बकता "अनन्य" भनै,
बिरले मनुष्य तत्त चीन्हैं सिव सक्ति कौ ।।२९।।

तत्वनि कौ तत्व लहै भेदनि कौ भेद कहै,
लोक ही की लीक रहै खंडन न टेक है।
सार कौं विचारि भजै भरम असार तजै,
धरम समूह सजै बिधिवत जे कहै।
पूरौ ब्रह्म ग्यान करै ईस्वर कौ ध्यान धरै,
अंतहकरन एक ऊपर अनेक है।
आचारज रीति यह पद्धति "अनन्य" भनै,
पुरुष प्रवीन यहै कहत विवेक है ।।३०।।

६. ज्ञानयोग

साधना-प्रकरण

दोहा

श्री गुरु चरन सरोज रज, धरि "अनन्य" उर सीस ।
ग्यान जोग सिद्धान्त मत, जिनि कीनी बकसीस ।।१।।

ग्यान कहावै जानिबौ, जुगति कहावै जोग ।
दधि घ्रत जाननि जुगति मथि, तब पावै रस भोग ।।२।।

जोग बिना लघु ग्यान है, ग्यान बिना लघु जोग ।
जोग ग्यान संजुक्त करि, यह सिद्धान्त प्रयोग ।।३।।

मूढ़नि कौं हठ जोग है, देह कर्म उरझाव ।
ग्यान जोग ग्यानीनि कहं, साधन सहज सुभाव ।।४।।

अलख कर्म या सहं कहत, क्रिया लखै नहिं कोय ।
ज्यौं मछरी कब जल पियै, जुगति न जानै लोय ।।५।।

ग्यान जोग निज गोप्य मत, अनुभव सिद्धि बिचार ।
आगम निगम पुरान मत, मथि काढ्यौ यह सार ।।६।।

कवित्त

आगम कौ तत्व आदि देव सिव सक्ति जान,
निगम कौ तत्व ब्रह्म त्रिपदी रतन है ।
रामायन तत्व राम नाम कौ महातम है,
भागवत तत्व क्रष्न पातक पतन है ।

वामिनी कौ तत्व भामिनी है उतपत्ति रूप,
भगति कौ तत्व प्रेम दुबिधा हतन है।
जोगनि कौ तत्व पौन साधन "अनन्य" भनै,
ग्याननि कौ तत्व ग्यान जोग कौ जतन है ।।७।।

लोक में अविद्या के अनेक बकवाद भरे,
छिप्यौ परमातमा सरीर ही मंझार है।
वेदनि में विद्या के विवाद भांति भांतिनि हैं,
छिप्यौ ब्रह्म विद्या वेद अंतर अधार है।
"अक्षर अनन्य" लोक वेद महा जार दोऊ,
उरझे अजान जान नाहीं निरवार है।
विद्या ही अविद्या के बिबादनि बिदारि डारै,
ग्यान जोग खांडौ महा तीच्छन दुधार है ।।८।।

ग्यान नाम जानिबौ जुगति नाम जोग कौ है,
काठ में अगिनि ज्यौं जुगति सौं निकार है।
वेद हू पुरान सास्त्र सुम्रतैं बखान जेते,
जानिबे के पंथ ग्रन्थ कथा बिसतार है।
प्रापति कौ मारग गुपित कह्यौ इन ही में,
"अक्षर अनन्य" पूरे गुरु कौ बिचार है।
ग्यान भेद जानि कें जुगति साधि सिद्ध करै,
यहै ग्यान जोग ब्रह्म ग्याननि कौ सार है ।।९।।

याही महं ब्रह्म ग्यान देखै जग ब्रह्म रूप,
सब सौं समान बिस्वरूप कौ बिलास है।
याही महं जोग रीति अंतर करहि सुद्ध,
अंतह करन परमातमा प्रकास है।
याही महं भक्ति प्रेम प्रीति परतीति इष्ट,
गुरु कौ सबद गहै जाकौ सब भास है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग सरवग्य बोध,
साधें यहि विद्या के अविद्या कौ बिनास है ।।१०।।

छूटै न अविद्या विद्यमान ब्रह्म भासै नहीं,
तौलौं ब्रह्म ग्यान काठ अगिनि कौ भाव है।
देव की अराधना बिधान सौं न सिद्ध करै,
तौलौं गुन गाइबौ सुरति काजै नाव है।
उत्तम करम बेद बिधि सौं न साधि जानै,
तौलौं लोक करनी गड़र कौ प्रभाव है।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग सौं न मत जौलौं,
तौलौं हठ जोग कर्म धर्मनि उपाव है ॥११॥

दान कौ प्रमान जैसें बनिज ब्यौपार नफा,
जग्य कौ प्रमान जैसें खेती कौ जमाइबौ।
तप कौ प्रमान ज्यौं हठैला हर बोला दान,
भिच्छुक समान बहु तीरथनि धाइबौ।
भक्ति कौ प्रमान जैसें मिहनत सेवा फल,
जोग की जुगति ज्यौं रसाइन बनाइबौ।
"अक्षर अनन्य" आन आसा न मसक्कत है,
ग्यान जोग मत जैसें पारस कौ पाइबौ ॥१२॥

भक्तन के मत देव बसैं लोक धाम कहूँ,
नाम ही सौं काम प्रतिमा सौं मनमान है।
जोगिनि के मत सीस बसै सिव जोति लिंग,
अजपा कौ जाप साँस ही सौं उनमान है।
ग्यानिनि के मत सर्व व्यापक है तिहूँ रूप,
गुरु कौ सबद सरवग्य धुनि ध्यान है।
"अक्षर अनन्य" तीन्यौं भावना प्रभाव जुदे,
जुदे जुदे जोग जासु जैसौ परिवान है ॥१३॥

एक भक्ति जोग भक्ति भाव नव अंग जामैं,
पांच अंग पद्धति सौं बिधि सौं अराधिबौ।
दूजौ हठ जोग आठ अंग है बिधान जाकौ,
कठिन कलेस पौन आसन कौ बांधिबौ।

तीजौ ग्यान जोग सिद्ध मारग सहज रीति,
नहिं हठ धर्म कर्म करनी कौ नांधिबौ।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर अधार धरि,
सारासार सोधन सुरति ही कौ साधिबौ ॥१४॥

आसन हठाउ नाहीं भोजन छुटाउ नाहीं,
पवन चढ़ाउ नाहीं चित्त करि जे रहै।
नैम ठहराउ नाहीं नाटक उपाउ नाहीं,
त्राटक है मन कौ मनोरथ कौ फेर है।
कारन ही सूच्छम विराट तिहूं रूप ध्यान,
बाहिर ही भीतर प्रगट छबि हेर है।
"अक्षर अनन्य" सार संग्रह असार त्याग,
ग्यान जोग हंस नीर छीर कौ निबेर है ॥१५॥

इन्द्रिनि कौ सार मन मनसा करम साधि,
पवन कौ सार चित्त चित्त ही कौ रोकिबौ।
गुननि कौ सार बुद्धि बोध ही कौ बोध करि,
तत्वनि कौ सार तत्व चेतन विलोकिबौ।
बेदनि कौ सार सिद्ध गुरु कौ सबद जान,
सदा गुरु सबद में सुरति अटोकिबौ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग की जुगति यहै,
बानी अनहद कौ अलाप अवलोकिबौ ॥१६॥

रचि काम रांचिये न बिरचि कै त्यागिये न,
बैठि हठ जागिये न भूलि नींद लहिये।
अफरि कै खाइये न आतमा लंघाइये न,
बादहि बढ़ाइये न मौनताई गहिये।
लोभ कै न गाड़िये दुकान दान मंडिये न,
छांड़िये बिसन पाप पुन्य में न बहिये।
राखिये सहज सर्व समता "अनन्य" भनै,
ग्यान जोग साधि ऐसी जुगति सौं रहिये ॥१७॥

साधिये जुगति मध्य भाग ही सकल काज,
संजम इलाज सजि बाढ़िये न छीजिये ।
घाम जल सीत बात आसन उपास त्रास,
नैम हठ धर्म कर्म बिदा कर दीजिये ।
साधन यहै है चित्त अंत न भ्रमन पावै,
प्रापति सुभोग हर्ष सोगहि न कीजिये ।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर सुरति ध्यान,
यहै ग्यान जोग कौ जतन जानि लीजिये ॥१८॥

जोग ही की करनी जे बरनी है आठ अंग,
सो तौ अंग साधनता कसनी वसेल है ।
ध्यान है पदारथ सधत जातैं स्वारथ है,
ध्यान में न मन तौलौं भांड़ कैसौ खेल है ।
"अक्षर अनन्य" जैसें मारग पिपीलिका कौ,
क्रम सौं चढ़ाउ पौन बिघन तौ ठेल है ।
ग्यान जोग मारग बिहंगम सुगम पंथ,
ग्यान ही के बल ध्यान ही में मन मेल है ॥१९॥

आपु ही में ब्रह्म जानै सब घट ब्रह्म मानै,
ब्रह्म विद्या उर आनै अनुभौ प्रवीनता ।
इन्द्री गुन मन साधै त्रिविधि सुभाव बांधै,
करनी सहज नांधै हठता न दीनता ।
बासना बिसारि बंध मोक्ष के बिचार बारि,
"अक्षर अनन्य" झार मन की मलीनता ।
नैननि कौ मूँदिबौ न नाम जप बैननि कौ,
ग्यान जोग ध्यान चित्त ही की लवलीनता ॥२०॥

मूल तत्व मन बांधि यहै मूलबंध करि,
सुरति के त्राटक सौं सुमिरन साधिहै ।
चित्त ही की अस्थिरता आसन असीन सदा,
संजम नियम बुद्धि दुबिधा न बांधिहै ।

गुरु के सबद ही की धारना अधार धरि,
चेतन सरूप ध्यान मनसा अराधि है।
"अक्षर अनन्य" आठौ अंग लवलीन दसा,
यहै ग्यान जोग सिद्ध सहज समाधि है ॥२१॥

सम्बोधन-प्रकरण

कवित्त

धुनि ही के ध्यान में मगन लवलीन रहै,
सहज समाधि मिटै इच्छा बकवाद की।
लोक की न मानि कानि टूटि जात बेद हू की,
भेदि मन पार होत भीति मरजाद की।
मन्त्र मिलि बान ज्यौं पलटि चन्द्र भानु होत,
त्यौं ही मन बुद्धि बाढ़ि अनहद नाद की।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग उनमत्त दसा,
सावधान बुद्धि पेट पचिबै प्रमाद की ॥१॥

साबधान रहै सिद्ध पदवी न मानि गहै,
सिद्धि ही असिद्धि जानि बिघन की घात है।
नाना दुख सुखनि में बिचलै न चित्त कहूँ,
संगति कुसंगति में बहकै न बात है।
"अक्षर अनन्य" धुनि अंतर तैं छूटै नहीं,
बैठै उठै ठाड़ें परें खेलत ही खात है।
विद्या ही अविद्या के बिबादनि बिदारि डारै,
छार डारै चरचा पै चित्त चलि जात है ॥२॥

चित्त ठहराइ मन लाइ तत्त मूरत सौं,
सुरति न भूलै गुन दोषनि के गथ में।
नाना रसवादी ग्यानवादी बकवादी नर,
परिये न चरचा चबाइनि के पथ में।

गुरु कौ सबद ग्यान रूप है सबद ब्रह्म,
सकल सिद्धान्त बेद वाही के अरथ में ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान जोग सौं अराध सदा,
राखौ समरथ कौं मनोरथ के रथ में ॥३॥

कोटि बन बूटनि तें छूटत न काल रोग,
एक ही संजीवन जिवावै गुन जोर सौं ।
मन्त्र मिलि बान चन्द्र भानु हू कसान होत,
कोटि कोटि बानन समान बल घोर सौं ।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर प्रताप त्यौं ही,
भयौ सोइ जानै ग्यान अनुभौ झकोर सौं ।
एक ही सबद सरवग्यता प्रकास होत,
काम नाहीं बेद औ पुराननि के सोर सौं ॥४॥

बेद सौं न बाद न बेदान्त सौं बिवाद कछू,
सांख्य की न सीख न्याय मत सौं न न्याव है ।
नाना ग्रन्थ पंथनि की चरचा चबाव छांड़ि,
जैसौ जहां कह्यौ तहां तैसोई प्रभाव है ।
आपु कौं न सूझै तौलौं बूझै कहा काज सरै,
सूझै जिहि अंजन सौं कीजै वहै दाव है ।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर सुरति ध्यान,
ग्यान जोग कौ तौ सरवग्यता सुभाव है ॥५॥

भासै सरवग्यता प्रकासै मन भानु रूप,
नासै सब अग्यता सबद धुनि नांधे तें ।
छूटि जात पातक भरम सब फूटि जात,
टूटि जात बंधन अविद्या गुन बांधे तें ।
करम जे करै ते न करम लिपित होत,
वाही अरपित होत लव सौं अराधे तें ।
"अक्षर अनन्य" मनोकाम फल सिद्ध होत,
अनुभौ उदोत होत ग्यान जोग साधे तें ॥६॥

साधै न सुविद्या तौलौं छूटै न अविद्या पास,
छूटै न अविद्या तौलौं मन भ्रम भूत है।
कहा पढ़ें गुनैं कहा त्याग हू बिराग करैं,
स्वांग धरैं बंदर न होत रजपूत है।
"अक्षर अनन्य" सिद्ध साधुनि कौ मत यहै,
साधै धुनि ध्यान दूरि करै अघ दूत है।
भसम लगावै कै चढ़ावै चोवा चंदन कौ,
वहै जग माँझ ग्यान जोगी अवधूत है ।।७।।

अगिनि प्रचण्ड तैं उड़त परैं जहां तहां,
जहां के सु तहाँ छीन होत छिन लगै है।
कौनू एक तिलगा लगत तृन तूल मांझ,
उहै उठि आगि होत तप तेज पगै है।
"अक्षर अनन्य" त्यौं ही ईस्वर के अंस सबै,
तुच्छ मति गति दुख भरमन में भगै है।
कौनू सु पुरुष गुरु मारग सम्हारि आपु,
सोई जग मांझ ग्यान जोगी जगमगै है ।।८।।

जैसै लोह खानि तैं अनेक लोह पैदा होत,
गढ़त लुहार तुच्छ मोल तन कारौ है।
पारस के परसैं पलटि जात जाति जाकी,
ताकी गति और नाम रूप गुन भारौ है।
"अक्षर अनन्य" है अविद्या कौ बनाव सब,
आतम अविद्या मिलि जगत पसारौ है।
गुरु के सबद के प्रताप तैं पलटि बुद्धि,
ग्यान जोग मत लोक बेद ही तैं न्यारौ है ।।९।।

बेद के पढ़ें तैं ग्यान अंतर न सूझत है,
होत कछू स्यान जैसैं पाती पढ़ि दूर है।
प्रेम की कथानि सुनै प्रेमता न आवति है,
नैंम हू बराइ आवै ऐसी मति क्रूर है।

प्रेम ही कौ ग्यान ही कौ मन ही कौ लच्छन है,
"अक्षर अनन्य" बीज अंकुर ज्यौं मूर है ।
ग्यान जोग साधन में नैंम अरु थान नाहीं,
प्रेम अरु ग्यान ध्यान रहै भरपूर है ।।१०।।

धारणा-प्रकरण

सवैया

ग्यान सौं देखि सबै समता करि, प्रेम सौं अंतर की धुनि ध्यावै ।
धर्म तजै बरनास्रम के सब, बंधन कर्म क्रिया छुटकावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं, लबलीन रहै जल मीन सुभावै ।
नैंम नहीं हठ धर्म नहीं, यह ग्यान अखंडित जोग कहावै ।।१।।

खंडित और सबै करनी करि, नैंम बिसारि क्रिया बिसरावै ।
ग्यान अखंडित जोग जुरै, रंग सौं मिलि नीरहि कौन निरावै ।
खेलि सदा तिहि रंग भर्यौ, मनि लै फनि खेलत लोक सुभावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ।।२।।

बैठें उठें डगरें ही परें, सपरें ही बिना सपरें धुनि ध्यावै ।
खात कमात जितै जित जात, तितै तित चित्त वहै रट ल्यावै ।
जोग पिपीलिका पंथ तजै, यह ग्यान बिहंगम जोग जगावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ।।३।।

संजम बुद्धि करै निहचै, यह नैंम धरै उर और न आवै ।
त्राटक चित्त ही कौ करि कैं, धुनि ध्यान बिषै मनसा बिरमावै ।
भूलै नहीं दुख में सुख में, दृढ़ता यह आसन जोर जमावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ।।४।।

इन्द्रिनि की गति हाथ करै, मन की गति कौं न कहूँ भरमावै ।
नाटक चेटक मंत्र हू जन्त्र, न रिद्धिनि सिद्धिनि कौं ललचावै ।
होय सकाम तौ वाही गहै, समरथ्थ वहै सब काम पुजावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ।।५।।

तीरथ देव कथा व्रत जग्य, पुरान ही बेद मते बिसरावै ।
रासि नछत्र दसा ग्रह वार, विचार सबै भ्रम जार नसावै ।
एक ही आस रहै बिसवास, न अमृत में दुबिधा बिष नावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ॥६॥

धर्म अधर्मनि त्याग करै, बैराग हु राग सबै बिसरावै ।
साधु असाधुनि के ढिग बैठि, ब्रथा बकवाद न मूँड़ चढ़ावै ।
ग्रंथनि पंथनि की चरचा सुनि, बूझि नहीं मन कौं भरमावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ॥७॥

सब्द सरूप अनूप लहै, नहिं दूसरे देव सरूपहि ध्यावै ।
आपु में आपु सरूप लहै, सरवग्य गुरू निज भेद बतावै ।
बान कौ मन्त्र ज्यौं बान मिलै, सोई भानु भयौ कछु भेद न आवै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ॥८॥

ब्रह्म चिंटी परजन्त जिते तन, देखि सबै सम भेद न भावै ।
दूषन दै न लटे कहि निन्दहि, भूषन दै न बड़े गुन गावै ।
है अपनी अपनी करनी, अपनी करनी अपनौ मन लावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ॥९॥

लाल अमोल दियौ गुरु जू, मन की निहचै दृढ़ गांठि बंधावै ।
चोर हजार हजारनि भिच्छुक, गाहक लाखनि कौ न लखावै ।
ऊपर की चरचा करि कोटि, न अन्तर कौ निज भेद बतावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ॥१०॥

प्रेम चकोर समान करै, निज चेतन मूरति चित्त मिलावै ।
चित्त ही कौ मिलनौ यह जोग, ब्रथा जग तैं सब दुंद मिटावै ।
प्रीति प्रतीति बढ़ै दिन ही दिन, ज्यौं रसिकै रमनी रस भावै ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ॥११॥

वाही सौं जोग जुरै मति की गति, वाही सौं भोग वहै रस भावै।
वाही सौं लोभ वहै धन सत्य है, वाही सौं मोह सनेह बढ़ावै।
वाही के रंग पगै निसि वासर, वाही सौं राग वहै धुनि गावै।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर सौं लव, साधन चित्त समाधि लगावै ॥१२॥

जोग करै रस भोग करै, मन तैं न टरै रट एक सुभावै।
हारिल ज्यौं लकरी पकरै, बिवहार करै सब जो मन भावै।
और समाधि लगैं औ खुलैं, यह प्रेम समाधि अखंडित छावै।
"अक्षर" साधन सिद्धि यहै, उर में मति और न औरन पावै ॥१३॥

कवित्त

औरैं नहीं और उर बातैं इत उत ही की,
बात मतलब ही लौं कहिबौ कहाइबौ।
जैसैं मतवारिनि की बातें न गनत स्यानै,
स्यानिनि की बातें तैसैं ग्यान में भुलाइबौ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान भूमिका प्रमान यहै,
गुरु के सबद ध्यान ही में लव लाइबौ।
लव सी समाधि मैं अगाध मति गति बाढ़ै,
अनहद नाद की अखण्ड धुनि ध्याइबौ ॥१४॥

अनहदनाद-प्रकरण

कवित्त

भासै सिव नाद नाद बेदनि कौ आदि बीज,
जाहो सौं सिद्ध होत अनहद बानी है।
जाकी धुनि सुनि और सुनिबौ न मन आवै,
बेद हू पुरान ग्रन्थ लगत कहानी है।
जोगिनि कौं भासै ध्यान गुपित समाधि साधैं,
ग्यान जोगी काजैं सरवत्र सुख दानी है।
"अक्षर अनन्य" जाहि जानत अबिद्या नसै,
वहै महाबिद्या काहु पूरे गुरु जानी है ॥१॥

काननि में ढेंठी दै उमैठि रुई घास फूँस,
बैठत गुपित चित्त सुवांसैं उनत हैं ।
जानत हैं मूढ़ यहै गूढ़ अनहद बानी,
पौन कौ सुनंसुनात चाकी सी सुनत हैं ।
"अक्षर अनन्य" वह धुनि बीज अक्षर है,
जाके सुनिबे कौं मुनि सीसहि धुनत हैं ।
औगुन अग्यान ही अबिद्या कौ बिनास करै,
वहै महाबिद्या ग्यान मूरत गुनत हैं ॥२॥

बानी अनहद ग्यान मूरत अनादि सिद्ध,
निगुन सरूप सब गुननि के गथ में ।
त्रिगुन त्रिदेवता त्रिलोक हूं त्रिवेद आदि,
त्रिपद त्रिसंध्या सब वाही के अरथ में ।
सिद्धिनि की धुनि लोक वेद जो प्रसिद्ध नाहीं,
भासै स्वयं सिद्ध सिद्धि साधन के पथ में ।
"अक्षर अनन्य" जाकौ वाहन न धाम कहूँ
बसै ग्यान जोगी के मनोरथ के रथ में ॥३॥

मनसा की दानी आदि बिद्या अनहद बानी,
वाहो की जुबानी बोध बि[illegible] अरु पारसी ।
सबद अरूप है सरूप वा सबद ही में,
भासै वह रूप चित्त हो की कर आरसी ।
"अक्षर अनन्य" वा सरूप सौं सुरति मिलै,
सुरति अनूप सदा आतम अधार सी ।
ध्यान से महल ग्यान मूरति बिराजमान,
देखैं वह छबि और छबि लागै छार सी ॥४॥

ब्रह्म करि मानिये तौ वहै है सबद ब्रह्म,
हरि हर ब्रह्म जाके ध्यान अनुरागे हैं ।
सक्ति करि जानिये तौ वहै आदि सक्ति कही,
वहै जोगमाया जाकी धुनि जोगी जागे हैं ।

"अक्षर अनन्य" दुहूँ पच्छ हैं प्रमान जाकौ,
अक्षर सरूप मुनि ध्यावैं प्रेम पागे हैं।
बानी अनहद नाद बेदनि की आदि बीज,
जोतिनि की जोति जाहि जोवत सभागे हैं ।।५।।

सवैया

जोति न सुन्न न निर्गुन सर्गुन, देवि न देव कहौं किहि लच्छिन ।
चेतन सब्द मयी धुनि मूरति, जानत जाहि न वाम न दच्छिन ।
जाग्रत और सुषोपति की, निज संधि बिषै मन बंधि ततच्छन ।
"अक्षर" बानी अनाहद की धुनि, जोवत सो सरवग्य विचच्छन ।।६।।

जानत जाहि रहै नहिं जानिबौ, लागहि तुच्छ पुरान कहानी ।
जोतिष बैदिक आगम बेद, न पूछन और परै परिवानी ।
"अक्षर" है सरवग्य सरूप, सु आदि अनादि अनाहद बानी ।
गूढ़ महा धुनि सूच्छम है, वह तौ बिरले मुनि जोगिनि जानी ।।७।।

जानै तैं होत अजान दसा, पुनि लोक ही बेद की बुद्धि न धारे ।
सूझि परै सब आपु ही में, कहि "अक्षर" अक्षर ही के उज्यारे ।
अक्षर और पढ़ैं बिसरैं, वह अक्षर तौ बिसरै न बिसारे ।
ध्यान समाधि लगै औ खुलै, यह ग्यान समाधि टरै नहिं टारे ।।८।।

ग्यान कौ सार अधार त्रिलोक कौ, बेद की आदि है लोक की आसा ।
पिंड ब्रह्मण्ड रही धुनि पूरन, दूर कहूँ सु तौ सीस ही बासा ।
जानत जाहि प्रवाह मिटै, सब चार पदारथ बीज निवासा ।
"अक्षर" स्वच्छ करै मन कौं, तब सूच्छम तत्व कौ भासहि भासा ।।९।।

नारि हजार बहत्तर हैं, तन पौन प्रवेस नसैं ठहरानी ।
दच्छिन वाम दुवौ सुर नारि, सु सूरज चंद कला सुख दानी ।
चेतन ब्रह्म सरूप सुषुम्मनि, ब्रह्म हरी हर जो उर आनी ।
"अक्षर" सो परमानंद मूरति, सिद्ध कला घट में पटरानी ।।१०।।

सूच्छम तत्व सदा अमृत धुनि, ग्यान सरूप अनाहद आसै।
सो सुनि कैं मुख चारि विरंचि, सु चारि ही बेदनि अर्थ प्रकासै।
बेदनि की नकलैं सब ग्रन्थ, यहै चरचा सब लोक बिलासै।
"अक्षर" अस्थिर चित्त करै, तब चेतन सब्द अनाहद भासै ॥११॥

चेतन सब्द मयी धुनि मूरति, कारन रूप वहै निरधारी।
बेद कौ कारन रूप कहौ, निज विद्या अगोचर ग्यान उज्यारी।
सूच्छम रूप वहै बरनी, कहि "अक्षर" जोगिनि जो उर धारी।
जोति है सार ब्रह्मण्ड बिषैं, तिमि पिण्ड में सार सुषुम्मनि नारी ॥१२॥

आनँद रूप ससांक मुखी, षट पंकज बाट चलै गज गामिनि।
चेतन चारु सुधामयि मूरति, जोति कला सुकला कुल कामिनि।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर की धुनि, नाद सवाद भरी अभिरामिनि।
प्रान अधार बिहार सदा, मन की सुख दानि सुषुम्मनि स्वामिनि ॥१३॥

सूरज चंद सौं रंचक बीच, दुबीच समागम ग्यान रुखी कौ।
पूरि रही धुनि रूप निरंतर, अन्तरवर्तिनि नाम सुखी कौ।
जोग ही भोग कला दुरुखी, दुख दूरि करै छिन मांझ दुखी कौ।
"अक्षर" कौ चित चेतन चारु, चकोर भयौ तिहि चंदमुखी कौ ॥१४॥

चन्द्र द्रवै मकरंद जहां, तहँ चन्द्रमुखी मुख मूँद समानी।
चन्द्रकला अरु भानुमती, सजनी रजनी दिन संग बिहानी।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर की धुनि, पूरित नाद अनाहद बानी।
चित्त निरोधन बोधन तैं, मत जोगनि कै हठ जोगिनि जानी ॥१५॥

जोगिनि की निज इष्ट अधार, मुरार के तार तैं सूच्छम बामा।
बिस्व सरूप लसै जिहि के मुख, सिद्धनि के पुजवै सब कामा।
चेतन ब्रह्म सरूप वहै कहि, "अक्षर" है मन कौ बिसरामा।
अंतर राज सरोजनि की, सुख सेज बिराजति सुन्दरि स्यामा ॥१६॥

सुन्दरि स्याम मनोहर मूरति, सूरत सूरज चन्द गरूरी ।
कोटि कलंकनि दूरि करै, अकलंकिनि नारि रसायन पूरी ।
ध्यान रमै बिरमै मन ही, कहि "अक्षर" अच्छिनि तैं गति दूरी ।
दामिनि तैं चल गामिनि है, वह स्वामिनि सिद्ध संजीवन मूरी ।।१७।।

मूल तैं तालु बिसाल कला, बिष नाल तनै षट चक्र छुवन्ती ।
पातुरि रूप चुभी चित में, गति आतुर चातुर चित्त रमन्ती ।
"अक्षर" जोग सिंगारवती, षट अक्षर रागवती रसवन्ती ।
साँवरि नारि मनोहर मूरति, निर्गुन रूप सबै गुनवन्ती ।।१८।।

कवित्त

कहिबे कौं नारी है परम जोति मूरति है,
सूरति है सांवरी अमृत रस बोरी है ।
उदित अनूप ब्रह्म आनँद सरूप सदा,
रूप की रसाल नित्त नवल किसोरी है ।
बिछुरै न छिन हियें बिहरै निरंतर ही,
परसै पुरुष जैसें माला महं डोरी है ।
ध्यान से महल मांझ ग्यान सौ कुंवर जनै,
"अक्षर अनन्य" जोग जुगति की जोरी है ।।१९।।

जोई हैं ब्रह्मण्ड सोइ पिंड में बनाव बन्यौ,
ग्यान जोग ध्यान बिना पावत न पोत है ।
जागत में जगत है सपन लहै सोवत में,
मन में मनोरथ अनेक गुन गोत है ।
आपुन में झूठ तौलौं झूठ सो "अनन्य" भनै,
साँचे कहं बाहिर ही भीतर उदोत है ।
बाहिर की नारी मिलि भोगी है पुरुष तैसें,
अन्तर की नारी मिलि जोगेसुर होत है ।।२०।।

येई तो सरीर मांझ नारी है पवन बेग,
सभर निभर भयैं रोग उपजावती।
येई हठ जोग में पवन मन वाहिनी है,
पवन ही मन कौ ब्रह्मण्ड पहुँचावती।
येई ग्यान जोग में त्रिसंध्या है त्रिसक्ति रूप,
त्रिगुन त्रिदेवता त्रिमूरति लखावती।
औरनि कौं लोह ज्यौं जुगति वारौ आगि लहै,
पारस तें कंचन सरूप छबि छावती ॥२१॥

विराट् ब्रह्मज्ञान-प्रकरण

दोहा

छाइ रही षट चक्र छबि, बिज्जु लता सम नारि।
सूच्छम रूप अनूप तन, जोग भोग सुखकारि ॥१॥

द्वै सरूप इहि बिधि कहै, कारन सूच्छम ध्यान।
बिधि सौं कहौं विराट अब, पूरन ब्रह्म गियान ॥२॥

सुलक्षण छंद

देख ब्रह्मण्ड रूप विराट। है सोई पिण्ड कौ सब ठाट।
महि निज मूल चक्र बखान। पुनि मनिपूर नीरहि जान ॥३॥

ज्वाला नाभि कमल निवास। खाली उदर सीस अकास।
व्यापक पवन अंग अंग हेर। जानहु हृदय कमल सुमेर ॥४॥

कंठ अकास बानि सु बानि। रबि ससि जुगल चच्छु बखानि।
त्रिगुन देवता हैं तीन। निर्गुन ब्रह्म आतम चीन्ह ॥५॥

मस्तक परम धाम अनूप। तत सिव सक्ति जोति सरूप।
सुख रस भोग स्वर्ग समान। दुख मल मूत्र नर्क प्रमान ॥६॥

रोम बनस्पती सम लेखि। नारी सकल सरिता देखि।
बिषय बिकार बिष भरपूरि। बुद्धि बिचारि जीवन मूरि ॥७॥

इमि ब्रह्मण्ड में जो जानि । सो सब पिण्ड में पहिचानि ।
जैसें बीज तें तरु होत । तरु तें फेरि बीज उदोत ॥८॥

जो वह बीज सो यह बीज । दुबिधा न संसय कीज ।
संसय मिटनि कौं कहि ग्यान । हैं जुगति जोग प्रमान ॥९॥

जोगहि ग्यान कौं करि जुक्त । है यह ग्यान जोग विमुक्त ।
तीन्यौं ध्यान सहज लहंत । साधत ग्यान जोग महंत ॥१०॥

रूप विराट सम मति साधि । समता सिद्ध सहज समाधि ।
अनहद बानि पूरन ग्यान । धरि चेतन्न मूरति ग्यान ॥११॥

दोहा

दुर्लभ मति यह लोक में, होत न पढ़ैं पुरान ।
सुरति सबद साधन भयै, हरि हर बिधि भगवान ॥१२॥

सवैया

जोति अंगुष्ट प्रमान मनोहर, भौंहनि के दरम्यान खुभी है ।
गोचर ग्यान अगोचर है वह, लोचन लोचन ध्यान थुभी है ।
जोवत जाहि थकी मति की गति, प्रेम सुधा रस लाभ लुभी है ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर की धुनि, चेतन मूरति चित्त चुभी है ॥१३॥

चेतन मूरति चित्त मिलै, निज बानि अनाहद ग्यान गह्यौ है ।
देख बिराट सरूप परापर, नाहिं सुरासुर भेद रह्यौ है ।
"अक्षर" श्री गुरु अक्षर की धुनि, ध्यान सदा मन नेह नह्यौ है ।
खंडित नाहिं क्रिया कबहूँ यह, ग्यान अखंडित जोग कह्यौ है ॥१४॥

बानि अनाहद ग्यान सरूप, लहै जिहि के जड़ता भ्रम भाजै ।
नारि सुषुम्मन चेतन रूप, सरीर बिषै जिहि की छबि छाजै ।
"अक्षर" देखि बिराट सरूप, सतासत सौं समता मति साजै ।
ग्यान अखंडित जोग यहै, उर तीनहुं रूप कौ ध्यान बिराजै ॥१५॥

लावहि चित्त समाधि सदा, लवलीन सु चित्त लगै अरु सोवै।
बात कछू न ब्रथा कलपै, मन वांछित काज ततच्छन होवै।
होइ वहै जु कहै मुख तैं, परि स्राप असीस कै सिद्धि न खोवै।
कर्म की रेख पै मेख करै, कहि "अक्षर" जो इहि जोगहि जोवै ॥१६॥

कवित्त

साधै यह जोग सधैं साधन सकल यामैं,
सागर में जैसें सब नदिनि कौ बास है।
बूझनै न परै ग्रन्थ सूझै सब आपु ही में,
सूरज के दीसै ज्यौं न दीपक की आस है।
"अक्षर अनन्य" यह सब तैं सुगम पंथ,
निरभै कौ खेल महा अनुभौ प्रकास है।
और जप जोगनि कौ बिघन बिनास करै,
ग्यान जोग साधन में बिघन कौ नास है ॥१७॥

सुख में भुलावै काहु दुख में भुलावै काहु,
धन में भुलावै काहु दारिद के हाल में।
नांच में भुलावै काहु बांच में भुलावै काहु,
साँच में भुलावै काहु झूठे भ्रम जाल में।
"अक्षर अनन्य" भांति भाँतिनि भुलाई देत,
ग्रेहिनि अतीत जोति दीनै सब गाल में।
देखै यह बिद्या के अबिद्या कौ न छल चलै,
भूलि जात गति ग्यान जोगिनि के ख्याल में ॥१८॥

बैठिबै कौ हठ नाहीं आसन डिगावै कहा,
पूजा जप नैम नाहीं चूक कहा परिहै।
बिसन बिराग नाहीं अपसरा छलै कहा,
देव कौ अराध नाहीं भूत कहा अरिहै।
दुख सुख हानि बृद्धि सुप्न के समान जानि,
सिद्धि ही असिद्धिनि तैं पन कहा टरिहै।
"अक्षर अनन्य" गुरु अक्षर सुरति ध्यान,
ऐसे ग्यान जोग कौ बिघन कहा करिहै ॥१९॥

सुख ही कौ पंथ जामें बिघन कौ लेस नहीं,
घर ही में बन ही में एकै गति बरनी ।
मन ही कौ खेल और खेलनौ मुकर मेल,
भोग अरु त्याग आपु इच्छा अनुसरनी ।
तन के करम कौं करन की अटक नाहीं,
अंतहकरन में अधार वहै धरनी ।
"अक्षर अनन्य" चित्त चेतन सरूप ध्यान,
गुरु के सबद सौं समाधि सिद्ध करनी ॥२०॥

बिद्यनि के सिरैं सिद्ध बिद्या है सुतह सिद्ध,
बिधिनि के सिरैं बेद बिधि सी न और है ।
गुननि के सिरैं धर्म साधन महा गुन है,
धर्मनि के सिरैं सत्त भाषै सब ठौर है ।
सिद्धिनि के सिरैं ग्यान सिद्धि है "अनन्य" भनै,
सिद्धि ही असिद्धि की न जातैं भ्रम भौंर है ।
कर्मनि के सिरैं भक्ति जोग हठ जोग जानि,
जोगनि के सिरैं ग्यान जोग सिरमौर है ॥२१॥

दोहा

भक्त जुदे जोगी जुदे, ग्यानी जुदे महान्त ।
तीन्यौं मत संजुक्त यह, ग्यान जोग सिद्धान्त ॥२२॥

७. सिद्धान्त-बोध

दोहा

श्री सत गुरु पद उर परसि, वर सरवग्य सरूप ।
सिद्धान्त बोध इमि नाम धरि, बरनहुँ ग्रन्थ अनूप ॥१॥
गुरू सिष्य बरनन प्रथम, बरनास्रम जुग धर्म ।
भक्ति जोग सिद्धान्त सब, कहौं हरन भव भर्म ॥२॥

गुरु-वर्णन

कवित्त

एकै ब्रह्म ग्यान के प्रमान में निपुन होत,
एकै जोग ध्यान के बिधान महं रूरे हैं ।
एकै देवतानि की उपासना बिलास जानै,
एकै तप जप नैम संजमनि सूरे हैं ।
एकै एक मत ऐसे निर्मल सुपच्छपात,
आपु मत जानै आनि जानिबे कौं क्रूरे हैं ।
सर्व मत जानै सर्व अनुभव "अनन्य" भनै,
सदा सरवग्य ते परम गुरु पूरे हैं ॥३॥

जैसें एक रोग कौ इलाज कोउ लोग जानै,
तासौं जग मांझ राजबैद न कहत हैं ।
तैसे एक पच्छ कौनू पद्धति कौं साधि जानै,
तासौं सतगुरु नाहीं कोबिद लहत हैं ।

पूरे बैद सकल इलाज गुन बिद्यमान,
पूरे गुरु त्यौं ही सरवग्यता गहत हैं।
"अक्षर अनन्य" गुरु नाथ से न बैद और,
पाप हू संताप तिहूं ताप कौं दहत हैं ॥४॥

गुरु-दशा-वर्णन

जक्त में मगन ते न भक्ति कौ मरम जानै,
भक्ति में मगन तिन्हैं जक्त कौ न जुर है।
सगुन में मगन ते न निगुन कौ भेद लहैं,
निगुन मगन कैं न सगुन कौ सुर है।
तुरी में मगन तिन्हैं माया देह सुधि नाहीं,
माया में मगन तिन्हैं भासत न तुर है।
"अक्षर अनन्य" एक एक में मगन सबै,
सब ही में सावधान सोई सतगुर है ॥५॥

गुरु-लक्षण

दोहा

दया छिमा संतोष सत, समदृष्टी मन घात।
जथा जोग उपदेस करि, ये गुरु लच्छन सात ॥६॥

गुरु-प्रभाव

देवनि के बस बिस्व सब, देव मन्त्र बस तुष्य।
मन्त्र सु बस गुरुदेव के, तातैं गुरु प्रभु मुख्य ॥७॥

गुरु समान सुर आन नहिं, सेवनि कौं जन जानि।
चार बेद जुग चार सुन, चार पदारथ दानि ॥८॥

चिन्तामनि कलपत्र जड़, कामधेनु पसु पेखि।
गुरु चेतन चेतन करन, वे इन तूल न लेखि ॥९॥

ब्रह्म बिष्नु रुद्रादि तन, त्रिगुन कर्म गुन लेव ।
हरन कर्म निहकर्म नित, निर्बिकार गुरुदेव ।।१०।।

गुरु मूरति सिव जानि निज, सिव सु अमूरति लेख ।
सेवक सेव्य बिचार यह, मुख्य उपासन पेख ।।११।।

इहि बिधि गुरु प्रभुता कही, जथा सुस्रति परिवान ।
अब बरनहुं निज सिष्य के, लच्छन धर्म निदान ।।१२।।

शिष्य-वर्णन

सिख ही कहं अभिलाष सुख, दुख न लहै दुख दिक्ख ।
सुहृद सुलच्छन भक्ति रत, सो कहिये निज सिष्य ।।१३।।

शिष्य-लक्षण

अग्याकारी भक्ति दृढ़, सीलवंत अति साँच ।
ईस्वर लहि सेवहि गुरुहिं, सिष्य सुलच्छन पाँच ।।१४।।

शिष्य-धर्म

जो गुरु करै सु ना करै, कहै सु करै बिसेष ।
आयसु पाय सु कर्म करि, सिष्य धर्म इहि लेख ।।१५।।

शिष्य-सुमति

दिन दिन प्रति जिग्यासु अति, समुझि सब्द की बूझ ।
सीखहि सो बिसरै नहीं, सिष्य सुमति इमि सूझ ।।१६।।

शिष्य-प्रतीति

जो जल सहं गुरु थल कहै, तौ न लहै अनरीति ।
कहि "अनन्य" निज सिष्य वह, जिहि उर इती प्रतीति ।।१७।।

इमि बरनै गुरु सिष्य के, लच्छन कर्म विचार ।
बरनास्रम जुग धर्म अब, कहौं सु सब निरधार ।।१८।।

वर्ण-धर्म

द्विज गायत्री देवि जप, राज भजै सिव सक्ति ।
बैस्य बिष्नु पूजा धरम, सूद्र गनेस्वर भक्ति ॥१९॥

वर्ण-व्रत

बिप्र बेद भिच्छा सुक्रत, छत्र सु मन रन दान ।
बैस्य बनिज कृषि गोचरन, सेवा सूद्र प्रमान ॥२०॥

स्त्री-धर्म

त्रिय कहं धर्म न दूसरौ, एक पतिब्रत सार ।
ईस्वर करि जानै सदा, अपनौई भरतार ॥२१॥

भरता के आयसु बिना, करहि न भामिनि कर्म ।
करै सु पति के हुकुम तैं, यहै पतिब्रत धर्म ॥२२॥

आश्रम-धर्म

ब्रह्मचर्ज पहिले कह्यौ, पुनि ग्रहस्थ परिवान ।
बानप्रस्थ पन तीसरै, लहि सन्यास निदान ॥२३॥

ब्रह्मचर्य-धर्म

ब्रह्मचार आचार सुचि, ब्रह्म पठन मन जीत ।
ब्रह्म बिचार सदा करै, आतम ग्यान अतीत ॥२४॥

गृहस्थ-धर्म

मातु पिता गुरु साधु गौ, देव पितृ प्रभु भक्ति ।
सेवक धर्म ग्रहस्थ कौ, कर्म अर्पि सिव सक्ति ॥२५॥

वानप्रस्थ-धर्म

बानप्रस्थ बन तप करै, बनहि बीच त्रिय जुक्त ।
निर्मल मन ईस्वर भजन, है जग जीवन मुक्त ॥२६॥

सन्यास-धर्म

सकल सुभासुभ कर्म तजि, पूरन ग्यान प्रकास।
निज धारन परमातमा, कर्म न्यास सन्यास ॥२७॥

कृत नाते न कुकाय तन, और कर्म किन आस।
कहि "अनन्य" अनुभव दसा, कर्म न्यास सन्यास ॥२८॥

युग-धर्म

सतजुग सत्त सुकृत धरम, त्रेता तप अधिकार।
द्वापर पूजा जग्य ब्रत, कलिजुग भक्ति प्रचार ॥२९॥

इहि बिधि बरनासरम जुग, धर्म कहे निरधार।
अब बरनहुं पुनि धर्म के, चरन सु चार बिचार ॥३०॥

धर्म-चरण

देसधर्म कुलधर्म गुनि, पुनि गुरुधर्म सुधारि।
वेदधर्म परिवान लहि, धर्म चरन ये चारि ॥३१॥

देश-धर्म

धर्म जु अपने देस महं, चलि आयौ परिवान।
सो मरजाद न खंडिये, करिये रीति न आन ॥३२॥

कुल-धर्म

जो उपज्यौ जा कुल बिषै, तासु बरन कुल रीति।
सो तजि और करै नहीं, करै तौ साधि सुनीति ॥३३॥

गुरु-धर्म

जो उपदेस गुरू दियौ, लघु दीरघ जनि लेख।
सो करतव्य "अनन्य" भनि, यह गुरु धर्म बिसेष ॥३४॥

वेद-धर्म

जौन धर्म जाकौं उचित, बरनै बेद बिधान।
तौन धर्म ताकौं फलै, करनै वहै निदान ॥३५॥

धर्म-मर्यादा

बड़ौ धर्म मरजाद गुरु, बिन मरजाद न आइ।
भाजन भरि जल औंटिये, फूटत काज नसाइ ॥३६॥

जौन धर्म जाकौं कहे, तौन धर्म सुखकार।
आन धर्म महं नर्क है, कहि "अनन्य" निरधार ॥३७॥

बेद धर्म गुरु धर्म सौं, बँधी धर्म मरजाद।
बेद बिना जे धर्म हैं, ते अधर्म बकवाद ॥३८॥

बेद बिना जे पंथ हैं, ते कुपंथ सब लेख।
जार गर्भ जिमि सुन्दरी, पति पावै न बिसेष ॥३९॥

बेद बिरुध चलिये नहीं, चलन बेद परिवान।
तीनि कांड सुनि बेद के, कर्म उपासन ग्यान ॥४०॥

कर्मकाण्ड महं जानिबौ, पाछैं कहे जे धर्म।
कहौं उपासन भेद अब, चारि बेद मत मर्म ॥४१॥

रिगवेदी ब्रह्महि भजत, सामवेद हरि भक्ति।
यजुर्वेद रुद्रहि भजै, अथर्वनी सिव सक्ति ॥४२॥

तीनि बेद त्रै देवता, यहै उपासन ध्यान।
चौथौ पद सिव सक्ति कौ, सो कहिये निज ग्यान ॥४३॥

चौथौ पद सिव सक्ति निज, निर्गुन अरु गुनवन्त।
सत चित आनंद रूप प्रभु, आदि अनादि अनन्त ॥४४॥

आदि तत्त अद्वैत पद, जामैं दुतिय न उक्ति ।
द्वै आख्या करि कहत तिहि, नाम मन्त्र सिव सक्ति ।।४५।।

सिव कहियत कल्यान सौं, जाकौ नास न होय ।
सक्ति कहत चैतन्न पद, समरथ करता सोय ।।४६।।

नाम कहत सिव तासु कौ, जानि निगुन अनुरक्ति ।
लहि चेतन सत्ता तथा, नाम कहत पुनि सक्ति ।।४७।।

सक्ति कहौ कै सिव कहौ, कारन वहै निदान ।
तत्व एक सिव सक्ति निज, आख्या एक प्रमान ।।४८।।

तत्व एक सिव सक्ति निज, निर्गुन अरु गुन खानि ।
तिन ही तैं तिरगुन भये, सो क्रत कहौं बखानि ।।४९।।

सवैया

मानिक जोति जु जोति सु मानिक, मानिक जोति स्वयं मनि सग्यन ।
अंकुर बीज जु बीज सु अंकुर, अंकुर बीज न द्वै क्रत तग्यन ।
वाक अरत्थ अरत्थ सु वाक, अरत्थ यहै निरधार गुनग्यन ।
यौं अनभेद "अनन्य" भने, सिव सक्ति सरूप कह्यौ सरवग्यन ।।५०।।

दोहा

इहि बिधि श्री सिव सक्ति कौ, कर्यौ निरूपन चार ।
अब बरनहुं सिव सक्ति तैं, ज्यौं उतपति बिस्तार ।।५१।।

जब उतपति सिव सक्ति कैं, इच्छा कछु क्रत रूप ।
तीनि सक्ति तिन तैं भई, सकला त्रिगुन अनूप ।।५२।।

इमि त्रिसक्ति सिव सक्ति तैं, उपजीं इच्छा रूप ।
तिनि सिरजे त्रै देवता, त्रिगुन देह भव भूप ।।५३।।

प्रगट भईं सिव सक्ति तैं, तीन सक्ति धरि गात ।
ब्रह्मानी नारायनी, रुद्रानी जग मात ।।५४।।

प्रथम सक्ति ब्रह्मायनी, वेद मातु सृक पानि।
चतुर्मुखी आरक्त तन, गायत्री जग जानि ।।५५।।

दुतिय सक्ति नारायनी, स्याम चतुर्भुज रूप।
संख चक्र गद पद्म कर, सरसुति नाम अनूप ।।५६।।

त्रितिय सक्ति रुद्रायनी, तेज पुंज सित गात।
पानि त्रिसूल त्रिलोचनी, सावित्री जग मात ।।५७।।

ब्रह्म सक्ति तैं ब्रह्म हुव, रुद्र सक्ति तैं रुद्र।
बिष्नु सक्ति तैं बिष्नु सुन, तीन्यौं त्रिगुन समुद्र ।।५८।।

ब्रह्म रजोगुन रूप धरि, बिष्नु सतोगुन जानि।
रुद्र तमोगुन देवता, गुन क्रत भिन्न बखानि ।।५९।।

रजगुन तैं उतपति जगत, सतगुन तैं प्रतिपाल।
तमगुन तैं संसार कृत, निर्गुन के गुन ख्याल ।।६०।।

निर्गुन तैं गुन होत इमि, निर्गुन ही महं लीन।
निर्गुन सर्गुन है वहै, इहि बिधि कहत प्रवीन ।।६१।।

कवित्त

निर्गुन बिचारै ताकौं निर्गुन निरीह नाथ,
सर्गुन बिचारै ताकौं सर्गुन गुनै से हैं।
जोति से बिचारै ताकौं जोति ह्वै प्रकास करै,
सुन्न से बिचारै ताकौं सुन्नमय जैसे हैं।
दूरि कै बिचारै ताकौं दूर ही "अनन्य" भनै,
आपु में बिचारै ताकौं आपु ही में वैसे हैं।
वे तौ सिव सक्ति सर्व सक्ति सर्व गति नाथ,
जैसे ही कौं तैसे आपु जैसे ही के तैसे हैं।।६२।।

दोहा

जैसे कहं तैसे लहै, ऐसे अबिगत ब्रह्म।
परिपूरन अरु अलख है, वाकौ यहै अचम्ह ।।६३।।

कुण्डलिया

पुरिपूरन अरु अलख है, सब ही महं अरु दूर ।
चिदाभास आकास सम, रहै सर्व भरपूर ।
रहै सर्व भरपूर, दूर सिव सक्ति न जानौ ।
जीवनि महं वह सींव, सुद्ध चेतन पहिचानौ ।
जीवनि महं वह सींव, जीव जानत तिहि कूर न ।
सात दसा अग्यान रहत, तिनि महं परिपूरन ॥६४॥

पूरन जग अग्यान सौं, जान न सुद्ध सरूप ।
रहै मान अभिमान तन, परै बासना कूप ।
परै बासना कूप, डरै देखत दुख भारी ।
जनम मरन बाहरी, जात खोये जुग चारी ।
तऊ न सुरति सम्हारि, बिषै इच्छा तन तूरन ।
सात दसा अग्यान रह्यौ, तिनि महं मन पूरन ॥६५॥

दोहा

सात दसा अग्यान की, जीव अवस्था जानि ।
क्रम सौं बाढ़ति देह संग, सो सब कहौं बखानि ॥६६॥

गर्भ बिषै चेतन्न मन, सुमिरन ईस्वर ध्यान ।
उत तैं किहि भरम्यौ इतहि, सात दसा अग्यान ॥६७॥

सात दशा नाम

बीजजाग्रता जाग्रता, महाजाग्रता स्वप्न ।
सुपन जाग्रत जाग्रतसुपन, जानि सुषोपति तप्न ॥६८॥

सात दशा वर्णन

प्रथम वासना बीज धरि, जनम जीव तन बाल ।
बेसुधि गात छुधा जगत, बीजजाग्रता हाल ॥६९॥

तन सम्हारि कर चरन मुख, बाल खेल अभिलाष।
दुतिय दसा यह जाग्रता, करमारंभन भाष ।।७०।।

काम क्रोध मद लोभ जुत, उद्दिम करम प्रबीन।
बरन धरम कुल गुन गरब, महाजाग्रता पीन ।।७१।।

जागत बैठै सबनि महं, सो सुधि कछू न चित्त।
मनसूबा बहु बिधि करत, जाग्रतसुपना तित्त ।।७२।।

चित्त चक्रत निसि दिन रहै, नाना सोच बिचार।
सुपन दसा यह जानिबौ, जामहं भर्म अपार ।।७३।।

चित्त बिचारत और कछु, करत देह कछु कर्म।
सुपनजाग्रता जानिये, तन हू मन चित भर्म ।।७४।।

पाप पुन्य जानै न कछु, ना कछु समुझि बिचार।
दसा सुषोपति जानि यह, महा मूढ़ संसार ।।७५।।

महा मूढ़ संसार की, जियत भूत भ्रम बुद्धि।
रोटी खान कमान की, रही मरम गति सुद्धि ।।७६।।

महा मूढ़ संसार इन, सात दसनि तें होत।
सात जीति ताकहं लहत, ग्यानी ग्यान उदोत ।।७७।।

ग्यान उदोत जु होत है, क्रम सौं साधन साधि।
भक्तिहु जोग विवेक करि, प्रभु कहं त्रिबिधि अराधि ।।७८।।

प्रभु की त्रिबिधि अराधना, भक्ति जोग अरु ग्यान।
अधिकारी जो जासु कौ, ताकहं सो परिवान ।।७९।।

भक्ति जोग अरु ग्यान की, क्रिया भिन्न पद एक।
तिनि तीन्यौं के फल पर्दाहि, बरनौ सहित विवेक ।।८० ।।

भक्ति-वर्णन

प्रथम भक्ति लच्छन यहै, श्री गुरु सब्द प्रतीति।
आन बात आनै न उर, सुनि बहु मत बहु रीति ।।८१।।

दूजौ लच्छन प्रेम है, प्रीति लगनि लौ लाय ।
करन भक्ति पूजा भजन, चंद चकोर सुभाय ॥८२॥

तीजौ लच्छन सील है, सील सकल गुन ओप ।
सदा रहै गंभीर पुनि, मिथ्या करै न कोप ॥८३॥

चौथौ लच्छन तुष्टि है, जथा लाभ संतोष ।
पायें हर्ष न मानिये, गयें न संछुभ दोष ॥८४॥

पांचौ लच्छन धीर है, आतुर करै न कर्म ।
सहज सहज सब कछु बनै, मन न डिगै गुरु धर्म ॥८५॥

छठवौं लच्छन वीर है, पन तैं चलै न गैन ।
कमल घटैं ज्यौं क्रष्न जू, काटि चढ़ाये नैन ॥८६॥

सातौं लच्छन सत्त है, सत न तजै सब जाय ।
जथा कथा हरिचन्द की, दुख सुख सत्त दिढ़ाय ॥८७॥

आठौं लच्छन है दया, सब पर होय दयाल ।
दुखी न देखै जीव कौं, अपने बस प्रतिपाल ॥८८॥

नवमौं लच्छन जानि दम, मन कौ दमन बिसेष ।
मन भरमै तन भक्ति कर, सो न भक्ति वर लेख ॥८९॥

दसवौं लच्छन एक पन, केवल इष्ट उपास ।
चातक स्वाति समान रट, करहि न दूजी आस ॥९०॥

ये दस लच्छन भक्ति के, इन बिन भक्ति न होय ।
ज्यौं औषधि अनुपात बिन, कबहूँ लगै न लोय ॥९१॥

दस लच्छन जुत भक्ति करि, भक्ति सु तीनि प्रकार ।
कायिक वाचिक मानसिक, सोब कहौं निरधार ॥९२॥

सवैया

उत्तम देह क्रिया करि कैं, रुचि चंदन बंदन आसन लावै ।
मूरति थापि महा प्रभु की, महि पाहन धातु जुई जिय भावै ।
षोडस मन्त्र उचार करै, अरचै चरचै चित अन्त न धावै ।
प्रेम प्रकास 'अनन्य' भनै, पहिली यह कायिक भक्ति कहावै ॥९३॥

बोलै नहीं बकवाद ब्रथा, सत बेद कथानि सुनै रु सुनावै ।
सांच कहै परमारथ हेतु, करै चरचा दुनिया ढंग लावै ।
जो उपदेस दियौ गुरु जू, तिहि सब्द बिषै रसनाहि रसावै ।
पुस्तक भ्यास "अनन्य" भनै, दुतिया यह वाचिक भक्ति कहावै ।।९४।।

कै उर सुद्ध सुबुद्धि हियै, गुरु सब्द सरूप बिषै लव लावै ।
आवत जात कमात ही खात, जगै सपनेहु न सौ बिसरावै ।
ज्यौं सुरभी बन में सुत में मन, त्यौं मन में मनमूरि मिलावै ।
निश्चल नैम "अनन्य" भनै, यह तीसरी मानसी भक्ति कहावै ।।९५।।

दोहा

त्रिविध धारना भक्ति इमि, जथा जोग उपदेस ।
पूरन भक्ति अखण्ड लहि, आठहु अंग प्रबेस ।।९६।।

छप्पय

स्रवन सुनत प्रभु चरित, बयन जप क्रत गुन गावन ।
सिरसि प्रनाम प्रवीन, नयन मूरति चित लावन ।
करि अरचा उपचार, चरन प्रक्रिय प्रक्रिमा लहि ।
हृदय ध्यान परिवान, मनसि परतीति प्रीति गहि ।
इमि आठहु अंग सुभक्ति करि, श्री सिव सक्ति मनाइये ।
है चातक रटनि "अनन्य" भनि, सु परम इष्ट लौ लाइये ।।९७।।

नवपदी छंद

लौ लागै इमि भक्ति महं, आठहु अंग प्रमान ।
ह्वै प्रसन्न ईस्वर प्रगटि, दैंहि आपु बरदान ।
दैंहि आपु बरदान, करहिं सु आपु समान ।
होइ सिद्धि इहि बान, दीपक दीप समान ।।९८।।

दोहा

दीपक दीप समान गति, सिव मिलि कैं सिव लेख ।
भक्ति जोग सिद्धान्त इमि, जानहु भक्ति बिसेष ।।९९।।

भक्ति जोग सिद्धान्त कौ, इहि बिधि कियौ बखान ।
अब बरनहुँ अष्टांग तैं, जिहि बिधि होत प्रमान ॥१००॥

अष्टांगयोग-वर्णन

प्रथमहि जम पुनि नैम गुनि, आसन प्रत्याहार ।
प्रानायाम सु धारना, ध्यान समाधि प्रचार ॥१०१॥

यम-लक्षण

हिंसा ममता लोभ अरु, मिथ्या अरु परनारि ।
पंच त्याग जम जानिबौ, प्रथम जोग अंग धारि ॥१०२॥

नियम-लक्षण

अन्न नैम जल नैम करि, सयन नैम ब्रत लैन ।
भजन नैम जा लगि जगै, इते नैम सुख दैन ॥१०३॥

आसन-वर्णन

चौरासी आसन कही, नाटक भेद अनेक ।
मूलबंध आनन्द कर, सिद्धासन थिर एक ॥१०४॥

प्रत्याहार-वर्णन

जित जित चित चंचल चलै, तित तित तैं इत ल्याइ ।
राखहि नासा अग्र थिर, प्रत्याहार सु आइ ॥१०५॥

प्राणायाम-वर्णन

पवन खैंचि पूरक करै, कुंभक रोकि सरीर ।
क्रम सौं तजि रेचक करै, प्रानायाम सुधीर ॥१०६॥

प्रानायाम त्रिभेद इमि, सु संवेद जुत जानि ।
निज बीजाक्षर तीनि जुत, स्वांसा सब्द बखानि ॥१०७॥

सवैया

पूरक चारि सु कुंभक सोरह, रेचक आठ क्रिया लघु जानौ।
पूरक आठ सु कुंभक बत्तिस, रेचक सोरह मध्धिम मानौ।
पूरक सोरह चौंसठ कुंभक, रेचक बत्तिस उत्तिम ठानौ।
'अक्षर' अक्षर की बढ़ती सु, हजारक कुंभक जोग बखानौ ॥१०८॥

छप्पय

दच्छिन सुर सुर साधि, सांस दस बीसक खेंचहि।
सोरह गनन प्रमान, सहित बीजाक्षर सैंचहि।
रोकि स्वास निस्वास, चार गुरु मंत्र उचारहि।
तातैं आधौ नियम बाम, सुर क्रमि तजि तारहि।
इमि प्रानायाम त्रिभेद लहि, कहि "अनन्य" रुचि सौं रचहि।
तब मिटहि बिरोध निरोध दुख, सु पवन पुंज कोठा पचहि ॥१०९॥

धारणा-वर्णन

दोहा

पवन पुंज कोठा पचहि, मिटहि रोग दुख पीर।
मन इन्द्री गुन जीति कैं, धरहि धारना धीर ॥११०॥

उठत सुभासुभ बिघन बहु, तिनि महं मन न कचाय।
सिद्धि असिद्धि डिगै नहीं, यहै धारना आय ॥१११॥

अस्थिर चित धरि धारना, गुरु मारग अनुसार।
धरहि ध्यान एकांत महं, करि षट चक्र बिचार ॥११२॥

ध्यान-वर्णन

बचन सिद्धि मन सिद्धि अरु, कर्म सिद्धि पुनि होइ।
ये सिद्धैं सब बिघन हैं, जानि तजै जिमि छोइ ॥११३॥

षटचक्र-विचार

मूल चक्र मनिपूर भनि, नाभि हृदै परिवान।
कंठ सीस षट चक्र ये, कहौं रूप सुर थान ॥११४॥

गीता छन्द

मूल चक्र बिचारि महि, मनिपूर नीर सरूप ।
नाभि कमल सु ज्वाल, निर्मल हृदय पवन अनूप ।
कंठ कमल अकास जानहु, भ्रकुटि मनिमय लेख ।
षट चक्र भेदन सुषुमना, तन में सु सक्ति बिसेष ।।११५।।

मन पुरुष सुषुमन सक्ति सौं, जब होत रति संजोग ।
है जोग पद कौ अर्थ, द्वै मिलि परम आनन्द भोग ।
यह जोग परमानन्द पद, मन सुषुमना धुनि लीन ।
षट कमल के दल देवता, लहि जोग ध्यान प्रबीन ।।११६।।

सवैया

मूल चतुर्दल देव गनं, मनिपूर षटद्दल ब्रह्म निवासै।
नाभि अठद्दल बिष्नु बसै, उर कंज दसद्दल जीव अवासै।
षोडस कंठ 'अनन्य' भनै, तिहि माहिं सरस्वती बानि बिलासै।
सीस सहस्त्र दलं कमलं, विमलं सिव सक्ति सरूप प्रकासै ।।११७।।

कवित्त

सीस में निवास सिव सक्ति सु प्रकास रूप,
हिरदै अवास जीव कर्म के तपन तैं।
दुहुनि के बीच आइ माया भ्रम छाय रहै,
भूलै जीव जाग्रत सुषोपति सपन तैं ।
जोग की जुगति बांधि सुरति 'अनन्य' भनै,
ध्यान तैं सुग्यान आनि भासत अपन तैं ।
जैसें उनमान मिलै कुल कौं अलल पंछि,
ऐसें जीव ब्रह्म मिलै अजपा जपन तैं ।।११८।।

समाधि-वर्णन

दोहा

नव द्वार सुर मूँदि कै, सुषुमन पवन चढ़ाय ।
चन्द्र भानु दरम्यान चढ़ि, जीव ब्रह्म मिलि जाय ।।११९।।

जीव ब्रह्म इहि बिधि मिलैं, रहै न दुबिधा और ।
लागहि तत्त समाधि तब, होय सिद्ध सिरमौर ।।१२०।।

होय सिद्ध सरवग्य इमि, जीव भर्म निरवारि ।
ईस्वर मिलि ईस्वर भयै, जोगेसुर पद धारि ।।१२१।।

चौपई

जब या बिधि जोगेसुर होइ । सक्ति कुंडली साधै सोइ ।।
बीज मन्त्र कुंडली अराधि । लहै सिद्ध तब सहज समाधि ।।१२२।।

सोवन जगन सपन भ्रम दूर । अनहद नाद रहै भरपूर ।
सकल जोग कौ यह सिद्धांत । जानत बिरले सिद्ध महान्त ।।१२३।।

दोहा

इहि बिधि बरनौ जोग मत, पाछैं भक्ति बखान ।
अब बरनहु मत ग्यान तैं, जिहि बिधि होत प्रमान ।।१२४।।

ज्ञान-वर्णन

कवित्त

आतमा बिचार सारासार निरधार जानि,
जगत असार में न सीस धुनियत है ।
पूरन प्रबुद्ध सुद्ध रूप ही कौं सोधि हियौ,
कर्मनि अलीन तैं न पाप पुनियत है ।
चराचर रूप चारि ब्रह्म परजंत जिते,
देखियत आंख और कान सुनियत है ।
जानै सिव सक्ति ही सरूप सर्व रूप एक,
"अक्षर अनन्य" ऐसौ ग्यान गुनियत है ।।१२५।।

दोहा

ग्यान कहत हैं भास सौं, भासै तत्त सरूप ।
सप्त भूमिका तासु की, क्रम सौं कहौं अनूप ।।१२६।।

ग्यान नाम सिद्धान्त पद, साधन बुधि उनमान ।
सप्त भूमिका बोध कृत, सो सब कहौं बखान ॥१२७॥

सप्त-भूमिका-वर्णन

कुण्डलिया

पहली भूमि सुभेच्छना, पुनि बिचारना जानि ।
तीजी गुनि तनुमानसा, सत्वापति पुनि मानि ।
सत्वापति पुनि मानि, असंसक्त्या बर लेखौ ।
पुनि पदारथाभाव, बहुरि तुर्जगा बिसेषौ ।
कहि "अनन्य" परिवान, भूमि सातौं गुन गहली ।
बरनौं सब के भेद, बरनि पहलैं भुव पहली ॥१२८॥

शुभेच्छा-वर्णन

दोहा

सुभ इच्छा जब जीव की, सुभ कर्मनि सौं प्रीति ।
भूमि सुभेच्छा जानि यह, चलै सुराह सुरीति ॥१२९॥

सवैया

राह सुराह करै सुभ कर्म, कुराह कुमारग त्याग तितिच्छा ।
वैठै जहां चरचा तहं उत्तिम, धर्म दया सुनिबौ सुभ सिच्छा ।
बेद कथा ब्रत तीरथ सौं हित, मूरति देव उपासन दिच्छा ।
'अक्षर' पूरन पुन्य बढ़ै, पहलैं सुभ इच्छक भूमि सुभिच्छा ॥१३०॥
त्यागन दूसरे मारग कौ, गुरु मारग लागन धर्म प्रतिच्छा ।
अर्चन बंदन दास दसा करि, लेहि सदा सत संगति सिच्छा ।
सगुन में अति सेवकता, अरु निर्गुन में उनमान परिच्छा ।
पूरन ग्यान "अनन्य" भनै, पहली सुभ इच्छक भूमि सुभिच्छा ॥१३१॥

विचारणा-वर्णन

दोहा

हृदै सुद्ध सुभ कर्म करि, उपज्यौ तत्त बिचार ।
को करता को कर्म है, को हम को संसार ॥१३२॥

सवैया

देह नहीं हम ना हम इन्द्रिय, कर्म नहीं हम जो भरमावै ।
बुद्धि नहीं अहंकार नहीं पुनि, ना हम चित्त न वित्त सुभावै ।
आपु में आपु न जानि परै, हम सब्द "अनन्य" अचंभव छावै ।
को हम हैं सु बिचार करै, सुबि चारना दूसरी भूमि कहावै ।।१३३।।

को हम हैं इत आए कहां तैं, कहाँ फिरि जैहैं कहा भ्रम छावै ।
को जग है जग की गति को, जग क्यों उपज्यौ मिटि क्यों कित जावै ।
को करता कृत कर्म कहा, सिव सक्ति सु को यह को समुझावै ।
एते बिचार "अनन्य" भनै, सु विचारना दूसरी भूमि कहावै ।।१३४।।

तनुमानसा-वर्णन

दोहा

करि बिचार निरधार करि, कीनौ तन मन सुद्ध ।
तनुमानसा सु तीसरी, बाढ़ै हियै प्रबुद्ध ।।१३५।।

सवैया

बुद्धि प्रमान स्वयं समुझी, सोइ बेद प्रमान बिषै सुनि पाई ।
दीन्यौ वहै उपदेस गुरू, तिहि तैं अति ही दिढ़ता उर आई ।
मारग सिद्ध "अनन्य" भनै, विय मारग कौं गुरु देव दुहाई ।
सुद्ध भयौ तन ही मन सो, तनुमानसा तीसरी भूमि सुहाई ।।१३६।।

इन्द्रिनि कौ करि सोधन बोधन, बोधन बुद्धि कुबुद्धि बहाई ।
साधन इष्ट अधारन कौ, मन बाँधन बिद्य अविद्य दिढ़ाई ।
मारग सिद्ध "अनन्य" भनै, विय मारग कौं गुरुदेव दुहाई ।
ध्यान रतै तन ही मन सौं, तनुमानसा तीसरी भूमि सुहाई ।।१३७।।

सत्वापत्ति-वर्णन

दोहा

सकल कचाई पचि गई, बाढ़्यौ हिरदै सत्व ।
सत्वापति यह भूमिका, चीन्ह्यौ चेतन तत्व ।।१३८।।

सवैया

पाइ भलौ निहचौ परचौ, मन मांझ कचाई कछू न रही है।
थोरे ही लाभ संतोष महा मन, हर्ष विषाद की मानि लही है।
आतम ग्यान "अनन्य" भनै, परमातम की परतीति गही है।
सत्व सुकृत्व बढ़ौ हिरदै, यह चौथी सत्वापति भूमि कही है ।।१३९।।

आवहि लाछि कै गाछि नहीं कछु, पाछि अपाछि की टेक नहीं है।
निंदहि कै कोउ बंदहु देव लौं, मान अमान की भीति ढही है।
बुद्धि बिरक्ति "अनन्य" भनै, सिव सक्ति बिषै लव लागि रही है।
सर्व कचाई गई पचि कै, सतप्रापति भूमिका चौथी कही है ।।१४०।।

असंसक्ति-वर्णन

दोहा

हृदै ग्यान दीपक दियैं, निहचै कियौ सरूप।
असंसक्ति यह भूमिका, पंचम महा अनूप ।।१४१।।

सवैया

दीपक ग्यान प्रकास हियैं, भ्रम दूर संजीवनमूरि निहारी।
जीव बिषै निज सींव लख्यौ, उनमान कथा परिवान बिचारी।
भौ अनसोच "अनन्य" भनै, सिव सक्ति कला बिमला उरधारी।
संसय मैंटि असंसय है, यह भूमि असंसकती सुखकारी ।।१४२।।

हद्द रही अनहद्द लही मति, तद्धित ग्यान सु जोति उज्यारी।
जैसौ कह्यौ गुरु तैसौ लह्यौ, उनमान कथा परिवान निहारी।
गौ भ्रम भेद "अनन्य" भनै, अनुभौ उपज्यौ निरभै उरधारी।
संसय मैंटि असंसय है, यह भूमि असंसकती सुखकारी ।।१४३।।

पदार्थाभावना-वर्णन

दोहा

मुक्ति भुक्ति सुख स्वर्ग धन, सबकौ भयौ अभाव।
यह पदारथाभावना, भूमि अभूत प्रभाव ।।१४४।।

सवैया

अर्थ अनर्थ समान तजै सब, धर्म अधर्मनि टोरि लठी है।
काम अकाम सौं काम नहीं कछु, मुक्ति अमुक्ति की मानि नठी है।
चाह न अन्नि "अनन्य" भनै, निज हाथ परी गुरु ग्यान गठी है।
सर्व पदारथ कीन अभाव, पदारथाभावना भूमि छठी है ।।१४५।।

आस न संक समो नृप रंक, सकंक रहीस समान मठी है।
संग्रह त्याग न राग बिराग, नहीं मनुहारि न होत हठी है।
मानि न देव "अनन्य" भनै, लहि आतम देव सरीर मठी है।
स्वारथ त्याग पदारथ त्याग, पदारथाभावना भूमि छठी है ।।१४६।।

तुर्यगा-वर्णन

दोहा

द्वन्द भेद नासै सबै, जीव सींव भये एक।
जीवन मुक्ति अभेद पद, तुर्जंग भूमि बिसेष ।।१४७।।

सवैया

परमातम आतम एक भये, दुख द्वन्द गये दुरभाव दुरीया।
छीर में छीर जथा घृत में घृत, नौंन की पोटरी सिंधु, घुरीया।
आपु अभेद "अनन्य" भनै, लहि चेतन सर्व प्रभाव पुरीया।
जीवन मुक्त ततग्य दसा, यह भूमि सपत्तम तत्त तुरीया ।।१४८।।

ग्यान अग्यान विवेक बिसारि, बिग्यान दसा चित ध्यान पुरीया।
पिंड ब्रह्मण्ड रही धुनि पूरि, लग्यौ धुनि में मन जोग जुरीया।
लाइ सदा समता सु समाधि, बुद्धि कुसुबुद्धि दुरीह दुरीया।
"अक्षर" अस्थिर कै मनसा, यह भूमि सपत्तम तत्त तुरीया ।।१४९।।

दोहा

तुरिय दसा सिद्धान्त लहि, साधन वे षट लेख।
सात सिढ़ी परिवान इमि, पूरन ग्यान बिसेष ।।१५०।।

ग्यान जोग अरु भक्ति कौ, इहि बिधि कियौ बिभाग ।
इनि तीन्यौं तैं होति है, सिद्ध दसा बैराग ।।१५१।।

बैराग्य-लक्षण

कवित्त

प्रथम अमानि कह्यौ आपनौ न मानै कछू,
दूजे निरमोह मोह माया भ्रम त्याग के ।
तीजे निहकाम कर्म फल की न कामना हो,
चौथे निर्द्वन्द राग दोष न त्रिभाग के ।
पांचै निरबन्ध लोभ प्रीति भय बन्धन न,
छठै निरदोष धर्म पातक न लाग के ।
"अक्षर अनन्य" ग्यान अनुभौ प्रवीन दसा,
एते षट लच्छन बेद बिदित बिराग के ।।१५२।।

दोहा

यहै तत्व बैराग है, यहै तत्व सन्यास ।
सिद्ध दसा के नाम दुव, मिथ्या भेष बिलास ।।१५३।।

भेष नहीं बैराग कौ, पूरन ग्यान उदोत ।
भक्ति जोग अरु ग्यान मत, सिद्धि एक पद होत ।।१५४।।

भक्ति जोग अरु ग्यान मत, यह बिधि कहे "अनिन्न" ।
सिद्धि भयें पद एक है, मारग में मत भिन्न ।।१५५।।

तीनि क्रियनि में एक करि, मन न डिगै सुनि और ।
वहै क्रिया पूरन भयैं, होय सिद्ध सिरमौर ।।१५६।।

जो कथचित इनि तीनि महं, कौनू करी न जाय ।
अरु चाहै सिद्धान्त पद, ताकहं कहत उपाय ।।१५७।।

ताकहं यहै उपाय है, गुरु करिये सरवग्य ।
तिनिके दरस प्रताप तैं, दूर होत तम अग्य ।।१५८।।

कवित्त

छ गुन बिराग सात भूमिका गियान,
आठ अंग जोग नवधा भगति सुख सरसत ।
क्रम क्रम बढ़त चढ़त परिवान पद,
तब निरबान पद करमनि परसत ।
सु तो सत गुरु जू के पद पदमनि भज,
सुख ही सुपद अनइच्छा आनि परसत ।
"अक्षर अनन्य" बहु दीपनि नसै न निसि,
नासै तम सहज सहसकर दरसत ।।१५९।।

दोहा

सहज सहसकर के दरस, त्रिभुवन भवत उदोत ।
तैसें सुगुरु प्रताप तैं, ग्यान सिद्ध बर होत ।।१६०।।

जैसें अगिनि लगाइ तैं, लकरि अगिनि हो जाय ।
तैसें सुगुरु प्रताप तैं, सिष्य सिद्ध पद पाय ।।१६१।।

सिष्य सिद्ध पद पावहीं, गुरु प्रताप परिवान ।
जिहि बिधि सौं सिद्धान्त लहि, सो बिधि करहुं बखान ।।१६२।।

प्रिया छन्द

यह सीख बिधि ठहराइये । गुरु भक्ति महं मन लाइये ।
गुरु भक्ति महं मन लागही । तब पाप मन तैं भागही ।।१६३।।

जब भगै मन तैं पापई । तब बढ़ै बुद्धि प्रतापई ।
जब बढ़ै बुद्धि बिलास ही । तब हृदै ग्यान प्रकास ही ।।१६४।।

जब ग्यान दीप उज्यारिये । सिव सक्ति हृदै निहारिये ।
जब हृदै में प्रभु जानिये । तब सर्व तन मय मानिये ।।१६५।।

जब सर्व तन मय देखिये । तब सर्व घट घट लेखिये ।
जब सर्व घट घट जानिये । तब सर्व पूरन मानिये ।।१६६।।

जब सर्व पूरनता लहै । सिव जीव की दुबिधा दहै ।
जब जीव सिव पद पावहीं । तब जानि सिद्ध सुभाव हीं ।।१६७।।

दोहा

इहि बिधि सुगुरु प्रताप तें, सिष्य लहत सिद्धान्त ।
तीनि सिद्ध पाछैं कहे, चार्यौं ग्यान महान्त ।।१६८।।

चार्यौं ग्यान महान्त इमि, पूरन ग्यान बिसेष ।
स्वेच्छाचारी लोक महं, रहत मगन पद पेख ।।१६९।।

रहत मगन जीवन मुकत, मुक्ति भुक्ति तजि आस ।
पूरन ग्यान अभेद पद, लहि समता पद भास ।।१७०।।

समता द्वै बिधि की कही, कहि "अनन्य" परिवान ।
इक समता बिवहार प्रति, बिय समता परिवान ।।१७१।।

व्यवहार-समता

कुण्डलिया

कबहूँ अंग सुगंध लहि, कबहूँ रज लपटाय ।
कबहूँ अम्बर दिब्य तन, कबहूँ कंबर काय ।
कबहूँ कंबर काय, कबहुं अम्बर बिन जोवत ।
कबहूँ सेज सुपेत, कबहुं धूरहि महं सोवत ।
कबहुं रसन रस षष्ठ, निरस चर्वन पुनि कबहूँ ।
कहि "अनन्य" सम रीति, नहीं दुख सुख लहि कबहूँ ।।१७२।।

एकै बंदत ईस करि, बहु अस्तुति करि ताहि ।
एकै निंदत तुच्छ करि, जो कहि आवत जाहि ।
जो कहि आवत जाहि, बुद्धि अनुसार सुभाषैं ।
तिन सौं ग्यान निधान, बैर अरु प्रीति न राखैं ।
जो मति सो गति जान, आप मन करहि न टेकै ।
कहि "अनन्य" समरीति, सहज जानै सब एकै ।।१७३।।

परिवान-समता

समता सब तन सम नजर, तत्त सरूप बिचारि।
ब्रह्म बिष्नु रुद्रादि तन, कीट चिंटी नर नारि।
कीट चिंटी नर नारि, सबै सम ही करि देखै।
सब तन आतम आपु, नहीं दुबिधा करि लेखै।
ज्यौं माटी के भवन, एक ऊंचे इक कमता।
माटी करि सम जान, मानि सब सौं इमि समता ।।१७४।।

एन तत्त की मांड़ सब, पांच तत्त क्रत बीस।
तीनि देव अवतार दस, अमर कोटि तैंतीस।
अमर कोटि तैंतीस, जानि मुनि सहस अठासी।
लख चतुरासी जौनि, जन्तु जल थलहि निवासी।
कहि "अनन्य" भव रूप, रीति सिव सक्ति सत्त की।
एक संग्रवहु चित्त, मांड़ सब एक तत्त की ।।१७५।।

लहिये एकै तत्त सब, घटि बढ़ि देख न काहु।
मानस मानस एक ज्यौं, कह गरीब कह साहु।
कह गरीब कह साहु, दुवौ मानस परिवाना।
वह धन बिन घटि लहै, वहै धन करि बढ़ि माना।
कहि "अनन्य" धन तर्कि, दुवौ मानस सम कहिये।
इमि कर्तुत भ्रम भेद, तत्त एकै सब लहिये ।।१७६।।

दोहा

इमि समता सरवग्य कहि, पूरन ब्रह्म बिचार।
अब बरनहुं निज ग्यान की, थिती अवस्था सार ।।१७७।।

कवित्त

जीवहू अबिद्या ब्रह्म बिद्या कौ अभेद जहां,
एक तत्त ही में पंच तत्त परिवान की।
मन चित्त बुद्धि अहंकार के बिकार मैंटि,
इन्द्री गुन देह कर्म लीला प्रतिमान की।

आपु ही सहित सर्बरूप सिव सक्ति जान,
पूरन नजर रही हाजत न ध्यान की ।
भासत न अन्नि धन्नि अनुभौ "अनन्य" भनै,
ऐसी एक अस्थिर अवस्था निज ग्यान की ॥१७८॥

दोहा

ग्यान अवस्था बुद्धि थिर, मन साधन सिद्धान्त ।
सुरति लीन गुरु सब्द महं, तब सरवग्य महान्त ॥१७६॥

लोक जीति गहि बेद मत, बेद जीति सिद्धान्त ।
सिद्धि जीति समता गहै, तब सरवग्य महान्त ॥१८०॥

इहि बिधि बरनौं ग्यान मत, लच्छिन बिधि ब्यौहार ।
अब बरनहु ग्यानीनि की, रहनि सुभाव बिचार ॥१८१॥

कवित्त

जानिनि में जान से अजान से अजानिनि में,
जानिनि अजानि बानि तैसिये कहनि है ।
ग्रेहिनि में ग्रेही से अतीत से अतीतिनि में,
ग्रेही न अतीत भेष लीला सी लहनि है ।
जैसिनि में तैसे आपु जैसे ही के तैसे सदा,
ऐसे ब्रतमानि एक टेक न गहनि है ।
सहज सुभाव ही सौं बिहुरै जगत मांझ,
बरनी "अनन्य" ऐसी ग्यानी की रहनि है ॥१८२॥

दोहा

सहज रहनि ग्यानी रहै, जैसे सब संसार ।
भेष डिंभ पाखण्ड सब, करै नहीं बिस्तार ॥१८३॥

सहजी रहनि सदा रहै, पछापछै सब छंडि ।
जीवनमुक्त न्निबन्ध मन, का घर का बन मंडि ॥१८४॥

बिहुरै घर बन मगन मन, आतम तत्त बिचार ।
पूरन ब्रह्मानन्द मय, स्वयं ब्रह्म अवतार ।।१८५।।

अवतारी एकनि हनत, एकनि पालत प्रीति ।
ग्यानिनि कैं सब एक से, भेदाभेद न रीति ।।१८६।।

ग्यानी कछु त्यागै नहीं, नहीं संग्रहै मानि ।
प्रापति भोग सबै करै, परालब्ध पहिचानि ।।१८७।।

सुख में सुख भूलै नहीं, दुख में दुख न कराइ ।
परालब्ध दुख सुख ब्रथा, ग्यानी सहज सुभाइ ।।१८८।।

सहज कर्म ग्यानी करै, ज्यौं करि आपै आद ।
इच्छा कबहुं न कर्मफल, देह धर्म मरजाद ।।१८९।।

ग्यानिनि आस न धर्म की, सिद्ध भयैं करि धर्म ।
जग सिच्छा मारग थपै, करत सदा सुभ कर्म ।।१९०।।

ग्यानिनि कर्म लगै नहीं, सुभ अरु असुभ सुभाय ।
जैसे अगिनि प्रचण्ड महं, डारहि सो जरि जाय ।।१९१।।

जदपि कर्म जारै सकल, लागत पाप न धर्म ।
तदपि जगत मरजाद हित, करत सदा सुभ कर्म ।।१९२।।

सुभ कर्मनि राखत सदा, सतगुरु की यह रीति ।
लोक बेद पालन धरम, ग्यानो कर्मनि जीति ।।१९३।।

कर्म जीति करतूत बल, पूरन ग्यान महान्त ।
ईस्वर मिलि ईस्वर भये, लहि केवल सिद्धान्त ।।१९४।।

इमि केवल सिद्धान्त मत, कहि "अनन्य" यह ग्रंथ ।
जो समुझै समुझै सकल, लोक बेद गुरु पंथ ।।१९५।।

८. अनन्य प्रकाश

सवैया

बोध बिधान समो अभिधान, मनोरथ ध्यान सुभासुभ भेवा ।
होम अहार है पूजा बिहार, जु नैन निहार सु मूरति देवा ।
बरनौ परनाम कहौं सुइ नाम, अकाम सकाम समर्पन सेवा ।
भाव न भिन्न "अनन्य" भनै, परिपूरन की परिपूरन सेवा ॥१॥

भूषन हेम जु हेम सु भूषन, भूषन हेम है एक सरासर ।
आतम ब्रह्म जु ब्रह्म सु आतम, आतम ब्रह्म में कौन छराछर ।
आपु ही आपु "अनन्य" भनै, परिपूरन सर्ब समान चराचर ।
काहि थपौं उथपौं अब काहि, सु काहि करौं परनाम परापर ॥२॥

दोहा

जानि परापर जक्तमय, श्री सिव सक्ति बिलास ।
बरनहु ग्रन्थ अनूप यह, नाम "अनन्य प्रकास" ॥३॥

आनि कहावै दूसरौ, जहं न दूसरौ भाव ।
ता सहं कहत अनन्य पद, अद्वितीय ठहराव ॥४॥

अद्वितीय ग्यानहिं कहौं, करि द्वितीय निरधार ।
बरनि प्रथम उतपति जगत, कथा अनेक प्रकार ॥५॥

पद्धरी छंद

उतपति अनेक प्रकार भाषि, सुनि बेद सास्त्र पुरान साखि ।
इक कहत प्रकट भगवान भान, इनि रचौ जक्त लीला प्रमान ॥६॥

आपु ही करत रच्छा प्रतच्छ, करतार और किहि लह्यौ अच्छं।
इक कहत ब्रह्म निर्गुन निदान, तिहिं की इच्छा माया प्रमान ॥७॥

पुनि माया तैं ईस्वर अनूप, तिनि रच्यौ जक्त नाना सरूप।
इक कहत महामाया अनादि, तिनि महातत्व सिरज्यौ जुगादि ॥८॥

महतत्व त्रिगुन अहंकार मंड, अहंकार कीन आकास अंड।
आकास मध्य तत पौन बास, पुनि पौन पुंज तेज प्रकास ॥९॥

तब तेज धूम स्रव नीर सार, जमि नीर फेन धरनी अधार।
धर पर उतपति चर अचर आनि, कृत जोगमाइ जगमाइ जानि ॥१०॥

इक कहत आदि अक्षर अतीत, तिनि सब्द ब्रह्म किय चारि गीत।
तब चारि गीत रचि चारि कर्म, तिन कर्मनि तैं हुव जग्य धर्म ॥११॥

तब जग्य धूम भये मेघ धीर, तिनि मेघनि तैं बरसंत नीर।
तब मेघ बरसि भये अन्नहार, अन्नहि तैं जग उतपति बिहार ॥१२॥

इक कहत आदि पुरुष प्रकासु, द्रग सीस सहस कर चरन तासु।
तिनि के मन तैं हुव चंद चारु, नैननि तैं रबि छबि चंद सारु ॥१३॥

केसनि तैं घनमंडल अखण्ड, पुनि नाभि कमल ब्रह्मा प्रचण्ड।
मुख तैं बाम्हन जुत बेद जानि, भुज तैं छत्री छितिपाल जानि ॥१४॥

ऊरुनि तैं बैस्य सरूप जाति, चरननि तैं सूद्र सुगोत्र ग्याति।
इन्द्री तैं काम कला बखानि, इमि ईस्वर तैं उतपत्ति जानि ॥१५॥

इक कहत आदि ईस्वरी एक, तिहि दृष्टिहि की रचना अनेक।
तिहि दृष्टिहि सौं उतपत्ति होय, अरु दृष्टिहि सौं प्रतिपाल सोय ॥१६॥

पुनि दृष्टिहि सौं प्रलय प्रमान, ईस्वरी दृष्टि लीला जहान।
ईस्वरी जक्त माता अनादि, सुनि बेद सास्त्र मत और बादि ॥१७॥

इक कहत स्याम स्यामा सु नाम, सो नित्त बिहार अखंड धाम।
तिनि इच्छा तैं अक्षर सरूप, तिनि कौ सपनौ जग भर्म कूप ॥१८॥

इक कहत बिस्नु करता सुभाइ, तिनि नाभि कमल ब्रह्मा उपाइ ।
पुनि ब्रह्म पुत्र रिषि सप्त पेखि, जग सातहु की संतान लेखि ॥१९॥

इक कहत आदि ब्रह्मा प्रकासु, जानहु स्वयंभु नहिं जनम तासु ।
तिनि ब्रह्मा तैं ब्रह्माण्ड मूल, ता महं जग ऊमर कीट तूल ॥२०॥

इक कहत आदि कर्ता महेस, सो करत ख्याल धरि तीन भेष ।
भव रूप करत उतपत्ति आपु, म्रड रूप करत प्रतिपाल थापु ॥२१॥

हर रूप करत संघार तोक, सिव संकर की लीला त्रिलोक ।
सिव संकर कौ नहिं आदि अंत, लहि सदा सदासिव नाम संत ॥२२॥

इक कहत जक्त माता भवानि, तिनि तैं त्रिसक्ति बिद्या बखानि ।
ब्रह्मी बिष्नी रुद्री जु नाम, त्रैसन्ध्या ये त्रिगुनी त्रिधाम ॥२३॥

ब्रह्मी तैं ब्रह्म गिरा जु नारि, बिष्नी तैं बिष्नु लछिमावतार ।
रुद्री तैं रुद्र उमा अनूप, इहि बिधि त्रिदेव नर नारि रूप ॥२४॥

तिनि तैं उतपति संसार लेखि, इहि कहत एक दुर्गा बिसेष ।
दुर्गा त्रिदेव माता प्रमान, जिहि की माया मोहित जहान ॥२५॥

इक कहत आदि जोती सरूप, तिनि तैं हरि हर ब्रह्मा अनूप ।
ब्रह्मा जग की उतपति करंत, अरु बिष्नु सदा रक्षा धरंत ॥२६॥

पुनि रुद्र करत संघार घात, तब तीन्यौं जोतिहि में समात ।
वह जोति अनन्त अनादि लेखि, जग कौ कारन करता बिसेषि ॥२७॥

इक कहत प्रकृति अरु पुरुष मानि, दुव आदि अनादि अनन्त जानि ।
तिनि के संयोग जगत्र होइ, नहिं जानि परापर और कोइ ॥२८॥

तिनि प्रकृति पुरुष की नसलि देखि, नर नारि रूप सब सृष्टि लेखि ।
इक कहत काल तिहुँ काल आपु, जग करन भरन अरु हरन थापु ॥२९॥

जिनि करता सो इहि नर सुठौर, आपुहि रक्षत भक्षत न और ।
इक कहत सक्ति संमृथ प्रमान, सामर्थि वहै सब में निदान ॥३०॥

क्रत सक्ति प्रकृति महं सो बताइ, चित सक्ति पुरुष में वहै आइ ।
दुव प्रकृति पुरुष बाके सरूप, दुहुं महं बाकी करतुति अनूप ॥३१॥

जिहि रूप करै तिहि रूप सोइ, बेसक्ति कहा करि सकै कोइ ।
है आदि सक्ति करता निदान, उतपति अस्थिति प्रलय प्रधान ॥३२॥

इमि उतपति प्रलय कथा जु और, बहु भाँति सुनी मम ठौर-ठौर ।
यह कलप कलप कर्तुति प्रमान, जब ज्यौं तब त्यौं बरनी पुरान ॥३३॥

रहि जात बीज सब के निदान, बरषै फिरि फिरि उपजत प्रमान ।
यह बरस बरस होतै रहंत, त्यौं ही उतपति परलै कहंत ॥३४॥

ज्यौं समय पाय तृन भूमि भूखि,पुनि समय आन सब जात सूखि ।
जिहि सुन्यौं जौन तिहि तौन मान, जानै न मूढ़ कारन प्रमान ॥३५॥

तातैं प्रमान ठहरात एक, यह बिस्वरूप लीला अनेक ।
है एक अनेक सुभाव आदि, यह बीज प्रलय उतपति सुवादि ॥३६॥

वह तत्त प्रलय कबहूँ न होइ, जिहि में यह जग सर्वदा जोइ ।
सर्वदा जक्त वा तत्त माँहि, कहुँ भयौ गयौ सु भवंतु नाहिं ॥३७॥

जैसें समुद्र लहरैं सुभाइ, त्यौं करता महं संसार आइ ।
करता के बहु गुन रूप जानि, जे भाँति-भाँति पाछैं बखानि ॥३८॥

सब भाँति वहै ग्यानी लहंत, इक पच्छ नहीं मानत महंत ।
तजि पच्छिपात सरवग्य होइ, तब लहै सनातन तत्व सोइ ॥३९॥

तजि पच्छि तत्व मानै ततग्य, निरधार सार जानत गुनग्य ।
"अक्षर अनन्य" निरधार कौन, यह भेद लहैं बिरले प्रवीन ॥४०॥

बैराट अनादि अनन्त जौन, कहि भयौ गयौ द्रष्टा सु कौन ॥४१॥

कवित्त

भयौ तौ बताव जो न हतौ तौ कहां तें भयौ,
काठ ज्वाल लागै जो न होइ क्यों लगत है।
गयौ तौ बताव जो न भयौ फेरि गयौ कहाँ,
कलप कलप गाइबे के नख गत है।
लहरें समुद्र कैसीं उठतीं समातीं जातीं,
भयौ गयौ कहूँ तत्व क्यों हू न लगत है।
जोई वह सोई यह सतासत कहै कौन,
"अक्षर अनन्य" ब्रह्म मूरत जगत है ॥४२॥

कंचन सो भूषन जो भूषन सो कंचन है,
कंचन सौं भूषन सौं भेद न लगत है।
धरनि सो मन्दिर जो मन्दिर सो धरनि अहै,
मन्दिर धरनि सौं न अन्तर खगत है।
रंग ही चतेवर चतेवर सो रंग जानि,
रंग ही चतेवर कौ रंग ज्यों रँगत है।
एक ही अनेक यौं अनेक एक भिन्न नहीं,
"अक्षर अनन्य" ब्रह्म मूरत जगत है ॥४३॥

अरिल्ल

एकै ब्रह्म जग रूप जुदौ नहिं जानिये।
कहत बेद बेदान्त प्रगट पहिचानिये ॥
भिन्न भिन्न तन देखि बनाव अनेक हैं।
कहि "अनन्य" निरधार आतमा एक है ॥४४॥

दोहा

कुंभ कुंभ प्रतिबिम्ब ससि, तत्व एक घट भिन्न।
भेद परसपर देखिए, प्रकृति सुभाव 'अनिन्न' ॥४५॥

प्रकृति सुभाव प्रभाव करि, जग नाना ब्रत देखि।
नाम रूप गुन कर्म कृत, जुदे जुदे सब लेखि ॥४६॥

जैसें ब्रच्छ जुदे जुदे, धरैं रूप रस गंध।
ब्यापक एकै नीर है, यौं आतम निरबन्ध ॥४७॥

आतम नित निरबन्ध घट, जैसी ब्यापि समीर।
नहीं सुभासुभ कर्म तिहि, जानि सुभाव सरीर ॥४८॥

ब्रह्म बिष्नु रुद्रादि दै, जेतिक त्रिबिधि सदेह।
सबके जुदे सुभाव हैं, आतम एक बिदेह ॥४९॥

कवित्त

हरि कौ सुभाव सील हर कौ सुभाव कोप,
बिधि कौ सुभाव गर्व राजस बिलास है।
रवि कौ सुभाव तेज ससि कौ सुभाव सीत,
सब कौ सुभाव न्यारौ न्यारौ गुन बास है।
याही तैं जगत भिन्न लगत "अनन्य" भनै,
चेतन न भिन्न भिन्न प्रकृति बिलास है।
प्रकृति सुभाव परमातम तैं बाहिर है,
जाहिर है ताहि जाहि आतम प्रकास है ॥५०॥

बीज कौ सुभाव और अंकुर सुभाव और,
द्रुम कौ सुभाव और और जु बकल में।
दल कौ सुभाव और फूल कौ सुभाव और,
फल कौ सुभाव और रस की झलक में।
एक ही तरोवर में केतिक सुभाव गुनौ,
यहै गुन भाव बिस्वरूप की नकल में।
प्रकृति सुभाव भिन्न सब के "अनन्य" भनै,
ब्यापक अकल एक आतमा सकल में ॥५१॥

दोहा

एक आतमा सकल में, ब्यापक आदि अनादि।
प्रकृति सुभाव जुदे जुदे, यहै जीव भ्रम वादि ॥५२॥

जीव जुदे नहिं जानिये, एक तत्त सब लेख।
न्यारी न्यारी प्रकृति तैं, न्यारे न्यारे देख ॥५३॥

न्यारी न्यारी सबनि की, प्रकृतैं बुद्धि बिलास।
प्रकृतैं पुनि सब एक लहि, चेतन सुद्ध प्रकास॥५४॥

हंस छन्द

मूल प्रकृति है एक निदान, तिहि की द्वै प्रकृतैं परिवान।
बिद्या और अबिद्या लेख, सबै सुभासुभ तिनि में देख॥५५॥

सुभ गुन सब बिद्या के जान, असुभ अबिद्या गुन पहिचान।
बिद्याऽबिद्या कारन आहि, ब्यापि रही ते सब घट माहिं॥५६॥

गीतिका

सब घट रमी बिद्या अबिद्या सुभ असुभ गुन कारनी।
बिद्या अबिद्या के बिषै वह मूल प्रकृति बिचारनी।
है मूल प्रकृति सु एक घट घट का सुभासुभ मानिये।
ज्यौं आतमा है एक त्यौं एकै प्रकृति सब जानिये॥५७॥

दोहा

एकै आतम ब्रह्म कहि, एकै प्रकृति बिलास।
प्रकृतैं पुनि सब एक लहि, चेतन सुद्ध प्रकास॥५८॥

चेतन सुद्ध सरूप है, ना वह पुरुष न बाम।
अपनै अपनै पच्छ तैं, धरि लीनै द्वै नाम॥५९॥

कवित्त

चेतन पुरुष एकै चेतनता सक्ति वहै,
चेतन न पुरुष न चेतनता जाया है।
निरंजनी जोति निरंजन जोति रूप कहै,
जोति में न कछू नर नारि कैसी काया है।

बिस्वरूप ईस्वर ईस्वरी बिस्वमूरति है
यहै बिस्वरूप दोनों छाप करि पाया है।
तत्त यौं अभेद भेदवाद द्वै "अनन्य" भनै,
कोऊ कहै ब्रह्म कोऊ कहै जोगमाया है ॥६०॥

दोहा

भेद वाद सब बादि है, नकल करत ज्यौं भाँड़।
बात सर्व निरधार यह, एक तत्त की मांड़ ॥६१॥

कुंडलिया

एक तत्त की मांड़ सब, पांच तत्त क्रत बीस।
तीन देव अवतार दस, अमर कोटि तेतीस।
अमर कोटि तेतीस, जानि मुनि सहस अठासी।
लखि चतुरासी जौनि, जन्त्र जल थलहि निवासी।
कहि "अनन्य" भव रूप, रीति सिव सक्ति सत्त की।
एक रंग बहु चित्र, मांड़ सब एक तत्त की ॥६२॥

दोहा

एक तत्त कौ रूप सब, को ब्राम्हन को सूद्र।
ग्याति गोत दूजौ कहा, जैसें लहरि समुद्र ॥६३॥

चौपाई

जैसे लहरैं सिन्धु मंझारा, ऐसे ईस्वर महं संसारा।
एक पिता एकै है भाई, दूजी जाति कहा तैं आई ॥६४॥

जाति रीति कौ भर्म मिटाऊं, चारि बरन को बरन बताऊं।
बरन रंग कौ नाम बिचारौ, सेत लाल पियरौ अरु कारौ ॥६५॥

सेत बरन ब्राम्हन तन होई, छत्री लाल बरन सुनि लोई।
बैस्य बरन पियरे रंग लेखौ, सूद्र बरन कारे अंग देखौ ॥६६॥

बरन भेद यह बेद बखानै, कहि कैसें ब्राम्हन पहिचानै ।
सब रंग सब जातिनि में देखौ, बर्न अबर्न भेद किमि लेखौ ।।६७।।

बरन प्रमान जबै ठहरावै, सेत बरन ब्राम्हन पद पावै ।
सेत बाज बगुला खर होई, क्यों कहिये ब्राम्हन तन सोई ।।६८।।

तातैं ब्राम्हन बरन न मानौ, जीव बरन ब्राम्हन उर आनौ ।
जीव न पुनि ब्राम्हन पद पावै, लख चतुरासी तन धरि आवै ।।६९।।

सब में जीव एक सो होई, इहि लेखै ब्राम्हन सब कोई ।
जीव न इमि ब्राम्हन करि मानौ, ब्रह्म देह यह जो ठहरानौ ।।७०।।

देह ब्रह्म कैसे करि होई, पंच भूत तन है सब कोई ।
हाड़ चाम मल मूत्र निधानौ, देह ब्रह्म कैसे करि मानौ ।।७१।।

देह ब्रह्म जो यहै बिसेषौ, तौ सबई ब्राम्हन करि लेखौ ।
सब सिवाइ जो हठि ठहरावौ, ब्रह्म देह अभिमान बतावौ ।।७२।।

ब्रह्म देह के जारन हारे, काहे न होत ब्रह्म हत्यारे ।
तातैं ब्राम्हन देह न मानौ, पंच भूत ता ब्रत्त बखानौ ।।७३।।

ब्रह्म देह अभिमान निवारौ, आर्बल सो मरजाद बिचारौ ।
ब्राम्हन कौ सौ बरस प्रमानौ, छत्री बरस पचास बखानौ ।।७४।।

तातैं आधौ बैस्य बिसेषौ, सूद्र तासु आधौ पुनि लेखौ ।
यह प्रमान बेदनि में भाष्यौ, सो ठहराव कहां अब राख्यौ ।।७५।।

घटि बढ़ि सब सबही में जीवै, को मरजाद आपु पद छीवै ।
जो मरजाद यहै ठहरावै, जियै सौ बरस ब्रह्म कहावै ।।७६।।

सौ बरसैं जो जियै चमारा, क्यों कहिये ब्राम्हन निरधारा ।
तातैं आयु न ब्राम्हन मानौ, ब्रह्म कर्म ब्राम्हन कहि जानौ ।।७७।।

ब्रह्म कर्म आचार बिचारा, सुर पूजा ब्रत होम उचारा ।
सन्ध्या संजम नैम बिसेषौ, ब्रम्हचर्ज धरि नारि न पेखौ ।।७८।।

इमि कर्मनि जो ब्राम्हन होई, ये तौ कर्म करै बहु लोई ।
तातें कर्म न ब्राम्हन मानौ, धर्महि पुनि ब्राम्हन पद जानौ ।।७९।।

धर्म अनेक करै बहु लोई, धर्म कर्म नहिं ब्राम्हन होई ।
धर्म कर्म सब भर्म निवारै, पढ़ै सु ब्राम्हन सास्त्र बिचारै ।।८०।।

पढ़ै खूब सब सबै पढ़ावै, पढ़ैं कहा ब्राम्हन पद पावै ।
ब्राम्हन रीति सबै इमि खंडी, ब्राम्हन एक जाति जग मंडी ।।८१।।

ब्राम्हन जाति आदि चलि आये, ब्राम्हन कहि ब्राम्हन के जाये ।
सुर तैं सुर नर तैं नर जैसें, ब्राम्हन कहि ब्राम्हन तैं ऐसें ।।८२।।

ब्रह्म बीज यह नसलि जु मानी, नसलि जु ब्राम्हन बेद बखानी ।
कस्यप के सुत असुर प्रमानैं, क्यों न नसलि ब्राम्हन कर मानैं ।।८३।।

ब्राम्हन अष्ट महामुनि गाऊं, मुनि तिनि की अब नसलि बताऊं ।।८४।।

कुण्डलिया

बिस्वामित्र नरेस सुत, गौतम खरहा पीठि ।
सींगी रिषि मृग नारि तैं, ब्यास ढिमरि तैं दीठि ।
ब्यास ढिमरि तैं दीठि, कलस जल तैं अगस्त मुनि ।
बालमीकि गुन भील, कढ़े बाँबी महं तैं पुनि ।
कहि "अनन्य" कुस मूल, बाल कौसिक मुनि द्रस्वा ।
ब्राम्हन तिलक बसिष्ठ, मातु तिनकी सुनि बिस्वा ।।८५।।

दोहा

बिस्वामित्र बसिष्ठ जुत, यौं अजात रिषि तात ।
तिनि तैं ब्राम्हन जाति सब, मानत नसलि सुगात ।।८६।।

नसलि न ब्राम्हन जानि इमि, श्रुति न जग्य गुन कर्म ।
जा बिधि बरनै सुम्रति महं, सोव कहौं तजि भर्म ।।८७।।

स्मृति-श्लोक

जन्मनाज्जायते शूद्रः संस्काराद्विज उच्यते ।
वेदाभ्यासी भवेद्विप्रः ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः ॥८८॥

कवित्त

जनम तैं बालक अबोध अनभेद सर्ब,
बिधि न निषेध तातैं सूद्र सब आवहीं ।
संसकार करै क्रिया करम जनेऊ दियै,
सन्ध्या ब्रत पूजा धर्म द्विज ठहरावहीं ।
पढ़ै श्रुति सुम्रति बिदित बेद बिद्याभ्यास,
बेद के अभ्यास बिप्र पदवी कौं पावहीं ।
आतमा अनन्त सर्ब ब्यापक "अनन्य" भनै,
ऐसौ ब्रह्म जानै तब ब्राम्हन कहावहीं ॥८९॥

दोहा

ब्रह्म जानि ब्राम्हन भवै, अनजानै सोइ सूद्र ।
यहै बेद निरधार करि, कह्यौ ब्रह्म हरि रुद्र ॥९०॥

ब्रह्म जानि ब्राम्हन कहे, पावन ग्यान समुद्र ।
ग्यान बिना पावन नहीं, जानि जाति सब सूद्र ॥९१॥

जाति न जानै आपनी, मानि रहै तन धर्म ।
छके अबिद्या मोह मद, जगत जीव करि कर्म ॥९२॥

चौबोला

जैसे एक बाघ कौ बच्चा, डरौ गडरियन पायौ ।
जाति कर्म भूल्यौ वह अपनौ, गाडर मानि बँधायौ ।
बाघ पराक्रम कछू न जानै, मासहि दाँत न चंपै ।
चरै फिरै गाडर भयौ डोलै, सदा गडरियै कंपै ॥९३॥

एक दिना बन चरत फिरत ते, तहाँ बाघ इक गाज्यौ ।
भगे गडरिया लै सब गाडर, तिन ही में यह भाज्यौ ।
तब वह बाघ बाघ यह देख्यौ, आप समानहि सोहै ।
भरम्यौ जानि आनि यह पकर्यौ, कही बात तू को है ।।६४।।

तब वह बाघ बाघ नहिं जानैं, गाडर ओक बतावै ।
सुनि वह लही जाति यह बिसर्यौ, देख्यौ सो कहि आवै ।
तब वह बाघ बताइ आपु गति, जाति करम समुझायौ ।
भयौ बाघ कौ बाघ गयौ भ्रम, तब अपनौ पद पायौ ।।६५।।

ऐसे जीव अंस ईस्वर के, परे अबिद्या माहीं ।
मानि रहे भ्रम जाति भेष क्रम, आपै जानत नाहीं ।
बाघ समान मिलै जब सत गुरु, तब सब भरम भजावै ।
कटै अबिद्या बिद्यमान ह्वै, जीव ब्रह्म पद पावै ।।६६।।

दोहा

कै पावै गुरु भेद तैं, जोग जुगति धरि ध्यान ।
कै पूरन अनुभव भयैं, पढ़ैं सुनैं नहिं ग्यान ।।६७।।

कवित्त

कहा भयौ पंडित पुरान बेद सास्त्र पढ़,
कहा भयौ रटैं राम राम जिमि तोत है ।
कहा भयौ कबिता कबित्त पद छन्द करै,
कहा भयौ तान गान गुनै गुन गोत है ।
कहा भयौ चातुरी सौं चरचा रचाइ बुद्धि,
आखिर कचाई मन पूरन न होत है ।
कहैं सुनैं ग्यान कौ प्रमान का "अनन्य" भनै,
जौलौं तत्त ग्यान कौ न अनुभौ उदोत है ।।६८।।

दोहा

कहै सुनै यौं ग्यान नहिं, ज्यौं परदेसी सुद्धि ।
प्रापति तत्र ही तत्त की, बिमल होइ जब बुद्धि ।।९९।।

कवित्त

देह बुद्धि जौलौं तौलौं देहधारी देव भजै,
जीव बुद्धि भयें जोति रूप कौं लहत है ।
ब्रह्म बुद्धि भासैं ब्रह्म चीन्हें घट घट मांझ,
त्रिबिधि त्रिबुद्धि साधु इष्टता गहत है ।
जब सरवग्यता प्रकासहि "अनन्य" भनै,
अनुभौ अभेद भेदाभेद न रहत है ।
पूरन समस्त जक्त रूप सिव सक्ति थापि,
आपु ही तैं आपु जान अकह कहत है ।।१००।।

आपु ही में आपु लहै और में न और कहै,
सब ही में सब वहै पूरन बखानिये ।
नारी नर बीच ऊंच नोच कौ बिचार नाहीं,
चराचर रूप रूप वहै पहिचानिये ।
जैसें एक डोर गुहे गुरिया "अनन्य" भनै,
छोटे बड़े भिन्न नाहीं माला वहै मानिये ।
ऐसें एक आतमा में मूरति अनेक भाँति,
मूरति अनेक ब्रह्म एक करि जानिये ।।१०१।।

दोहा

एक ब्रह्म जानै सकल, जीव भर्म निरवार ।
मुक्ति यहै बेदान्त कहि, और मुक्ति भ्रम चार ।।१०२।।

गीतिका

चारि मुक्ति जु भक्ति मत, बयकुण्ठ में ठहराइये ।
ते भक्त के पद भोग पद, नहिं मुक्ति बेद बताइये ।

करि भक्ति चौबिधि भोग, हरिपुर फेरि आवा गौन है ।
सुनि जै बिजै की कथा ग्रन्थनि, कही जा बिधि जौन है ।।१०३।।

जै बिजै हरि प्रतिहार निज, तिहु मुक्ति के अधिकारिया ।
सालोक बसि सामीप रसि, सारूप लसि भुज चारिया ।
तेऊ सराये गिरे ह्वां तैं, कहौ मुक्ति कहाँ रही ।
हिरनाच्छ हिरनाकुस भये, खल असुर जोनि इहां लही ।।१०४।।

बाराह जू नरसिंघ जू, अवतार धरि दुव मारियौ ।
सो भयै इनि महं लीन, यह सायुज्य मुक्ति बिचारियौ ।
पुनि कढ़े तहं तैं भये रावन, कुम्भकरन बखानियौ ।
ते हने राम सु राम महं, सायुज्य मुक्ति सु जानियौ ।।१०५।।

फिरि कढ़े दुव सिसुपाल, दुर्ब्रत बंधु द्वापर औतरे ।
सो क्रष्न जू मारे प्रगट, सायुज्य हो भव भौ तरे ।
पुनि क्रष्न जू जब देह छांड़यौ, भागवत भारत कही ।
कढ़ि जै बिजै फिरि पौरिया, सायुज्य मुक्ति कहां रही ।।१०६।।

सायुज्य तैं नहिं मिटत भ्रमना, तीनि कीव कहा चली ।
तातैं न इनि सौं मुक्ति कहिये, भक्ति चौबिधि फल फली ।
है भक्ति कौ फल भोग चौबिधि, बेद सास्त्र बखानिये ।
निज आपु रूप लहे बिना, नहिं मुक्ति कबहूँ जानिये ।।१०७।।

तत आपु रूप बिचार अनुभव-बंध भ्रम निरवारिये ।
को मुक्ति है को मुक्त है, को मुक्ति दैन बिचारिये ।
नहिं मुक्ति आसन बंध भयैं, नहिं सेव्य सेवक थाप है ।
सौ बात की यह बात एक, बिचारि आतम आप है ।।१०८।।

कवित्त

आपु कौं बिचारौ आपु को हौ कहाँ आये आपु,
कहां फिरि जैहौ आपु कहां घर दौर है ।
यह तौ सरीर पंच भूतक प्रपंच जानि,
तासौं आपु मानैं यह माया भ्रम जोर है ।

आपु कौ समुझि कै सम्हारि ग्यान जागि जीव,
कहा मोह नींद में उदर भरि सो रहै।
आपुन कौं बूझै यह अनुभौ 'अनन्य' भनै,
आपुनपौ सूझै तब आपै आपु हो रहै ।।१०८।।

दोहा

करै आपुनै आपु ही, होत आपु निरधार।
तातैं बंधन मुक्ति कौ, नहीं और दातार ।।१०९।।

कवित्त

कर्मनि के करैं तैसे दुख सुख देह लहै,
दान तप करैं होत धनिक कै भूप है।
देवनि के पूजैं ताही देवता के लोक बसै,
जुगति के साधैं होत जोगी जु अनूप है।
अंतर के सोधैं होत अंतहकरन सुद्ध,
ब्रह्म के बिचारैं तैं मिटत भर्म कूप है।
सदा सरवग्य सर्व गति जो 'अनन्य' भनै,
चेतन के चीन्हें होत चेतन सरूप है ।।११०।।

दोहा

ज्ञानै चेतन रूप कौं, मिटै अबिद्या भर्म।
भूँजौ बीज जमै न जिमि, इमि उपजै नहिं कर्म ।।१११।।

कर्म अकर्म अभाव करि, बिहरै सहज सुभाव।
देखै आपु समान सब, पूरन ब्रह्म प्रभाव ।।११२।।

पूरन ब्रह्म सरूप तैं, भासै जगत न भिन्न।
अन्नि अभाव सुभाव सम, यह निज भाव 'अनिन्न' ।।११३।।

कवित्त

मूरख कहत कै अनन्य निज भाव यहै,
एक देव सेइ देव दूसरौ न परसै ।
दूसरौ धौं को है यहै धोखौ हमें दूसरो को,
ईस्वर समस्त रूप चेतनता सरसै ।
अन्नि कहै दूसरौ है दूसरौ अभाव जहाँ,
सेवक ह्वै देवता समान ग्यान बरसै ।
सागर तरंग अंग भिन्न न 'अनन्य' भनै,
भासत न अन्नि यों 'अनन्य' पद दरसै ।।११४।।

दोहा

जो कहियत अद्वैत पद, सो अनन्य पद अर्थ ।
यह प्रमान सो जानिहै, जो सरवग्य समर्थ ।।११५।।

लहि सरवग्य महातमय, अरु सिद्धान्त प्रकास ।
कहि 'अनन्य' सिद्धान्त यह, ग्रन्थ 'अनन्य प्रकास' ।।११६।।

तत्व बेद बेदान्त कौ, धर्‍यौ थोरिही ग्रंथ ।
जग्यासी जा ग्यान सुनि, लगैं तुरत ही पंथ ।।११७।।

भाषा सब समुझैं तुरत, सास्त्र सु बरसनि माँहि ।
काम न भाषा सास्त्र सौं, तत समुझनि लौं आहिं ।।११८।।

समुझौ चाहै तत्व वह, नाना भर्म निवारि ।
पढ़ै 'अनन्य प्रकास' यह, ग्रन्थ सु अर्थ बिचारि ।।११९।।

९. शृङ्गार-योग

दोहा

सगुन प्रीति संसार नर, निगुन न समुझत मूढ़ ।
तातैं मिस सिंगार के, कहौं ग्यान गति गूढ़ ।।१।।

कवित्त

माथैं सुबरन बीज अलक बिराजमान,
कंठ महं कंठसिरी सुन्दर सुहाई है।
हृदय मुकत माल पायनि उरज कंज,
दीपति उदर नाभि दीप छबि छाई है।
सोरह सिंगार उपचारनि सहित नारि,
मनोरथ पथ मनोकामना सुहाई है।
'अक्षर अनन्य' कह्यौ प्रगट सिंगार गूढ़,
ग्यान जोग मारग की जुगति बताई है ।।२।।

सवैया

गति मंद चलै बिचलै न कहूँ, पग पैजनि बाजनि लाज डरै।
दृग नाटक घूँघट ओट अधोमुख, अंग कसै अनुराग भरै।
गुरु नागरि संग 'अनन्य' भनै, परलै पिछलै मग पैग धरै।
इहि भाय सुभाय सुसील त्रिया, चलि जोग मतै उपदेस करै ।।३।।

सिसुता तजि चंचलता तजि कैं, गुरु लाज हिये उर आनत है।
मति की गति कौं थिरता करिकैं, रति जोग कथा सुख सानत है।
लघु भोजन बोलन हूँ लघुता, मरजाद क्रिया सब ठानत है।
कहि 'अक्षर' बाल वधू करनी, मुनि जोगिनि के मन मानत है ।।४।।

लोक संकोच हियै उर सोच, कछू मन सोच न कंठ गुंसाइन ।
प्रीतम की रस रीति लहै, तब और सुहाइ न प्रेम बसाइन ।
भेद यहै निहचै लहिकै, बहकै न भये भ्रम लोक हंसाइन ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर जोग, महा सुख है सरवग्य रसाइन ॥५॥

मातु सौं प्रेम पिता सौं हिता, अरु बंधु सौं प्रीति सखीन सौं खेला ।
ये सब रद्द परे ललना, जब कंत मिल्यौ रसवंत सहेला ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर की धुनि, कान परी तब चित्त सकेला ।
छूटि गये सिगरे भ्रम मोह, भयौ जब ग्यान समाधि में मेला ॥६॥

पाट पटंबर हेम जराउ, गयंद तुरंगनि रंग भुलायौ ।
पाँख परेवनि जानि तजे सब, तत्त सरूप बिषै मन लायौ ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर बोध, ज्यौं बाल बधू कौ अयान नसायौ ।
भूलि गये पुतरी पुतरा, चित में पति रूप निरंतर छायौ ॥७॥

प्यौ परदेस तपै पतिनी, पति के पत ही भये प्रान अधारा ।
नाह मिलै दुख दाह गयौ, तब पूँछत को पछिले पतहारा ।
बेद पुरान कथा सतसंग, तजे अरचा चरचा बिषधारा ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर जोग, भयौ अब अस्थिर चित्त हमारा ॥८॥

चित्त तहीं मन ब्रत्ति तहीं, करतूत तहीं मनसा बिसरामी ।
नैन तहीं मुख बैन तहीं, सुख पूरन प्रेम भये परनामी ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर की धुनि, ध्यान निरंतर अन्तरजामी ।
जोग संजोग की एक दसा, बुधि बोध मिलैं जिमि कामिनि कामी ॥९॥

सोवति संग परी पिय के, सपनै बिछुरी चित भर्म बढ़े अति ।
चौंक परी न टरी उर तैं, थिर चित्त भई गर लाय लई पति ।
यों महि मोह महा भ्रम नींद, लहै सपनौ जग सोच थकी रति ।
जाग्रत जोग 'अनन्य' भनै, बुधि बोध बियोग न ग्यान यहै गति ॥१०॥

दीपक ग्यान धरैं उर मन्दिर, सेज सतोगुन प्रेम प्रयोगी ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर पान, खवावत खात महा रस भोगी ।
बुद्धि बधू मिलि केलि करैं, पट अन्तर खोल घरी न बियोगी ।
नित्त बिहार निरंतर ही इमि, जोग संजोग करैं तेइ जोगी ।।११।।

जोग समाधि पवन्न चढ़ै, उतरै खुलि जात रहै नहिं नित्तहि ।
ध्यान समाधि रहै जब लौं, चित नैन खुलैं मुरकै मन दत्तहि ।
प्रेम समाधि सदा कहि 'अक्षर', श्री गुरु अक्षर की धुनि चित्तहि ।
ज्यौं बिसनी मन नारि बसै, लवलीन दसा बिसरै न निमित्तहि ।।१२।।

लवलीन निरंतर प्रीति रता, मुख बाहर नाम कहै न पिया कौ ।
जीव न ब्रह्म न ईस्वर जानहि, पीय है प्रान अधार हिया कौ ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर यों गहि, इष्ट संजीवन मूर जिया कौ ।
नैम मजूर मते तजिकैं, गहि प्रेम पतिब्रत तत्त तिया कौ ।।१३।।

मति के निहचैं चित सोच नहीं, कृत साधन फूलि करै गनिता ।
बर रीझन हेतु सिंगार करै, अनुराग सुहागमती धनिता ।
मन भावन कौ मन हाथ लियै, दुख तैं सुख तैं न चलै पनिता ।
कहि 'अक्षर' सील सुलच्छिन सौं, सिखवै सिख जोगिन कौं बनिता ।।१४।।

मातु पिता बर देत सुता कहिं, ता मन लाय सलाह यहै है ।
और कहा बर सौं बर माँगहि, भाग सुहाग बराबर पैहै ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर सौं, बर मांगन भिच्छुक लौं पति जैहै ।
दीबै हतौ सु दियौ गुरु आपु, उपासिक आसिक ह्वै रस लैहै ।।१५।।

अति प्रीति बढ़ी परतीति बढ़ी, रस रीति बढ़ी गुन आगर लौं ।
धरि लोक की लाज करै ग्रह काज, करै नहि आपु उजागर लौं ।
मन तैं न धनी उनहार टरै, पनिहारि यथा चित गागर लौं ।
कहि 'अक्षर' श्री गुरु अक्षर सौं, लव लागि हियौ नव नागरि लौं ।।१६।।

नव नागरि कैं अभिलाष यहै, सुख साख रहै सुखदायक सौं ।
इत की उत की न धरै चित में, हित प्रीतम के मुख बायक सौं ।
कहि 'अक्षर' श्री गुरु अक्षर सौं, चरचा तजि आन उपायक सौं ।
अबला मत लौं उर प्रीति लिये, लव लाय धनी सब लायक सौं ॥१७॥

लव लागत ही सब काज सधैं, समरत्थ धनी गुरु वा रस है ।
गुरु रूप सुभाव सबै पलटै, ललिता कहं ज्यौं पति पारस है ।
कहि 'अक्षर' जीव तैं ब्रह्म करै, गुरु अक्षर ब्रह्म महा रस है ।
इत के उत के बकवाद बकै, इन बातनि मांझ कहा रस है ॥१८॥

तुच्छ बिषै रस राव यथा, नर बींधत मांछी लौं पाप पसीले ।
सो तजि बोध सुधा रस पीवत, बुद्धि बधू अनुराग रसीले ।
बिष्नु बिरंचि सुरेस समान, लहै रस पूरन जोग जसीले ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर के रस, ते रसिया रसवंत रसीले ॥१९॥

ब्रह्म रसायन सार सुधा, उर सुद्ध करै तब या रस भोवै ।
जोग यहै थिर चित्तहि कै, जब बुद्धि बधू हिरदै लगि सोवै ।
चारि पदारथ तुच्छ लगैं, मन पूरन प्रेम समाधि सँजोवै ।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर कौं, निज मूरतिवंत निरंतर जोवै ॥२०॥

श्री गुरु अक्षर इष्ट सरूप, अधार धरैं यह भक्ति सुलच्छन ।
देख वहै सब में परिपूरन, ग्यान यहै समता मन रच्छन ।
चित्त निरोधन जोग कला, बैराग तजै गुन दोष ततच्छन ।
'अक्षर' के चतुरंग मतौ, यह जानहि जो चतुरंग बिचच्छन ॥२१॥

कर्म उपासन ग्यान हु जोग, क्रिया सब दुर्लभ गूढ़ पहेली ।
जा कहं जौन मिलै बड़ भाग तैं, ताहि लगैं सब और बहेली ।
'अक्षर' जे सरवग्य भये, तिनके हिरदै सब ग्यान गहेली ।
और कौं एक ही नारि कौ भार, ज्यौं भूप के भौन अनेक सहेली ॥२२॥

कवित्त

बालिका कुमारिका किसोरिका मुगध मध्या,
प्रौढ़ा अरु बूढ़ा एक ही के पन सात हैं।
स्वकीया परकिया समानिका अधीरा धीरा,
सादरा अनादरा अनंत गुन गात हैं।
नारी पद एकस में टेक गुन औगुन की,
गुने तें अनेक नाम कबिता कमात हैं।
निर्गुन अभेद तत्व ग्यान ज्यौं 'अनन्य' भनै,
सर्गुन के भेदनि में पच्छ ठहरात हैं ।।२३।।

सवैया

निर्गुन सर्गुन पच्छ दुहूं, करतार दुहूं करतार बजावै।
जंगम होत मिलै नर नारिहि, थावर कौं धरनी 'रु मिलावै।
द्वै मिलनौ यह जोग मतौ, बिन जोग बृथा चरचा भ्रम छावै।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर सौं, मन सौं मिलि आतम जोग जगावै ।।२४।।

उत्तम जोग प्रयोग नहीं, जब लौं न कुयोग कुचाल बिचारी।
केवल भक्ति बिराग नहीं, जब लौं रति राग कला न संभारी।
पूरन ग्यान प्रमान नहीं, जब लौं अगियान दसा न बिसारी।
'अक्षर' सिद्ध समाधि नहीं, जब लौं नहि चित्त चुभी परनारी ।।२५।।

चारहु बर्न की नारि हैं चार, सु चारिहु नारि सौं प्रीति है जोरी।
सेत सौं हेत बिलास है लाल सौं, सांवरि चित्त बसै अरु गोरी।
चारि सु अर्थक बात यहै, कहि 'अक्षर' अद्भुत बात न थोरी।
ग्यान प्रकास बिलास है, जोग कौ सासन ईस उपासना चोरी ।।२६।।

कवित्त

उज्वल तरुनि कौ बिहार दिन ताप हरै,
अरुनी तरुनि रात सीत बात हति है।
साँवरी सलौनी सुख दैनी निसि बासर हूँ,
गोरी मुख भोरी बतरस ही में रति है।

आपुस में सौतैं जो मिलैं तौ तन बाधक हैं,
साधै चहूं पतिनी कौं सोई सुरपति है ।
जोग ही में भोग ही में जोगिये 'अनन्य' भनै,
इन ही सौं जोगी सरवग्यनि की गति है ।।२७।।

सवैया

जावै सुता सु जनै सुत कौं, अरुनी तरुनी रति संग बढ़ावै ।
पूत जनन्ति सुताहि जनै, जब उज्वल नारि समय रति पावै ।
बाँझ बधू गरभंति ततच्छन, साँवरि नारि बिषै रस द्रावै ।
'अक्षर' जोग प्रयोग यहै, बिधि कौ क्रत या बिधि सौं उलटावै ।।२८।।

कवित्त

दिन कैं दिनेस कौ उदोत गति मंद करै,
निसि में निसेस कौ निसास बन्द करनी ।
संध्या महं बंध्या सौं बिहार निसि दिन करै,
बिछुरैं न घरी घरी घरी अंक भरनी ।
सभा बैठ सोवै सुख सेज परैं जागै सदा,
देखै सो न देखै अनदेखै मन धरनी ।
'अक्षर अनन्य' और बल सारबल बाढ़ै,
यहै ग्यान जोग की जुगति गूढ़ बरनी ।।२९।।

१०. शिव-शक्ति-पचीसी

दोहा

जैसी जहां न संभवै, तैसी तहां जु होय।
कर्ता कर्म मृजाद नहिं, दैव सक्ति गति सोय ॥१॥

कवित्त

दाता बिस्व करता बिधाता ताहि बूझिये न,
पूजिये गनेस जो कबहुं सिद्धिकारी है।
जनम मरन बिष्नु अमृत पियत सदा,
जियत महेस महा बिषम अहारी है।
हरिजू के प्यारे तेहि बारे सीजैं स्वर्ग हेतु,
तेही स्वर्ग गनिका सदेहिये सिधारी है।
'अक्षर अनन्य' होनी अनहोनी बातें सब,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२॥

भीषम से जोधनि सिखंडी खंड खंड करे,
हनु से प्रचंड कौ गरब हरै नारी है।
नारायन जू कौं मुरकावै मुर जुद्ध जीति,
सूरज से सुर रुंड मुंड गाढ़ पारी है।
सेष जू कौ दल चींटी बान मारे नर पुत्र,
'अक्षर अनन्य' देखौ अचरज भारी है।
ऐसे प्रबलनि कौं अबल पेरैं भांति भाँति,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥३॥

जसुदा कौं सुख जो अहीर जाति पांति नहीं,
देवकी कौं दुख जो दुहूं की महतारी है।
राहु काजैं अमृत कुराह जाकी जाहिर है,
सेष जू कौं जहर जरन अधिकारी है।

साधुनि कौं दारिद जे दास लछिमीपति के,
पापिनि कें सम्पति जो टरत न टारी है।
'अक्षर' अनन्य' जैसो संभवै न तैसी करै,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥४॥

बलि से नरेस बांधि पेलिये रसातल कौं,
बधिक से पापिनि सुरेस गति भारी है।
राछिस बिभीषन कौ सुमति सुमंत्री नाम,
राम कौ खिताब जग पुरुषावतारी है।
कोरी औ चमार दान देत पानि ऊंचे करैं,
बरन अठारह कौ राजा सो भिखारी है।
'अक्षर अनन्य' ऊंच नीच नीच ऊंच बातें,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥५॥

बड़े बड़े नीचनि कौं नाती पुत्र सम्पति है,
बड़े बड़े ऊंचनि कौं पूत ना कुमारी है।
बड़े बड़े पापी सौ बरस हू तैं आगैं जियैं,
बड़े बड़े धर्मिनि कौं अलप लेत मारी है।
बड़े बड़े कूप नदी ताल जल सूखे डरे,
पर्बत पुखरिया ते पूरन निहारी है।
'अक्षर अनन्य' बड़ी बड़ी अनहोनी बातें,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥६॥

बड़े बड़े अबध हथ्यार टूटैं कांकर सौं,
हाथ न हथ्यार नीर भेदतु पहारी है।
बड़े बड़े पांयनि परत गाढ़ ऊंटनि के,
पाँयन बिहीन सर्प अति गति धारी है।
'अक्षर अनन्य' बड़ी नाकनि गजै न गंध,
चींटी गंध जोजन कौ लेत जुग चारी है।
बन में अबन ऐसी अबनै सुबन बातें,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥७॥

बिष्नु से सहायक बृहस्पति से मंत्रि जाके,
स्वर्ग सौ नगर कोट मेरु सौ हुस्यारी है।
बज्र सौ हथ्यार ऐरापति जैसौ वाहन है,
बावन से बीर सूर चन्द्र जू सौं यारी है।
'अक्षर अनन्य' कोटि तेतिस अमर जोधा,
और गन गंधर्वनि गिनती न क्यारी है।
ऐसे इंद्र काजैं निंद्र दूर करैं दानौ दीन,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥८॥

काल जाकौ बंधुवा बंधी है मीचु पलका सौं,
चौकी देहि बासुकि सुरेस अग्याकारी है।
भाई कुंभकरन लाख पूत सवा लाख नाती,
राछिस असंखि सेना अमरथहारी है।
'अक्षर अनन्य' बाहु बीस दस सीस जाकैं,
नाना अस्त्र सस्त्रनि समर्थ अधिकारी है।
ऐसे राज रावन कौं मार्‍यौ नर बाँदरनि,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥९॥

आस पास कोट कोटि कोटि मत्त हाथिनि कौ,
रथनि कौ कोट ताकी ओट करि त्यारी है।
घोरिनि कौ कोट पुनि जोर्‍यौ जुरजोधन जू,
जोधनि कौ कोट बहु जुरी भीर भारी है।
राजनि कौ कोट अति जोर्‍यौ महाराज बली,
भनत 'अनन्य' तहां राखी हुसियारी है।
ऐसे में जयद्रथ कौ माथौ नहीं जात जान्यौ,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥१०॥

द्वारका सौ गढ़ काल जम कौ न गम जहां,
पारथ प्रतिग्या करि करी रखवारी है।
जादव समूह जूह जोरि घूमि घेरि बैठे,
खैंचि धनुबान दिव्य द्रिष्टिता उज्यारो है।

'अक्षर अनन्य' सर पंजर गिरंद छायौ,
और की कहा है गति बात की न द्वारी है ।
ऐसे छिप्र में तैं बिप्र बालक सदेही गयौ,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ।।११।।

भीषम से पुरखा पुरुष पांच पांडव से,
महा बलिवंड नव खंड जयकारी है ।
द्रौन से अचारज बिदुर से बिचारवान,
जिनकी न सासना जुगल राज टारी है ।
'अक्षर अनन्य' धरमातमा करनजू से,
सपनेहू पाप की न बात जिय धारी है ।
ऐसी संत सभा में घसीटी नारि दूसासन,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ।।१२।।

कोरे चाप फूल भौंर चंचल पनचहीन,
पंचसर फूल ही के गांसनि निहारी है ।
मंद पौन सारथी है सेनापति रितुराज,
सत्रु सर्वलोक रच्छपाल हीन नारी है ।
'अक्षर अनन्य' अन्नि हीनता कहां लौं कहौं,
नहीं हाथ पांय जाकी काया प्रभु जारी है ।
ऐसौ काम दीन राम कृष्नहिं अधीन करै,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ।।१३।।

ओटक है सैल सात घोटक हैं ऊनै रथ,
मारग है सुन्नि निराधारता निहारी है ।
चकहा है एक रथ सारथी अपंग जाके,
लंगुर है पूत संग सैन ना सम्हारी है ।
'अक्षर अनन्य' केते दानै आनि आड़े होत,
रच्छक न कोऊ रच्छ भच्छ भय भारी है ।
ऐसे हीन भानु जाकी सक्ति ही तैं जीतै नित्त,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गतिं न्यारी है ।।१४।।

नाती महा ब्रह्म कौ तिलक महा संभु जू कौ,
नैन महा बिष्नु कौ जगत जो उज्यारी है।
अमृत कौ फल सर्ब देवनि कौ बल जाहि,
अति ही अमल जाकी सोभा जग प्यारी है।
'अक्षर अनन्य' अति सील मय सूरत है,
कीरति सतोगुन कौ सार अधिकारी है।
ऐसे चंद्रमा के माथैं कलुष कलंक टीकौ,
तातैं देव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥१५॥

नारायन जू कौ अग्रवरती भगतराज,
सर्ब सिरताज महा अहिनि अहारी है।
बड़े समरथ्थ जीति अमर बिरथ्थ करै,
समर दबित्तनि कौं नित्त ही प्रहारी है।
'अक्षर अनन्य' जिहि फूल सौ अचल धर्‌यौ,
सुरासुर जात रचियेत दुख भारी है।
ऐसे खगपति नारी द्रिष्टई बिधुंस करै,
तातैं देव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥१६॥

जिन रामचंद्र महा रुद्र कौ धनुष तोर्‌यौ,
जिन रामचन्द्र प्रसुराम मनी मारी है।
जिन रामचंद्र बली रावन कौ कुल दल्यौ,
जिन रामचन्द्र बली ताड़का संघारी है।
जिन रामचंद्र प्रभु बालि से प्रबल मारे,
'अक्षर अनन्य' जस जाकौ जुग चारी है।
तिन रामचंद्र कौं निदर जीत्यौ बालकान,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥१७॥

जिन अरजुन महाकाल सौं प्रजुद्ध करौ,
जिन अरजुन हनूमान मनी मारी है।
जिन अरजुन इंद्र जीति कैं जरायौ बन,
जिन अरजुन दिगबिजै भूमि झारी है।

जिन अरजुन महाभारत प्रहार करौ,
भीषम करन द्रौन मारि जय धारी है।
तिन अरजुन काजें लूटहि कुचील भील,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥१८॥

जिहि बैकुण्ठ काजैं जोगी जोग साधत हैं,
जिहि बैकुण्ठ काजें लावें सिद्ध तारी है।
जिहि बैकुण्ठ काजें बेद परम पद कहैं,
जिहि बैकुंठ मांझ ठाकुर मुरारी है।
जिहि बैकुंठ में अमर अमी भोजन है,
'अक्षर अनन्य' आवागौन न बिचारी है।
तिहि बैकुंठ माहिं जै विजय दुगति दानै,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥१९॥

सुर अभिषेकी चंद्र लगन परम सुद्ध,
गनक बसिष्ठ बिस्वामित्र सुभचारी है।
राम सौ पुरुष अवतार आपु लच्छमी कौ,
सकल सुलच्छिनि पतिब्रत उज्यारी है।
'अक्षर अनन्य' आनि महिमा कहां लौं कहौं,
राज महिमंडल कौ रानी हरि प्यारी है।
ऐसे सुख माहिं सीता दुख लै समानी भूमि,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२०॥

सिद्ध सनकादिक कौ सुक्रत तपोवन है,
नारायन चरन सरोजनि बिहारी है।
बिधि के कमंडल में बास कै निवास अरु,
सिव जू के सीस चढ़ि चढ़ि प्रीति प्यारी है।
'अक्षर अनन्य' ब्रह्म रूप जासौं ब्रह्म कहैं,
ब्रह्मा बिष्नु रुद्र इंद्र चन्द्र सिर धारी है।
ऐसी गंग देवि नारि ह्वै कैं नर पाँय सेवैं,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२१॥

बेदनि की रिचा रुचि सुचि कुल सीलवंत,
नाम रूप गुन एक एक अधिकारी है।
पारबती जू कौ बरदान हरिवर पाये,
देवता पुरुष पुरुषोत्तम सौं यारी है।
'अक्षर अनन्य' अन्नि महिमा कहां लौं कहौं,
जिनि प्रेम भक्ति जक्त पटतरकारी है।
तिनि गोपिकानि कौ जनम गयौ सोक ही में,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२२॥

दुर्बल दिवानी दीन दानिन की दासी दसौं,
दिसै होत हांसी चाल पारैं नर नारी है।
अंग अंग खौरा अंग भंग सब ठौर टेढ़ी,
बसन कुचील बदसूरता निहारी है।
'अक्षर अनन्य' अन्नि हीनता कहां लौं कहौं,
जहां लौं मलीनता तहां लौं अधिकारी है।
ऐसी कुबजा कौं राज भोग सोग राधिका कौं,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२३॥

धरनि मैं रेनु जेते गगन में तारागन,
गंग ही में बारू छार थोरी कै बिचारी है।
बननि में तृन जेते घननि में बुंदघन,
द्रुमनि में पात बात लघु सी निहारी है।
'अक्षर अनन्य' अन्नि गनना कहाँ लौं कहौं,
एती गाय दीन्हीं तेती गिनती न क्यारी है।
ऐसे महादानी नृग नर्क स्वर्ग ब्याधि पावै,
तातें दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२४॥

जिनिके चितौत ही बिचित्रबीज रानिनि के,
अनहो संजोगहि सन्तान सुखकारी है।
जिनिके बचन ही तै पिंड निरजीव में तें,
भये सौ कुमार जुरजोधन अधिकारी है।

जिनिके पुरान सुनै अजहूं 'अनन्य' भनै,
बांझनि कैं पूत होत जगत बिचारी है।
तिनि बेदब्यासहिं सुतनि कौं ललात गयौ,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२५॥

ब्यासादिक रिषि बिष्नु ब्रह्मादिक देव सबै,
नारदादि मुनि सनकादि सुखकारी है।
इंद्रादिक छत्रप नछत्र सब चंद्रादिक,
सूरादिक ग्रह ग्रेह पांति अति भारी है।
'अक्षर अनन्य' सत्त धर्म परतच्छ बैठे,
प्रात तें अथैं लौं इष्टकै कैं मति हारी है।
ऐसे पंच झूमत सुपच आये आँट बजौ,
तातैं दैव सक्ति जू को दैव गति न्यारी है ॥२६॥

छोहिनि अठारह समूह रन जूह जुरे,
क्रूह लोक लोक जुद्ध जूह अति भारी है।
चलै अग्निबान धनुबान घमासान बीतै,
नाचत मसान भूत भैरों बिकरारी है।
'अक्षर अनन्य' भनै समर अनंत भयौ,
अमर कपंत सेना सकल संघारी है।
ऐसे महाभारत में भारही के अंडा बचे,
तातैं दैव सक्ति जू की दैव गति न्यारी है ॥२७॥

छप्पय

दैव सक्ति सिव सक्ति, दुतिय नहिं सक्ति जासु बर।
हरि ब्रह्मा सुर असुर, सकल आधीन तासु उर।
जा गति समुझि न परत, समुझि तब परत करत जब।
नेति नेति स्रुति कहत, धरत अचरज मुनिगन सब।
'अक्षर अनन्य' तिहि सक्ति 'सिव सक्ति पचीसी' नित्त भनि।
जिहि पढ़त सुनत भागत भरम, परम ग्यान बिग्यान मनि ॥२८॥

११. वैराग्य-तरङ्ग

कवित्त

प्रथम अमानि कह्यौ आपनौ न मानै कछू,
दूजे निरमोह मोह माया भ्रम त्याग के ।
तीजे निहकाम कर्म फल की न कामना हो,
चौथे निर्द्वन्द राग दोष न त्रिभाग के ।
पांचै निरबन्ध बैर प्रीति भय बन्ध नहीं,
छठै निरदोष धर्म पातक न लाग के ।
'अक्षर अनन्य' ग्यान अनुभौ प्रवीन दसा,
एते षट् लच्छिन बेद बिदित बिराग के ॥१॥

ग्यान ध्यान भजन बिराग जप तप जोग,
सत्त प्रेम नैम सुचि सान्ति मन जीत के ।
दया छमा संजम संतोष दम दान सम,
आसन उपासन असन लघु चीत के ।
साहस सहन सील सुकृत निकाम कर्म,
धर्म धृति धीर अनुकूल मन चीत के ।
'अक्षर अनन्य' गुरु भक्ति सिव सक्ति हेत,
लच्छिन छतीस ऐसे उत्तिम अतीत के ॥२॥

ग्यान सर पंच ध्यान सिलह समूह जान,
खडग ब्रिराग सेल्ह अबिचल चीत है ।
तत्त तरकस सार सब्द सरकस महा,
मत्त करकस की कमान कर मीत है ।
धर्म रन मंडि खंडि भर्म से प्रबल सत्रु,
परसैत न पाइकै बिजय जग जीत है ।
सूरनि में सूर सिरमौर सु 'अनन्य' भनै,
अनुभौ अभीत ते अतीत जग जीत हैं ॥३॥

राग सौं न राग अनुराग नहीं इन्द्रिनि सौं,
इन्द्र ही कुबेर की न संपति सौं प्रीत है।
मान सौं न मान अपमान अपमान सौं न,
जानहु अजान सौं समान चित चीत है।
दोष न अदोष आस बंधन हू मोख की न,
सहज संतोष रोष दुबिधा बितीत है।
मन भौ मिटाइ ग्यान अनुभौ 'अनन्य' भनै,
ऐसी अवधूतनि अतीतनि की रीत है ॥४॥

दुखनि सौं दुख जौलौं सुर्खान सौं अनुराग,
निन्दक सौं बैर जौलौं बन्दक सौं बीरी है।
पूजिबे कौ भरम पुजाइबे की साध जौलौं,
पाइबे कौ हर्ष औ गये की दिलगीरी है।
जोवन की आस है मरन ही की संक जौलौं,
बिना तत्त ग्यान सुभासुभ मनजीरी है।
'अक्षर अनन्य' एती फाटी न फिकिर जौलौं,
तौलौं फजीहत बाबा फुरै ना फकीरी है ॥५॥

ग्यान कौ संभारि भ्रम बासना बिसारि और,
सारासार चरचा बिचार अवगाहे की।
छाँड़ि अनुरक्ति राखि सहज बिरक्त दसा,
कीजे सिव सक्ति जू की भक्ति दरमाहे की।
दुख सुख हानि बृद्धि मानि न 'अनन्य' भनै,
जानि कै अजान हू की रीति अनचाहे की।
ओखरी में मूँड़ मेलौ मूसर कौ डर कहा,
धरी जो फकीरी तौ फिकिर कहौ काहे की ॥६॥

जोई सुख साहनि कौं पायें पातसाही पद,
जोई सुख राजनि कौं देस पुर पाये तैं।
जोई सुख चाकर कौं चाकरी हिसाब मिलैं,
जोई सुख रैयत कौं खेत निपजाये तैं।

जोई सुख भिच्छुक कौं भिच्छा भर मूठ मिलैं,
सुख में न भेद यहै भेद समुझाये तें ।
तातें तजि आसरौ अनासरौ 'अनन्य' गहौ,
गये तें बिषाद नाहीं आनँद न आये तैं ॥७॥

मिलै फल अम्रत कै दुर्लभई साग पात,
गात दिब्य अम्बर कै कम्बर नगन ही ।
आसन सिंघासन कै आसन तरु छांह तरैं,
चाल सुख पालन कै पानही पगन ही ।
बन्दें पद भूपति कै निन्दहिं चमार चेरे,
बाढ़ै घर सम्पति कै बिपति सघन ही ।
'अक्षर अनन्य' कोटि मुक्ति संतोष सुख,
गुरु के सबद माँझ रहिये मगन ही ॥८॥

मगन संतोष रहै हर्ष सोक छांड़ि दीजे,
देखै सब ठौर एक ईस्वर सरब सौ ।
कीजे मन हाथ साथ इन्द्रिनि के डोलै नहीं,
बोलै नहीं झूठ रहै सांच ही जरब सौ ।
करन सुकर्म कर्म फलनि कौ नास करैं,
सहज सन्यास मिटै कर्म कौ परब सौ ।
अनुभौ प्रमान बेद बिधि सौं 'अनन्य' भनै,
यहै है अतीती सेवौ बन कै घरै बसौ ॥९॥

रचि काम रागिये न बिरचि कै त्यागिये न,
बैठि हठि जागिये न भूलि नींद लहिये ।
अफरि कै खाइये न आतमा लंघाइये न,
बादहिं बढ़ाइये न मौनताई गहिये ।
लोभ कै न गाड़िये दुकान दान मंडिये न,
छांड़िये बिसन पाप पुन्य में न बहिये ।
राखिये सहज सर्व समता 'अनन्य' भनै,
ग्यान जोग साधि ऐसी जुगति सौं रहिये ॥१०॥

सहज ही ग्यान ध्यान भजन बिराग राग,
सहज ही जोग भोग गुनौ गुन गात कौं ।
सहज ही जाप तप थाप न अथाप कछू,
सहज समाधि सौं अराधि जग जात कौं ।
सहज में होइ सोइ होइ दुख सुख आनि,
संग्रह न त्याग कर्म फल जो बिधात कौं ।
अर्थ धर्म काम मोख कौ न कछू सोच कीजे,
राखिये 'अनन्य' यों सहज सर्व बात कौं ॥११॥

सहज बिराग करै बासना कौ त्याग करै,
इन्द्रिनि बिभाग करै आतमा बिहारी है ।
कर्म निहकर्म करै बेद बिधि धर्म करै,
मन में न भर्म करै दुबिधा न सारी है ।
सतासत ग्यान करै ईस्वर कौ ध्यान करै,
परनारी न्यान करै यहै सुखकारी है ।
'अक्षर अनन्य' ब्रह्म बिद्या कौ बिचार करै,
ऐसौ ब्रह्मचार करै सोई ब्रह्मचारी है ॥१२॥

नहीं ब्रह्मचारी न बिरागी संन्यासी हम,
नहीं बानप्रस्थ न ग्रहस्थ अनुसारे हैं ।
बैष्नव नहीं सैव नहीं नाहीं हम बामक हैं,
नहीं राम कृष्न के उपास ब्रत धारे हैं ।
जोगी नहीं जंगम न सेवरा फकीर जिंद,
नहीं दरवेस भेष सबई निबारे हैं ।
आतम प्रकास ग्यान अनुभौ 'अनन्य' भनै,
हम हैं निपच्छ पच्छ सबई हमारे हैं ।।१३॥

ईंधन बिहूनी आगि राखे कौ निहोरौ कहा,
ईंधन महं आगि राखै ताही कौ जतन है ।
इन्द्रिनि गलित बृद्ध भयें कौन साधुता है,
इन्द्रिनि बलित बाँधै सोई साधुपन है ।

'अक्षर अनन्य' बिना पायैं बिषै त्याग कहा,
पाय करै त्यागन बैराग सोई मन है।
घर छांड़ि बन जोग साधे की जुगति कहा,
घर ही में बन करै सोई गुरुजन है ॥१४॥

छांड़ि सब भेद निरभेद रहौ सब ही सौं,
अतित ग्रहस्थ सौं न दुबिधा बिभाग है।
काहू के न पंथनि में मिलिये न मेलनि में,
खेलिये मुकर मेल कलुष न लाग है।
देखिये समान सर्ब आतमा असाधु साधु,
साधि यहै समता दुतीय भ्रम त्याग है।
और भेष घरी घरी धरत मिटत स्वांग,
'अक्षर अनन्य' ग्यान अटल बिराग है ॥१५॥

सत्त कौ अटल टोप सोहत सुभाइ सीस,
तत्त कौ तिलक चारु चिन्ह निरवान कौ।
गुरू कौ सबद गुहि मालिका बिमल हियै,
उत्तम सुमति तूमां ध्यान रस पान कौ।
सहज दसा सौं जग बिहरै 'अनन्य' भनै,
ग्यान गूदरी सुकर्म भक्ति के बिधान कौ।
और भेष स्वांग सो बिराग न 'अनन्य' भनै,
पूरन बिराग यहै भेष भगवान कौ ॥१६॥

पूरन बैरागिनि कैं राग अरु दोष नहीं,
पूरन पुरुष जू के नामहि भनत हैं।
रहत अचाह नहीं काहू परवाह करैं,
अनुभौ प्रभाव ग्यान बानक बनत हैं।
सब तैं बिरक्त जक्त निर्मल 'अनन्य' भनै,
एक सिव सक्ति भक्ति ध्यान में सनत हैं।
और राव रंकन की आस अरु संक कहा,
चींटी अरु ब्रह्म हू समान कै गनत हैं ॥१७॥

१२. भक्ति-भावना

त्रिलोकी

सुनहु सन्त नर बुद्धि सुद्ध मन राखि कैं ।
भक्ति ग्यान उपदेस कहत हम भाषि कैं ॥
लख चौरासी जोनि जगत सब जानिबौ ।
सबनि मांझ नर देह अधिक करि मानिबौ ॥
नरनि मांझ हू बड़ौ जानि अवतार है ।
नरपति हूँ द्वै भांति असुर सुर चार है ॥
लूटन मारन लुबिध सु असुर बिसेषिये ।
दया धर्म सुभ कर्म देव नृप लेखिये ॥
जो नृप बेद प्रमान देव गति सौं चलैं ।
अर्थ धर्म अरु काम मुक्ति फल ते फलैं ॥
फलदाता करतार करनि सुभ चाहिये ।
लोक बेद अनुसार सुरति अवगाहिये ॥
दया धर्म सुभ कर्म नृपति कौ काज है ।
ता पर उपजै भक्ति अजब सो राज है ॥
बड़े जनम कहं पाइ बड़ी मति जो गहैं ।
सोनों और सुगंध सबू तासौं कहैं ॥
जग में बड़ौ कहाय बड़ी करनी करै ।
सधै लोक परलोक धरनि ऐसी धरै ॥
ग्यान धर्म करि हीन बड़ौ किहि का मकौ ।
ज्यौ दारू कौ ब्रच्छ भरम के धाम कौ ॥

डार फूल फल पात अकारथ देखनौ।
त्यौं ही सब संसार भर्म कौ पेखनौ ।।
यह फल पाप समुद्र धर्म डौंड़ा डगे ।
बिरले ग्यान जहाज पुरुष पारहिं लगे ।।
ग्यानबान सो पुरुष ताहि सब सूझ है।
पच्छापच्छ जु मान न तिन में बूझ है ।।
बिद्या फिरै बिकात न दाता लेत है।
करै बड़ाई आनि रीझि तिहिं देत है ।।
बिचले सब कौ धर्म कठिन कलिकाल में।
ग्रेही और अतीत परे दहचाल में ।।
उद्दिम के भ्रम सोच न समुझन पावहीं।
समुझै तौ किहि काम न कछु बनि आवहीं ।।
हम राजनि यह जानि करत उपदेस हैं।
राजनि हू तैं धर्म चलत सब देस हैं ।।
'अछिर अनिन्न' बिचारि लिखौ समुझावना।
समुझि यहै नर बुद्धि भक्ति की भावना ।।

१३. उत्तर-मालिका

सवैया

जो करतार निमित्त रच्यौ, तिहि ऊपर और न राखिये इछ्या ।
खेवनौ या भव सागर कौ, धरि इष्ट अधार हियैं गुरु दिछ्या ।
जो कछु बेद बिचारि मतौ, कहि 'अक्षर' राखिये ग्यान परिछ्या ।
पंथ सु पंथ सदा चलिये, जिमि पंथ कौ आप दई हरि सिछ्या ॥१॥

चौपाही

अर्जुन कहत सुनौ हरि राइ, ग्रहिये कहा जगत में आइ ।
ग्रहिये अरजुन गुरु के पाव, गुरु कौ कहिये कहा प्रभाव ॥२॥

गुरु करिये जिन पायौ तत्त, क्यों लहि परै तत्त कौ सत्त ।
दया छमा प्रियवादी होइ, ततवेता गुरु करिये सोइ ॥३॥

आतुर काज कीजिये कौन, जग निवृत्ति के मारग जौन ।
का कहं कीजे ठैर मुरारि, परधन पर अपक्रत परनारि ॥४॥

का सौं प्रीति राखिये चित्त, अपनी प्रिया साधु जे मित्त ।
किहि सराहिये बारंबार, थोरे वित्त जु चित्त उदार ॥५॥

काहि निंदिये पंचन माहिं, संपति जोरि देहि नहिं खाहिं ।
धरिये कहा चित्त में दया, करिये कहा सर्व सौं मया ॥६॥

दीजे कहा सबै सनमान, लीजे कहा नाम भगवान ।
कीजे कहा आपनै कर्म, पीजे कहा स्रवन स्रुति धर्म ॥७॥

धन में क्यों रहिये ज्यौं दीन, धन बिन क्यों रहिये ज्यौं पीन ।
नर कौ धर्म कहा गुरु सेव, नारी धर्म कहा पति देव ॥८॥

पंडित को जु ब्रह्म रस लीन, मूरख को बिद्या करि हीन।
बिद्या कौन बेद अनुसार, सारासार बिबेक बिचार ॥९॥
समरथ को जो है सरवग्य, अबल कौन जोई अति अग्य।
निहचल को जग में गिरि तूल, पतिब्रता पति सों अनुकूल ॥१०॥
चंचल को चलदल दल सारि, ज्वारी बिभचारी नर नारि।
जीवत को जाकौ जस लोक, मृतक कौन अपजसी ससोक ॥११॥
बहिरौ को न सुनै हित बानि, अंधौ को बिसनी जग जानि।
पंगा को पग धर्म न जाहि, नंगा को गुनहीन जु आहि ॥१२॥
गूँगा को समयै नहिं कहै, कुष्टी को कुचाल जो रहै।
अम्रत कह गुरु मंत्र बिसेष, बिष कह गुरू अवग्या लेख ॥१३॥
सठ को है जु करै हठि गर्ब, करि पछिताइ सु तौ सठ सर्ब।
प्रीतम को उद्दिम बुधि धर्म, बैरी को आलस खल कर्म ॥१४॥
स्वर्ग कहा प्रिय नारि सुचित्त, नर्क कहा परबस भ्रम नित्त।
बंधन कहा जगत जिहि गांसि, तृष्ना जग बेली जगपासि ॥१५॥
निरबंधन कौ कहा बिचार, जग मिथ्या साँचौ करतार।
समुझि कहा न परै जग मित्र, सब तैं अद्भुत त्रिया चरित्र ॥१६॥
बड़ौ कौन जग मांझ मुरारि, साधु सूर पतिब्रता जु नारि।
गरुवौ को जु अजाची होइ, हरुवौ को जाचक जग जोइ ॥१७॥
नष्ट को जु परनारिनि रचै, नीच को जु कुल धर्मनि लचै।
सुःख कहा जग में बैराग, कहा बिराग जु इछ्या त्याग ॥१८॥
दुःख कहा मरिबौ तन भंग, मरिबे तैं दुख का खल संग।
जीवन कौ फल कहा गुपाल, भक्ति धर्म तत ग्यान रसाल ॥१९॥
जनम सील कह दुरि को पाप, विन बिचार पुनि कर्म संताप।
सजिये कहा धर्म सुख धाम, तजिये कहा बिरानै काम ॥२०॥
निर्मल को जे अंतर सुद्ध, पूज्य कौन जे ग्यानी बुद्ध।
मलिन को जु विषयन आसक्त,.............................॥२१॥

१४. गणेशाष्टक

त्रिभंगी

जयदेव गणेशं सर्व गुणेशं पुत्र महेशं अवतारं ।
आनंद अखंडं सुर कुल मंडं सकल ब्रह्मंडं अवधारं ।
अति अद्‌भुत रूपं जोति सरूपं उदित अनूपं शशि भेषं ।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥१॥

सिर मुकुट विराजं अति छवि छाजं श्रवन विराजं शुभ मुक्तं ।
गज वदन सुराटं चंद्र ललाटं रूप निराटं अति जुक्तं ।
मणि भूषण सोहं सुर मुनि मोहं निपट निरीहं सर्वेशं ।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥२॥

कर फरस त्रिसूलं आनँद मूलं जन अनुकूलं सिव पूतं ।
मूषक असवारं सब सुख सारं अभि भैचारं अनुभूतं ।
प्रभु बेद प्रमानं कर्म प्रधानं धर्म निधानं धर्मेशं ।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥३॥

नव निद्धि निवासं सिद्धि प्रकाशं बुद्धि विलासं विस्तारं ।
बल विक्रम घोरं अतिबल जोरं बैस किसोरं सुख सारं ।
रन कालं क्रुद्धं विरच विरुद्धं हनि रिपु जुद्धं जय देशं ।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥४॥

रुकमिनि वरदायं पुत्र मिलायं सब सुख पायं दुख भाजं ।
नल विपति विदारं दे सुख सारं फिर विस्तारं नृप साजं ।
पांडव वनवासं विपति विनासं कौरव त्रासं सर्वंशं ।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥५॥

कर कमला कंतं जुद्ध अनंतं दै सुख संतं तजि कोपं।
फिर दीन जिवायं दै वरदायं अतुल प्रभायं जग ओपं।
हति गर्व गुमानं कृपा निधानं जन सुख दानं अति वेषं।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥६॥

सुर इन्द्र सुराटं संकट काटं असुर कुठारं संघारं।
दुजि बाल उबारं बंदि निवारं श्रुति पालं अरु सिद्धि धरं।
नव निद्धि निवासं सिद्धि प्रकाशं विघन विनाशं विघनेशं।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥७॥

सब लाइक देवा सुरकुल सेवा निगम अभेवा समरथ्थं।
सु 'अनन्य' बखानं विविध विधानं हे सुभ आनं गुन सथ्थं।
तुव गीत अनंतं कहि न बनंतं थकित भनंतं विधि सेसं।
श्री गौरि कुमारं चरित अपारं परम उदारं परमेशं ॥८॥

१५. भवानी-स्तोत्र

कवित्त

संकर अचारज बिचार्‌यौ जिनि ब्रह्म एक,
ब्रह्म में जु सक्ति सो न गूढ़ पहिचानी है।
तब आदि सक्ति आप सक्ति तन खैंचि लई,
रहे गिरि दीन पियौ जात नहिं पानी है।
'अक्षर अनन्य' तब दिल के कपाट खुले,
जानी जग जोति जोगमाया महारानी है।
कीनो बहु अस्तुति बिनय बहु भांतिनि सौं,
तीन हूँ भुवन तू ही ब्यापक भवानी है ॥१॥

सवैया

पूरन ब्रह्म सदा सिव सो, तुव सक्तिहि तैं करतार प्रमानो।
जो तिहि में नहिं मानिय सक्ति, असक्त कहै जड़ता ठहरानो।
सक्तिहि तैं यहि चेतन ब्रह्म, महा समरथ्थ कहौ परवानो।
ब्रह्म कौ सार अधार त्रिलोक को, हौ तुम चेतन सक्ति भवानी ॥२॥

चेतन सक्ति अनंद सरूपनि, ब्रह्म निरूपन में ठहरानी।
तो बिन ब्रह्म है सून्य असार, है सार तुहीं चहुं बेद बखानी।
याही तैं बिष्नु बिरंचि महेस, सदा तुम्हें ध्यावत हैं महारानी।
जानै न पातकी जीव तुम्हें, तुम ही जग में जग जोति भवानी ॥३॥

तो पद पंकज को रज पाय, बिरंचि करी रचना जग जानी।
तो पद पंकज की रज पाय, सुरक्षक बिष्नु भये बरदानी।
तो पद पंकज की रज पाय, महा बल संभु प्रलै कृत रानी।
तो पद पंकज की रज है सब देवनि जीवन मूरि भवानी ॥४॥

सेवत देव सबै पद पंकज, हौ तुम देवनि कौं बरदानी ।
जे जन देवनि कौं सुमिरैं, तिनि कौं तुम ही बर दाय बखानी ।
भूलत ते जे भजैं सुर आन, न जानै तुम्हें जग बंदिनि रानी ।
पूजत तो जन कौ सिरमौर, तुहीं सब के सिरमौर भवानी ।।५।।

काटत पास अविद्यनि की, तुमही सत बिद्यनि में ठहरानी ।
मेंटति हौ दुख दारिद कौं, कमला मनिका मधुका बरबानी ।
मूढ़नि गात सुचेत करौ तुम, चेतनि सक्ति सुधा निधि रानी ।
कालहि कर्मनि नासिनि हो, तुम हो अभिनासिनि रूप भवानी ।।६।।

बिष्नु बिरंचि महेस महा प्रभु, तीनहुं लोक करैं रजधानी ।
जो उनकी प्रभुता बिभुता, तुम्हरे जन सो तिनका करि जानी ।
लोक समर्थ असार ब्रथा, तुम ग्यान समर्थ सदा बरदानी ।
'अक्षर' आन प्रभाव दिया, तुम्हरो रबि कोटि प्रभाव भवानी ।।७।।

दृष्टि तुम्हारि खुलें जग होत, ज्यौं भानु उदोत मरीचि बखानी ।
दृष्टि तुम्हारी खुली रहै जौं लगि, तौ लगि सृष्टि हु जानत ग्यानी ।
दृष्टि मुदें तें प्रलै तिहि तें, तुम आपुनि दृष्टि न मूँदति रानी ।
दृष्टि तुम्हारि सौं सृष्टि लगी, तुम सृष्टि की कारन रूप भवानी ।।८।।

ध्यावत हैं मुनि सिद्ध तुम्हैं, सिर पंकज में निज जोति प्रमानी ।
जौ उन सिद्धिनि सेवत हैं, तिन कौं तुम ही वरदायक खानी ।
अम्रत को किरनै बरषौ, पुजवौ जन की मनसा सुख दानी ।
और सबै बिषयानँद हैं, तुम हौ परमानँद रूप भवानी ।।९।।

मुक्तिनि की निधि भुक्तिनि की निधि, सक्तिनि की निधि संकर जानी ।
रिद्धिनि की निधि सिद्धिनि की निधि, बिद्यनि को निधि बेद बखानी ।
अम्रत की निधि संम्रथ की निधि, रूप निधान सदा महारानी ।
'अक्षर' कौन समान वियौ, तुम हौ सबलायक आदि भवानी ।।१०।।

लोकनि के सिर बेदनि के सिर, देवनि के सिर आपु बखानी।
ब्रह्महु के सिर बिष्नुहि के सिर, संकर के सिर जोति निदानी।
जंत्रनि के सिर मंत्रनि के सिर, आगम तंत्रनि के सिर मानी।
मो सिर पांव धरौ करुना करि, सर्व सिरैं तुम आदि भवानी ॥११॥

तौहि लौं लच्छिमी लागै बुरी, अरु तौहि लौं बुद्धि पदारथ मानी।
तौहि लौं सिद्धिनि की महिमा, अरु तौहि लौं बिद्यनि भाषत प्रानी।
तौहि लौं राग सुराग कथा रुचि, तौहि लौं चित्त बिषै लपटानी।
झूठ बिभूतियै सांची लगै, जब लौं न लही तुव सक्ति भवानी ॥१२॥

आपु ही लच्छिमी हाथ परै, अरु आपु ही सारदा वाक जुबानी।
आपु ही सिद्धि समृद्धि बढ़ै, अरु आपु ही कीरति देस दिसानी।
आपु ही पूरि रही प्रभुता, बिभुता जिमि देवनि की जग जानी।
आपुहि आप प्रताप बढ़ै, तुम जापर आपु प्रसन्न भवानी ॥१३॥

सिद्ध लगे सब सिद्धिनि सौं, अरु बुद्धिनि सौं कवि पंडित ग्यानी।
संपति सौं जग जीव लगे, अरु देव सुधा सौं लगे जग जानी।
लोक लगे इन सक्तिनि सौं, सब सक्तिनि की निधि हौ महारानी।
'अक्षर' ताहि अभाव कहा, जु भजै तुव निर्मल जोति भवानी ॥१४॥

साँवरि पीत सितासित लाल, कला पल में पलटै महारानी।
अद्भुत रूप मनोहर मूरति, आनँदमूल सदा सुख दानी।
अम्रत की किरनै बरषौ, पुजवौ जन की मनसा सुख दानी।
'अक्षर' अच्छ प्रतच्छ सदा, सु बसौ तुम मो मन आदि भवानी ॥१५॥

चाहैं नहीं हम मुक्तिनि भुक्तिनि, कीरति लोभनि की रजधानी।
चाहैं नहीं हम रिद्धिनि सिद्धिनि, बुद्धिनि बेदनि की बरदानी।
चाहैं नहीं हम और कछू, सब जानति हौ तुम अंतरजामी।
तो पद पंकज की रज कौ, हम चाहत इष्ट अधार भवानी ॥१६॥

तो पद पंकज की रज कौ, हमरौ मन अंगज भौ महारानी ।
भूलि गये जग जंगल के रस, मंगल रूप कला मन मानी ।
पांयनि पायबे कौं अभिलाष, उपायनि तैं तुम पाव न जानो ।
हेरहु दृष्टि दया करि कै, हमरैं तुम इष्ट अधार भवानी ॥१७॥

भूलि गये सब मंत्रहु जंत्र, न भावत बेद पुरान कहानी ।
बिष्नु बिरंचि महेसहु की, महिमा न कछू हमरे मन मानी ।
और सबै बिष से तुम प्रान, संजीवनि मूरति देवि सुजानी ।
जानहु मो अपनौ करि कै, तुम हौ करुनानिधि रूप भवानी ॥१८॥

दुर्बल दीन सदा तन छीन हौं, पापनि पूरि महा जड़ प्रानी ।
चित्त मलीन बिषै रस लीन, कुबुद्धि प्रवीन हौं औगुन खानी ।
रोगनि खीन सबै बिधि हीन, अधीन भयौ तुम सो महारानी ।
दीन निवाजनि नाम तुम्हैं, चितये करि नैकु सुदृष्टि भवानी ॥१९॥

सोरठा

तुम सब बिधि समरथ्थ, श्री भवानि असरन सरन ।
हौं सब बिधि असमत्थ्थ, करहु कृपा मम बिनय सुनि ॥२०॥

१६ प्रेमदीपिका

कवित्त

जाकी सक्ति पाय ब्रह्मा बिष्नु सिव बिस्व रचैं,
जाकी सक्ति पाय सेष धरनी धरत है।
जाकी सक्ति पाय अवतार करतूत करैं.
जाकी सक्ति पाय भानु तम कौं हरत है।
जाकी सक्ति पाय सारदाहु गनपति गुनी,
जाकी सक्ति पाय जक्त जीवत मरत है।
'अक्षर अनन्य' आन अमर उपाव छाँड़ि,
ताही आदि सक्ति कौं प्रनामहि करत है।

दोहा

करि प्रनाम श्रीमातु कौं, ग्यान सुमति उर पाय।
'प्रेमदीपिका' हरि कथा, कहौं प्रेम समुझाय ।।२।।

कुण्डलिया

माधौजू इक दिन कह्यौ, मधिकुर सों सतिभाव।
गोपी गोप प्रबोध कौं, तुम ब्रजमण्डल जाव ।।
तुम ब्रजमण्डल जाव, प्रेम अति ही उन कीन्हौं।
जब तें भयौ बिछोह, सोध हम कबहुँ न लीन्हौं ।।
तुम मम मति दरसाइ, हर्यौ दुखसिंधु अगाधौ।
कहियो सब सों यहै, दूर तुम तें नहिं माधौ ।।३।।

बिषया मद माती त्रिया, काम केलि आसक्ति ।
सुन्दर पुरुष बिचारि कैं, करी हमारी भक्ति ।।
करी हमारी भक्ति, नंदसुत गुन सुखदायक ।
तीन मुक्ति हम दीन, नहीं चौथी कहं लायक ।।
तातैं तुम परवीन, जाइ दीजो निज सिषया ।
कृष्न निरंजन देव, नहीं जानौं नर बिषया ।।४।।

बिषय बासना त्रियनि की, करियौ मन तैं दूर ।
सुद्ध ब्रह्म दरसाय कैं, रह्यौ सर्व भरपूर ।।
रह्यौ सर्व भरपूर, तासु उपदेसन कीजौ ।
मम सेवा फल जान, यहै उनकौं सिष दीजौ ।।
ग्यान जोग निज बोध, मिटै कर्मक उपासना ।
बिरह मिटैं सुख होय, मिटैं सब बिषय बासना ।।५।।

श्रीबृन्दा जग मातु है, बृन्दाबन की देवि ।
कहियो जाइ प्रनाम मम, चरन कमल रज सेवि ।।
चरन कमल रज सेवि, देवि ब्रज की रछिपाला ।
बृन्दाबन अति सघन, जहाँ जग जननि दिवाला ।।
करियो पूजा जाय, जबै पूजै सुखकंदा ।
जदिन भाग मम होइ, तदिन परसौं श्रीबृन्दा ।।६।।

आयसु दै सुख पाइ इमि, आपु मुकुट धरि मत्थ ।
अपनौई जोरौ रुचिर, पहिरायौ अप हत्थ ।।
पहिरायौ अप हत्थ, दिये आयुध जु मँगाइक ।
खासौ रथ सजवाय, बोलि पठये जदुनायक ।।
दिनमनि सम निज जोति, मरुत गति अती उजायसु ।
तब पाँ परि मिलि भेंटि, चले ऊधौ लै आयसु ।।७।।

हरि प्रीतम अति आतुरे, चले तुरत रथ जोत ।
नंदगांव के गेंवड़े, पहुंचे संध्या होत ।।
पहुंचे संध्या होत, छिप्यौ गोरेनु बिवानं ।
लखे न काहू जात, गये ब्रजराज निधानं ।।

मिली जसोदा रोइ, मनौ सुत पाइ पुनीतम।
भेंटि नंद उर लाय, पाइ प्यारे हरि प्रीतम ॥८॥

पूजा करी जिवाइ करि, पारे पलँग सुछंद।
कुसल छेम बलराम की, पूँछत रोवत नंद ॥
पूँछत रोवत नंद, सुनौ ऊधौ बड़ भागी।
नीके हैं हरि राम, हमहिं उनकी रट लागी ॥
निरमोही उन तुल्य, 'अछिर' नहिं देख्यौ दूजा।
पिघलत है पाषान, जदपि कीजत है पूजा ॥९॥

हम तौ हरि श्रीराम जू, सेये देव समान।
मानुस करि जाने नहीं, हमें तुम्हारी आनं ॥
हमें तुम्हारो आन, करी बिधि सौं नित पूजा।
ज्यौं फनिमनि सिरमौर, और जानै नहिं दूजा ॥
तिहि बिछुरे कहि 'अछिर', कहौ कैसे मन रमतौ।
दीन मीन जलहीन, कीन ऐसी हरि हम तौ ॥१०॥

कबहूँ या ब्रजबास की, खबर करत कै नाहिं।
बिबिध भांति क्रीडा करी, उन ब्रजमण्डल माहिं ॥
उन ब्रजमण्डल माहिं, सु गुन मुख जात न भाषे।
हम सबहीं बहु बार, बिबिध संकट तें राखे ॥
तेई गुनगन गाइ, 'अछिर' जीवत हम अबहूँ।
ते मनमोहन राम मधुप, मिलिहैं अब कबहूं ॥११॥

जसुदा कौं बहु सुख दिये, करि करि बाल बिनोद।
ते अबहूँ रस बस भये, आपु करैं उत मोद ॥
आपु करैं उत मोद, महा मोहन निरमोही।
जहं तैं मिलत न सोध, गुपित नगरी तहं टोही ॥
यह कहि रोये नन्द, 'अछिर' फाटत नहिं बसुधा।
नैन नीर कुच छीर, स्रवहिं अनुरागिनि जसुधा ॥१२॥

उद्धव वचन

देख्यो ऐसे प्रेम अति, ऊधौ अचरजु कीन।
नंद जसोदा बोध कैं, बोले बचन प्रवीन ।।
बोले बचन प्रवीन, सुनौ ब्रजराज सभागे।
सकल सिरोमनि भक्त, जक्तपति सौं अनुरागे ।।
जक्तपिता जगदीस, भयौ जिनतैं जग लेख्यो।
तिन सौं पूरन प्रेम, आज तुम्हरैं हम देख्यो ।।१३।।

तातैं वे श्रीकृष्न जू, तुम तैं नाहीं दूर।
पूरन प्रेम प्रताप तैं, रहै हृदै भरपूर ।।
रहै हृदै भरपूर, मूल ततग्यान बिचारौ।
ब्यापि रह्यौ सब माहिं, नाम अद्वैत निहारौ ।।
तत्त मित्त पितु मातु, नहीं उनकैं ये बातैं।
भक्ति हेत कछु काल, बसे तुम्हरे गृह तातैं ।।१४।।

को काकौ माता पिता, को काकौ सुत होय।
आतम एक अनेक है, ज्यौं घट घट ससि सोय ।।
ज्यौं घट घट ससि सोय, ब्रह्म पूरन इमि जानौ।
तब तन आतम भाव, नहीं माता भ्रम मानौ ।।
रोइ गाइ कहि लेव, ब्रथा मद मोह न छाकौ।
ग्यान मोद में रहौ, कहौ जग में को काकौ ।।१५।।

इहि बिधि परम प्रवीन अलि, हरौ महरि कौ भर्म।
पुत्र जानि ममता करी, दरसायौ मति पर्म ।।
दरसायौ मति पर्म, रात बीती इन बातनि।
उठीं सकल ब्रज नारि, प्रेम बूड़ी रस गातनि ।।
पुलक नैन करि सुरति, करी लीला हरि जिहि बिधि।
दधि भांवैं गावैंति, सुनत उमगे अलि इहि बिधि ।।१६।।

पुनि अलि चलि जमुनहिं गये, गोपी निकसीं बार।
मनि मानिक बानिक सुरथ, देखि नन्द के द्वार ।।

देखि नन्द के द्वार, भईं सब जुरिकैं ठाढ़ी ।
लागीं करन बिचार, प्रेम करुनारस बाढ़ी ।।
फिर आयौ अक्रूर, गयौ हति कै हम कों सुनि ।
महा मुगदरिय सखी, कहा करिहै अब कैं पुनि ।।१७।।

ऐसी बातें सब कहैं, नैनन नीर बहाय ।
जमुना तैं आवत सुभग, देखे ऊधवराय ।।
देखे ऊधवराय, कहैं नागरि यह को है ।
हरि कैसी उनहार, मधुर मूरति मन मोहै ।।
चलत हते अलि कान्ह, डगैं धारै धर तैसी ।
है उनहीं कौ सखा, और का में गति ऐसी ।।१८।।

तौलौं ऊधौ आइगे, सब कौं कियौ प्रनाम ।
ग्यानदृष्टि हरि भावतिन, जानौ तिनकौ नाम ।।
जानौ तिनकौ नाम, रिचा बेदन की चातुर ।
महरि महल एकंत, सु लै बैठीं त्रिय आतुर ।।
मधिकुर जोग संदेस, कहन लागे मुख जौलौं ।
उर अंतर गति जान, बाम बोली उठि तौलौं ।।१९।।

गोपी वचन

ऊधौ हम जानत तुम्हैं, हौ हरि केर खवास ।
बोध करन के कारनै, पठये हैं हम पास ।।
पठये हैं हम पास, सु तौ तुम आप बिचारौ ।
नीर बिना नहिं जियै, मीन पय सागर डारौ ।।
जो मन बँध्यौ सनेह, तिन्हैं करिहै को सूधौ ।
उठौ अगिनि कौ अंग, अग्नि सियरौ है ऊधौ ।।२०।।

ऊधौ जे नर नारि नित, पगे प्रेम अनुराग ।
तिन कौं बोधन बचन तें, हिलन मिलन बड़ भाग ।।
हिलन मिलन बड़ भाग, बुद्धि तब लगत ठिकाने ।
और तत्व गुन ग्यान, सहित प्रीतम सुख साने ।।

कह जानौ तुम भेद, कहा कहिये अलि सूधौ।
प्यासे सौं कहि बेद, होत संतोष न ऊधौ ॥२१॥

ऊधौ हम श्रीकृष्न कौं, अरपे तन मन प्रान।
वे मृग मीतहि बधिक ज्यौं, कपटो कढ़े निदान ॥
कपटी कढ़े निदान, चलत कछु बात न सूझिय।
हम अंधी भइं रोइ, चलत मग बात न बूझिय ॥
'अछिर' न अच्छौ लहत, घाव पूरन मधु मद्धव।
करि हमरी यह दसा, गये माधव सुनि उद्धव ॥२२॥

ऊधौ हम मनभावते, चलत न देखे नैन।
भवनहिं बैठे गवन के, सुनै ढोलिया बैन ॥
सुनै ढोलिया बैन, रहीं हम रोवत सबरी।
गति उठि भोर किसोर, नहीं पाई हम खबरी ॥
सुनि रोहिनि कौ रुदन, भौन धाईं तिर सूधव।
सुनत टूट गई आस, पास गिर गिर गईं ऊधव ॥२३॥

ऊधौ हरि रथ पर चढ़े, हम रोईं बिलखाइ।
घोरनि के आगे गिरीं, मारग में मुरझाइ ॥
मारग में मुरझाइ, नैक उन पीर न जानी।
रथ कनाइ दै हांकि, गये अति गरब गुमानी ॥
फिर चितये न कठोर, और कहिये कह सूधौ।
कोटि बधिक ते अधिक, कृष्न कपटी सुन ऊधौ ॥२४॥

ऊधौ हरि ऐसी करी, जैसी करत न कोइ।
नाना लाड़ लड़ाइ कैं, छांड़ि गये अरि होइ ॥
छांड़ि गये अरि होइ, हुकुम दीन्हौ अक्रूरहि।
मोहिं न पावहिं बाम, हांकि रथ ऐस जरूरहि ॥
यों मुरदा करि छाँड़ि, मनौ अति बैर बिरूधौ।
देखौ हित के लछिन, कहा कहिये हम ऊधौ ॥२५॥

ऊधौ श्री हरि राम की, खबरि कहौ अब आप।
वे ज्यौं हैं त्यौं आप कौं, हमरैं उनकौ जाप ॥

हमरैं उनकौ जाप, प्रीति ज्यों चन्द्र चकोरहिं।
जल झष दीप पतंग, अंग एकै हित जोरहिं॥
जो जानैं सो करैं, नहीं हमरैं कछु कूधौ।
अपनी निबहै ओर, जोर हित कै सुन ऊधौ॥२६॥

ऊधौ जू हम जानहीं, निह्चै कै यह रीति।
ज्यौं अतिहीं तरुनी करै, त्यौं न पुरुष कैं प्रीति॥
त्यौं न पुरुष कैं प्रीति, लगन स्वारथ लौं राखै।
ज्यौं अलि आप सनेह, कपट करिकै रस चाखै॥
पुनि वहि पुहुपहि छांड़ि, फेरि मन करहि न सूधौ।
राम कृष्न कौ हेत, इतौ देखौ हम ऊधौ॥२७॥

ऊधौ लंपट पुरुष कैं, नहिं काहू सौं प्रीति।
जहं पायौ खायौ तहां, ज्यौं भिच्छुक की रीति॥
ज्यौं भिच्छुक की रीति, प्रीति कहि जे बहु जांचे।
त्यौं हरि बहु इत करी, वहाँ बहुतनि रंग रांचे॥
तिनहिं न कोउ प्रमान, नहीं जिनकौ मन सूधौ।
प्रीति निबाहन और, धन्य सुपरस सुनि ऊधौ॥२८॥

ऊधौ तुम सांची कहौ, मनमोहन की रीति।
कबहूं इत फिरि आइहैं, जानि हमारी प्रीति॥
जानि हमारी प्रीति, बिथा मेटहिंगे तन की।
हम तलफत उन हेत, रहत कैसहुँ ना हुलसी॥
यहि बिचार तजि कपट, कहौ करि कै मन सूधौ।
करुनासिन्धु कहाय, करत करुना कत ऊधौ॥२९॥

ऐसे कपटी की भटू, कबहुँ न कहिये बात।
का कहिये यहि प्रेम बस, निमुख निमुख रहि जात॥
निमुख निमुख रहि जात, गाढ़ि रसनै गुन रटकी।
छोर न छूटत कुटिल, तरक बहु बारन झटकी॥
जीभ न बैरिन भई, अली करिये मति कैसे।
तजत न हठ हरि नाम, जदपि देखत दुख ऐसे॥३०॥

आसा ही आसा सखी, मन नहिं तजत सनेह।
दुबिधा में लुबिधा बंधौ, उत हरि इत प्रिय देह॥
उत हरि इत प्रिय देह, नहीं दो में कछु छूटत।
महा बिरह संताप, पाय हिरदौ नहिं फूटत॥
करि आवन की आस, दुःख पिव पीय प्रवासा।
तातैं भले निरास, जिन्हैं नहिं दुख करि आसा॥३१॥

जानत हैं हमहूँ सखी, सबतें सुखी निरास।
जैसे गनिका पिंगला, तजै पुरुष कौ पास॥
तजै पुरुष कौ पास, तरक ऐसे करि आना।
तजै बिरह संताप, पाइ निज पद निर्वाना॥
यहि निहिचै मन जान, तऊ मनसा नहिं मानत।
करिकरि हरिगुन सुरति, नहीं जानै पर जानत॥३२॥

उनके गुन साँचे सखी, महामोह के जार।
जिनहिं नैक स्त्रवनन सुनत, पुरुष तजत घर द्वार॥
पुरुष तजत घर द्वार, फिरत बन बन गुन गावत।
श्री सौनक सनकादि, दत्त नारद मुनि भावत॥
बालक ध्रुव प्रहलाद, कढ़े बाँधे गुन गुन के।
हमरे हित की कहा, सबै सांचे हित उनके॥३३॥

सजनी उनके गुन सुनत, को न होइ बस आइ।
सुरपुर तें देवांगना, उतरी तीं अकुलाइ॥
उतरी तीं अकुलाइ, सुनत रस मोह महा री।
सिव ह्वै आये बाम, बाम की बात कहा री॥
क्यों न परै मन मोह, सुनत षट मासनि रजनी।
सुनि मुरली धुनि कान्ह, क्यों न बस होवहिं सजनी॥३४॥

दूजा को सखि संभु तैं, पूरन पुरुष अलेख।
ते आये हरि रहस में, धरि भामिनि कौ भेष॥
धरि भामिनि कौ भेष, नाथ कौतुक सब दरसे।
जानि सकुचि हरिराय, पांय हर के तब परसे॥

धरि गोपेस्वर नाम, करी तिन बिधि सौं पूजा।
भये प्रेम बस संभु, सखी कहिये को दूजा ॥३५॥

धोखे ही धोखे सखी, बस्य भई हम आइ।
ज्यौं हरिनिनि के मन हरै, बधिक बिसारी गाइ ॥
बधिक बिसारी गाइ, कपट करिकैं मन करषै।
बस कै मारन मृगद, महा नि˘य हिय हरषै ॥
त्यौं हमकौं हरि मोह, मारि मग धौं कहि बोषै।
कहिये कहा 'अनन्य', भई कपटी बस धोखै ॥३६॥

बधिकौ तौ सुरजन सखी, दुरजन महा मुरार।
वहि मारत जिय ना रहै, यहि अधमर करि डार ॥
यहि अधमर करि डार, मार सर बहुरि न काढ़ै।
उसुसत ससित सरीर, प्रेमपूरन दुख बाढ़ै ॥
यहि दुख 'अछिर अनिन्न', कोटि मरिबे तैं अधिकौ।
कृष्न कठोरहिं सखी, पाइ सकिहै नहिं बधिकौ ॥३७॥

आली कृष्नहिं दोष नहिं, हम कीनी अनरीति।
अपनौ पतिब्रत धर्म तजि, करी कृष्न सौं प्रीति ॥
करी कृष्न सौं प्रीति, सुनौं ताकौ फल पायौ।
सपनै सौ सुख भयौ, जनम भरि कौं दुख छायौ ॥
इहि अपने सिर दोष, करैं गत कर्म बिसाली।
हमकौं कृत्या रूप, भई मुरली वह आली ॥३८॥

मुरली वह पापिनि सखी, कौन जनम की सौत।
वहि हमकौं ऐसी करी, जैसें कबहुं न होत ॥
जैसें कबहुँ न होत, सौत लागी क्रप प्रानन।
आपुन कठिनहि काम, करी हम कामक बानन ॥
अबहूं लौं कहि 'अछिर', सुप्रभेदत सुर उरली।
कत बिंधती हम पीर, जु पै होती नहिं मुरली ॥३९॥

श्री माधौ की मूरली, कब सुनिहैं हम कान।
जा सुनि कैं रस बस भई, मन तैं टरत न तान ॥

मन तें टरत न तान, भयौ अधफर कौ जियरा।
ना यहि कढ़ै न रहै, होत ब्याकुल अति हियरा॥
'अछिर' अच्छ तलफंत, दु:ख देखत चित चुरली।
अटक रही मन माहिं, स्याम मूरति अरु मुरली॥४०॥

मधिकुर श्री ब्रजराजजू, या ब्रजबास निवास।
नाना बिधि लीला करी, हम सौं रहस बिलास॥
हम सौं रहस बिलास, आस कीनी पूरन मन।
कोटि बिष्नुपद तुल्य, कृष्न कीनौ बृन्दाबन॥
ऐसे सु:ख दिखाइ फेर, सुधि लीन न अधिकुर।
हम अति अधम अभाग, अजहुं जीवत हैं मधिकुर॥४१॥

मधिकुर इक दिन स्याम सो, सब सखियनि कौं छाँड़।
मोहिं बांह गहि लै चले, गहवर बन हित माँड़॥
गहवर बन हित मांड़, तहाँ कंकर दरसे मग।
लीनी अंक उठाइ, पौंछि पीताम्बर सौं पग॥
नाना बिधि सुख दिये, प्रेम पूरन दुख बधिकुर।
यौं हित कर हत गये, हमहिं माधव हो मधिकुर॥४२॥

मधिकुर जू इक दिन हमैं, लै चलिये उहि लोक।
जहाँ बसत गोपालजू, जादव करैं असोक॥
जादव करैं असोक, भई अबिचल रजधानी।
सेवत सुर मुनि नृपति, निकट श्री रुकमिनि रानी॥
देखैं वहि सुख नैन, होइ हमरैं उर सधिकुर।
प्राननाथ ब्रजनाथ कबहुं, मिलिहैं फिर मधिकुर॥४३॥

अब तौ हरि राजा भये, राज सिरनि सिरमौर।
रुकमिनि सी रानी बरी, गुनगरुई सब ठौर॥
गुनगरुई सब ठौर, सदा तिन संग बिहारैं।
हम गंवार लघु जाति, कतहुं तन ओर निहारैं॥
जबहिं हते इत ग्वाल, हमहिं प्यारी ती तब तौ।
देख मलीन घिनाइँ, मिलैं हरि कैसे अब तौ॥४४॥

जो पै अब सब कछु भयौ, तौ न टरै वह बान ।
असुरनि डर गोपालजू, जिये हमारी आन ॥
जिये हमारी आन, जगत जानत ये बातैं ।
कोकिल कैसे बाल, मिले अपने पितु मातैं ॥
तजी जान पहिचान, मधुप कहि आवत तो पै ।
धृक ऐसौ सुख तासु, हितू देखै दुख जो पै ॥४५॥

ऐसी मति हमरी भई, प्राननाथ के ईठ ।
जातैं प्रीति बिचारि चित, अब तुम होहु बसीठ ॥
अब तुम होहु बसीठ, जात आवत पुर रहऊ ।
उत की सुधि दै हमैं, उहाँ हमरी जा कहऊ ॥
दिये रहौ आधार, कही हित की गति जैसी ।
हमरी प्रीति बिचारि, आपु आनौ उर ऐसी ॥४६॥

इहि बिधि कहि बातैं त्रिया, ब्याकुल भईं सरीर ।
रोइ रोइ गिर गिर परीं, निचुरि चले सब चीर ॥
निचुरि चले सब चीर, महा आतुर अति रोईं ।
कान्ह कान्ह करि रटैं, प्रेम करुनारस भोईं ॥
'अछिर' न कछु कहि जाइ, भई तिनकी गति जिहि बिधि ।
करन लगे उठि बोध, मधुप देखत गति इहि बिधि ॥४७॥

उद्धव वचन

पूरन भक्ति निहार हिय, सुनहु सकल ब्रजनारि ।
जिन तन मन बच कर्म करि, सुमिरे कृष्न मुरारि ॥
सुमिरे कृष्न मुरारि, पुरुष पूरन परमातम ।
वे तुमतैं नहिं दूर, जान उनहीं कौं आतम ॥
धरि उर ब्रह्मग्यान, तजौ यह बिरह बिसूरन ।
देखौ चित्त बिचारि, ब्रह्म सब में परिपूरन ॥४८॥

ध्यावहु निज परमातमा, जो ध्यावत जोगीस ।
हम में तुम में स्याम में, सब में पूरन ईस ॥

सब में पूरन ईस, बिरह जासौं छिन नाहीं ।
रहै सदा संजुक्त, सबै उर अन्तर माहीं ।।
तजि नर नारी भाव, बिषय मन माहिं न ल्यावहु ।
सदा सकल सुखदान, जान ईस्वर निज ध्यावहु ।।४९।।

अनन्य वचन

तिनके बोधन कौं मधुप, बचन कहेई यत्र ।
तौलौं इक भौंरा भ्रमत, आइ गयौ उहिं तत्र ।।
आइ गयौ उहिं तत्र, पाइ गोपिनि संग बासहि ।
सनमुख आवत लख्यौ, चतुर बनितनि तब ना सहि ।।
काकु बचन कहि उठीं, महा करुना मन जिनके ।
हरि ऊधव पर ढारि, लगीं बरनन गुन तिनके ।।५०।।

गोपी वचन

रे भौंरा रस बावरे, मनभावन के दूत ।
हमरे सनमुख बिमुख अब, तू नहिं आवहु धूत ।।
तू नहिं आवहु धूत, तोहि देखत रिसि बाढ़ी ।
जदुकुल तिय कुच चूमि, भई कुमकुम तुव दाढ़ी ।।
तोहि छुवत कहि 'अछिर', लगत हमरे हिय दवरा ।
उनकौ जोग संदेस, सौंप उनहीं कहं भँवरा ।।५१।।

गावत का हतभाव तू, जाइ द्वारका गाव ।
उनकी त्रिय अति चतुर हैं, जानत गुन कौ भाव ।।
जानत गुन कौ भाव, जिनै मनमोहन मोहै ।
हमरी सुरति बिसारि, सुरति उनकी रस पोहै ।।
बाढ़ी बिरह बिहाल, ब्रथा कत हमहिं सतावत ।
रहु उनके गुन गाय, सदा उनहीं ढिग गावत ।।५२।।

भौंरा तैं जानै कहा, निज कर कैं रसरीति ।
भ्रमत फिरत बहु कलिनि में, नहीं एक सौं प्रीति ।।
नहीं एक सौं प्रीति, रीति तू सो कह जानै ।
ससि चकोर कौ भाव, कहा कौवा पहिचानै ।।

जहं न एक सौं नेह, तहां कैसौ रस बौरा ।
जस बहु नाइक कान्ह, मुगद तैसौ तू भौंरा ॥५३॥

कपटी क्रूर कठोर अति, तू रहु हम तैं दूर ।
तू स्वारथ कौ मीत है, रहु पाखंडनि पूर ॥
रहु पाखंडनि पूर, मिलत हित सौं नित फूलनि ।
लै रस कस उड़ि जात, बहुरि मारत सठ सूलनि ॥
तातैं कारौ भयौ, कलंकनि सौं मति लपटी ।
ज्यौं हमकों कहि 'अछिर', छोड़ु दैगौ हरि कपटी ॥५४॥

कारे क्रूर कुमारगी, छू न हमार सरीर ।
तू तन मन पापी महा, जानत नहिं पर पीर ॥
जानत नहिं पर पीर, काटि उर कंजनि पीवत ।
पुनि औरनि पर जात, ताहि फिर नैंक न छीवत ॥
आपुन हितहि बिगोइ, देत दूषन मतवारे ।
ज्यौं हम तजि भजि गये, मित्र कण्टो हरि कारे ॥५५॥

कारे तौ ऐसे सखी, आये सब घर घालि ।
बानर मारन नहिं कह्यौ, मार्‌यौ रघुबर बालि ॥
मार्‌यौ रघुबर बालि, सत्य स्वारथ लौं डाटी ।
आई करन बिहार, नाक ता त्रिय की काटी ॥
त्यौं निरदयी गुपाल, करे मन बिघ्न हमारे ।
कहं लौं कहिये सखी, होत ऐसे सब कारे ॥५६॥

कारे दोषी होत सखि, महा पाप अवतंस ।
छल बावन बलिराज कौ, कियौ जु जग्य बिधंस ॥
कियौ जु जग्य बिधंस, बिष्नु ब्रह्मा छल भारी ।
राज पाट सब मेंटि, बिकल करिकैं फिर जारी ॥
त्यों छलिया गोपाल, पतिब्रत मेंटि हमारे ।
आखिर तजि भज गये, सखी दोषी ये कारे ॥५७॥

अनन्य वचन

सोरठा

यहि बिधि काकु बिसुद्धि, कहत अली सौं अलिन मिस ।
चकित चित्त हुव उद्ध, जैसैं फैली रजनि तम ।।५८।।

दोहा

ऊधव अति चितचकित ह्वै, तकित प्रेम अनुराग ।
थकित बुद्धि सब सक्ति है, कहत बैन बड़ भाग ।।५९।।

उद्धव वचन

मुरिल्ल छन्द

जग मोहन श्रीकृष्न तुम्हारे कंत जू ।
तिन कौ हौं लघु दास सनेही संत जू ।।
पठयौ है तुम पास संदेस कहाइकै ।
सो सँदेस हौं कहत सुनौ चित लाइकै ।।६०।।

श्रीकृष्ण संदेश

दोहा

हमहिं तुमहिं कछु भेद नहिं, देखौ ग्यान बिचार ।
हम तुम में ऐसे रमे, ज्यौं सब माहिं बिहार ।।६१।।
तुम सब हौ मेरी कला, देखौ आपहिं आप ।
आतमग्यान बिचारि कै, तजौ बिरह संताप ।।६२।।
बिरह बिषय मेरे बिषय, तुम जनि जानहु बाम ।
देखौ जोग समाधि धरि, हौं नित रमता राम ।।६३।।
जो तुम मोंहि चाहत सदा, भावत नैक न दूर ।
तौ देखौ हिय कमल में, जोग ध्यान भरपूर ।।६४।।

अनन्य वचन

अभीर छन्द

सुनि त्रिय जोग सँदेस, मिस रिस परम कलेस ।
परबस चलत न काब, दिय गदगद भर ज्वाब ।।६५।।

गोपी वचन

कवित्त

ऐसौ तौ संदेस ऊधौ केसौ जू भले ही कह्यौ,
　　दूर बसे ताही तें त्रिमोही मन लाधे हैं।
व्यापक ते होंहि ताके कहे कौ निहोरौ कहा,
　　स्वर्ग अरु नर्क वे तो सब ही में साधे हैं।
कीजे कहा कर्म कौं कढ़त नाहीं पापी प्रान,
　　तलफत हैं पंछी जैसे पिंजर में नांधे हैं।
'अछिर' हमारे अच्छ स्वच्छ सब ही के इच्छ,
　　तन मन प्रेम के सुडोरनि द्रिढ़ बांधे हैं ॥६६॥

ऐसौ तौ बिचार ऊधौ हमहीं बिचारि रहीं,
　　हरि के बिहार नाहीं मन तैं टरत हैं।
बृन्दाबन बास कीनौ नाना रस रास मन,
　　तिनहीं बिलासनि की लालसा करत हैं।
'अक्षर अनन्य' हमें अन्य न सुहाय नैक,
　　हृदै टेक लागी अनुराग ही भरत हैं।
प्रानन तें प्यारे गुन रूप उजियारे कान्ह,
　　नैनन के तारे रूप रस कौं भरत हैं ॥६७॥

बृन्दाबन बास षट मासनि की निसि कै कै,
　　बिबिध बिलास रास रस सुख छाये हैं।
हाहा कहि पांयनि परि पुनि पुनि भेंटी हमैं,
　　ऐसे बिषयातुर चतुर चित्त छाये हैं।
'अक्षर अनन्य' हमें महा रिस मिस यहै,
　　मिस देखौ ग्यान स्वान कौने धौं सिखाये हैं।
आप महाभोगी उत भोगिबे अनेक नारि,
　　नारिनि कौं जोग के संदेस दै पठाये हैं ॥६८॥

आवती नगर कोऊ नागरी नवीनी गौने,
　　ताके पीछैं फिरत ते बिरह रस रये री।

तब सब औरनि की सुरति बिसारत ते,
ताही की सुरति में मगन मन भये री।
'अक्षर अनन्य' अब पाई राजकन्या हरि,
धन्य कै जनम मानौ कामसुख छये री।
हमकौं पठायौ जोग भोग करैं औरनि सों,
नवलबिहारी के नवल नेह नये री ॥६६॥

भली भई ऊधौ उनि मथुरा में कंस हन्यौ,
भली भई तात मात मिलौ सब गोत है।
भली भई द्वारका के देस के नरेस भये,
भली भई जस कौ दिसान में उदोत है।
भली भई जोपैं श्री रुकमिनि सी रानी बरी,
हमरैं तौ उनके सनेहई को सोत है।
कहा कीजे 'अक्षर' जो आंखिन न देखिये तौ,
आपने के कानन सुनैंई सुख होत है ॥७०॥

उद्धव वचन

उनके न तात मात प्रीतम न जात कोऊ,
पुरुष अजात सब ही कौ सुख मूर है।
आप निहकाम कामपूरन तिहारे करैं,
भक्तनि की कामना तें आये इहाँ भूर है।
काहे पर ऐसे तुम बिरह बिलाप करौ,
ईसुर तौ सब ही में रहै भरपूर है।
जोग की समाधि साधि आपु में बिचारि देखौ,
आतम तुम्हारे कहा तमही तें दूर है ॥७१॥

गोपी वचन

आतम हमारे ऊधौ हम में हिराय गये,
सागर में बूँद फेर कैसें पाइयतु है।
सहज समाधि हम रांची स्यामसुन्दर सों,
रोम रोम रमत रमन ध्याइयत है।

'अक्षर' सो आँखिनि में स्वच्छ छबि छाय रही,
सूझत न आन कान्ह रूप भाइयतु है।
ऐसौ निज जोग है बिहंगम हमारौ ग्यान,
आपुन पिपील ग्यान क्यों दिढ़ाइयतु है ॥७२॥

यह तौ करमजोग आप ही करत रहौ,
करम ठगौरी सो ठगन चले दुनिये।
चलिहै न इहां हम ब्रज की चतुर बाल,
चाप मुख सुवा कहा कांकर कौं चुनिये।
'अक्षर' सो अच्छिनि सौं देखत प्रतच्छ जोति,
स्वच्छ छिति छांड़ि कहा धूमनि को धुनिये।
सब रस सागर हैं नागर गुपाल ऐसे,
नागर बिसार कैसें निर्गुन को गुनिये ॥७३॥

ऊधौ जू तुम्हारे यहि निर्गुन में सार कहा,
पानी के मथे तें कहूं माखन कढ़त है।
देखौ धौं बिचार बिना भीति कहां चित्र होत,
जीभ बिना जोव कोऊ बेद ना पढ़त है।
'अक्षर' अनेक भाँति कहिये कहां लौं और,
बार बार कहे बकबादऊ बढ़त है।
बिन ही अकार निराकार कौ प्रकार वहै,
गगन तरोवर पै धाइ को चढ़त है ॥७४॥

जो पै तुम ऊधौ कदाचित पुनि ऐसी कहौ,
ग्यान जोग ध्यान बिना मुक्ति नहिं होत है।
ताकौ तुम ज्वाब सुनौ हमरौ बिचार यहै,
भक्ति रस मुक्ति हम छाँड़ी जिमि छोत है।
'अक्षर अनन्य' कोटि मुक्ति वारौं प्रीतम पै,
जिनकी मुरति कोटि जोतिनि की जोत है।
निर्गुन ही सर्गुन कौ रूप और कौन गनै,
मोहन के आगै जैसे मोतिन में पोत है ॥७५॥

जो पै कहौ सर्गुन तौ सर्गुन प्रतच्छ ही है,
जिनके गुननि कौ न वार पार पेखिये ।
जौ पै कहौ निर्गुन तौ निर्गुन निलेप सदा,
गुननि की कहौ तौ गुन उनमें न देखिये ।
निर्गुन ही सर्गुन तैं न न्यारौ है 'अनन्य' भनै,
परम पुरुष बेद भेदनि में लेखिये ।
ऐसे प्यारे प्रभु तैं हमारौ प्रेम जोग ऊधौ,
आन जोग बीस बिषै बिष सौ बिसेखिये ।।७६।।

उद्धव वचन

पूरन पुरुष परमेस्वर तौ हैं ही हरि,
निर्मल निरंजन निगम गुन गानिये ।
तिन सौं बिषय रस रीति प्रीति मानी तुम,
वह अनरीति न हमारे मन मानिये ।
तातैं यह बिषयनि की बासना बिसारौ तुम,
बिषय है बिषम ग्यानसुधा सुख सानिये ।
बेद हू पुरान भेद चरचा बिचारि देखौ,
बिषय भुअंग तौलौं मुकति न जानिये ।।७७।।

त्यागौ हठ नैम कर्म धर्म राग प्रेमपास,
ग्यान कौ बिचारौ मंत्र बेद की उकति कौ ।
इन्द्री रस जीतौ सब बासना अतीतौ सुधि,
चेतना की बीतौ ध्यान जोग की जुगति कौ ।
बिरह बिनासै ब्रह्म आनँद प्रकासै सदा,
'अक्षर अनन्य' सिद्धि साधन सुगति कौ ।
बिरह बिकार कौं निकारौ उर अन्तर तैं,
छांड़ि कैं कुमति गहौ मारग मुकति कौ ।।७८।।

गोपी वचन

करनी तौ कीजे ऊधौ जीव ही के सुख काजें,
मुकति कहां है जहां जीव ही कौ नास है ।

मुकति की दसा हरि दासनि मुकति देत,
आपुन करत केलि कमला निवास है।
तिनके बिहार कैसें कहिये बिकार ऊधौ,
सर्व सुख सार प्रेम प्रीति रस रास है।
मुकति की गति जैसें बेसुध मृतक दसा,
जीवन मुकति सांचौ भगति बिलास है ॥७९॥

ऊधौ जू हमारौ तुम सूधौ सौ बिचार सुनौ,
सार ही कौ सार चार उदित अनूप है।
जोग ही कौ जोग निज ग्यान ही कौ ग्यान चन्द,
सत् चित् आनन्द स्याम सुन्दर सरूप है।
'अक्षर अनन्य' इष्ट निहिचै हमारे हिय,
बिना बासुदेव ग्यान दूजौ भ्रम कूप है।
जो पै कहौ निर्गुन तौ तुम ही बताओ हमें,
सेइबे कौं तत्वरूप सूरज कै धूप है ॥८०॥

बिषयी कहावैं ठौर ठौर मन ल्यावैं ऊधौ,
एकै मन ल्यावैं सो तौ सुधा गुन गीति है।
बिषय ही के हेत मिले हरि जू अभेद हमें,
तरसैं मुनीस बिषय देही मन जीति है।
'अक्षर अनन्य' हम यहै प्रेम जोग मानैं,
रति ही के भाये तैं रहत अति प्रीति है।
सब कौं बिसार हिये हरि के विहार बसैं,
सारन कौ सार तौ हमारैं रसरीति है ॥८१॥

सुन्दर सलौनी नौनी मूरत मनोहर की,
बसै हिय मांझ ताके जिये हम जीजिये।
तिनकौं बिसार कैसे रोपिये असार पौन,
सार कौन निर्गुन में ताहि मन दीजिये।
जो पै कहौ बड़ौ है तौ बड़े कहा सार भयौ,
सार नैनू छांड़ि कैं बहुत छाछ पीजिये।

'अक्षर' अनूप रूप भू पर उज्यारे कान्ह,
प्रानन तें प्यारे तिन्हें न्यारे किमि कीजिये ॥८२॥

उद्धव वचन

छाँड़ौ हठरीति मूल दुख कौ बिरह प्रीति,
इन्द्रीरस जीति ध्यान अन्तर में पेखिये ।
चेतन सरूप सर्व ब्यापक बिचारि देखौ,
नारि ही पुरुष माहिं यहै सो बिसेखिये ।
जासों ना बियोग सदा रहत सँजोग भोग,
'अक्षर अनन्य' जोग जुगति में लेखिये ।
काहे बर धरती बिसूरती हौ दूर नाहीं,
पूरन अखंड ब्रह्म सब ही में देखिये ॥८३॥

गोपी वचन

कहा जानैं ऊधौ हम जोग के प्रयोगनि में,
गूजर गंवार पसु लोगन की भामिनी ।
हमरी तौ लगन लगी है मनमोहन सौं,
जैसें रबि जानै ना कमल फूलै जामिनी ।
तुम तौ कहत बिषय छांड़ौ किमि छांड़ें हम,
याही तें कहाई हरिप्रिया जग नामिनी ।
तुम्हरी हमौं कान्ह तुम्हें येतिक न ग्यान ऊधौ,
सुनौ लोक बेद हू हमारौ नाम कामिनी ॥८४॥

ब्रह्म है तौ माया है पुरुष है तौ प्रकृति हू है,
सिव है तौ सक्ति है निसुन्य है तौ बानी है ।
बिष्नु है तौ रमा है बिरंचि है तौ सारदा है,
ईस है तौ पारवती प्रगट बखानी है ।
निर्गुन ही सर्गुन में जोरि प्रेम मान ऊधौ,
ऐकै खंडि एकै कहै तेई सठ प्रानी है ।
'अक्षर अनन्य' जग जुगल प्रतच्छ देखौ,
दुहूँ की नसल दुहूं रूपनि तें जानी है ॥८५॥

हमरैं तौ इष्ट ऊधौ मूरति बिहारीलाल,
सत् चित् आनन्द रूप क्रूप दुखदारका।
नव रसवंत जसवंत भगवंत नाम,
अर्थ धर्म काम मोच्छदाता भवतारका।
ऐसे प्रभु छांड़ि तुम निर्गुन बतावत हौ,
'अक्षर अनन्य' ताकौ करिये बिचार का।
रूप नहीं रेख नहीं भेष गुन नाम नहीं,
नाहीं तौ कहत तेइ नाहिं में है सार का ॥८६॥

रूप गुन नाव नाहीं इन्द्री मन भाव नाहीं,
बुद्धि कोउ पाव नाहीं कैसे कहि पायौ है।
जोति अरु सुन्न नाहीं जड़ औ चेतन्न नाहीं,
नाम निरगुन कैसे गुनिबे में आयौ है।
यह तौ भरम ऊधौ मिथ्या ही कटत सूधौ,
'अक्षर अनन्य' जग येहू भरमायौ है।
छांड़ि हरि प्यारे पीव जीव कौं संदेह पारे,
हाहू कैसौ नाम काहू ब्रह्म ठहरायौ है ॥८७॥

रीझै नहीं खीझै नहीं बूझै सुख दुख नहीं,
सूझै नहीं रूप रेख सो मत बिसाली सों।
जोति है कै सुन्न है कै चेतन अचेतन है,
येतौऊ न जानी जात बेदनि खुसाली सों।
तातै अड़ करि काहू औरनि के खण्डिबे कौ,
ब्रह्म ठहराइ लियौ बुद्धि लहि ठाली सों।
'अक्षर अनन्य' जैसे पाँच तत्व मान लिये,
चार तत्व चौकस अकास कहैं खाली सों ॥८८॥

जौ पै कहौ ऊधौ तुम निर्गुन कौं निन्दत हौ,
निन्दत न यहै तौ उपासना की रीति है।
चन्द्र अरु सूर दोऊ नैंन बिस्वरूप ही के,
तदपि चकोर चित्त चन्द्र ही सों प्रीति है।

सर्गुन निगुन बासुदेवजू के रूप दोऊ,
हमरैं सगुन रूप ही की जु प्रतीति है।
जीवत मरत जैसें तैसें सुख दुख सहैं,
हमरौ जनम नैम ऐही बिधि बीति है ।।८६।।

काहे पर ऊधौ जू बृथा ही बकबाद करौ,
ऐसौ कहा देखौ तुम्ह निर्गुन के रंग तैं।
खोजत हौ जोग जगदीस के समीप बसि,
खोदत हौ कूप कूल पावन सु गंग तैं।
कैधौं कहि 'अक्षर' बिचार चले हमही कौं,
काहे कौं बकावत उठाइ आग अंग तैं।
बिरह की पीर तुम्हैं ब्यापी ना 'अनन्य' भनैं,
बिछुरे न बीर जदुबीर जू के संग तैं ।।६०।।

वे तौ जदुबीर जानैं आपनी ही पीर ऊधौ,
हते वे अहीर तबै सबै हम बाम हीं।
हमैं तजि भाजे जाइ मथुरा बिराजे तहाँ,
कुब्जा सों साजे सुख रांचे रस काम हीं।
'अक्षर अनन्य' पुनि द्वारका निवास करौ,
सोरह सहस नारि करी तेहि धाम हीं।
चाहैं आप सुख कहा जानैं ते बिरानौ दुख,
प्रेम कौ प्रमान एक जानौ राघौराम हीं ।।६१।।

वे तो हैं बिहारी बात हमरी बिसारी वहां,
मिलीं बहु नारी तहां रहे सुख सान है।
तुम ऊधौ ऊपरी से चुपरी सी बातें कहौ,
जानौं कहा काहू कौ सनेह दुख बान है।
घायल के घाव जैसैं कठिन कराहि उठैं,
ऊपरी बँधावै धीर कैसैं कोऊ आन है।
'अक्षर अनन्य' बाहि ग्यान ही कौ काम नाहीं,
ब्यापी प्रान पीर जाहि सोई पीर जान है ।।६२।।

अनन्य वचन

ऐसी सुन ऊधव जू मन में बिचार करैं,
केसौ जू सँदेस कैसै इन कौं पठाये ते।
ये तौ ब्रजबासिनी बिलासिनी निवास ही की,
याही तैं बासुदेव लै लै उर लाये ते।
प्रेम मदमाती ताकौं जोग कै बियोग कहा,
'अक्षर' हौं जानी हरि हमही भ्रमाये ते।
यहै भक्तिजोग कृतजोग जिनै जोगनाथ,
जोबन बिहार जोख जोखत ही आये ते ॥६३॥

उद्धव वचन

बोले तब ऊधौ धन्य धन्य बड़ भागिनी हौ,
तुम्हरे सभाग हू तैं तत्त मत पावहूँ।
दर्स रावरे के पाय परम सनाथ भयौ,
जान गुरु मातु मैं चरन सिर नावहूँ।
मैं तौ पतहा हौं तातैं छांड़िये बचन चूक,
देउ अब आयसु तौ उनपै सिधावहूँ।
उनकौ सँदेस तैसौ बिनयौ तिहारे आगै,
तुम जैसौ कहौ तैसौ उनकौं सुनावहूँ ॥६४॥

गोपी वचन

ऊधौ जू तिहारी सीख सीस हम मान लई,
कीन्ही तुम दरस दै परम सनाथ जू।
दसा है हमारी सो सुनाइयो बिहारी जू कौं,
मनि बिन फनि त्यौं धुनत गोपी माथ जू ॥
घर औ बिपिन में बिहाल भई गाइ गाइ,
जीवती हैं हम यों तुम्हारे गुनगाथ जू।
हमरी कुघातें ऐसौ कहियो सँदेसौ जाइ,
जरे पर लौन कैसौ मींड़त हौ नाथ जू ॥६५॥

कह्यिो सँदेस मेरौ ऊधौ तुम केसव सों,
जैसौ तुम कहौ तैसौ हमैं नहीं भाइबौ ।
रावरे की सूरत बिसारिबौ असार जानि,
सार जानि मनसा निरंजन में लाइबौ ।
'अक्षर अनन्य' ज्यों ही हमकौं सुभग लगौ,
त्यों ही ब्याहुतनि कौं बिराग समुझाइबौ ।
आठहु पहरि परे परे ही बिहार करैं,
जोग तौ है प्रीतम की सदा सुधि आइबौ ।।६६।।

सवैया

जोग कहौ हम जोग करैं संग, भक्ति कहौ हम भक्ति गुनैहैं ।
ग्यान कहौ हम ग्यान गहैं संग, ध्यान कहौ हम ध्यान उनैहैं ।
रीति भली जग में अनरीति ही, तौ हम हूं निज सोस धुनैहैं ।
नाहिं सँजोग सौ जोग कहूं, कहुं नारिन सौं हठजोग सुनैहैं ।।६७।।

दोहा

सुनि सँदेस ऊधौ उठे, सब सौं करी प्रनाम ।
चलि पुनि जसुदा नन्द पै, बचन कहे तिहि जाम ।।६८।।

सोरठा

तुम धरियो मन धीर, करियो नहिं संताप मन ।
कह्यित वे जदुबीर, सो इक दिन इत आइहैं ।।६६।।

श्रीनन्द वचन

मुरिल्ल

बासुदेव बलदेव देव सम सेइये ।
हम सुत कर नहिं मान जान प्रभु धेइये ।।
तिन बिन दीन अधीन न बान परै कही ।
अबकै दरसन देव अर्ज करियो यही ।।१००।।

गीतिका

अर्ज करि मनि रतन रथ भर दिये हरि कौं भेंट ही ।
भेंटि मिलि पुनि चले ऊधव बिथा सब की मेंट ही ।।

हाँकि रथ पथ उदित आतुर आइयौ द्वारावती ।
गत महल महं आसीन जहँ प्रभु सहित श्री रुक्मावती ।।१०१।।
हरषे निरखि परनाम कीन्हों मिले हरि सति प्रीति सौं ।
पूछी कुसल प्रमुदित हृदय जुत त्रष्ट दिय ढिग रीति सौं ।।
दै कर सबनि की भेंट फिर संदेस गोपिन के कहे ।
बरनन लगे पुनि दसा ब्रज की नीर भरि लोचन रहे ।।१०२।।

कवित्त

महा प्रेमसिंधु ब्रज मंडल में दीनबन्धु,
केती मति बेद दीन पावै थाह हरि जू ।
काम से कमठ जामैं बिरह भुवंगम है,
भाव मन भौंर जीव प्रीति सी लहरि जू ।
रावरे ही ग्यान के जहाज साजि गोपी फिरैं,
और कौ 'अछिर' छूटै धीर बूड़े हरि जू ।
तुम्हरे ही लालन की लालसा न पूरै मन,
भये मरे जीवा जीव जसुधा महरि जू ।।१०३।।

छप्पय

तिहि समुद्र में गयौ भयौ नौका कौ कागा ।
मो बिसर्‌यौ सब ग्यान देखि उनकौ अनुरागा ।।
कहि हारौ बहु बोध उनँ नहिं नैक सुहाई ।
इक तुम्हार हठ लगी हुती आसा बिसराई ।।
कहि 'अछिर' बिबिध संकट सहे, तुम बिन मन प्रन ते टरत ।
तुम करुनासिन्धु कहाइकै, नैक न मन करुना करत ।।१०४।।

दोहा

सुनि करुना ब्रजबास की, करुनाकर करि प्रेम ।
बूझ उठे तब मधुप सौं, खबरि राधिका नेम ।।१०५।।

श्रीकृष्ण वचन

कवित्त

वे तौ ब्रजबाला महा प्रेम की हैं साला,
मेरे उर की हैं माला एक एकै अधिकारी है ।

सब ही में राधाजू हैं प्रीति की अगाधा जाइ,
सदा रति साधा रही पलकौ न न्यारी है।
प्रीति हम खांडी भरि जोबन में छांड़ी,
उन माहीं प्रीति माड़ी और सुरति बिसारी है।
ताकी सुधि ज्वारी ऊधौ बन्दी सों नियारी कहौ,
प्रान की पियारी मनभावती हमारी है ॥१०६॥

उद्धव वचन

प्रेम मतवारी वृषभानकी कुमारी उर,
मगन सुमारी मरी जीवत डरावरी।
देखी हम भोरी बैस दिननि की थोरी सुनी,
हती अति गोरी अबै देखी अति सांवरी।
कहै नहीं बूझौ हम सूझौ कैधौं नाहिं वाहि,
'अक्षर अनन्य' ऐसी लखी तैसी थावरी।
हम सों जबानी कोटि गति जो बखानी,
सखी सबई सयानी लखी राधा एक बावरी ॥१०७॥

दोहा

राधा जुत सब त्रियनि की, कहा कहौं वह गाथ।
दुख देखौ तुम्हरो त्रिया, कह लीला तुव नाथ ॥१०८॥

श्रीकृष्ण वचन

छप्पय

लीला बिरह बिहाल करी इच्छा मम ऊधौ।
गोपी गोप गुपाल रूप मम इक बहु सूधौ ॥
हौं नारायन ब्रह्म बेद मम स्वास प्रसंसत।
तासु रिचा ब्रज नारि लहरि जैसे हिय अंसत ॥
जब जब हौं अवतार धरौं तब तब प्रगटे वे निज भगत।
कहि 'अक्षर' तिनहिं सँताप कहि तिनहिं गाइ तरिहै जगत ॥१०९॥

दोहा

यों कहि ऊधव कौ भरम, दूर कीन्ह हरिराइ।
ग्यान भक्ति कौ गर्ब गढ़, ढाहौ ब्रजहिं पठाइ ॥११०॥

दोधक

ऊधव पुनि परि पांय सिधाये; रेवति राम के धामहिं आये ।
भेंटि बिठाइ धनी श्रीछेम; बूझ उठे ब्रज की सुधि प्रेम ।।१११।।
प्रेम कथा जब ऊधव भाषी; जो हरि सौं सो सब अभिलाषी ।
सो सुनि राम महा दुख पाये; लोचन नीर भरे ढरि आये ।।११२।।

दोहा

तब ऊधव बिनती करी, कृपासिन्धु बलराम ।
बारक दरसन दै धनी, सारौ ब्रज के काम ।।११३।।

हंस

तब इक दिन बलराम गंभीर, जानी ब्रजबासिन की पीर ।
तब कछुवक लै सेना संग, चले मान अति प्रीति अभंग ।।११४।।
नंदगांव के गेंवड़े आये, सुन गोपिन आगेहि बुलाये ।
भेंटे नंद परम सुख भयौ, दारुन दाहु हृदै कौ गयौ ।।११५।।
ललित महल में डेरा दिये, कटक मुकाम तहां लै किये ।
राम कुंवर पुनि भीतर गैन, मातु जसोदा कौं सुख दैन ।।११६।।

दोहा

मिली जसोमति रोइ कैं, मानि महा मनमोद ।
लै बलाइ मुख चूमि कैं, लै बैठी धरि गोद ।।११७।।

कुमारललित

तब आई चलि गोपी, अति प्रेम प्रीति वोपी ।
दरसन रस पावैं, पलक पल न लावैं ।।११८।।

सवैया

पल सौं पल लागन देइ नहीं, पल ही पल सिन्धु प्रवाह बही ।
बिछुरी मनि कौं फनि पावहि ज्यों, जिमि प्रान संजीवनमूर लही ।
बलराम कौ आनँद देखि त्रिया, सब चंद चकोर हिलौति रही ।
कुल लाज कौं जीति 'अनन्य' भनै, रस रीति की प्रीति न जात कही ।।११९।।

सुन्दरी

कीन प्रसाद तबै जदुनागर, जेइ अचै उठियौ सुखसागर।
चाबत पान मनोहर मूरत, पालक त्रष्ट महा सुखसूरत ॥१२०॥
बैठि महरि सब घेरि कैं भामिनि, मानहु चंद घिरौ बहु दामिनि।
बोल उठी इक नारि उराहन, हौ तुमसे तुमही प्रभु पाहन ॥१२१॥
पाहन कौं जदि प्रान चढ़ाइय, तौ हु नहीं वह प्रीति बढ़ाइय।
त्यौं तुम्ह पीर न पावहु नाइक, पाहन तैं जड़ चेतन काइक ॥१२२॥
प्रीति करंत भये अति सुर्जन, छांड़त बात कही नहिं दुर्जन।
भौंर से प्रीतम हौ प्रभु रावर, भौंरहिं बस्य भई हम बावर ॥१२३॥
देखत के अति सुन्दर ग्यानी, चित्त मलीन सदा बकध्यानी।
रोवत हैं हम ही यह नागर, नाहर बानर गाथ उजागर ॥१२४॥

दोधक

बानर ने तर नाहर देखौ, पाखंड ताकर मंत्र बिसेखौ।
फूँकहिं फूंक धरै पग भू पै, बानर बूझिय देखि स्वरूपै ॥१२५॥

बानर वचन

दोहा

प्रबल बाघ बनराइ तुम्ह, जिन के हिरन अहार।
फूंक फूंक पग धरत हौ, ताकौ कहा बिचार ॥१२६॥

बाघ वचन

हम तपसी हिंसा न कर, जानत धर्म प्रभाव।
कीट चिटी पग ना चँपै, फूँक धरत धर पांव ॥१२७॥

चौपाई

तपसी सुनि बानर सुख पायौ। पाइनि परत उतरि तर आयौ।
पाँइ परत पकर्यौ वहि पापी। कखरी बीच कंध सौं चापी ॥१२८॥

ज्यों चापै त्यों हंसै महाई। देखत अहहि करत बनराई।
अचरज भुज ढीले नहिं जानौ। कूदि सखा पर गौ मरदानौ ॥१२९॥
रोवन लगौ तबै दुख पायौ। तब नाहर हंसि बयन सुनायौ।
पकरे हंसे गये अब रोवै। तेरि दसा मो अचरज होवै ॥१३०॥
सुनि बानर तब बचन सुनायौ। पकरै मोहिं यहै हंसि आयौ।
ऐसे तपी भये जग माहीं। जीवनमुक्त नर्क में जाहीं ॥१३१॥
अब छूटै मैं यों दुख रोयौ। तू पापी पाखंड करि खोयौ।
किते दिननि खाये अरु खैहै। इक दिन कपट भेष खुलि जैहै ॥१३२॥

मुरिल्ल

यह नाहर बानर गाथ सुनौ बलरामजू।
करि बिचार हम रुदत आठहू जाम जू॥
परिहरि हम सी किती ठगी अरु ठगहुगे।
तुम ठगिया बेपीर ठगौरी लिखहुगे ॥१३३॥

चौपाई

भले दरस दीन्हे प्रभु आपन। हरी राम नैननि की तापन।
और कहौ आये इत कैसे। कैधौं दिय पुनि जोग सँदेसे ॥१३४॥

कवित्त

ऐसे कपटी की भट्ट काहे कौं चलाई बात,
जाके कहे सुनै तन जियरा जरत हैं।
कुटिल कठोर कृतघनी सो 'अनन्य' भनै,
हमरौ न कृत ब्रत मन में धरत हैं।
उनकी कहाइ हम फिरतीं बिहाल भईं,
वे जड़ जगत उपहासै न डरत हैं।
जोरि जोरि गोपी ही कहाये तब गोपीनाथ,
आज निज नाम ही की लाज न करत हैं ॥१३१॥

वे तौ अति पाखंड ही पूरे नख सिख सखी,
धोखे बस्य भईं हम जान्यौ ना मरम कौं।
'अक्षर' सो छली क्रूर अधिक बधिक तें हैं,
महा निरदई दया जानें ना धरम कौं।
जैसें हमें छांड़ि उनि तरुनी अनंत करी,
तैसें उन हेतु जनम जाहिंगे परम कौं।
ऐसे कपटी सौं पतिव्रत तजि बींधी हम,
तातें यह दोष सखी आपने करम कौं ॥१३६॥

सोरठा

यों कहि बिरहिनि बाम, रोइ रोइ गिर गिर गईं।
प्रेम बस्य श्रीराम, बोधन कौं बोले बचन ॥१३७॥

श्रीराम वचन

सवैया

हमकौं किमि दूषन देत प्रिया, हम ही तुमकौं मरते तरसे तौ।
आपनौ काबू चलै नहिं 'अक्षर', दैवी है सक्ति दियौ दुख येतौ।
जो करतौ करतार विवेकहि, प्रोति दई ढिग बासहि देतौ।
तातें बिचार तजौ दुख कौ रुचि, चंद चकोर हतौ चित चेतौ ॥१३८॥

अनन्य वचन

विशेषक

यों कहि परम सुजान सखी सु उठाइ लईं।
पूरन प्रेम सनेह सबै उर लाइ लईं॥
जैसिहि कृष्न रसी रस क्रीड़त ते नित ही।
तैसिहि श्रीबलराम रमन्न लगे तित ही ॥१३९॥

गीतरम्य

एक दिन श्रीराम नागर। गये बृंदाबन गुनागर।
रमत अति रति काम आगर। बहु त्रियनि संग प्रेम सागर ॥१४०॥

सवैया

एकनि के सँग गावत नाचत, एकनि कौं हँस नैन निहारैं।
एकनि के मुख चूमत चंचल, एकनि के कुच अंचल धारैं।
एकनि कौं भरि अंकनि भेंटत, एकनि सों रति केलि सम्हारैं।
ज्यों गज मत्त 'अनन्य' भनै, तिमि बामिनि में बलराम बिहारैं ।।१४१।।

दोहा

करि बिहार अति श्रमित ह्वै, दीने जनै पठाइ।
कालिंदी जल केलि कहँ, आवहु बेगि बुलाइ ।।१४२।।

मदभार

तत गच्छ दूत। बच सक्त धूत।।
चल नदो बाम। रसवंत राम ।।१४३।।

त्रोटक

जमुना मधु नीर गंभीर बहै। अति वारि प्रवाह न थाह गहै।
तब दास उदास गये बल पै। कह नाह कछू न चलै जल पै ।।१४४।।

पद्धरी

तब कोपि राम हल हत्थ लीन।
कालिंदिहि भेदन छेद कीन।।
जिमि बिच्छिय से पग बिचै सूल।
त्यों उलटि परौ जमुना दुकूल ।।१४५।।

तब कंप जमुन धरि देहि आइ।
किय अस्तुति सो पग सीस नाइ।।
अपराध छमो देवाधिदेव।
मैं अलपबुद्धि जानौ न भेव ।।१४६।।

नर मानि मैं न तुव हुकुम कीन।
प्रभु भूल भई अब सरन दीन।।

राखौ दयालु नहिं रोष राज ।
जल केलि करन तुम चलहु आज ॥१४७॥

कुण्डलिया

श्री हलधर सुनि करि कृपा, नहिं अपकर्षन कीन ।
गोपिनजुत जल केलि कहँ, आतुर गये प्रवीन ॥
आतुर गये प्रवीन, करी क्रीड़ा दुखदूषन ।
पुनि कढ़ि बारि बिसर्जि, पार भूषे सब भूषन ॥
प्रेम मगन रस भये, हँसत खेलत जुत रस भर ।
बृन्दाबन तैं ब्रजहिं गये, ब्रजमनि श्री हलधर ॥१४८॥

दोहा

पुनि रैंवत परबत गये, सकल प्रिया लै संग ।
रमन लगे प्रिय बारुनी, नाना रस रति रंग ॥१४९॥

कवित्त

नरकासुर मित्र एक बानर द्विविद आयौ,
गरजौ घनघोर जोर कम्पे सुर सोकरा ।
देखि रिस राम बान तानौ मरदानौ वह,
नारिन तैं दुरि दूर नियरे छलोकरा ।
'अक्षर' रिसाइ तजि सायक खिसाइ प्रभु,
पकर्‌यौ झपटि भूमि पटकौ दै झोकरा ।
मूंदि मुख नागर सुमार ही गरद करौ,
मरदौ मरद बल बलि कैसौ बोकरा ॥१५०॥

गीतिका

मार्‌यौ सहज तिहि दुष्ट बाजत, दुंदुभी सुर हर्षियो ।
जै जै किये सुर बिबिध अस्तुति, फूल बल पर बर्षियो ॥
तिहि जीति बल गोकुलहिं आये, किये नंद बधावने ।
सब भाट भिच्छुक द्विजनि दीनै, दान बहु पहिरावने ॥१५१॥

तोमर

इमि मास द्वै रहि राम । सारे सबनि के काम ।
तब दै बिदा मिलि भेंटि । आये घरै दुख मेंटि ॥१५२॥
तब मिले मातु पिताहिं । आनन्द बरन न जाहि ।
पुनि मिले अनुजहिं आन । सुभ कुसल प्रस्न बखान ॥१५३॥

प्रिया

हरि हरषि प्रेम बिचारियौ । परि पांइ पांइ पखारियौ ।
बैंठार पीठ उमंग सों । पूजा करी बिधि बेद सों ॥ १५४॥
पुनि असन करत समीप है । बूझत खबरि कुलदीप है ।
उनके हृदय तस प्रीति है । कहिये कहा ब्रजरीति है ॥१५५॥

श्रीराम वचन

दोहा

तब तें प्रीति बिसेष अब, ब्रजबासनि कै बीर ।
आपुन हू चलि कै हरौ, ब्रज जुवतिनि की पीर ॥१५६॥

श्रीकृष्ण वचन

सोरठा

जगत जुरहि कुरखेत, नंदादिक उत आइहैं ।
हम चलिहैं उन हेत, करिहैं बीर मिलाप तहँ ॥१५७॥

हयमाल

कहि राम जू सहं स्याम जू यहि मंत्र दृढ़ कीन्हों ।
ता समय सुधि मन मिलन उत्सव प्रेम चित दीन्हों ॥
पुनि समय सूरज ग्रहन आवत सबनि कहं आयसु दियौ ।
तहं चले सजि बजि सकल जादव सबनि मिलि उमंगो हियौ ॥१५८॥

भुजंगप्रयात

चले साजि बसुदेव सेना प्रमस्तें । चली देवकी आदि रानी समस्तें ।
चले उग्रसेनं महाराज जेठे । चले और यादौ बड़े और हेठे ।

चले राम श्रीस्याम यों संग साजैं । मनुष्याचरन् घर्म तीर्थौं निवाजैं ।
चली मातु रुकमावती सुखनिधानी । चलीं सत्यभामादि दै सर्व रानी ।।१६०।।
चले परदुमन आदि दै कैं कुमारं । चले साजि कै आदि यादौ अपारं ।
चले कौतुकी हू हरैं सर्व दूषा । रहे ग्राम कछु सैन अनिरुद्ध ऊषा ।।१६१।।

सोरठा

पुनि बनितानि समेत, यादव छप्पन कौटि जुरि ।
चलि आये कुरुखेत, तहां मुदित बिसराम करि ।।१६२।।

कवित्त

चले भगवंत जसवंत बलवंत बल,
प्रबल समूह सैन गैनन सपत है ।
रथी अतिरथी समरथ महारथी,
प्रथरथी हय गय पथ पृथवी चपत है ।
'अक्षर अनन्य' रज मार्ग सौं रजनि भई,
जुगनू समान भानु दीपति छिपत है ।
धर धचकत सेषफन सरकत तहां
सैन भार कमठ की पीठऊ कँपत है ।।१६३।।

त्रोटक

इमि श्री भगवंत चले सजि कैं । दल काल कवल्ल महागज कैं ।
चलते दलते धरनी धचकै । करि आस निवास नदी करकै ।।१६४।।
इमि आइ उठे कुरुखेत धरा । बहु जोजन फेरि मुकाम परा ।
सुर देव मुनी नृप आइ मिले । कुरु पांडव पूरन प्रेम पिले ।।१६५।।

दोहा

तहाँ लोग महराज के, कौतुक गये बजार ।
देखौ ब्रज कौ ग्वाल इक, मूढ़नि कौ सरदार ।।१६६।।

दोधक

हाथ लठा पटका सिर बांधै । गुन्जन दामिन कामर काँधै ।
कौतुक चौंकत चक्रित डोलै । बांक कठोर ठिठोर सु बोलै ।।१६७।।

पद्धरी

तब देखि राजगन हँसे ताइ। पुनि हाँसिन ही बूझौ बुलाइ॥
को है कहं कौ तू कौन जाति। कित फिरत चकित सौ भर्म भांति॥१६८॥

दोहा

हम गोकुल के ग्वाल हैं, आये कुलजुत जात।
तुम नागर किहि देस के, कहौ कौन हौ तात॥१६६॥

हंस

तब बोले जदुकुल कलहंस। हम जग जस जाहिर जदुबंस॥
द्वारावती नगर सुखबास। आये तीरथ लसत बिलास॥१७०॥

मुरिल्ल

सुनि द्वारावति नाम ग्वाल उमगौ हियौ।
जानि नृपति गन पग परि परि बिनती कियौ।
मेरौ मित्र गुवाल द्वारका जाइ रहौ।
नाम कन्हैया तुम जानत तौ सोइ कहौ॥१७१॥

सुन्दरी

आपु समाज हँसे सब नागर। कीन बिचार भनै हित आगर।
वे कन्हई हमरे कुलनायक। आये इहिं उनके हम पायक॥१७२॥

प्रिया

यों सुनत ग्वाल हर्षौ हियौ। दृग प्रेम नीरन बर्षियौ।
परि पांइ बिनय सुनाइयौ। मो कान्ह पद दरसाइयौ॥१७३॥

सरस्वती

जानि सो अति प्रीति जदुकुल लै चले गहि बाँहि।
लै गये जदुनाथ पहं जहं भीर की मिति नाँहि॥१७४॥

राजगन जो बदन हेरैं नारि दृग की कोर।
देखि ग्वालहिं उठे आतुर महा हित कै जोर॥१७५॥

कवित्त

देखि ब्रजग्वाल कौं गुपालजू पुलकगात,
आतुर ह्वै धाये प्रीति प्रीतम हितै रहे।
बाँहनि मैं बांह हियौ हिलकि हिलकि मिले,
अति प्रेम अंग नैन नीर निरतै रहे।
सरस कै आनँद परसपर पाँय छिये,
दरस प्रमोद अंग दुबिधा बितै रहे।
'अक्षर अनन्य' ऐसी प्रीति हरि प्रीतम पै,
कौतुक तकत सर्व चकित चितै रहे ॥१७६॥

सवैया

यों मिलि भेंटि गुपाल गुवालनि, हेम सिंहासन त्रष्ट दिये हैं।
आपु बिभूषन भूषित ता तन, तासु बिभूषन आपु लिये हैं।
'अक्षर' बूझि भले कुसली, कुसली सम ता पद पानि दिये हैं।
बारहिं बार कहै करुनानिधि, प्रीतम आज सनाथ किये हैं ॥१७७॥

तोमर

मिलि भेंटि यों सुख पाइ। तब ग्वाल खबरि सुनाइ।
आये इहाँ सब लोग। रावरे दरसन जोग ॥१७८॥

दोहा

सुनत नाथ अति फुल्ल मन, ता मुख तन मन वारि।
कही मित्र चल खबरि करि, आवत मिलन मुरारि ॥१७९॥

कुंडलिया

ब्रजवासी प्रभु खबर सुनि, गये तुरत अकुलाय।
जाय कही ब्रजराज सों, आये इत हरिराय।
आये इत हरिराय, सहित परिवार नरेसुर।
सेवत भूप समूह, भूमि पर मनहुं सुरेसुर।
हौं मिलि आयौ जाइ, अतिहि उन प्रीति प्रकासी।
आवत करन मिलाप, सजौ आरति ब्रजबासी ॥१८०॥

मोतीदाम

इती सुनि नन्द जसोमति मोद । बुलाइ लै ग्वाल लियौ धर गोद ।
निछौर करी तेहि पै मनि मुक्त । बधाव किये अति आनंदजुक्त ।।१८१।।

नचीं ब्रजनागरि प्रेमनि पूर । दई जनु ग्वाल संजीवन मूर ।
किये अति उत्सव आनंद प्रेम । सजे कलसा रत पाँवड़े नेम ।।१८२।।

मोटक

तौ लौं हरि आये परिजन जुत । फूलि उठीं ब्रजतिय निहारि उत ।
लिये बजाय गाय आगे सर । मिले नन्द बसुदेव प्रेम भर ।।१८३।।

पुनि हरि राम मिले अखंड हित । पांय परे हरि प्रेम मान पित ।
मिले सकल गोपिनि प्रमोद कर । पुनि बैठे सब मिलि आनंद भर ।।१८४।।

दोहा

लाज छांड़ि गोपी सकल, तहं ठाढ़ी भइं जाय ।
चितवत चन्द चकोर लगि, तन मन सुरति लगाय ।।१८५।।

सवैया

देखत श्रीमनमोहन मूरति, पूरित प्रेम प्रिया ब्रजनारी ।
नैननि नीर नदी निकसी, बिकसी दिल ही मिल ही हरि प्यारी ।
'अक्षर' आँखिनि के पल लागत, दैन लगीं बिधिना कहं गारी ।
प्रीति की रीति जु जानत होतौ, तौ औसही राखतौ आंख हमारी ।।१८६।।

सोरठा

देखत तिनके प्रेम, उठे नाथ अति आतुरे ।
गोपिनि जुत हित नेम, गमन कियौ जसुमति मिलन ।।१८७।।

सवैया

पांयनि जाइ परे विवि बंधव, देखि जसोमति जू मन मोदी ।
लै छतियां छिन छांड़ै न 'अक्षर', आंखिनि अस्रु नदी बहरोदी ।
कंठ छुड़ाइ बर्‌याइ मरू करि, राखौ त्रिया कहि बातैं बिनोदी ।
आनन चूमि बलाय लै प्रान, अधारनि बैठीं धरा धरि गोदी ।।१८८।।

मनोरमा

सब गोपी पांइन लागीं । अति प्रेम प्रीति अनुरागीं ।
पति प्रान संजीवन पाये । आनंद भये मन भाये ।।१८९।।

तोमर

यों मिलि परम सुख पाइ । ब्रज जननि तपन बुझाइ ।
पुनि माँगि आयसु राज । डेरहि गये सिरताज ।।१९०।।

दोहा

श्रीरुक्मावति सों कह्यौ, ब्रजजन प्रेम मुरारि ।
सुनत रीझि रानी सबैं, बोलीं बचन बिचारि ।।१९१।।

प्रिया

प्रभु धन्य वे ब्रजबासिया । जिन महा प्रेम प्रकासिया ।
हौं उनहिं लहि सुख पावहूं । प्रभु कहहु नेउत बुलावहूं ।।१९२।।

अभीर

सुनि प्रभु प्रेम सुबानि । कहि धन धन ब्रजरानि ।
मम इच्छा जुत जानि । तुम प्रगटी हित बानि ।।१९३।।

सोरठा

सुनि श्रीरुकमिनि रानि, नेउते सब ब्रजबासिया ।
नाना रस सुखदानि, अन्न पान पकवान किय ।।१९४।।

गीतिका

तब बोलि कैं नन्दादि गोपिन पान तृप्त कराय ।
पुनि गोपिकानि समेत हेत बुलाइ जसुमति माय ।
आई जसोमति मोद कैं राधादि गोपी संग ।
तहं मातु देवकि रोहिनी लहि उठी प्रेम उमंग ।।१९५।।

सवैया

पूरन प्रेमरती मन देवकी, कंठ जसोमति लाइ रही जू ।
रोइ बैठारि बिचारि कही, तुमही हम बूड़त सिन्धु गही जू ।

जेती करी करनी हमकौं, तुम तेती नहीं मुख जात कही जू ।
इन्द्रहि कौ पद देंहि तुम्हैं, तबऊ तुमकौं हम उर्न नहीं जू ।।१९६।।

दोहा

तब जसुमति के पां परी, श्रीरुकमिनी सुरानि ।
मिली जसोदा प्रेम सों, निरखत नैन सिरानि ।।१९७।।
श्रीरुकमिनि के पाँ परीं, उमंगि सकल ब्रजनारि ।
हरि तैं अति हित स्तुति रिचा, पूरन सक्ति बिचारि ।।१९८।।

पद्धरी

तब रुकमिनि सबकौं उठाय । ले गइ आसन कहँ पग धुवाय ।
मनि चौकनि बैठारे प्रबुद्ध । कंचन झारी भरि नीर सुद्ध ।।१९९।।
परसन लागी निज कर सप्रेम । नाना रस ब्यंजन थार हेम ।
पावन लागीं गोपी सुखैन । अस सुने न जे देखे न नैन ।।२००।।

सरस्वती

यौं परस श्रीरुकमावती कीन्ही तृपित सब नार ।
करवाइ अचवन पान दीन्हें सबनि किय मनुहार ।
पुनि हुकुम दासिन कौं दियौ सब कहं पलँग बिछवाइ।
पारी परम आनन्द सों अति प्रेम प्रीति बढ़ाइ ।।२०१।।

पुनि सलज श्रीरुकमावती को ललित सेज सम्हार ।
पौढ़े तहां हरि आइकैं हिल मिल गरें भुज डार ।
तब सबनि की सब खबरि श्री जू कही प्रभु सों सब्ब ।
प्रभु पाइ सुख मुसक्याइ कै इमि बचन भाषे तब्ब ।।२०२।।

श्रीकृष्ण वचन

दोहा

राधहिं नींद न आइ है, हम जानत यह रानि ।
पय पियाइ आवो प्रिया, प्रेम प्रीति उर आनि ।।२०३।।

छप्पय

सुनि स्वामी के बचन उठी श्रीरुकमिनि आतुर ।
कामधेनु को दूध मधुर औंटौ रुचि चातुर ।

बेला भर लै दियो जाय राधाहिं सभागिनि ।
तपित सीत नहिं लहेउ प्रेम उन्मद तरुनामिनि ।
इमि तृप्त कै सुख पाइ कै आई पुलकि प्रीतम सरन ।
नित नवल कोमल करन सुलगीं रुचिर चापन चरन ॥२०४॥

अर्द्ध दण्डक

तब देखे चरननि परे फलक । कहि बचन चरन अनुराग ललक ।
प्रिय अति अचरज है मोहि हलक । किहि कारन चरननि परे फलक ॥२०५॥

श्रीकृष्ण वचन

हंस

सुनि प्रिया कहा हौं कहौं बात । तुम राधहिं प्यायौ पय जु तात ।
भक्तनि के हिय नित प्रीति पायं । सो लागि परे पग फलक आयँ ॥२०६॥

श्रीरुक्मावती वचन

प्रिया

प्रभु कहा दुबिधा राखिये । निज भक्त राधहिं भाषिये ।
पग कहे राधा माहिं ये । हम मांझ कैधौं नाहिं ये ॥२०७॥

श्रीकृष्ण वचन

कवित्त

हमरे चरन बसैं राधिका के उर रानी,
तुम्हरे चरन मेरे हृदय गुनीजिये ।
तुम तौ सकति परतच्छ महालच्छमी हौ,
तुमहीं तैं हमें भगवान पद दीजिये ।
तुम्हरे प्रवेस बिस्व पूजत हमहिं रानी,
तुम्हतें न और जग दूजौ है पतीजिये ।
भक्ति हेत उन्हें पद दीबे कौं कसौटी करी,
आपुन कृपावती न कोप कछु कीजिये ॥२०८॥

तुम तौ हमारी महालच्छमी हौ प्रानप्यारी,
जाहिर जगत मेरे हृदय सदा रहो ।

तुमही हमारी महासिद्धि हम सिद्ध जातें,
आठौं सिद्धि नवौं निधि करत उदार हो ।
तुमही हमारी महा कामेस्वरि मूरति हो,
सदा कामकेलि सुख बिरह बिदार हो ।
राधा कहा तुम्हरे समान रुकमिनि रानी,
तुम तौ हमारी प्रान जीवनअधार हो ।।२०९।।

राधा चोरी चोरा मिली बारे हमें बाटघाट,
तुम्ह कोरी कोरा सेज सदा सुखदाई है ।
राधा के बिहारनि कौं लालच ललात रहै,
तुम्हरे बिहार निसि बासर बिहाई है ।
तुम वरनारी ब्रतधारी हौं तुम्हारे हम,
राधा परनारी प्रीति ही तें जस छाई है ।
सुनो रानी रुकमिनि रिसाती कौन बातैं तुम,
कहा राधा बावरी तुम्हारौ पद पाई है ।।२१०।।

दोहा

राधादिक भक्तनि सबै, हम तुम एक सरूप ।
तातें कोपहिं तज प्रिया, कीजे कृपा अनूप ।।२११।।

श्रीरुक्मावती वचन

कुण्डलिया

कोपहि का परि करहुं प्रभु, तुम स्वामी वे भक्त ।
हौं बूझी यहि हांसि ही, तुम राधहिं अनुरक्त ।
तुम राधहिं अनुरक्त, भक्त राधा अनुरागी ।
ऐसी प्रिय नहिं तुमहिं, मोहि जैसी प्रिय लागी ।
है अति बिरह बिहाल, सहित गोपिनि अरु गोपहि ।
जै ये तिनकौ मिलन, नाथ तिन करिय न कोपहि ।।२१२।।

रोला

सुनि श्रीजू के बचन गये राधादिक पर हर ।
उठीं सकल ब्रजनारि प्रेम पूरन करुनाकर ।

रही पांय लपटाइ पाइ जीवन अति आनँद।
भेंटीं सबै उठाइ अंक भरि भरि परमानँद ॥२१३॥

दोहा

पुनि आये हरि द्वार में, उठि राधा अकुलाइ।
प्रेम मगन बिह्वल चली, धरत डगमगे पांइ ॥२१४॥
तब हरि आतुर प्रेम सों, लीन्हीं कंठ लगाइ।
दुहूँ ओर दृग झर बरषि, आनँद उर न समाइ ॥२१५॥
तब उठाइ मुख चूमि कै, लै बैठे धरि गोद।
कुसल छेम बिधि परसपर, बातनि कहत बिनोद ॥२१६॥

कुण्डलिया

तब गोपिनि कर जोरि कै, बिनय कियौ दुख रोय।
तुम हमकौं ऐसी करी, जैसी कतहुं न होय।
जैसी कतहुं न होय, करै बधिकौ ना अधिकी।
वहि मारत जिय मिटै, नाथ कीन्हीं तुम मधिकी।
तुम सम तुमहीं रहे, सदा हम सी हम हूं पुनि।
दवन दाव बिन कियौ, रवन कहिबे कहं गोपिनि ॥२१७॥

कवित्त

सुनि कै कमलनैन नैन भरि बैन कहे,
हमैं कौन चैन प्यारी तुम सौं बिरक्त की।
तुम मोहि सुमिरौ हौं सुमिरौं तुम्हें आठौ जाम,
मिलिये न एक छिन मिलिबे की भक्त की।
'अक्षर अनन्य' तातें आपु कौ न बस कछू,
बिछुरन है ऐसी राम सीता हित वक्त की।
सिवहू सिवाहू बीच पारै अरधंगै फेर,
ऐसी दैव गति कौन जानै दैवसक्त की ॥२१८॥

सोरठा

यों कहि कृष्न बिसूर, बोध बचन कै भ्रम हरे।
यहि जनाइ जगमूर, करता धरता और है ॥२१९॥

गीतिका

यह बात कहि गोपालजू अति जानि गोपिनि प्रीति ।
करि हाव भाव कटाच्छ बहु उपजी महा रसरीति ।
जिहि भांति ब्रज में रमत ते रस काम केलि बिलास।
तिहि भांति सुरति विनोद करि पुजई सबनि की आस ।।२२०।।

पुनि भोर आइ सभा बिराजे राजकुल जन यत्र ।
सनकादि नारद ब्यास जुत आये अखिल ऋषि तत्र ।
पुनि जग्य किय बसुदेवजू दिय द्विजनि दान अपार ।
बृषभानु नंदहि आदि दै पहिराइ सब परिवार ।।२२१।।

मनि बसन भूषन बहुत दै कीन्ही बिदा सुख पाय ।
नहिं टरत बांधे प्रेम के हरि रहे अति अकुलाय ।।२२२।।

दोहा

तब हरि सों बसुदेवजू, बचन कहे अकुलाय ।
ब्रज जन कुंवर बिदा करौ, चलिये घरहु चेताय ।।२२३।।

चौपाई

तब हरिजू माया बिसतारी । ब्रजजन लागौ उचटन भारी ।
काहू कही कही नहिं काहू । आतुर चले जहां सु तहां हू ।।२२४।।
श्री रुकमिनि के घर में राधा । माया तातें करी न बाधा ।
माया श्री रुकमिनि के छाया । तिहि सबकौं मोहनि भरमाया ।।२२५।।
चलो चलो राधा सब बोलैं । मचली राधा बचन न खोलैं ।
बारहिं बार कही सतभामा । नहिं राधा बोलें तिहि जामा ।।२२६।।
तब झुकि कै बोली कटु बानी । कह गंवार गूजर बौरानी ।
मातु पिता कुल जात बिसारी । भरता तजौ ब्याहता भारी ।
पैठत है परघर बरजोरी । तोसी और न तिय हैं थोरी ।।२२७।।

हंस

तब राधा बोली दुख पाइ । तुम कह जानौ भक्ति प्रभाइ ।
लोक लाज तजि भजहुं मुरारि । सब के भरता कृष्न बिचारि।।२२८।।

सत्यभामा वचन

ऐसे नहीं त्रिया के धर्म । तू गँवार भूली है भर्म ।
माता पिता देहिं जिहि हाथ । सोई ईस्वर सोई नाथ ।।२२६।।
तातें कोटि गुनौ पति करै । निहचै महानर्क सो परै ।
जो मो कही बुरी करि भाष । बूझहु लोक बेद अरु साख ।।२३०।।

श्रीराधा वचन

लोक बेद के धर्म असार । जानत है कोउ जाननिहार ।
लोक बेद तें न्यारौ प्रेम । तुम कह मोहि सिखावत नेम ।।२३१।।
नैम धर्म लौं जिनके ग्यान । तिनकौं स्वर्ग नर्क परवान ।
जिनके हृदय प्रेम परकासि । मुक्ति भुक्ति है तिनकौ दास ।।२३२।।
प्रेम हेत पिघलत पाषान । प्रेम मिलत ईस्वर भगवान ।
जग में प्रेम प्रीति रस सार । ना रस और धर्म भ्रमजार ।।२३३।।

सत्यभामा वचन

दोहा

प्रेम प्रेम तू कह करै, तोमहिं प्रेम जु नाहिं ।
जथा भिरै भट सुमन रन, गरजै भाट बृथाहिं ।।२३४।।

श्रीराधा वचन

दोहा

तुम गति मेरे प्रेम की, कह जानौ परमान ।
कै जानैं श्रीरुकमिनी, कै पिय स्याम सुजान ।।२३५।।

सत्यभामा वचन

दोधक

श्रीरुकमिनि प्रिय नाम बतावै । बातनि करि करि मोहिं रमावै ।
तोमहिं प्रेम कहा कहि मो सौं । हौं अब प्रेम कथा कहुं तो सौं ।।२३६।।
प्रेम कहे बिधि तीन प्रतिष्ट । उत्तम मध्यम और निकृष्ट ।
उत्तम प्रेम सुनौ सुखदाई । पिय बिछुरत जिय संगहिं जाई ।।२३७।।

मध्यम कंत तजे मरि जाई । होइ निकृष्ट तो लागहिं बाई ।
तीन हु एक बनी नहिं तो सों । का मुख प्रेम बखानत मो सों ॥२३८॥
यह सुनि बोल लगे अति राधे । कोपि उठी अति सिंधु अगाधे ।
मुरझि गिरी बिरहा तन तायौ । नीर गंभीर गरैं तन आयौ ॥२३९॥

सोरठा

तब हरि पकरी बांहि, कही चलौ बाहिर प्रिया ।
जो तुम्हरे मन माहिं, सो मांगहु बर देहिं हम ॥२४०॥

श्रीराधा वचन

दोहा

जो बर देत दयालु ह्वै, भये प्रेम मम प्रस्न ।
तौ तुम जगत कहावहू, मम युत राधाक्रष्न ॥२४१॥

श्रीकृष्ण वचन

यहि सुनि श्रीभगवंत जू, बर दै कर गहि काढ़ि ।
समुझावन लागे तबहिं, बचन रचन हित बाढ़ि ॥२४२॥
तुम रहि इहं बाढ़ै कलह, जाउ सदन सुखरीति ।
हम तुमतैं नहिं दूर प्रिय, चन्द चकोरनि प्रीति ॥२४३॥

श्रीराधा वचन

चंद चकोरनि कौ धनी, क्यों कर पटतर होइ ।
बे दिन दरस न देत हैं, तुम्ह कब दरस न मोइ ॥२४४॥

श्रीकृष्ण वचन

सदा दरस मनभावती, हम तुम अंतर एक ।
दैवी गति बिछुरनि रच्यौ, कबहुं न करिये टेक ॥२४५॥

श्रीराधा वचन

कुण्डलिया

तब के बिछुरे अब मिले, जिये आस लगि तब्ब ।
अब के बिछुरे कब मिलौ, धिक जीवन मम अब्ब ।

धिक जीवन मम अब्ब, जु पै सठ प्रान न बिछुरैं।
सतभामा के बोल, होत सांचे अब बिधुरैं॥
तातें अब नहिं जियों, होइ भाये मन सब के।
रही कहनि कौं सांस, प्रान कंठहि रह तब के ॥२४६॥

बरवै

या कहि राधा रोई हियरा फाट। नजर न मुरकन पाई हरि सुधि डाट।
निकसी जोति बदन तें सदन प्रकास। श्रीमुख माहिं समानी सोक बिनास ॥२४७॥

प्रिया

आई तहां रुक्मावती। देखी मृतक राधावती।
लै गोद रोदत प्रेम सौं। निज भक्त हित दुख नैम सौं ॥२४८॥
तित आइ देवकि रोहिनी। मानौ गई मनमोहिनी।
रनिवास हा हा ह्वै रही। रानी नयन जल भरि रही ॥२४९॥
सुनि मुर्छि गिर ब्रजबासिया। मनि बिन फनिक तन त्रासिया।
हरि बिधुर राधा बिन भये। सब सोकसागर में छये ॥२५०॥

मुरिल्ल

पुनि राधा तन क्रिया करि बिधि बेद सौं।
ब्रजबासी समुझाय बचन बहु भेद सौं॥
बिदा दई भगवंत बोध बहु ग्यान सौं।
गये नंद वृषभानु कढ़ि न तन प्रान सौं ॥२५१॥

दोहा

तब कुल जुत बसुदेव जू, द्वारावति चलि आइ।
अमित दान दीन्हें द्विजनि, दुंदुभि दई बजाइ ॥२५२॥

सवैया

दुंदुभि द्वार बजै हरि द्वारका, गोकुल सोक नदी जु बही।
जिन राधिका प्रान तजे बिछुरे, तिनकी न कथा कछु जात कही।

जिमि दीप पतंग तथा मछरी, जल प्रीति इकंग तबै अब ही।
जग की यह रीति 'अनन्य' भनै, अपने सुख लौं सुख है सब ही ॥२५३॥

छप्पय

प्रीति इकंगी नेम, प्रेम गोपिनि को गायौ।
बरनन बिरह मिलाप, तर्क सब दरसन छायौ॥
ग्यान जोग बैराग, मधुप उपदेसन भाषौ।
भक्ति भाव अभिलाष, हृदै बनितनि मति राखौ॥
बहु बिधि बियोग संयोग सुख, सकल भेद समुझौ भगत।
यह अद्‌भुत 'प्रेम प्रदीपिका', कहि 'अनन्य' उद्दित जगत ॥२५४॥

१७. महिमा-समुद्र

छप्पय

रिद्धि सिद्धि नव निद्धि, बृद्धि बहु बुद्धि प्रभायक ।
उक्ति जुक्ति कवि सक्ति, मुक्ति भुक्तिनि बरदायक ।
परम उदार अधार, परम उद्दित दुति सोहन ।
परम जोति जग जोति, जोति मूरति मन मोहन ।
आनन्दकन्द आनन्द कर, आनन्दी नन्दन त्रिगति ।
अनुभूति सरूप 'अनन्य' भनि, जयति जयति गनपति सुमति ॥१॥

गनपति बुद्धि प्रवेस, पाइ अनुभव गुन मन्दिर ।
कहौं कथा मति मंद, छंद बंदह अति सुन्दर ।
त्रिगुन त्रगुन निरधार, बरन षट गुन गुन सागर ।
नव रस विजय प्रसंग, नाथ प्रभुता अति आगर ।
सत पद्धति भक्ति सुरीति कह, लीला अति अद्‌भुत बरस ।
'महिमा समुद्र' इमि नाम धरि, कहौं ग्रंथ महिमा सरस ॥२॥

दोहा

महिमा श्री सिव सक्ति की, बरनहुं जुगति समान ।
साख सुबेद पुरान मत, भाषा ग्रन्थ प्रमान ॥३॥
भाषा बानि सुहावनी, सुन्दर छंद कबित्त ।
पढ़त गुनत सीखत सुनत, अटकत सब के चित्त ॥४॥
चित्त लगै पढ़ अपढ़ कौ, भाषा सुनहु सुजान ।
चलत न कलिजुग संसक्रत, बिद्या जुगहु प्रमान ॥५॥

युगप्रमाण वर्णन

छप्पय

सतजुग बेद प्रमान, आन बिद्या नहिं जानै ।
त्रेता सुम्रति जुबान, रिषिनि षट सास्त्र बखानै ।

द्वापर मांझ पुरान, कवच अस्तव मुनि कीनैं।
कलि भाषा परवान, कहत कबि साधु प्रवीनैं।
इमि जुग जुग बानि 'अनन्य' भनि, तातपर्ज इक जानिये।
इमि बस्तु एक बहु देस प्रति, नाना नाम बखानिये ॥६॥

दोहा

चारौं जुग बिद्या सु इमि, मूल बेद परवान।
बेदनि ही के अर्थ तैं, भाषा सास्त्र पुरान ॥७॥
भाषा सास्त्र पुरान मत, बेद सास्त्र ठहराइ।
जाकी साख न बेद में, सो मिथ्या मत आइ ॥८॥
तर्क बोध कौ मत जथा, कहत अनीस्वर कर्म।
सो मिथ्या मत जानिबी, बेद साख बिन मर्म ॥९॥
जथा दसौ अवतार की, कथा बिदित संसार।
बेदनि मांझ कही नहीं, क्यों कहिये करतार ॥१०॥
अरु पुनि पंथ अनेक अब, चले जु कलिजुग मांह।
बुद सास्त्र परवान बिन, ते मिथ्या सब आँह ॥११॥
मिथ्या मत कलि महं बहुत, जो कहि आवत जाहि।
जुग जुग बेद प्रमान मत, बिरले जानत ताहि ॥१२॥
बेद बिरुध जे पंथ हैं, ते कुपंथ सब लेख।
जार गर्भ जिमि सुन्दरी, पति पावै न बिसेष ॥१३॥
तातैं बरनौ बेद मत, आदि अनादि बिचार।
एक बेद मत चार कहं, चार बेद इमि कार ॥१४॥

सर्वसंभाव वर्णन

सवैया

रूप न रेख न भेष कछू, सब रूपनि रेखनि भेषनि सोहै।
जाति न पांति न भाँति कछू, सब जातिनि पांतिनि भाँतिनि जोहै।
भेद न भाव प्रभाव कछू, सब भेदनि भावनि सो मन मोहै।
अद्भुत गाथ, 'अनन्य' भनै, सिव सक्ति समस्त चरित्रनि सो है ॥१५॥

कवित्त

निरगुन बिचारै ताकौं निरगुन सरूप लसै,
सरगुन बिचारै ताकौं सरगुन सरे से हैं।
जोति से बिचारै ताकौं जोति ह्वै प्रकास करै,
सुन्नि कै बिचारै ताकौं सुन्नि मय जैसे हैं।
दूरि कै बिचारै ताकौं दूरि ही 'अनन्य' भनै,
आपु में बिचारै ताकौं आपु ही में वैसे हैं।
वे तौ सिव सक्ति सर्व सक्ति सर्व गति नाथ,
जैसे ही कौं तैसे आपु जैसे ही के तैसे हैं ॥१६॥

दोहा

इहि बिधि सौं सिव सक्ति गति, अद्भुत कही बिचार।
अब बरनौं सिव सक्ति इमि, सब अरथनि निरधार ॥१७॥

शिव-शक्ति-शब्दार्थ-निर्धारण

सिव कहियत हैं पुरुष सौं, परम पुरुष भगवान।
पुरुष माहिं पुरुषार्थ है, वहै सक्ति परवान ॥१८॥
सक्ति बिना नहिं पुरुष गुनि, पुरुष बिना नहिं सक्ति।
ज्यौं मनि जोति 'अनन्य' भनि, यौं अभेद अनुरक्ति ॥१९॥

सवैया

मानिक जोति जु जोति सु मानिक, मानिक जोति स्वयं मन सग्यन।
अंकुर बीज जु बीज सु अंकुर, अंकुर बीज न द्वै कृत तग्यन।
वाक अरथ्थ अरथ्थ सु वाक, अरथ्थ यहै निरधार गुनग्यन।
यौं अनभेद 'अनन्य' भनै, सिव सक्ति सरूप कहौ सरवग्यन ॥२०॥

दोहा

इहि बिधि श्री सिव सक्ति कौ, करौ निरूपन चार।
अब बरनौं सिव सक्ति तैं, ज्यौं उतपति बिस्तार ॥२१॥

त्रिगुण उत्पत्ति वर्णन

प्रगट भई सिव सक्ति तैं, तीन सक्ति धरि गात।
ब्रह्मानी नारायनी, रुद्रानी जग मात ॥२२॥

गीतिका

ब्रह्मायनी राजस प्रभा, तिन्ह सृष्टि ब्रह्मा भूत ।
नारायनी सात्विक जननि, तिनि तैं नरायन पूत ।
रुद्रायनी तामस तथा, तिनि तैं सु रुद्रहि लेख ।
इमि त्रिगुन तीन्यौं देवि तैं, भये तीन देव बिसेष ॥२३॥

चौपाई

इमि त्रै सक्ति त्रिदेव उपाये । तिनि तैं जग उतपत कत गाये ।
नारायन किय नाभि पसारा । नाभि कमल ब्रह्मा अवतारा ॥२४॥
ये ब्रह्मा उन अंस बिसेषौ । वे ब्रह्मा ईस्वर पर पेखौ ।
उनके ये अवतार कहावैं । ये पुनि और रुद्र उपजावैं ॥२५॥
पुनि बिधि के सुत कस्यप जानौ । तिनि के रबि तिनि धर्म बखानौ ।
धर्म पुत्र नारायन पेखौ । उनहिं बिष्नु की कला सु लेखौ ॥२६॥
इमि त्रैदेव अपर पर जानौ । इनही तैं करतूत बखानौ ।
ब्रह्मा जग उतपति करता है । बिष्नु करै रच्छा जग माहै ॥२७॥
रुद्र सकल संघार मिटावैं । तब तीन्यों सिव में मिलि जावैं ।
वे सिव सक्ति बीज अबिनासी । उतपति अस्थिति प्रलै निवासी ॥२८॥

सोरठा

भव निवास सिव सक्ति, निरगुन अरु गुनवंत प्रभु ।
करन त्रिगुन अनुरक्त, उतपति अस्थिति प्रलै कर ॥२९॥

दोहा

इहि बिधि उतपति प्रलै की, कही कथा परवान ।
गायत्री निज बेद महं, जिहि बिधि कियौ बखान ॥३०॥
और कथनि में और बिधि, उतपति कहत हिसाब ।
कल्प कल्प होतै रहत, ताकौ यहै जवाब ॥३१॥
जौन कल्प में जौन बिधि, कथा तौन बिधि लेख ।
कल्प कल्प होतौ रहत, उतपति प्रलैं बिसेष ॥३२॥

कल्प कल्प उतपति प्रलै, कल्प कल्प त्रैदेव ।
अबिनासी सिव सक्ति प्रभु, अगम अखंड अभेव ॥३३॥

कुंडलिया

इहि बिधि श्री सिव सक्ति क्रत, बिबिध प्रकार बखान ।
सुनत जौन जिहि पच्छ कहं, तौन लियौ तिहि मान ।
तौन लियौ तिहि मान, जान दुबिधा हठि टेकहि ।
वे सिव सक्ति अखंड, सर्व गति है गति एकहि ।
एक अनेक सरूप, रूप लीला लहि किहि बिधि ।
ज्यौं मसि अंक अनेक, एक सिव सक्ति सु इहि बिधि ॥३४॥

इहि बिधि श्री सिव सक्ति कौ, करौ निरूपन चार ।
एक रूप बहु रूप गुन, लीला चरित अपार ।
लीला चरित अपार, पार पाये नहिं बेदनि ।
नेति नेति गति कहत, लहत प्रभु के नहिं भेदनि ।
प्रभु गति अपरंपार, कौन बरनै कहि किहि बिधि ।
ब्रह्मादिक कहि थकत, नाथ सागर जस इहि बिधि ॥३५॥

दोहा

सागर जस सिव सक्ति कौ, अगम अखंड अपार ।
गावत सुर नर नाग सब, आपु बुद्धि अनुसार ॥३६॥

आपु बुद्धि अनुसारहीं, हौं बरनौं गुन चार ।
बेद सास्त्र ग्रंथनि बिषै, जथा सुनौ जस सार ॥३७॥

सार सुजस सिव सक्ति कौ, बहुत ठौर सुन माम ।
कहौं सु सब इक ठौर करि, ग्रंथ महा गुन नाम ॥३८॥

ग्रंथ कहौं सुंदर महा, अरु थोरौ बिस्तार ।
बरनन श्री सिव सक्ति कौ, अदभुत जस गुन सार ॥३९॥

गुन अनंत सिव सक्ति के, रस अनंत जस जान ।
हौं बरनहुँ षट गुन तथा, नव रस कथा बखान ॥४०॥

षड् गुण वर्णन

कुण्डलिया

पहले गुन ऐस्वर्ज गुन, दुतिय दान परवान।
त्रितिय सुजस बरनन तथा, पुनि बिभूति अति जान।
पुनि बिभूति अति जान, ग्यान पंचम गुन गानै।
छठव जान बैराग, छ गुन इमि नाम बखानैं।
छगुनवान भगवान, नाम ईस्वर गुन गहले।
बरनहुं सब गुन भिन्न, बरनि ऐस्वर्जहिं पहले ॥४१॥

ऐश्वर्य वर्णन

कवित्त

जाकी दृष्टि ही तैं सृष्टि उपजै सहज मांझ,
जाकी दृष्टि ही तैं सु प्रकास सब लोक है।
जाकी दृष्टि ही तैं जियै जल थल अकास प्रानी,
जाकी दृष्टि ही तैं प्रतिपाल ब्रत वोक है।
जाकी दृष्टि ही तैं सर्व कारन 'अनन्य' भनै,
जाकी दृष्टि ही तैं प्रलै संघन बिलोक है।
जाकी दृष्टि ही की महा प्रभुता कही न परै,
ऐसे महाप्रभु कौ प्रभाव गुन को कहै ॥४२॥

दोहा

प्रभु कौ अतुल प्रभाव इमि, अति ऐस्वर्ज बखान।
अब बरनहुं अति दान गति, महा दान भगवान ॥४३॥

दान वर्णन

ब्रह्म महा तपसा करी, ब्रह्मेस्वर अस्थान।
सकल बिस्व करता भये, ईस्वर के बरदान ॥४४॥

बिष्नु महा पूजा करी, बिस्नेस्वर अस्थान।
पायौ पुर बैकुंठ सौ, ईस्वर के बरदान ॥४५॥

भानु महा सेवा करी, भानेस्वर अस्थान ।
जगत जोति उद्दित भये, ईस्वर के बरदान ॥४६॥

सोम महा तपसा करी, सोमेस्वर अस्थान ।
सकल नछत्रनि पति भये, ईस्वर के बरदान ॥४७॥

अग्नि महा ध्यावन करी, अग्नेस्वर अस्थान ।
सब देवनि के मुख भये, ईस्वर के बरदान ॥४८॥

काल महा धारन करी, कालेस्वर अस्थान ।
जगत जीति परबल भये, ईस्वर के बरदान ॥४९॥

राम महा सेवा करी, रामेस्वर अस्थान ।
रावन हनि लंका लई, ईस्वर के बरदान ॥५०॥

भक्ति करो गोपाल जू, गोपेस्वर अस्थान ।
बिजै लही कंसादि जित, ईस्वर के बरदान ॥५१॥

पवन प्रेम पूजा करी, पवनेस्वर अस्थान ।
सकल बिस्व बाहक भये, ईस्वर के बरदान ॥५२॥

कामदेव सेवा करी, कामेस्वर अस्थान ।
सकल लोक मोहन भये, ईस्वर के बरदान ॥५३॥

धर्मराज पूजा करी, धर्मेस्वर अस्थान ।
बिस्व नियंता प्रभु भये, ईस्वर के बरदान ॥५४॥

इनहिं आदि दै और बहु, सुर नर मुनि परवान ।
बड़े बड़े सब जानिये, ईस्वर के बरदान ॥५५॥

इमि बरदान महेस के, हौं संक्षेप बखान ।
बरनी कासी खंड में, सबै कथा परवान ॥५६॥

कासी खंड बिषै कही, जिहि कीन्हीं जिमि भक्ति ।
इच्छा तैं अति दान दिय, महा दानि सिव सक्ति ॥५७॥

महा दानि सिव सक्ति के, बरनै दान अखंड ।
अब बरनौं जस नाथ कौ, ब्यापक सकल ब्रह्मंड ॥५८॥

कवित्त

बड़े बड़े ग्रंथनि में बड़े सत पंथनि में,
बड़े बड़े संथनि में मन्त्र यहै जस है।
बड़े बड़े थाननि में बड़े परवाननि में,
बड़े बड़े ग्याननि में यहै ग्यान लस है।
बड़े बड़े सिद्धनि में बड़े गुन बृद्धनि में,
बड़े बड़े साधुनि में यहै प्रेम रस है।
बड़े बड़े ठौर और गाथ न 'अनन्य' भनै,
जग में प्रसस्त सिव सक्ति जू कौ जस है ॥५९॥

दोहा

इहि बिधि श्री सिव सक्ति कौ, बरनौं जस निरधार।
अब बरनौं श्री गुन तथा, जोग बिभूति अपार ॥६०॥

कवित्त

प्रथम ही सार महा तत्त ह्वै प्रगट भई,
पुनि अहंकार कै अकास उपजाया है।
पौन ह्वै प्रचंड महा तेज ह्वै प्रकास करौ,
सिंधु ह्वै उमंगि भूमि रूप धरि काया है।
चार खानि चतुर चौरासी लक्ष जाति पांति,
चराचर रूप बिस्वरूप छबि छाया है।
पिंड हू ब्रह्मंड माँड मंडित 'अनन्य' भनै,
धनी जोगध्यानी की अखंड जोगमाया है ॥६१॥

दोहा

श्री बिभूति इहि बिधि कही, जोग माय बिस्तार।
पंचम गुन अब बरनिये, ईस्वर ग्यान बिचार ॥६२॥

यश वर्णन

बिस्व प्रगट जब तैं भयौ, जब लौं रहै निदान।
यह गति और न जानही, सो गति ईस्वर ग्यान ॥६३॥

बस्तु प्रगट पाछैं करै, आगैं करै प्रमान।
भूत भव्य ब्रतमान कौ, ईस्वर ही महं ग्यान ॥६४॥

जो जिहि घट बरतै सदा, सो सब लहै निदान।
मनसा दसा बिचारिबौ, यह ईस्वर महं ग्यान ॥६५॥

भक्तनि की मन रंजना, भोलानाथ प्रमान।
अन्तर गति मति फलत है, ईस्वर ग्यान निधान ॥६६॥

इहि बिधि बरनौं ग्यान पद, पंचम गुन जस जाग।
अब षष्टम गुन बरनिये, ईस्वर कौ बैराग ॥६७॥

वैराग्य वर्णन

बाल खिलौना घर करै, मैंटत नहिं दुख दाग।
यौं उतपति परलै करै, ईस्वर कौ बैंराग ॥६८॥

जथा जोग फल दंड जग, नहिं संग्रह नहिं त्याग।
राग दोष राखै नहीं, ईस्वर कौ बैराग ॥६९॥

ईस्वर के छह गुननि के, इहि बिधि करे बखान।
अब बरनहुं नवरस सरस, सुन्दर कथा बखान ॥७०॥

नवरस वर्णन

छप्पय

प्रथमहिं रस स्रंगार, दुतिय रस हास्य बखानौ।
तृतिय करुन रस जान, रौद्र चौथो रस मानौ।
पंचम वीर बिचार, छठव रस जान भयानक।
सप्तम रस बीभत्स, अठव रस अद्‌भुत बानक।
नवम सांत रस जान जग, नवौं सिद्धि सम रस धरत।
क्रम सौं गुन गाथ 'अनन्य' भनि, नव रस मय ईस्वर चरित ॥७१॥

शृंगार वर्णन

पद्धरि

इक समै आदि ईस्वर महेस, मनि सिंघासन सोहत सुदेस।
अरधंग जगत जननी बिराज, रबि चंद कोटि छबि अंग छाज ॥७२॥

धर छत्र चंवर ढोरंत देव, ब्रह्मादि करत अस्तुति प्रमेव ।
गुन गावत गन गंधर्व राज, किन्नर बिचित्र बाजंत बाज ॥७३॥

काछी आछी अप्सरा सर्व, उर्वसिहि आदि गुन रूप गर्व ।
चंचल चातुर पातुर पवित्र, निरतंत पंत अति गति बिचित्र ॥७४॥

तत्ता ताथेइ थेई करंत, मृदु बचन रचन मुनि मन हरंत ।
धिक धिनं धिनं धुनि सुन मृदंग, कृत राग बाग मुख चंग रंग ॥७५॥

झालरी झांझ अरबज मुरज्ज, आनक अनेक रस एक बज्ज ।
नाना भावनि भामिनि नचंत, संगीत गीत गीतनि रचंत ॥७६॥

मुख बैन बैनु बीना बिनोद, कर तार तार करतार मोद ।
पग मंजिर मंजुर मंजु घोष, कर मंजिर रंजित सर्व तोष ॥७७॥

कटि किंकिनि झिझिनि धुनि सजंत, रुनझुन रुनझुन घुंघरू बजंत ।
मुख मधुर मधुर धुनि करहिं गान, अनुराग राग जुत राग तान ॥७८॥

अति ललित कलित चलती सुचेत, अति उरप तिरत उलथान लेत ।
मनि भूषन टूटत ढुरत मोति, घर जगमग जगमग होत जोति ॥७९॥

तिय नचति रचति अनुराग रंग, अति अतुर चतुरताननि अभंग ।
तन बिसरत बिथुरत सिरसि केस, झरि झरिस मनहु सुमना सुदेस ॥८०॥

सुभ बदन सदन स्रम नीर राज, हँसि कमल अमल जनु मुक्त छाज ।
अति प्रेम पुलक लखि लोम हर्ष, अनुराग उमंगि दृग वारि बर्ष ॥८१॥

अति भक्ति सहित हित चित प्रमोद, निरतंत अमर बनिता बिनोद ।
तिनि निरत निरखि हिय हर्षधार, जग जननि रीझि बगसंत हार ॥८२॥

सुर निरखि हर्षि बरसंत फूल, जय जय जयंत आनन्द मूल ।
इमि उत्सव सिव लीला बिचित्र, बरनी 'अनन्य' रचना पवित्र ॥८३॥

दोहा

इहि बिधि सौं स्रंगार रस, लीला बरन अनूप ।
अब बरनौं पुनि हास्य रस, परमानन्द सरूप ॥८४॥

हास्य रस वर्णन

एक समै श्री पार्वती, करी हास्य अभिलाष ।
दुरि पाछैं ह्वै नाथ के, नैन मूंदि कर राख ॥८५॥

गीतिका

मुंदत लोचन नाथ के, भौ अंधकार सवत्र ।
छिपे सूरज चंद्रमा, छिप रहे ज्वाल नछत्र ।
बिधि बिष्नु रुद्रहिं आदि दै, सब देह धारी जान ।
ते रहे सब अधराय कै, खलबल दुनी अकुलान ॥८६॥
तब जानि खलभल जगत महं, श्री महादेव कृपाल ।
तहं तीसरौ लोचन रच्यौ प्रभु, भाल में ततकाल ।
तब तासु लोचन दृष्टि महं, जे परे सुर गिरि लोक ।
ते छार जर कर हो गये, को सहै ज्वाल प्रझोक ॥८७॥
तब देखि यह अकुलाइ कैं, श्री देवि छांड़े नैन ।
जग गये ते ते फिर भये, विवि नयन अमृत बैन ।
तब भाल लोचन मूंद प्रभु, किय जुगल नैन प्रकास ।
सब सुरनि मिलि अस्तुति करी, तब नसौ सब भ्रम त्रास ॥८८॥

दोहा

तब ईस्वर हँसि यौं कह्यौ, भलौ हास्य किय रानि ।
सकल लोक खलभल भई, तुम लीला यह ठानि ॥८९॥

कुण्डलिया

सुनि कै हँसि श्री पार्वती, कही धन्य भगवान ।
तुम प्रभु कारन बिस्व के, उतपति प्रलै निधान ।
उतपति प्रलै निधान, बिस्व दीपक तुव लोचन ।
उदय उदौ संसार, मुंदै मूंदत भव मोचन ।
अब जानी यहि नाथ, प्रगट परिचौ इहि गुनिकै ।
फिर न करौं इमि हास्य, हँसे ईस्वर यह सुनिकै ॥९०॥

दोहा

ईस्वर के द्वै नेत्र तें, द्वै सबके तिहि बान ।
तब तैं भये त्रिनेत्र प्रभु, कथा हास्य रस जान ।।६१।।
इहि बिधि बरनौं हास्य रस, ईस्वर चरित अनूप ।
अब करुना रस बरनियौं, करुनामय जस रूप ।।६२।।

करुण रस वर्णन

पद्धरि

गिरि गंधमांद उत्तर दिसान, नर नारायन जहं तपस ठान ।
पग ऊर्द्ध बांधि सिर अधर कीन, झूमत इमि नारायन प्रवीन ।।६३।।
नर बारत तर ज्वाला प्रचंड, मुख झुमत बिस्व कष्टा अखंड ।
श्रम स्रवत अंग पसिना चुचात, अति तेज तपित भव लाल गात ।।६४।।
तन छीन भवत अति नित्त नित्त, छासठ हजार इमि बरष बित्त ।
तब पारवती करुना निधान, कर जोरि धनी सहं कहिय बान ।।६५।।
हे नाथ कृपा सागर प्रवीन, नर नारायन तप घोर कीन ।
तिनि कष्ट न मो पर जात देख, करुना अनंत अंतर बिसेष ।।६६।।
तातें प्रभु मम यह अरज मान, नर नारायन निज भक्त जान ।
दीजे उन कहं बरदान आज, कीजे मन वांछित बिस्व काज ।।६७।।

दोहा

सुनत देव करुना बिनय, करुनामय भगवान ।
नन्दी चढ़ि आतुर गये, नारायन अस्थान ।।६८।।

कुण्डलिया

नारायन के ढिग गये, महादेव भगवान ।
तब उठि नर अस्तुति करी, पूरन प्रेम प्रमान ।
पूरन प्रेम प्रमान, परम आनंद उर बाढ़े ।
ज्यौं पावस रितु पाय, जंत्र ग्रीषम के ठाड़े ।
ज्यौं अति उत्सव सहित, परे पाँयनि पारायन ।
तब प्रभु नरहिं उठाय, आपु छोरे नारायन ।।६९।।

दोहा

नारायन तब उमँगि उर, किय प्रनाम पद सीस ।
बिबिध भाँति अस्तुति करी, जानि परम पद ईस ॥१००॥
तब ईस्वर आयसु दियौ, मांगहु हरि बरदान ।
सुनि हरि अंजुलि जोरिकैं, कीनी अरज प्रमान ॥१०१॥

नारायण उवाच

जगत पिता जगदीस तुम, जगत गुरू जगजीत ।
जग रच्छा प्रतिपाल हित, मो बर देहु अजीत ॥१०२॥

ईश्वर उवाच

सवैया

तुम होहु अजीत लहौ जग में, जस दानव जूह ढहावहुगे ।
पुर चौदह कौ प्रतिपाल धनी, अवतार चरित्र लहावहुगे ।
अरु मुक्तिनि भुक्तिनि दै सक हौ, सब के दुख दूर बहावहुगे ।
हम हू तें बड़ी पदवी लहि हौ, परमेस्वर नाम कहावहुगे ॥१०३॥

सोरठा

दे बर इमि ततकाल, करुनामय करुना सही ।
ईस्वर चरित रसाल, अबिगत अंतर ध्यान हुव ॥१०४॥

दोहा

इमि करुना रस गाथ कहि, करुनामय गुन ग्राम ।
अब बरनहुं अति रौद्र रस, रुद्र कीय अभिराम ॥१०५॥

रौद्र रस वर्णन

चौपाई

एक काल रिषि सप्त गुसाईं । गये ब्रह्म दरबार सुभाईं ।
तेतिस कोटि देव तहं राजैं । रिषि असंख अद्भुत छबि छाजैं ॥१०६॥
बेद सास्त्र मूरति धरि सोहैं । करत ब्रह्म अस्तुति मन मोहैं ।
तहाँ सप्त रिषि आय पधारे । करि प्रनाम पुनि बचन उचारे ॥१०७॥

सप्तर्षि उवाच

दोहा

जक्त पिता करता सुनौ, मम संसै मन माहिं ।
तुम पर ईस्वर दूसरौ, है कोउ और कि नाहिं ।।१०८।।

पद्धरि

इमि सुनत ब्रह्म चितये बिसेष, सिरमौर करी नाहीं सुलेख ।
तब जानि गर्व ईस्वर महेस, कछु करौ क्रोध रस रुद्र लेस ।।१०९।।
तिहि क्रुद्ध भयब अवतार पूत, जसु नाम काल भैरव अभूत ।
अति प्रबल काल भैरव प्रचंड, रबि कोटि तेज ज्वाला अखण्ड ।।११०।।
तीच्छन सु रोम जनु बान जोर, नख खर्ग धार बिकराल घोर ।
दृग अग्नि कुंड परचंड देख, मुख दंत महा दारुन बिसेष ।।१११।।
इमि प्रगट काल भैरव कराल, तिहि हुकुम दियौ ईसान हाल ।
जो सिर ठार्यौ ब्रह्मा निकार, सो सिर कुमार कट्टहु हुँकार ।।११२।।
सुनि हुकुम काल भैरव तुरंत, गत ब्रह्म लोक दारुन गजंत ।
हुव ब्रह्मलोक खलभल सुदेख, भहराय सभा भागी बिसेष ।।११३।।
बिधि पकरि काल भैरव हुंकार, नख शृंग सीस काटौ पछार ।
मुख चार राखि पंचम सुकट्ट, इमि काज कीन प्रभु हुकुम डट्ट ।।११४।।

दोहा

इमि ईस्वर ऐस्वर्ज कौ, अतुल प्रताप प्रचंड ।
ब्रह्म गर्व गंजन कथा, बरनी कासी खण्ड ।।११५।।
इहि बिधि बरनौं रुद्र रस, क्रुद्ध रूप परवान ।
अब बरनहुं वर वीर रस, बल ऐस्वर्ज बखान ।।११६।।

चौपाई

एक समै सब देव सभागे । ईस्वर मूरति पूजन लागे ।
पूजत ही मन में यह आई । का यहि मूरति में प्रभुताई ।।११७।।

मोतीदाम

भयौ सब देवनि कै भ्रम द्वंद, धनी समरथ्थ लह्यौ मन भेद।
बढ़ाय वहै प्रतिमा ततकाल, परापर भेद अताल पताल ॥११८॥
बिलोकि सबै सुर ह्वै भयभीत, कहा अचरज्ज धनी जगजीत।
तबै बिधि बिष्नु कह्यौ धरि धीर, दुहूं मग थम्हिय संभु सरीर ॥११६॥
कियौ मत यौं पकरे सब धाय, महा बल ईस्वर क्यों गहि जाय।
गयौ बढ़ि दो दिसि देवनि ठेल, जथा गत पौन पतौवनि पेल ॥१२०॥
लगे सब ब्रह्म अकासहिं गच्छ, पताल गये कमलापति दच्छ।
जबै लगि ये अति जाहिं उताल, तबै भिदिगौ प्रभु सप्त पताल ॥१२१॥
गये हरि आतुर ह्वै तिहिं ठौर, जहां धर सेस धरैं सिरमौर।
कही तब सेस भ्रमौ न मुरार, अखंड सदासिव नाम बिचार ॥१२२॥
इती सुनि कै तब स्याम सुजान, प्रनाम कियौ मुरके गुरु मान।
फिरे हरि बैठि रहे इत आइ, उतै बिधि संग लगे चलि जाय ॥१२३॥
गये इक ईस ब्रह्मंड सु थान, वहै भिद पार गये भगवान।
तबै बिधि हार गिरे भ्रम मान, मिली तहं कामधेनू तब आन ॥१२४॥
गिरौ पुनि ऊपर तैं निरमाल, दुहूँ मिलि बात कही ततकाल।
गिरंत परंत जहां लगि जाव, सदासिव लिंग अखंड प्रभाव ॥१२५॥

दोहा

अन्त हीन सिव लिंग कौ, ओर छोर नहिं आइ।
लौट चलौ घर ब्रह्म जू, कितहुं बहौ भ्रम खाइ ॥१२६॥

सोरठा

सुनि ब्रह्मा इति बात, मन संभ्रम संसै परौ।
इत उत बनत न जात, अरज करी कर जोरि कै ॥१२७॥

ब्रह्मा उवाच

दोधक

हौं सब देवन देव कहाऊं। जो फिरि जाउँ त सोभ न पाऊं।
जो मम साख भरौ लच दोऊ। आप कहौव करैं हम सोऊ ॥१२८॥

दोहा

सुनि मिलि दुहुं उत्तर दियौ, हम भरिहैं तुव साख ।
लौट चलौ फिर ब्रह्म जू, तुम जु कहौ हम भाष ॥१२९॥

गीतिका

सुनि ब्रह्म जू तिनि संग लै, गत मुरकि कै तिहि ठौर ।
तहं बूझि उठि सब देवता, लहि पार गुरु सिरमौर ।
तब ज्वाब दिय यह ब्रह्म जू, हम लाइयौ सिव पार ।
कहि कामधेनु प्रसाद प्रभु, कौ संग साख हमार ॥१३०॥

रोला

साख भाष दुहुं जननि, बिरथ अनरीति कही जब ।
प्रभु की भई अवाज, श्राप तिहि कहं दीनी तब ।
ब्रह्मा होय अपूज्य, गऊ मुख असुच होय अब ।
जल बूड़हि निर्मलि, लेइ नहि सिद्ध साधु सब ॥१३१॥

धाता

यह सुनि सुर कंपहि सिव सिव जंपहि तब उठि ब्रह्मा करी अरज ।
हे प्रभु भय भंजन जन मन रंजन तुम सारत जन केर गरज ।
हम सोच करौ चित तुव प्रभाव हित तुम अंतरजामी तबहि ।
ऐस्वर्ज बतायौ भर्म भगायौ अब महिमा समुझी सबहि ॥१३२॥

कुण्डलिया

मन की दुबिधा तब मिटै, जब कछु जानी जाय ।
बिन आंखनि देखैं धनी, प्रानी मन न पताय ।
प्रानी मन न पताय, करै जद्दपि अति अरचौ ।
निज प्रतीति तब बँधै, जबहिं पावै निज परचौ ।
तुम सब जानहु नाथ, भूल छमबो प्रभु जन की ।
अब न भ्रमैं हम देव, गई दुबिधा मिटि मन की ॥१३३॥

तोटक

मन की दुबिधा अब दूर दही। तुम्हरी प्रभुता प्रभु जान सही।
इतनी बिनती अब सोच हरौ। फिर मूरति पूजन जोग करौ ॥१३४॥

सोरठा

इमि बिनयौ धरि सीस, ब्रह्म बिष्नु इंद्रादि मिलि।
सब्द कियौ तब ईस, अकसमात आकास महं ॥१३५॥

ईश्वर शब्द

दोहा

हम जु करैं सु करैं करैं, फिरि न करैं क्रत भंग।
जो काहू महं होय बल, तौ करषहु मम अंग ॥१३६॥

सोरठा

सुनि इमि नाथ बयन्न, फेरि अरज को करि सकै।
तब बिधि कमल नयन्न, बुद्धि बिचारि मतौ कियौ ॥१३७॥

अरिल्ल

आदि अंत सिव सक्ति सुनिज्जहि। नाम रूप गुन तूल गुनिज्जहि।
इत लाइक नहिं आन भनिज्जहि। तिहि तैं अरज मातु सहं किज्जहि ॥१३८॥

तोमर

इमि मंत्र करि सब देव। सिव सक्ति जान प्रमेव।
गत तुरत गिरि रजधानि। जहं लसत आदि भवानि ॥१३९॥
रबि कोटि जोति अनूप। रति कोटि अद्भुत रूप।
निधि कोटि गुन गंभीर। ससि कोटि सील सरीर ॥१४०॥
महि कोटि धीर सुभाइ। जग मातु अतुल प्रभाइ।
जग मगत जोति अखंड। अति सील परम प्रचंड ॥१४१॥
इमि देवि सुर पग लाग। किय बिनय उर अनुराग।
सुन जननि अरज हमार। अब रही आस तुम्हार ॥१४२॥

प्रभु कियौ रूप अखंड । गये भेद सकल ब्रह्मण्ड ।
हम खैंचि हारे सर्व । बिधि बिष्नु के गत गर्व ।।१४३।।
तातैं जननि समरथ्थ । प्रभु खैंच आपुन हथ्थ ।
राखौ यथा प्रति सोइ । यह आपनौ क्रम होइ ।।१४४।।

प्रिया

इमि सुनि जननि जगबन्दिनी । उठि तुरत श्री गिरिनन्दिनी ।
तहँ आनि आनन हरषिये । प्रभु रूप दुहुँ कर करषिये ।।१४५।।

गीतिका

लिय कर्ष मूरति दुहुं दिसा, तैं नैक लागि न बार ।
जाकौं जु बिष्नु बिरंचि सिर धुनि, खोज करि पचि हार ।
सुर गन कहा हैं और बपुरे, बल सकैं करि कोय ।
सिव सक्ति कौ ऐस्वर्ज बल, सिव सक्ति ही पर होय ।।१४६।।

दोहा

कै सिव है कै सक्ति है, पटतर जुगल समान ।
वे ईस्वर वे ईस्वरी, द्वै सरूप इक प्रान ।।१४७।।

इमि ईस्वर ईस्वरि चरित, कह ऐस्वर्ज बखान ।
बरनन अति बल बीज कौ, कथा वीर रस जान ।।१४८।।

इहि बिधि बरनौं वीर रस, अति प्रभाव जगजीत ।
अब सु भयानक रस कहौं, चरित महा भयभीत ।।१४९।।

पद्धरि

इक समै उग्र लीला महेस । धरि भैरव रूप प्रचंड भेष ।
पग धरनि सीस असमान लग्ग । भुज परिधि उग्र तुग्राछ जग्ग ।।१५०।।
छुटकंत जटा अरु अट्टहास । क्रत तांडव नृत्त प्रचंड भास ।
लग छूट जटा तीच्छन प्रमस्त । उड़ि गच्छ गगन उड़गन समस्त ।।१५१।।
रबि चंद्र इंद्र रथ पथ प्रकाल । उड़ि उड़ि दिसान परियो बिहाल ।
भुज लागि लागि ढह गये लोक । मुख स्वांस उड़त परबत प्रझोक ।।१५२।।

चप चरन चूर गिरि कोटि ब्रच्छ, धर धचक लचक तन सेस कच्छ ।
दृग सेस रुधिर धारनि बहंत, कलपंत कमठ हाहा कहंत ॥१५३॥
महि चूर चरन भई धूरि धानि, नहिं परहि धरनि असमान जान ।
जग गरद मरद इमि कीन रुद्र, मिलि गये फूटि सातौ समुद्र ॥१५४॥
आकुल ब्याकुल त्रैलोक कंप, मुख त्राहि त्राहि मुनि हाह जंप ।
इमि सकल लोक भय काल वित्त, सिव तांडव नट संसार जित्त ॥१५५॥

दोहा

इहि बिधि तांडव नट कहौ, भ्यानक रस भगवान ।
अब बरनहुं बीभत्स रस, चरित अघोर बखान ॥१५६॥

बीभत्स रस वर्णन

दोहा

एक समै कासी बिषै, चिता भूमि अस्थान ।
अति अघोर बीभत्स रस, राजत श्री भगवान ॥१५७॥

छप्पय

कर कपाल बिकराल भस्म लेपन तन छाजत ।
मुंड माल बहु लाल मृतक आसन पर राजत ।
ओढ़ि चर्म गत पर्म भूत भैरव संग सोहत ।
महिष शृंग बृष शृंग नाद मृग शृंग बिमोहत ।
जुग्गिनी रुधिर खप्पर लियैं नचहिं अग्र गावंत जस ।
अवधूत अभूत चरित्र इमि लसत नाथ बीभत्स रस ॥१५८॥

दोहा

इमि बरनौ बीभत्स रस, चरित चारु अवधूत ।
अब अद्‌भुत रस बरनिये, अद्‌भुत कथा अनूप ॥१५९॥

अद्‌भुत रस वर्णन

दोहा

अद्‌भुत गति सिव सक्ति की, जक्त अचंभव कारि ।
जिमि जनाय श्रीकृष्न कहं, कहौं सु कथा बिचारि ॥१६०॥

पद्धरि

श्रीकृष्न महा अवतार जान, लीला अनंत भुव कीन आन ।
मारे अनेक दैयत प्रजोर, गहि केस प्रबल केसी कठोर ॥१६१॥
धरि गोबरधन दिन सात हथ्थ, हथि इंद्र गर्व गंज्यौ समथ्थ ।
पुनि ब्रह्म गर्व गंज्यौ मुरारि, रचि बाल पच्छ माया पसारि ॥१६२॥
इमि कीन चरित्र अनंत अब्य, सब देवनि के सिरमौर भब्य ।
सब देव करैं अस्तुति अपार, तब कृष्न हिये अभिमान धार ॥१६३॥
जानी हम पर नहिं और कोइ, हौं स्वयं ब्रह्म अवतार सोइ ।
इमि कृष्न रहे अभिमान मान, सो अंतरगति सिव सक्ति जान ॥१६४॥
सिव सक्ति तबहिं काली पठाय, मग बैठि रही मुख बक्र बाय ।
तब गये कृष्न तिहि मग सिकार, लिय लील महाकाली करार ॥१६५॥
जब गये कृष्न तिहि गर्भ ओक, तब लहे कोटि ब्रह्मांड लोक ।
कोटिनि ब्रह्मा अरु बिष्नु देख, निज सम अनन्त अवतार लेख ॥१६६॥
तब भयौ महा संभ्रम अपार, यह कहा महा अचरज निहार ।
इमि ग्यान ध्यान मन में बिसेष, सिव सक्ति चरित माया सुलेख ॥१६७॥
तब जानि आपु अभिमान चूक, अति कंप गात मुख बात सूख ।
कर जोरि मूंदि लोचन मुरारि, किय बिनय प्रेम करुनाहिं धारि ॥१६८॥

श्रीकृष्ण उवाच

दोहा

नमो नमो सिव सक्ति जू, कारन जक्त अधार ।
आदि मध्य अवसान तुम, अगम अखंड अपार ॥१६९॥
अद्वितीय करतार तुम, और न दुतिया कोइ ।
सब महं ब्यापक सक्ति तुम, ज्यौं सागर जल भोइ ॥१७०॥

कुण्डलिया

सागर कौ जल पी करै, सागर सौं अभिमान ।
त्यौं मम नर तुव सक्ति लहि, तुमहिं न जान्यौ जान ॥

तुमहिं न जान्यौ जान, जानि तुम आपु जनायौ ।
दूर करौ अग्यान, काज मम आज बनायौ ।
देखी तुव गति आज, अभूति बिभूति उजागर ।
हौं लघु बिन्दु गुबिन्द, आप अद्भुत सुख सागर ।।१७१।।

बालक ज्यौं जानै नहीं, तात मात कुल गोत ।
लेत सु वे ढंग लाइकै, जानि आपनौ पोत ।
जानि आपनौ पोत, आपु गति रीति सिखावैं ।
सिच्छा हित चित प्रीति, नहीं अवगुन मन लावैं ।
त्यौं तुम श्री सिव सक्ति, जक्त भक्तनि प्रतिपालक ।
छमयो मम अपराध, जानि अपनौ निज बालक ।।१७२।।

इहि बिधि हरि अस्तुति करी, नैन मूंदि सिर नाय ।
दृग खोलहि जो घर परे, रहे चक्रत चकवाय ।
रहे चक्रत चकवाय, कछू कहि जाय न आनन ।
किमि आये किमि गये, मिले निगले किहि जान न ।
स्वप्न कियौ साच्छात, बात कहि जात न तिहि बिधि ।
लहि अविगत सिव सक्ति, कृष्न भूले भ्रम इहि बिधि ।।१७३।।

दोहा

इहि बिधि अद्भुत गति कथा, कियौ 'अनन्य' बखान ।
सुन जस सक्ति पुरान महं, भाषा करौ प्रमान ।।१७४।।
भाषा गुप्त कथा कही, अद्भुत गति सिव सक्ति ।
अब बरनहुं पुनि सांत रस, लहि अद्भुत हित भक्ति ।।१७५।।

शांत रस वर्णन

चौपाई

जब पांडव बनवास सिधारे । अति बिहाल देखे दुख मारे ।
तब अरजुन हरि सुमिरन कीनौ । आय कृष्न तब दरसन दीनौ ।।१७६।।
कर बन्दन इनि बिनति सुनाई । हम अति दुखित भये जदुराई ।
तातैं नाथ कृपा इहि कीजै । ज्यौं दुख कटै सोई मति दीजै ।।१७७।।

सोरठा

सुनि हरि बचन उचार, सुनहु मित्र मम मंत्र निज ।
भज सिव सक्ति अधार, हरन सोक फल चार प्रद ।।१७८।।

दोहा

बिपति बिदारन भय हरन, मुक्ति भुक्ति पद दान ।
भज पारथ सिव सक्ति पद, परम सँजीवन जान ।।१७९।।

कुण्डलिया

पारथ सौं यहि मंत्र कहि, हरि हुव अन्तरध्यान ।
तब इनि लहि सिव सक्ति ब्रत, बैठे जप तप ठान ।
बैठे जप तप ठान, करै पारथ ब्रत पूजा ।
मन वच क्रम दृढ़ इष्ट, और जानै नहिं दूजा ।
पत्र फूल फल खाहिं, नाहिं इंद्रिनि रस स्वारथ ।
कहि 'अनन्य' इहि रीति, गहौ ईस्वर ब्रत पारथ ।।१८०।।

हंस

इहि बिधि पंच बरस गइ बीत, तब ईस्वर आये हित चीत ।
बधिक रूप धनु बान सम्हार, मायिक सूकर करत सिकार ।।१८१।।
सूकर भागि कढ़यौ इत आनि, सो अरजुन मार्यौ सर तानि ।
तब ईस्वर हुंकरि तहं आय, सुनि अरजुन सर तान रिसाय ।।१८२।।
तब प्रभु कही घाल सर राज, देखैं तुव बिक्रम हम आज ।
सुनि अरजुन घाले रिसि बान, ते सब लील लिये भगवान ।।१८३।।
कोटिनि अस्त्र तजे इनि और, सहज समाइ लिये सिरमौर ।
तब अरजुन संके मन माहिं, है छल छंद बधिक यह नाहिं ।।१८४।।

मुरिल्ल

यहि बिचारि उर पार्थ ध्यान प्रभु कौ करौ ।
दै दरसन सुख मूल फूल माथै धरौ ।

पुनि खुलियो दृग बधिक न सूकर देखिये।
प्रभु पद दरसन पाय पार्थ हरषे हिये ॥१८५॥

बरवै

तब प्रभु जानि निरंतर उर अनुराग।
पाइ गये अति आतुर परम सभाग।
तब माथै कर दीनौ श्री भगवान।
उनके मन तैं बहुगुन दिय बरदान ॥१८६॥

कुण्डलिया

पारथ तुम मम भक्त प्रिय, जग महं होहु अजीत।
जहां जाव तहं जय लहौ, संगर रहौ अभीत।
संगर रहौ अभीत, होय जग में जस उद्दित।
भुक्ति मुक्ति पद लहौ, रहौ निरदुख सुख मुद्दित।
भीषम द्रोण करन्न, हनौ दुरजोधन भारत।
करौ निकंटक राज, काज पूरन तुव पारथ ॥१८७॥

दोहा

इमि वर दै प्रभु पारथहिं, हो गये अन्तरध्यान।
तब पारथ सब सुख लहे, जानत सकल जहान ॥१८८॥
पारथ के बहु बान सहि, कोप न कीन कृपाल।
महा सांत रस गाथ यह, कही 'अनन्य' रसाल ॥१८९॥
कहि 'अनन्य' इहि रीति सौं, नव रस नित परवान।
अब बरनौं सिव सक्ति की, लीला ललित प्रमान ॥१९०॥

लीला वर्णन

पद्धरि

दिसि उत्तर अति उत्तम निवास, तहं लसि हेमा पर्वत प्रकास।
जुत अष्ट धातु सुन्दर सरूप, सब रतन रासि भासत अनूप ॥१९१॥
इक रूप सु इमि परबत बिराज, इक देव रूप सोभा समाज।
बहु राज पाट परिवार जुक्त, गिरिराज परम आनंद जुक्त ॥१९२॥

चन्द्रावति नाम सु रानि संग, उरबसी कोटि सुन्दर सु संग ।
गुन रूप सील लच्छन बिचार, अति पतीब्रता सत धर्म धार ॥१९३॥
सरस्वति समान अति मति बिचित्र, गिरिनारि परं त्रिभुवन पवित्र ।
तिहं उर लीनौ अवतार आन, श्री आदि सक्ति जग मातु जान ॥१९४॥

कवित्त

आदि सक्ति नाम जक्त जननी निदान रूप,
निर्गुन सरूप सर्व रूप गुन भरी है ।
अनहद बानि जाकी उठत जुबान गूढ़,
जासु के हुकुम बिष्नु बिधि बिस्वकरी है ।
सूक्ष्म रूप जोति सुन्नि मंडल प्रकास रूप,
माया के बिलास तें बिराट गति धरी है ।
स्वयं बिस्व रूप स्वयं संभव 'अनन्य' भनै,
लीला रूप परबत सुता ह्वै अवतरी है ॥१९५॥

परवत सुता ह्वै अवतरी श्री परम सक्ति,
परम पवित्र पारबती नाम पायौ है ।
सोरह सहस सखी संग चतुरंग महा,
आनंद उमंग गौर अंग छबि छायौ है ।
देखि पितु मातु प्रेम पूरन सिहात गात,
बलि बलि जात मोद भयौ मन भायौ है ।
दिन दिन दूनी देह दीपति 'अनन्य' भनै,
मानौ रूप रूपक सरूप धरि आयौ है ॥१९६॥

रूप ही कौ रूप बिस्व रूप की सरूप जोति,
जोति ही की जोति जाकी जोति जगवती है ।
देविनि की देवि महादेवि महा दिव्यमान,
बिद्यनि की बिद्या महाबिद्या स्रुतिवती है ।
लच्छमी की लच्छमी सु नाम महालच्छमी है,
परम सुलच्छनी बिलच्छन गुनवती है ।

पूरनता पूरन अपूरन 'अनन्य' भनै,
पूरन परम सक्ति माता पारबती है ॥१९७॥

दोहा

पारबती परमेस्वरी, परम सक्ति सिव नारि ।
प्रगट भई अवतार धरि, पर्वतराज कुमारि ॥१९८॥

प्रिया

हुव प्रगट पर्वतनन्दिनी, अति उदित त्रिभुवन चन्दिनी ।
इक दिन सु नारद देखियौ, अद्‌भुत सरूप सु लेखियौ ॥१९९॥
तब मंत्र चित्त बिचारियौ, हरि जोग यह बर नारियौ ।
यहि चित्त तुरत सिधाइयौ, गिरिपतिहिं बचन सुनाइयौ ॥२००॥
गिरिराज तुव कृत धन्यका, जिनि कै गवरि सी कन्यका ।
रति कोटि सुंदर देखिये, रबि कोटि भाग बिसेषिये ॥२०१॥
ससि कोटि निर्मल काय है, निधि कोटि सील सुभाय है ।
लछमी सु कोटि सुलच्छनी, अरु कोटि कोटि बिलच्छनी ॥२०२॥
बहु कोटि गुन गन आगरी, जग जोति त्रिभुवन नागरी ।
हम सकल लोक निहारियौ, इनि सम न आन बिचारियौ ॥२०३॥
तातैं मतौ मम लीजिये, यहि सुता हरि कहं दीजिये ।
हरि पुरुष पूरन पेखिये, सब के सु ईस्वर लेखिये ॥२०४॥
तिनि कहं कुमारि चढ़ाइये, जस लोक लोक बढ़ाइये ।
तुव सुता रानि कहाइहै, पग लच्छमी पर ध्वाइहै ॥२०५॥
इनि जोग बर नहिं और है, बर एक हरि सिरमौर है ।
हरि छाँड़ि आन न दीजिये, हमरौ मतौ निज कीजिये ॥२०६॥

मुरिल्ल

सुनि फूलि कही गिरिराज दियौ मत धन्यका ।
मम भाग लहे हरि कंत सुभागिनि कन्यका ।

तुम जाय कहौ हरि पास यहै मत प्रीति कै ।
हम भेजहिं साजि लगुन्न सगुन्न सुरीति कै ॥२०७॥

दोधक

ये सुनि बिप्र गये हरि लोकै, जहं गिरिराज जुरे सब थोकै ।
बोलि रिषीस लगुन्न लिखाई, साज समस्त सजो मन भाई ॥२०८॥
देखि सबै मन सोच भवानी, एक सखी सहं बात बखानी ।
हे सखि तात कहा भ्रम भूले, नारद के मत में अति फूले ॥२०९॥
नारद मूढ़ कहा मत जानै, मो कहं जो बर बिष्नु बखाने ।
मो बर आदि सदासिव देवा, बिष्नु बिरंचि करैं जिन सेवा ॥२१०॥
बिष्नु बिरंचि किते नसि जाहीं, आदि सदासिव के बल माहीं ।
आदि सदासिव हैं अबिनासी, सिद्ध सरूप सदा सुखरासी ॥२११॥
आदि न अंत अनंत गुसाँई, ते मम नाथ सदासिव साँई ।
नाथ सदासिव ईस गरूरे, सर्व प्रभा पुरुषारथ पूरे ॥२१२॥
आदि पुरूष इन्हैं मम मानौ, और सबै जुवती सम जानौ ।
ते सम और नहीं कहुं दूजा, मानि सदासिव कौं प्रन पूजा ॥२१३॥
पूजहुं एक सदासिव पाई, इष्ट अधार येइ मम सांई ।
को पितु सौं यहि भेद सुनावै, जोब कहै तिहि सौं दुख जावै ॥२१४॥
नातरु सखी यहै मत कीजै, जाय कहूँ बनबासब लीजै ।
बेइ धनी अब धीर धरैंगे, या मन की प्रभु पीर हरैंगे ॥२१५॥
जो न मिलै तु बिषाद करौंगी, बीस बिषै बिष खाइ मरौंगी ।
यौं कहि कै करुनानिधि गौरी, प्रेम प्रवाह नदी दृग दौरी ॥२१६॥
देखि सखी करुना रस बाढ़ी, पोंछि दृगंचल बानि सु काढ़ी ।
हे नृपनन्दिनि सोक निवारौ, पालहिंगे पन कंत तुम्हारौ ॥२१७॥
बेगि चलौ बन में ब्रत कीजै, ध्यान सदासिव में मन दीजै ।
यौं कहि कै सजनी गहि बाँहीं, लै ततकाल गई बन माहीं ॥२१८॥
घोर महा बन बाट न पावै, बरषत मेघ घनै घन छावै ।
भांदव मास निसा अंधियारी, ब्रत्त महा तृतिया सुखकारी ॥२१९॥

ता दिन देवि बसी बन जाई, भूख न प्यास उदास महाई ।
एक सदासिव में मन दीनौ, चातक स्वांति तथा पन लीनौ ॥२२०॥

पूजन कौं बन सौ जस आनी, मंजन कौं नदि तीर भवानी ।
बैठि महा पद्मासन माता, थापि सिंघासन बुद्धि विधाता ॥२२१॥

बालुक लिंग उमेसुर थापे, उत्तम मंत्र मनोहर जापे ।
निर्मल नीर धनी अन्हवाये, सुंदर चंदन गंध चढ़ाये ॥२२२॥

अक्षत स्वच्छ धरै सिर सेते, बेल दलं फल फूल समेते ।
अमृत रूप धरै फल आगे, कै बिधि सौं अरचा अनुरागे ॥२२३॥

गान निरत्त कथा जप तामैं, यौं जग देवि जगी सब जामैं ।
भोर भयैं जगनायक आये, सो जु चढ़ी जोइ देव चढ़ाये ॥२२४॥

देखत देव महा अनुरागी, पूरन प्रेम पगी पग लागी ।
त्यौं कर प्रस्न सदासिव सांई, पांइनि तैं जग मातु उठाई ॥२२५॥

बात कही तुम्हरे मन जोई, सो मनसा परिपूरन होई ।
सोच कछू करियौ न ब्रथा हीं, जाहु घरैं न फिरौ बन माहीं ॥२२६॥

यौं कहि अंतरध्यान सिधाये, श्री जग मातु महा सुख पाये ।
तौ लगि आय गये गिरिराजा, रोवत झींकत सर्व समाजा ॥२२७॥

नन्दिनि देखि अनंदन माई, आनि हथौं हथ लीन उठाई ।
ज्यौं बिछुरी मनि कौ फनि पावै, त्यौं परिवार सबै उर लावै ॥२२८॥

आय घरैं बहु कीन बधाये, नारिनि मंगल मंगल गाये ।
दान अनंत दये पितु माता, जान परी कुसलै सु बिधाता ॥२२९॥

सिंहनि व्याघ्रनि तैं बचि आई, मानहु नन्दिनि आजहिं जाई ।
यौं अति उत्सव सौं सब फूले, देखत ज्यौं सु तमासहिं भूले ॥२३०॥

दोहा

यौं उत्सव गिरिराज करि, कुंवरि गोद धरि लीन ।
बूझत खबर जु प्रेम जुत, बनंह गवन कत कीन ॥२३१॥

कवित्त

सुनि मातु बानी नैन नीचे कै भवानी रही,
संग की सयानी सखी कहौ तब भेव कौं।
सुनौ महारानी तुम बिष्नु कौं लगुन ठानी,
तातैं इनि बनवास कीनौ तव छेव कौं।
इनि मोसौं प्रेम नैम पन तैं प्रतिग्या करी,
मन वच कर्म हौं न करौं पर सेव कौं।
खांडै सीस खांडौ कै बिखांडै देत जीव आली,
छांड़ौं प्रान देह कै बरौंगी महादेव कौं ।।२३२।।

सोरठा

सुनि रानी यहि भेद, सकल खबर नृप सहं कही।
नृपति बोल मुनि बेद, बूझ बचन परवान हित ।।२३३।।

राजा उवाच

दोहा

सुनहु सकल रिषिराज तुम, जानत सब गति भेव।
महादेव को देव है, कहा प्रभाव प्रमेव ।।२३४।।

कुंडलिया

सुनि कै मुनि उत्तर दियौ, सुनहु राज सुखधाम।
और सु देवी देवता, महादेव सिव नाम।
महादेव सिव नाम, देव सेवत सब जिनही।
उतपति प्रलय प्रधान, जान करता प्रभु तिनही।
कहि 'अनन्य' परवान, कहै बिप्रनि इमि गुनि कै।
फूलि महा गिरिराज, नाथ महिमा यहि सुनि कै ।।२३५।।

पद्धरि

अति फूल राज लहिकै सगुन्न, ततकाल साज भेजी लगुन्न।
लै लगनु चले परिजन अपार, सनकादि संग मुनि जति हजार ।।२३६।।

चलि लगुन तुरत कैलास तीर, जहं बहत महा गंगा गंभीर।
दुव पार वार भरपूर गंग, केसर समान जल पीत रंग ॥२३७॥

नाना सुगंध सुंदर सु अंभ, दरसंत सबनि लागत अचंभ।
तब सबनि तहां अस्नान कीन, जप ध्यान सु कर अरचा प्रवीन ॥२३८॥

दोहा

करि अरचा उतसव सहित, चले सकल गुनभूप।
देखत गिरि कैलास की, रचना रुचिर अनूप ॥२३९॥

त्रिभंगी

देखत कैलासं परं प्रकासं उदित अकासं अति राजै।
बिखरौ जनु चन्दं आनंद कंदं रजत प्रछंदं छबि छाजै।
मनि मानिक हीरं जटित सरीरं उच्च अभीरं अंग लसै।
झिरना झिरनारे अमृत पनारे तट तट तारे सिद्ध बसैं ॥२४०॥

बन सघन बिराजै अति छबि छाजै फल दल साजै मधुनि चुवै।
बटु मद्धि सु दीसै सप्रस मुखी सै क्रोस असीसै छांह भुवै।
कल पत्तर वारि गिरद निहारि तरुवर झारि बहु भांतै।
लतिका द्रुम मूलं फूलित फूलं भ्रंगज भूलं रस मातै ॥२४१॥

जहं तहं सुक बोलैं सिव गुन खोलैं पच्छि किलोलैं सुख माहीं।
चर अचर सुभाया ग्यान प्रमाया ब्यापति माया तिन नाहीं।
गज सिंघ सुभाये नाहर गायें सब सुख पायें सँग खेलें।
नहिं बैर बिरोधा सब बुधि बोधा ईस्वर चरनन मन मोहैं ॥२४२॥

मोतीदाम

बिलोकत यौं सब सैल बिलास, गये गिरि पै अति प्रेम हुलास।
जहां बहु राजत सिद्ध समाज, खरे सुर झूमत हैं दरवाज ॥२४३॥

सबै गन गंध्रब किन्नर देव, सजावत गावत लावत सेव।
नहीं कोउ भीतर पावत जान, महाँ दस रुद्र रहे दरवान ॥२४४॥

तहाँ सब यहि पहुँचे दरवाज, कही सब सुद्ध लगुन्न समाज।
तबै प्रतिहार गये तिहि ठौर, बिराजत आप धनी सिरमौर ॥२४५॥

मुरिल्ल

करि प्रनाम किय अरज नाथ प्रतिपालियें।
हेमांचल गिरिराज लगुन दैघालिये।
ठाँडि द्विज दरवाज हुकुम जो पावहीं।
परमेस्वर करतार दरस कहं आवहीं ॥२४६॥

दोहा

सुनि ईस्वर आयसु दियौ, गयौ तुरत प्रतिहार।
लै आये गिरि गनन कहं, महादेव दरबार ॥२४७॥
देखे बिप्रनि दूरि तैं, महादेव तिहिं ठौर।
मानिक सिंघासन लसत, सिद्ध रूप सिरमौर ॥२४८॥

गीतिका

लसत सिद्ध सरूप ईस्वर जोति मूरतिवंत।
कोटि चंद सु छंद सूरत स्वेत तन मनिवंत।
सीस झिलमिल जटा निर्मल पीत रंग पवित्र।
मद्धि तिनि महं गंग झलकत ललित धार बिचित्र ॥२४९॥

अर्ध चंद्र ललाट उद्दित लसत लोचन तीन।
स्रवन मुद्रा जोति जगमग कोटि रबि छबि छीन।
कंठ श्री रुद्राक्ष कंठी परे हिय बल चार।
महा दीपतिवान सुंदर लसत पर्व निहार ॥२५०॥

अमल अंग बिभूति मंडित मनहुं कोटिक मूल।
चार भुज धनुबान सुंदर पानि चक्र त्रिसूल।
बसन बिसद बिसाल सोहत सिंघ चर्म अनूप।
उदित मुदित 'अनन्य' प्रभु इमि लसत जोग सरूप ॥२५१॥

सवैया

जोग सरूप लसै जग भूषन, भूषन आनन माइ करै के ।
अद्भुत गात छपावत केतउ, लाय रहे पुट राख बरे के ।
तद्दपि जोति छिपै न प्रभाव, सुभाव प्रभाकर गर्व हरे के ।
देखि अनूप 'अनन्य' भनै, थकि मौन भये मुनि चोर भरे के ।।२५२।।

तोटक

इमि देखि मुनी मन मोह छये, परि पांयनि पावन गात भये ।
बिनती करि हाथ लगुन्न दई, प्रभु जू रुख सौं सुख पाय लई ।।२५३।।

दोहा

बिदा दई पुनि दुजनि कौं, गये सु पुर अनुराग ।
सकल खबरि बरनी तहां, फूले गिरि बड़ भाग ।।२५४।।

सोरठा

परम भाग गिरिराज, दिसि बिदिसिनि न्यौते दिये ।
जुरि जुरि सकल समाज, सुर नर मुनि आये उमंग ।।२५५।।

कवित्त

लच्छिमी समेत आये बिष्नु जू गरुड़ बैठि,
सारदा समेत आये ब्रह्म बड़ भाग कै ।
तारनि समेत आये चन्द्र जू उदित जोति,
ग्रहनि समेत आये भानु सुख पाग कै ।
देवनि समेत आये इन्द्र जू 'अनन्य' भनै,
रिषिनि समेत सप्तरिषि जोग जाग कै ।
नेउत के मिस आये प्रेम तैं प्रमुद गात,
माता पारबती के दरस अनुराग कै ।।२५६।।

दोहा

आये जान समस्त सुर, फूलि मिले गिरिराज ।
मिहमानी सब की करी, डेरा दिय सुख साज ।।२५७।।

अभीर

पुनि मुनि गन मत बोधि, लगुन सगुन सब सोधि ।
नृप आंगन सुभ चार, छायौ मंडप द्वार ॥२५८॥

कवित्त

मंडप बिराज्यौ द्वार छाजौ राज मन्दिर के,
सुंदर जराउ खंभ ब्रह्म मन भायौ है ।
सोननि के देउनि सौं मंडित अखंड सोभा,
छाय हरे बंसन सौं बंस सुख पायौ है ।
मोतिनि के बंदन सौं बंधे अति पांति जोरि,
बीच बीच अंबु दल संभव प्रभायौ है ।
अद्‌भुत अनंत सोभ सोभित 'अनन्य' भनै,
मनौ रूप आपुन सरूप धरि द्वायौ है ॥२५९॥

छायौ महा मंडप सु मंड मनि चौक महा,
मोतिनि कौ चौक तहाँ पूरियो अयन है ।
बीच बीच पीरे नग हरे नग नीले नग,
बीच बीच लाल लाल लागत चयन है ।
चित्रे बहु चित्र सु बिचित्र मुनि नारदादि,
सारदा चकित चित्त भावना चयन हैं ।
अद्‌भुत अनंत सोभ सोभित 'अनन्य' भनै,
मानहुं प्रभात कियौ भानु जू सपन है ॥२६०॥

पूरौ इमि चौक हेम गिरि जू के चौक मांझ,
धरी तहां चौकी हेम मानिक जरद कौ ।
तापर बिराजी जक्तजननी कुमारि रूप,
उदित सरूप लसै चंद्रमा सरद कौ ।
गाय गाय मंगल सु मंगली चढ़ावै बाम,
मंगल उदार अंग दारुन दरद कौ ।
मानौ महा मानिक पै मानिक कनक रंग,
राजै इमि रंग हरसिंघ पै हरद कौ ॥२६१॥

दोहा

हरदि चढ़ाय बढ़ाय सुख, कियौ और उपचार।
जो कछु बरनै बेद में, बिधिवत चार बिचार ॥२६२॥

नवपदी

बिधिवत चार बिचार, किय हिमगिरि निरधार।
उत प्रभु संभूनाथ, कै नहिं कछु उपचार।
नाहिं कछू उपचार, नर अवधूत बिचार।
मातु न पितु परिवार, कौन करै बिवहार ॥२६३॥

सोरठा

कौन करै बिवहार, सकल निरंजन परम गुरु।
लहि दिन लगुन बिचार, वृषभ चढ़े ब्याहन चले ॥२६४॥

तोमर

ब्याहन चले भगवान, अवधूत तन निरवान।
न ह संग साथ बरात, बृष हंक आतुर जात ॥२६५॥
पहुँचे हिमाचल कूल, उतरे तहां सुख मूल।
गज चर्म आसन डार, बैठे सु आसन मार ॥२६६॥
पुरजन सु हेरत गैल, देखंत चढ़ि चढ़ि सैल।
नहिं उठति धूर बरात, भये सोच सब के गात ॥२६७॥
इमि देख कै अकुलाय, आये सु बूझनि धाय।
बूझत सबै कुसलात, कहुं लखी नाथ बरात ॥२६८॥
सुनि नाथ मृदु मुसक्यानि, तहं उठे बिप्र सु जान।
अरु चिन्ह बृषभ बिसेष, किय प्रनम ईस्वर लेख ॥२६९॥
सब सहं कही यह बानि, एई सदासिव जानि।
सुनि सबनि संभ्रम बाढ़ि, हा हा सबनि मुख काढ़ि ॥२७०॥
सब कहत धृक गिरिराज, धृक गवरि कौ कृत आज।
तजि अमर बर नृप नाथ, बर बोल अतित अनाथ ॥२७१॥

यह कहत सब नर नार, गत नगर सोच बिचार।
कर सोच नगर प्रवीन, रानीहि बिनवन कीन ॥२७२॥
सुनि रानि धृक कृत कूट, तुम कहि अमर बर टूट।
बोलो अतीत अनाथ, तिहि की सुनौ गुन गाथ ॥२७३॥
आगे न पाछै कोय, आयौ बियाहन सोय।
इक बैल पर असवार, लायें सकल तन छार ॥२७४॥
ओढ़ै वघम्बर घोर, छूटे जटा सिर जोर।
लपटंत सर्प बिसाल, उर लसहि मुंडनि माल ॥२७५॥
देखत लगत घिन जाहि, तुम देत कन्या ताहि।
कन्या अखंड सरूप, त्रैलोक उदित अनूप ॥२७६॥
इत उत बिचारति रानि, अति होत दुख उर आनि।
तातैं मतौ यह लेउ, लायक कुमारिहि देउ ॥२७७॥
अब लौं गयौ कछु नाहिं, समुझौ यहै मन माहिं।
नृप सहं कही समुझाय, करनै यहै सुख पाय ॥२७८॥

दोहा

यहि बिधि सौं पुर नायकनि, कहे बयन समुझाय।
सुनि रानी अति सोक करि, कही राज सहं जाय ॥२७९॥

रानी उवाच

कुण्डलिया

राजा जू हम राज पति, यह बर अतित बखान।
धोखे यह कन्या दई, आज परी यह जान।
आज परी यह जान, जान समुझौ मन माहीं।
देखौ चित्त बिचार, गयौ अब लौं कछु नाहीं।
तुरत बाँह बर थापि, करौ लायक सहं काज़ा।
सत बर कन्या कही, दोष याकौ नहिं राज़ा ॥२८०॥

राजा सुनि उत्तर दियौ, कहा करैं हम रानि।
हम तौ हरि कहं देत ते, लायक बर पहिचानि।

लायक बर पहिचान, बिस्व भूषन भव भोगी।
यह कन्या पन बांधि, कहां खोजौ बर जोगी।
ताहि कहौ समुझाय, तजौ हठि जानि सु काजा।
करहुं स्वयंबर आजु, जुरे सब ही सुर राजा ॥२८१॥

सखी उवाच

दोहा

सुनि रानी बोली सखी, बातैं बहुत सिखाय।
आनि निकट श्री गौरि के, कहन लगी समुझाय ॥२८२॥

चौबोला

सुनहु राज नन्दिनि जगवन्दिनि, कौन कुमति तुम धारी।
तजि सुरपति नरपति पति, पन धरि बोल्यौ अतित भिखारी।
लाजत बंस हँसत सब दुनिया, मातु पिता दुख बाढ़ै।
घर घर घेर सखी सब झींखत, कौन सूल तुम काढ़ै ॥२८३॥

आजहु लौं समुझौ तुम सुन्दरि, आखिर फिर पछतैहौ।
मांगत भीख फिरौ भिच्छुक संग, तब जु जनम दुख पैहौ।
मानहु कहौ गयौ कह अब लौं, जयमाला कर लीजै।
लहि सुरराज कुंवर लायक बर, कुंवरि स्वयंबर कीजै ॥२८४॥

पद्धरि

इमि समुझावहु सजनी प्रवीन, गिरिराज सुता अति चक्रत कीन।
सुनि सुनि बातैं सब की सुधीर, नहिं ज्वाब दियौ गिरिजा गंभीर ॥२८५॥
अति प्रेम पुलकि करि सोच गात, धरि ध्यान धनी सहं कही बात।
हे नाथ कृपा सागर अपार, उपहास कितहं कीनौ हमार ॥२८६॥
हम कहं संकट तुम्हरैं सु खेल, धरि अतित रूप आये अकेल।
तुम तौ अकेल हौ हू निदान, मिथ्या प्रपंच माया जहान ॥२८७॥
तुम आदि मध्य अवसान सत्त, रस एक सदा सिव नाम तत्त।
तुम परम तत्त निरवान देव, को जान सकै तुम्हरौ सुभेव ॥२८८॥

तुम्हरौ प्रभाव पूरन प्रमान, सो जानत मैं केवल निदान ।
मो तैं आधौ जानत मुरार, तिन तैं आधौ ब्रह्मा बिचार ।।२८९।।

उन तैं आधौ रबि सेष जान, तिन तैं आधौ मुनि देव मान ।
मुनि देवनि तैं आधौ प्रमान, सो जानहि सब संसार ग्यान ।।२९०।।

संसार लोक मूरख भ्रमात, समयैं सुजान पुनि भूलि जात ।
भूले हमरे कुल जन बिसेष, प्रभु अतित रूप तुव भेष देख ।।२९१।।

मो कहत सबै बर अतित कीन, तुम्हरौ प्रभाव जानत न दीन ।
तातैं प्रभु आपु जनाय लेउ, धरि दिब्य रूप निज दरस देउ ।।२९२।।

दोहा

बिनय कियौ इमि ईस्वरी, लहि ईस्वर परवान ।
अतित रूप पलटत कियौ, दिब्य रूप भगवान ।।२९३।।

छप्पय

दिब्य रूप अति उदित कोटि, रबि छबि तन छाजत ।
दिब्य मुकुट सिर जटा, जोति जगमग दुति राजत ।
दिब्य रतन मनि साज, बिबिध भूषन तन सोहत ।
दिब्य बघंबर सस्त्र, अंग मनमथ मन मोहत ।
अति गंध सुगंध 'अनन्य' भनि, तन रंजत संजत करन ।
इहि बिधि दूलह अद्‌भुत बने, सकल लोक सोभा घरन ।।२९४।।

दोहा

इमि दूलह अद्‌भुत बने, महादेव जग तात ।
बिस्तारी माया तुरत, संग अनंत बरात ।।२९५।।

भुजंगप्रयात

बराती सजे सर्व माया सरूपं, महा सैन सम्मूह लीला अनूपं ।
कहूं देवता जूह सम्मूह राजै, कहूँ राज संमाज शृंगार साजै ।।२९६।।

कहूं मत्त हाथीन के जूह ठाढ़े, कहूं हय रथी सारथी रूप बाढ़े ।
कहूं हय दलं कूंद खूंदंत धारा, कहूं पैदलं भीर भारी अपारा ।।२९७।।

कहूँ बार गन देव गन तान लावैं, कहूँ गान गंधर्व बाजे बजावें ।
कहूं झालरी झांझ आबज्झ बाजै, कहूं, दुंदुभी दुमदुमी भेरि गाजै ।।२९८।।

कहूं रमतुरनि तूर सहनाई सुनिये, कहूँ रुंज गुंजादि बहु तुंज गुनिये ।
कहूँ ज्वाल माला चमंकै चिराकै, कहूं ईस की अस्तुतें बेद बाकैं ।।२९९।।

कहूं अंत रिंझंत बन्दी सुनाबै, भई भीर यौं बाट भूपै न पावै ।
तबै साज यौं राज द्वाराहि आये, भये राज रानीनि के काज भाये ।।३००।।

सबै सैल बासी फिरैं प्रेम फूले, महादेव जू कौ बिभौ देख भूले ।
महा फूलि गिरिराज गौ भमैं जी कौ, कियौश्रीमहादेव के भाल टीकौ ।।३०१।।

दोहा

टीकौ करत महेस कैं, पढ़ द्विज बेद अनूप ।
पुरबासी कौतुक थके, देखत सुंदर रूप ।।३०२।।

सवैया

रूप रसी सिगरी नगरी, नर नागर नागरि प्रेमहि पूरत ।
चक्रित चित्त बिचित्र बिभा लहि, ताकि रहे सब सुन्दर सूरत ।
निस्चल नैन 'अनन्य' भनै, पलटै न कहूँ पल एक महूरत ।
मोह महा सब मोह रहे, जग मोहन कौ लखि मोहिनी मूरत ।।३०३।।

मोहन मूरत सूरत चारु, उदार सदा सिव जोति जगे से ।
देख सरूप थके नर नारि, लगे इनमें मन देह लगे से ।
ज्यौं तन चित्र लिखे लहिये, न टरै कबहूं अति प्रेम पगे से ।
यौं पुरबासि 'अनन्य' भनै, थकि ठाकि रहे सब ठाँढे ठगे से ।।३०४।।

दोहा

रूप ठगे नर नारि सब, ईस्वर रूप रसाल ।
मोह हिमांचल भाग गुनि, तिलक करौ प्रभु भाल ।।३०५।।
तिलक करौ जगदीस कैं, सब बरात कहं राज ।
जनवासे डेरा दियौ, करि बिनती गिरिराज ।।३०६।।

सोरठा

पुनि निसि चारु बिचारि, पूरति मानिक चौक मुनि ।
घर बहु दीप उज्यारि, नागरि मंगल गावहीं ।।३०७।।

कवित्त

तब सखी गौरि कौं सिंगार कै चढ़ाय लाई,
गहैं जुग बांही चाल चलत सम्हारिये ।
सुन्दर जड़ाऊ पाट पांवड़े पुहुमि डारि,
कोमल चरन जान कुसुम सु धारिये ।
दुरद मराल सीख ईस्वरी सुखद गौन,
देख नैन नागरी रतन मन बारिये ।
उमा महालच्छमी की चलनि सुलच्छिनि पै,
लच्छ लच्छ लच्छमी सी बारि बारि डारिये ।।३०८।।

चलि कै सुलच्छ आई आंगन जगत मातु,
अगनित अगिनि हू तैं अंग दुति मंजनी ।
बैठी मनि मोतिनि के चौक मनि चौकी पर,
परम सुछंद कोटि चंद मद भंजनी ।
देखत दरस दिब्य मूरत 'अनन्य' भनै,
गगन बिमान चढ़ी कहैं सुर कंजनी ।
देखौ सखि आज अचरज्ज यह लीला रूप,
मंडप में राजै दियैं अंजन निरंजनी ।।३०९।।

रंजित निरंजनी बिराजत यौं मंडप में,
मंडित अखंड जोति गात हरषत है ।
सूरज अगिनि चंद मंद भये देखत ही,
लेखत की दीपक प्रकास मरकत है ।
अद्भुत अनूप रूप रूपत, 'अनन्य, भनै,
जग की जननि अन्य रूप करषत है ।
देखि देखि देव आदिदेवि महि मूल जानि,
फूल फूल फूले फूल फूल बरसत है ।।३१०।।

हंस

बरसत फूल अमर सुख पाइ, राजत चौक गौरि जग माइ।
सजनि सुमंगल गावइ छिप्र, भूषन बसन चढ़ावहिं बिप्र ॥३११॥

सोरठा

चढ़ि चढ़ाय यह रीति, श्री भवानि भवनहिं गई।
राज परम हित चीत, दिय जिवनार बरात सब ॥३१२॥

मुरिल्ल

दिय जिवनार बरात पाँति रचि कैं तबै।
षटरस बिंजन अन्न त्रपित कीनै सबै।
दीन पान जुरि पानि राज अति मोद सौं।
गये डिराह बरात अनंद बिनोद सौं ॥३१३॥

गीतिका

पुनि भोर भांवरि कौ समौ भव भवन भव सुख छाइयौ।
पुनि पूरि मोतिनि चौक चारु सुचारु चौक धराइयौ।
पुनि धरे मानिक कलस निर्मल बिमल जल भर पूरि कै।
अति उदित दीपक दिपत तिन पर परम दीपति रूरि कै ॥३१४॥
पुनि धरी सौंज समस्त बिधि जुत बिबिध कहत न आवहीं।
पढ़ि बेद मुनि ब्रह्मादि बाम्हन नारि मंगल गावहीं।
पुनि पांवड़े जरियो सु जगमग बिछत छिति छबि छाइयौ।
गहि जोरि गांठि महेस गौरी नारि भुज गहि लाइयो ॥३१५॥

छप्पय

बैठारे सुभ चौक कनक मानिक चौकनि पर।
किये रिषिनि अभिषेक सु कुस जल कर सु मंत्र बर।
लिय पुनि कन्यादान रानि चन्द्रावति गिरि पति।
किय सब चार बिचार बेद उपचार मुनिन अति।
तंह बिबिध भांति बाजे बजत नारि गान मंगल करिय।
बिधि जुत बिबाह लीला ललित गौरि संग भाँवर परिय ॥३१६॥

कवित्त

बिधि सौं बिबाह् बेद चार उपचार सार,
परी पारबती परमेस्वर सौं भांवरे।
बैठे पुनि मानिक सिंघासन निवास मध्य,
कोटि रति काम रूप उदित उचावरे।
देखि देखि जोरी अति अद्भुत सरूप रम्य,
उमंगे अनंद गिरिराज जू के रावरे।
बारि बारि थारि नारि डारति 'अनन्य' भनै,
भादौं से बरस भौन मोतिन निछावरे ।।३१७।।

दोहा

अति उत्सव गिरिराज कैं, सुर नर मुनिनि उछाह्।
श्रपित चराचर बिस्व सब, श्री सिव सक्ति बिबाह् ।।३१८।।

सोरठा

करि बिबाह् इह् रीति, दस दिन राखि बरात नृप।
बढ़ी परसपर प्रीति, पुनि समधी सिव सुन्दरी ।।३१९।।

छप्पय

समधी राजकुमारि संग, सब सखी बिचच्छन।
धाय दाय सब साथ, दास दासी सब लच्छन।
कोटिनि रथ गज बाजि, साजि मन साजि सुभंगह्।
भाजन भूषन बसन, रतन धन धान्य अभंगह्।
इमि दायज राज अनंत दिय, किय मनुहार सबै नगर।
तब ह्वै बिदाय सुख पाय प्रभु, अति प्रमोद डगरे डगर ।।३२०।।
डगरे गौरि बियाह्, प्रमुद लीला जगनायक।
पहुँचे पुर निज धाम, नगर कासी सुखदायक।
धरि तिय मानिक कलस, गाय मंगल लिय आगह्।
बरसत सुर बर फूल, जयति जय जय अनुरागह्।

इमि आइ निवास निवास निधि, भनि 'अनन्य' अनँद छये।
घर घर बधाव दुंदुभि बर्जाहि, उमंग नगर मंगल भये ॥३२१॥

दोहा

यहि बिधि करि लीला महा, षट गुन त्रिगुन बिसेष ।
अब बरनौं भगवान के, बिजय पराक्रम लेख ॥३२२॥

ईश्वर विजय

चामर

एक काल ब्रह्म बिस्नु इन्द्र आदि देव सर्व ।
प्राग मध्धि जग्य ठान आनि कैं प्रमाद गर्व ।
आपुनै निमित्त जग्य ईस्वरै न अर्थ दीन ।
जग्य भाग भोग सर्व आपु आपु बाँट लीन ॥३२३॥

मुरिल्ल

जानि सुरनि इमि गर्व गर्वगंजन धनी ।
लीन धनुष टंकार बिजय लीला धनी ।
तानि कान परजंत बान इक छांडियौ ।
सुर अनेक सर एक महारन मांँडियौ ॥३२४॥

सवैया

काहू के सीस भुजा हत काहु को, काहू के पांयनि काटि ढहायौ ।
काहू के कान लै नाक सु काहु की, काहु के अंगुलि अंग घटायौ ।
ऐसे सबै अँग भंग करे, सुर जग्य महा छिन एक न लायौ ।
यौं सिव बान 'अनन्य' भनै, करि बिक्रम हाथ कौ हार्थाहि आयौ ॥३२५॥

मदनमनोरमा

इमि अभूत आकूत भूत रन सुर कंपत हा हा रट लच्छन ।
अकबकाय अकुलाय धाय तब गहे पांय अकुलाय बिचच्छन ।
निरखि दीन आधीन लीन भय कीन नाथ सरनागत रच्छन ।
धरिय हाथ माथै 'अनन्य' भनि उरग अंग सरबंग ततच्छन ॥३२६॥

दोहा

इमि बिक्रम सुर कुल बिजय, कथा सु भारत थाप।
क्रष्न जुधिष्ठर सौं कहौ, ईस्वर बरन प्रताप ॥३२७॥
ईस्वर के इक बान कौं, सह न सके सुर क्रुद्ध।
को समर्थ संसार महं, करहि सु सनमुख जुद्ध ॥३२८॥

कुण्डलिया

सनमुख जुद्ध न कर सकै, त्रिपुर महा बलवान।
जिन सुरपति श्री पति सहित, जीते तृनहि समान।
जीते तृनहि समान, मारि पुर चौदह लूटे।
घेरि स्वर्ग संग्राम, अमर हा हा करि छूटे।
भागि आय सिव सरन, उठे ईस्वर तब सनमुख।
इक सर दिये उड़ाय, त्रिपुर रह सके न सनमुख ॥३२९॥

दोहा

सनमुख त्रिपुर न रह सके, एक बान के क्रुद्ध।
को समर्थ सुर असुर कुल, करहि संभु सहं जुद्ध ॥३३०॥
जुद्ध एक जालंध्र किय, सो न असुर सुर रूप।
रुद्र रूप अवतार हुव, बरनहुं कथा अनूप ॥३३१॥

जलंधर कथा वर्णन

पद्धरि

इक समैं इंद्र सुर मुनि समेत, गत कैलासहि दरसन सुहेत।
जब चलि पहुँचे गिरि तट सुरेस, तब बीच आय बैठे महेस ॥३३२॥
अपरूप छिपाइ फकीर भेष, मारग मंझार तब इंद्र देख।
तब इंद्र इनहिं बूझी तुरंत, कह रे अतीत प्रभु कह करंत ॥३३३॥
प्रभु चितय ज्वाब दीनौ न सोय, तब जानि धृष्ट अति इंद्र कोप।
दिय घोर बज्र गल गज्ज ताहि, उचटौ सु पुष्प सम लगहि काह ॥३३४॥
तब देखि बृहस्पति चिन्त बात, को बज्र चोट सह सकत गात।
ये अतित रूप देवाधि देव, किय इंद्र लटी जानिय न भेव ॥३३५॥

इमि चिन्त विप्र अकुलाय धाय, आरत तुरंत गहि संभु पांय ।
किय बिबिध बिनय अस्तुति अनंत, तब नाथ भनत वर मांग संत ।।३३६।।

सोरठा

सुनत बिप्र मन फूलि, कोन बिनय करुना सहित ।
छमहु नाथ यह भूल, इंद्र जीव कहं राखिये ।।३३७।।

ईश्वर उवाच

दोहा

इंद्र जीव हम तौ दियौ, दोष छमा किय ताहि ।
कोप पसीना भाल मम, सोब कहौ कित जाहि ।।३३८।।

वृहस्पति उवाच

कोप पसीना नाथ जो, डारहु सागर सोय ।
टपकि रंच भुव पर परै, भुव निरबीरज होय ।।३३९।।

हंस

यह सुनि कैं ईस्वर करतार, भाल पौंछि सागर जल डार ।
यह जल वह जल मिलौ अभूत, तासु भयौ जालंधर पूत ।।३४०।।
जालंधर बालक चिल्लाय, रोयौ घोर महा किकआय ।
तासु सोर आकूत अपार, बहिरौ भयौ सकल संसार ।।३४१।।
सकपकयौ फनिपति पाताल, धकपकयौ ब्रह्मा तिहि काल ।
ब्रह्मा सोच कियौ मन माहिं, को यह रुदन रचौ हम नाहिं ।।३४२।।
यह बिचारि खोजन चल तासु, देखौ बाल रुदनु निधि पासु ।
देखि उठाय लियौ भरि अंक, वह बालक दाढ़ी गहि बंक ।।३४३।।
गहि गाढ़ी दाढ़ी झकझोरि, ब्रह्मा नैन बहै जल जोरि ।
तब ब्रह्मा कर पकरि झकोर, छुटवावत दाढ़ी मुख मोरि ।।३४४।।
छूटै नहीं प्रबल कर बाल, बर्ष हजार भई यह हाल ।
मरु मरु करि छुटवाई ब्रह्म, सोच करौ मन भयौ अचंभ ।।३४५।।

होय प्रबल बालक यह घोर, को बचिहै यहि के बर जोर ।
यहि बिचार बिधि सागर बोल, तिन कहं पुत्र दियौ मन खोल ॥३४६॥

लेहु सिंधु तुमरौ यह पूत, होय प्रबल भुवपाल अभूत ।
यह समान सुर असुर न देख, पालहु आप भाग्य बर लेख ॥३४७॥

दोहा

यह कहि बालक दै तिनहिं, ब्रह्म गये निज धाम ।
सिन्धु सु कीन बधावने, सौंपि पुत्र बर बाम ॥३४८॥

सोरठा

सौंपि पुत्र बर बाम, बिधि सौं निधि दस कर्म किय ।
लहि सुपुत्र अभिराम, जगत जोति दिन दिन उदित ॥३४९॥

विजय

दिन दिन उदित सिंधु कुमार, तन गुन रूप चरित अपार ।
किय निधि ब्याह काज समस्त, हुव सुत महा प्रबल प्रमस्त ॥३५०॥

तब धरि सस्त्र अस्त्र अनेक, कढ़ि दिगबिजय कौं करि टेक ।
दस दिसि जीति कै सब राय, सब कौ लियौ राज छुड़ाय ॥३५१॥

ज्यौं हनि निदर पच्छिनि बाज, त्यौं अकेल जीति सब राज ।
राजनि जितिय संगहि ल्याव, हुव बल चक्रवर्ती राव ॥३५२॥

दोहा

राज जलंधर चक्कवै, और न दुतिया कोय ।
सकल भूप सेवा करैं, छत्र चँवर धरि सोय ॥३५३॥

चौपाई

तब इक दिन राजा अभिमानी । सुनी सुक्र पर खबरि पुरानी ।
सागर मथन इंद्र ने कीनौ । चौदह रतन काढ़ि बर लीनौ ॥३५४॥

सुनि राजा बोले रिस बाढ़े । क्यों मम पितु मथि सर्बस काढ़े ।
भेजहु दूत रतन लै आवैं । के हम उन कहं मारि ढहावैं ॥३५५॥

भुजंगी

किये कोप राजा तबै दूत भेजे, गये आतुरै चातुरै गर्व तेजे ।
किये पाग टेढ़ी महा एड माहीं, गये सर्व कौं ठेलि सोभेस माहीं ॥३५६॥
सभा इंद्र की निंद कै जाय पैठे, महा धीर गंभीर ज्यौं बीर बैठे ।
कही निंद हे इंद्र कि खून कीने, महाराज जालंध्र संदेस दीने ॥३५७॥

सोरठा

तुम मथि बाप हमार, दिब्य रतन लीनै गरब ।
अब मम सौंप भंडार, कै सुर सकल संघारिहौं ॥३५८॥

मोदक

सुनत इंद्र यह जरब क्रुद्ध करि, भनत बचन सुनि दूत चित्त धरि ।
प्रथम समुद्र पुत्र संखासुर, तिहि समर्थ जोते समस्त पुर ॥३५९॥
मम बंधव तब मच्छ रूप धर, मारव प्रबल संख तिनका कर ।
तासु बन्धु जालंधर हुव अब, हनहुँ ताहि परिवार सहित सब ॥३६०॥

कुण्डलिया

इतनी सुनि अति रोष भरि, दूत कही करि निन्द्र ।
महाराज जालंध्र सहं, बैर करौ जनि इंद्र ।
बैर करौ जनि इंद्र, कहत हम तुम्हरे हित की ।
सौंपहु रतन समस्त, बिभव वह उनके पितु की ।
जनि भूलौ सुर राज, संख धोखे गत कितनी ।
तोरहि त्रिन सम तोहि, राव सुनिहैं जब इतनी ॥३६१॥

पद्धरि

सुनि इंद्र कही जनि बाद ठान, कर खबरि करहिं संग्राम रान ।
सुनि दूत तरकि उठि आव तब्य, दरबार खबरि गुदरी सु सुब्य ॥३६२॥
सुनि खबरि राव जालंध्र कोपि, कढ़ि करहु सर्व सुर सैन लोपि ।
मम रतन हेतु किय बैर दाव, उन भलहिं लियौ मम बन्धु नाव ॥३६३॥
अब बंधु बैर मम सुनिय कान, मारहुँ समस्त देवा गुमान ।
मम निदर लियौ उनि संख नाव, देखैं वह मम भुज बल प्रभाव ॥३६४॥

सोरठा

लेहु दाव ततकाल, चलहु सूर सामन्त सब ।
देहु ढोल कुतवाल, पुरनि जु है नर छोट बड़ ॥३६५॥

सुलक्षण

सुनत ढोलिया ढोल सु दीन, राज हुकुम आयसु पुर कीन ।
चलहु सूर सावँत सजि संग, रहै नगर ना घर तन भंग ॥३६६॥

सोमराजी

दिये ढोलिया ढोल यौं बोल बोलै,
उठे सूर सावंत कै कोप लोलै ।
सबै साजि कै राज द्वाराहिं आये,
महाराज जालंध्र जू रोष छाये ॥३६७॥

छप्पय

महाराज जालंध्र मुकुट बांध्यौ कसि मस्तक ।
पहिरौ कंचन कवच चाप चापौ बर हस्तक ।
कटि कटार किरपान सज्जि खंजर सर तरकस ।
कठिन कुठार त्रिसूल सेल्ह लीन्हे कर करकस ।
इमि अस्त्र सस्त्र समरथ्थ सजि कोटि भानु आभा धरिय ।
कढ़ि सुदित सरोष 'अनन्य' भनि सकल लोक खलभल परिय ।।३६८॥

इमहि सज्जि समरथ्थ रथ्थ कंचन चढ़ि हंकर ।
तेज पुंज रिस पुंज रोष रोषित धनु टंकर ।
बजी बंस पर बंस कोटि दुंदुभि धुनि भारिय ।
सुभट जूह करि कूह हूह करि करि हंकारिय ।
डगरे तव डगर 'अनन्य' भनि नगर नगर आतंक भुव ।
दल चलत डुलत परबत सकल हलत भूमि हलकंत हुव ॥३६९॥

सवैया

इमि राज जलंध्र चाले सजि कै, गज कै चतुरंग चमू भुव भूपत ।
रथ हयदल पयदल कौन गनै, दल मत्त गयंद करोरनि कूकत ।

भूमि हिलै नलिनी दल सी, दल भार धराधर चक्र बिदूषत ।
सैन अनंत 'अनन्य' भनै, मग लेत मुकाम नदी सर सूखत ॥३७०॥

दोहा

इहि बिधि चलि सुरपुर गये, जालंधर दल सज्ज ।
देखि उठे तब इन्द्र जू, दुमदुम दुंदुभि बज्ज ॥३७१॥

मोतीदाम

बजै घन दुंदुभि जुद्ध जुझाउ, परी पुर रौर कढ़े सुर राउ ।
कढ़े रबि द्वादस कोपि कराल, प्रलय कर दारुन बर्षत ज्वाल ॥३७२॥
कढ़े ससि कोपि बढ़े रिस क्रुद्ध, समस्त तरागन संग त्रिसुद्ध ।
कढ़े यमराज महाकर कूह, भयानक संग घने जम जूह ॥३७३॥
कढ़े पुनि कोपि कुबेर प्रचंड, लिये संग जच्छिनि जच्छ अखंड ।
कढ़े पुनि बरुन महा बल गर्व, समूह समाह जु लै संग सर्व ॥३७४॥
कढ़े गन गंध्रब किन्नर कोर, हजारन चारन बारन जोर ।
कढ़े पुनि वीर बिताल अनंत, करैं बहु छंद डुले परबंत ॥३७५॥

दोहा

कढ़े सु इमि दल सज्जि तब, अमर समूह अपार ।
महाराज सुर राज सहँ, कीनी सबनि जुहार ॥३७६॥

सोरठा

तब सुरराज प्रचंड, हुव असवार गजेन्द्र पर ।
धरि कर बज्र अखंड, साजि सस्त्र सैनाहि वर ॥३७७॥

महानराच

गजेन्द्र पै चढ़े कढ़े बढ़े प्रकोपि सक्र जू,
सु बक्र लाल चक्र नैन बैन क्रुद्ध को कहै ।
सहस्र भानु के समान तेज वान मानिये,
जु मान सु प्रमान राज मान राज थोक है ।

समूह देव जूह संग हूह कै हंके महा,
फतूह कौ करंत बौर कूह कोप झोक है।
भनै 'अनन्य' धन्य देव सैन सु प्रभूत सो,
अभूत भूत देखियौ अनंत लोक लोक है ॥३७८॥

दोहा

लोक लोक आकूत हुव, कढ़े इंद्र दल सज्ज।
उतरे स्वर्ग सुमेर तैं, दै दुंदूभि गल गज्ज ॥३७९॥

पद्धरि

गल गज्ज सु इमि सुरपत्ति आय, दल हंकि इतहि जालंध्र धाय।
जुग राज जुरे इक खित्त आइ, दुहुं दल दुंदुभि बाजे बजाइ ॥३८०॥
दुव राव चतुर दल जोर पांति, रन जुरे जुगनि सतरंज भांति।
हथ्थिनि हथ्थिनि जुट्टन्त जोर, रथ्थिनि सौं रथ्थिय रुपत घोर ॥३८१॥
हयदल सौं हयदल कूँदि अर्त, पैदल सौं पैदल मार कर्त।
वीरन सौं बीर बिरुद्ध जोट, तीरनि सौं तीर करंत चोट ॥३८२॥
सैंथिनि सौं सैंथिनि घोर घाव, खर्गनि सौं खर्गन देत दाव।
जमधर सौं जमधर जुरत जुध्ध, खंजर सौं खंजर भिरत क्रुद्ध ॥३८३॥
कटरनि सौं कटरन बिकट घाइ, छुरियनि सौं छुरियन हनत धाइ।
फरसनि सौं फरसन लरत बीर, कुल्हरनि सौं कुल्हरन हनत धीर ॥३८४॥
तोमर सौं तोमर करत मार, कित्तनि सौं कित्तनि सार झार।
मुहरनि सौं मुहरन मुहंमरंत, गुरजनि सौं गुरजन हनि लरंत ॥३८५॥
बज्रनि सौं बज्रनि झरनि ज्वाल, गज्जनि सौं गज्जन रन कराल।
चक्रनि सौं चक्रन बक्र खंड, गोलनि सौं गोलन दल बिहंड ॥३८६॥
मूसर सौं मूसर हनत हंक, बैंटनि सौं बैंटन भार पंक।
ब्रच्छनि सौं ब्रच्छन जुरत जोर, परबत सौं परबत परत घोर ॥३८७॥
अस्त्रनि सौं अस्त्रन इमि हनंत, सस्त्रनि सौं सस्त्रन रन सनंत।
जुटधर मुठधर जुरि जुद्ध बीर, परमातुर हुव दुव दल गंभीर ॥३८८॥

दोहा

भयउ परस्पर जुध्ध इमि, दुव दल प्रबल प्रमस्त ।
पुनि बिहाल बिललाय कै, भागे देव समस्त ।।३८९।।

नग स्वरूपिणी

समस्त देव भज्जियो सु सत्रु सैन गज्जियो ।
सु दिक्ख सक्र क्रुद्ध सौं महा हंकार बुद्ध सौं ।।३९०।।
गजेन्द्र पेलि झुक्कियौ अनंत अस्त्र मुक्कियौ ।
दुवौ प्रबल प्रजुट्टियौ मनो दुकाल छुट्टियौ ।।३९१।।
तबै सु सत्रु डग्गियौ कछूक सैन भग्गियौ ।
सुरेन्द्र आनि नक्कियौ तबै जलंध्र झुक्कियौ ।।३९२।।
प्रचंड काल क्रुद्ध है करंत घोर जुद्ध है ।
परस्पर अस्त्र छंड हो सु त्रान त्रान खंड ही ।।३९३।।

सवैया

त्रान अनंत रनं बरषै झरि, ज्वाल कराल तही प्रतची है ।
क्रुद्ध बिरुद्ध जुरे तिर सुद्ध, सुजुद्ध कला बिकला न बची है ।
भूत दुनी भयभीत भये, भव त्राहि भयउ भयहा ह लची है ।
यौं अति इंद्र जलंधर सौं, सु रचे बिरचे रन मार मची है ।।३९४।।

ललितपद

तब नाथ नाथं देव नाथं बज्र हाथ उभारियौ ।
अति घोर घोरं जोर जोरं मुष्टि केर प्रभाइयौ ।
वह ज्वाल ज्वालं काल कालं बिज्जु भाल चमक्कियौ ।
जनु गाज गाजं तेज ताजं प्रलय काल झमक्कियौ ।।३९५।।

दोहा

प्रलय काल सौं बज्र इनि, लियौ इन्द्र बल सज्ज ।
जालंधर रथ सारथी, चूरन किय गल गज्ज ।।३९६।।

सोरठा

तब जालंधर राय, महा क्रुद्ध करि सुद्ध उठि ।
भैरव गदा फिराय, धायौ गति अति कोप कै ॥३९७॥

चामर

कोप कै जलंध्र जू गजेन्द्र कैं गदा दियौ ।
भागि सो चिकारि कै बिषाद इंद्र कैं भयौ ।
जानि कैं अजीत सत्रु भीत चित्त कंपियौ ।
जोरि हाथ माथ नाथ बिष्नु मंत्र जंपियौ ॥३९८॥

छप्पय

जानि इंद्र कहं गाढ़ बिष्नु धाये खगपति चढ़ि ।
सत्रु सैन पर उपर उड़त आये बिरुद्ध बढ़ि ।
प्रबल गरुड़ विव पच्छ चलत अति पवन पुंज वर ।
उड़िय जलंधर सैन मनहुं आधीन पत्र वर ।
घालव चक्र मुरारि गर्जि कै महा तेज तीच्छन सवित ।
हत मुंड रुंड तरु डुंड से खंड खंड खंडे दवित ॥३९९॥

खंड खंड लखि दवित चित्त अति क्रुद्ध ज्वाल जर ।
प्रबल जलंधर राव गरजि धनुबान त्रान धर ।
छंडे सुर जु अखंड गरुड़ तन तन भेदिय इमि ।
अंग अंग गसि रहे जान से हिय कंटक जिमि ।
नहिं रही सम्हार सुमार तन बिकल बिथा पच्छिय परिय ।
तब हुव ब्याकुल बिललाय कै सहित गननि भागे हरिय ॥४००॥

कुण्डलिया

भागे हरि ब्याकुल भये, कही इन्द्र सहं बानि ।
महा प्रबल जालंध्र सहं, बैर कियौ कह जानि ।
बैर कियौ कह जानि, अंस ईस्वर वह जानहु ।
को तिह सौं लरि सकह, रुद्र अवतार बखानहु ।
तातैं करिय सलाह, रतन निधि के उन मांगे ।
मिलि बसिये नृप वाह, अनत फिरिये कित भागे ॥४०१॥

दोहा

यहि बिचारि सब रतन लै, ब्रह्म बिष्नु सुर राय।
महाराज जालंध्र कहं, मिले जोरि कर आय ॥४०२॥

तब राजा आयसु दियौ, लोक देहु सब छंड।
बसहु हमारे नगर में, प्रजा भये घर भंड ॥४०३॥

पद्धरि

सुनि सुरनि तुरत बसही निकास, लै चले संग आयसु प्रकास।
तब लच्छमी लै कर थार जोइ, किय तिलक राज कहं बहिन होइ ॥४०४॥

तब राज बहिन बहनोइ जान, लै चले संग अति प्रीति मान।
रन बिजय मुदित अति उदित राय, आये निदान दुंदुभि बजाय ॥४०५॥

दोहा

आपु बसाये कर प्रजा, ब्रह्म बिष्नु सुर सथ्थ।
तिन लोकनि थाने थपे, जालंधर समरथ्थ ॥४०६॥

कवित्त

ब्रह्म लोक बिष्नु लोक इन्द्र लोक चंद्र लोक,
सूर लोक सुर लोक राखे नृप राने हैं।
तप लोक तार लोक सनि लोक सुक्र लोक,
बुध लोक भौम लोक गन ठहराने हैं।
धन लोक धर्म लोक सपत पताल लोक,
देवहू अदेवनि के लोक जे बखाने हैं।
लोकनि के नाथ सर्व प्रजा करि सर्व पुर,
लोक लोक प्रबल जलंधर के थाने हैं ॥४०७॥

छप्पय

लोक लोक थानैत, देव सेवत सब पाइन।
प्रजा सकल सुर असुर, आन दस दिसि सत भाइन।

हुकुम पवन जल बहत, देत चौकी रबि चन्दहु ।
आयसु रितु परवान, भूत बंदत जग बंदहु ।
धरि छत्र चंवर सुरपति बरुन, ब्रह्म बिष्नु मुख तक्कवह ।
निसकंटक राज 'अनन्य' भनि, राव जलंधर चक्कवह ॥४०८॥

कुण्डलिया

प्रबल जलंधर चक्कवह, प्रजा भये सब देव ।
तब नारद मन सोच करि, करौ मंत्र लहि भेव ।
करौ मंत्र लहि भेव, राव अवतार रुद्र हुव ।
सकल असुर सुर जीत, अतिहि उतपात करत भुव ।
तातैं करहुं उपाव, राव सिव अंस बलंधर ।
उन सहं देव भिराय, हनै प्रभु प्रबल जलंधर ॥४०९॥

दोहा

इमि उपचार बिचार मुनि, जिनि प्रपंच की सिद्धि ।
आये जालंधर पुरिहि, दरसी राज समृद्धि ॥४१०॥

जलंधरपुर राज्य समृद्धि वर्णन

सवैया

राजत हैं सब कैं बहु बाजि, बिराजत हैं सब कैं रथ नौने ।
गाजत हैं सब कैं गजराज, सु छाजत हैं सब के घर सौने ।
बाजत है सब के घर दुंदुभि, देखि 'अनन्य' भये मुनि मौने ।
राजत राज जलंधर कैं इमि, राज प्रजा कहि जात न कौने ॥४११॥

सोरठा

देखत इमि पुर राज, राज प्रजा सम सर बसत ।
पुनि चल गत रिषि राज, राज महल राजत जहां ॥४१२॥

छप्पय

राज महल झिलमिलत, खचित कंचन मनि मानिक ।
निदर स्वर्ग वर दुर्ग, परम सुन्दर बनि बानिक ।

द्वारिनि दुंदुभि दीह, दुरिद दारुन मद घुंमत ।
देव अदेव ग्रदेव, अमित कोटिनि लगि झुंमत ।
अति भूत अभूत 'अनन्य' भनि, ब्रह्म विष्नु सुरपति थकित ।
इमि जालंधर रावल निरखि, नारद चित चक्रित चकित ।।४१३।।

अभीर

नारद चकित सरीर, चले ठिलत बहु भीर ।
गये राज दरबार, कौतुक चरित निहार ।।४१४।।

कवित्त

भिरे कहूँ मल्ल मत्त महिष मतंग बृग,
मृग मृगराज कहूं मेष अति ताजसी ।
भाटैं करैं भाट कहूं नाटैं करैं नटनटी,
भांड़ैं करैं भांड़ हंसैं सभा सुख साजसी ।
गावैं कहूँ गंध्रब बजावैं कहूँ बाजे गन,
राज सुरराज छत्र चौंर कर साजसी ।
मानिक सिंहासन पै सोहत जलंधर जू,
देखत तमासे राग रंग बहु राजसी ।।४१५।।

चौबोला

देखत इमि कौतुक बहु भांतिनि मुनि नृप निकट पधारिया ।
लहि नृप उठि प्रनाम करि आसन बांहि पकरि बैठारिया ।
बूझत खबरि कृपा कीनी मुनि किहि कारन पग धारिया ।
सुनि मुनि चतुर प्रपंच कपट करि नृप सहं बचन उचारिया ।।४१६।।

नारद उवाच

कुंडलिया

राजा जू सुर असुर कुल, हौं देखे सब टोह ।
तुम सम परम प्रताप अति, भुवपति भयौ न होह ।
भुवपति भयौ न होह, आपु सब बिधि सब लायक ।
दान जूझ गुन रूप, राज बाहन बल पायक ।

एक बात करि हीन, कहन आये तिहि काजा ।
तुम लायक वर नारि, नहीं तुम्हरे घर राजा ।।४१७।।

राजा उवाच

दोहा

राजा हँसि सुनि ज्वाब दिय, मम वृन्दा वर नारि ।
रूप सील गुन आगरी, महा पतिव्रत धारि ।।४१८।।
सची सरस्वति लच्छमी, जब आवहिं दरबार ।
दबि जाती छबि देखि कै, बृन्दा रूप अपार ।।४१९।।
बृन्दा सम सुन्दरि कहूँ, हम नहिं जानत और ।
जो कहुँ होइ तौ कहहु तुम, फिरत रहत सब ठौर ।।४२०।।

नारद उवाच

चौपाई

सुनहु राव इक बात बताऊं । तुम्हरे हित निज भेद बताऊं ।
संभु नाथ इक है सन्यासी । गिरि कैलास तहां कौ बासी ।।४२१।।
बृद्ध अतीत अनाथ भिखारी । ताके घर सोहै वर नारी ।
सो हम देखिहि पुनि इत आये । सुनहु तासु गुन रूप सुहाये ।।४२२।।

श्रीपार्वती गुण-रूप वर्णन

छप्पय

कोटि चंद स्वछन्द, कोटि लच्छमी सुलच्छनि ।
कोटि भानु तन जोति, कोटि सारद सु बिचच्छनि ।
कोटि देव दुति दिब्य, कोटि रति तें अति सुन्दर ।
कोटि सची छबि रची, कोटि दामिनि दुति मुन्दर ।
निधि कोटि सु बुद्धि गंभीर गुन, भनि 'अनन्य' महिमा सरस ।
आनंद धाम अभिराम तन, पारबती अद्भुत दरस ।।४२३।।

दोहा

पारबती अद्भुत दरस, लेहु मंगाय नरेस ।
बृद्ध अतीत अतीत वह, का करि सकहू महेस ।।४२४।।

सोरठा

सुनि सुख पाइ नरेस, हुकुम कियौ तब राय कहं ।
जाहु सकल असुरेस, ल्याव बाम दरवेस की ।।४२५।।

कुण्डलिया

आयसु सुनि नृप नाथ कौ, प्रबल राय दल थंभु ।
गननि सहित कैलास गत, जहां लसत प्रभु संभु ।
जहां लसत प्रभु संभु, सिद्ध मूरति अति राजत ।
अंग भस्म सिर गंग, चंद मस्तक छबि छाजत ।
देख असुर बल गर्व, भये ठाढ़े तहं जायसु ।
कहौ वहै संदेस, भयौ नृप कौ जिमि आयसु ।।४२६।।

राय उवाच

भुजंगी

हे संभु जोगी सुनौ बात मेरी, जालंध्र राजा रुची बाम तेरी ।
ब्रह्मा हरी इंद्र है बन्दि जाकौ, टारौ नहीं सासना आप ताकौ ।।४२७।।

भुजंगप्रयात

इती बात ही संभु कैं कोप बाढ़ौ । तनक्कोर लिल्लार कौ चच्छु काढ़ौ ।
कढ़ौ तासु तैं पुत्र दारुन्न रूरौ । प्रलै काल सौ ज्वाल मालान पूरौ ।।४२८।।
बिलोकंत दानैन कौं खानि धायौ । भजे दानवा स्यार ज्यौं सिंह आयौ ।
तबै देखि श्री पारबति धर्म माई । गहौ पुत्र बाँहींनि दानै बचाई ।।४२९।।
कही पूत सौं पूत दूतै न मारौ । महा पाप याकौ सु धर्मैं बिचारौ ।
कहा वे करैं राज के तेज आये । न भच्छौ तिन्हैं जानि कै धर्म ठाये ।।४३०।।

दोहा

सुनि उनि पुनि बिनती करी, सुन जननी जगमाइ ।
हौं अति भूखनि मरति हौं, तृपित हौंहु कह खाइ ।।४३१।।

गीतिका

यह सुनत मातु बिचार किय, यह काल रुद्र प्रचंड ।
जो रहै साबित देह तौ, भखि लेहि लोक ब्रह्मंड ।

करनै हमें संसार की, रच्छा समस्त प्रकार ।
तातैंब याहि अपंग करि, बैठारिये यहि बार ॥४३२॥

दोहा

यह मत करि जग की जननि, जग रच्छाहि बिचार ।
कही पुत्र तू आपनै, हाथ पाँव भखि डार ॥४३३॥

हाकिल

सुनत हुकुम आतुर उनि तबै, हाथ पाँव भखि लीनै सबै ।
अधिक भूख बाढ़ी तन महा, कही मातु अब आयसु कहा ॥४३४॥

हंस

इमि सुत लहि आयसु परवान, रीझि जननि दीनौ बरदान ।
रहौ सदा प्रभु अग्र कुमार, कीरतमुख तुव नाम उचार ॥४३५॥
जहं जहं प्रभु पूजा जग होइ, तहं तहँ प्रथम चढ़ै सुत तोइ ।
अरु पुनि सुनि मम बात कुमार, जब हम प्रलै करैं संसार ॥४३६॥
तब त्रिभुवन भख लैहौ पूत, तिहि तृपितै तुव भूख अभूत ।
तौलौं तृपित रहौ बिन खान, त्रासहि तृषा न मो बरदान ॥४३७॥

कुण्डलिया

माता इमि बरदान दै, राखे सुत बैठार ।
उत जालंधर सौं खबरि, कही सु राय पुकार ।
कही सु राय पुकार, भाग तुम्हरे बचि आयौ ।
वह जोगी अवधूत, धूत इक पूत उपायौ ।
लिय होते सब खाय, काल कंटक वह गाता ।
दीनं धर्म बचाय, वहै जोगिनि जग माता ॥४३८॥

सोरठा

सुनत कोपि नृप राय, सब सूरनि आयसु दियौ ।
अतित चेटकी आय, चलहु बंदि करि ल्याइये ॥४३९॥

छप्पय

प्रबल जलंधर राव, सुभट सज्जे गज तत्रहि ।
कसे टोप करि कोप, ओप बख्तर धरि अस्त्रहि ।
छुरी खर्ग जमदाढ़, सेल्ह मुदगल धरि हथ्थनि ।
फरसा गुरज त्रिसूल, बज्र लीनै समरथ्थनि ।
इमि सजि सावंत 'अनन्य' भनि, धरि अनंत आयुध विकट ।
गज रथ अस्वनि असवार ह्वै, जुरिय राव रावर निकट ॥४४०॥

भुजंगप्रयात

सबै साजि यौं राज द्वाराहि आये, महाराज जालंधरं रोष छाये ।
धरैं सर्व आयुध्ध संनध्ध राजा, मनौ काल पै काल कौ काल साजा ॥४४१॥
चढ़े हेम मानिक्क के रथ्थरानं, मनौ अग्नि पै मंडली मंड भानं ।
लसै ऊपरं छत्र सोभा सुछंदं, मनौ भानु पै मंडली मंड चंदं ॥४४२॥
लसै राव जालंध्र यौं सोभ साजै, मनौ श्री महादेव भव रूप राजै ।
बिलोकंत यौं सर्व सेना जुहारै, चले कोपि कै रथ्थ राजा हंकारै ॥४४३॥

तोटक

इहि भाँति सज्जि बजि राज कढ़े, दल जूह समूह समाह बढ़े ।
बहु कोटिनि दैयत जात गनै, अरु लक्षनि रक्षस घोर घनै ॥४४४॥
गन गंध्रब किन्नर जच्छ बली, सब देवनि की जुरि सैन चली ।
बिधि बिष्नु सुरेस दिनेस चले, नृप आन इतै उत न्यान मिले ॥४४५॥
पुनि राज समाज अनंत कढ़े, दिगपालनि आदि उदोत बढ़े ।
रथ हयदल पयदल कौन गनै, दिनराजहि से सब राज बने ॥४४६॥
सब राजनि सौं महराज लसै, जस तारनि पूरन चंद बसै ।
सुर छत्र लियै गन चौंर ढरैं, सब भाट गनै वर हांक करैं ॥४४७॥
फहरात निसान गयंद गजै, बहु कोटिनि दुंदुभि दीह बजै ।
चलि सैन प्रजोर धरा धचकै, अति भार कमट्ठ फनी लचकै ॥४४८॥

दोहा

इहि बिधि सैन समूह सजि, चले जलंधर राइ ।
जल थल महि खलभल भई, दल बल बरनि न जाइ ॥४४९॥

दल बल वर्णन

कवित्त

रथी अतिरथी महारथी हैं अनंत लाख,
　　पाखरीन पखरै तुषार सार कल है ।
नौबत निसान फहरात घहरात घोर,
　　पैदल असंख जिन्हें हैदल सौ बल है ।
महा मत्त हाथी कोटि कोटिनि 'अनन्य' भनै,
　　जिनके चलत ही हलत भूमि थल है ।
कैधौं महाकाल यह कुल लै हंकार कढ़ौ,
　　कैधौं महा प्रबल जलंधर कौ दल है ॥४५०॥
प्रबल जलंधर के दल गल गाजि कढ़े,
　　बड़े मनसूर जिन्हें जुद्ध की रसम सी ।
सेना खुरथारनि सौं छारनि अकास छयौ,
　　भयौ अति धुंध दृष्टि सबकी लसमसी ।
सैन के समह जूह को गनै 'अनन्य' भनै,
　　गरद मरद होत मेदिनी धसमसी ।
सेस जू के सीस चंप लोचन रुधिर धार,
　　भार तैं कमठ जू की पीठिका कसमसी ॥४५१॥

छप्पय

भयव भुंमि अति भार, चलिय दल दार अखंडित ।
बिकट सुभट सावंत, गजत अति कोप प्रचंडित ।
इक फेरत कर ब्रच्छ, एक पर्बत सु उखारत ।
इक मायिक तन पलटि, बाघ बंकर हंकारत ।
अति अद्‌भुत सैन 'अनन्य' भनि, सबनि समर उत्सव बढ़ब ।
इमि त्रिबल प्रबल दल सज्जि कैं, जालंधर संगर चढ़ब ॥ ४५२॥

संगर चढ़ब जलंध्र, बढ़ब आतंक जगत अति ।
थरथरथर सुर कंप, जपत सिव सिव अंतर गति ।
चलत सेन बिकराल, मिलत नहिं बाट बसुंधरि ।
चूर चरन गिरि ब्रच्छ, हंक गजरथ पथ धुंधरि ।
भर रहिय प्रजा जल थल सकल, लोक लोक खलभल परिय ।
इमि आवत प्रबल समुद्र सुत, रुद्र रूप संकर करिय ॥४५३॥

रुद्र रूप तन करिय, धरिय मन क्रुद्ध जुद्ध लहि ।
त्रिगुन नाथ समरथ्थ, हथ्थ तीच्छन त्रिसूल गहि ।
तेज पुंज हुंकरत, धनुष टंकरत बान करि ।
सीस सर्प फुंकरत, झरत बिष झार रोष झरि ।
अति अमित प्रभाव 'अनन्य' भनि, प्रभु बिचार लीला समर ।
चढ़ि प्रबल बयल गल गज्जि कैं, डम डम डम बज्जब डमर ॥४५४॥

दोहा

डमरु बज्ज गल गज्जवर, हंक प्रबल बृष हथ्थ ।
उतरे गिरि कैलास तें, सिव संकर समरथ्थ ॥४५५॥

अमृतध्वनि

सिव संकर तब बिरचि कैं, बृष हंकर गल गज्ज ।
किन्निय पसरि 'अनन्य' भनि, डमकि डमरु कर बज्ज ।
बज्जत डमरु बरज्जत रिपुदल, सज्जत समर सरज्जत ।
घन सर तज्जत त्रान तरज्जत, तन दन दानैं मज्जत ।
भूप भरज्जत स्रक्धर मज्जत, दिति गन रज्जत बृष भर ।
हय गज लज्जत अति दल रज्जत, अति दिति गज्जत संकर ॥४५६॥

संकर नाथ 'अनन्य' भनि, धरि तिरसूल तमंक ।
जालंधर दल दलन कहं, गंजत गरजि धमंक ।
धमंकत जाइ धमक्कत धाइ, रमक्कत जुद्ध तमक्कत क्रुद्ध ।
चमक्कत सूल हमक्कत फूल, भमक्कत माहि ठमक्कत नाहिं ।
लमक्कत बाहु चमक्कत चाउ, धमक्कत रच्छ भयंकर ।
चमक्कत नैन गमक्कत गैन, डमक्कत डमरु तमक्कत संकर ॥४५७॥

संकर नाथ 'अनन्य' भनि, कीन समर भखि रुंड ।
खंड खंड खंडे असुर, धर पर धरकत मुंड ।
धरक्कत मुंड फरक्कत रुंड, लरक्कत बाहु करक्कत हड्डि ।
तरक्कत त्रान फरक्कत प्रान, भरक्कत भीर करक्कत धीर ।
दरक्कत दीह झरक्कत जीह, धरक्कत धरनि प्रलंकर ।
भरक्कत अस्त्र सरक्कत सत्रु, करक्कत त्राहि सुरन क्रत यौं सिवसंकर ।।४५८।।

त्रिभंगी

इहि बिधि सिव संकर समर जयंकर, बिरचि भयंकर जुद्ध रचौ ।
दारुन दल खंडत दिरद बिहंडत, अति रन मंडित मार मचौ ।
धरि सूल सुलच्छन बिजै बिचच्छन, असुर कुलच्छन लच्छ हनैं ।
हथ्थिनि सौं हथ्थिनि रथ्थिनि रथ्थिनि, रन समरथ्थनि घोर घनैं ।।४५९।।

तब झुकि झुकि दैयत अति मद मैयत, रिस तप तैयत कूह करी ।
जुरि जूह अखंडित प्रबल प्रचंडित, समर सुमंडित रोष धरी ।
हय घोर प्रहर्षत सायक बर्षत, त्राननि झर्षत क्रुद्ध बढ़े ।
तब संभु निरंजन भौ भय भंजन, दानव गंजन कोप कढ़े ।।४६०।।

बृष पेलि हहंकर सारंग टंकर, जुत्त सरंकर त्रान तजे ।
जिमि सिंघहि गज्जत सायर भज्जत, बार न लग्गत भीर भजे ।
सिव सायक छुट्टत गजरथ कुट्टत, घायल लुट्टत भूमि परे ।
तिन धाइ भमक्कत प्रेत चमक्कत, चंक चमक्कत बीर परे ।।४६१।।

तत उठत कबंधह दानव बध्धह, जुग्गिनि सिध्धह द्दष्ट हचे ।
रिपु भैंरव जुझ्झत बिरचि बिरुझ्झत, ठौर न सुझ्झत जुद्ध घचे ।
लुथ्थिनि पर लुथ्थिहि दैयत गुथ्थिहिं, रन भू पुथ्थहि स्रौन चरौ ।
इमि श्री सिव संकर असुर छयंकर, घोर भयंकर जुद्ध करौ ।।४६२।।

कवित्त

संगर भयान भार स्रोनित निधान भार,
दानव अमान रन कीन जुद्ध घमसान ।

दिये सूल बल दान रुंड मुंड करे रान,
खंड खंड तन त्रान किये काट कटहान।
सिद्ध देखि थके भान भूधर रहे उड़ान,
भूत नचै समसान करै स्रौन सर पान।
जै जयति जै जहान कै 'अनन्य' गुन गान,
अकह कहान किय भैरौं नाथ भगवान ॥४६३॥

दोहा

इहि बिधि श्री भगवान रन, किय हर बल दल लोप।
जालंधर गल गज्ज तब, पसरि करी करि कोप ॥४६४॥

छप्पय

जालंधर तब कोपि, पसरि किन्निय तब बंकर।
सुभट जूह करि कूह, घेर लीनै प्रभु संकर।
हंक हंक समरथ्थ, हथ्थ सायक गन खंडत।
सैल डेल बहु सेल्ह, सूल गोलन झर मंडत।
आकृत अनंत 'अनन्य' भनि, अमर त्राहि जंपत जमक।
महा रुद्र रस रुद्र भरि, रुद्र बान लीनौ तमक ॥४६५॥

भुजंगप्रयात

लिये रुद्र बानं महारुद्र रूपं, झुके क्रुद्ध कै जुद्ध लीला अनूपं।
कहूं दंति की पंति मयमंत ढाहै, कहूँ दानवा मानवा मुष्टि दाहै ॥४६६॥
कहूँ जुद्ध कै जुद्धई हथ्थ मीड़ै, कहूँ सूल की हूल सौं सत्रु पीड़ै।
कहूं बान पै बान घमसान बित्ते, कहूँ खर्ग सौं खर्ग दै दैत जित्ते ॥४६७॥
कहूँ फर्स सौं ब्रच्छ से छांट डारे, कहूँ बैंट सौं दानवा मुंड मारे।
कहूँ बज्र सौं सैल सौं सत्रु चूरे, कहूँ चक्र सौं दारु से मार झूरे ॥४६८॥
कहूँ रथ्थ लै हथ्थ सौं चूर डारे, कहूं हथ्थिया हथ्थिया सौं पछारे।
कहूँ रथ्थ हथ्थीन आकास मेलै, कहूँ मल्ल सौं यौं धनो जुद्ध खेलै ॥४६९॥
महा जुद्ध उत्साह लीला बिहारी, रनं भूमि में जात कोपै निहारी।
महा मत्त हथ्थी डरे भूमि लुट्टे, कटे दंत तुंडा भुसुंडान टुट्टे ॥४७०॥

कहूँ घोटकं घोट लोटंत लूले, कहूँ अंग भंगं बहै स्रौन हूले।
कहूँ दानवा रुंड मुंडाहि लोटैं, डरे भूमि पै भ्यानकं त्रान चोटैं ।।४७१।।
कहूँ रुंड बिन मुंड फरकंत न्यारे, कहूँ दैत हा हा करैं दर्प हारे।
कहूँ घायलं घाय भमकंत भारे, मनौ सैल तें निक्कलै नीर नारे ।।४७२।।
भरौ स्रौन यौं सर्व रन भूमि तंपै, महा भ्यानकं जुद्ध त्रैलोक कंपै।
सबै सत्रु सैनानि तैं देव भागे, अभै कर्न श्री पारबति चर्न लागे ।।४७३।।

दोहा

भागि देव कैलास चढ़ि, लखत भयानक जुद्ध।
रुद्रबान संघार रन, महा रुद्र कर क्रुद्ध ।।४७४।।

कवित्त

कोपि महा रुद्र जू जबहि रुद्रबान लेत,
हाथ माँझ एक तें सु दस दरसात हैं।
पनच पै सौक चाप खैंचत हजार होत,
छाँड़त ही लच्छ दस लच्छ अध जात हैं।
अरि दल मद्ध कोटि सर ह्वै पसर करै,
एक एक सर कोटि असुर नसात हैं।
ऐसे संभु सायक अचंभत 'अनन्य' भनै,
देखि देखि देवता चक्रित चकवात है ।।४७५।।

चक्रत जगत्र कीनौ अद्‌भुत चरित्र नाथ,
हाथी जूथ हंकि हंकि हाथिनि ही ठिले हैं।
दानव अलच्छ लच्छ जच्छ बहु लच्छ बाजि,
गाजि रन रुद्र रुद्र बान ही सौं गिले हैं।
जहाँ तहां महा घोर घाइल लुठंत भूमि,
रुधिर प्रवाह दसौ दिसनि तैं पिले हैं।
भागि चढ़ै प्रजा सैल स्रंगनि 'अनन्य' भनै,
स्रौन के समुद्र में समुद्र सात झिले हैं ।।४७६।।

दोहा

इमि अरि दल संघार प्रभु, बाहे स्रौन समुद्र ।
कै उत जालंधर रहे, कै इत आपुन रुद्र ।।४७७।।

पद्धरि

तब जालंधर रनधीर राव, झुकि गंगाधर सनमुक्ख धाव ।
दुव रुद्र जुरे बजरंग जुद्ध, जनु जुगल काल बिकराल क्रुद्ध ।।४७८।।
जुरि करन लगे संग्राम घोर, सर तजत परसपर जुद्ध जोर ।
अस्त्रनि सौं अस्त्र मिलंत माल, सस्त्रनि सौं सस्त्र झरंत ज्वाल ।।४७९।।

तब जालंधर बलवंड राव, गिरिबान गिरिस्वर कहं चलाव ।
तिहि आवत लखि ईस्वर अनंत, गिरि बज्रबान चूरौ तुरंत ।।४८०।।
पुनि जालंधर अहिबान छंड, फुंकरत झरत बिष झार चंड ।
तब गंगाधर तजि गरुड़बान, तिहि गिले सर्प दारुन अमान ।।४८१।।

तब जालंधर तजि अग्नि अस्त्र, बर्षत प्रचंड ज्वाला सवत्र ।
तब गंगाधर तजि बान नीर, सोखी समस्त ज्वाला गंभीर ।।४८२।।
पुनि जालंधर तजि पौन अस्त्र, आंधो अनंत चलि डेल पत्र ।
तब गंगाधर सर मेरु छंड, लिय पवन पुंज तिहि बान बंड ।।४८३।।

पुनि जालंधर निसिबान जोर, किय अंधकार संसार घोर ।
तब गंगाधर बिद्या निधान, कीनौ प्रकास अति सूर्जबान ।।४८४।।
पुनि जालंधर ससिबान घालि, अति सीत करहि दुनिया बिहाल ।
तब गंगाधर आनंद कंद, तजि राहुबान लीलौ सु चंद ।।४८५।।

पुनि जालंधर करि क्रुद्ध झार, घाले अनेक सर एक बार ।
तब गंगाधर ईस्वर अखंड, सब अस्त्र सस्त्र किय खड खंड ।।४८६।।
पुनि जालंधर बलबीर राव, रथ छंड चंड कढ़ि खर्ग धाव ।
तब गंगाधर करि कोप तुंड, मारौ त्रिसूल उड़ गयब मुंड ।।४८७।।

उड़ गयब मुंड जोजन अनेक, फिर जुरब आनि नृप हंक टेक ।
पुनि हनिय नाथ फिर जुरौ आय, बहुधा फिर फिर फिर हनब राय ।।४८८।।

फिर उड़त दून बल तेज चाव, मनु मरहि नहीं जालंध्र राव ।
तब राज जलंधर किय बिचार, हौं मरत न त्रिय पतिब्रत हमार ।।४८९।।
त्यौं हो इनि घर पतिब्रता होइ, तातें न मरत यह सिद्ध सोइ ।
मम सनमुख को रहि सकह सुद्ध, त्रियब्रत जोगी यह करत जुद्ध ।।४९०।।
तातें यहि की त्रिय छलहु जाय, तौ मरहि सिद्ध कह बात आय ।
इमि करि बिचार जालंध्र राय, अपनौ तन ईस्वर सौ बनाय ।।४९१।।
ईस्वरैं भेष ठग माइ रच्छ, चढ़ि बृषभ आप कैलास गच्छ ।
तब देखि देव कंपे डरान, जानी कि नाथ तजि जुद्ध आन ।।४९२।।

कुण्डलिया

जगमाता श्री पारबती, जानि प्रपंच सुभेव ।
बोलि कही उठि आपही, जनि डरपौ सब देव ।
जनि डरपौ सब देव, नाथ रन तै किम भागत ।
यह जालंधर राव, भेष धरि कै इत आगत ।
जानि पतिब्रत मोहि, छलन आयौ प्रभु गाता ।
जानत नहीं अजान, हमहिं जननी जगमाता ।।४९३।।

जगमाता के बचन सुनि, छल न चलौ भगि राव ।
देखि कही तब बिष्नु सौं, तुम याके घर जाव ।
तुम याके घर जाव, छलौ या को वर नारी ।
प्रथमहिं यह छल करौ, दोष तुमकौं न मुरारी ।
छल सौं छल करतब्य, छलहु बृन्दहि नृप गाता ।
तब निश्चय यह मरहि, भेद भाषै जग माता ।।४९४।।

दोहा

जगमाता के हुकुम तैं, हुव निरदोष मुरारि ।
जालंधर कौ रूप धरि, हरी तासु वर नारि ।।४९५।।

जब ही वर नारी छली, धर्म घटौ ब्रत तासु ।
तब ही इत जालंध्र कौ, गिरौ सीस भुव त्रास ।।४९६।।

सीस काटि राखौ हतौ, महादेव समरथ्थ ।
नारि पतिव्रत धर्म तैं, जुरतौ फिरि फिरि मथ्थ ।।४९७।।

नारि पतिव्रत घटत ही, फिरि न जुरौ सिर घाव ।
जूझि गिरौ रन भूमि में, प्रबल जलंधर राव ।।४९८।।

कुण्डलिया

प्रबल जलंधर राव की, निकसी जोति अनूप ।
लीन भई सिव सक्ति महं, परमानंद सरूप ।
परमानंद सरूप, मुक्त केवल जग जानौ ।
ईस्वर कौ निज अंस, फेरि ईस्वरहि समानौ ।
बिन ईस्वर के अंस, कौन इमि होय बलंधर ।
किय अति अद्भुत चरित, धन्य नृप प्रबल जलंधर ।।४९९।।

छप्पय

प्रबल जलंधर राव, मारि संग्राम ढहायब ।
सकल असुर संघार, स्रौनमय सिंधु बहायब ।
भूत प्रेत गन गिद्ध, त्रपित जुग्गिनि रन किन्निय ।
देव बृन्द निरवार, अभय सब कहं प्रभु दिन्निय ।
करि बिजय बिनोद 'अनन्य' भनि, कर बजाय डम डम डमरु ।
हिय हर्ष पुहुप बर्षा बरष, जयति जयति जंपत अमरु ।।५००।।

त्रिकूटगति

इमि जित्त रन हनि प्रबल सत्रुहि लै सकल सुर संग तत्रहि,
आय प्रभु अस्नान जत्रहि मुदित बिजय प्रमोद ।
श्री गौरि उठि आरति उतारहिं पूजि भुज तन त्रान बारहिं,
अमर जय जय जय उचारहिं करहिं सिद्ध बिनोद ।
बाजनि विबिध बिधान बज्जहिं गान गन गंधर्व गज्जहिं,
अपसरा कछि निरत सज्जित उमंग तन मन फूल ।
आनंद अति उतसाह रंचित अखिल रिषि मुनि प्रेम संचित,
बिजय सुजस 'अनन्य' वंचति जयति सिव सुखमूल ।।५०१।।

दोहा

इहि बिधि सौं ईस्वर हनौ, प्रबल जलंधर राय।
अब बरनहुं जिमि ईस्वरी, सुंभ निसुंभ नसाय ॥५०२॥*

इहि बिधि श्री सिव सक्ति कौ, बरनौ बिजय प्रकार।
अब बरनहुं तिन की महा, प्रभुता अपरम्पार ॥६९९॥

छप्पय

प्रभुता अपरंपार परम सिव सक्ति अखंडित।
अति ऐस्वर्ज अनंत सकल पूरन जग मंडित।
करन धरन भव भरन हरन फल दंड प्रदायक।
आदि मद्धि अवसान सर्व समरथ सब लायक।
निरगुन सरगुन सरवग्य प्रभु अति प्रभाव लीला अगम।
अति गति अनभाव 'अनन्य' भनि नेति नेति गावत निगम ॥७००॥

कवित्त

नेति नेति गावत निगम हू न गम जान,
आगम हू आगम जुबानि गत ईस की।
चार मुख ब्रह्म हू उचारि पचि हारि रहे,
जीव ह्वै हजार बानि हारी पुनि सेष की।
सारद सी बिद्या मुनि नारद से बिद्यवान,
थके गुन गान ग्यान ध्यान अति पेस की।
पावत न पार परापर हू 'अनन्य' भनै,
प्रभुता अपार पारवती परमेस की ॥७०१॥

दोहा

पारबती परमेस प्रभु, जान परापर सोइ।
मनसा वाचा कर्मना, और न दुतिया कोइ ॥७०२॥

---

* महिमा-समुद्र के छन्द क्रमांक ५०३ से छन्द क्रमांक ६९८ तक अविकल रूप में 'उत्तम चरित्र' में छन्द क्रमांक ४७ से छन्द क्रमांक २४२ तक मिलते हैं; अतः उन्हें यहाँ न देकर केवल 'उत्तम चरित्र' में ही दिया गया है।

दुतिय नहीं सिव सक्ति पर, खोजि खोजि पचि हार ।
खोज कथा बरनौं तथा, सिव पुरान अनुसार ॥७०३॥

खोज कथा वर्णन

कुण्डलिया

नारद इक दिन सोच किय, सिव सबके सिरमौर ।
जोग रूप ये जगत गुरु, उनपर गुरु को और ।
उन पर गुरु को और, जपैं उनकौं गुरु जानिय ।
सो सब कौ प्रभु जान, इष्ट निस्चय उर आनिय ।
कहि 'अनन्य' यहि भांति, सोच मन बुद्धि बिसारद ।
गये ब्रह्म दरबार, यहै बूझन मुनि नारद ॥७०४॥

सोरठा

करि प्रनाम मुनि सग्य, ब्रह्मा जू सहं बिनय किय ।
कहौ तात सरवग्य, को गुरु देव महेस कौ ॥७०५॥

दोहा

सुनि ब्रह्मा जू ज्वाब दिय, हम न लहैं सुत भेव ।
चलहु बिष्नु कहँ बूझिये, वे सरवग्य सु देव ॥७०६॥

तोमर

इमि चित ब्रह्म बिचार, ह्वै हंस पर असवार ।
लै संग नारद बिप्र, गच्छन्त तुरतहिं छिप्र ॥७०७॥

हरि सुनत उठि अकुलाय, लिय अग्र ह्वै सुख पाय ।
मिलि लै गये निज धाम, बूझत खबरि अभिराम ॥७०८॥

बिधि धन्य भाग हमार, किहि कारनै पग धार ।
कहिये कृपा करि सोइ, इच्छा जु मन में होइ ॥७०९॥

हंस

सुनत ब्रह्म बूझी यह बात, तुम सरवग्य सुनौ हरि तात ।
कहौ कृपा करि कै यह भेव, को गुरु महादेव कौ देव ॥७१०॥

दोधक

यौं सुनि बिष्नु जुवाब सु दीनौ, खोज भली यह आपुन कीनौं ।
जानैं नहिं हम हूँ यहि इच्छा, बूझिय नंदिहि ग्यान परिच्छा ॥७११॥
ग्यान निधान उन्हें तुम मानौ, ईस्वर संग सनातन जानौ ।
ईस्वर की सुगतैं उनि सूझैं, राखिहिं गोपि कछू नहिं बूझैं ॥७१२॥
बूझहि या मिस सो लहि भेवा, को बृष जू तुम्हरौ गुरु देवा ।
जो वे कह हमरे सिव सोहैं, तौ कहिबी सिव के गुरु को हैं ॥७१३॥
या मिस सौं बिधि बूझ सु लीनी, जानि मनोरथ पूरन कीनी ।
बात भली यहि उत्तम हू है, लेखिय ईस्वर कौ गुरु को है ॥७१४॥

दोहा

यह बिचारि हरि गरुड़ चढ़ि, बिधि नारद लै सथ्थ ।
चलि आये बैठे जहां, नंदो गन समरथ्थ ॥७१५॥

अभीर

करि प्रनाम बिधि बिष्नु, बूझ उठे निज प्रस्न ।
कहौ कृपा करि भेव, को तुम्हरौ गुरु देव ॥७१६॥

सोरठा

भेद जानि दृग मोर, नंदी चतुर जवाब दिय ।
हमरौ गुरु यह डोर, जा बस हम डोरे फिरत ॥७१७॥

प्रिया

सुनि हरि कही कर जोर जू, तुम्हरौ गुरू यह डोर जू ।
यहि डोर कौ गुरु कौन है, कहिये कृपा करि तौन है ॥७१८॥

नंदी उवाच

सोरठा

जिहि के कर यह डोर, सोई गुरु यहि डोर कौ ।
यह कछु बात न थोर, डोर छोर लहि को सकै ॥७१९॥

पद्धरि

यह सुनत बिष्नु गहि लीन डोर, खैंचनि सु लागि चहुं भुजनि जोर।
खैंचत खैंचत थकि भयब ठांढ़, इत कढ़ी डोर परबत सु चाढ़ ।।७२०।।

नहिं कढ़हि डोर तब बिधि मुरारि, गहि डोर चले खोजन बिचार।
गहि डोर गये बिधि बिष्नु तत्र, महबिष्नु बिराजत आप जत्र ।।७२१।।

भुज अष्ट धरैं अम्बर सुचेत, इन तैं सुदृढ़ 'इनकौ निकेत।
लखि करि प्रनाम आगै सु गच्छ, जहं महा ब्रह्म राजंत स्वच्छ ।।७२२।।

ते अष्टमुखी पढ़ अष्ट बेद, तिन कहं प्रनाम किय प्रेम स्वेद।
पुनि अग्र गये जहं काल रुद्र, दसमुखी प्रबल सोभा समुद्र ।।७२३।।

इनि बंदि गये आगे मुरारि, तहं षोडस मुख ब्रह्मा निहारि।
पुनि षोडस मुख के बिष्नु देख, मुख बीस रुद्र देखे बिसेष ।।७२४।।

यहि भांति दुना दुन देखि और, गये सहसबाहु सुर तासु ठौर।
मुख सहस ब्रह्म दृग सहस रुद्र, भुज सहस बिष्नु सोलहि समुद्र ।।७२५।।

तिन लोक निरखि भये चकित गात, इन दीननि कौं बूझहि न बात।
भयभीत भये चक्रंत तत्र, कर डोर छोरि धरि जोर जत्र ।।७२६।।

अति बृद्ध रूप धरि लसत मात, बिधि बिष्नु निरखि चितहि न गात।
लहि डोर छोर करि भाग्य मान, कीनौ प्रनाम तिहि जननि जान ।।७२७।।

तब बूझि बचन जननी गम्भीर, को हौ सिसु तुम मानुष सरीर।
कित आये इत कित जात बाल, जनि फिरहु मरहु कहुँ भूल लाल ।।७२८।।

दोहा

सुनत बचन जगजननि के, ब्रह्म बिष्नु सिर नाइ।
अरज करी कर जोरि कैं, पूरन प्रेम बढ़ाइ ।।७२९।।

ब्रह्मा उवाच

कुण्डलिया

हम ब्रह्मा यह बिष्नु हैं, मृत मण्डल के देव।
महादेव गुरु खोज कहं, कियौ मातु यह भेव।

क्ियौ मातु यह भेव, डोर नंदी गहि आये।
देखे देव अनेक, आनि तुव दरसन पाये।
नाना पुर सुर निरखि, जननि अति भयौ अचंभा।
अब आये तुव सरन, बिष्नु नारद हम ब्रह्मा ॥७३०॥

हंस

यहि सुनि ज्वाब दियौ जगमात, तुम मूरख भूले किहि बात ।
महादेव कौ को गुरु होइ, महादेव पर और न कोइ ॥७३१॥
महादेव के माइ न बाप, महादेव प्रभु आपै आप।
महादेव के देव न पित्र, महादेव संसार सवित्र ॥७३२॥
महादेव कौ आदि न अंत, महादेव आपै भगवंत ।
महादेव निरगुन निरवान, महादेव सरगुन परवान ॥७३३॥
महादेव कौ रूप न रेख, महादेव के रूप असेष ।
तुम से ब्रह्म बिष्नु अरु रुद्र, कोटिनि महादेव के तुद्र ॥७३४॥
जे तुम देव लखे बहु लोक, ते सब महादेव की वोक ।
महादेव पर देव न और, महादेव सब के सिरमौर ॥७३५॥
महादेव परब्रह्म अखंड, जिनकी माप अनेक ब्रह्मंड।
जिनहिं बेद गावत निज सार, ते प्रभु महादेव निरधार ॥७३६॥
एकै कहै सुन्न निरभास, एकै जोति सरूप प्रकास।
एकै निरगुन ब्रह्म उचार, ते प्रभु महादेव निरधार ॥७३७॥
महादेव की महिमा आदि, को कहि सकै पुत्र मोहि खादि ।
यह निस्चय जानौ परवान, महादेव पर देव न आन ॥७३८॥
तातें हौं सिख देत कुमार, छोड़ भर्म गहि सब्द हमार।
जो चाहौ अपनौ भल देव, कीजे महादेव की सेव ॥७३९॥

विशेषक

यौं धरि डोकरि रूप इन्हें यह सीख दई।
श्री गौरी जगमात तदंतरध्यान भई।

ना वह डोर न छोर नहीं ठिक ठौर रहौ ।
भौ अति घोर अंध्यार दसौ दिसि सुन्न लहौ ।।७४०।।

चामर

देखि घोर सुन्न यौं बिरंचि बिष्नु सोचियौ ।
भौ भयं भ्रमंत भीत नैन नीर मोचियौ ।
बाढ़ दुक्ख मुक्ख सूख झूख गात कंपियौ ।
जान कित्त चित्त भीत नाथ नाथ जंपियौ ।।७४१।।

चौपाई

जंपहि नाथ नाथ कहि ठाढ़े । अरज करत करुना हित बाढ़े ।
हे करता करुनामय साईं । राखहु सरन महेस गुसाईं ।।७४२।।
हम मूरख कछु मरम न जानौं । मिथ्या भरम बाद यहि ठानौं ।
तुम्हरौ गुरु खोजन इत आये । तुम समरथ्थ भले भरमाये ।।७४३।।
माया आप अनन्त दिखाई । हमरी दुबिधा मारि मिटाई ।
देखी अमित बिभूति तिहारी । जात कही न सुनी मन हारी ।।७४४।।
हम ते कोटि कोटि मुनि देवा । देखे करत तुम्हारी सेवा ।
हमरे गरब किये किहि लेखे । जुगुनू ज्यौं सूरज तप देखे ।।७४५।।
अब हमरे भाजे भ्रम भेवा । कीजे कृपा निरंजन देवा ।
हमरे गुन औगुन न बिचारौ । सेवक जान दया उर धारौ ।।७४६।।
जो हम करी सु आँखिनि देखी । तुम जिन बिसरौ नाथ बिसेषी ।
भरमे मरत घोर तम माहीं । राखहु नाथ सरन गहि बाँहीं ।।७४७।।

दोहा

इमि नारद बिधि बिष्नु मिलि, आरत करत पुकार ।
भव भंजन भयभीत लहि, प्रगट भये तिहि बार ।।७४८।।

चतुष्पदी

प्रगटे भय भंजन संभु निरंजन अति अद्भुत छबि छाजै ।
रबि कोटि प्रचंडित भास अखंडित जगमग जोति बिराजै ।

तिरसूलहि फेरत हरि बिधि हेरत आइ उठे हित मानौ ।
पहिचानि सरूपहिं भेष अनूपहि तब इनि जीवन जानौ ॥७४६॥

पद्धरि

प्रभु जानि पांइ गहि रहे तब्ब, वह जान जान पावै न अब्ब ।
जो अब प्रभु अन्तरध्यान होय, तौ भ्रम मरिबौ न सहाय कोय ॥७५०॥

सोरठा

तब ईस्वर हँसि बुझ्झ, कित आये इत बाल तुम ।
यह अति सुन्न असुझ्झ, उड़त अखंड ब्रह्म ंड जहं ॥७५१॥

दोहा

सुनि ब्रह्मा अरु बिष्नु जू, सकुचत चित दृग मोर ।
करन लगे करुना बिनय, मति उदार कर जोर ॥७५२॥

कुण्डलिया

कह कहिये हम नाथ जू, बृथा कियौ यह भर्म ।
तुम लगि ते लघु से लगे, लघु मति लहौ न मर्म ।
लघु मति लहौ न मर्म, भर्म ठानौ हम मूरख ।
खोजन तुव गुरु चले, जान तुम पर कोउ पूरष ।
देखि तुम्हारी माय, चक्रित चिंता चित लहिये ।
तुम पर और न कोय, नाथ महिमा कह कहिये ॥७५३॥

सवैया

तुम ही महं सुन्न असुन्न धनी, तुम ही निज जोति सुभायक हौ ।
तुम ही तन बिष्नु सरूप धरौ, तुम ही प्रभु बिष्नु के नायक हौ ।
तुम ही परिपूर अखंड सदासिव, निर्गुन सगुन कायक हौ ।
तुम तैं नहिं अन्य 'अनन्य' भनै, तुम ही सब में सब लायक हौ ॥७५४॥

तुम ही जल सिंधु अगाध धनी, तुम ही थल सर्व सधायक हौ ।
तुम ही भव तेज प्रकास करौ, तुम ही सरवत्रक वायक हौ ।
तुम ही घन सूरज चंद कला, तुम ही नभ सब्द उपायक हौ ।
तुम ही सब ब्यापक सर्व परै, तुम ही सब में सब लायक हौ ॥७५५॥

तुम ही करता धरता भरता, तुम ही फल दंड प्रदायक हौ।
तुम ही प्रभु आदिहु मद्धिहु अन्त, अनंत प्रभाव प्रभायक हौ।
तुम जोग सरूप 'अनन्य' भनौ, करि माय स्वयं निरमायक हौ।
सरवग्य सदासिव नाम धनो, तुम ही सब में सब लायक हौ ॥७५६॥

सब भूत लगे हमरैं नगनै, उगनै पुनि गंग ही की रिनका।
घन बुंद तरागन सर्व गनै, गनतै न लगै पलकौ छिन का।
तउ तो गुन नाथ गनै न परैं, गत कोटिनि कल्प निसा दिन का।
तुम नाथ अखण्ड सदासिव हौ, हम बिष्नु बिरंचि कितै भिनका ॥७५७॥

दोहा

भिनका हम पावैं कहा, तुम्हरौ पार अनन्त।
हम से तुम्हरी माय महं, किते डरे भगवंत ॥७५८॥

कवित्त

केते ब्रह्म केते बिष्नु केते रुद्र कला भेद,
केते इन्द्र केते चन्द्र केते सूर देखे मैं।
केते देव केते गन केते मुनि सिद्ध जन,
केते सु ब्रह्मंड हू अखण्ड पुनि पेखे मैं।
सुनौ महादेव जू तुम्हारी महा माय माहिं,
केतिक बिलास लोक अमित बिसेषे मैं।
कोटिनि भुजानि के सु कोटिनि सरूप देखे,
हम से चतुरभुज सरूप कौन लेखे में ॥७५९॥

सवैया

किहि लेखे धनी हम तुच्छ महा, तुम्हरी महा माया अखण्ड जमा।
बिन जानै हमें मन धोखौ हतौ, अब जानि परी गत भर्म तमा।
यहि भ्रांतिहि तैं हम खोज करी, बिन खोजे मिलत्त न तत्त प्रमा।
अब जानि तुम्हें न भ्रमै फिरि कै, करिये करुना अपराध छमा ॥७६०॥

सोरठा

यह कहि ब्रह्म मुरारि, पाँय परे करुना सहित।
तब प्रभु श्री त्रिपुरारि, किय आयसु माँगहु सु बर ॥७६१॥

मधुमार

सुनि ब्रह्म बिष्नु, मन फूल प्रस्न ।
कर जोरि जुक्त, बरदान उक्त ।।७६२।।

दोहा

और कहा मांगहिं प्रभू, तुम दीनै सुख सब्ब ।
जहं हमरौ ठिक ठौर गुरु, लै चलिये तहं अब्ब ।।७६३।।

कुमार ललिता

यौं सुनि सुख दैनं, बोलत हंसि बैनं ।
मूंदहु तुम नैनं, पावहु पुर गैनं ।।७६४।।

हाकलि

सुनत नैन इन मूंदे जहीं, किय अचरज ईस्वर जू तहीं ।
हलन चलन जानी इन नहीं, सोवत से जागे घर महीं ।।७६५।।

सवैया

जात लगे जुग सौक गहे रिज, लोक अनेक बिलोक भुलानै ।
आवत भेद कछू न लहौ, कब कौ घर गौ कित तैं इत आनै ।
बिष्नु बिरंचि रहे चकवाइ, प्रतच्छ किधौं सपनौ उर आनै ।
अद्‌भुत गाथ 'अनन्य' भनै, यह ईस्वर की गति ईस्वर जानै ।।७६६।।

छप्पय

ईस्वर की गति देखि बिष्नु ब्रह्मा मुनि नारद ।
थकित चक्रित चित भये गये भ्रम बुद्धि बिसारद ।
जिमि गूँगा कहं सपन लहत पर कहत न आवह ।
इमि मन मन आनंद जान सिव सक्ति प्रभावह ।
तब तैं भ्रम छंडि सु मंडि तन करन लगे दृढ़ भक्ति वर ।
इमि अद्‌भुत गाथ 'अनन्य' भनि खोज करै कह तुच्छ नर ।।७६७।।

दोहा

कहा तुच्छ नर खोज है, किती बुद्धि मति संचि ।
देखि चरित सिव सक्ति के, भरमै बिष्नु बिरंचि ॥७६८॥

बिष्नु बिरंचि निहारि यौं, रूप अनेक अनन्त ।
बहुरि अनेकनि एक लहि, अद्‌भुत गति भगवंत ॥७६९॥

कवित्त

अद्‌भुत कहानी बिष्नु ब्रह्म हू न जानी बेद,
बानी है प्रमानी नेति नेति गति सो कहै ।
सेष हू गनेस थके सबिता 'अनन्य' भनै,
कबिता सु को है नाथ प्रभुता कौं जो कहै ।
जाकी रंच सक्ति तैं भगंत अवतार अंस,
तिनहू कौ पार नहीं पावत त्रिलोक है ।
जाकौ सिव सक्ति सर्व सक्ति समरथ्थ नाम,
ताकौ परिपूरन प्रभाव जस को कहै ॥७७०॥

सवैया

को कहै निगुरन को कहै सरगुन, को पुनि रूप निरूप कहै है ।
जैसे कौ तैसो बनौई सनातन, जैसे कौ तैसो प्रतच्छ रहै है ।
नाम जिन्हें सिव सक्ति स्वयं, किहि मैं विय सक्ति सु पार लहै है ।
केवल भक्ति 'अनन्य' भनै, सरवग्यनि में करतब्य यहै है ॥७७१॥

दोहा

सरवग्यनि कौ मत यहै, जान एक सिव सक्ति ।
निरगुन सरगुन भर्म तजि, करनै तिन को भक्ति ॥७७२॥

करनै केवल भक्ति है, मन वच प्रेम दृढ़ाइ ।
भुक्ति मुक्ति पदबी सकल, मिलै सहज ही आइ ॥७७३॥

सवैया

भक्तिहि तैं करतार भये बिधि, कल्प हजार तपे वर पाये।
भक्तिहि तैं बयकुण्ठ लहौ हरि, लोचन नार्थाहि काटि चढ़ाये।
भक्तिहि तैं जग जीतत काल, अठारह संख जुगं सिव ध्याये।
भक्ति प्रताप 'अनन्य' भनै, इमि भक्तिहि तैं सब ही बर पाये ॥७७४॥

भक्तिहि तैं ससि बिस्व प्रकासित, कासी बिषै तपसा मन लाये।
भक्तिहि तैं रबि जोति लही, जुग द्वादस ध्यान समाधि लगाये।
भक्तिहि तैं सु कुबेर धनप्पति, बारे तैं पारबतीपति ध्याये।
भक्ति प्रताप 'अनन्य' भनै, इमि भक्तिहि तैं सब ही बर पाये ॥७७५॥

भक्तिहि तैं प्रसुराम बढ़े, नर तैं सु नरायन रूप कहाये।
भक्तिहिं तैं रघुराम बढ़े, जिन लंक में रावन मारि ढहाये।
भक्तिहि तैं पुनि कृष्न अरज्जुन, भारत जित्त बिजै जस छाये।
भक्ति प्रताप 'अनन्य' भनै, इमि भक्तिहि तैं सब ही बर पाये ॥७७६॥

दोहा

भक्तिहि तैं पाये सबनि, बिधिवत सौं जिन कीन्ह।
बरनी कासी खंड महं, सब की कथा प्रवीन ॥७७७॥
कहा देव कह दानवा, कहा सिद्ध अवतार।
बड़े बड़े जे जान सब, बढ़े सु भक्ति प्रताप ॥७७८॥

कुण्डलिया

भक्तिहि तैं दानव बढ़त, भक्तिहि सुर अवतार।
वे संघरत अधर्म तैं, ये सु धर्म जय धार।
ये सु धर्म जय धार, भक्ति निस्चय यह जानहु।
भक्तिहि दूषन नाहिं, राह करनी पहिचानहु।
तातैं भली सु राह, समुझि सुमिरौ सिव सक्तिहि।
कहि 'अनन्य' परवान, जान कीजै दृढ़ भक्तिहि ॥७७९॥

भक्तिहि जे जन करत हैं, धरि सुराह मन माहिं।
ते जन जीवन मुक्त हैं, मरैं न मारे जाहिं।

मरैं न मारे जाहिं, मारकंडे व अग्नि जिमि।
लिखी मृत्यु तैं बचो, अमर कीन्हें ईस्वर इमि।
दक्ष श्राप ससि मृत्त, बचे भजि कैं सिव सक्तिहि।
गोरख दत्त भरथ्थ, भये अक्षय करि भक्तिहि ॥७८०॥

दोहा

अक्षय पद सिव सक्ति कौ, भक्ति कहत गुरु बेद।
सेवक राह कुराह के, चलिबे ही महं भेद ॥७८१॥
भेद जानि सुभ राह चलि, भक्ति करौ नर नारि।
दस लच्छन ता भक्ति के, सोब कहौं निरधार ॥७८२॥

भक्ति लच्छण

प्रथम भक्ति लच्छन यहै, गुरु बचननि परतीति।
आन बात आनै न मन, सुनि बहु मत बहु रीति ॥७८३॥
दूजौ लच्छन प्रेम है, प्रीति लगन लौ लाइ।
करहि भक्ति सिव सक्ति की, चंद चकोर सुभाइ ॥७८४॥
तीजौ लच्छन सील है, सील सकल गुरु ओप।
सदा रहै गम्भीर मन, मिथ्या करै न कोप ॥७८५॥
चौथौ लच्छन तुष्टि है, जथा लाभ संतोष।
पायैं हर्ष न मानिबौ, गये न संछुभ दोष ॥७८६॥
पाँचौं लच्छन धीर है, आतुर करै न कर्म।
सहज सहज सब कछु बनै, मन न डिगै गुरु धर्म ॥७८७॥
छठवौ लच्छन बीर है, पन तैं टरै न गैन।
कमल घटैं ज्यों कृष्न जू, काटि चढ़ाये नैन ॥७८८॥
सातौं लच्छन सत्य है, सत न तजै सब जाय।
जथा कथा हरिचंद की, दुख सुख सत्य दृढ़ाय ॥७८९॥
आठौं लच्छन है दया, सब पर होय दयाल।
दुखी न देखै जीव कौं, अपने बस प्रतिपाल ॥७९०॥

नवमौ लच्छन जान यह, मन बस करन बिसेष ।
मन न भ्रमै तन भक्ति कर, तौन भक्ति बर लेख ॥७८१॥

दसवौं लच्छन जान निज, केवल इष्ट उपास ।
चातक स्वांति समान रट, करहि न दूजी आस ॥७८२॥

ये दस लच्छन भक्ति के, इन बिन भक्ति न होइ ।
ज्यौं औषधि अनुपान बिन, कबहूं लगै न लोइ ॥७८३॥

दस लच्छन जुत भक्ति कहि, भक्ति सु तीन प्रकार ।
कायिक वाचिक मानसिक, सोब कहौं निरधार ॥७८४॥

कायिक भक्ति

सवैया

उत्तम देह क्रिया करि कैं, तिरपुंड त्रिभूति सु आसन लावै ।
मूरति थापि महेस्वर की, महि पाहन धातु जुई जिय भावै ।
षोडस मंत्र प्रचारनि सौं, अरचै चरचै चित अंत न लावै ।
प्रेम प्रकास 'अनन्य' भनै, पहिली यह कायिक भक्ति कहावै ॥७८५॥

वाचिक भक्ति

बोलै नहीं बकवाद बृथा, सिव सक्ति कथानि सुनै रु सुनावै ।
सांच कहै परमारथ हेतु, करै चरचा दुनिया ढंग लावै ।
जो उपदेस दियौ गुरु जू, तिहि सब्द बिषै रसनाहि रसावै ।
पुस्तक भ्यास 'अनन्य' भनै, यह दूसरी वाचिक भक्ति कहावै ॥७८६॥

मानसिक भक्ति

कै उर सुद्ध सुबुद्धि हिये, सिव सक्ति सरूप बिषै लव लावै ।
आवत जात चबात ही खात, जगैं सपनेहु न सो बिसरावै ।
ज्यौं सुरभी बन में सुत में, मन यौं मन में मन मूर मिलावै ।
निस्चल चित्त 'अनन्य' भनै, यह केवल मानसी भक्ति कहावै ॥७८७॥

दोहा

त्रिबिधि धारना जान इमि, जथा जोग उपदेस ।
अब बरनहुं पुनि भक्त के, आसय तीन सुदेस ॥७८८॥

एक भक्त संकट परै, सरन धनी कौ लेत ।
एक भजत फल चाह तैं, एक प्रेम ही हेत ॥७६६॥

हाकिल

संकट सरन अगिनि जिमि गहौ, अष्टावक्र क्रष्न फल लहौ ।
प्रेम भक्ति हरिकेसहि धरौ, त्रै इतिहास कथा बिस्तरौ ॥८००॥

अग्नि कथा इतिहास वर्णन

पद्धरि

दृग अरुन तरुन सुर अंस जान, अति सुन्दर तन जनु दिब्य काम ।
दीरघ नयन्न झलमलहि जोत, बालार्क बिम्ब दुति दिब्य होत ॥८०१॥

बत्तिस लच्छन लच्छत सरीर, अज्जानु बाहु जनु बिष्नु बीर ।
गुन रूप सील मेधा समुद्र, लघु बित्त बहुत लच्छन बिमुद्र ॥८०२॥

इमि लसत अग्नि सुभ अंग चारु, जनु भानु बाल लीला बिसार ।
तिहि लखि नारद लीनी उसाँस, करुना सनीर नैननि प्रकास ॥८०३॥

तब अग्नि पिता हठि बूझ बात, कत सोच चक्रत नारद सुनात ।
सुनि नारद दिय उत्तर बिचारि, यहि बात न मुख सकिये उचारि ॥८०४॥

तुव पुत्र परम सुंदर सरूप, या सम न बाल त्रिभुवन अनूप ।
सो मरहि बारही बर्ष लोक, हनिहैं सुरेस यहि मोहि सोक ॥८०५॥

चतुष्पदी

यह सुनि द्विज रोये अति दुख भोये सोये मूर्छित छिप्र ।
हा हा कहि जागे सोक सु पागे लागे पग उठि बिप्र ।
बूझत करि सोकै तुम त्रैलोकै लोके हौ मुनि देव ।
जातें सुत जीवै सौ रस पीवै कीवै सो कछु भेव ॥८०६॥

दोहा

सुनि मुनि पुनि उत्तर दियौ, सुनहु बिप्र बिधि ख्याल ।
कर्म लिखौ सु टरै नहीं, तीन लोक तिहुं काल ॥८०७॥

देव मरैं दानव मरैं, मरैं नाग मुनि लोइ ।
अमृत पियत तेऊ मरैं, अमर नहीं द्विज कोइ ॥८०८॥

तातैं अपनै चित्त महं, धरि धीरज करि ग्यान।
काल कर्म सौं बस कहा, उपजत मरत जहान ॥८०९॥

सोरठा

इमि बिप्रहिं समझाइ, नारद सुरपुर कहं गये।
बिप्र रहे मुरझाइ, दिन दिन तन सूखत चले ॥८१०॥

तोमर

सूखत चले नित नित्त, नर नारि ब्याकुल चित्त।
तब रही भूख न प्यास, लहि उठत बैठत स्वांस ॥८११॥
जब जब लखै सुत मुक्ख, तब तब बढ़ै अति दुक्ख।
रोवहिं दुवौ दुख छेद, सुत सहं कहैं नहिं भेद ॥८१२॥

दोधक

एक दिना सुत कौं सुख पायें, मातु जिवावत मोद बढ़ायें।
आय गई सुत नारद बानी, रोय उठी तब ही द्विज रानी ॥८१३॥
सो लखि पुत्र कही हठि ऐसी, आज दसा जननी तुव कैसी।
मो सुनि मातु जवाब सु दीनौ, जो यह सूझत पुत्र प्रवीनौ ॥८१४॥
पुत्र कही हठि ही तन छाँड़ौ, कै कह बात सबै दुख खांडौ।
मातु इती सुनि बात सुनाई, मृत्यु सु तो नियरी सुत आई ॥८१५॥
बारह बर्ष कही मुनि मो सौं, चार रहीं सु कहौं अब तो सौं।
मारहि इंद्र तुम्हें सुत धारे, हौ तुम प्रान अधार हमारे ॥८१६॥
तातैं यह बिधि पै हम माँगैं, मारि हमें तुव जीवन आगैं।
यौं कहि मातु गिरी मुरझानी, नैननि सोक नदी ढरि पानी ॥८१७॥

चौपाई

देखि अग्नि तव मातु उठाई। धीर बांधि बर बात सुनाई।
सुनहु मातु यह सोक निबारौ। अति संम्रथ सुन मंत्र हमारौ ॥८१८॥
महा काल कह कर्म लिखंता। कहा इंद्र बपुरा मम हंता।
मेरे राखन हार सहाई। महादेव संम्रथ सुन माई ॥८१९॥

महादेव महकाल कहावैं । कोटि काल संघार ढहावैं ।
कोटि बिष्नु ब्रह्मा नसि जाहीं । महादेव जू के पल माहीं ॥८२०॥
महादेव देवनि के देवा । जिनकौ जनम मरन नहिं छेवा ।
वे अबिनासी ईस्वर जू हैं । तिनके सरन अभय हम हू हैं ॥८२१॥

दोहा

यौं कहि मातुहिं धीर दै, अति परतीति बढ़ाइ ।
मनसा वाचा कर्मना, महादेव लौ लाइ ॥८२२॥

हंस

महादेव लौ लाइ बिसेष, कासी पुरी महा ठिक लेख ।
गंग तीर अग्नेसुर थाप, आसन मंडि सदा सिव जाप ॥८२३॥
पूजैं नित षोडस उपचार, जपैं मंत्र उत्तम स्तुति सार ।
करैं भक्ति अति प्रेम प्रतीति, इहि बिधि चार बर्ष गइ बीति ॥८२४॥
रहे आयु के दो दिन और, इनके मन संका तिहि ठौर ।
अब द्वै मूठ बात भइ आइ, कै मरनौ कै अमर कराइ ॥८२५॥
यह बिचार चित निहचौ जाप, अन्न पानि तजि मांड़ौ ताप ।
देखि इंद्र करि सोच बिचार, गये सदासिव के दरबार ॥८२६॥
अरज करी कर जोरि तुरंत, हुकुम कहा तुम्हरौ भगवंत ।
बैठे अग्नि ओट तुव नाथ, उनकी मृत्यु सु मेरे हाथ ॥८२७॥
लिखी सु तौ करनौ जगदेव, दीजै हुकुम हनौ तिहि भेव ।
इतनी सुनि बोले भगवान, तुम न इंद्र जानौ परवान ॥८२८॥
हमरौ कर्म हमारौ काल, हमरी ओट लियै वह बाल ।
हम कर लेंय आपु मन आइ, तुम बैठो अपने घर जाइ ॥८२९॥

हाकलि

यह सुनि इंद्र आपु घर आये, जान सु दिन ईस्वर मत ठाये ।
आपुन पलटि इंद्र तन धरौ, नंदी कहं ऐरावत करौ ॥८३०॥
हाथ त्रिसूल बज्र कर लियौ, पलटि जटा सु मुकुट सिर दियौ ।
ह्वै इमि इंद्र करुन निधि भले, काटन काल भक्त कौ चले ॥८३१॥

कुण्डलिया

चलि आये इमि इंद्र ह्वै, महादेव भगवान ।
जहां अग्नि पूजा करैं, प्रेम प्रतीति प्रमान ।
प्रेम प्रतीति प्रमान, देखि अंतर सुख मानै ।
लैन इष्ट दृढ़ताइ, आपु तब बचन बखानै ।
मांग पुत्र बरदान, आज करिहैं मन भाये ।
हम हैं इंद्र सुरेन्द्र, दैन दरसन चलि आये ।।८३२।।

दोहा

सुनत अग्नि उत्तर दियौ, तुव डर मैं भज संभु ।
तुम बर देत सु हेत कह, मो मन यहै अचंभु ।।८३३।।

इन्द्र उवाच

जद्दपि हमरे हाथ है, तुम्हरी मृत्यु प्रमान ।
तद्दपि ईस्वर भक्ति हित, देत माँग बरदान ।।८३४।।

अग्नि उवाच

भक्ति करी हम जासु की, सो ईस्वर समरत्थ ।
तुम न हमहिं बर दै सकौ, खोवहु भ्रम न अकत्थ ।।८३५।।

इन्द्र उवाच

तोमर

हम हैं सदा समरत्थ, हमरौ न बचन अकत्थ ।
हम सकल सुर सिरमौर, हम पर नहीं सुर और ।।८३६।।
त्रैलोक हमरौ राज, सेवंत अमर समाज ।
मम हुकुम वायु बहंत, मम हुकुम घन बरसंत ।।८३७।।
मम हुकुम धरि धर सेष, मम हुकुम चंद्र दिनेस ।
मम हुकुम जक्त प्रमान, नहिं और देव समान ।।८३८।।
तातैं हुकुम मम मान, सिसु मांग उठि बरदान ।
जो मांगिहै सो देउं, तुव भक्ति अति सुख लेउं ।।८३९।।

अग्नि उवाच

सवैया

केतिक रात कितौ सपनौ, सु कितौ तुव राज सुनौ सुर नाइक ।
केतिक बिष्नु बिरंचिहि से, पुनि होत रु जात सुरासुर माइक ।
आदि अनादि हैं एक सदासिव, सोई सदा सब कौं बर दाइक ।
जानि यहै फिरि जाहु घरै, सु नहीं हमरे बर के तुम लाइक ।।८४०।।

इन्द्र उवाच

सिंह

सबके बर कौं हम लायक हैं, पद मुक्तिनि भुक्तिनि दायक हैं ।
तुम बालक भेद न जानत हौ, हमकौं लघुता करि मानत हौ ।।८४१।।

अग्नि उवाच

सुरिल्ल

सब देवनि के देव महाप्रभु रावरे, तदपि धरैं ब्रत इष्ट बाल हम बावरे ।
मुक्ति देत तुम नर्क वहै मम उक्ति है, दैंहिं सदासिव नर्क सु मो कहं मुक्ति है ।।८४२।।

दोहा

इमि आसा मुरकै न जब, तब संका करवाइ ।
बचन कहे हठि इंद्र जू, कुटिल दृष्टि डरवाइ ।।८४३।।

इन्द्र उवाच

हम आये सु फिरैब किमि, तुम हठि बादि गहौब ।
कै मांगहु बरदान उठि, कै मम बज्र सहौब ।।८४४।।

अग्नि उवाच

मांगहुं बर नहिं आन सुर, महादेव प्रभु पाइ ।
राजहंस तजि मानसर, कहूं पौहरनि जाइ ।।८४५।।

तातैं हौंब यहै सहौं, घाल बज्र बल तोहि ।
तुव मारे हौं जो मरौं, जो प्रभु संभु न होहि ।।८४६।।

सोरठा

यह सुनि श्री सुरराइ, मन कृपालु ऊपर कठिन।
प्रबल गजेन्द्र झुकाइ, बज्र हाथ लीनौ तमकि ।।८४७।।

सुन्दरी

भौ अति बज्र प्रभाव अखंडित, सूरज कोटि प्रभाव प्रचंडित ।
देखत काल कराल प्रलंकर, बालक मूछि गिरौ कहि संकर ।।८४८।।

मोदक

तब सिव संकर करुना निधान बर ।
तन पलटि इन्द्र तन आपु रूप धर ।
पुनि पलक मांझ मूर्छा सु जाग जब ।
दृग खोलि परहि चितयौ सु बाल तब ।।८४९।।

दोधक

नाथहि देखि तबै भ्रम कीनैं, को सुर ये मोहि दरसन दीनैं ।
बैल चढ़े कर सूल सम्हारैं, अंग बिभूति जटा सिर धारैं ।।८५०।।
लोचन तीन ललाटहि चंदा, सर्पनि माल गरैं जग बंदा ।
जानहुं ये प्रभु आपहि सो है, या दुति सौं दुतिया सुर को है ।।८५१।।

सवैया

या दुति सौं दुतिया सुर को, पुरुषोत्तम ये तम घोर हरे हैं ।
आनंद मूल त्रिसूल लियैं कर, सूरज कोटि प्रकास करे हैं ।
जैसौ सरूप सुनौ प्रभु जू, निज तैसे प्रमान प्रतच्छ खरे हैं ।
जानहुँ ये जगदीस स्वयं, जग को जननी अरधंग धरे हैं ।।८५२।।

बरवै

इमि सिसु परौ धरनि पर करत बिचार ।
तब लखि कै हँसि बोले सिरजन हार ।
जो तुम चित्त बिचारत हौ हम सोइ ।
आवहु पुत्र इतै उठि और न कोइ ।।८५३।।

सुखदा

इमि सुनत सुख दैन के बैन सुख पाइ कैं ।
अति मगन ह्वै अग्नि तब उठे अकुलाइ कैं ।
करि प्रेम अनुराग पग लागि कर जोरि कैं ।
करि इंद्र की आद फरियाद दृग मोरि कैं ।।८५४।।

अग्नि उवाच

दोहा

मारन मोहि आयौ धनी, इंद्र बज्र धरि हथ्थ ।
भागि गयौ अब ही जबहिं, तुम आये समरथ्थ ।।८५५।।

चौपाई

सुनि फरियाद ईस मुसकानै । बिहँसि अगिनि सहं बचन बखानै ।
सुन हे पुत्र इंद्रनहिं आयौ । हमहिं इंद्र कौ भेष बनायौ ।।८५६।।
इंद्र हाथ थी मीचु तुम्हारी । तुम कीनी निज भक्ति हमारी ।
हमरी भक्ति करत को मारै । डारहुं जार जु कुटिल निहारै ।।८५७।।
जो पुनि मीचु आन कर होई । तौ हम सहं गुदरै सुर सोई ।
जो हम हुकुम करें तौ मारै । बिन हुकुमहिं को नैन निहारै ।।८५८।।
हमरी भक्ति प्रबल जग माहीं । ता समान दूजौ कछु नाहीं ।
हमरी भक्ति करत सब जोगी । तातैं ते क्रम काल निरोधी ।।८५९।।
हमरी भक्ति करत मुनि रूरे । तातैं होत सिद्ध पद पूरे ।
हमरी भक्ति करत सब देवा । तातैं अमर होत सुन भेवा ।।८६०।।
हमरी भक्ति करत सब दानै । तातैं होत जगत मरदानै ।
पुनि मदमाइ चलत वे पापी । तब हम करत आपु मुख स्रापी ।।८६१।।
तद्दपि हम आपुन नहिं मारों । आपु करे की लाज बिचारौं ।
पठवा बिष्नु इंद्र अवतारा । ते मम हुकुम करैं संघारा ।।८६२।।
जो मम भक्ति सुहृद मत होई । तौ कर अजर अमर तन सोई ।
तो कहं अमर करन हम आये । इंद्र रूप पहिलै डरवाये ।।८६३।।

पालौ कर्म लिखौ बिधि डाँटौ । मूर्छा तोहि काल महं काटौ ।
काल डरनि सेवौ तुम मो कौं । तातें काल होइ नहिं तो कौं ॥८६४॥

दोहा

इमि ईस्वर बरदान दिय, फूलि अगिनि परि पांइ ।
तब माता श्री पारबति, दिय आसिष बर दाइ ॥८६५॥

पार्वती माता उवाच

हंस

तो कहं अमर करौ भगवान, हमरौ पुत्र यहै बरदान ।
तुव प्रकास त्रिभुवन महं होइ, तो चढ़ि भाग लहैं सब कोइ ॥८६६॥
सब देवनि के मुख तुम होहु, परम जोति सब ऊपर सोहु ।
हमरे बिदित कहावहु पूत, जग महं महिमा होइ अभूत ॥८६७॥

तोमर

दै मातु इमि बरदान, हुव जुगल अंतरध्यान ।
फूले अगिनि भय नास, नव परम जोति प्रकास ॥८६८॥
तिहुं काल हुव भुव राज, भये सकल भुव सिरताज ।
आये घरहि अभिलाष, भये अमर सिव रस चाख ॥८६९॥
पितु मातु सुख न समाइ, धन धान दान लुटाइ ।
बहु बजे बिबिध बधाय, देवनि पुहुप बरषाय ॥८७०॥

दोहा

तेजवंत तब सब हते, फिरि ते आप प्रकास ।
अगिनि भानु बरदान सिव, तब ते जगत न आस ॥८७१॥
यहि बिधि अग्नि कथा कही, कासी खंड मंझार ।
सो इतिहास 'अनन्य' भनि, आरत भक्ति बिचार ॥८७२॥
आरत हू इमि भक्ति किय, अग्नि अभय बर धारि ।
अब बरनहुं फल चाह तें, अष्टावक्र मुरारि ॥८७३॥

पद्धरि

श्री कृष्न नाम अवतार चंद, द्वारका नाथ बसुदेव नंद ।
सोरह हजार तिनकी सु रानि, इक सौ रु अष्ट ऊपर बखानि ॥८७४॥

सब करहिं लियै मन हाथ सेव, अति प्रीति पतिव्रत सौं प्रमेव ।
तिनि मांझ जामवंती सु नाम, तिन करी बहुत सेवा सु धाम ॥८७५॥

तब रीझि बचन मोहन बखानि, बरदान कछू मांगहु सु रानि ।
सुनि रानि कही बर देत मोइ, तौ तुम समान मम पुत्र होइ ॥८७६॥

इमि सुनत कृष्न मन भक्ति बस्य, मम सम सु पुत्र हू है अवस्य ।
यह कहि मुरारि मन सोच कीन, हम रानिहि अति बरदान दीन ॥८७७॥

हमरौ किय तौ हम सौं न होइ, हमरौ करता प्रभु और कोइ ।
ता प्रभुहिं बंदि माँगहुँ कुमार, इमि होइ बचन पूरन हमार ॥८७८॥

दोहा

यह बिचारि तब कह चले, उत्तर दिसि जदुराइ ।
तहं मुनि अष्टावक्र कौ, आस्रम देखौ जाइ ॥८७९॥

नराच

अनेक कल्प ब्रच्छ ब्रच्छ स्वच्छ बाग है जहाँ,
अनेक कामधेनु धन्न दैन देखिये यहै ।
अनेक रत्न पार डार दुग्ध सिंधु सौ बहै,
बिलोकि बिप्र थान कान्ह आसचर्य सौ बहै ॥८८०॥

चामर

देखि आसचर्य यों मुरारि भीतरै गये ।
दिब्य भौन सौन पान भानु से प्रभा छये ।
जत्र तत्र बिप्र राजहंस से बिराजहीं ।
बेद वाक्य जाप ताप संभु सेव साजहीं ॥८८१॥

तोटक

हरि देखि किये परनाम तहीं, रिषि आसिप दै हंसि बात कही ।
हरि आव तुम्हें हम जानत हैं, अवतार सिरोमनि मानत हैं ॥८८२॥

यदुनंदन द्वारकानायक हौ, सुर मंडन दानव घाइक हौ।
तुम्हरी तिय तुम पर पुत्र चह्यौ, तिहि तैं तपसी तुम भेष सज्यौ ॥८८३॥
इत आये भले तपसाहि करौ, फल दैंहि सदासिव धीर धरौ।
यह बात सुनी निज कृष्न जबै, मुनि सौं बिनयौ कर जोरि तबै ॥८८४॥

दोहा

सकल हकीकत तुम कही, घर बैठे परवान।
कहौ कृपा करि बिप्र जू, क्यौं उपज्यौ यह ग्यान ॥॥८८५॥

चौपाई

यहि सुनि बिप्र कही हँसि ऐसी। सुनहु कृष्न हमरी गति जैसी।
हम बारे अति दुर्बल भेवा। मातु दुखित नहिं मिलत कलेवा ॥८८६॥
माँगैं हठि हम कौं पय भावै। माता कनिक घोरि जल प्यावै।
इक दिन पय मित्रनि घर चाखौ। जानौ रस नीरस यह भाषौ ॥८८७॥
तब हम कही मातु सहं ऐसौ। कह माता हमरैं पय कैसौ।
तब माता निज भेद सुनायौ। हौं सुत घोरि चून तुव प्यायौ ॥८८८॥
जिनि कैं तुव पय पानहि कीनौ। तिनि कौं पय ईस्वर जू दीनौ।
हमहिं न देय सु तौ कह कीजै। दुख सुख आपु कर्म फल लीजै ॥८८९॥
इतनी सुनि तब मैं यहि भाषौ। माता मम हिरदै अभिलाषौ।
उन सब कौं पय दायक जो है। कह माता वह ईस्वर को है ॥८९०॥

दोहा

सुन सुत ईस्वर बिस्व के, महादेव प्रभु जान।
उत्तर दिसि कैलास गिरि तहां बसत भगवान ॥८९१॥

तोमर

यह भेद कहौ जब माता, मन फूलि कही तब बाता।
मां हम ईस्वर पर जैहैं, गऊ एक मांगि लै ऐहैं ॥८९२॥
उनि दूध सबनि कहं दीनौ, हम कहा सु उनकौ कीनौ।
गउ लगरि झगरि लै आऊं, हो तृप्त सु:ख अति पाऊं ॥८९३॥

सोरठा

यह सुनि मातु बखान, रे सुत तू कहं पाइहै ।
वे ईस्वर भगवान, देवनि कहं दुरलभ दरस ।।८९४।।

तोमर

सुनि मैं कही हठि बात, दुर्लभ कहा सुन मात ।
हौं पुत्र तेरौ माइ, प्रभु जांचि ल्याऊं गाइ ।।८९५।।

माता उवाच

पद्धरि

जनि करहु पुत्र हठ सौंह भूल, किमि जाय सकहि प्रभु पास फूल ।
दिसि उत्तर अति बंकट कपाट, परबत अनन्त औघट्ट घाट ।।८९६।।
बन सघन बिघन सूझहि न गैन, जहं चंद सूर दिक्खिय न नैन ।
जहं बसत दैत्य राछस प्रजोर, अरु सिंघ बाघ गुंजरत घोर ।।८९७।।
अति भूत प्रेत भैरव मसान, जिन देखत ही कढ़ि जात प्रान ।
हिम परत हिमालय प्रबल रंग, जिहि छुवत तुरत गरि जात अंग ।।८९८।।
मह चीन चीन सरिता अमान, जिन धँसत होत मानुष पषान ।
इमि उत्तर मग अति कठिन जाल, किमि पहुंचहु तुम कैलास बाल ।।८९९।।

चंचरी

इहि भांति डरवायौ जननि फिर हौं कही हठि बात ।
अब होनि होय सु होय जननी नाथ पै हम जात ।
है अर्प तन सिव सक्ति हित राखहि कि कोऊ खाइ ।
कै प्रान तजि भगवान पर कै मांगि लावहुं गाइ ।।९००।।

गीतिका

बात कहि यहि मातु सौं हम ताहि रोवत छांडि कै ।
भागि उत्तर कहं चले कैलास मग हित मांग कै ।
आइगौ रिषि आसरम तहँ कुसिक रिषि तपसा करैं ।
देखि मो उन बूझि सिसु आयौ कहां कह साँकरैं ।।९०१।।

कुण्डलिया

हम कहं इमि बूझौ रिषिनि, तब हम सबहिं सुनाइ ।
सुनि मुनि मृदु मुसकाय कैं, पुनि मो कहं डरवाइ ।
पुनि मो कहं डरवाइ, बाल जनि जनम गंवावहु ।
वे अविगत सिव सक्ति, तिनहिं कैसे करि पावहु ।
क्यों आवत भगवंत, गाइ लीनै अब तुमकौं ।
जिन दरसन हित तपत, गये जुग से टर हमकौं ॥६०२॥

प्रिया

इमि गुनिनि मन परिचौ लियौ, तउ मैं न मन मैलौ कियौ ।
कहि गुरु न मैं मन खंडिहौं, सिव मिलहिं कै तन छंडिहौं ॥६०३॥

दोहा

सुनि मुनि रीझि दयालु ह्वै, दियौ मंत्र उपदेस ।
कही पुत्र यहि तपत रहु, इतहीं मिलत महेस ॥६०४॥

मोदक

सिव सहस नाम दिय मंत्र मोहि मुनि, मन जपन लगौ इत बैठि भाग्य गुनि ।
गत जपत मोहि बारह बरषैं जब, बरदान दैन ईस्वर आये तब ॥६०५॥

पद्धरि

आये ईस्वर बरदान हेत, मम पय इच्छा जानी सु हेत ।
लिय कामधेनु परिवार संग, जे स्रवहिं दुग्ध धारा अभंग ॥६०६॥
अरु दुग्ध सिंधु लाये बहाइ, मम परबत तर राखौ सु आइ ।
अरु कल्पब्रच्छ लाये अनंत, जे कल्प सकल पुजवैं तुरन्त ॥६०७॥
इमि खोज संग लाये दयालु, सब गननि सहित आये कृपालु ।
नंदी पर बर असवार आप, जुत जक्त मातु पूरन प्रताप ॥६०८॥
हौं निरखि हरषि अति प्रेम जुक्त, कीनै प्रनाम जुग नाम जुक्त ।
तब जक्त मातु आसिष सु दीन, सुत अमर होउ पुर काल तीन ॥६०९॥

पुनि नाथ कही सरवग्य होइ, सुत सकल बिस्व पर ग्यान तोहि ।
इमि बर दीनै जग तात मात, कर जोरि फेरि हौं कही बात ॥६१०॥
प्रभु मोहि सब बिधि संतुष्ट कीन, मन तैं अनंत गुन दान दीन ।
अब द्वै सु दान मोहि देहु और, ध्रुव रूप बसहु यौं ही सुठौर ॥६११॥
इत आय करहि तपसा जु कोय, तिहि मास छ भीतर दरस होय ।
इमि सुनि दयालु मम प्रेम बस्य, कहि पुत्र यहै करिहैं अवस्य ॥६१२॥

सोरठा

यह कहि मूरत होइ, मो मन महं राजै सुखद ।
दरसहि और न कोइ, हौं दरसन पाऊं सदा ॥६१३॥

कुण्डलिया

यहि बिधि कृष्न मिले हमें, पारबती भगवान ।
मुक्ति भुक्ति सब फल लहे, इच्छा रही न आन ।
इच्छा रही न आन, कोटि सुर पुर सुख छाये ।
मातु पिता परिवार, मित्र सिगरे इत आये ।
सकल पदारथ मिलें, कहौं महिमा यह किहि बिधि ।
जनम मरन सब मिटौ, कटे संकट सब यह बिधि ॥६१४॥

दोहा

एक गाय माँगन कढ़े, हम सिव बर सुबिचार ।
कोटि इन्द्र पदवी सु प्रभु, देत न कीनी बार ॥६१५॥
देत बार नहिं करहिं प्रभु, मन ही तैं अति दान ।
तातैं अब तुम कृष्न जू, करहु सदा सिव ध्यान ॥६१६॥
जो फल तुम पावहु अनत, बारह वर्ष मंझार ।
सो फल मास छ में मिलै, मम आस्रम निरधार ॥६१७॥

सोरठा

सुनत कृष्न सुख पाइ, पांय परे अति प्रेम करि ।
तब मुनि मंत्र सुनाइ, नाइ सीस हरि हर्षियौ ॥६१८॥

तोमर

हरि हर्ष प्रेम प्रताप, लागे करन गुरु जाप।
बीते तबै षट मास, प्रभु दिये दर्स प्रकास ॥९१९॥
ज्यों घट घटा गम्भीर, त्यों लसत नंदी धीर।
ज्यौं चमक बिज्जुल जोत, त्यौं सिव सिवा द्युति होत॥९२०॥

अभीर

निरखि कृष्न सिर नाइ, पूरन प्रेम बढ़ाइ।
तब सिव सक्ति कृपाल, कीनौ सब्द रसाल॥९२१॥

कवित्त

होंहि बहु पुत्र बहु नाती बहु पंती पुनि,
संती हू अनंत सात साख सुख पाइहौ।
बाढ़ै बहु सज्जा साज बाहन कुटुम्ब सन,
महा बल बिक्रम सौं सत्रुनि ढहाइहौ।
बिद्या गुन ग्यान धर्म भक्ति मम पाइ कृष्न,
पूरे अवतार सु त्रिलोक जस छाइहौ।
इंद्र हु कुबेर तैं अखंडित भुगति पाइ,
अंत काल मुक्त ह्वै हमारे लोक आइहौ॥९२२॥

हंस

दै बरदान यहै भगवंत, हो गये अन्तरध्यान तुरन्त।
फूलि कृष्न मुनि कहं सिर नाइ, बिदा भये तिन आयसु पाइ॥९२३॥

दोहा

चलि आये घर कृष्न जू, पूजि मनोरथ सब्ब।
ईस्वर के बरदान तैं, भये बहुत सुत तब्ब॥९२४॥
जामवती के सुत भये, सांच नाम सिरदार।
हरि हलधर हू तैं अधिक, बल बिद्या गुनचार॥९२५॥

सोरह सहसरु एक सौ, अष्ट सु नारि प्रमान ।
दस दस सुत सब कैं भये, तन वच कृष्न समान ॥६२६॥
ग्यारह ग्यारह पुत्र पुनि, तिनि के भये अभूत ।
बारह बारह तिन भये, सुंदर कुंवर सपूत ॥६२७॥
सात साख बढ़ती सु इमि, कहं लौं करहुं बखान ।
बढ़ौ कृष्न परिवार श्री, पारबती बरदान ॥६२८॥

कवित्त

बढ़ौ परिवार राज संपति अपार लही,
दंपति हजारन बिहार मन भाये हैं ।
अखिल ऐस्वर्ज राज सिद्धि नव निद्धि वृद्धि,
बिबिध समृद्धि सौं प्रसिद्ध सुख छाये हैं ।
परम अपार काहू बात की न इच्छा रही,
ऐसे महादानी महादेव प्रभु ध्याये हैं ।
महा अवतार बिस्व भूषन कहाय कृष्न,
गए एक फल कौं अनेक फल पाये हैं ॥६२९॥

दोहा

इमि फल हित सिव भक्ति किय, अष्टावक्र मुरारि ।
सो इतिहास 'अनन्य' भनि, भारत कथा बिचारि ॥६३०॥
भय तैं अग्नि कथा कही, फल तैं मुनिहि मुरारि ।
अब बरनहुं हरिकेस की, प्रेम भक्ति निरधार ॥६३१॥

पद्धरि

हुव राज बीर उत्तर नरेस, बल बिक्रम जस सोभा दिनेस ।
दिसि बिदिसि भूप जीते समस्त, सुख निष्कंटक राजा प्रमस्त ॥६३२॥
तिनिकैं अनेक रानी अनूप, गुन रूप सील कमला सरूप ।
सुख राज पाट परिवार धाम, पर पुत्रहीन सबई सु बाम ॥६३३॥
बिन पुत्र राज निरबंस उक्त, यह मानि राव अति सोच जुक्त ।
करि सोच बूझि बिप्रनि प्रमान, किय धर्म जग्य सर्वस्व दान ॥६३४॥

किय दान रानि जस जाहि भूख, धन लेत पुरी बिप्रनि अहूख ।
बहु धर्म किये जु सुनै पुरान, तद्दपि न होय सुत सोच रानि ।।६३५।।
तब सोचि जानि रानी बिचार, उनमान कही पति सौं उचार ।
पति मोह एक परितीति आइ, सब कर्म धर्म छोड़हु उपाइ ।।६३६।।
श्री गौरि संभु की करहु भक्ति, उन पर न आन बरदान सक्ति ।
बरदान देहिं प्रभु भक्ति वस्य, बिन लिखौ पुत्र हू है अवस्य ।।६३७।।

दोहा

सुनत राय सुख पाय कै, श्री महेस ब्रत मंड ।
मनसा बाचा कर्मना, आन धर्म सब छंड ।।६३८।।

तोमर

सब छंडि कै नृप राइ, सेये सिवा सिव पाइ ।
जप ध्यान पूजन प्रेम, ब्रत इष्ट पूरन नेम ।।६३९।।

सोरठा

नेम धरौ नरपाल, जिहि दिन तैं सिव सक्ति ब्रत ।
तिहि दिन तैं ततकाल, गर्भ रह्यौ पटरानि कौ ।।६४०।।

मोदक

पुनि भयव पुत्र गत मास अष्टदुव, आनंद कंद रबि चन्द रूप हुव ।
नृप रानि परम मंगल उमंगमय, दिय दान बसन भूषन गयंद हय ।।६४१।।

दोहा

दान धर्म सुत कर्म सब, बिधिवत कीन नरेस ।
ईस अंस लहि पुत्र कौ, नाम धरौ हरिकेस ।।६४२।।

पद्धरि

हरिकेस भये निज ग्यान रूप, तिन कौ सु भेद जानहिं न भूप ।
रोवै न हंसै किलकै न बाल, सब कहैं कहा यह को सु हाल ।।६४३।।
पुनि बहुतै दिन बोलौ कुमार, सिव सिव सिव सिव बानी उचार ।
पुनि राज रानि आनंद मानि, गुन कहन लगौ मम पुत्र बानि ।।६४४।।

सो पुत्र बानि बोलहि न आन, जब बोलहि तब सिव सिव प्रमान ।
बातें अनंत सिखवंत लोइ, सिव छंडि आन भाषहि न सोइ ।।९४५।।

लव लाइ रहौ सिव सब्द माहिं, तन भूख प्यास सुख दुःख नाहिं ।
प्यावहु सु पियहि ख्वावहि सु खाय, आपुनि न कछू राखहि प्रभाय ।।९४६।।

तब देखि राज अति दुःख धार, जानी कि भयब बावर कुमार ।
पुनि बिप्रनि कहं सौंपे बुलाय, ते थके नीति बातें सिखाय ।।९४७।।

सीखैं सु कहा सरवग्य आहि, उनके पुरान इन चित्त नाहिं ।
तब देखि दसा बिप्रनि बिचार, यह ग्यानवान राजा कुमार ।।९४८।।

तब राजा सहं यह कहब भेद, राजा सु जान मन मान बेद ।
तब राजा बहुत उपाय कीन, जो होइ पुत्र रस राज लीन ।।९४९।।

पहिराइ बस्त्र भूषन हथ्यार, ले जायँ अस्व आसन सिकार ।
बहुधा सिकार मंडहि नरेस, सूकर गहाय कूकर प्रवेस ।।९५०।।

मेलहि सचान जुर्रा रु बाज, ते गहे बिबिध पक्षी समाज ।
गहि आपु तीर तरवार बांक, मृग सिंघं बाघ मारंत हांक ।।९५१।।

इमि नृप सिकार लीला करंत, हरिकेस न कछु मन महं धरंत ।
तब राइ उपाइ करंत और, लहि बैठि तुरत दरबार ठौर ।।९५२।।

नट नाटक चेटक गुन रचाइ, बहु हास करत भांडनि नचाइ ।
तब हँसत लसत कौतुक क्रिया सु, हरिकेस बदन कबहूँ न हास ।।९५३।।

पुनि राइ उपाइ करे अनंत, सिंगारि नारि पठये इकंत ।
ते करहि मान नाना बिलास, हरिकेस नहीं चितवैं हुलास ।।९५४।।

तब थके सकल उपचार एत, पुनि राइ कुंवर बोले निकेत ।
समुझावत मत सुन सुत हमार, बैराग धर्म नाहीं तुम्हार ।।९५५।।

बैरक्त गरीब अनाथ होइ, जिहि के आगे पाछै न कोइ ।
तुम कत बिरक्त चित होत पूत, जिन राज पाट पायौ अभूत ।।९५६।।

जिहि राज हेतु तपस्या तपंत, ब्रत तीरथ जप साधन अनंत ।
यह राज महा दुर्लभ सुजान, सो मिलब तुमहिं यह भाग्य मान ।।९५७।।

सो राज करहु लरिकाइ छंड, यह राज भोग आनंद अखंड।
यह बात राइ समुझाइ बोल, हरिकेस बानि तब तनिक खोल ॥६५८॥

हरिकेश उवाच

दोहा

हमहिं राज रस कस लगै, सिव रस लहौ अनूप।
अमृत पियत कत छांछ रस, जान यहै रस भूप ॥६५९॥
यह कहि कै चुप ह्वै कुंवर, फिर नृप करब बिचार।
ज्यों त्यों करि समुझाइये, बिगरौ जात कुमार ॥६६०॥

तोमर

इमि मंत्र करि नृप राइ, बहु लगे करन उपाइ।
तब सोच किय हरिकेस, समुझे न ग्यान नरेस ॥६६१॥
करिहैं अनेक उपाइ, परपंच परत बलाइ।
बसिये कहूँ बन माहिं, पावहि सु कोऊ नाहिं ॥६६२॥

सोरठा

यह बिचारि हरिकेस, सुरति बांधि डगरे डगर।
चलत चलत परदेस, पहुंचे पुर बानारसी ॥६६३॥

दोहा

पहुँचे पुर बानारसी, असी गंग दरम्यान।
तहं देखौ सिव सक्ति कौ, सुन्दर बन अस्थान ॥६६४॥

पद्मावती

सुन्दर बन देखौ निज पद लेखौ आस पास द्रुम बेली।
बेली जुत मूलनि फूलत फूलनि रति की मनहुं सहेली।
हेली छबि कैसी लटकन ऐसी रतिवंती अभिरामा।
रामापति मोहै यौ अति सोहै जुत जालंधर बामा ॥६६५॥
बामा पति प्यारी रूप उज्यारी कलप तरुन लगि झूमै।
झूमै फल अमृत झारन नम्रत जनु प्रमदा मद घूमै।

घूमैं रसमाती मधुनि चुचाती लटकि लटकि सब लागी।
लागी जनु पातुरि नृत रत चातुरि रूपवती रस पागी ॥९६६॥
पागी रस रूपनि रूप अनूपनि ऊपर पंछि किलोलैं।
लोलैं गत पाइनि सहज सुभाइनि सिव सिव सिव मुख खोलैं।
खोलैं सिव बानी सब सुख सानी दूजौ सब्द न भाषैं।
भाषैं सिव नामैं अति मन मानैं सुनि मुनि मन अभिलाषैं।९६७॥

दोहा

देखत इमि अभिलाष किय, भीतर गत हरिकेस।
नाना द्रुम फुलवाद जहं, सोहै लता सुदेस ॥९६८॥

कवित्त

सोहै हेम लता नाग लता सु लवंग लता,
दाखनि की लता अभिलाष लहलही है।
ऐलनि की लता बेल लता अलबेल बनी,
ललित चमेली लता परत न कही है।
मूलनि तें कौंपनि लौं फूलनि सौं फूल रही,
झूल रही सुन्दर सुगंध निधि वही हैं।
लागि लागि ब्रच्छनि सौं ललित 'अनन्य' भनैं,
लाल लाल झूमकनि झूम झूम रही है ॥९६९॥

चंदन अगरु चारु चंपक कनैर केर,
केवरे निवारी अधिकारी छबि झूले हैं।
जही जुही केतकी कदंब कुंज पुंज दार,
सेवत हू मालती समाज सुख मूले हैं।
पाकर बसंत आदि सुतरु अनंत और,
सोभा सनंत भौंर भीर भ्रम भूले हैं।
नाना रंग रंगत सु रंगत 'अनन्य' भनै,
ऐसे सिव बाग में सुभग फूल फूले हैं ॥९७०॥

जंबू फल निम्बू फल अम्ब फल अमी फल,
दारौं फल श्रीफल सदाफल हू फूले हैं।
केरी फल बेरी फल खारिक खजूरी फल,
संजीवन मूरी फल पूर्ण निधि फूले हैं।
बेल फूल ताल फूल तालहू तमाल फूल,
कलप तरोरु फूल नाना रस झूले हैं।
रंभा फल संभा फल संभव 'अनन्य' भनै,
ऐसे संभु बन में सुरम्य फल फूले हैं ॥६७१॥

अफल तरोरु जे सफल सब काल जहां,
अदल सजाति ते सदल तनु तन्यौ है।
बिरथि निफूल जे बिबिध फूल फूल रहे,
निपट निगंध सो सुगंध सन सन्यौ है।
कंटक कुजात ते निकंटक निकट संभु,
संभवत रूप जो कुरूप गुन गुन्यौ है।
कासी में निवास पंचकोसी में 'अनन्य' भनै,
ऐसौ गौरि माता कौ बिचित्र बन बन्यौ है ॥६७२॥

नाचैं जहां मोर बोलैं चातक चकोर केर,
कोकिला किलोल मुनि मननि फेरि रखा है।
सारो सुक बाल बोल बोलत रसाल उड़ै,
सुन्दर मराल जिन्हें सोनिनि के पखा है।
बानर लंगूर कूदें साखनि पै सूर महा,
पूरन प्रमोद सौं बिनोद फल चखा है।
ऐसे बनचर कासी बन में बिहार करैं,
पसु कै न जानौ परमेसुर के सखा है ॥६७३॥
मोरनि के कंठनि सौं लिपटे उरग बाल,
उरग बिलैन बीच दादुर बिलास है।
सिंघनि के भौननि में हाथिन के छौना फिरैं,
बाघन के थाननि में मृग गन बास है॥

जुर्रन के घँसुन में कुर्रत कपोत पोत,
होत न बिबाद नहिं काहू तन त्रास है।
बैर न बिरोध बोध सब कै 'अनन्य' भनै,
कासी बन बास मांझ ऐसौ सुख बास है ॥९७४॥

कासी बन मांझ कासीनाथ कौ दिवालौ दिव्य,
मानिक जटित जाके चार दरवाजे हैं।
लाल लाल पट लाल खचित रचित बने,
नील मनि पीठिका पै नीलकंठ ब्राजे हैं।
आस पास देवनि के चित्र हैं बिचित्र चित्र,
नाना रूप रूपत अनूप रंग राजे हैं।
द्वारनि पर द्वारप से सुन्दर 'अनन्य' भनै,
छबि के छबीले छबि छाजत सु छाजे हैं ॥९७५॥

छबि के सलौने नौने नौने मन मौनिन के,
मोतिन के मन मनौ रूप के ठंगूरा हैं।
लाल लाल लालन सौं खचित रचित बने,
मनौ नख तेज तेजधर के अंगूरा हैं।
मेरु पर फेरि देव मंडली मढ़ी है जनु,
कैधौं मनि नील वक्र हाटक लंगूरा हैं।
उपमा अनंत अन्य कहां लौं 'अनन्य' भनै,
ऐसे सिव मंदिर के सुन्दर कंगूरा हैं ॥९७६॥

बिबिध बिचित्र बूटा चित्रित बुनावट ही,
पाट पट पाटित ही रूप रस माती है।
मोतिन की कोर डोर बनी दुहूं ओर जोर,
छोर छोर मानिक की झुमकी झुमाती है।
सौनिन के दंडनि सौं मंडित 'अनन्य' भनै,
रचना अनूप रूप रंग गहराती है।
मानिक कलस महादेव जू के देवल पै,
ऐसी दुति राती राती धुजा फहराती है ॥९७७॥

राज अरु जोगनि कौ कैधौं जुत भोगनि कौ,
सत सतोगुन कौ कै गुननि कौ गढ़ है।
भाननि कौ भौन किधौं ज्वालनि कौ जौन किधौं,
मौनिनि कौ मौन तप तेज पुंज बढ़ है।
जोतिनि की जोति किधौं दुति कौ उदोत भयौ,
कैधौं जग जोतिनि कौ जुरौ आनि सड़ है।
कैधौं मनि क्रीट भूमि भूषन 'अनन्य' भनै,
ऐसौ महादिव्य महादेव जू कौ मठ है ॥६७८॥

दोहा

दिव्य सदन रमनीक बन, बानारसि निज धाम।
सदा सदासिव जहं बसत, सहित सिवा अभिराम ॥६७९॥

मुरिल्ल

गुपित रहत भगवान सुरनि दरसन नहीं।
बिहरत बन निज धाम ललित लीला मही।
नित निवास तिहि ठौर पंच द्रुम ताक है।
कंजा बेल कनैर धतूरे आक है ॥६८०॥

कुण्डलिया

आक धतूरे प्रिय महा, चंदन अगरु अदेस।
जिहि कौ आदर कहुं नहीं, तिहि आदरत महेस।
तिहि आदरत महेस, देत पदबी अधिकाई।
हरत बड़िनि के गर्व, दीन कहं देत बड़ाई।
दीन बन्धु हर गर्व, बिरद जानहु विव रूरे।
कल्पबृच्छ रचि दूर, निकट बन आक धतूरे ॥६८१॥

दोहा

आक धतूरे बन जहाँ, निज अस्थान महेस।
दरसत प्रेम प्रनाम करि, तहं बैठे हरिकेस ॥६८२॥

चंचरी

बैठे भजन लवलीन तन मन प्रेम भक्ति निहाल।
सिव नाम सौं रटना लगी टरि गये सु केतिक काल।
ऊपर बमीठे बढ़ि गये कुस कढ़े अंगनि फूट।
तन मास कीरनि चुनि लियौ तद्दपि न आसन छूट ।।६८३।।

सुन्दरी

इमि देखि भई करुना जगमातौ, तब ईस्वर सौं बिनयी मृदु बातैं।
हरिकेसहि ईस निवारि सु लीजे, यह भक्त बड़ौ परवानक कीजे ।।६८४।।

गीतिका

सुनि नाथ बामी फोरि कै हरिकेस दास निकासियौ।
दुति चंद्र भानु समान तिनके जुगल नैन प्रकासियौ।
हेरत सु टक टक और सक्ति न देह कीरनि चुनि लई।
देखत दसा हरिकेस की जग जननि मन करुना भई ।।६८५।।

कुंडलिया

करुना करि श्री पार्बती, माथैं हाथ सु दीन।
कोटि काल अभिराम छबि, हुव ध्रुव रूप नवीन।
हुव ध्रुव रूप नवीन, अमर की नैंजग जननी।
मरै जरै नहिं गरै, बज्रदेही तन बननी।
देखत तासु सरूप, लजैं सुरपति अरु बरुना।
तब उठिकै हरिकेस, परे पाइनि करि करुना ।।६८६।।

दोहा

लहि करुना करुना उदधि, महादेव भगवान।
बोले बचन प्रसन्न हुव, मांग पुत्र बरदान ।।६८७।।

हरिकेश उवाच

तुम अन्तरजामी धनी, जानत जा जिय जोइ।
मो इच्छ्या बरदान की, भई न कबहूँ होइ ।।६८८।।

ईश्वर उवाच

तो इच्छ्या जद्दपि नहीं, मो इच्छ्या कर कर्म ।
यहि कासी महं बस सदा, पाल पुत्र बिधि धर्म ॥९८९॥

धर्म पाल या गंग तट, मुक्ति छेत्र यह मंड ।
पतित मरन पावै नहीं, दीजे तिन कहं दंड ॥९९०॥

सोरठा

यह कहि सिव सुख धाम, अपनै कर कौ दंड दिय ।
दंडपानि धर नाम, राखे पुर गन देव करि ॥९९१॥

दोहा

रहन लगे हरिकेस जू, कासी गन अधिराज ।
दुष्ट मरन पावै नहीं, देहिं दंड सिरताज ॥९९२॥

पुन्य संसकारी मरै, अरज करै हरिकेस ।
तिनहिं मुक्त केवल करैं, दै अप मंत्र महेस ॥९९३॥

मंत्र राम तारक कहत, अटकर ग्यान अजान ।
कहौ मंत्र हरि तालिका, कासी खंड पुरान ॥९९४॥

प्रथम आपनौ मंत्र दै, बहुरि आपनौ रूप ।
देत मुक्ति केवल सु इमि, श्री हरि चरित अनूप ॥९९५॥

श्री हरि प्रभु हरि सिद्ध जुत, हरि तालिका सुमंत्र ।
अगवानी हरिकेस जू, यह कासी कौ तंत्र ॥९९६॥

इमि हरिकेस कथा कही, प्रेम भक्ति जुत ग्यान ।
द्वै सु भक्ति पाछैं कही, भय फल होत प्रमान ॥९९७॥

भय फल प्रेम प्रमान इमि, आसय तीन सुलेख ।
अब बरनहुं सिव सक्ति हित, त्रिबिध सु इष्ट बिसेष ॥९९८॥

एक इष्ट सिव श्रेष्ठ लहि, एक सक्ति अधिकार ।
एक जुगल समता लहै, त्रै फल कहौ सुचार ॥९९९॥

छप्पय

सिव भक्तनि कहं सदा सक्ति माता प्रतिपालक।
सक्ति भक्त प्रतिपाल जान सिव जू निज बालक।
जे सिव सक्ति सु भक्त तिनहिं दुव तन बर दाइक।
दुव तन एक सरूप जान सिव सक्ति सुभाइक।
कौनहु रूपहि भजत भज अंतर भेद न मान यह।
पारबती परमेस्वरहि द्वै करि कबहुं न जान यह ॥१०००॥

मनि बिन जोति न होत, जोति बिन मनि कित मानिय।
दृग बिन दृष्टि न होय, दृष्टि बिन दृग न बखानिय।
पय बिन घीउ न होय, घीउ बिन पय नहिं पेखिय।
कुर बिन बीज न होय, बीज बिन कुर न बिसेषिय।
इमि सक्ति बिना सिव होत नहिं, सिव बिन सक्ति न बोल हत।
सिव सक्ति अभेद 'अनन्य' भनि, बेद सास्त्र इहि बिधि कहत ॥१००१॥

सिव तैं बामै सक्ति सक्ति बामै सिव पेखिय।
सिव तैं दाहिन सक्ति सक्ति दाहिन सिव लेखिय।
सिव तैं आगै सक्ति सक्ति आगै सिव जानहु।
सिव तैं पाछैं सक्ति सक्ति पाछैं सिव मानहु।
सिव के अधार निज सक्ति है सक्ति अधार सिवहि लहत।
सिव सक्ति परसपर एक दुव त्रितिय नाहिं आगम कहत ॥१००२॥

जहं सिव सुन्न सरूप सक्ति आकासवान तहं।
जहं सिव जोति सरूप सक्ति आभा सु तासु यह।
जहं सिव पुरुष सरूप सक्ति तहं प्रकृति नाम कर।
जहं सिव संभु सरूप सक्ति गौरी सरूप धर।
सिव सक्ति अनेक सरूप इमि अगुन सगुन लीला जुगल।
जिहि रूप भजत तिहि रूप तसु करत भक्त भावन सुफल ॥१००३॥

दोहा

इहि बिधि इष्ट अभेद कहि, लहि समता परवान।
अब बरनहुं द्वै पंथ पुनि, सरल कुटिल उनमान ॥१००४॥

सरल सुद्ध ईस्वर भजै, सुतह सिद्ध मत भक्ति।
कुटिल पंथ सुर आन भज, सो मिलवै सिव सक्ति ।।१००५।।
सरल पंथ महं जानिबौ, पाछैं कहे सुभक्त।
कुटिल पंथ अब बरनिये, ध्रुव की कथा प्रसस्त ।।१००६।।

ध्रुव कथा वर्णन

पद्धरि

दिसि दच्छिन गढ़ चिंजी सुथान, उत्तानपाद रबिबंस रान।
ध्रुव तासु पुत्र लघु रानि केर, छांड़ी सु रानि भावंत जेठि ।।१००७।।
ध्रुव एक दिना गये तात गोद, पितु चूमि बदन लिय मान मोद।
तब पट्टरानि मन जरिय देखि, अति धृष्ट आन नृप कीन लेख ।।१००८।।
गहि बांह झिड़क दीनौ उठाय, भग रे गुलाम बैठौ कित आय।
ध्रुव भगे बिकल अति दुःख भोय, सब खबरि मातु सहं कही रोय ।।१००९।।
तब मातु कही मुख पोंछि बात, जनि रोव पुत्र तज दुःख गात।
अपनौ चारौ कछु बात नाहिं, हरि हाथ बात सबकी सु आहि ।।१०१०।।
हरि उनहिं दिये सब राज पाट, यह दुःख लिखौ हमरे लिलाट।
जो लिखौ भाग नहि टरहि कर्म, तज सोक पुत्र हरि जान मर्म ।।१०११।।

तोटक

यह बात सुनी ध्रुव ने जब ही, जननी सहं पूछि उठे तब ही।
वह को हरि है जसु नाम लियौ, जिनि तो दुख वा कहं राज दियौ ।।१०१२।।
निज पावहि जो ठिक ठौर सबै, चलि जाहुं भलै हरि पास अबै।
जचि लावहुं राज बिभौ बननी, हरि बेगि बताउ हमें जननी ।।१०१३।।

दोहा

सुनि जननी उत्तर दियौ, पुत्र कहां तुम जाहु।
हरि बासी बैकुण्ठ के, जहां न देव निवाहु ।।१०१४।।

तोमर

यह सुनि कही ध्रुव बात, हरि पर जननि हम जात।
जा नहीं देव निबाहु, तौ मोहि तौ उतसाहु ।।१०१५।।

यह कहत सुर जन लोइ, हिम्मत करैं सब होइ।
जो होहि दुर्लभ बात, हिम्मत करैं मिल जात ॥१०१६॥
जो नहीं हिम्मत होइ, तो निकट दुर्लभ सोइ।
हिम्मत तजैं ते कपूत, हिम्मत हथ्यार सपूत ॥१०१७॥
हिम्मत हमारौ काम, हम राजबंस सुनाम।
तातैं जननि सुन बैन, हिम्मतहि में अति चैन ॥१०१८॥
हिम्मत किये हम जात, हरि मिलन केतिक बात।
हरि मिलि लियावहु राज, तुव करहु पूरन काज ॥१०१९॥

दोहा

इमि माता सहं बचन कहि, डगर चले ध्रुव धीर।
मातु रोइ समुझाइ थकि, धीर न मन अति पीर ॥१०२०॥

मोदक

अति बीर धीर ध्रुव डगर चले तब।
यह बात गाथ नृप नाथ सुनी जब।
अति सुमतिवान मंत्री भेजे कहि।
तिन तुरत जाहि रोके कुमार गहि ॥१०२१॥

तोमर

किय बिनय सुन नृप नंद, तुम राजबंसी चंद।
जनि ब्रथा होहु अतित्त, कुल जनि लजावहु इत्त ॥१०२२॥
लै देहिं बांट तुम्हार, चल मतौ मान हमार।
कर राज लै सुख सीख, जनि कुंवर मांगहु भीख ॥१०२३॥

दोहा

सुनत कुंवर तब ज्वाब दिय, तुम जानौ न प्रमान।
राज पाट परिवार धृक, जहां इते अपमान ॥१०२४॥

मोदक

यह सुनत सुमत मंत्री मुरके तब ।
कहिय राय सहं आय खबर सब ।
सुनत राय अकुलाय गये तहं ।
अतित गात ध्रुव जात चले जहं ।।१०२५।।

हंस

देखि भूप रोके ध्रुव धाइ, कही पुत्र जनि तू कढ़ि जाइ ।
उन रानी मिथ्या झकझार, जिन कीनौ अपमान तुम्हार ।।१०२६।।
तुम न पुत्र भूलहु यहि बात, कहा भयौ गारी दिय मात ।
राज पाट तुम्हरौ घर जाहु, चलहु पुत्र मेंटहु दिल दाह ।।१०२७।।

सोरठा

सुनि ध्रुव मन मति जोइ, तब वह अब यह देखिये ।
आगे कहा न होइ, प्रभु सरनागत जात ही ।।१०२८।।

प्रीति

यह मन्त्र चित्तहि जोइ कै, पितु सौं कहौ भ्रम खोइ कै ।
अब वृथा मोह न मंडहू, पाछौ हमारौ छंडहू ।।१०२९।।
हम कढ़े किमि पुनि आहि रे, गज दंत निकसन बाहिरे ।
यह ज्वाब दै चलि चातुरे, हरि मिलन कौं अति आतुरे ।।१०३०।।
पितु मातु आरत रोइयौ, पुरजन सबै दुख भोइयौ ।
इक भीर आगे हो रहै, इक पांय गहिकै रो रहै ।।१०३१।।
तद्दपि परे ध्रुव टेक ही, मन माहिं मोह न नैक ही ।
झहराइ डगरे रोष कै, जिमि सिंघ कौं गहि को सकै ।।१०३२।।

सवैया

डगरे ध्रुव लाल बिहाल सबै, पुर रोइ फिरे इन मोह न कीनौ ।
वहु लोगनि लोभ दिखाइ घने, तिन में न कहूं छिन कौ मन दीनौ ।

तन भूख न प्यास उदास महा, रट चातक स्वांति तथा मत चीनौ।
मन पूरन बोध 'अनन्य' भनै, इहि भांति भले सत मारग लीनौ ॥१०३३॥

दोहा

उत्तर मारग कहं चले, बिन जानै ध्रुव धाइ।
बीच जहां नारद मिले, पूरन चंद प्रभाइ ॥१०३४॥

हीरा

कर मंडित तन मंडित तिरपुंडित सु बिभूतियौ।
मृग चर्मक कुस धर्मक सुभ कर्मक अवधूतियौ।
इमि देखत रिषि लेखत ध्रुव पेखत सुख पाइयौ।
अति पावन मन भावन के पायनि सिर नाइयौ ॥१०३५॥

सोरठा

लखि मुनि आसिष दीन, बूझि उठे अति प्रीति कर।
को तुम बाल नवीन, जात कहां किहि कारनैं ॥१०३६॥

अभीर

सुनि इन उत्तर दीन, हम नृप नंद नवीन।
कढ़े मातु दुख भाज, मांगन हरि पर राज ॥१०३७॥

सुन्दरी

नारद बैन सुनै ध्रुव के जब, बाल दसा लसि प्रीति हंसे तब।
लैन कसौटिहि बैन कहे मुनि, बानि कठोर कृपालु हियै गुनि ॥१०३८॥

नारद उवाच

मधुमार

सुन राज पुत्र, जनि मर्म सुत्र।
हरि मिल न काइ, घर बैठ जाइ ॥१०३९॥
तुव मां प्रवीन, प्रस्थान दीन।
तुम बुद्धि बाल, कढ़ि कोपि हाल ॥१०४०॥

हरि मनुष नाहिं, तुम जात जाहि ।
फिरि चलहु आज, लै दैंहि राज ॥१०४१॥

दोहा

जद्दपि मुनि ऐसी कही, तोरि मिलन की आस ।
तद्दपि ध्रुव जू टेक धरि, बचन कहे बिसवास ॥१०४२॥

ध्रुव उवाच

पद्धरि

हम राजपुत्र सुन बिप्र आज, मुरकहिब कहा बिन किये काज ।
द्वै मूठ बिना नहिं काज होइ, कै तजहुँ देह कै मिलहि मोइ ॥१०४३॥

मुरिल्ल

सुनि मुनि रीझि दयालु ह्वै मंत्र मन में करौ ।
बालक ग्यान अजान नाम हठि जी परौ ।
जो उपदेसहुं ग्यान तौ समुझि न आइहै ।
हरि मूरति लिख देंहु चित्त मन लाइहै ॥१०४४॥

अरिल्ल

यह कहि मुनि कागद लिखि दिन्नहि, बचन रचन संबोधन किन्नहि ।
मथुरा जाहु पाहु मन दिज्जह, मिलहिं कृष्न निसचय यह किज्जह ॥१०४५॥

दोहा

लै ध्रुव पत्र प्रनाम कै, गुरु आयसु उर धार ।
गये नगर मथुरावती, पूरन भाग्य बिचार ॥१०४६॥

तोमर

ध्रुव परम भाग बिचार, करि न्हान जमुना पार ।
पग अंगूठा धरि रोप, ठाड़े भये तप ओप ॥१०४७॥
करि गुरु प्रनाम प्रवीन, करि चित्त मूरति लीन ।
इक टक रहे लव लाय, ससि ज्यों चकोर सुभाय ॥१०४८॥

तब चित चलावन हेत, उठि बिघन कारी प्रेत।
बरषाइ आँधी डेल, पुनि करत बहु बिधि खेल ।।१०४९।।
इक फेरि लूघर घोर, इक बरषि ज्वाल प्रजोर।
इक नचत आनि नजीक, इक हंसत दै दै कीक ।।१०५०।।
इक सर्प ह्वै भन्नात, इक ब्योम लौं बढ़ि जात।
इक बाघ हो गरजंत, मुख काढ़ि दारुन दंत ।।१०५१।।
इमि करत बहु बिधि ख्याल, ध्रुव धीर चित्त न चाल।
लगि रहे इक टक नैन, करि चित्त पट सुख दैन ।।१०५२।।

दोहा

देखत देखत चित्रपट, छबि छाई मन माहिं।
लागि गयौ निज ध्यान उर, रही देह सुधि नाहिं ।।१०५३।।

चंचरी

इमि लगौ ध्यान अखंड ध्रुव कौ बीत गये षटमास।
तब ह्वै कृपाल गुपाल आये दैन दरसन तास।
ढिग आय ध्रुव ध्रुव टेरि थाके ध्रुव सुनै नहिं बात।
तब पंचजन्य सु संख पूरौ घोर घन घहरात ।।१०५४।।
तऊ ध्यान चलै न ध्रुव कौ सोचि तब हरि राइ।
खैंचि अपनौ रूप लीनौ रहौ जिहि लव लाइ।
खिंचति मूरति खुले लोचन प्रेम उमगत आव।
वहै सूरत प्रगट देखी मुदित दरसन पाव ।।१०५५।।

चतुष्पदी

दरसे हरि नागर सब सुख सागर सिंधु सुता पति प्यारे।
मन मोहन मूरति सांवरि सूरत सुन्दर रूप उज्यारे।
मनि मुकुट बिराजत अति छबि छाजत भाल तिलक सुभ दीनै।
स्रुति कुंडल झलकत मानिक मरकत सुर मुनि मन हर लीनै ।।१०५६।।
पीताम्बर फहरै लहरनि लहरै उर रुमकै बन माला।
कौस्तुभ मनि दरसै रबि छबि सरसै कटि किंकिनि अति आला।

चारों भुजदंडनि अंगद मंडन संख चक्र गदधारी ।
इमि अद्भुत बानिक जनु निरमानिक दरसे कृष्न मुरारी ॥१०५७॥

दोहा

दरस पाइ अति प्रेम जुत, ध्रुव चरननि लिपटान ।
हरि उठाइ हंसि यौं कही, माँग पुत्र बरदान ॥१०५८॥

ध्रुव उवाच

कह मागहुँ बरदान अब, अरज सुनौ महराज ।
इच्छा रही न और मुहि, दरस सरे सब काज ॥१०५९॥

श्रीकृष्ण उवाच

जदपि न तो इच्छा रही, त्रिपित सु दरसन देख ।
तदपि कढ़े तुम राज कहं, लेहु सु राज बिसेष ॥१०६०॥

ध्रुव उवाच

राज न मैं चाहत धनी, अब मन भई बिरक्ति ।
राजस सुख महं परत प्रभु, भूल जाहि तुव भक्ति ॥१०६१॥

श्रीकृष्ण उवाच

राजस सुख कहं पाइ कै, भूलत मूरख आहि ।
राज करै कै बन बसै, सुर्जन भूलत नाहिं ॥१०६२॥
तुम सुर्जन मम भक्त हौ, भक्ति न बिसरै तोहि ।
लेहु राज मम हुकुम तैं, जा हित जांचौ मोहि ॥१०६३॥

ध्रुव उवाच

जोब राज तुम देत प्रभु, लैहौं हुकुम प्रमान ।
तौब अटल कर दीजिये, मिटै सु आवन जान ॥१०६४॥

श्रीकृष्ण उवाच

छप्पय

अटल नहीं हम कृष्न धरत फिर फिर अवतारन ।
अटल नहीं बिधि बिष्नु कल्प कल्पन छय डारन ।

अटल नही रबि चंद फिरत भरमत निसि बासर ।
अटल न अमर समाज पियत अमृत जिहि आसर ।
अटल नहीं संसार सब सुर नर मुनि छय छक्कवहि ।
सत चित आनंद सरूप नित अटल सदासिव चक्कवहि ॥१०६५॥

दोहा

अटल सदासिव जान ध्रुव, और अटल नहिं कोइ ।
उनकी भक्ति प्रसाद बिन, हम तैं अटल न होइ ॥१०६६॥

सोरठा

सुनि इमि कृष्न बयन्न, ध्रुव मन भ्रम संसय भयौ ।
तब जल पूरि नयन्न, अरज करी कर जोरि कै ॥१०६७॥

ध्रुव उवाच

हंस

हौं तौ प्रभु कीनी तुव सेव, बारे तैं न सुनौ विय देव ।
अब तुम लेत सदासिव नाम, कहौ नाथ वे को किहि ग्राम ॥१०६८॥

श्रीकृष्ण उवाच

चंचरी

वे बिस्वनाथ अनादि ईस्वर बसत कासी ग्राम ।
हम सर्व सुर सेवत उनहिं वे परम प्रभु सुख धाम ।
बरष सहस पचास तप हौं करी उनकी सेव ।
तब कृपा करि दरस दीनै रीझि कै जग देव ॥१०६९॥

दियौ बर परमेस थपि बैकुंठ कौ दिय राज ।
सदासिव की सेव तैं इमि सरौ हमरौ काज ।
उनहिं की सेवा करी बिधि दिब्य वर्ष हजार ।
तिन की कृपा तैं भये संम्रथ बिस्व के करतार ॥१०७०॥

उनहिं की सेवा करैं सु कुबेर धनपति लेख ।
उनहिं की सेवा करैं रबि चंद्र इंद्र बिसेष ।

उनहिं की सेवा बिना ध्रुव पद न पावै कोइ।
तासु सिव सेवा करौ मम इष्ट केवल सोइ ॥१०७१॥

दोहा

इष्ट न आपु बताइयौ, कहत यहै गुरु बेद।
हौं तो सौं हारौ बचन, तातैं कहे सु भेद ॥१०७२॥
अब तुम सिव सेवा करौ, तन मन चित्त लगाइ।
मन चाहौ फल देहिंगे, महा दानि प्रभु आइ ॥१०७३॥

ध्रुव उवाच

हौं तौ तुम सेये धनी, तुम अप इष्ट बताइ।
तौ अब देव कृपालु ह्वै, दीजे मार्ग लगाइ ॥१०७४॥

गीतिका

सुनत हरि सुख पाइ तब ध्रुव भक्त गरुड़ चढ़ाइयौ।
लै गये बानारसी जहं आपु तप बर पाइयौ।
उद्धरि ध्रुव थापे ध्रुवेस्वर ध्रुवहि सेव सिखाइकै।
हरि गये बैंकुंठ कहं ध्रुव रहे सिव मन लाइकै ॥१०७५॥

तोमर

ध्रुव रहे सिव मन लाइ, अति प्रेम भक्ति बढ़ाइ।
द्वादस बरस पद ध्याइ, प्रभु दरस दिय तब आइ ॥१०७६॥

दोहा

दरस दिये सिव सक्ति जू, निज अरधंग सरूप।
कोटि चंद रबि छबि उदित, अद्भुत जोति अनूप ॥१०७७॥

सवैया

सिर मानिक क्रीट जटा झलकै मुक्तालर मंगरु गंग धरैं।
सुभ चंद सु चंदन बिंदु बिभूष, बिभूति बिभूषनि अंग धरैं।
पट पाटल पीत बघंबर सुन्दर, गात सितारुन रंग धरैं।
दरसै बृष पीठ 'अनन्य' भगी, अरधासन यौं अरधंग धरैं ॥१०७८॥

त्रिभंगी

इमि दरसन देखत भाग सु लेखत प्रेम बिसेषत ध्रुव फूले।
लागे पग आतुर अति मति चातुर उमगत मातुर सुख भूले।
तब श्री सिव संकर सक्ति जयंकर मधुर मयंकर बात कही।
सिसु जचि बरदानहि जो मन मानहि सकल प्रमानहि देंहु सही।।१०७९।।

चौबोला

सुनि इमि बचन फूलि ध्रुव तन मन बिनती प्रभुहि सुनाई।
अटल लोक माँगौ हम हरि पर हरि तुव भक्ति बताई।
हौं तुव दरसन दास कृपा निधि जान कृपा यहि कीजै।
जातैं आवागमन मिटै प्रभु अटल लोक मोहि दीजै।।१०८०।।

सोरठा

सुनि ईस्वर सुख पाइ, बिसकर्महि आयसु दियौ।
अटल लोक रच जाइ, मेरु सिखर मनि श्रृंङ्ग पर।।१०८१।।

सरस्वती

इमि पाइ आयसु तुरत ही सु तहीं गये गिरि पैं।
सुभ हेम मानिक पुर रच्यौ सुर लोक के सिर पैं।
अति कोटि भानु प्रभा भई सु नई अभा भुव की।
हरि लोक ही तैं आगरी नगरी करी ध्रुव की।।१०८२।।

गीता

इमि नगर रचि बिसकर्म प्रभु सहं अरज कीनी आइ।
प्रभु हुकुम किय सब भक्ति करि बैठहि अटल ध्रुव जाइ।
सुनि हुकुम ध्रुव कर जोरि फिर कीनी अरज परि पांव।
हौं कढ़ौ प्रभु परिवार हित अब कित अकेलौ जाउ।।१०८३।।

सोरठा

सुनि ईस्वर हंसि हेत, तुरत जोग मायाहि कर।
सब परिवार समेत, अटल लोक ध्रुव लै धरे।।१०८४।।

दोहा

अटल भये ध्रुव भक्ति इमि, आवागमन मिटाइ ।
मुक्ति भुक्ति दोऊ लही, महादेव प्रभु पाइ ॥१०८५॥
प्रथम भक्ति हरि की करी, हरि मिलये सिव सक्ति ।
बरनी कासी खंड महं, कुटिल पंथ यह भक्ति ॥१०८६॥
अरु पुनि कासी खंड महं, दियौ और इतिहास ।
कुटिल पंथ ह्वै तत लहौ, जथा महा मुनि ब्यास ॥१०८७॥

सोरठा

एक समय मुनि ब्यास, दस हजार सिष्यनि सहित ।
गये सप्त रिषि पास, सहस अठासी मुनि जहां ॥१०८८॥

चौपाई

देखि मुनी तब आदर कीनौ । ब्यास देव कहं आसन दीनौ ।
करि अतिथ्य अति कोबिद सूझे । लैन सुमत चरचा मन बूझे ॥१०८९॥
कहौ ब्यास तुम देव बिचारे । दस अरु अष्ट पुरान उचारे ।
सब महं तत्त कहा तुम जानौ । को सब कौ करता पहिचानौ ॥१०९०॥

दोहा

सुनत ब्यास उत्तर दियौ, सबके करता बिष्नु ।
बेद पुरान प्रमान यह, और न दुतिया दिस्नु ॥१०९१॥
सप्त रिषिनि सुनि ज्वाब दिय, सुनहु ब्यास परवान ।
बेदनि के सिद्धांत कौ, तुम कहं भयौ न ग्यान ॥१०९२॥

नवपदी

तुम कहं भयौ न ग्यान, भूलि रहे अभिमान ।
लहौ न तत्त प्रताप, करौ बिष्नु कत थाप ॥१०९३॥

चतुष्पदी

सुनि ब्यास सयाने पग लपटानै जोरि पानि मुनि बूझौ ।
हम मूढ़ अयाने भेद न जानैं बिष्नुहि लौं प्रभु सूझौ ।

तुम गुरु बुधि सागर ग्यान गुनागर सर्व सार मत जानौ ।
निज तत्त बतावहु भर्म भजावहु मो अपनौ पहिचानौ ।।१०९४।।

पद्धरि

तब सप्त रिषिनि सुनि ज्वाब दीन, तुम जाहु नगर कासी प्रवीन ।
उत जानहुगे निज तत्त सार, सब भर्म वहां भजिहैं तुम्हार ।।१०९५।।

सोरठा

यह आयसु सुनि ब्यास, करि प्रनाम आतुर गये ।
लहि निज गंग निवास, सुन्दर पुर बानारसी ।।१०९६।।

कवित्त

बानारसी पुरी सब पुरिनि की सिरमौर,
मुदित उदित राजै रूप के उमाहे सौं ।
मनि गन हीरन के सुन्दर महल सोहैं,
मंदिर रुचिर खचे कंचन के चाहे सौं ।
अगनित आगनि तैं नगन जोति जगमगत,
जुगुनू समान भानु लगत लजाहे सौं ।
परम प्रकास कासि भासित 'अनन्य' भनै,
जानिये न रैन दिन कहत हैं धौं काहे सौं ।।१०९७।।

महा भासमान चंद्र भानु न समान जाके,
महा विद्यमान महा विद्या की निधानी है ।
महा रूपवान जाकौ रूप को निरूप सकै,
महा जसवान जो सकल जग जानी है ।
महा लक्षवान महालक्ष्मी तैं सु लक्ष गुनी,
सकल सुलक्षनि 'अनन्य' गुन गानी है ।
महा राजधानी महा राजै रजधानी जहां,
कासी महापुरी महादेव मन मानी हैं ।।१०९८।।

जहां महादेव महादेवी जू बसत सदा,
सर्व देव देवी करैं सेवा सबिलासी है ।

बंधुवा है काल कालभैरौं कोतवाल जहां,
भुक्ति है भंडारिनि मुकति जहां दासी है।
ध्रुव प्रतिहार बिधि बिष्नु कर्नवार केर,
चंद्र भानु पाहरू बिभूति कमला सी है।
परम अपूर महा पूरन 'अनन्य' भनै,
पुरिनि में पुरी महापुरी सिव कासी है ॥१०९९॥

सबै सुख आनँद में मगन रहत जहां,
दुख धौं कहावै कहा जानत न जासी में।
सुकर कुकर खर कीटहू पतंग जीव,
जीवनमुकत जे न परैं जम पासी में।
चातक त्रिपित कोक बिछुरैं न रैन दिन,
कोबिद उलूक नहीं तिमिर निसासी में।
पाप ताप श्राप जहां ब्यापै न 'अनन्य' भनै,
ऐसौ अभय रूप बस बास सिव कासी में ॥१०००॥

सील के समुद्र धीर धरनी सुमेरु तल,
संपति कुबेर रूप काम से रसत हैं।
गुन कौं गनेस से दिनेस से दिपत अंग,
कोबिद प्रवेस बेष चंद से लसत हैं।
धर्म के निधान ग्यान ध्यान से प्रधान मान,
सकल सयान देवतानि कौं हंसत हैं।
पूरन पुरुष बुद्धि सागर 'अनन्य' भनै,
बानारसी ऐसे नर नागर बसत हैं ॥११०१॥

पातक सुपातनि के घातक पवन रूप,
करम करीलनि कौं ज्वाल से लसत हैं।
मूढ़ गढ़ सैलनि कौं वज्र समरथ्थ जान,
बिषै बन छांटनि कुठार से कसत हैं।
काम क्रोध कुल करी मारन प्रबल सिंघ,
लोभ सिंधु पीवन अगस्त से ग्रसत हैं।

सर्व खल दाहन कौं संम्रथ 'अनन्य' भनै,
बानारसी ऐसे नर नागर बसत हैं ॥११०२॥

सब ही कैं बाजत हैं नौबत निसान द्वार,
सब ही कैं गाजत हैं बारनि बगर में ।
सब ही कैं दीसत हैं सोने मनि नौने मनि,
नौने रथ सब ही कैं हींसत डगर में ।
सब ही कैं नाती पूत संपति दिपति महा,
सब ही कैं दंपति पतिव्रत अगर में ।
सब ही कैं सर्व सुख साधन 'अनन्य' भनै,
ऐसौ बस बास बिस्वनाथ के नगर में ॥११०३॥

घटि बढ़ि अंगुली न घटि बढ़ि और जहां,
कुपथ कौं पग और पथ ना अगर में ।
बिरथ कौं मूक और मूक न अरथ्थ वाक,
कुंजर मद अंध और अंध ना जगर में ।
बिना सिव चर्चा कौ बधिर बधिर नाहीं,
नाहिंनै कुटिलता कुटिलता डगर में ।
मिथ्या क्रत भिन्न क्रत भिन्न न 'अनन्य' भनै,
ऐसौ बस बास बिस्वनाथ के नगर में ॥११०४॥

गुरुनि सौं दीनता न दीनता दुखित कोऊ,
तप ही की छीनता न छीनता दिगर में ।
सजनी की गारी और गारी न बिगारै बैन,
मन ही की मार और मार ना बिगर में ।
पढ़िबे लौं बाद और बाद ना बिबाद बेद,
देह लहि भेद और भेद ना भगर में ।
सिव ही की आस और आस न 'अनन्य' भनै,
ऐसौ बस बास बिस्वनाथ के नगर में ॥११०५॥

जोग ही कौ जतन पतन जहाँ सोग ही कौ,
रोग ही कौ हतन न तन कौ बनारसी ।

भजन कौ लोभ चित्त चोभ सिव मूरति में,
पाप ही कौ छोभ धर्म संचित धनारसी ।
आनँद परम परमारथ करम जहां,
धरम सु नारि पर नारि न तनारसी ।
सुक्रत प्रकास बिस्वनाथ कौ निवास जहां,
ऐसौ सुख बास सदा बसत बनारसी ॥११०६॥

दोहा

इमि सुख बास बनारसी, निरखि ब्यास सुख पाइ ।
दस हजार सिष्यनि सहित, रहे गंग तट छाइ ॥११०७॥
तब ईस्वर गन भेजि कै, हटके सब नर नारि ।
देहि न भिछ्या ब्यास कहं, सत्य परिच्छा धारि ॥११०८॥

चौपाई

प्रभु आयसु इमि जानि परिच्छा । कोउ न देत ब्यास कहं भिच्छा ।
घर घर बिप्र फिरै करि टेरैं । नर नारी इन तन नहिं हेरैं ॥११०९॥
सात दिना बीते अति भूखे । लगी छुधा अति बिप्र बिदूषे ।
तब मुनि ब्यास महा रिस कीनी । कोपि श्राप कासी कहं दीनी ॥१११०॥
यह कासी दारिद्रनि होई । तीजे साख न त्रष्टै कोई ।
तीजी साख न पंडित चर्चा । तीजी साख न ईस्वर अर्चा ॥११११॥
तीजी साख मुक्ति पुनि नाहीं । सब गुन नाह संभु पुर माहीं ।
यहि बिधि श्राप ब्यास यह दीनी। पुर बासी कंपे भय भीनी ॥१२१२॥

दोहा

तब ईस्वर आयसु दियौ, दंडपानि कहं बोलि ।
देहु दंड तुम ब्यास कहं, सिच्छा हिम्मत खोलि ॥१२१३॥

पद्धरि

तब दंडपानि लहि हुकुम रोष, दिय दंड ब्यास कहं जानि दोष ।
कर पकरि गिरबि दाढ़ी मरोरि, अरु हाथ पांव किय टेढ़ तोरि ॥१११४॥

इमि दंडपानि दै दंड गच्छ, तिन कहं न ब्यास देखौ प्रतच्छ ।
तब ब्यास भये अति दुखित दीन, तहँ नारायन कौ भजन कीन ।।१११५।।
तब नारायन लछिमी समेत, दिय दरस ब्यास कहं प्रेम हेत ।
तब ब्यास कही बंदन प्रनाम, अरु अरज करी कह चूक माम ।।१११६।।
तुम सौ प्रभु जिन यह हाल होइ, का दोष कृपा करि कहौ सोइ ।
पुनि बिष्नु कही सुन बिप्रराज, यह दैव दंड तो लगत आज ।।१११७।।
तुम नहिं जानौ ईस्वर प्रभाइ, हम सौ प्रभु लघु वे देव गाइ ।
वे देव देव श्री महादेव, हम सर्व देव तिन चरन सेव ।।१११८।।
तुम उनकौं नहिं चीन्हौं बिसेष, तातें सिच्छा हित दंड देख ।
अब सुमिरहु श्री गौरी महेस, वे कृपासिन्धु हरिहैं कलेस ।।१११९।।

दोहा

श्री पति दै उपदेस इमि, ह्वै गये अंतरध्यान ।
ब्यास भजन सिव सक्ति कौ, कियौ दीन ह्वै ध्यान ।।११२०।।
दीन देखि प्रगटी जननि, धरि ब्राह्मनि कौ भेष ।
कही बिप्र तुम दुख कहा, महा दूबरे भेष ।।११२१।।
ब्यास कही दिन सात इत, हम लंघे सुन माइ ।
काहू सुधि लीनी न दुख, अंग टोरि गइ बाइ ।।११२२।।
सुनि माता पुनि यौं कही, चलौ बिप्र मम धाम ।
भोजन दान बिसेष हम, दैहिं तुम्हैं मन काम ।।११२३।।
ब्यास कही सुन मातु तुव, कहं लगि भोजन देहु ।
दस हजार मो संग द्विज, किती बिभौ तुव ग्रेह ।।११२४।।
तब माता पुनि यौं कही, का चाहत तुम बिप्र ।
सब कहं भोजन देहुंगी. चलौ हमारे छिप्र ।।११२५।।
सुनत फूल मन चलि गये, निपट बाहरे गांव ।
मायिक बखरी रचि जननि, बैठारै तिहि ठाँव ।।११२६।।
बिबिध भांति भोजन दिये, जे मुनि सुनै न कान ।
त्रिपित किये दस सहस रिषि, गौरी कृपा निधान ।।११२७।।

तब अति त्रिपित प्रसन्न ह्वै, कही धन्य तुम दोइ ।
तुम समान या नगर में, और न दुतिया कोइ ॥११२८॥

तुम बचिहौ या धर्म तैं, पुरिहि दई हम श्राप ।
नाठ तीसरी साख इत, मुक्ति भुक्ति गुन थाप ॥११२९॥

तब ईस्वर द्विज भेष तहं, कहे बचन अति गूढ़ ।
यहि कासी के महत कहं, तू नहिं जानत मूढ़ ॥११३०॥

यहि कासी कहं लगत नहिं, श्राप ताप अरु पाप ।
तातैं तेरी तोहि कहं, उलटि लगै यह श्राप ॥११३१॥

सुनत ब्यास थर थर कँपे, भयौ महा भय ताप ।
जानी ब्रह्मनि ईस्वरी, ब्राह्मन तन प्रभु आप ॥११३२॥

सोरठा

जानि भक्त पितु मातु, महा दीन कर जोरि कैं ।
थर थर कंपत गात, करन लगे करुना बिनय ॥११३३॥

कवित्त

सगुन में सगुन औ निर्गुन निगुन सार,
सुन्न महं सुन्न जोति ही में जोतिवंत हौ ।
पौन ही में पौन तेज ही में तेज ब्यापक हौ,
थल ही में थल जल ही में जलसंत हौ ।
कारन में कारन और कारज में कार्ज रूप,
'अक्षर अनन्य' सर्व करतुत करंत हौ ।
आपु सिव सक्ति सबै सक्ति गुनवंत नाथ,
सुनौ भगवंत तुम याही तैं अनन्त हौ ॥११३४॥

एक कहैं सुन्न रूप एक कहैं सब्द रूप,
एक कहैं जोति रूप उद्दित निहारिये ।
एक कहैं ग्यान रूप एक कहैं सिद्धि रूप,
एक कहैं ईस रूप मायहि बिहारिये ।

एक कहैं ब्रह्म रूप एक कहैं बिष्नु रूप,
एक बिस्वरूप के बिचार पचि हारिये।
नमो नमो कारन सरूप सिव सक्ति नाथ,
नाना रूप रूपित है रचना तिहारिये ॥११३५॥

तुम जक्त पिता जक्त माता सिव सक्ति रूप,
कारन सरूप रूप धरैं जक्त जति कौ।
आपुपौ छिपाइ कै जगत भरमाइ दियौ,
कियौ अति थाप नाथ कमला के पति कौ।
तिन ही कौं सेइ कै मैं ऊमर कौ कीरा भयौ,
लह्यौ न 'अनन्य' सोध बोध अविगति कौ।
तुम सौ अखंड महादेव मैं न पहिचानौ,
जानौ न अजान मैं प्रमान पारबति कौ ॥११३६॥

पारबती पूरन सु सक्ति परमेस्वरी है,
तुम परमेस्वर समान गुन नाम है।
जक्त के पिता हौ जक्त माता अरधंग रूप,
एक ही सरूप द्वै सरूप बिसराम है।
प्रकृति पुरुष ब्रह्म बिद्या सिव सक्ति मूल,
निरगुन औ सरगुन तुम्हारौ गुन ग्राम है।
रावरौ भवानि परवान परनाम ऐसौ,
ऐसे परनाम कौं सु मेरे परनाम है ॥११३७॥

धनी परनाम मेरे लीजे परनाम मोहि,
दियौ परनाम परमान वहै धरनै।
जद्दपि मैं मूढ़ महा औगुन अरूढ़ तऊ,
तुम गुन गूढ़ करुना है सोइ करनै।
बिमुख मैं ब्यास तऊ दासनि कौ दास करौ,
हरि कौ उपास तेही बातैं दुख हरनै।
देवनि के देव महादेव समरथ्थ नाथ,
जानि कै अनाथ मोहि राखौ आपु सरनै ॥११३८॥

दोहा

इमि करुना अस्तुति करी, ब्यास सुबुद्धि अनूप।
पारबती संकर कृपा, हुव फिर सुद्ध सरूप ॥११३९॥

सुद्ध रूप लहि फूल मन, पूरन ग्यान प्रकास।
छांड़ि बैषनव धर्म तब, लियौ सिद्ध सन्यास ॥११४०॥

लहौ ब्यास सिद्धांत इमि, गहौ तत्त सिव सक्ति।
हरि मिलि ईस्वर कहं मिले, कुटिल पंथ यह भक्ति ॥११४१॥

सरल कुटिल द्वै पंथ इमि, कहे भक्ति मत सार।
अब बरनौ पुनि भक्ति की, निज धारना बिचार ॥११४२॥

भक्ति धारणा वर्णन

यहै धारना भक्ति की, हृदय ध्यान मुख जाप।
पूजा लिंग सरूप की, पल पल बढ़ै प्रताप ॥११४३॥

पूजा लिंग सरूप की, या सम भक्ति न आन।
यहै आदि बिधि बिष्नु कौं, उपदेसी भगवान ॥११४४॥

उपदेसी बिधि बिष्नु कहं, दै दरसन जिमि नाथ।
बरनी लिंग पुरान महं, कहौं प्रगट यह गाथ ॥११४५॥

पद्धरि

जब कल्प अन्त हुव प्रलै लोक, भरि रहिब सिंधु ब्रह्मांड लोक।
तिहि सिंधु मध्धि पौढ़ै मुरारि, अति नाभि कमल ऊपर पसारि ॥११४६॥

तिहि नाभि कमल ब्रह्मावतार, सो खेलत तहं बालक प्रकार।
खेलत ब्रह्मा सोवत मुरारि, तहं संनाहट इक भयौ भार ॥११४७॥

संनाहट सो सिव सक्ति आइ, थर थर कंपत ब्रह्मांड राइ।
देखे परखे नहिं रूप तत्त, संनाहट पूरि रहौ सवत्र ॥११४८॥

तब बैठि रहे ब्रह्मा प्रवीन, तब प्रभु हरि मुख रह पट्टि दीन।
हरि अकबकाइ जागे तुरंत, किहि मोहि दई रह पटि अनंत ॥११४९॥

देखे ब्रह्मा बैठे सुथान, जानी इनही दिय नाहिं आन।
ईस्वर गति कछु जानी न गूढ़, किय ब्रह्मा पर अति क्रोध प्रूढ़ ॥११५०॥

करि मंत्र माह मारौ उमैठ, धरि तनक रूप बिधि उदर पैठ।
तिहि उदर मद्धि संसार देख, चौदहू भुवन रचना बिसेष ॥११५१॥
तब करि अचरज निकरे मुरारि, किय बहु अस्तुति बिधि की बिचार।
अरु कही सुनहु ब्रह्मा अखंड, तुममें हम सब देखे ब्रह्मण्ड ॥११५२॥
अरु हम ही महं ब्रह्मांड लोक, ते लहौ आपु मम उदर ओक।
तब ब्रह्मा इनके उदर गच्छ, तहं लहे सकल संसार अच्छ ॥११५३॥
तब रह पट बेर मुरारि कोप, रोके मुखादि दर ब्रह्म लोप।
तब ब्रह्म प्रबल रोकौ न जाइ, भिद नाभि कमल ह्वै प्रगट आइ ॥११५४॥
तब मिले दुवौ अति प्रीति मान, किय बिनय परसपर जोग जान।
तब ब्रह्म कही सुन बिष्नु देव, हम तुम समान नहिं आन भेव ॥११५५॥
हम तुम पर कोऊ है कि नाहिं, यह कहौ आपु लहि चित्त माहिं।
सुन बिष्नु कहौ नहिं और कोइ, हम तुम अनादि करतार दोइ ॥११५६॥

दोहा

यहि बिधि बिष्नुहि परसपर, संभ्रम चरचा होत।
प्रगटौ लिंग सरूप तहं, द्वादस अंगुल जोत ॥११५७॥
बिष्नु कही तब ब्रह्म सौं, जोति लिंग यह कौन।
हौं देखहुं पाताल चलि, तुम रहियौ इत मौन ॥११५८॥

रोला

यह कहि तुरत मुरारि धारि सूकर तन चातुर।
जोति लिंग लगि संग गये पातालहि आतुर।
ना कछु छोर निहार हारि मुरके डरि सागर।
अकबकाइ अकुलाइ आइ बिधि ढिंग हरि नागर ॥११५९॥

सोरठा

तब हरि बिधि कर जोरि, कीन बिनय करुना सहित।
हम न लहत मति थोरि, जोति लिंग तुम कौन प्रभु ॥११६०॥

मुरिल्ल

यहि बिधि सौं बिधि बिष्नु करी बिनती जहीं।
गुरु सरूप भगवान आन प्रगटे तहीं।
तन बिभूति सिर जटा बघंबर राजहीं।
पूरन जोति प्रकास परम छबि छाजहीं ॥११६१॥

दोहा

देखि बिष्नु बिधि फूल कैं, रहे चरन लिपटाइ।
तब ईस्वर सिर हाथ दै, कहे बचन समुझाइ ॥११६२॥

ईश्वर उवाच

तुम दुव हमरे अंस हौ, हमहिं न जानत संत।
तातैं हम गुरु रूप धरि, प्रगटे मूरतिवंत ॥११६३॥
मूरति हमरी जान निज, जोति लिंग निरवान।
उतपति अस्थिति प्रलै कौ, कारन यहै निदान ॥११६४॥
याही लिंग सरूप कौं, थपि पूजौ तुम हथ्थ।
यातैं भासहि ग्यान निज, ह्वैहौ सब समरथ्थ ॥११६५॥
यह कहि अंतरध्यान हुव, धनी जगत गुरु आप।
तब हरि बिधि पूजा करी, जोति लिंग कर थाप ॥११६६॥
तातैं हुव सरवग्य प्रभु, अरु सिरज्यौ संसार।
उपदेसौ पुनि रिषिनि कौं, पूजा वहै प्रचार ॥११६७॥
पूजा श्री सिव लिंग की, यह बिधि जगत प्रकास।
या सम धर्म न दूसरौ, कह्यौ यहै इतिहास ॥११६८॥
बैसम्पायनि सौं कही, जनमेजय जग्यास।
सर्व धर्म हम सहं कहौ, अरु सब देव उपास ॥११६९॥
सुनि मुनि कहन लगे जबै, सर्व धर्म बिस्तार।
तब अकासबानी भई, बोधन तत्त बिचार ॥११७०॥
वक्ता श्रोता मूढ़ तुम, कहत सुनत कह और।
भक्ति करौ सिव सक्ति की, सर्व धर्म सिरमौर ॥११७१॥

पूजहुँ श्री सिव सक्ति कहं, सब देवन के मूल ।
ज्यौं मूलहि सींचत सिंचैं, डार पात फल फूल ॥११७२॥

इमि अकासबानी भई, सुनि मुनि नृप तिंहि ठौर ।
तब तैं सिव पूजा ठई, छांडि तुच्छ मत और ॥११७३॥

यहि बिधि सौं बिधि जुक्त सब, कहे भक्त मत ध्यान ।
अब बरनहुं द्वै मत तथा, सर्गुन निर्गुन ग्यान ॥११७४॥

निर्गुन मत मानत प्रभुहिं, निराकार निरधार ।
नाम रूप गुन क्रम रहित, सत चित आनँद सार ॥११७५॥

सर्गुन मत मानत प्रभुहिं, निज आकार सरूप ।
रस जस षट् ऐस्वर्ज गुन, ईस्वर नाम अनूप ॥११७६॥

इमि सर्गुन निर्गुन मते, कहे रूप विव भेद ।
अब अकार निरकार कौ, बरनहुं तत्त अभेद ॥११७७॥

कवित्त

थपे तैं अकार निराकार कौ अभाव होत,
थपै निराकार बिस्वरूप क्यौं छवत है ।
तातैं निराकार ही अकार के प्रकार छंडि,
कारन बिचार नाथ आपु ही रवत है ।
जैसे धूम धार जूह जुरि कै अकार लहै,
फूटैं निराकार नहीं दृष्टि में अवत है ।
सदासिव सक्ति सर्व सक्ति सु 'अनन्य' भनै,
कारन समस्त संभु ही में संभवत है ॥११७८॥

दोहा

संभुहि में सब संभवत, निर्गुन सर्गुन भेद ।
तीन भेद सर्गुन बिषै, निर्गुन एक विभेद ॥११७९॥

तीन भेद सर्गुन विषै, भव म्रड हरि परवान ।
निर्गुन महं सिव नाम गुन,गुन क्रत भिन्न बखान ॥११८०॥

राजस गुन धरि कै धनी, उतपति करत ब्रह्मण्ड।
तातैं भव प्रभु नाम गुन, करतुत जासु अखंड ॥११८१॥

सात्विक गुन धरि कै धनी, प्रतिपालत संसार।
तातैं म्रड संकर सु इमि, नाम तत्र निरधार ॥११८२॥

तामस गुन धरि कै धनी, प्रलै करत सब लोक।
तातैं श्री हरि रुद्र इमि, नाम हरन जन सोक ॥११८३॥

तीनौ गुन क्रम क्रत रहित, निर्गुन रूप निदान।
नाम सदा सिव तासु तैं, बरनत बेद पुरान ॥११८४॥

चार नाम गुन रूप इमि, प्रभु के कहे बखान।
प्रभु हरि मातु हरिप्रिया, प्रभु सिव मातु सिवान ॥११८५॥

चारौ पुनि जगमातु के, कहौं सहित प्रभु जान।
प्रभु भव मातु भवानि पुनि, प्रभु म्रड मातु म्रडानि ॥११८६॥

सिव सिवानि के जान इमि, चार नाम गुन रूप।
सुमिरत संत महंत जन, केवल तत्त अनूप ॥११८७॥

तत्त एक सिव सक्ति प्रभु, चार भेद इमि तास।
बिबिध भेद तिनतैं जगत, ज्यौं द्रुम बीज प्रकास ॥११८८॥

छप्पय

बीज रूप सिव सक्ति इच्छ अंकूर बखानिय।
साखा त्रिगुन त्रिदेव ब्रच्छ संसार सु जानिय।
अमरपत्र परवान फूल अवतार सु लच्छन।
स्वर्ग नर्क फल जान जीव पंछी रस भच्छन।
यहि भांति संभवत संभु तरु कहि 'अनन्य' रचना अगम।
नहिं आदि न अंत अनंत गति नेति नेति गावत निगम ॥११८९॥

सोरठा

निगम न पावत पार, जद्दपि प्रभु लीला अकह।
तद्दपि मति अनुसार, भक्तनि कहँ कहिबौ उचित ॥११९०॥

दोहा

कहत सुनत सिव सक्ति गुन, तन मन होत पवित्र ।
सधत लोक परलोक दुव, मिलत चार फल मित्र ॥११९१॥
यहि बिधि श्री सिव सक्ति जस, बरनौ ग्रंथ 'अनिन्न' ।
आप बुद्धि माफिक कहौ, जानौ जगत जनिन्न ॥११९२॥

कवित्त

जारि के सुमेरू करै स्याही सर्व पर्वत की,
गारि कै भरहि सात सागर की दोत है ।
भार जो अठारह की कलमै बनावै बिधि,
कोटि उनचास भूमि कागद करोत है ।
लिखैं जो गनेस बिष्नु सारद 'अनन्य' भनै,
जिन मति मान घरी घरी अति जोत है ।
महिमा अपार पारबती महादेव जू की,
लाख लाख लेखनी सौं लिखत न होत हैं ॥११९३॥

सबैया

श्री सिव सक्ति चरित्र अचित, कथा कथि बेद थके सबिता ।
सहसानन हारि रहे कहि कै, मन मूक सवाद छके छबिता ।
गुन नाम सरूप अनन्त गुनै, गुन निर्गुन सर्व मते फबिता ।
मन वाक अतीत 'अनन्य' भनै, किमि ग्रंथ कबित्त कथै कबिता ॥११९४॥

कुण्डलिया

कबिता मत कबि बंस महं, उपजत तीन प्रकार ।
उत्तम मद्धिम क्रत्रिम कबि, तिन के तीन बिचार ।
तिन के तीन बिचार, क्रत्रिम कविता पढ़ि ग्रंथनि ।
मद्धिम देव अराधि, देव प्रगटै कबि पथनि ।
उत्तम मद्धिम रहित, सहज उद्दित जिमि सबिता ।
कहि 'अनन्य' अनुभूत, जान अनुभव सोइ कबिता ॥११९५॥

कबिता तीन प्रकार इमि, बरनन चार प्रकार।
उत्तम मद्धिम कृत्रिम जसु, चौथौ अधम बिचार।
चौथौ अधम बिचार, अधम बरनै परभंडी।
कृत्रिम मनुष कबित्त, देव उपमा पाखंडी।
मद्धिम देव उपास, हठी मन मुख नहिं फबिता।
साख बेद परवान, जान उत्तम सोइ कबिता ॥११९६॥

दोहा

साख बेद परवान धरि, भनि 'अनन्य' यह ग्रंथ।
महिमा सिंधु महेस कौ, केवल भक्ति सु पंथ ॥११९७॥

कवित्त

भक्ति कामधेनु जामैं चिन्तामनि नाम जान,
अम्रत निरूपन जहर रस रुद्र है।
लच्छमी सु कला जहां कबिता कलपबृच्छ,
ग्यान गजराज छंद बाजि सुख सुद्र है।
चंद्रमा सुजस ग्रंथ सार गुन सागर है,
नव रस नीर वार पार भरि उग्र है।
आन देव कथा नदी नायक 'अनन्य' भनै,
महादेव जू कौ महा 'महिमा-समुद्र' है ॥११९८॥

देवनि के देव महादेव कौ सुजस जान,
जासु के सुनत छूटै मौनिन के मौन है।
चन्द्रमा चकित चित्त भानु कौ थकित होइ,
प्रथी जल तेज हू त्रिपित होत पौन हैं।
सुर नर मुनि सर्व गंध्रब 'अनन्य' भनै,
जा के सुनिबे कौ रुचि होत सर्व भौन है।
'महिमा-समुद्र' को न महिमा सुहाइ जाहि,
ऐसौ महि माहि और महा पसु कौन है ॥११९९॥

दोहा

सब बिधि सबहि सुहावनौ, सब रस सागर एह ।
जो जिहि रस रांचै सुनै, तिहि सोई सुख देह ॥१२००॥

छप्पय

भक्तनि कहं निज भक्ति, रीति लच्छन समुझावन ।
कबि जन कहं कबि बंद, छंद सुन्दर मनभावन ।
धर्मिनि कहं निज धर्म, परम पावन अरि मर्दन ।
चतुरनि कहं चातुरी, छ गुन नवरस बुधि बर्धन ।
नृप राजनि कहं रज युक्त गुनि, जोगिनि कहं जत सत्यधर ।
'महिमा समुद्र'-सिव सक्ति कौ, सकल जक्त आनन्दकर ॥१२०१॥

१८. उत्तम चरित्र

दोहा

उत्तम पद गुरुनाथ के, उत्तम गुरु उपदेस।
उत्तम चरित भवानि के, उत्तम सुरथ नरेस ॥१॥
सुरथ नाम राजा भये, केवल धर्म निधान।
देस नगर पुर जन प्रजा, पालहिं पुत्र समान ॥२॥
राज भार मंत्रिनि दियौ, आपु करैं सुख मोद।
कै नित बिसन सिकार कौ, कै रस बाम बिनोद ॥३॥
तब सत्रुनि बिवहार सुनि, जान्यौ नृपति अचेत।
देस मारि घेर्‌यौ नगर, सब परिवार समेत ॥४॥
राजा मंत्रिनि बल रहे, मंत्रिनि कियौ बिसास।
जाइ मिले सब सत्रु कौं, नृपति भये बनवास ॥५॥
बन महं राव बिसूरही, करि करि सब की सुद्धि।
अपनै दुख तन खबरि नहिं, परी मोह बस बुद्धि ॥६॥
तोलौं देंखौ बृद्ध इक, रोवत झूंखत गात।
को है तू रोवत फिरत, नृप पूछी यहि बात ॥७॥
सुनि उहि बृद्ध जुवाब दिय, मेरौ नाम समाधि।
बैंस्य जाति बहु धन कुटुम, भयौ बुढ़ापौ ब्याधि ॥८॥
बृद्ध जानि त्रिय सुतनि मिलि, दीनौ मोहि निकारि।
मेरौ मन उन सौं लग्यौ, सकत न मोह बिसारि ॥९॥

राजा उवाच

जिनि तोकौं बहु दुख दियौ, दियौ बुढ़ापे काढ़ि।
तिनि कौं तू रोवत कहा, मोह बिषै मन बाढ़ि ॥१०॥

वैश्य उवाच

उनि मोकौं बहु दुख दियौ, मेरौ मन उन माहिं ।
मोह न छूटै राज सुन, मन मेरे बस नाहिं ॥११॥

सुनि राजा तिहि साथ लै, गये मेघ रिषि पास ।
रिषि पूछी तुम कौन हौ, चक्रित फिरत उदास ॥१२॥

राजा उवाच

हम राजा यह बैस है, भृत्यनि दियौ निकारि ।
उनि कौं हम रोवत फिरत, सकत न मोह बिसारि ॥१३॥

मोह पास यह है कहा, को बैठौ मन माहिं ।
यह बिचारि कहिये गुरू, समुझि परत कछु नाहिं ॥१४॥

ऋषि उवाच

तोमर

सुनि राज राज प्रवीन, मन सक्ति के आधीन ।
श्री आदि सक्ति भवानि, द्वै सक्ति तिन तैं जानि ॥१५॥

विद्या अविद्या नाम, तिन कौ दुवौ परनाम ।
विद्या सु ग्यान सरूप, मोहक अविद्या भूप ॥१६॥

जग है अविद्या अंध, परि मोह पासनि धंध ।
धरि जनम मिथ्या गात, मिटि जात खात कमात ॥१७॥

जे भजत आदि भवानि, कारन करन पहिचानि ।
तिनि करत विद्या जुक्त, मुनि सिद्ध जीवन मुक्त ॥१८॥

दोहा

कारन बंधन मुक्ति कौ, आदि भवानी जानि ।
सकल सिद्धि आनंद कह, सब लाइक जगरानि ॥१९॥

राजा उवाच

तोटक

सुनि राज करो बिनतो जब हीं, मुनि गात सुनी समुझी अब हीं ।
कहिये सु कृपा करि देवि सु को, कित तैं उपजी कित है अब सो ॥२०॥

ऋषि उवाच

मुरिल्ल

नित्यानंद सरूप सर्व मय जानिये ।
उपजति बिनसति नाहिं अनादि बखानिये।
देवनि संकट परत प्रगट जब होति है ।
वह अविगत सुन राज सनातन जोति है ।।२१।।

दोहा

प्रलय समै जब सिंधु में, सोवत ते हरि आप ।
ब्यापक तिनकी देह में, निद्रा रूप प्रताप ।।२२।।

सोवत हरि की नाभि तैं, भयौ ब्रह्म अवतार ।
मधु कैटभ पुनि स्त्रुतिनि तैं, भये असुर बिकरार ।।२३।।

तब संके तिहि देखि बिधि, हरि सोवत जल माहिं ।
क्यों यह जागैं जगत पति, और सहाइक नाहिं ।।२४।।

यह बिचारि मन ध्यान धरि, जानि निरंजन लेखि ।
अस्तुति करि जग मातु की, प्रेरक सक्ति बिसेषि ।।२५।।

तबै कृपा करि ईस्वरी, सक्ति लई वह खैंचि ।
जा बस हरि सोवत हते, मन चित बुधि बल सैंचि ।।२६।।

तब हरि सौं उनि खलनि सौं, जुद्ध भयौ बरजोर ।
पंच सहस बरसैं भईं, घट्यौ नहीं बल घोर ।।२७।।

तब असुरनि कौं ईस्वरी, प्रेरित किय तिहि ठौर ।
तिनहो के मुख वाक छल, कही और की और ।।२८।।

अब हरि तुम मारहु हमें, धरि जंघन पर सीस ।
सुनत तुरत धरि चक्र सो, सिर काटे जगदीस ।।२९।।

इहि बिधि बिधि बिष्नादि कहं, संकट देवि सहाइ ।
अब सुन नृप इंद्रादि कहं, ज्यों प्रगटी महमाइ ।।३०।।

कवित्त

बाढ़्यौ महिषासुर प्रचंड बलबंड महा,
जाकी धाप सुनि कै बिधाता धकपक्यौ है।
ढाह गढ़ कोटनि गिरावै गिरि शृंगनि सो,
खूंदत खुरनि धरा सेष सकपक्यौ है।
सातौ दीप दबटि समुद्र दहचाल करे,
सूर ससि तारनि कौं कोपि लकपक्यौ है।
'अक्षर अनन्य' जाहि आवत सुनत कान,
देवनि समेत भागि इंद्र अकबक्यौ है ।।३१।।

सोरठा

भागि इंद्र ततकाल, गये त्रिदेवनि के निकट।
तहां कह्यौ सब हाल, छोभ भयौ उनके हिये ।।३२।।

दोहा

तब सब देवनि अंग तैं, कढ़ी सक्ति झहराइ।
तेज पुंज प्रज्जुलित सुर, रही अग्नि छिति छाइ ।।३३।।

मोतीदाम

तबै सब देवनि अस्तुति कीन्ह, दया करि देवि हमें लखि दीन्ह।
सधै न परै तुव तेज अनंत, कृपा करि हूजिये मूरतिवंत ।।३४।।
इती सुनिकै तजि तेज प्रजोरि, भई मृदु मूरति बैस किसोरि।
घरैं भुज अष्ट त्रिलोचन चारु, करैं अरचा सुर प्रेम अपार ।।३५।।
मुरारि दियौ कर चक्र बिचित्र, बिरंचि कमंडल दीन पवित्र।
त्रिसूल दियौ सिव संकर आप, सुरेस दियौ निज बज्र प्रताप ।।३६।।
दई सैंहथी कर में जलपाल, सु खर्ग दियौ निज काल कराल।
दई जम पास बिनासन सत्रु, दिये बड़वा धनुबान सु अस्त्र ।।३७।।
दिये मनि भूषन सिंधु सुढार, किये कमला रतिवान सिंगार।
हिमंचल बाहन सिंघ सु दीन, भई तिहि पै असवार प्रवीन ।।३८।।
झुको उत तैं महिषासुर आव, खदेरत देवनि संग रचाव।
तबै सब देवनि आप पछेलि, झुको रन गंजिनि आपु अकेलि ।।३९।।

किते दल बाननि दीन उड़ाइ, किते दल बज्रनि गंज ढहाइ।
किते दल सूलनि कूलनि मारि, किते दल चक्रनि खंडिस धारि ॥४०॥
किते दल खर्गनि सौं पुनि खंडि, किते दल सैंथिनि मारि बिहंडि।
हनै सिगरै दल संगर खेल, रह्यौ महिषासुर आपु अकेल ॥४१॥

कवित्त

कबहूं महिष होकैं शृंगनि चलावै गिरि,
कबहूँ ब्रषभ होकैं डाफिनै करत है।
कबहूं गयंद होकैं घोर गल गाजत है
कबहूंक सिंघ होकैं सिंघ सौं लरत है।
कबहूँ बिलाव होकैं लुकत झुकत फिरै,
'अक्षर अनन्य' भेष कैयक धरत है।
जोई पासि करै देवि सोई पलटत रूप,
क्यों हू महिषासुर न पासि में परत है ॥४२॥

दोहा

तब अंबा अति कोप करि, उतरि सिंघ तैं आप।
दियौ पांव अरि घीच पर, क्यों सहि सकै प्रताप ॥४३॥
घीच दाबि कैं चरन तर, छाती हन्यौ त्रिसूल।
महिषासुर मार्‌यौ प्रबल, सब असुरनि कौ मूल ॥४४॥

सवैया

मारि महा महिषासुर कौं, गरजी रन में रन गंजित रानी।
बिष्नु बिरंचि महेस सुरेस, करी बहु अस्तुति बेद प्रमानी।
दै सब कौं बरदान अनेक, भई तब आपुन अंतरध्यानी।
फूल सबै सुर राज करौ, सु भजौ भयभंजनि नाम भवानी ॥४५॥

दोहा

श्री भवानि जग रानि इमि, हन्यौ महिष धरि देह।
अब पुनि सुंभ निसुंभ की, कथा नृपति सुनि लेह ॥४६॥ ×

× 'उत्तम चरित्र' के छन्द क्रमांक ४७ से छन्द क्रमांक २४२ तक 'महिमा-समुद्र' में छन्द क्रमांक ५०३ से छन्द क्रमांक ६९८ तक अविकल रूप में मिलते हैं, जिन्हें यहीं दिया गया है, 'महिमा-समुद्र' में नहीं।

पद्धरि

बड्ढे नृप सुंभ निसुंभ राइ, दिति सुत अदित्ति सुत सत्रु भाइ ।
नृप सुंभ छत्रपति बंधु जेठ, तिनि तैं निसुंभ लघु बंधु हेठ ।।४७।।

दुव बंधु धर्म संम्रथ दुसील, लसि बेर समान प्रलंब डील ।
अति मायावी बल सिंधु क्रुद्ध, दस दस हजार भुज धरत जुद्ध ।।४८।।

तिन जुद्ध जुरत सम्रथ्थ कौन, थरथर कपंत जल अग्नि पौन ।
धर धचकहि तौ पाताल जाइ, स्वासान देइ पर्वत उड़ाइ ।।४९।।

ऐसे प्रचंड जुग राज गर्व, सुर असुर चरन सेवंत सर्व ।
तिन अग्रबान गुरु रक्तबिंद, गज कोटि प्रबल दल तार बिंद ।।५०।।

दलपत्ति धूम्रलोचन कराल, जिहि देखि कँपैं जम प्रेत काल ।
पुनि चंड मुंड जोधा प्रचंड, बिकराल रूप दल बल अखंड ।।५१।।

दल असुर जूह संमूह छुद्र, राजत समस्त जनु काल रुद्र ।
इमि सुंभ निसुंभ नरेस बड्डु, सनमुक्ख रहैं नहिं सत्रु ठड्डु ।।५२।।

बहु बार बिष्नु हारेत जुद्ध, जस तिलक लीन नृप सुंभ सुद्ध ।
बिधि कौ सु हंस लीनौ छुड़ाइ, दिगपाल बंदि कीनौ रिषाइ ।।५३।।

अस्थान छीन लीनहु सुमेर, भंडार लुट्टि लीनहु कुबेर ।
लिय सायकर्न हय बरुन जित्त, सागर हुंकार लिय रतन चित्त ।।५४।।

अपनै करि सूरज चंद थापि, थपि लोक लोक थानै प्रथापि ।
जम काल मृत्यु कुल बंदि कीन, थपि आपु सेष सिर भानु दीन ।।५५।।

कुल सहित इंद्र दीनौ निकारि, लिय ऐरापति हय अस्त्र नारि ।
किय इंद्र लोक रजधानि राज, सुख निष्कंटक दानै समाज ।।५६।।

महानराच

समाज दैत्य राज नित्य राज संविराज ही,
समस्त देवराज सेव राज सर्व तक्कवै ।
त्रिलोक सप्त दीप खंडनै अखंड मंडलं,
ब्रह्मण्ड एक बीस कौ महीस आनि नक्कवै ।

भनै 'अनन्य' अन्नि राव चाव देखिये नहीं,
बिसेष एक छत्र छत्रपती नाथ सक्कवै।
बिरंचि बिष्नु जित्त कित्त ओपि कै प्रसाद भौ,
प्रमाद सर्व संभवै निसुंभ सुंभ चक्कवै ॥५७॥

चंचला

चक्कवै निसुंभ सुंभ संभवै महा प्रमाद,
भाजियौ समस्त देव लोक लोक भौ बिषाद।
सोकियौ बिरंचि बिष्नु सोच कै कियौ बिचार,
सर्व पै अधार आदि सक्ति सौं करौ पुकार ॥५८॥

कुण्डलिया

इहि बिधि बिधि बिष्नादि सुर, करि मत तुरत सिधार।
हेमाचल गिरि पर गये, निज अस्थान निहार।
निज अस्थान निहारि, मातु जहं आपुन राजहि।
गौरि पार्वती नाम, परम अद्भुत छबि छाजहि।
लहि ठिकान सुर सकल, बिकल बरनहुं गति किहि बिधि।
करि प्रनाम जुरि पानि, बिनय करुना कृत इहि बिधि ॥५९॥

कवित्त

जाति रूप जोति रूप सक्ति रूप सिद्धि रूप,
गुन रूप ग्यान रूप सोभा रूप मुही है।
इच्छा रूप क्रिया रूप दया रूप माया रूप,
विद्या रूप बल रूप बानी रूप सुही है।
आस रूप प्यास रूप निद्रा रूप छुधा रूप,
चित्त रूप बुद्धि रूप चेतनता जुही है।
नाना रूप व्यापक प्रसक्ति सर्व सक्ति रूप,
जक्त में अधार जक्तमातु एक तुही है ॥६०॥

छप्पय

तुहीं जक्त आधार, जक्त माता भयभंजनि।
निराधार सुर सकल, बिकल तुव सरन निरंजनि।

दीनैं अरिनि निकारि, हारि कोउ वात न बुज्झहि ।
तुव आसर लिय आइ, माइ तुव ठौर न सुज्झहि ।
अब तव जब कब अस तुहीं, आदि मद्धि अंतह भननि ।
आवत लक्ष निरक्ष सहं, सु रक्ष रक्ष सम्रथ जननि ।।६१।।

कवित्त

सम्रथ जननि भयभंजनि भवानी रानी,
महा भयभीत हमें भय तें निबारि लै ।
गरिब निवाजिनी गरीब सौ बिरुद बानौ,
जानि कै गरीबनि निवाजिसी बिचारि लै ।
'अक्षर अनन्य' भनै करुना निधान बानी,
करुना सुजान दीन देवतानि तारि लै ।
मारत निसुंभ सुंभ संगर संवारत हैं,
आरत निहारि देवी अब कै उबारि लै ।।६२।।

सवैया

ज्यौं मधु कैटभ कौं बधि कैं, बिधि राखि लिये अपनै कर कंजनि ।
त्यौं महिषासुर कौं हति कैं, सुर पालि सबै सुख दै दुख गंजनि ।
त्यौंब पुकारत आरत हैं, हमें मारत सुंभ निसुंभ निरंजनि ।
दीन बिचारि दया करि कै, अब रक्ष हमैं सरनै भयभंजनि ।।६३।।

दोहा

इमि देवनि अस्तुति करी, दानव डरनि बिहाल ।
तौलौं निकसी पार्वती, मंजन कौं तिहि काल ।।६४।।
देखि सुरनि श्री पार्वती, बचन कहे मुख एव ।
किहि की अस्तुति करत हौ, कहं आये सब देव ।।६५।।
इती कहत श्री गौरि मुख, निकसी सक्ति अनूप ।
ता निकसत श्री गौरि कौ, हो गयौ स्याम सरूप ।।६६।।
देखि गौरि ठाड़ी भई, अजब अंबिका सक्ति ।
ज्वाब दियौ उनि गौरि कहं, जानि सुरनि की भक्ति ।।६७।।

ईश्वरी उवाच

सोरठा

असुरनि डरि करि रौरि, मेरी अस्तुति करत सुर।
तिहि कारन सुन गौरि, स्वयं सिद्ध प्रगटी सु मम ॥६८॥

छप्पय

स्वयं सिद्ध अवतार, स्वयं सोभा तन सोभनि।
स्वयं जोति आकार, स्वयं बिद्या गुन थोभनि।
स्वयं सत्त्व संजुक्त, स्वयं ऐस्वर्ज प्रवर्तिनि।
स्वयं सैन संधानि, स्वयं क्रत कर्म निर्वर्तिनि।
चढ़ि स्वयं सिंघ निज सिंघ पर, ब्रह्मादिक संकट हरनि।
हुव प्रगट अंबिका रूप इमि, स्वयं सिद्ध सम्रथ जननि ॥६९॥

सोरठा

सम्रथ जननि अधार, श्री भवानि भयभंजिनी।
करन असुर संघार, प्रगट अंबिका रूप हुव ॥७०॥

त्रिकूटगति

हुव प्रगट अंबिक रूप उदि्दत, त्रष्ट सिंघ विमान सुद्धित,
अस्त्र सस्त्र प्रभा प्रमुदि्दत, अमर अद्भुत काय।
परम जोति प्रभाव पूरित, सत चिदानँद मूल मूरति,
कोटि चन्द सुछंद सूरति, सुप्रकास प्रभाय।
श्री भवानि सरूप दरसत, अमर मुनि गन प्रेम सरसत,
नयन नीर प्रवाह बरसत, सरस उर अनुराग।
किय प्रनव अष्टांग काइनि, करत अस्तुति बिबिध भाइनि,
कृपन धन जिमि कोष पाइनि, तिमहि पाइनि लाग ॥७१॥

मृदु

पाइनि लागि रहे इहि बिधि सुर,
बिधिवत पुज्जि पुज्जि मन कामना।
श्री भवानि धरि हस्त मस्त तिन कीन,
खरे सब भक्त भवित मन भावना।

करि निसांक भयभीत जानि भव,
नृभय रहौ मम तेज राजवत बालिका ।
तुव हित कोपि उमड़ि रन खंडहुं,
असुर समस्त मस्त सालिका ॥७२॥

प्रिया

इमि जननि बचन बखानियौ, सुनि सुरनि जीवन जानियौ ।
परि पांय परम प्रमोद सौं, निर्भय भये सब मोद सौं ॥७३॥

सोरठा

तब सम्रथ जगमाइ, अमर दुराये कंदरनि ।
आपुन समर उपाइ, रतन सिखर राजी जननि ॥७४॥

दोहा

रतन सिखर राजी जननि, धरि अति अद्‌भुत रूप ।
नींव दई संग्राम की, जा सुनि मोहे भूप ॥७५॥

हंस

तहं आये बहु असुर समूह, ढूंढ़त सुरनि करत अति कूह ।
रतन सिखर दरसी महमाइ, जगमग जोति जुलित छबि छाइ ॥७६॥

गीतिका

दिब्य सिंघासन बिराजत, दिब्य मूरति बालिका ।
दिब्य भूषन बसन सुन्दर, दिब्य जोति कृपालिका ।
दिब्य मानिक मुकुट जगमग, दिब्य मनि ताटंक है ।
दिब्य नैन बिसाल झिलमिल, दिब्य भ्रकुटी बंक है ॥७७॥
दिब्य लाल लिलाट सोहै, दिब्य मुकता नासिका ।
दिब्य हार सुढार हिरदै, दिब्य जोति प्रकासिका ।
दिब्य अंगद बाहु मंडित, दिब्य कंगन कर लसै ।
दिब्य मुंदरी अस्त्र मुष्टिक, दिब्य किंकिनि कटि कसै ॥७८॥
दिब्य पैजनि पांइ घुंघुरू, दिब्य नूपुर अति बनै ।
दिब्य रूप सिंगार नख सिख, दिब्य आभूषन घनै ।

दिब्य पुहुपनि पाइ कंदुक, लीलही उलछारही।
इमि लसति दिब्य सरूप देवी, दृष्टि कौन पसारही ॥७९॥

दोधक

देखत अद्भुत रूप प्रतापी, बात कछू न सकै कहि पापी।
चक्रित ह्व मुरके सब साथा, जाइ कही नृप सौं यह गाथा ॥८०॥

मोदक

सुनहु नृपति हम हेम गिरि गात।
एक अमर कन्या राजत तात।
ज्वलित जोति अति करति तहाँ तपु।
लेइ बुलाइ जगत नाइक अपु ॥८१॥

दोहा

सुनत राइ सुख पाइ तब, दूत भेजि ततकाल।
गयौ पतित राजत जहां, जगत जननि तन बाल ॥८२॥

मुरिल्ल

जगत जननि तन बाल रतन गिरि राजहीं।
कोटि चंद स्वच्छंद परम छबि छाजहीं।
देखि दूत चित चक्रित त्रसित डरि श्राप तैं।
करि प्रनाम जुरि पानि नवानि प्रताप तैं ॥८३॥

अरिल्ल

लहि प्रनाम चितई जग बंदिनि, त्रष्ट त्रष्ट भासहि सुर नंदिनि।
बुज्झि प्रस्न कस तू भ्रम भुल्लव, सुनत दूत कर जोरि उबिल्लव ॥८४॥

मरहठा

सुनिये सुर नंदिनि त्रिभुवन चंदनि हौं नृप सुभ पठायौ।
सुनि तुव गुन रूपहि सुजस अनूपहि भूपति यह चित लायौ।
चलिये उठि आतुर तजि हठि ताप तपस्या कौ फल लीजै।
सेवैं सब पाइनि ह्वै ठकुराइनि, राज त्रिपुर कौ कीजै ॥८५॥

धाता

सुनि दूत बचन इत रन उद्दित चित जगत जननि बुल्लिय बयन ।
बाला तपसिनि मम और न मो सम चलहु आज जाके अयन ।
मो गर्व बढ़यौ अति मो पर को पति को पच्छार त्रिभुवन करहुं ।
मुहि जित्त सकै रन हेरि सकै तन मद महि मम पति तिहि बरहुँ ॥८६॥

तोटक

सुनि दूत महा मन रोष बढ़यौ, भनि देवि महा मद तोहि चढ़यौ ।
नृप सुंभ निसुंभ अभूत बली, सब देवनि की जिहि सैन दली ॥८७॥
तिहि के डर भागि दुरौ हरि है, तिहि सौं किमि तैं अबला लरिहै ।
चल मान कही सुख राज करौ, कत पावक पुंज पतंग जरौ ॥८८॥

मोटनक

सुनत जननि गंजत कित सट्ठ ।
तपसिनि किमि तज्जहु अप हट्ठ ।
समर सुयंबर हमर नैम यह ।
करन समर नृप अग्र जाइ कह ॥८९॥

दोहा

सुनत दूत आतुर गयौ, कह्यौ नृपति सौं जाइ ।
जुद्ध सुयंबर उनि रच्यौ, चलिवहु सजि बजि राइ ॥९०॥

पद्धरि

सुनि राव तुरत धूम्रच्छ बोलि । दियवान हुकुम यह बक्र खोलि ।
मारिय समस्त जो कर सहाउ । गहि केस किसोरिहि पकरि ल्याउ ॥९१॥

गीतिका

सुनि धूम्रलोचन बचन यह, नृप नाथ कहं सिर नाइकै ।
बहु सहस दैयत संग सजि, पहुंचौ हिमाचल जाइकैं ।
सेना सु तट ठाढ़ी ककैं, चढ़ि रतन सिखर सु आपु ही ।
दरसी तहां जग जननि, कन्या रूप परम प्रताप ही ॥९२॥

सोरठा

देखि असुर तिहि बार, रह्यौ चक्रित चकवाइ कैं ।
परम प्रताप अपार, श्री भवानि परमेस्वरी ॥९३॥

अभीर

देखि जननि भनि बैन, को तुव चक्रित नैन ।
यौं सुनि कै दल पाल, बोलौ बोल कराल ॥९४॥

दोहा

तू जु कही नृप दूत सौं, जुद्ध सुयंबर चाउ ।
हौं गहि केस लिये चलौं, कहि को करत सहाउ ॥९५॥

अर्द्धनराच

इती सुनंत संकरी, कछू कला जहं करी ।
जरौ सु दुष्ट जार भौ, छिनंक माँझ छार भौ ॥९६॥

नराच

जरंत धूम्रलोचनै समस्त सैन धाइयौ ।
महा कराल काल सौ अराल जुद्ध छाइयौ ।
अनंत अस्त्र सस्त्र छंडि खंडि जुद्ध रिद्ध कौं ।
सु दिक्खि मातु हुंक कैं हुँकार दीन सिंघ कौं ॥९७॥

महानराच

हुंकार पाइ सिंघ सिंघ हिंगुलाज मातु कौ,
नृसिंध तैं प्रसिंघ जोरि घोर गर्ज जी लही ।
धर्‌यौ कराल काल सौ बिसाल पंजि कट्ठि कै,
तवट्ठि कै प्रकोपियौ पचट्ठियौ दुसीलही ।
भनै 'अनन्य' भाव धन्य भिन्न भिन्न सैन की,
त्रिनैन की प्रभा जथा तथा प्रभाव डीलही ।
बिदारि ठौर ठौर कौर कौर कीन मस्त हू,
समस्त रच्छ जच्छ भच्छि लील लीन लीलही ॥९८॥

मनोरम

लील लीन लीलही ब सैन सर्व नैन रक्त अति पैन प्रपंजन ।
र्मदि र्मदि करि गर्द गर्द रिपु कोन मर्द तन श्रौन सु भंजन ।
र्हषि र्हषि सुर र्बषि र्बषि लहि र्झषि जुद्ध जोधा रन रंजन ।
झारि भुम्मि मद घुम्मि झुम्मि रन र्गजि गजनि गंज्यब गज गंजन ।।९९।।

दोहा

र्गजि गजनि दल भंजि कै, रंजि सकल रन सिंघ ।
मातु अग्य गर्जत धवल, प्रबल केसरी सिंघ ।।१००।।

रोला

प्रबल केसरिय सिंघ सत्रु संघरि गरजाइसु ।
असुर भग्गुलनि दौरि रौरि करि किय नृप राइसु ।
सुनत नृपति अति कोपि चंड मुंडहि दिय आयसु ।
ल्यावहु अबलहि प्रबल मारि सिंघहि तिरपाइसु ।।१०१।।

छप्पय

राज हुकुम दल साजि गाजि धाये गन दैयत ।
पसर करिय करि कोप रोष करि इमि तप तैयत ।
अति कराल बिकराल लाल बक्रनि बल गर्वंत ।
लीन हरन घन सरन फरत तरु तत्र सु पर्वंत ।
कहि 'अछिर अनिन्न' अनन्त दल निरखि अमर सेना चलिय ।
इमि चंड मुंड अवलोकि रन लोक लोक खलभल परिय ।।१०२।।

तामरस

लोक लोक खलभल परिय, चंड मुंड सेना चलिय ।
हंकि हंकि बंकट बिकट, आनि र्गजि गिरवर निकट ।।१०३।।

तोमर

तब जननि दानिनि देखि, इत सिंघ एक बिसेष ।
तब कोपि भ्रकुटि चढ़ाइ, बल कालिका उपजाइ ।।१०४।।

उपजीत काल कराल, श्री जननि रोष रिसाल।
तन स्याम तामस खानि, घन सघन केस बखानि ॥१०५॥
भ्रकुटी कुटिल जुटवार, अति झलक फलक लिलार।
गिरि कंदरा सुर नासि, अति पवन पुंज प्रकासि ॥१०६॥
बायँत बदन अनंत, गिरि सिखर दंत लसंत।
रसना अधर अति घोर, दृग अगिनि कुंड प्रजोर ॥१०७॥
ठड्डेत रोम सरीर, नाभी समुद्र गम्भीर।
प्रज्जुलित परम प्रचंड, अज्जान भुज बल दंड ॥१०८॥
कर पास असि धनु बान, पग धरनि सिर असमान।
अति बिकट भ्यानक गात, गज चर्म श्रौन चुचात ॥१०९॥
उर रुंड मुंडनि माल, डारैं गगनवत ढाल।
बल प्रेत पर असवार, किय जननि चरन जुहार ॥११०॥

महानराच

जुहार जक्तमातु कौं सु मातु कालिका कढ़ी,
बढ़ी प्रकोप ओप सत्रु लोभ चित्त भाइगे।
खड़ीत भू अकास लौं बकास देबिये नहीं,
प्रकास तेज पुंज रोम रोम रोष छाइगे।
भनै 'अनिन्न' भेष भिन्न घोष बक्र को कहै,
त्रिलोक है अकूत भूत प्रेत ताप ताइगे।
सु दिक्खि दानवान के न जान प्रान किं गये,
गजंत सिंघ ज्यौं ससेष से वहीं ससाइगे ॥१११॥
ससाइगे दवित्त सर्व देखि काल चंड कौं,
प्रचंड चंड मुंड चंडि त्रान लीन त्रासहीं।
कुठार खर्ग तोमरं त्रिसूल चक्र सांकरिन्न,
सायकं समस्त अस्त्र सस्त्र हस्त भासहीं।
भनै 'अनन्य' यौं अनन्त अस्त्र कंज तें चलैं,
तितेक लील लीन देवि बक्र के बिलासहीं।

समस्त रच्छ जच्छ रथ्थ हथ्थिया लुटायदं,
उड़ायदं दिसासि एक सांस की उसास हीं ॥११२॥

उसास हीं उड़ंत आस पास दीह दैयता,
प्रमेयता हसंति अट्टहास त्रास चाहिनी।
गजंत कोटि गाज सी सु बाज सी लवानि ज्यों,
भवानि दानवानि की अमान सैन दाहिनी।
भनै 'अनन्य' भीम सक्ति भीम कर्म भैरवीति,
सैरवी खिलंति दंति पंति खर्ग बाहिनी।
प्रचंड चंड मुंड के सु रुंड मुंड खंडि कैं,
अखंड श्रौन सिंघ कौं पियंत प्रेत बाहिनी ॥११३॥

पियंत श्रौन सिंघ सैन सर्व कौं प्रहारि कैं,
अहार कै डकार संचिकार सत्रु सालिका।
बिदारि चंड मुंड कौं सु रुंड मुंड गुथ्थि कैं,
बिसाल माल डारि चर्म बैठि रक्त बालिका।
भनै 'अनन्य' जक्त सक्ति जीति जुद्ध घुम्मि कैं,
प्रझुम्मि कैं प्रमस्त रंगभुम्मि चाहि चालिका।
सु अट्टहास रास आसपास रूप उग्र सौं,
सु अग्र जक्त मातु के नचंत मातु कालिका ॥११४॥

दोहा

कोटि काल बल कालिका, गंजे असुर कराल।
भागि भग्गुलनि रौरि किय, सभा सुंभ भुवपाल ॥११५॥

पद्धरि

सुनि रौरि रोष पर्जरि नरिंद, दियवान बोलि बल रक्तबिंद।
तब रक्तबिंद लै पान गज्जि, ततकाल चल्यौ बहु सैन सज्जि ॥११६॥
पच्चास कोटि साँवत प्रचंड, लच्छनि राछस दैयत अखंड।
अर्बनि गयंद खर्बनि तुषार, पद्मनि प्यादे लग्गे पुकार ॥११७॥
इमि रक्तबिंद दल सज्जि धाव, हुंकरत दैत्य अति जुद्ध चाव।
धर धचकहि लचि अकुलान सेष, अति कंप भयौ बसुधा कलेस ॥११८॥

तिहि दिक्खि जक्त माता बिचार, काली अकेलि किमि सकहि मार ।
इमि चिंत मातु चित मूँदि नैन, प्रगटी तुरन्त मुख सक्ति सैन ।।११६।।
निज ब्रह्म सक्ति कढ़ि हंस त्रष्टि, धरि ब्रह्म रूप तिहि रचिय सृष्टि ।
पुनि बिष्नु सक्ति कढ़ि गरुड़ रथ्थ, ह्वै बिष्नु रूप रच्छहि समथ्थ ।।१२०।।
पुनि रुद्र सक्ति कढ़ि चढ़िय नंदि, ह्वै रुद्र प्रबल त्रिभुवन निकंदि ।
पुनि इंद्र सक्ति कढ़ि चढ़ि गजिन्द्र, जिनि वृत्त हतौ धरि रूप इंद्र ।।१२१।।
कौमार सक्ति कढ़ि चढ़िय मोर, कौमार रूप सुर बंदि छोरि ।
बाराह सक्ति कढ़ि महिष चड्ढि, बाराह रूप धरि खुरनि ठड्डि ।।१२२।।
नरसिंघ सक्ति कढ़ि अति प्रचंड, नरसिंघ रूप तिनि असुर खंड ।
पुनि कढ़िय भद्र काली कराल, समकाल सक्ति काली अराल ।।१२३।।
पुनि पौन सक्ति प्रगटी प्रजोर, अरु अग्नि सक्ति उपजीत घोर ।
पुनि बरुन सक्ति प्रगटी गंभीर, कौमेरु सक्ति गिरि मेरु धीर ।।१२४।।
पुनि सिव दूती कढ़ि काल दंड, चंडिका सक्ति प्रगटी प्रचंड ।
इत्यादि देव सक्तैं जु अबं, जगमातु स्वांस प्रगटीत सबं ।।१२५।।

कुण्डलिया

प्रगटी इमि जगमातु मुख, देव सक्ति सब आनि ।
सब देवनि की देह महं, ये बरदायक जानि ।
ये बरदायक जानि, करन चेतन क्रत काइक ।
इन बिन ये लघु माइ, इनहिं भजिबे सब लाइक ।
इन लगि उन बल तेज, न ये काहू बल निघटी ।
महा प्रबल सब सक्ति, जक्त माता मुख प्रगटी ।।१२६।।

सोरठा

प्रगटि सक्ति इमि सर्व, किय प्रनाम जग मातु कहं ।
जननि जानि रिपु गर्व, रन मंडनि आयसु दियौ ।।१२७।।

सवैया

लहि आयसु पाइ सु धाइ सुरी, गल गज्जि परी भक रुंडनि में ।
जितहीं जित दैयत आनि अरै, तित ही तित मारत मुंडनि में ।

कहि 'अक्षर' बाहु महा रिपु छैरति, पैरति श्रोनित कुंडनि में।
बल केहरि ज्यौं दल केलि करै, अति कुंजर कुंज प्रझुम्मनि में ।।१२८।।

नराच

झुण्ड सत्रु सैन में सु सर्व सक्ति गर्जहीं।
जहां तहां हँकारि कैं सम्हारि मारि बज्र हीं।
कहूँक ब्रह्म सक्ति ब्रह्म सस्त्र मारि मंडहीं।
कहूंक बिष्नु सक्ति बिष्नु सस्त्र सत्रु खंडहीं ।।१२९।।
कहूंक रुद्र सक्ति रुद्र सस्त्र सत्रु झूरहीं।
कहूंक इंद्र सक्ति इंद्र सस्त्र सत्रु चूरहीं।
कहूं बराह सक्ति वाहि सस्त्र भीर भंजहीं।
कहूँ नृसिंघ सक्ति सिंघ सस्त्र सैन गंजहीं ।।१३०।।
कहूँ कुमार सक्ति मार सस्त्र सौं बिदारहीं।
कहूँक अग्नि सक्ति अग्नि सस्त्र फौज जारहीं।
कहूँक पौन सक्ति पौन सस्त्र सौं उड़ावहीं।
कहूँक सक्ति नीर नीर सस्त्र सौं बुझावहीं ।।१३१।।
कहूँक काल सक्ति काल सस्त्र सत्रु छै करै।
कहूंक क्रष्न सक्ति क्रष्न सस्त्र जुध्ध जै करै।
अनंत देव सक्ति अस्त्र सस्त्र यौं तदं धरी।
प्रमस्त रक्तबिंद की समस्त सैन संघरी ।।१३२।।

चामर

सैन सर्व संघरी सु रक्तबिंद दिक्खि कैं।
कोपि कैं प्रचंड मुंड बान लिन्न तिक्खि कैं।
साजि कैं समथ्थ रथ्थ गाजि बाजि पिल्लि कैं।
मीचु ज्यौं डरै नृसिंघ सीस प्रान मिल्लि कैं ।।१३३।।

मचकुन्द

सीस प्रान मन मिल्लि जुद्ध कहं क्रुद्ध रूप दलपत्ति कढ़ं।
अति कराल बिकराल लाल तन कोप ज्वाल प्रज्जुल्ल बढ़ं।

धरि प्रचंड धनु बंड चंड सर मंड जुद्ध रन क्रुद्धमयं ।
भयति हूह सर जूह ब्यूह रन लोक लोक भय कूह भयं ।।१३४।।

दोहा

लोक लोक भय कूह लहि, गहित बज्र बजरंग ।
इंद्र सक्ति कीनी पसर, पेलि गजेन्द्र अभंग ।।१३५।।

मोतीदाम

झुकी रन में इंद्राच्छि अकेलि, दलप्पति पै ऐरप्पति पेलि ।
फिरावति बज्र महा बजरंग, हत्यौ झुकि दैयत जुद्ध अभंग ।।१३६।।
महा बल दैयत में रह तूल, लगै तिहि वज्र मनो लघु फूल ।
गजैं तन फूल तजैं सर क्रुद्ध, लग्यौ अति होन परस्पर जुद्ध ।।१३७।।
टुटैं जुटि बानिनि बान अखंड, झरैं तिनि तैं अति ज्वाल प्रचंड ।
बिलोकि त्रिलोक पुरै रिपु अत्र, उड़ैं उड़िगन्न ज्यों अंधिनि पत्र ।।१३८।।
बढ़यौ इमि जुद्ध महा घनघोर, महा भय भौ भव मंडल सोर ।
गजै बल दैयत संगर चाव, लगै नहिं ता तन में तन घाव ।।१३९।।

सोरठा

लगहि न ता तन घाव, इंद्र सक्ति हठ ही थकी ।
तब सब सक्तिनि आव, घेरौ रिपु चहुं ओर तैं ।।१४०।।

तोमर

सब ओर तैं घिर राव, कीनौ सबनि मिलि धाव ।
ब्रह्मी हन्यौ बिधि दंड, बिष्नी सु चक्रनि खंड ।।१४१।।
रुद्री त्रिसूलनि छेदि, इंद्री सु अंकुस भेदि ।
काली खडग बध कीन, उर सक्ति कालिक दीन ।।१४२।।
बाराहि दंत बिदारि, नरहरिय पंजनि फारि ।
सिव दूति फरसनि मारि, किय छिद्र बिंदु बिदारि ।।१४३।।

दोहा

इमि सब मिलि घाइल करे, रक्तबिंद मद मत्त ।
जिमि बर्षहि घन घोर झर, तिमि तन बर्षहि रक्त ।।१४४।।

नराच

जितेक रक्तबिंद के सु रक्त बिंदु भू परे।
तितेक रक्तबिंद के अनेक दानवा खरे।
समुद्र वार पार लौं रकत्तबिंद पूरियो।
मरैं दुनी दवेट कै चपेट सैन चूरियौ ॥१४५॥

दोहा

चूरिय चरन सपल्ल, सकल लोक खलभल परिय।
रही न मग न गयल्ल, दिसि बिदिसनि दैयत बढ़े ॥१४६॥

त्रिभंगी

बड्ढे बहु दैयत अति मद मैयत रिष तप तैयत तर मंडे।
पल पल बल गर्वत धरि धरि पर्वत झुकि झुकि सरवत सर छंडे।
देखत इमि सत्रुनि समर सवत्रनि धरि धरि अस्त्रनि देवि झुकी।
बाहन रन हंकरि सारंग टंकरि करि भुव बंकरि देवि हुंकी ॥१४७॥

करि करि अति क्रुद्धहि बिरचि बिरुद्धहि मरम त्रसुद्धहि जुद्ध जुरी।
छंडहि बहु बाननि खंडित दाननि दुरद अमाननि हंति सुरी।
तीक्षन सर बर्षति बाक विकर्षति हनि रिपु हर्षित राति सुखी।
सनमुख रन मंडित बाननि खंडित जूह बिहंडित इक्क मुखी ॥१४८॥

गनि गज गन गंजति रथ पथ भंजति अति रन रंजित रन जंगी।
करि असुर सुमारनि घूम घुमारनि परति झुमारनि बहु संगी।
बहु सेल्ह धमंकत सूल खमंकत खर्ग चमंकत रक्त सनैं।
रिपु लुथ्थी लुथ्थनि जुथ्थी जुथ्थनि जिमि गज गुथ्थनि सिंघ हनैं ॥१४९॥

हनि दानव जूहनि करि करि कूहनि करति फतूहनि बाहु वरं।
ढाहै रिपु मुंडहि हति भुज दंडहि उछरत रुंडहि श्रौन सरं।
श्रौनादिक आगर अगम उजागर मिलि सत सागर इक्क बहै।
बूढ़े नव खंडल झिलित ब्रह्मंडल महि मंडल जल कौन कहै ॥१५०॥

दोहा

इमि सब सैन संघारि रन, रकतबिंद तन बद्धि।
पुनि ज्यौं के त्यौं हो रहे, परत रकत महिं मद्धि ॥१५१॥

बार हजारक संघरे, देवनि करि करि कूह ।
रकतबिंद के रकत तें, फिरि फिरि जुरत समूह ॥१५२॥

हीरा

इमि मारति रन झारति जिमि मारति अति त्यौं बड्डे ।
लहि संमर रिपु डंमर डरि अंमर हा हा करि उड्डे ।
करि सोचनि हरि लोचनि अरि मोचनि देवी सबै ।
गत आतुर जहं मातुर कर चातुर बिनती तबै ॥१५३॥

विशेषक

मातु सुनौ यह बात थकी हम सर्व सुरी ।
ज्यौं हति त्यौं अति बाढ़ि दसौ दिसि सैन पुरी ।
आरत देवि पुकार भये भयभीत सबै ।
श्री भयभंजनि मातु हरौ भय घोर अबै ॥१५४॥

पद्मावती

सुनि बिनय निरंजनि श्री भयभंजनि प्रबल सिंघ पर चड्ढी ।
चड्ढी हरि हंकरि सारँग टंकरि करन जुद्ध हुव ठड्डी ।
ठड्डी लहि उद्दित मातु प्रमुद्दित अनहद नौबत बज्जी ।
बज्जी सुर दुंदुभि मुदित मकुंदभि अग्र कालिका गज्जी ॥१५५॥

दोहा

गज्जि सकल सक्तिनि सहित, लहि रन जुद्ध झुकारि ।
कीन पसरि परमेस्वरी, बाहन सिंघ हुंकारि ॥१५६॥

महानराच

हुंकार सिंघ राज कौं गरज्जि सिंघ बाहिनी,
सु त्राहिनी समेत भूत प्रेत अग्र दै लिये ।
दवित्त श्रौन भुग्गिनीति जुग्गिनी घनी रची,
नची सु जुद्ध जीति रुद्ध पानि खप्परै लिये ।
भनै 'अनन्य' चाव घंनि श्री जनिन्न हुल्लिकै,
त्रसुल्लि कें दलिद्र छेदि गुल्ल तुल्ल कै लिये ।

दियौ हुँकार घोर घोरि बाँटिकै बकत्र कौं।
रकत्र सौं रकत्रबिंद कालिका अचै लिये ॥१५७॥

सवैया

रक्त सौं रक्तबिंदादि दै रक्षसा, भक्षि लीनै सबै कालिका भुग्गिनी।
सक्ति सैनानि में जक्त माता हँसै, श्री बिराजै बिराजै प्रभा दुग्गिनी।
देखि श्री देवि कौं देव जै जै जपैं, गान देवंगना जे हतीं सुग्गिनी।
श्रोन पो पी छको रंग भू राचिती, नाचतीं जोग माया ढिका जुग्गिनी ॥१५८॥

दोहा

रक्तबिंद इमि जुज्झि रन, बज्जि अमर सहगान।
सुनत सुंभ नृप कोपि कै, दिये निसुंभै यान ॥१५९॥

कवित्त

निकसे निसुंभ सुंभ हुकुम तें सम्हारि करैं,
अंबर बिमान सजि त्रान तन जरती।
रथी अतिरथी महारथी समरथ्थ संग,
संगर अभंग बजरंग बल भरती।
हयदल पयदल भयद गयंददल,
चलत सकल दल धूर निसि करती।
'अक्षर अनन्य' फन फरकि फरकि सेष,
धरकि धरकि धीर धरति न धरती ॥१६०॥

धरकि धरकि धरैं धीर न धरनिधर,
करकि कमठ कमलिनि दल लचकति।
डिगत नगर डगमगत जगत गिरि,
भगत गगन उडगन गन धचकति।
'अक्षर' अमर अकबक सकपक परि,
धकपक बिधि बिधि बुधवनि धचकति।
चलत निसुंभ के प्रथुल सु प्रबल दल,
जल थल बिकल सकल महि मचकति ॥१६१॥

दोहा

महि मचकति लचकति अचल, बिचल अमर ससि भान ।
घनवत नृपति निसुंभ के, बज्जत तबल निसान ॥१६२॥

रेखता

निसान दैयवान सुंभ चतुरंग दल, संग बजरंग रन रंग हिल्ली ।
हुंकरत निरसंक दै डंक बंकानि, संकानि सक्रादि सुर देह ढिल्ली ।
सुनि रौरि गुन गौरि सिरमौर, कछु कोप करि ओप करि चक्र चिल्ली ।
महासत्रु गजराजगन जानि, गलगाजि मृगराजसंमाज संफौजपिल्ली ॥१६३॥

दोहा

पिल्लि सकल सक्तैं इतहि, उतहि प्रबल रिपु क्रुद्ध ।
हंकि हंकि बंकट बिकट, उभय अभय जुरि जुद्ध ॥१६४॥

त्रिभंगी

जुरि जुद्धनि जोधा जुद्ध प्रमोधा करि करि क्रोधा रन ठाढ़े ।
हथ्थिनि सौं हथ्थिनि रथ्थिनि रथ्थनि सम समरथ्थिनि मन बाढ़े ।
हयदल सौं हयदल पयदल पयदल इहि बिधि द्वै दल कोप पुरे ।
जा पर जो आयुध तकि तकि धावत सावधान जुरि जुद्ध जुरे ॥१६५॥

भुजंगप्रयात

जुरे जुद्ध जोधा दुहूं ओर जोरं, हहंकारि हंकारि कै क्रुद्ध घोरं ।
तजैं अस्त्र पै अस्त्र ढालत्र बोढ़ैं, तकैं दाव पै दाव आयुद्ध छोड़ैं ॥१६६॥
जुटे त्रान सौं त्रान ज्वाला जरे हैं, टुटै बान सौं बान भू पै परे हैं ।
चलै चक्र पै चक्र सक्रादि कंपै, झरै खर्ग सौं खर्ग ज्वाला बितंपै ॥१६७॥
कहूं बज्र सौं बज्र बाजै करालं, कहूं गुर्ज सौं गुर्ज बर्षंत ज्वालं ।
कहूं सेल्ह पै सेल्ह मेलै चमंका, कहूं सूल पै सूल मेलै धमंका ॥१६८॥
कहूं अस्त्र पै अस्त्र श्री देवि छंडै, कहूं सस्त्र पै सस्त्र दै मारि मंडै ।
कहूं ब्रह्मनी ब्रह्म सस्त्र प्रहारै, महा घोर दानै अमानैनि मारै ॥१६९॥
कहूं बिष्नवी चक्र सौं चक्र धावै, कहूं दै गदा गर्द गर्दै मिलावै ।
कहूं रुद्रिनी सूल सौं सैन छुट्टै, कहूं बज्र कुट्ठार सौं कंठ कट्टै ॥१७०॥

कहूं इंद्रिनी बज्र सौं सत्रु चूरै, कहूँ बान बानावरी सत्रु पूरै ।
कहूं कारिका सौं हथी हथ्थ दारै, कहूं अंकुसनि मारिकै मुण्ड फारै ।।१७१।।
कहूं बारही दंत सौं दैत्य दाहै, कहूं मारि ढक्का ढका सैन ढाहै ।
कहूँ नारसिंघी महा पंज भंजै, कहूँ गजिही गजि गर्जादि गंजै ।।१७२।।
कहूँ अंबिका मंडि ही मंडि मारै, कहूँ धनिही चनिही चूरि डारै ।
कहूँ कालिका जुथ्थ के जुथ्थ भच्छै, कहूँ स्वांस ही सैन आकास गच्छै ।।१७३।।
कहूँ चंडिका रथ्थ सौं रथ्थ मारै, कहूँ हथ्थिया हथ्थिया सौं पछारै ।
कहूं बारुनी दारुनी बारि बाहै, कहूँ ज्वालिनी ज्वाल मालानि दाहै ।।१७४।।
कहूं खेचरी भूचरी मारि दीनी, कहूं भक्षिनी रक्षसा भक्षि लीनी ।
कहूं जुग्गिनी भुग्गिनी श्रौन संचै, कहूं संखिनी डंकिनी फूल नंचै ।।१७५।।
कहूं प्रेत फूले रुधिर माँस खाई, कहूं भूत भैरौं लिये लुथ्थि जाई ।
कहूं लुथ्थि पै लुथ्थि दैयंत लुट्ठै, कहूं रुद्र गन सूरमा मुण्ड डट्ठै ।।१७६।।
कहूं मुण्ड कट्टे डरे भूमि भारे, कहूँ रुण्ड घूमै मनौ मत्तवारे ।
कहूं रुण्ड बिन मुण्ड लै खर्ग धावै, कहूँ श्रौन लै पित्र पिंडा भरावै ।।१७७।।
कहूँ घायलं घोर चिक्कार बक्कै, कहूँ बाय भादौं नदी से भमक्कै ।
कहूं मत्त मातंग अँग भंग लुट्ठै, कहूं तुर्ग तिर्यँ तरै रथ्थ तुट्टै ।।१७८।।
कहूं गिध्ध उड्डै भखै श्रौन माँसं, कहूँ सिंघ ठड्डेत दिक्खै तमासं ।
भयौ जुद्ध भूतं भवैवै न अन्यं, बिजै ईस्वरी क्रत्त जंपै 'अनन्यं' ।।१७९।।

पद्धकला

जंपहि 'अनिन्न' । संगर जनिन्न ।
दानव प्रझुण्ड । किय रुण्ड मुण्ड ।।१८०।।

महानराच

कियेत रुण्ड मुण्ड झुण्ड दानवा बिखंडि कै,
अखंड सत्रु मारि वार पार सत्रु सालिका ।
कपंत चंद्र भानु प्रान जात कौतुकीनि कै,
अफर्त भूत प्रेत भौ अभूत जुद्ध जालिका ।

भनै 'अनन्य' सैन भिन्न संगर प्रघोरता,
प्रजोरता न अंनि धंनि धंनि बिस्वपालिका ।
समस्त गज्जि सर्व सक्ति यौं छिनंक में अनेक,
लक्ष लुथ्थि भक्षि लील लीन एक कालिका ॥१८१॥

पद्धरि

कालिका सकल भक्षे दवित्त, देखहि निसुंभ अति रोष चित्त ।
अति गर्व गर्जि बिकराल घोर, दस सहस बाहु धरि सस्त्र जोर ॥१८२॥
दस दिसनि सस्त्र पूरे अखंड, खलभलिय बिस्व भेदत ब्रह्मंड ।
तब सब देवनि हंके बिमान, घाले निसुंभ कहं चंड बान ॥१८३॥
अति बान महा गिरि बज्र तूल, लागे निसुंभ उर कंद फूल ।
काट्यौ न कटै अति बिकट अंग, टारौ न टरै संमर अभंग ॥१८४॥
मारौ न मरै जनु अमर काइ, जारौ न जरै बजरंग राइ ।
हठि हठि थक्की सक्तैं समस्त, पर्वत प्रमान ठाढ़ौ प्रमस्त ॥१८५॥
गल गज्जि सकल सक्तिनि मंझ्याइ, ईस्वरि सनमुख धायौ रिसाय ।
कर खर्ग काढ़ि रिस बाढ़ि रीस, दिय कोपि खर्ग बहु सिंघ सीस ॥१८६॥
तब सिंघासन अंमर सम्रथ्थ, लिय खंग ओठि बहु आपु हथ्थ ।
अपु खर्ग काढ़ि सिर दाव दट्टि, तब असुर भुजा संजुक्त कट्टि ॥१८७॥
तब असुर कोपि तिरसूल लीन, श्री मातु तुरंत बहंक कीन ।
पुनि असुर सांग लीनी प्रचंड, श्री मातु दपट किय खंड खंड ॥१८८॥
पुनि असुर फरस काढ़ौ कठोर, श्री मातु भुजा संजुक्त टोर ।
पुनि असुर बज्र घाल्यौ तुरन्त, श्री मातु तमकि तोर्‌यौ तुरन्त ॥१८९॥
तब असुर रोष खिसियाइ गर्व, दस सहस बाहु सजि सस्त्र सर्व ।
श्री मातु सस्त्र खण्डे समस्त, दस सहस बाहु कट्टे प्रमस्त ॥१९०॥
तद्दपि सावंत न मानि हार, सनमुख धायौ वह बक्र फार ।
तब झुकि ब्रह्मी सिर दंड दीन, बिष्नी सु चक्र छिन सीस छीन ॥१९१॥
रुद्री त्रिसूल तीक्षन प्रहारि, इंद्री सु बज्र बजरंग मारि ।
कालो खर्गनि किय खण्ड खण्ड, कारी प्रसक्ति सक्तिनि बिहंड ॥१९२॥

बाराहि हृदय दंतनि बिदारि, नरहरिय उदर पंजनि उदारि ।
केहरी नखनि नख सिख बिहंड, सिव दूति पियत श्रौनित अखंड ॥१९३॥
भैरवी चरन धरि रन कठोर, संखिनि डंकिनि भुज लीन टोर ।
जुग्गिनि प्रेतिनि मिलि ठौर ठौर, भक्षव रक्षस करि कौर कौर ॥१९४॥

दोहा

कौर कौर जुग्गिनि करौ, प्रबल निसुंभ नरेस ।
सुनत सुंभ रिस पर जर्यौ, अति दुखपरम कलेस ॥१९५॥

तोटक

झुकि सुंभ चलेति कलेस किये, दल की बल सैन सम्हारि हिये ।
अति आतुर क्रुद्ध उछाह करै, मन देवनि देवनि कौं निदरै ॥१९६॥
असि ढाल लियैं करि कह बढ़यौ, जनु कोपि प्रलै कहं काल चढ़यौ ।
इमि राज कढ़े सब नग्र कढ़े, रखसी अरु राखस पुंज बढ़े ॥१९७॥
चलि कूह करंत घनै घन से, इक सूत सबै इकही मन से ।
सब हूंकत कूकत धावत हैं, कर पर्वत ब्रच्छ फिरावत हैं ॥१९८॥
घनघोर महा सुर गर्जत हैं, भुज ठोक महाबल सज्जत हैं ।
सब धावत धाप धरा धचिकै, नव खण्ड ब्रह्मण्ड सबै लचिकै ॥१९९॥
गिरि मेरु कँपे सब लोक हँपै, बिधि बिष्नु सुरेस सु ताहि जपै ।
दस हू दिसि कंप भयौ धरनी, नहिं दानव सैन परै बरनी ॥२००॥
खुर तारनि छार अकास उठी, छबि भानु प्रभा रन रैनि उठी ।
पँच भूत अभूत कपंत भये, गजपौरनि आतुर आय गये ॥२०१॥

कुण्डलिया

आतुर इमि आये नृपति, रन भुम्महिं जुरि जूह ।
जूह कुटुम जूझे निरखि, बाढ़े सोक समूह ।
बाढ़े सोक समूह, मोह दुख उदित रिसानव ।
सानव भ्रम भयभीत, इतहि रिपु देखि खिसानव ।
देखि खिसानव सुंभ, समर गरजत रन मातुर ।
मातुर सनमुख धाइ, पतित आयौ अति आतुर ॥२०२॥

सवैया

आतुर सुंभ गयौ रन में, जहां ठाड़ी भवानी गुमान गरूरी।
मूरतिवंत निरंजन जोति, दियें द्रग अंजन रेख सिंदूरी।
सर्व सिंगार विभूषन भूषित, अस्त्र धरैं कर संगर रूरी।
बैस किसोर महा सुकुमार, प्रताप बली सब भांतिनि पूरी ॥२०३॥

दोहा

देखत रूप प्रताप अति, अंबा गुन गंभीर।
भेद न जान्यौ सुंभ पसु, बचन कहे संभीर ॥२०४॥
परम प्रताप सरूप लखि, रह्यौ सुंभ चकवाइ।
अहंकार कै कोप तैं, कहे बचन खिसिआइ ॥२०५॥

शुंभ उवाच

गीतिका

तू कहति ती मम जुद्ध जीतहि तिहि बरौं ब्रत धारि।
सकल देवनि लरत हैं तो में कहा बल नारि।
तब जानिये जब आपु बल संग्राम मो सहं साज।
पर बल स्वयंबर कब कह्यौ, करि स्वयं संगर आज ॥२०६॥

सुन्दरी

बात इती सुनिकैं जग बंदिनि, दानहिं ज्वाब दियौ सुर चंदिनि।
हौं अकिली दुतिया जिनि जानहु, ये सबही मम अंस प्रमानहु ॥२०७

मचकुंद

यौं कहि आदि सक्ति जननी सब सक्तैं बदन समाइ लई।
ज्यौं लहरैं उठि मिलत सिंधु महं जहं तैं भिन्न भई न गई।
यौं सब देवि समाइ आपु महं मातु सु आपै आपु रही।
आपु प्रभाव बताइ प्रभावति पतित नृपति सहं बात कही ॥२०८॥

ईश्वरी उवाच

कवित्त

मैं हौं जोगमाया मेरी माया कौ बिलास बिस्व,
माया ही तू मोहयौ मूढ़ जानत न टेक में।
मोही तैं पसारौ सब मोही में पसारौ देखि,
मोही में समै है जाल मकरी बिबेक में।

आदि सक्ति मैं ही मद्धि मैं ही अंत मैं ही सक्ति,
'अक्षर अनन्य' अन्य मिथ्या भ्रम भेष में ।
केवल मैं एक एक जानत अनेकनि में,
एक तें अनेक एक सक्ति हौं अनेक में ।।२०६।।

दोहा

जदपि आपु समुझाइ इमि, तदपि न समुझै नीच ।
गरजि अस्त्र छंडन लग्यौ, लई मुण्ड कर मीच ।।२१०।।

छप्पय

गरजि दुष्ट बल पुष्ट अस्त्र सस्त्रनि बहु छंडत ।
जिमिहि वेरि गिरि मेरु मेघ मंडल झर मंडत ।
पुरिय त्रान असमान बान बिनु ठवर न सूझत ।
उलटि उलटि लग अस्त्र सस्त्र अप ही अप जूझत ।
आकूत अनंत 'अनन्य' भनि भव न भूत अद्‌भुत समर ।
हरि हर बिरंचि बंछत कुसल त्राहि त्राहि जंपत अमर ।।२११।।

दोहा

त्राहि त्राहि त्रिभुवन मच्यौ, भई महा भय कूह ।
घोर जुद्ध दाननि रच्यौ, प्रबल सत्रु जुरि जूह ।।२१२।।

कवित्त

देखि सत्रु जूह अत्र कूह लोक लोकनि में,
हूह कै फतूह कौं सम्हारि रिपुगंजिनी ।
साधैं धनु भानु चन्द्र बान अरि प्रान लैन,
भ्रकुटी कमान सी चढ़ाई श्री निरंजिनी ।
'अक्षर अनन्य' कोप अगिनि तें अंग अंग,
प्रज्वलित ज्वाल ज्वालमाला तन कंजिनी ।
कै कै सिंहनाद सिंघ पेलति रिसानी रोष,
गर्जि घोर बानी श्री भवानी भयभंजिनी ।।२१३।।

अमृतगति

भयभंजिनि गरजी रन में, कोप कृपा जुत मन में ।
पेलि सिंघ अरि दल में, कीन पसर अति दल में ।।२१४।।

दोहा

भयभंजिनि परमेस्वरी, ज्यौं पंछिनि पर बाज।
ब्रह्मादिक कौतुक थकित, श्री भवानि रन साज ।।२१५।।

अमृतध्वनि

श्री भवानि अति कोप करि, धनुष बान धरि हथ्थ।
प्रबल सुंभ दल बल मिलत, चलत चपल गति रथ्थ।
रथ्थह चलत ररथ्थह धरत रुकथ्थह रथ्थ करनि कर।
हय पति समरथ्थह बैर बिरथ्थह बरकरि मथ्थह असि वर।
भथ्थह झरत भरथ्थह भरहरि अथ्थह अरि धिति भुजवर।
गथ्थह चरित अरथ्थह 'अक्षर' धनुक धरथ्थह भगवति ।।२१६।।

कमला

धनु हथ्थहि इक्क धरैं समरथ्थ हरथ्थ हरक्क सरस्सर की।
उत अर्बनि खर्ब रथी बल गर्वत पर्वत सेस धरध्धर की।
कहि 'अक्षर' अस्त्र जिते उततैं इततैं सु तितैति झरझ्झर की।
हरि संभु स्वयंभु अचंभु करैं, लहि कर्तुति अंब करक्कर की ।।२१७।।

सवैया

कर्षति पासनि पासि महासुर, झर्षति खर्गनि सौं गज तुर्गा।
बर्षति बान घनै घन सत्रुनि, भर्षति ज्यों सकुनी पति उर्गा।
हर्षति जैति बिजै कहि 'अक्षर', अक्षर देविनि सौं लहि सुर्गा।
यौं अति अद्‌भुत जुद्ध रच्यौ, रिपु दानव दुर्ग बिदारिनि दुर्गा ।।२१८।।

दोहा

श्री दुर्गा रिपु दुर्ग हति, क्रत संगर भक रुण्ड।
खंड खंड खण्डन असुर, धर पर ढरकत मुण्ड ।।२१९।।

महानराच

डरे अखण्ड रुण्ड मुण्ड झुण्ड दीह दानवा,
वितंड श्रौन कुण्ड बूढ़ खण्ड खण्ड देह री।
जहां तहां निहारि भूरि पूरि श्रौन मांस ही,
तमास ही चक्रत्त भूत प्रेत देत देह री।

भनै 'अनन्य' धंनि धंनि जुद्ध श्री जनिन्न के,
अमानि भूत भव्य कृत्य मान जानि जे हरी।
अकेलि केलि ही दले समस्त मस्त दैयता,
जथा अनंत दंति पंति हंति एक केहरी ॥२२०॥

हनै रनं भयानि श्री भवानि भूरि भार टारि,
मारि झारि अस्त्र सस्त्र हस्त सेल मेल में।
उठे कमध्ध क्रुद्ध बुद्ध जुद्ध कौं त्रिसुद्ध ह्वै,
महा सुनध्ध बद्ध बुद्धि नाप छाप छेल में।
भनै 'अनन्य' जोर जंग मातु संग मंडिनी,
प्रचंड दानवा अखण्ड खण्ड खड्ग खेल में।
समूह जूह कै दहे लहे नहे किहे कहूं,
रहे खुहे बहेति श्रौन सिंघ की दलेल में ॥२२१॥

बहेति श्रौन सिंधु सिंघ रे दपेट टप्पुवा,
भुसुंड सूर सीस सिल्ल बाल खज्जि छाहिनी।
ढलक्क ढाल कच्छ मच्छ खर्ग ग्राह गात जा,
भुजा भुजंग अंगलाहि दारुणावगाहिनी।
भनै 'अनन्य' अंनि धंनि अंग भंग जक्त जंत्र,
जानि मंत्र ज्वाल जुग्गिनीन्ह वारिन्हाहिनी।
तहाँ महासमुद्र में बिचित्र मुण्ड राजसी,
जहाज सी बिराजमान मातु सिंघबाहिनी ॥२२२॥

नगस्वरूपिणी

प्रचंड सिंघबाहिनी, समस्त सैनदाहिनी।
बिलोकि सुंभ क्रुद्ध कै, झुकौ विषाद बुध्ध कै ॥२२३॥

अनंत अस्त्र मुक्कियौ, सुदिक्ख मातु झुक्कियौ।
समस्त सत्त्र खण्डियौ, अभूत जुध्ध मंडियौ ॥२२४॥

कियेत क्रुद्ध ठड्डियौ, समान जुद्ध बड्ढियौ।
परस्प सस्त्र छंडही, सु त्रान त्रान खण्डही ॥२२५॥

जुटंत अस्त्र अस्त्र सौं, टुटंत सस्त्र सस्त्र सौं।
तकंत दाव दाव है, झुकंत जुद्ध चाव है ॥२२६॥
करंत हंक हंक है, धरंत धीर संक है।
लरंत अंतरिक्षनं, झरंत त्रान तिक्षनं ॥२२७॥
चलंत अग्रबानयं, ज्वलंत चंद्र भानयं।
घलंत सेल्ह सूल्हकं, दलंत दाव हूलकं ॥२२८॥
तजंत जोर चक्र है, गजंत जोर बक्र है।
उठंत बक्र ज्वालकं, छुटंत तीर मालकं ॥२२९॥
लगंत तीर पर्वतं, भगंत भीर सर्वतं।
नि ंत ब्योम बान है, छिदंत हेमबान है ॥२३०॥
अनंत जुद्ध वित्त ही, इतै उतै न चित्त ही।
बिलोकि लोक कंपही, सु त्राहि त्राहि जंपही ॥२३१॥

कवित्त

त्राहि त्राहि जंपत त्रिदेवता त्रिलोक सोक,
भागि भागि बड़े गिरि गिरनि गिरत हैं।
श्रौनक समुद्र में समुद्र सातौ झिल्लि रहे,
पर्वत से रिपु घाइ झिरना झिरत हैं।
डूंठ से बहत रुण्ड मुण्ड झुण्ड जहां तहां,
देखत चक्रित देव भागत फिरत हैं।
'अक्षर अनन्य' अंतरिक्ष लक्ष जोजन में,
अंबा अरु सुंभ काल मीचु से भिरत हैं ॥२३२॥

दोहा

दस हजार जोजन बढ़्यौ, धरती ऊपर श्रौन।
कहि 'अनन्य' संग्राम कौ, बरनन करियतु कौन ॥२३३॥
बरनहु कह संग्राम गति, त्रिभुवन भवत अचंभ।
देखत इमि अंबा चरित, चक्रित हरि हर ब्रह्म ॥२३४॥

फिरत चक्र सम उभय रथ, अंतरिक्ष रिस मंडि ।
करत जुद्ध हुंकरत मुख, झरत अस्त्र अति चंडि ।।२३५।।
इहि बिधि विबिध प्रकार करि, समर परसपर कड्ढि ।
काल मीचु मानहुं भिरत, अभय उभय रिस बड्ढि ।।२३६।।

मरहठा

बड्ढे रिस जुद्धहि अति बल क्रुद्धहि रुद्धहि सस्त्र चलंत ।
धरनी असमानहि पूरिय त्रानहि भानहि बिरथ बिलंत ।
देवा अति आरत दीन पुकारत मारत क्यौं नहिं मात ।
लीला रन रेखति दया न देखति देखत खलक नसात ।।२३७।।

छप्पय

सुनि सुनि अमर पुकार समर कोपिय भयभंजिनि ।
टंकरि करि सारंग रंग भुव तारनि गंजिनि ।
अर्द्ध चंद्र परिमान तानि अरि प्रान हरनि धर ।
तानि कान परजंत कुटिल भ्रकुटी मरोरि कर ।
कहि 'अछिर अनिन्न' सु दृष्टि मिलि तजि सायक रिसरस भरिय ।
नृप सुंभ प्रचंड अखंड तन खंड खंड खंडन करिय ।।२३८।।
खंडन करौ दयंत अंतरिक्षहि कर मर्दिनि ।
गिर पर धर घहराइ चूरि गिरिवर मिलि गर्दिनि ।
सप्त दीप नव खंड मंड ब्रह्मंड सु लचकव ।
सेष सीस कलथंत कमठ पिष्ठग धर धचकव ।
आक्कृत अनंत 'अनन्य' भनि भव न भूत अद्‌भुत समर ।
मन फूल फूल फूलनि बरषि जयति जयति जंपति अमर ।।२३९।।
जयति सिंघ असवारि जयति संग्राम जयंकरि ।
जयति खर्ग धनु धारि जयति सुर सत्रु छयंकरि ।
जयति महिष मुरतारि जयति मधु कैटभ खंडिनि ।
जयति चंड मुण्डारि जयति धूम्रक्ष बिहंडिनि ।
जय जयति रक्तबिंदादि जित सुंभ निसुंभ सु रन हननि ।
सुर संकट हरनि 'अनन्य' भनि, जयति जयति सम्म्रथ जननि ।।२४०।।

अक्षरी

जयति जंपि प्रमुदयत सकल सुर ।
जननि सरन क्रत प्रनत उमगि उर ।
सहित प्रेम अनुराग नयन पुरि ।
करत चारु अस्तुति अंजुलि जुरि ।।२४१।।

दोहा

नमो नमो श्री भगवती, अद्भुत चरित अनूप ।
सुर उबारि गंजे असुर, धरि बहु दिब्य सरूप ।।२४२।।

विजय

दिब्य मानिक्क कौ क्रीट माथै लसै,
दिब्य आभर्न आभाति भारायनी ।
दिब्य स्वेताम्बरं सुन्दरं राजितं,
छाजितं दिब्य हीरानि हारायनी ।
दिब्य आयुद्ध श्री दिब्य सिघासनी,
सुंभ निसुंभ संघार कारायनी ।
दिब्य अवतार संसार भवतारनी,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ।।२४३।।

खर्ग चक्रं सुरं सूल सेल्हं प्रनं,
तीक्षनं दक्षिनं पानि धारायनी ।
चाप पासंकुसं ढाल घंटा तथा,
वाम हाथं महा सोभ सारायनी ।
दसभुजी दस हजार भुजा भंजिनी,
रंजिनी देवता दैत्य दारायनी ।
अंबिका रूप श्री संभु सक्ति स्वयं,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ।।२४४।।

गात रातै प्रभा पाट रातै धरै,
सर्व रातै नगाभर्न धारायनी ।

दंड कोमंडलं मंडितं पानि में,
चारि वक्त्रं सुतं चारु चारायनी ।
राजसी राज हंसेस पै सासनी,
बासनी दास की आस तारायनी ।
ब्रह्मनी रूप ब्रह्मादि कर्ता स्वयं,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२४५॥

संख चक्रं गदा पद्म सारंगिनी,
सामला निर्मला भेष धारायनी ।
चारि बाहैं धरैं बैजयंती गरैं,
वस्त्र पीतांबरं दास तारायनी ।
सक्ति की सक्ति श्री गरुड़ सिंघासनी,
मधु मुरं कैटभं दुख दारायनी ।
बिष्नवी रूप बिष्नादि माता स्वयं,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२४६॥

सीस सुन्दर जटा गंग धारा लसै,
चन्द्रमा भाल त्रैनैन तारायनी ।
सिंघ चर्मैं धरैं मुण्ड माला गरैं,
तेज पुंज प्रभा सर्प हारायनी ।
सूल डौंरू लियैं काल कूटै पियैं,
गात बिभ्भूत नंदी हकारायनी ।
रुद्रिनी रूप रुद्रादि जोगेस्वरी,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२४७॥

सर्व सोनैं मनी भूषनै भूषिता,
वस्त्र नौनै सुनैना हजारायनी ।
पानि बज्रै धरैं मुक्ति माला गरैं,
माधुरी मुक्ति सोभा सुधारायनी ।
मत्त मातंग ऐरापतिब्बाहिनी,
दाहिनी देवता दैत्य दारायनी ।

इन्द्रिनी रूप इन्द्रादि राजेस्वरी,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२४८॥

मोर क्रीटै धरैं मोर पीठासनी,
मोर ग्रीवातनी सोम सारायनी ।
चक्र सक्ती धरैं वर्नमाला गरैं,
वस्त्र पीरै परं पीर टारायनी ।
सिद्धि साधौ चिता र्चचिता चंदनं,
बंदनं बिस्व बिस्वेस पारायनी ।
नन्दजा रूप आनन्ददा सर्वदा,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२४९॥

चन्द्र वक्त्रं तथा अर्द्ध चन्द्रं सिरं
चन्द्रवर्तं तनं सोभ कारायनी ।
अम्बरं उज्वलं प्रज्वलं आयुधं,
सावधानं प्रभा सोभ सारायनी ।
सक्ति कोदंड सो दंड मंडित्त कर,
दानवा दंड ब्रह्मंड पारायनी ।
कारिका रूप कौमार सक्तिप्रिया,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५०॥

धूमरे से जटा जूट छूटे सिरं,
कर्नं मुद्रा तनं भस्म धारायनी ।
तिर्ज भौहैं चढ़ीं लाल चच्छु प्रभा,
माल रुद्राक्ष भद्राक्ष धारायनी ।
कट्टि आडंबरी पट्टि गेरू रंगे,
खप्परं पानि श्रौन प्रहारायनी ।
दूतिका रूप संग्राम रंगप्रिया,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५१॥

सीस आकास लौं चर्न पातालनी,
घोर वक्त्री महा घोर घारायनी ।

सेम पैने खरे नैन ज्वाला भरे,
भीम भै सानि स्वासानि झारायनी ।
सेष के सीस कौं थम्हि उछ्छार कै,
ठाड़ कै अग्र पै भुम्मि धारायनी ।
वारही रूप वाराहवत दीपिका,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५२॥

अर्द्ध नर देह री केहरी अर्द्धवै,
ऊर्द्ध केसी महा क्रुद्ध कारायनी ।
बंक पंजा बजै नक्ख भू चटचटै,
कटकटै दंत मै मत्त गारायनी ।
खम्ह उद्धारि बिद्धारि कै दानवा,
हिर्नकस्यप्प कौ पेट फारायनी ।
नारसिंघी , नृसिघं सरूपं करो,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५३॥

कट्टि सुमेर सी बट्टि उट्टै महा,
हास अट्टास हंकार कारायनी ।
मुण्ड मुण्डावली तुण्ड श्रौन स्रवै,
श्रौन बूढ़े गजा चर्म धारायनी ।
सुक्खमाखं महा भैरवी भ्यानुकी,
भूत चड्ढी भयंकार कारायनी ।
कालिका रूप ह्वै रक्ष संभक्षिनी,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५४॥

दैयता श्रौनिता पंक अंर्कचिता,
र्चचिता गात संघात घारायनी ।
ढाल ढक्कानि चक्कानि सत्रु प्रहा,
अस्त्र खर्गादि दुर्गादि दारायनी ।
गर्वंतै गर्वती चर्वती दानवा,
पर्वती परि उपय कार कारायनी ।

चंडिका रूप वंकारि हंकारिनी,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५५॥

वक्त्र बिक्राल प्रज्वाल ज्वालाननं,
दानवं सैन संघट्ट जारायनी।
नासिका स्वासनी सत्रु फौजें उड़ें,
मत्त हस्थीन हस्थान झारायनी।
फेरि त्रैसूल त्रैसूल क्षयकारिनी,
धारिनी जै बिजै बिस्व पारायनी।
भद्र काली कला रूप भयभंजिनी,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५६॥

एक तैं आपु सवतैं अनेकै ककै,
सुंभ निस्सुंभ संघार कारायनी।
फेरि कै नैक तैं एक ही ह्वै खरी,
एक धौं नेक किं बुद्धि पारायनी।
तो कथा जो जथा सो तथा को कहै,
सो 'अनन्यं' भनै स्रोत भारायनी।
सर्वदा अद्‌भुता अद्वितीय प्रभा,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५७॥

आपु ही अद्वितीय प्रभाव प्रभा,
आपु ही सु द्वितीय प्रकासायनी।
आपु ही सुन्न निर्गुन्न निर्भासिनी,
आपु ही जाहिरा जोति जारायनी।
आपु ही आदि आनादि सर्वादि श्री,
सर्व कारन्न सर्व प्रकारायनी।
जक्त बीजंत श्री जक्त माता स्वयं,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५८॥

हस्तहीनं बिधि कोटि कर्ता सदा,
चक्षुहीनं हरि कोटि पारायनी।

अस्त्रहीनं सिवं कोटि सिघासनी,
चर्नहीनं सरं कोटि चारायनी।
वक्त्रहीनं घनं कोटि बानी धुनिं,
गातहीनं धरं कोटि धारायनी।
रूप हीनं तनं कोटि रूपं करी,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२५९॥

रूप रेखै नहीं रूप रेखै महीं,
रूप रेखै सु कौंधौ उधारायनी।
दृष्टि आवै नहीं दृष्टि आवै तुहीं,
दृष्टि ही सृष्टि त्रैलोक कारायनी।
नित्य ही निर्वती पर्वती नित्य ही,
कारनिं निर्गुनिं भेष धारायनी।
'अक्षरानन्य' अद्वैत सक्ति प्रभा,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२६०॥

सर्व रूपन्नि में रूप रंगं तुहीं,
सर्व जानिन्न में ग्यान धारायनी।
सर्व जोतिन्न में जोति आभा तुहीं,
सर्व सक्तिन्न में सक्ति कारायनी।
सर्व संसार में सर्व भूतंक तैं,
'अक्षरानन्य' सर्वं प्रकारायनी।
सर्व ब्यापीक चेतन्निता सर्वदा,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२६१॥

सर्वदा सर्व चेतन्निता सर्वदा,
सर्वदानंद मोद प्रकारायनी।
सर्वदा सु प्रकास प्रभा मेदिता,
बेद बेदान्त सिद्धांत कारायनी।
सर्वदा सुद्ध ऐस्वर्जता सर्वदा,
सर्वदा सर्व उद्दोत कारायनी।

सर्व कर्तार श्री सर्व सक्ति स्वयं,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२६२॥
सर्वतो पानि पादानि पानि प्रभा,
सर्वतो चक्षु कर्नादि कारायनी।
सर्वतो गर्भ संसार गर्भै धरै,
सर्वतो दृष्टि इष्टीनि धारायनी।
सर्वतो मंति आनंति मद्धि प्रभा,
पूरिना सर्वतो वार पारायनी।
सर्व बिस्वेस्वरी बिस्व रूपै धरै,
सो नमोहो नमो मातु नारायनी ॥२६३॥

दोहा

बिस्व रूप बिस्वेस्वरी, बिस्व जननि परिवान।
सकल बिस्व कारन करनि, तेरिय सक्ति निदान ॥२६४॥

रेखता

तेरियै सक्ति उतपत्ति संसार सब,
तेरियै सक्ति प्रतिपाल गाता।
तेरियै सक्ति अस्थार विस्थार पुनि,
तेरियै सक्ति संघार घाता।
तेरियै सक्ति फल दंड पावैं सबै,
तेरियै सक्ति क्रत कर्म धाता।
तेरियै सक्ति सब सक्ति 'आनिन्न' भनि,
जयति सिव सक्ति श्री जक्त माता ॥२६५॥
तेरियै सक्ति भुवधर अचर चर सबै,
तेरियै सक्ति जल सिंधु साता।
तेरियै सक्ति जल तेज व्यापीक है,
तेरियै सक्ति गत बहत बाता।
तेरियै सक्ति आकास धुनि सब्द है,
तेरियै सक्ति तत सर्व धाता।

तेरियै सक्ति सब सक्ति 'आनिन्न' भनि,
जयति सिव सक्ति श्री जक्त माता ।।२६६।।

तेरियै सक्ति निर्गुन्न निर्वान पद,
तेरियै सक्ति सर्गुन्न गाता ।
तेरियै सक्ति बिधि बिष्नु ऐस्वर्ज पद,
तेरियै सक्ति महि सेष धाता ।
तेरियै सक्ति लहि सिद्ध सिद्धांत पद,
तेरियै सक्ति निधि सिद्धि साता ।
तेरियै सक्ति सब सक्ति 'आनिन्न' भनि,
जयति सिव सक्ति श्री जक्त माता ।।२६७।।

तेरियै सक्ति सुर अमर अमरावती,
तेरियै सक्ति मुनि जान गाता ।
तेरियै सक्ति दैयंत बरजोर अति,
तेरियै सक्ति मन रंग राता ।
तेरियै सक्ति रवि चन्द उद्दोत छबि,
तेरियै सक्ति जल मेघ वाता ।
तेरियै सक्ति सब सक्ति 'आनिन्न' भनि,
जयति सिव सक्ति श्री जक्त माता ।।२६८।।

तेरियै सक्ति तेजन्नि में तेज है,
तेरियै सक्ति बल गर्व गाता ।
तेरियै सक्ति ग्यानीनि में ग्यान है,
तेरियै सक्ति ध्यानीनि धाता ।
तेरियै सक्ति जोगीनि में जोग है,
तेरियै सक्ति तप तेज जाता ।
तेरियै सक्ति सब सक्ति 'आनिन्न' भनि,
जयति सिव सक्ति श्री जक्त माता ।।२६९।।

तेरियै सक्ति चेतन्नि संसार सब,
तेरियै सक्ति जड़ ब्रच्छ गाता ।

तेरियै सक्ति महि मोह बंधन भवै,
तेरियै सक्ति निर्मोह ग्याता ।
तेरियै सक्ति अति भक्ति प्रापति रमा,
तेरियै सक्ति निज मुक्त जाता ।
तेरियै सक्ति सब सक्ति 'आनिन्न' भनि,
जयति सिव सक्ति श्री जक्त माता ॥२७०॥

छप्पय

जक्त मातु जग जोति जक्त मूरति जगवंदिनि ।
सिव निवासि सिव सक्ति सिवहि सिवदा सिव चंदिनि ।
निर्विकार निरधार नित्य निर्वान निरंजिनि ।
भव अधार भवसार प्रभव करता भयभंजिनि ।
सर्वानि सर्व लाइक सदा सर्व लोक कारन करनि ।
सम्रथ जननि 'अनन्य' भनि जयति देवि असरन सरनि ॥२७१॥

दोहा

इमि देवनि अस्तुति करी, पूरन प्रेम प्रमान ।
ह्वै प्रसन्न भनि ईस्वरी, मांगहु सुर बरदान ॥२७२॥

गीतिका

सुनि सुरनि फूल प्रनाम करि कीनी अरज कर जोरि ।
तुव कृपा तैं हम देव पद लहि सुख विभुक्त न थोरि ।
तातैं यहै बरदान मांगत सुन जननि जग माइ ।
जब जब सु इमि संकट परै तब तब सु काटहु आइ ॥२७३॥

सोरठा

सुनि सुर विनय सुधीर, श्री भवानि भयभंजिनी ।
मधुर वचन गंभीर, कहत आपु परमेस्वरी ॥२७४॥

पद्धरि

संकट काटहुँ तुम्हरे समस्त, जब जब बाढ़ैं दैयत प्रमस्त ।
अट्ठाइस सै कलजुग सु ठौर, ह्वहै पुनि सुंभ निसुंभ और ॥२७५॥

तब हौं कात्यायनि रूप धारि, हनिहौं सु दुष्ट सक्तिनि संघारि ।
पुनिवै प्रचित्त दैयंत राज, बिष्नादि बिस्व जीतहि समाज ॥२७६॥
तब रक्तदंतिका रूप धारि, हनिहौं सु दुष्ट दंतनि बिदारि ।
पुनि दुर्ग नाम दैयत सु होइ, त्रैलोक बिजय जस लहै सोइ ॥२७७॥
तब हौं दुर्गा अवतार धारि, हनिहौं सु दुष्ट पर्वत पछारि ।
पुनि भीम नाम दैयत भवंतु, सो सकल लोक फिरिहै दयंतु ॥२७८॥
तब हौं भीमा अवतार धारि, हनिहौं सु दुष्ट ब्रच्छनि उछारि ।
पुनि भीमासुर ह्वै प्रचंड, जग जीति राज राजहिं ब्रह्मंड ॥२७९॥
तब हौं सताक्षि अवतार धारि, हनिहौं दुष्टहिं खर्गनि प्रछारि ।
पुनि दानु नाम दैयंत घोर, त्रैलोक छीन लैहै प्रजोर ॥२८०॥
तब हौं भ्रामरी सु रूप धारि, हनिहौं सु दुष्ट हिरदै बिदारि ।
पुनि सांक नाम दैयंत बाढ़ि, अति दुष्ट सकल सुर देह काटि ॥२८१॥
तब हौं साकंभरि रूप धारि, हनिहौं सु दुष्ट मुष्टिक प्रहार ।
पुनि परहि काल रिषि श्राप जोर, उपजहि 'अनन्य' अति त्रास घोर ॥२८२॥
तब हौं साकंभरि रूप आइ, रचि साक सबै लैहौं जिवाइ ।
जब जब इमि संकट परहि जक्त, तब तब रक्षहुं हौं अभय भक्त ॥२८३॥

अरिल्ल

यौं कहि दै वर सुरनि सकल सुर चंदिनि ।
हो गइ अंतरध्यान परम सुख कंदिनि ।
फूलि गये सुर पुरनि चैन सुख राजियौ ।
घर घर मंगल चारु बधावे बाजियौ ॥२८४॥

दोहा

इहि बिधि सुरथ समाधि सुनि, श्री भवानि गुन गाथ ।
बंध मुक्ति फल दंड कौ, जग सब इनके हाथ ॥२८५॥
श्री भवानि की भक्ति तें, मुक्तिहि भुक्ति उदोत ।
भगवति भक्ति विहीन नर, उभय भ्रष्ट ते होत ॥२८६॥

तातैं भगवति भक्ति निज, करहु राज मन लाइ ।
मनवांछित फल पाइहौ, सब लाइक जगमाइ ।।२८७।।

सोरठा

यह सुनि सुरथ समाधि, फूल पाइ यह विनय किय ।
किमि जग जननि अराधि, नाम मंत्र कहिये गुरू ।।२८८।।

मोतीदाम

सुनौ नृप उत्तम मंत्र सुनाम, फलै तिहि तैं मनसा सब काम ।
श्री भवानी भवानी यहै उच्चार, सु आगम वेद पुरान कौ सार ।।२८९।।

श्री भवानी के नाम तैं और न मंत्र, श्री भवानी के नाम तैं और न जंत्र ।
श्री भवानी के नाम तैं और न ध्यान, श्री भवानी के नाम तैं और न ग्यान ।।२९०।।

श्री भवानी के नाम तैं और न देव, श्री भवानी के नाम तैं और न भेव ।
श्री भवानी के नाम तैं और न जाप, श्री भवानी के नाम तैं और न थाप ।।२९१।।

श्री भवानी कौ नाम संजीवनि मूरि, हरै बहु रोग करै दुख दूरि ।
श्री भवानी कौ नाम फलै फल चारि, सु भक्ति धरै मन इष्ट अधारि ।।२९२।।

श्री भवानी कौ नाम है पूरन जाप, जपैं बिधि बिष्नु सदासिव आप ।
यहै हिरदै धरिकै नृप राइ, श्री भवानी भवानी रहौ लव लाइ ।।२९३।।

दोहा

यह सिख सुनि मुनि पांय परि, गये सुरथ्थ समाधि ।
नदी तीर अस्थित भये, श्री भवानि ब्रत साधि ।।२९४।।

छप्पय

नदी तीर विवि धीर थापि मृनमय श्री मूरति ।
पूजि रुचिर फल मूल चित्त धरि सुन्दर सूरति ।
इक टक दृष्टि लगाइ दृष्टि चरननि चित चरचत ।
श्री भवानि इमि बानि जपति नित प्रति हित सरसत ।
तन भूख न प्यास न त्रास भय सिंघ बाघ गुंजर निकट ।
इमि तीनि बरस ब्रत देखि कैं हुव प्रसन्न अम्बा प्रगट ।।२९५।।

दोहा

प्रगट कहो परमेस्वरी, मांग सुरथ बरदान ।
सुनि पाँ परि नृप प्रेम सौं, बिनय कियौ परवान ।।२६६।।

सुरथ उवाच

दोधक

देहु अभय बर सो भयभंजिनि, भूपनि जीति करौं रन गंजनि ।
मारि सबै सक सत्रुनि मैंटहुं, राज लहौं परिवारहि भैंटहुँ ।।२६७।।

ईश्वरी उवाच

राज लहौ नृप सत्रुनि गंजहु, जाइ मिलौ अपने कुल रंजहु ।
अंतमनंतनि कौ पद पावहु, सूरज पुत्र सवर्नि कहावहु ।।२६८।।

तोटक

इतनी सुनि भूपति पांव परे । मन तैं अधिकै वर काज सरे ।
पुनि बानि यहै जग माइ कही । वर मांग समाधि सु देउ सही ।।२६६।।

समाधि उवाच

छप्पय

सुनि समाधि किय विनय सुनहु जननी जगवंदिनि ।
जग असार भ्रम सकल कहा मांगहुँ सुर चंदिनि ।
देहु मोहि विग्यान मोह भ्रम माया छुट्टहि ।
जनम मरन भय मिटहि कर्म बंधन दुख मिट्टहि ।
निज भक्ति प्रेम आनंद महं रहौं सदा तुम्हरे सरन ।
उर और भर्म उपजै नहीं आनंदित तुव चित चरन ।।३००।।

ईश्वरी उवाच

सोरठा

होइ तोहि विग्यान, मोह भर्म माया कटै ।
बसै हृदय मम ध्यान, जीवन मुक्ति समाधि तुव ।।३०१।।

दोधक

यौं कहिकै जन सौं जय बानी, अन्तरध्यान भई जग रानी ।
सिद्ध भयौ सु समाधि प्रवीना, ग्यान बढ़यौ मन ध्यानहि लीना ।।३०२।।

राव गये अपने गृह काजा, सत्रुनि जीति भये महराजा ।
देस प्रसिद्ध करी यह बानी, पूजै सब जग आदि भवानी ॥३०३॥

दोहा

इहि बिधि सुरथ समाधि कहं, वर दीनौ जग माइ ।
गाई तैं पर्वत कर्यौ, रहौ जगत जस छाइ ॥३०४॥
जगत जीव जल थल सकल, एकहि से सब थाप ।
श्री भवानि की भक्ति तैं, बढ़यौ सु बढ़यौ प्रताप ॥३०५॥

कवित्त

ब्रह्म बिष्नु रुद्र इंद्र चंद्रादिक देव देह,
कीट हू पतंग भ्रंग अंग इत थाप है ।
सब के सरीर पंचभूत के प्रमान जानि,
सब ही में आतमा समान आपु आप है ।
देखिये प्रतच्छ भिन्न करनी 'अनन्य' भनै,
एक सिरमौर एकै कीट पग चाप है ।
जैसी जहां भक्ति तहां तैसी सक्ति विद्यमान,
यहै श्री भवानी जू की भक्ति कौ प्रताप है ॥३०६॥

दोहा

सुर नर मुनि गंधर्व जग, जाचक सर्व बखानि ।
तिहूं लोक तिहुं काल सुनि, दाता एक भवानि ॥३०७॥

मदनमोहन

दई सक्ति ब्रह्मै भये बिस्व करता,
दई सक्ति विष्नै प्रजा पालि जानी ।
दई सक्ति सेषै भये भूमि धर्त्ता,
दई सक्ति रुद्रै प्रलै घात घानी ।
दई सक्ति चंद्रै छपा जोति छाई,
दई सक्ति भानै प्रभा सु प्रमानी ।
'अनन्यं' भनै देवता सक्ति जाँचै,
तिहूँ लोक में एक दाता भवानी ॥३०८॥

भजैं सिद्ध साधू मुनिन्द्रा अराधैं,
लहैं रिद्धि सिद्धैं फुरै सिद्धि बानी।
भजैं राज राजै फुरै अस्त्र विद्या,
जुरें जुद्ध जीतै बिजै राजधानी।
भजैं भक्त जोगी लहैं भुक्ति मुक्ती,
कवित्तौ करें जे चहैं वाक बानी।
'अनन्यं' भनै सर्वदा सर्व पूरी,
सबै बिस्व में एक दाता भवानी ॥३०९॥

भजैं सारदा जे लहैं बुद्धि विद्या,
गनेसै भजैं ते लहैं सिद्धि बानी।
भजैं बिष्नु कौं ते लहैं भुक्ति अंतै,
विभौ लच्छिमी के भजैं जक्त जानी।
जिते देवता भेव ताकौ विचारौ,
कला जौन जामें सु है तासु बानो।
'अनन्यं' भनै एक की एक दाता,
सदा सर्वदा सर्व पूरी भवानी ॥३१०॥

सदा सर्व दाता सदा सर्व कर्त्ता,
सदा सर्व रूपा कहै वेद बानी।
अनादी अनंता कहावै अनंता,
नियंता सबै लोक की लोक रानी।
हरी संभु ब्रह्मा करैं भक्ति जाकी,
धरैं ध्यान जोगी जपैं सिद्ध बानी।
'अनन्यं' भनै जो रहै गोपि रूपा,
कहै जोति वासौं वहै है भवानी ॥३११॥

दोहा

गुपित वहै परगट वहै, निकट वहै अरु दूरि।
श्री भवानि त्रिभुवन बिषै, रही सर्व भरपूरि ॥३१२॥

जो जिहि भांति भजै जहां, ताकौं तहां प्रतच्छ ।
त्रिभुवन ब्यापक सक्ति निज, श्री भवानि सुभ लच्छ ॥३१३॥

श्री भवानि सुभ लच्छिमी, परम उत्तमा जानि ।
ताकौ 'उत्तम चरित' यह, 'अछर अनिन्न' बखानि ॥३१४॥

जो इहि 'उत्तम चरित' कौं, पढ़ै सुनै मन लाइ ।
मनवांछित फल देइ तिहि, श्री भवानि जग माइ ॥३१५॥

१९. साखी

दोहा

श्री गुरु चरन चरन सरोज रज, धरि 'अनन्य' उर सीस।
सर्व सिद्धि सिद्धांत कह, यह उपाय रचि ईस ॥१॥
गुरु ईस्वर ईस्वर सु गुरु, गुरु ईस्वर सम आहि।
कहि 'अनन्य' विवि नैंन जिमि, घटि बढ़ि कहे न जाहि ॥२॥
नैननि अंजन आँजिये, श्री गुरु मूरति ध्यान।
नासहि तम अग्यान कौ, भासहि पूरन ग्यान ॥३॥
इंद्रजाल दीपत जगत, दीपक ग्यान संजोय।
'अछिर' तमासे थकि रहे, और न दुतिया कोय ॥४॥
कहि 'अनन्य' ईस्वर सही, झूठ त्रिगुन तत पाँच।
ज्यों बाजी मिथ्या सबै, बाजीगर वह सांच ॥५॥
साँच एक सिव सक्ति प्रभु, तासु सक्ति सब ठौर।
कहि 'अनन्य' सिद्धांत मत, जानि बृथा मत और ॥६॥
वह निर्गुन सर्गुन वहै, वहै सक्ति सब ठौर।
कहि 'अनन्य' सिव सक्ति बिन, किंचित वस्तु न और ॥७॥
'अछिर' जक्त नानात्व लहि, है सिव सक्ति निदान।
ज्यौं घन बूँद अनंत गनि, धरनि एक पय मान ॥८॥
एक अनेक सुभाव है, श्री सिव सक्ति सरूप।
बीज ब्रच्छ अनुसार मत, जानि 'अनन्य' अनूप ॥९॥
कृत्रिम भक्त औरहि भजे, मध्यम कै हरि भक्ति।
उत्तम जोति सरूप भजि, ग्यानी सब सिव सक्ति ॥१०॥
जानि सबै सिव सक्ति मय, और न दुतिया कोय।
बहु गुरिया इक डोरि गुहि, कहि 'अनन्य' मत जोय ॥११॥
कहि 'अनन्य' सिव सक्ति मत, जानत जाननहार।
मूढ़नि कौं अति गूढ़ यह, अंधन ज्योति अंध्यार ॥१२॥

सुमिर एक सिव सक्ति कहं, कहि 'अनन्य' भ्रम खोय।
सब सिद्धिनि को सिद्ध फल, साधन साधौ सोय ॥१३॥
कहि 'अनन्य' कारज सकल, धीर बुद्धि सहं साध।
भक्ति करत सिव सक्ति की, देर न कर पल आध ॥१४॥
छिनभंगुर देही कही, छिन छिन भजि सिव सक्ति।
कहि 'अनन्य' संसार महं, जीवन कौ फल भक्ति ॥१५॥
भक्ति करत धर्मंहि धरत, ते जीवत जग माहिं।
और सु जीवत ही मरे, जुग जुग जिये तो काहि ॥१६॥
कहि 'अनन्य' संसार की, अलप बुद्धि अनरीति।
ईस्वर कौं धोखौ करै, भूतन की परतीति ॥१७॥
भूत मिठाई जान जग, संपति सुख परिवार।
कहि 'अनन्य' साँची सदा, नाम सदा सिव सार ॥१८॥
सुमिर सदा सिव नाम नित, सदानंद भरपूर।
कहि 'अनन्य' संसार महं, यहै संजीवन मूर ॥१९॥

सोरठा

प्रान सजीवन मूर, भक्ति एक सिव सक्ति की।
कहि 'अनन्य' सुख पूर, मिलहि सु पूरन पुन्य तैं ॥२०॥

दोहा

कहि 'अनन्य' निज भक्ति तैं, प्रगट सदासिव हाल।
ज्यौं मथिये जब जतन कर, कढ़व ज्वाल ततकाल ॥२१॥
कहि 'अनन्य' गुरु ग्यान तैं, नसहि तिमिर भ्रम कूप।
तब सूझे अंतहकरन, सुद्ध सदासिव रूप ॥२२॥
सुद्ध सदासिव रूप तैं, तीन रूप गुन भिन्न।
भव संकर हरि नाम इमि, करतुत भेद 'अनिन्न' ॥२३॥
भव उतपति भव की करत, संकर रच्छन हार।
हर संघारत प्रलय जग, सिव जिहि कर्म अधार ॥२४॥
आदि त्रिगुन करतार ये, भव संकर हर भेद।
ब्रह्म बिष्नु रुद्रादि इत, बरनत महिमन बेद ॥२५॥

महिमन महिमा संभु की, जौलौं सुनै न गूढ़।
तौलौं निज सिव सक्ति कौ, मारग लहै न मूढ़ ॥२६॥

मूढ़ मनुष्य लहै कहा, श्री सिव सक्ति प्रमान।
कहि 'अनन्य' जिमि मैल कौ, मानिक मर्म न जान ॥२७॥

नर गरीब जानहि कहा, महादेव कौ मर्म।
कहि 'अनन्य' बिधि बिष्नु कै, भयौ बार बहु भर्म ॥२८॥

ब्रह्म भर्म आये गगन, बिष्नु पताल भ्रमाय।
समुझि भजै ईस्वर चरन, जब कछु और न आय ॥२९॥

भरम करत भरमै बढ़ै, कहि 'अनन्य' सत बात।
भजत ईस्वरी ईस्वरहि, सकल भर्म भजि जात ॥३०॥

और सकल साधन करत, सिद्धि मरू करि होत।
भजत ईस्वरी ईस्वरहि, सहज समस्त उदोत ॥३१॥

भजत ईस्वरी ईस्वरहि, जे जन इष्ट उपास।
मुक्ति भुक्ति सब सक्ति फल, लहि 'अनन्य' अनयास ॥३२॥

एक सुरनि भजि मुक्ति फल, एकनि भुक्ति बखान।
कहि 'अनन्य' सिव सक्ति प्रभु, मुक्ति भुक्ति सब दान ॥३३॥

अंड न अम्रत फल फलै, जो सेवहु जुग चारि।
छुद्र देव तैं कह सरै, बिन ईस्वर ब्रत धारि ॥३४॥

जथा फूस कौ तापनौ, नस्वर सुर की सेव।
कहि 'अनन्य' अविचल सदा, नाम सदासिव लेव ॥३५॥

नाम सदासिव नाथ कौ, जान सदा सुखकारि।
कहि 'अनन्य' फल चारि कर, हरन सोक भय भारि ॥३६॥

राम राम त्रेताहि तैं, द्वापर कृष्न मुरारि।
सदा सदासिव नाम सुनि, चार बेद जुग चारि ॥३७॥

कह सतजुग महं सत भये, कह कलिजुग महं पाप।
'अछर' भलौ जुग काल फल, जबहि समुझिये आप ॥३८॥

समुझि यहै गुरु ग्यान तें, जान मूल सिव सक्ति।
तजि सब भर्म 'अनन्य' भनि, करिये केवल भक्ति ॥३९॥

सोरठा

सार एक गुरु भक्ति, अरु करिबौ दुर्बल दया।
भजन इष्ट सिव सक्ति, कहि 'अनन्य' सत मत यहै ॥४०॥

दोहा

प्रीति बिना परिचय नहीं, बिन परिचय परतीति।
बिन परतीति न प्रभु मिलन, कहि 'अनन्य' निज रीति ॥४१॥

रसना रटि गुरु सब्द सुभ, हृदय ध्यान सिव सक्ति।
सर्व बिषय समता सदा, कहि 'अनन्य' निज भक्ति ॥४२॥

चित्त वृत्ति अवरोधि कै, सोधि सरीर प्रयोग।
मन मिलिबै सिव सक्ति महं, कहि 'अनन्य' निज योग ॥४३॥

जानहि सब सिव सक्ति मय, मानहि भेद न आन।
सहज दसा इच्छारहित, कहि 'अनन्य' निज ग्यान ॥४४॥

निरबन्धन निर्मोह मन, बिषय बासना त्याग।
राग दोष दुख सुख रहित, कहि 'अनन्य' बैराग ॥४५॥

भुक्ति मुक्ति परजन्त लौं, राखहि कछू न आस।
कर्म भर्म नासहि सबै, कहि 'अनन्य' सन्यास ॥४६॥

सेवा गुरु सन्यास की, प्रतिपालन परिवार।
धर्म दया सुबिसेष कै, कहि 'अनन्य' ग्रह चार ॥४७॥

कहि 'अनन्य' संसार महं, सार एक गुरु भक्ति।
सकल धर्म या सहं सधत, सहज मिलत सिव सक्ति ॥४८॥

दरसत ही नासत तिमिर, भानुहि कष्ट न होत।
कहि 'अनन्य' गुरु भक्ति तें, इमि निज ग्यान उदोत ॥४९॥

कोटि दीप नासहि न निसि, जौ लगि उदित न भान।
भ्रम न मिटै बहु धर्म करि, कहि 'अनन्य' बिन ग्यान ॥५०॥

कहि 'अनन्य' निज ग्यान को, कारन गुरु सतसंग ।
बिन साधन सिद्धांत लहि, गंग मिलत जल गंग ॥५१॥

कहि 'अनन्य' प्रभु आपु महं, ज्यों चकमक महं आग ।
बिन साधें गुरु सबद के, कबहूँ उठत न जाग ॥५२॥

नैन अंध त्रिभुवन लखै, सुनै बधिर मन भेद ।
गुरु परताप 'अनन्य' भनि, मूक पढ़ै मुख बेद ॥५३॥

बेद सास्त्र सुर गुरु मतै, अनुभव आपु बिचार ।
सर्व मूल सिव सक्ति प्रभु, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५४॥

कहि 'अनन्य' आकास महं, द्वै ससि भये न होय ।
बाल दृष्टि द्वै देखिये, त्यौं सिव सक्ति सु दोय ॥५५॥

एक दोय कहि जात नहिं, गुपित प्रमात प्रमान ।
आदि अनादि 'अनन्य' भनि, पारबती भगवान ॥५६॥

पारबती भगवान की, भक्ति करौ भ्रम खोय ।
मनसा वाचा कर्मना, और न दुतिया कोय ॥५७॥

दुतिय नहीं सिव सक्ति पर, कहि 'अनन्य' सचु पाय ।
नाना भेद कथा बरनि, मूढ़ दिये भरमाय ॥५८॥

मूढ़ भ्रमाये ब्यास ने, कहि बहु मत बहु ग्रंथ ।
आपु मिले सिव सक्ति कौ, औरनि औरै पंथ ॥५९॥

सोरठा

पंथ बिबिध संसार, आपु आपु मत धर लिये ।
बिना बेद निरधार, ते कुपंथ सब जानिये ॥६०॥

दोहा

सब रस कौ रस भक्ति रस, सरस सदासिव ध्यान ।
और सकल रस कस जथा, कहि 'अनन्य' परवान ॥६१॥

राजनीति की रीति करि, जोग जुगति परवान ।
अरि इंद्री बस करि प्रबल, जोर सु ग्यान खजान ॥६२॥

सिव रस कौ चसकौ न जिहि, बिषय बिसन रसधार ।
कहि 'अनन्य' मृदु बूटि तजि, ऊंटहि ऊंटकटार ॥६३॥

नाम रतन आनंद जल, प्रेम लहरि अनुराग ।
सुख सागर सिव सक्ति जप, यह भक्तनि बड़ भाग ॥६४॥

जोग बराबर राज नहिं, राज बराबर मर्म ।
त्याग बराबर सुख नहीं, कहि 'अनन्य' निज धर्म ॥६५॥

त्याग धर्म बैराग जत, जप तप संयम ध्यान ।
साधन इतरि 'अनन्य' भनि, सिद्ध पदारथ ग्यान ॥६६॥

साधु भेष सबई भले, गुरु बानौ पहिचान ।
जे चीन्हत सिव सक्ति तत, ते बिरले जन जान ॥६७॥

अपने अपने भेष कौं, बड़ौ कहत सब भक्त ।
बड़ौ सु जानि 'अनन्य' भनि, भेष अभेष बिरक्त ॥६८॥

भेषहि मानत भेषुआ, ते अबिबेकी अग्य ।
भेष अभेषनि टेक धरि, ते 'अनन्य' सरवग्य ॥६९॥

कहि 'अनन्य' सरवग्य जे, तिनकै मान न मान ।
बंधे मान ही मान सौं, मूरख लोग अजान ॥७०॥

मद के मारे सब मरे, मदहि न मारत कोय ।
जो मद कौ मर्दन करै, कहि 'अनन्य' गुरु सोय ॥७१॥

कहि 'अनन्य' निज ग्यान महं, अहंकार नहिं लेख ।
अहंकार मय ग्यान है, सो अग्यान बिसेष ॥७२॥

नहीं गर्व नहिं दीनता, नहीं मान अपमान ।
कहि 'अनन्य' सहजी दसा, यहै ग्यान परवान ॥७३॥

सब उपजै सिव सक्ति तैं, सब सिव सक्तिहि माहिं ।
जे चीन्हत सिव सक्ति कहं, ते बिरले जन आहिं ॥७४॥

चीन्हन कों सिव सक्ति पद, नर की हाजत नाहिं ।
नारायन ब्रह्मादि सुर, तिन संसौ मन माहिं ॥७५॥

जिनके मन अभिमान है, तिनिके संसय भर्म।
कहि 'अनन्य' गुरु भक्ति तैं, मिटै तिमिर लहि मर्म ॥७६॥

सरसन कौं गुरु रूप सिव, परसन कौं गुरु पाँय।
चीन्हन कौं गुरु सब्द तत, कहि 'अनन्य' समुझाय ॥७७॥

कुटिल सब्द गुरुदेव के, परम संजीवन मूर।
ठग लबार पर सब्द मृदु, कहि 'अनन्य' बिष पूर ॥७८॥

रस लुढ़कावहु लै बिरस, रस बासन रस दान।
कहि 'अनन्य' गुरु ग्यान धन, कोप कृपा कृत ग्यान ॥७९॥

सोरठा

सत गुरु ग्यान निधान, परिपूरन आनंदघन।
नाम गुरू भगवान, छ गुनवान भगवान प्रभु ॥८०॥

दोहा

बिद्याबिद्या गति अगति, उतपति प्रलय प्रमान।
कहि 'अनन्य' षट गुन बिदित, जान गुरू भगवान ॥८१॥

धर्म प्रभाव बिभूति जस, ग्यान बिराग निदान।
कहि 'अनन्य' षट गुन करन, महादेव भगवान ॥८२॥

महादेव गुरुदेव सम, नाम अर्थ निज जान।
और देव इन पर नहीं, कहि 'अनन्य' परवान ॥८३॥

सम दृष्टी सरवग्य सब, आसंका निरवार।
कहि 'अनन्य' इमि लक्ष्य लहि, सत गुरु करहु बिचार ॥८४॥

अग्याकारी भक्ति दृढ़, सील सुहृद मति दिष्य।
कहि 'अनन्य' इमि लक्ष्य लहि, करहु बिचक्षन सिष्य ॥८५॥

सिष्य सुहृद मति बुधि मिलै, ग्यानवंत गुरु होय।
साधक सिद्ध 'अनन्य' भनि, परम सिद्धि लहि दोय ॥८६॥

ग्यानवंत गुरु कह करै, सिष्य सुहृद जो नाहिं।
कहा कुखेत किसान बपु, बये बीज नसि जाहिं ॥८७॥

ग्यानी गुरु तहँ सिष्य सठ, सिष्य सुहृद गुरु मूढ़।
कहि 'अनन्य' सत पंथ थकि, कलि कुचाल गुन गूढ़ ॥८८॥

सुहृद बुद्धि जे मानवा, लहत सबद कौ भेद।
सुतरी भेदी चर्म महं, भयौ जन्म कहं छेद ॥८९॥

मध्यम जीवन हृदय में, सब्द न भेद रहाइ।
बिंधी सुतारनि बन्द में, काढ़त ही पुर जाय ॥९०॥

'अछर' सब्द सर ना भिदै, कुहृदन कौ हृद फूटि।
पथरा जड़ भिदहै नहीं, जाहि सुतारी टूटि ॥९१॥

'अछर' सुहृद मति संचरै, डारै कुहृद बिगोय।
ज्यौं सुरभी तृन पय करै, पय अहि मुख बिष होय ॥९२॥

देह बुद्धि सुधि देह लौं, जोव बुद्धि उनमान।
ब्रह्म बुद्धि सरवग्यता, कहि 'अनन्य' परवान ॥९३॥

जक्त मिलै तन मुक्त मन, पुरइन पत्र प्रमान।
सर्व कर्म निहकर्म करि, ते नर साधु सुजान ॥९४॥

स्वारथ परमारथ करै, पालै ग्रह बन कर्म।
साधि लोक परलोक दुव, ये पुरुषारथ धर्म ॥९५॥

एक पुरुष परमारथी, एक स्वारथी गूढ़।
इक स्वारथि परमारथिक, एक अकारथ मूढ़ ॥९६॥

सुख में नहिं भूलै गरब, दुख में नहिं लचि जाय।
सदा सदासिव सक्ति ब्रत, महापुरुष सो आय ॥९७॥

नारि धर्म निज पुरुष ब्रत, पुरुष धर्म गुरु भक्ति।
सर्व धर्म केवल दया, अरु सुमिरन सिव सक्ति ॥९८॥

बड़ौ धर्म मरजाद गुरु, ज्यौं घट नीर तपाय।
सो फूटै बिगरै सुक्रम, कहि 'अनन्य' समुझाय ॥९९॥

सोरठा

कहि 'अनन्य' समुझाय, आन धर्म करिये न नर।
बाघ चर्म धरि काय, कुटवायौ खर खेत पर ॥१००॥

दोहा

बेद पढ़ैं नहि भेद लहि, सत्य न धर्म न त्याग।
कहि 'अनन्य' बिद्या सु धिक, बकत ब्रथा जिमि काग ॥१०१॥

ग्यान अगिनि ईन्धन करम, होम बासना जग्य।
कहि 'अनन्य' पर ब्रम्ह रत, ते ब्रह्मन सरवग्य ॥१०२॥

जन सरवग्य 'अनन्य' भनि, तिनि कह घर बन सुक्ख।
घरहू बन जन अग्य कहं, जहाँ जाय तहं दुःख ॥१०३॥

घर ही बिन घर छावहीं, घरी घरी तिनि पाप।
तजि बनिता बन तप करै, तिनि के निरफल ताप ॥१०४॥

कामिनि तजै न कामनहिं, तजै काम नहि गूढ़।
कामिनि तजि सज कामना, नर्क परत ते मूढ़ ॥१०५॥

चंग गगन नर डोरि कर, जब खैंचहि तब इत्त।
ऐसौ ग्रह त्यागन ब्रथा, बंध्यौ बासना चित्त ॥१०६॥

बसन बिसारहि बासना, असन आस तजि और।
सात्विक तपसि 'अनन्य' भनि, सहज सिद्ध सिरमौर ॥१०७॥

कहा तजै कह संग्रहै, कहा रहै कह जाय।
कहि 'अनन्य' सरवग्य मत, बिचरत सहज सुभाय ॥१०८॥

कहि 'अनन्य' घर बन कहा, कहा पुन्य कह पाप।
ब्रथा अबिद्या भेद सब, मानि लिये की थाप ॥१०९॥

को उत्तम को नीच पुनि, कौन पुरुष को नारि।
सब सिव सक्ति 'अनन्य' भनि, आतम तत्त निहारि ॥११०॥

कहि 'अनन्य' किहि मारिये, काहि राखिये सर्न।
सर्बातम सिव सक्ति लहि, तिहितैं समता कर्न ॥१११॥

सब समता नमता गुरुहि, छमता सर्व प्रकार।
मन दमता रमता सिवसि, कहि 'अनन्य' मत सार ॥११२॥

सार यहै संसार महं, केवल आतम ग्यान।
कहि 'अनन्य' करिबै सदा, मूल सदासिव ध्यान ॥११३॥

ध्यान सदासिव नाथ कौ, करि 'अनन्य' मन लाय।
चारि पदारथ सात सुख, मिलत सहज ही आय ॥११४॥

मिलत सकल जल सिंधु महं, बिन उद्यम बिन चाह।
त्यौं सिव सक्ति सु भक्ति तैं, भुक्ति मुक्ति सब दाह ॥११५॥

भुक्ति मुक्ति की आस कह, भक्ति पदारथ पाय।
'अछर' कनक टोटौ कहा, जो पारस करि आय ॥११६॥

भुक्ति मुक्ति हित भक्ति नहिं, यह मजूर की रीति।
भक्ति 'अछर' इच्छारहित, सहित प्रेम प्रभु प्रीति ॥११७॥

जेती जाकैं चाहना, तेते ताकैं दुःख।
कहि 'अनन्य' अन चाहना, तहां अखंडित सुक्ख ॥११८॥

सुख सागर सिव सक्ति पद, दुख सागर जग जाल।
'अछर' ग्यान सागर गुरू, गुन सागर गुरु बाल ॥११९॥

सोरठा

केवल भक्ति अनन्य, निज सिद्धांत 'अनन्य' के।
दुबिधा नजर न अन्य, जान सकल सिव सक्ति मय ॥१२०॥

दोहा

बालहिं जो सुख पय पियैं, सु न पय पूरि जनिन्न।
'अछर' न जो सुख ईस्वरहि, सो सुख भक्ति अनिन्न ॥१२१॥

'अछर' प्रथम सुभ कर्म करि, प्रगट होत हरि भक्ति।
होय ग्यान हरि भक्ति करि, तब चीन्हें सिव सक्ति ॥१२२॥

सक्ति बिना सिव होत नहिं, सिव बिन सक्ति न होति।
'अछर' जुगल मिश्रित सदा, ज्यों हीरा महं जोति ॥१२३॥

सिव बिन सक्ति न संभवै, सक्ति बिना सिव थोर।
निसि बिन ससि फीकौ निरस, ससि बिन निसि अति घोर ॥१२४॥

तन महं मन मन माहिं बुधि, बुधि महं जीव अनूप।
जीव माहिं सिव है 'अछर', सिव महं सक्ति सरूप ॥१२५॥

परिपूरन सिव सक्ति प्रभु, गगन पवनवत पूर ।
'अछर' दूर अग्यान कहं, ग्यानिनि हाल हुजूर ॥१२६॥

आपुहि महं सिव सक्ति प्रभु, भरमत मूढ़ सवत्र ।
कहि 'अनन्य' मृग नाभि रस, ढूंढ़त तृन बन पत्र ॥१२७॥

जद्यपि ईस्वर आपु महं, गुरु बिन दुर्लभ दूर ।
दीपक बिन पावै कहा, सदन संजीवन मूर ॥१२८॥

अगम निगम कौ गम न जहं, अगम रूप सिव सक्ति ।
सुगम सुभग गुरु गम्यते, 'अछर' अखंडित भक्ति ॥१२९॥

और भक्ति खंडित सकल, जप तप संयम ध्यान ।
पूरनता सिव सक्ति लहि, 'अछर' अखंडित ग्यान ॥१३०॥

बिन अनुपान न औषधी, बिन गुरुभक्ति न ग्यान ।
ग्यान बिना सिव सक्ति कौ, 'अछर' न आवहि ध्यान ॥१३१॥

जहां ध्यान तहं प्रेम है, जहाँ प्रेम तहं ध्यान ।
प्रेम ध्यान संयुत सदा, कहि 'अनन्य' परवान ॥१३२॥

जहां प्रेम तहं नैम नहिं, नैम तैं प्रेम न आइ ।
'अछर' प्रेम रस मगन तें, सहज नैम नसि जाइ ॥१३३॥

सब रस कौ रस प्रेम है, कहि 'अनन्य' परवान ।
यह रस ता रसिकहि मिलै, जा महं पूरन ग्यान ॥१३४॥

प्रेम न जानहि रोइबौ, नहीं गाइबौ गीत ।
प्रेम दसा कछु और है, जो रस मते अतीत ॥१३५॥

अतित न जानहु भेष सौं, नहीं बसै बन दूर ।
'अछर अनिन्न' अतीत सो, जो अनुभव भरपूर ॥१३६॥

अनुभव कहियत ग्यान सौं, ग्यान सूझ पद थाप ।
सुज्झ सुद्ध सिव रूप लहि, जानि सिवातम आप ॥१३७॥

आपु खोज बिन भ्रम सकल, अमित ईस सब माहिं ।
'अछर' पवन घट पाइये, जो सरवत्र तौ काहि ॥१३८॥

पवन बहत सर्वत्र जिमि, सबत न्यारो न्यान।
यौं ईस्वर निर्गुन सगुन, कहि 'अनन्य' परवान ॥१३९॥

सोरठा

गुरु ईस्वर इक रोति, परमारथ करतुत अकर।
कहि 'अनन्य' चित चीति, अविगत विवि प्रभुता सही ॥१४०॥

दोहा

ज्यों ईस्वर निर्गुन सगुन, अकर करन गुन रुद्र।
कर्म करै न्यारे रहै, त्यौं गुरु ग्यान समुद्र ॥१४१॥

अगिनि बंध दस बोस पुट, जारि सु न्यारी न्यान।
'अछर' करम बन्धन जरहिं, मुक्ति तथा गुरु ग्यान ॥१४२॥

मुक्ति नाम निरबन्ध पद, मुक्ति भाग अनसोक।
'अछर' जासु उपहास जग, तासु नरक नरलोक ॥१४३॥

महिमह मुक्ति महा यहै, जो मन होय असोक।
परबस परि बसिबौ 'अछर', महा नरक नरलोक ॥१४४॥

निरभय जन सिव सक्ति कौ, सोच न रंचक लेख।
जीवन मुक्त यहै 'अछर', और मुक्ति किहि देख ॥१४५॥

मुक्ति द्वार प्रतिहार निज, संगत साधु पवित्र।
महा नरक के पौरिया, कहि 'अनन्य' सठ मित्र ॥१४६॥

'अछर' नहीं सुख स्वर्ग लहि, जो सतसंग लसंत।
तिह तैं बन बसिबौ भलौ, जहं मृग बाघ बसंत ॥१४७॥

गिरि तैं गिर परिबौ भलौ, जरिबौ ज्वालहु अंग।
करिबौ 'अछर' न भूलिहू, मूरख सौं सतसंग ॥१४८॥

धरौ ब्याल मुंह जाय के, परौ ब्याल मुख जाय।
करौ न संगति ब्याल की, कहि 'अनन्य' समुझाय ॥१४९॥

मन मारे बिन भक्ति नहिं, तर्क बिना नहिं त्याग।
'अछर' न्यान दुख जानिबौ, ग्यान बिना बैराग ॥१५०॥

तप बैराग न ग्यान पर, नहीं दया पर धर्म ।
महादेव पर देव नहिं, 'अछर' कही लहि मर्म ॥१५१॥
साधक और न बिष्नु से, सिव से और न सिद्ध ।
मत न और सिव सक्ति से, 'अछर' न गुरु से प्रद्ध ॥१५२॥
विद्या सम नहिं आन धन, सांत समान न साधु ।
प्रीति समान न भक्ति विय, ता युत संभु अराध ॥१५३॥
मन सुसील संतोष वृति, बचन सत्य सिव जाप ।
कर्म सुकर्म बिचारि चल, 'अछर' सहज यह ताप ॥१५४॥
जोग सधै परलोक पद, लोक बनिज कृषि भूप ।
'अछर' लोक परलोक सुख, भज सिव सक्ति अनूप ॥१५५॥
जोग जग्य तप ब्रत थके, कलि महं सकल इलाज ।
कहि 'अनन्य' भव सिन्धु महं, केवल भक्ति जहाज ॥१५६॥
भक्ति एक सिव सक्ति की, भव निज तरन जहाज ।
'अछर' आन मत फेन ज्यौं, पकरें सरै न काज ॥१५७॥
ज्यौं सब मत सिव सक्ति के, सर्व धर्म मय जान ।
त्यौं 'अनन्य' कृत अन्य मत, आपु धर्म परिवान ॥१५८॥
आपु धर्म उद्दित सदा, जो सत गुरु उपदेस ।
आन धर्म जद्दपि बड़ौ, तऊ अधर्म प्रवेस ॥१५९॥

सोरठा

धर्महु मांझ अधर्म, कहि 'अनन्य' अनरीति तैं ।
बिरले जानत मर्म, पाप पुन्य सूछम सुगति ॥१६०॥

दोहा

मूरख संगति परधरम, लोभ कुबोल बखान ।
'अछर' देन परप्रान दुख, पाप पंच परवान ॥१६१॥
सत संगति संतोष सत, चलन बेद मरजाद ।
चारि चरन ये धरम के, 'अछर' और बकवाद ॥१६२॥

बादहि ते षट सास्त्र हठि, बादहि भेष अनेक ।
'अछर' ग्यान निर्बाद है, सर्व धर्म सिव एक ॥१६३॥

बिप्र बेद रत दान नृप, बैस्य सत्य जन सूद्र ।
अन्त्यज गुरु सेवा धरम, सत गुरु ग्यान समुद्र ॥१६४॥

लोभ आँधि नहिं जे उड़हिं, बुड़हि न मोह समुद्र ।
क्रोध ज्वाल नहिं जे जरहिं, ते 'अनन्य' गुरु रुद्र ॥१६५॥

पवन बहत सम सर्व महं, बंधत काहु महं नाहिं ।
कहि 'अनन्य' निरबंध गुरु, यौं बिहरै जग माहिं ॥१६६॥

मन महं एक अनेक सुख, मन प्रयोग तन भोग ।
मन निर्गुन तन गुन रचौ, यौं बिहरन जग जोग ॥१६७॥

मन बस राखै सदन बसि, धन लसि कै चित ठौर ।
उर राखैं सिव सक्ति पद, 'अछर' सु नर सिरमौर ॥१६८॥

संतोषीति सदा सुखी, दुखी लुबध तिहुं काल ।
'अछर' जथा गज थान सुख, घर घर स्वान बिहाल ॥१६९॥

तन बिहाल जल अन्न बिन, धन बिन कुल परिवार ।
कहि 'अनन्य' इमि ग्यान बिन, अतित बिहाल निहार ॥१७०॥

मन न दिगम्बर जो भयौ, कहा दिगम्बर काय ।
कहि 'अनन्य' बन भील ज्यौं, क्यों न तत्त पद पाय ॥१७१॥

मन बस करिये जतन सौं, तन करिये नहिं कष्ट ।
'अछर' उरग गहि मंत्र वर, कत बाँबी कर नष्ट ॥१७२॥

सपन एक द्विज बामरत, लटकि गिर्यौ इत कूप ।
कहि 'अनन्य' जग सपन यह, सो प्रतच्छ दुख रूप ॥१७३॥

बिना भक्ति सिव सक्ति की, जग सुख न्यान असार ।
सपन कवारी चक्कवे, जागत वहै कवार ॥१७४॥

कहि 'अनन्य' जग झूठ लहि, गहि मन ग्यान विरक्ति ।
लहि ऊपर लीला जगत, भज केवल सिव सक्ति ॥१७५॥

'अछर' बिचरिये जगत महं, अपनौ बरन छिपाय।
ज्यौं पनही सिर धर बचै, सरनन में नृपराय ॥१७६॥

जे गुन बैरी भक्त के, जक्त महा सुख सोय।
'अछर' परस्पर तियहि को, प्रीति कौन बिधि होय ॥१७७॥

प्रीति बैर करिये नहीं, सब सम दृष्टि निहार।
कहि 'अनन्य' खीरा मिलन, चलन लोक बिवहार ॥१७८॥

लोक बैरि सहं दूरि कह, कह पुनि पद करि प्रीति।
तिहि तैं ये दुअ छांड़ि कै, लहि 'अनन्य' सम रीति ॥१७९॥

सोरठा

यह 'अनन्य' सिख देत, जद्दपि बिगरै जगत सौं।
पारवती पति हेत, तद्दपि कबहुँ न छांड़िये ॥१८०॥

दोहा

सहि संकट अरु दुःख बहु, अनह अनादर लोग।
तज न भक्ति सिव सक्ति पद, कहि 'अनन्य' सत जोग ॥१८१॥

कहि 'अनन्य' करिहै कहा, जम्बुक जगत रिसाइ।
सदा दाहिनी चाहिये, सिंघबाहिनी माइ ॥१८२॥

'अछर' सोच करिये न कछु, संभु भजन मन लाय।
सब बिधि बिस्व निबाहिनी, सिंघबाहिनी माय ॥१८३॥

एक निबाहत लोक में, एक प्रलोक सहाय।
लोक प्रलोक निबाहिनी, सिंघबाहिनी माय ॥१८४॥

रच्छा करी मुरारि की, घट ही तैं कढ़ि धाय।
प्रबल असुर सुर संघर्‌यौ, सिंघबाहिनी माय ॥१८५॥

सब ही के घट में बसै, चेतनता सिव सक्ति।
प्रगटति समै, 'अनन्य' भनि, जहाँ निरंतर भक्ति ॥१८६॥

और धर्म सब कर्म हैं, बंधन जीव विचार।
भक्ति बराबर मत नहीं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१८७॥

पाप पुन्य बंधन दुवो, कनक लोह की बेरि।
सींव बिछुर इन जीव सब, स्वर्ग नर्क दिय घेरि ॥१८८॥

स्वर्गहि को पुनि सुख कहा, बिना भक्ति सुख लोन।
कहि 'अनन्य' बिन निधि न सुख, ज्यौं थल जल बिन मीन ॥१८९॥

सुख कहं धावत बिमुख नर, दुख पावत जहं जात।
'अछर' संभु जन सुख तजत, सुख न तजत तिन गात ॥१९०॥

अबन बनावत बनक करि, करत तनक तैं मेर।
भजि 'अनन्य' संकर सुभग, संकट कटत न झेर ॥१९१॥

अगिनि उबारे काल तैं, जम सापहुं तैं सेष।
को न उबार्यौ सरन लहि, समरथ गौरि महेस ॥१९२॥

गौरि गरीब निवाजिनी, संभु गरीब निवाज।
आवत सरन गरीब कहं, करत सबनि सिरताज ॥१९३॥

अगिनि काल डर सरन लिय, जननि चीन्ह तिहुं ठौंर।
अमर कर्यौ श्री पार्वती, थपे सर्व सिरमौर ॥१९४॥

बाप डरनि बनवास लिय, महा दीन द्विजबाल।
कियो कुबेर 'अनन्य' भनि, संकर दीन दयाल ॥१९५॥

बाप बैर हित सत्रु डर, परसुराम किय भक्ति।
नर तैं परमेस्वर करे, कृपासिन्धु सिव सक्ति ॥१९६॥

बनोबास रिपु तिय हरी, करी सेव रघुबीर।
बिपति हरी तिनकी तुरत, संभु हरन परपीर ॥१९७॥

हरन पीर सब सुख करन, सब लायक सिव सक्ति।
तिहि कहं तिहि बिधि देत पद, जिहि के जिहि बिधि भक्ति ॥१९८॥

भक्ति करत सिव सक्ति की, सहज दूर दुख होत।
कहि 'अनन्य' भाजत तिमिर, जिमि ससि सूर उदोत ॥१९९॥

सोरठा

लहि उदोत ससि सूर, सुख प्रकास पाछै तिमिर।
ग्यान जोति गुरु पूर, सर्वत सर्व प्रकास कर ॥२००॥

दोहा

नातौ करिये कौन सौं, कासौं करिये बैर ।
'अछर' साथ सब हाट कौ, घाट बाट कौ घेर ॥२०१॥

नातौ नेह निबाहिये, गुरु साधुनि सौं नित्त ।
'अछर' लोक परलोक कौ, और न दुतिया मित्त ॥२०२॥

पंडित पुनि बैरी भलौ, मूरख भलौ न यार ।
नृप बानर द्विज चोर की, कथा 'अनन्य' बिचार ॥२०३॥

मूढ़ मित्र तिय आनरत, ज्वारी बंधु कुमार ।
कहि 'अनन्य' इन चार तैं, ईस्वर रच्छनहार ॥२०४॥

पवन अगिनि जल अन्न त्रन, जथा झोंकनो भार ।
रंचक तन रच्छत तहां, कहि 'अनन्य' करतार ॥२०५॥

जागत नर आयुध सजत, सोवत खबर न काइ ।
रच्छति तहं छल ब्याल तैं, जोगमाइ जग माइ ॥२०६॥

रच्छनहार सदा वहै, तिहूँ काल सुन मित्त ।
सिव सिव सिव कहिबौ करौ, रहिबौ करौ सुचित्त ॥२०७॥

सिव सिव कहत 'अनन्य' भनि, रहत न पाप बिकार ।
जथा गजत मृगराज के, भजत कपूत सियार ॥२०८॥

सिव सिव कहत 'अनन्य' मुख, हँसत बिमुख यहि बात ।
ज्यों कौवा हंसनि हँसत, आप नर्क भख खात ॥२०९॥

कहि 'अनन्य' संतनि हँसत, तिनही कहं यह जान ।
छार डारि जिमि चन्द पर, परत आपु मुख आन ॥२१०॥

दस दिन खल हाँसी करैं, न्यान रहैं झख मार ।
कहि 'अनन्य' सत पुरुष कौ, सुजस सकत को टार ॥२११॥

नर की गति घर कुटुंब लौं, देसहि लौं नरपाल ।
कहि 'अनन्य' गति भक्त की, तीन लोक तिहुं काल ॥२१२॥

आन अमर की रति नदी, सिव जस सिंधु अपार ।
'अछर' मछर तामहं करैं, अनुदिन बिमल बिहार ॥२१३॥

जस न आन सिव सक्ति सम, रस न भक्ति सम और।
बिष न दुतिय गुरु बिमुख सौ, कहि 'अनन्य' सब ठौर ॥२१४॥

परम धाम पर धाम नहिं, महादेव पर देव।
नहीं भक्ति पर और पद, कहि 'अनन्य' निज भेव ॥२१५॥

आदि अन्त जाको नहीं, आदि अन्त गति जोइ।
महादेव जासहं कहत, महादेव है सोइ ॥२१६॥

पंच तत्व गुन तीन नहिं, मायहि लिपत न होय।
कहि 'अनन्य' अबिचल सदा, नाम सदासिव सोय ॥२१७॥

सुख सागर सिव सक्ति भज, तज बिषाद भ्रम और।
बिहर 'अनन्य' जहान में, निरदावा सब ठौर ॥२१८॥

वह ईस्वर सब ठौर है, पल पल प्रगट प्रतच्छ।
कहि 'अनन्य' रबि कह करै, अरुवा लहै न अच्छ ॥२१९॥

सोरठा

अक्षि न समुझहि संभु, पापनि के पट्टे लगे।
देख 'अनन्य' अचंभु, आपुन भूल्यौ आपु कौं ॥२२०॥

दोहा

कहा नगर कह बन बसैं, कहा प्रवृत्ति निवृत्ति।
कहि 'अनन्य' थिर चाहिये, एक चित्त की वृत्ति ॥२२१॥

भौन त्याग बैराग धरि, अरु फिर धावन भौन।
उभय भ्रष्ट ते मानवा, कहि 'अनन्य' फल कौन ॥२२२॥

कहा करैं बिवहार के, उदर दंड बिधि जौन।
लोभ छुधा मन की न मरि, कहि 'अनन्य' फल कौन ॥२२३॥

लोभिनि त्रिपित न कै सकै, संतोषिनि तृन हेर।
कहि 'अनन्य' किहि काम [कौ, कंचन अचल सुमेर ॥२२४॥

कृपन संचि धन मारि मन, आपुन खाय न देइ।
कहि 'अनन्य' मधुमच्छि जिमि, छार डार कोउ लेइ ॥२२५॥

ज्यौं बरसत करसत रहै, परमारथ हित भानु ।
कहि 'अनन्य' इमि जोर धन, समय साधु कृत दान ॥२२६॥
समय न कबहूँ चूकिये, दान सत्य समान ।
कहां न अन्न 'अनन्य' भनि, रहत अहार कहां न ॥२२७॥
कहि 'अनन्य' मति राखिये, संपति बिपति समान ।
घटत बढ़त जिमि चन्द्रमा, इमि सुख दुःख प्रमान ॥२२८॥
जिमि घन बरसत सकल पर, बिप्र चमार न जान ।
कहि 'अनन्य' इहि बिधि सती, सर्व दया सनमान ॥२२९॥
जिमि पावक भच्छै सकल, भक्ष अभक्ष न स्वाद ।
कहि 'अनन्य' इहि बिधि जती, भोग न रस अहलाद ॥२३०॥
जिमि महि कहुं लेपन मलय, कहूं करन बर बृष्टि ।
कहि 'अनन्य' दुख सुख न तिहि, इमि सत गुरु सम दृष्टि ॥२३१॥
मातु कटावति पुत्र खत, तन कठोर मन प्रीति ।
कहि 'अनन्य' कसनो निठुर, गुरु ईस्वर इहि रीति ॥२३२॥
गुरु ईस्वर जन कहं कसैं, जगत चलावन रीति ।
राखत कस महं आपुही, सेवक की परतीति ॥२३३॥
देखि परखि राखत सबै, करि कस बिबिध बिसाल ।
गाहक खोटिनि खरिनि के, भोलानाथ कृपाल ॥२३४॥
प्रभु कृपालु उत एक से, ज्यों धरनी परवान ।
जिहि जु बबै सो नीपजै, पलटै बीज न आन ॥२३५॥
प्रभु सिव सक्ति सु एक रस, ज्यौं दर्पन की रीति ।
जो ज्यौं है सो त्यौं लहै, यह मन की परतीति ॥२३६॥
मन बंधै मन बंदि रह, मन छोरै मन छूटि ।
कहि 'अनन्य' मन वृत्ति सब, कह सुत बंधु बधूटि ॥२३७॥
मन कौ धन निसि कौ सुपन, इमि जग की गति जोय ।
सुमिर सदासिव नाम नित, जान सदासिव सोय ॥२३८॥
भजत सदासिव नाम कौं, होत सदासिव आप ।
कहि 'अनन्य' अनभेद पद, दीपक दीप प्रताप ॥२३९॥

सोरठा

दीपक दोप संजोय, चन्दन ढिग चन्दन सुतरु ।
सत संगति गति सोय, कहि 'अनन्य' परवान पद ॥२४०॥

दोहा

चंदन ढिग चन्दन सुतरु, अंड न चन्दन होय ।
कहि 'अनन्य' इमि साधु सँग, दुर्जन साधु न होय ॥२४१॥
दुर्जन साधु सरूप जो, तौ न करौ तस संग ।
कहि 'अनन्य' मनि सीस लहि, निरबिष नहीं भुजंग ॥२४२॥
दुर्जन नर हथियार सम, तिनकौ यहै सुभाय ।
काम परैं सबकौं हनै, गनै न आपु पराव ॥२४३॥
दुर्जन के हित की करै, दुर्जनता के हाव ।
कहि 'अनन्य' दीजै सुफल, सुवना घालै घाव ॥२४४॥
'अछर' कुसंग न कीजिये, बिना दोष यह काल ।
काग बिष्टि किय पथिक मुख, मार्‌यौ गयौ मराल ॥२४५॥
पच्छिनि काग चंडार गुनि, बृच्छ बबूर चंडार ।
पसु चँडार खर जानिबौ, नर चंडार लबार ॥२४६॥
नर लबार की प्रकृति सठ, ग्यान कथै मनु पाप ।
'अछर' पंछि बिधवें बधिक, ओट टटा करि आप ॥२४७॥
हिरन मीन अरु साधु जन, निस्पृह वृति संतुष्ट ।
कहि 'अनन्य' तउ नहिं बचैं, नाहक त्रासत दुष्ट ॥२४८॥
ग्यान न कहिये दुष्ट ढिग, कहि 'अनन्य' समुझाय ।
बया सीख सुख कहं दई, साखामृग दुखदाय ॥२४९॥
दुखमय उद्‌दिम आन धन, प्रापति रच्छन सोग ।
कहि 'अनन्य' तिहुं काल सुख, संकर भक्ति प्रयोग ॥२५०॥
सुखहिं 'अछर' इच्छत सबै, दुखहिं न इच्छत कोय ।
बिना भक्ति सिव सक्ति की, दिन दूनौ दुख होय ॥२५१॥
'अछर' जीव दुख सुख लहत, मानि आपु तन भाव ।
जैसै ज्वाला लोह मिल, सहै घनेरे घाव ॥२५२॥

जनम मरन दुख सुख तथा, घटन बढ़न यहि थाप।
कहि 'अनन्य' षट देह गुन, आतम न्यारौ आप ॥२५३॥

आतम न्यारौ जान इमि, लहि कर्तुति करतार।
जीवन मुक्ति बिबेक यह, कहि 'अनन्य' मत सार ॥२५४॥

कहि 'अनन्य' अप कृत न कछु, करता करै सु होइ।
यहि मानै निरवर्त पद, मानि लिये दुख होइ ॥२५५॥

भली भयें आपुन गरब, बुरी करै भगवान।
कहि 'अनन्य' इहि बात तें, करमनि बँधत अजान ॥२५६॥

भली बुरी बन अबन सब, ईस्वर पर धरि सोइ।
कहि 'अनन्य' तिहि पुरुष कहं, आपद कबहुं न होइ ॥२५७॥

कहि 'अनन्य' सत पुरुष कों, आपद थिर न रहाय।
जैसें गद्दा सूत कौ, पटकि दून बढ़ि जाय ॥२५८॥

कहि 'अनन्य' आपद परै, पापिनि फिर न सम्हार।
जैसे माटी कौ बटा, पटकत ही भयौ छार ॥२५९॥

सोरठा

चिंतामनि श्री गौरि, कलपबृच्छ समरत्थ सिव।
लहि 'अनन्य' इक ठौर, इच्छा तें फल कोटि गुन ॥२६०॥

दोहा

भक्ति करत सिव सक्ति की, तिनहिं न आपद काल।
कहि 'अनन्य' छिन दुख कहा, उर चिंतामनि माल ॥२६१॥

कोटि कलपतरु संपदा; कोटि इन्द्र महराज।
बिन जानै सिव सक्ति पद, कहि 'अनन्य' किहि काज ॥२६२॥

जान न जहं सिव सक्ति कौ, मान न बेद प्रमान।
कहि 'अनन्य' बसिये न तहं, कोटि जुरैं धन धान ॥२६३॥

रहिये नित सत संग में, ज्यों त्यों करि गुदरान।
कोटि मुक्ति सुख है तहां, महादेव गुन गान ॥२६४॥

'अछर अनिन्न' इकंत बसि, सुमिर गौरि गिरिराज।
दृष्टि आपनै इष्ट सौं, कहा सृष्टि सौं काज ॥२६५॥
सृष्टि तमासौ भर्म कौ, कहि 'अनन्य' लहि ताहि।
दारू तरु साखा पुहुप, पाछैं कछू न आहि ॥२६६॥
सृष्टि अबिद्या सुपन पुनि, सुषपति दसा निहार।
कहि 'अनन्य' ईस्वर रचे, महा भरम ये चार ॥२६७॥
चोर नयन ज्वारी बयन, मूरख मित्र कुनारि।
कहि 'अनन्य' बिजुलीहु तैं, अति चंचल ये चारि ॥२६८॥
साधु सती अरु सूर नर, पतिबरता बर नारि।
कहि 'अनन्य' गिरि मेरु तैं, महा धीर ये चारि ॥२६९॥
तीच्छन सर खल मुख बचन, बचैं न गढ़ दुरि लोग।
तिनहिं साधु सनमुख सहैं, कहि 'अनन्य' अनसोग ॥२७०॥
तीच्छन सर गुरु सब्द बर, उरसि भेद भये पार।
ते घाइल अम्मर भये, कहि 'अनन्य' मत सार ॥२७१॥
सतगुरु सब्द उछारियौ, सबही पर इकतूल।
कहि 'अनन्य' बिरले लहत, ज्यौं गदवद की ऊल ॥२७२॥
कोउ भय तैं कोउ चाह तैं, कोउ हित तैं अनुरक्त।
कहि 'अनन्य' संसार महं, त्रिबिधि उपासक भक्त ॥२७३॥
भक्ति बिना गुरु डर नहीं, डर बिन भक्ति न होइ।
भक्ति करै गुरु डर लियैं, कहि 'अनन्य' जन सोइ ॥२७४॥
कहि 'अनन्य' धरि भक्ति ब्रत, लचि जु करै लघु कर्म।
हाथी चढ़ि गदहा चढ़े, धृक ते नर बेसर्म ॥२७५॥
कहि 'अनन्य' सिव सक्ति की, भक्ति सुग्यान समुद्र।
नरिया झरिया पुखरिया, आन जान मत छुद्र ॥२७६॥
आन ध्यान धारन धरम, जल चुपरी परलेप।
परिपूरन सिव सक्ति लहि, कहि 'अनन्य' निरलेप ॥२७७॥
'अछर अनिन्न' बिचारि चित, बेद सास्त्र बुधि आप।
सो मारग मत ब्रत घरौ, परंपरा जिहि थाप ॥२७८॥

जिहि जब तैं अवतार लिय, तब तैं तिहि की थाप।
सदा सदासिव संभवै, निर्गुन सर्गुन आप ।।२७६।।

सोरठा

वहै अलख लख रूप, वह निर्गुन सर्गुन वहै।
श्री सिव सक्ति अनूप, यह तत मत बिरले लहैं ।।२८०।।

दोहा

निर्गुन सगुन भेद में, भरमि रह्यौ संसार।
परिपूरन सिव सक्ति प्रभु, कौ लख अलख बिचार ।।२८१।।

'अछर' अच्छ अलहै लहै, अथहै थहै प्रमान।
अरह रहै अगहै गहै, अकहै कहै सु ग्यान ।।२८२।।

'अछर' अक्ष माला लहौ, कहौ न नाम उचार।
अनहद धुनि सुमिरन सदा, सब्द सदासिव सार ।।२८३।।

कहि 'अनन्य' तन बिहुर जग, सुरति सदासिव पास।
ज्यौं धरनी कर डोरि दृढ़, गुड़िया उड़त अकास ।।२८४।।

सहज समाधि 'अनन्य' भनि, अन्नि अभाव बिरक्ति।
रोम रोम रमिता वहै, चेतनता सिव सक्ति ।।२८५।।

कहि 'अनन्य' सिव सक्ति प्रभु, चेतन सुद्ध सरूप।
गुरु प्रताप अनुभव लसै, भासै बस्तु अनूप ।।२८६।।

बस्तु ग्यान उर कोठरी, पातक रन अंध्यार।
बिषै राग कामादि ठग, जगत न लोग गँवार ।।२८७।।

जगनै होइ सु जागिये, कहि 'अनन्य' जग टेरि।
काल ब्याल सोवत डसै, तब का जगिहै फेरि ।।२८८।।

रोग दोष दुख सोक भय, अति जा जरौ सरीर।
चेत सदासिव सरन गहि, दैन सदा सुख सीर ।।२८९।।

सुमिर सदासिव नाम कहं, सदा एक रस लोइ।
तजि संकल्प बिकल्प सब, होनी होइ सु होइ ।।२९०।।

होइ सु होइ 'अनन्य' भनि, पैठ भक्ति के भौन ।
सती सत्त धरि सर चढ़ै, जरिबे कौ डर कौन ॥२९१॥

सती सत्त करि तन जरै, पलक कष्ट ह्वै जाय ।
सदा अगिनि कलि भक्ति सर, बिरलौ सत्त दिढ़ाय ॥२९२॥

सत्त बिना मिथ्या सबै, ग्यान धर्म ब्रत माँड ।
कहि 'अनन्य' किमि साधु पद, नकल स्वांग करि भाँड ॥२९३॥

चित चरननि मति प्रभु गुननि, मन प्रतीति सुख साँच ।
तन गुरु भक्ति 'अनन्य' भनि, भक्त सु लच्छन पाँच ॥२९४॥

ऐसे रत गुरु भक्ति महं, जैसे रंग मजीठ ।
पछरें ही फीकौ न जिमि, तिमि दुखहू न उबीठ ॥२९५॥

दुख लौं भजै ते बेड़िया, सुख लौं चाकर रीति ।
दुख सुख गुरु ईस्वर चरन, कहि 'अनन्य' सुत प्रीति ॥२९६॥

सहज प्रीति समही सदा, सहज रीति सम जोग ।
कहि 'अनन्य' सहजी सदा, कबहुं न भक्ति बियोग ॥२९७॥

सहज सहज सब कछु बनै, कहि 'अनन्य' सत धर्म ।
नैम धरैं खंडित परैं, तौ निष्फल सब कर्म ॥२९८॥

नैम कर्म पूजा धरम, प्रेम बिना सब हीन ।
बाति बारि जिमि तेल बिन, किमि प्रकास छिन छीन ॥२९९॥

सोरठा

प्रान छिन्न छिन छीन, बिना भक्ति सिव सक्ति की ।
ज्यों मछरी जलहीन, पल पल दुख जौलौं जियै ॥३००॥

दोहा

सतजुग तैं कलिजुग भलौ, जो चलिये मति भक्ति ।
थोरे कस इक नाम तैं, मिलत सदासिव सक्ति ॥३०१॥

कह सतजुग महं सत भये, कह कलजुग महं पाप ।
कहि 'अनन्य' सब कछु भलौ, जब सब समुझहि आप ॥३०२॥

पर समुझावन बुद्धि है, आपु समुझनौ बुद्ध।
कहि 'अनन्य' निज बुद्धि बिन, होत न अंतर सुद्ध ॥३०३॥
अंतर सुधि जाने बिना, पढ़न गुनन भ्रम जार।
कहि 'अनन्य' बिन रोग लहि, ब्रथा सकल उपचार ॥३०४॥
ज्यों रोगी मन बंद महं, घेरै जिहि परिवार।
यों चित धरि ईस्वर बिषै, बसि 'अनन्य' संसार ॥३०५॥
बसि 'अनन्य' संसार महं, एक सदासिव आस।
जैसे छीप समुद्र महं, स्वाति बुंद की प्यास ॥३०६॥
ज्यौं मनि सीस फनिन्न के, जीवन प्रान अधार।
त्यौं निज 'अछर अनिन्न' के, नाम सदासिव सार ॥३०७॥
सब संसार असार रत, सार रते ते सग्य।
सार असारहि इक करैं, ते 'अनन्य' सरवग्य ॥३०८॥
संसारहि धोखौ यहै, है कहुँ सिरजनहार।
कहि 'अनन्य' धोखौ हमें, है धौं कित संसार ॥३०९॥
ईस्वर इमि संसार महं, कहि 'अनन्य' जिमि पौन।
सकल कर्म तासहं लगे, तामहं कर्म न कौन ॥३१०॥
क्रर्मनि के बस जीव हैं, ज्यौं गुड़िया बस डोरि।
कहि 'अनन्य' खैंचे फिरत, जौं लगि ग्यान न टोरि ॥३११॥
ग्यान सकल बिद्यानि महं, जिमि 'अनन्य' जल छीर।
सुजन हंस पय तत पियत, मूढ़ पियत जुत नीर ॥३१२॥
गूंगा कौ गुड़ ग्यान यह, सारासार बिचार।
कहत न बनहि 'अनन्य' भनि, जानत जाननहार ॥३१३॥
श्री सिव सक्ति सरूप कौ, कहि निज रूप न जाय।
बिन उपमा न कहे बनै, उपमा और न आय ॥३१४॥
कबिता करि सबिता थके, बिष्नु थके करि भक्ति।
बेद बरनि ब्रह्मा थके, अबिगति गति सिव सक्ति ॥३१५॥
कहि 'अनन्य' रबि किरनधर, दंसति रैन अखंड।
रोम रोम सिव सक्ति के, उमिगहु उड़त ब्रह्मंड ॥३१६॥

बिस्व सकल सिव सक्ति महं, सूच्छम रूप समूल ।
ज्यौं तरुवर के बीज महं, डार पात फल फूल ।।३१७।।
लहि अनेक अरु एक तन, एक अनेक सुभाय ।
कहि 'अनन्य' अबिगत कथा, श्री सिव सक्ति प्रभाय ।।३१८।।
श्री सिव सक्ति प्रभाव लहि, आन प्रभाव न घात ।
ज्यौं हाथी की खोज महं, सबई खोज समात ।।३१९।।

सोरठा

सर्वं लोक सिरमौर, महादेव देवाधिपति ।
नजर न आवत और, सब बिधि 'अछर अनिन्न' के ।।३२०।।

दोहा

श्री सिव सक्ति प्रभाव सुन, नजर न आवत और ।
ज्यौं न तरैंयां देखिये दरस सूर सिरमौर ।।३२१।।
जोग भोग नवरस कथा, हौं देखे सब ठौर ।
प्रेम बराबर रस नहीं, कहि 'अनन्य' कहुँ और ।।३२२।।
नीरस ही महं रस लहै, जोर प्रेम रस चित्त ।
भखन चकोर अँगार कहं, कौन सुरस तहँ मित्त ।।३२३।।
गिरत परेवा गगन तैं, चित्त परेई पास ।
कहि 'अनन्य' अति प्रेम तिन, तन मन सुरति न तास ।।३२४।।
देख प्रेम पसु हिरन के, कहि 'अनन्य' अनुराग ।
काटत तन कसकै नहीं, ललकै रागहि राग ।।३२५।।
सर सहि मृग मुरकै नहीं, कहि 'अनन्य' अनुराग ।
राग सहित मरनौ भलौ, मानि यहै बड़ भाग ।।३२६।।
नैना रोये मिरग के कहि 'अनन्य' अनुराग ।
रोम रोम स्त्रुति ना भये, सुनते सारंग राग ।।३२७।।
मरत यहै मृग कलपियौ, करि 'अनन्य' अनुराग ।
तन तौ फिरि फिरि होंयगे, पै दुर्लभ यह राग ।।३२८।।
रागहि सौं अनुराग अति, आपुन आप सरूप ।
'अछर अनिन्न' बिचार चित यों मग लगन अनूप ।।३२९।।

लगनि लगी सु लगी लगी, लगी सुरति नहिं और।
'अछर' न मृग पग फिर धरै, जूझ गिरै तिहि ठौर ।।३३०।।
खगनि खगी सु खगी खगी, 'अछर' भयौ नहिं भंग।
चावत बंसी मीन मुख, कढ़त प्रान के संग ।।३३१।।
पगनि **पगी** सु पगी पगी, ज्यों ससि सुरति चकोर।
कहि 'अनन्य' इक टक रह्यौ, तन मन प्रान अकोर ।।३३२।।
धरनि धरी सु धरी धरी, धरी न तन मन आस।
'अछर' न चित चातक लचै, जो लचि जाय पियास ।।३३३।।
करनि करी सु करी करी, 'अछर' आपु मन बूझि।
जुरजोधन पन ना टरौ, जदपि पर्यौ रन जूझि ।।३३४।।
अरनि अरी सु अरी अरी, कहि 'अनन्य' निज टेक।
ज्यौं सत्या हरिचन्द की, संकट सहे अनेक ।।३३५।।
कहनि कही सु कही कही, सही प्रान तन हानि।
'अछर' चोर सूली चढ़ै, पलट कहै नहिं बानि ।।३६६।।
गहनि गही सु गहो गही, हारिल लकुटी जानि।
जियत 'अछर' छूटै न छिन, गिरहत उलटौ आन ।।३३७।।
वहनि वही सु वही वही, ज्यों असीर तरवार।
'अक्षर' निखरी और भरि, जीत होइ भलि हार ।।३३८।।
भजत सदासिव नाम कहं, सूल न सालत कोइ।
चरन कंवल के छाँहरे, 'अछर' अछय सुख होइ ।।३३९।।

२०. निरधार शतक

दोहा

गुरु पर और सुपूज्य नहिं, कन्हर पर अवतार।
प्रभु न और सिव सक्ति पर, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१॥
जोग ध्यान पर ध्यान नहिं, भक्ति चार पर चार।
ब्रह्म ग्यान पर ग्यान नहिं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२॥
आस्रम नहीं ग्रहस्थ पर, बरन बिप्र पर चार।
नहीं दया पर धर्म विय, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३॥
धीर पुरुष सम पुरुष नहिं, पतिबरता सम नार।
समदृष्टी सम साधु नहिं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥४॥
बुद्धि बराबर धन नहीं, धर्म बराबर सार।
बेद बराबर मत नहीं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५॥
अरचा पर सुभ कर्म नहिं, चरचा पर सुबिचार।
परिचा पर परवान नहिं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६॥
जस समान जीवन नहीं, अपजस मृत्यु बिचार।
सील समान सिंगार नहिं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७॥
लगन बराबर मूठ नहिं, बुद्धि बराबर सार।
ग्यान बराबर सिद्धि नहिं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८॥
बहुत धर्म सुभ कर्म करि, सुमिरै हरि आचार।
तब निज तत्वहि ग्यान लहि, कहि 'अनन्य' निरधार ॥९॥
ग्यान बिना बैराग धिक, धर्म बिना गृह चार।
भक्ति बिना नरदेह धिक, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१०॥
दया छमा सन्तोष सत, समता बस्तु बिचार।
यह छह लच्छन भक्ति के, कहि 'अनन्य' निरधार ॥११॥

कोप कपट तृष्ना कुहित, परनिन्दा परदार।
यह छह लच्छन नर्क के, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१२॥
सतजुग सत त्रेता तपसि, द्वापर जग्य बिचार।
कलियुग केवल भक्ति गति, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१३॥
बिप्र बेद सिव सक्ति नृप, बैस्य विष्नु ब्रत धार।
सूद्र गनेसहिं भक्ति करि, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१४॥
चहूं बरन चहुं आसरम, चहूँ बेद जुग चार।
जानत संगत बात यह, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१५॥
कह सतजुग कलिजुग कहा, कहा सुबर्न बिचार।
केवल करनी सार जग, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१६॥
सब उत्तम सब नीच हैं, सब मध्यम सब सार।
कृत कृत प्रति परवान लहि, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१७॥
कुमग चले रावन हन्यो, सुमग राम जस धार।
ईस्वर ही के अंस दुइ, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१८॥
सरगुन निसिचर रूप सुइ, तिरगुन दस अवतार।
निर्गुन आदि अनन्त पद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥१९॥
सरगुन बिस्व स्वरूप सब, निर्गुन ब्यापक सार।
निर्गुन सर्गुन है वहै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२०॥
राम राम सब कोउ कहै, यहै भक्ति बिवहार।
ग्यान बिना निज मुक्ति नहिं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२१॥
चार मुक्ति लौं मुक्ति नहिं, जियन भक्ति फल सार।
पंचम पद निर्वान है, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२२॥
भक्ति ग्यान कै जोग करि, कै गुरु भक्ति बिचार।
तत्व लहन की तिनहिं गति, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२३॥
प्रथम पहर उत्तम क्रिया, मध्यम दुतिय बिचार।
त्रितिय निकृष्ट क्रिया सकल, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२४॥
क्रिया ऊंच पद बेद मत, अक्रिय नीच बिचार।
बिक्रिय जानत सुद्ध कहं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२५॥

नारी तजि बन तप करै, तप तजि लख परनार।
यह दोनौं नर्कहिं परैं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२६॥
पर समुझावन बुद्धि है, नाना उक्ति बिचार।
आपु समुझनौ बोध पद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२७॥
जोगी जग मुख तप बिमुख, द्विज मदिरा मुख धार।
यहि दोनौं अति पतित गति, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२८॥
आतम बोध भये बिना, पढ़न गुनन भ्रम जार।
ज्यौं सुक पढ़ै न काज कछु, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२९॥
अधम देह देवनि भजै, मध्यम जोति बिचार।
उत्तम आतम तत्व लहि, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३०॥
भक्ति करत धर्महि धरत, ते जीवत संसार।
और सु जीवत ही मरे, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३१॥
छिन भंगुर देही कही, छिन भंगुर संसार।
जीवन कौ फल भक्ति है, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३२॥
भूत मिठाई जान जग, सम्पति सुख संसार।
सदानन्द ईस्वर भजन, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३३॥
भक्ति जोग बैराग ये, सिढ़ी तीन नित सार।
ग्यान सिंघासन परमपद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३४॥
भक्ति धर्म जप जग्य ब्रत, दीपक जोति उज्यार।
ग्यान भानु पूरन प्रभा, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३५॥
देखहि पूरन ब्रह्म सब, नहिं सुभ असुभ बिचार।
ताहि कहत तत ग्यान पद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥२६॥

जीव ब्रह्म संजोग करि, आठौं जुगति बिचार।
ताहि कहत निज जोग पद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३७॥

राग द्वेष दुख सुख रहित, इन्द्रिय जित ब्रतधार।
ताहि कहत बैराग्य पद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३८॥

मंत्र क्रिया पढ़ि ब्रत सहित, इष्ट अराधन कार।
ताहि मिलै प्रभु भक्ति पद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥३९॥

सेवा सुर गुरु बिप्र की, प्रतिपालन परिवार।
धर्म प्रमान ग्रहस्थ पद, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४०।।
बेद सास्त्र सुर गुरु मते, अनुभव आपु बिचार।
धर्म जगत कल्यान कर, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४१।।
जौन धर्म जा कहं कहे, तौन धर्म सुभ कार।
आन धर्म मूढ़नि कहे, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४२।।
धर्म बिना जग सुख नहीं, भक्ति बिना फल चार।
त्याग बिना आराम नहिं, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४३।।
कामिनि बिन कामी दुखित, धन बिन ज्यौं परिवार।
त्यों बिन ग्यान तपी दुखी, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४४।।
कुटिल बचन गुरु देत सिख, सरस सुधा वह सार।
बिष बानी खल बोल मृदु, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४५।।
सुहृद सीख सुख मति गढ़ै, डारै कुटिल बिगार।
गो तृन, पय जिमि बिष अहिनि, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४६।।
देह बुद्धि इन्द्रिय रसिक, जीव बुद्धि स्रुति चार।
ब्रह्म बुद्धि सर्वग्यता, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४७।।
सर्वग्यनि कौं सुख सदा, घरहू बिपिन मंझार।
घर वन अग्य सदा दुखी, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४८।।
ग्यान अग्नि ईंधन करम, होम बासना चार।
ब्रह्म जग्य परवान यह, कहि 'अनन्य' निरधार ।।४९।।
जोग जग्य तप ब्रत तथा, करन और उपचार।
अन्न दान सिवभक्ति गति, कहि 'अनन्य' निरधार ।।५०।।
भव सागर अघ नीर भर, त्रिगुन तरंग अपार।
ईस्वर नाम जहाज लहि, कहि 'अनन्य' निरधार ।।५१।।
बादहि ते षट् सास्त्र हैं, बादहिं पंथ अपार।
ब्रह्म एक तत मत यहै, कहि 'अनन्य' निरधार ।।५२।।
सत संगत सन्तोष ब्रत, समता मत स्रुति चार।
चार अंग तत ग्यान के, कहि 'अनन्य' निरधार ।।५३।।

सठ संगति परनारि रति, तृष्ना कुमति बिचार।
चार अंग अग्यान के, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५४॥
पवन बहत ज्यौं सर्व गति, लगत न ताहि बिकार।
त्यों ग्यानी जग में रहैं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५५॥
जीव ब्रह्म एकत्र मन, सत सिव सक्ति बिचार।
जीवन मुक्ति यहै दसा, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५६॥
जप तप संयम नैम ब्रत, जग्य दान आचार।
ग्यान बराबर कछु नहीं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५७॥
बिद्या बल कर्तब्यता, प्रभुता धन परिवार।
बूझ बड़ौ गुन पुरुष कहं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५८॥
सुन्दरता रु बिचित्रता, बहु भूषन श्रृंगार।
पदवी एक पतिब्रता, कहि 'अनन्य' निरधार ॥५९॥
अन चिन्ता सतसँग सुमति, ग्रह पतिबरता नारि।
या सम सुख नहिं स्वर्गहूं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६०॥
कुमति कुसंगति सोच अति, पराधीनता नार।
या सम दुख नहिं नर्कहूं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६१॥
रस न और तत ग्यान सौ, जस न साधु सम सार।
बिष न और अग्यान सौ, कहि 'अनन्य' नरधार ॥६२॥
सुख कहं उद्यम करत जग, पावत दुख अधिकार।
यह गति ईस्वर भक्ति बिन, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६३॥
मन ईस्वर सुमिरन रहै, तन बिहरन बिवहार।
सो निर्द्वन्द सदा सुखी, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६४॥
ज्यों पावन सुरसरि सलिल, मिलत सकल जल धार।
यौं प्रभु मिलि सब सुख मिलै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६५॥
भक्ति करत सिव सक्ति की, सब गुन ग्यान अपार।
ज्यौं रबि लहि पूरन प्रभा, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६६॥
अपनौ करौ न होय कछु, लहि करतुत करतार।
यह जानै न लगै करम, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६७॥

भली करो सो मैं करी, बुरी करी करतार।
यहै दोष जीवन लगै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६८॥
पच्छिनि काग चंडाल गुनि, पसु गन स्वान चंडार।
नर चँडार परनिन्दकह, कहि 'अनन्य' निरधार ॥६९॥
किहि निन्दौं बन्दौं व किहि, पूरन ब्रह्म बिचार।
जो कछु कहौ सु है वहै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७०॥
नहिं गृह महं बंधन कछू, नहिं बन मुक्ति बिचार।
मति गति कारन कहं लहै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७१॥
बंधन सब अग्यान कहं, गृह बन चार कुचार।
निर्बन्धन सब ग्यान मय, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७२॥
जनम मरन सोवन जगन, घटन बढ़न तन चार।
आतम नित निर्वान है, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७३॥
तन इंद्री इंद्रियनि मन, मनहुं बुद्धि अधिकार।
बुद्धि परै आतम लहै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७४॥
जिमि दारू तरु फूल फल, पात नहीं कछु सार।
इमि सोभा संसार लहि, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७५॥
धृष्ट नयन लोभी बचन, मूढ़ मंत्र खल नार।
चारौं अति चंचल निलज, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७६॥
पतिब्रत तजि हरि प्रीति कर, दासी कह ब्रज नार।
ब्रत बृन्दा हरि सिर लही, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७७॥
गोपिनि पति तजि हरि भजे, धर्म सनातन हार।
पायौ नहिं निर्वान पद, कहि 'अनन्य' निरधार ॥७८॥
साधू दानी सूरमा, सुजन नृपति ब्रत सार।
करि निज धर्म सुजस लहै, कहि अनन्य निरधार ॥७९॥
आपु धर्म महं सुख सदा, बेद सास्त्र अनुसार।
आन धर्म महं पाप दुख, कहि, 'अनन्य' निरधार ॥८०॥
बेद धर्म सागर सदा, पद्धति नदी बिचार।
आन धर्म जिमि पौहरा, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८१॥

चलिये और प्रमान नहिं, यद्यपि ग्यान अपार।
परम्परा पद्धति यहै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८२॥
भेष डिंभ पाखँड बृथा, नकल भांड अनुसार।
ग्यान बिना मिथ्या सकल, कहि अनन्य' निरधार ॥८३॥
ज्यौं निज रोग लहे बिना, बृथा सकल उपचार।
यौं बहुमत तत ग्यान बिन, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८४॥
ब्रह्म सार सत ग्यान कहि, लहि संसार असार।
तत मत सार असार सम, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८५॥
अंक अंक प्रतिमा यथा, तथा ब्रह्म संसार।
एक अनेक बिबेक यह, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८६॥
आतम एक अनेक तन, सूच्छम थूल प्रकार।
वह गुरिया इक ठौर लहि, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८७॥
ब्रह्म कहौ ईस्वर कहौ, सम्भु बिरंचि मुरार।
जो कछु कहौ सुहै वहै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८८॥
ईस्वर कहौ कि ईस्वरी, ना वह पुरुष न नार।
नाम तेज ज्वाला वहै, कहि 'अनन्य' निरधार ॥८९॥
नारि बिना ग्रेही दुखी, वित्त बिना परिवार।
ग्यान बिना तपसी दुखी, कहि 'अनन्य' निरधार ॥९०॥
पतिनी होय पतिब्रता, पति अनुकूल बिचार।
सकल धर्म पर धर्म यह, कहि 'अनन्य' निरधार ॥९१॥
अति चिन्ता अति दीनता, अरु घर मांझ कुनार।
या सम दुख नहिं नरकहूं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥९२॥
अनचिंता अनहीनता, गृह पतिबरता नार।
या सम सुख नहिं स्वर्ग हू, कहि 'अनन्य' निरधार ॥९३॥

बेद सास्त्र सुर गुरु मतै, अनुभव आपु बिचार।
सर्व मूल सिव सक्ति प्रभु, कहि 'अनन्य' निरधार ॥९४॥

और धर्म सब कर्म हैं, बंधन जीव बिचार।
भक्ति बराबर मत नहीं, कहि 'अनन्य' निरधार ॥९५॥

२१. हरिहर-सम्वाद

श्लोक

हरि: पृच्छति योगीशं ईश्वरं सत्य भाषितं ।
गुरौ भक्तिर्दृढ़ा यस्य निश्चला योग धारणा ॥१॥

कवित्त

सब ही में रूप रस गंध सपरस वाक,
सब ही में इंद्री गुन तत्त तन छाइये ।
सब ही में मन चित्त बुद्धि अहंकार बसै,
सब ही में नींद भूख दुख सुख गाइये ।
सब ही में माया अरु ब्रह्म पुनि सब ही में,
'अक्षर अनन्य' सर्व समता बताइये ।
छूटत अबिद्या बिद्यमान जातें सिद्ध होत,
सो तौ सत बिद्या सत गुरु ही में पाइये ॥२॥

देवनि की कथा अवतारनि की कथा,
रिषि राजनि की कथा सो पुराननि में पाइये ।
करम प्रमान औ उपासना प्रमान ब्रह्म,
ग्यान कौ प्रमान सो त्रिकांड बेद गाइये ।
गुपित भंडार जीव सींव कौ मिलन चारु,
अनहद सार जोग सास्त्र समुझाइये ।
'अक्षर अनन्य' जोग बिद्या सी न बिद्या और,
जोगनि में सिद्ध ग्यानजोग ठहराइये ॥३॥

दोहा

जोग सास्त्र सिद्धान्त मत, निज हरिहर संवाद ।
सो भाषा करि कहत हौं, हरिहर कृपा प्रसाद ॥४॥

ब्रह्म पितामह रिषिनि के, हरि रच्छक नृप थान।
गुरु ईस्वर जिन करि कृपा, जथा जोग दिय ग्यान ॥५॥
नाना मत पुनि रिषिनि कह, नाना सास्त्र बिचार।
तिन तैं नाना पंथ जग, भाषा बिबिध प्रकार ॥६॥
जो भाषा है सास्त्र मत, सो भाषा परवान।
अटकर पंथी झूठ सब, भाषत करि उनमान ॥७॥
'अछर अनन्य' बिचार चित, बेद सास्त्र मत गूढ़।
सो भाषा करि कहत हौं, समुझैं मूढ़ अमूढ़ ॥८॥
आसति है घर जोग कौ, भक्ति भावना भाष।
ग्यान सु आश्रित जानिबौ, जिग्यासा अभिलाष ॥६॥
एक समै अभिलाष करि, गये कृष्न कैलास।
करि प्रनाम गुरु नाथ कहं, बचन कहे जिग्यास ॥१०॥

कृष्ण उवाच

कहत आतमा ब्रह्म प्रभु, बेद सास्त्र सरवग्य।
सूझ बूझ या महं न कछु, क्यौं भ्रम भूल्यौ अग्य ॥११॥

ईश्वर उवाच

है यह आतम ब्रह्म हरि, निर्गुन बाल सुभाइ।
गुरु बिन ग्यान न पावहीं, कोटि कल्प जुग जाइ ॥१२॥
जो पूरौ सतगुरु मिलै, ग्यान जोग सिख देय।
भवसागर के जीव कौं, पार लगावै खेय ॥१३॥
जनम मरन भवसिंधु में, फिरि फिरि गोता खात।
बूड़त नर्क पतालनौ, कबहुं स्वर्ग लौं जात ॥१४॥
सुरपति नरपति नागपति, त्रिभुवनपति पुनि होइ।
ग्यान बिना मिथ्या भरम, जान कृष्न मत सोइ ॥१५॥

कृष्ण उवाच

ब्रह्म बिष्नु तुम एक सम, बेद सास्त्र मत थाप।
नास होत बिधि बिष्नु कौ, किमि अबिनासी आप ॥१६॥

ईश्वर उवाच

बिष्नु नसै ब्रह्मा नसै, नसैं देव मुनि नाग ।
अबिनासी पद जोग है, जान कृष्न जग त्याग ॥१७॥

कृष्ण उवाच

अबिनासी पद जोग है, कहत आपु अरु बेद ।
क्यों न सधत बिधि बिष्नु पर, कहौ नाथ यह भेद ॥१८॥

ईश्वर उवाच

ब्रह्मा कौ अरु बिष्नु कौ, मन भरमत जग माहिं ।
वे रचना रचिबौ करत, वे रच्छत थिर नाहिं ॥१९॥
इक इक घर परिवार हित, भ्रमत फिरत सब लोग ।
लोकनि के धन्धे धरें, ते किमि अस्थिर जोग ॥२०॥
ब्रह्मा कौं अरु बिष्नु कौं, लगी ब्रथा ठलवाहि ।
परमातम तन नजर नहिं, लोक बड़ाई चाहि ॥२१॥
हमरौ मन नहिं लोक में, सदा जोग धुनि ध्यान ।
प्रलै करत इक दृष्टि सौं, अस्थिर चित्त निदान ॥२२॥
अस्थिर चित धरि धारना, मो मत चलहि जु कोइ ।
अबिनासी पद ध्यान धरि, सो अबिनासी होइ ॥२३॥

कृष्ण उवाच

अबिनासी प्रभु आपु हौ, सदा जोग पद सिद्ध ।
कहा क्रिया है जोग की, कहौ सु नाथ प्रसिद्ध ॥२४॥

ईश्वर उवाच

एक जोग है पवन सौं, एक बुटी सौं कल्प ।
एक जोग है सब्द सौं, एक ध्यान निहकल्प ॥२५॥

कृष्ण उवाच

चार जोग आपुन कहे, गुरु सरवग्य सुभाइ ।
कौन जोग की कौन बिधि, कहौ नाथ समुझाइ ॥२६॥

ईश्वर उवाच

चौपाई

पवन जोग सुन प्रथम मुरारी । तन महं सार पवन सुखकारी ।
दोनों सुर स्वासा गन दोई । बहुत ओसरे सौं सम सोई ॥२७॥

रात दिवस ब्यालीस हजारा । चलत स्वाँस गिनती निरधारा ।
स्वाँसनि सौं आर्बल ठहराई । साधन बिन तन थिर न रहाई ॥२८॥

जोगी सांस उसांसनि साधै । अन्न घटाइ पवन आराधै ।
पूरक करि पुनि कुंभक रोकै । रेचक करि क्रम क्रम पुनि मोकै ॥२९॥

गिनती की मरजाद मिलावै । या बिधि सौं आर्बलहि बढ़ावै ।
बढ़ै सवाइ डेवढ़ी दूनी । अल्प क्रिया यह ग्यान बिहूनी ॥३०॥

कष्ट बड़ौ छोटौ फल जानौ । तातैं तुच्छ जोग यह मानौ ।
दूजौ जोग बुटी सौं लेखौ । तातैं काया कल्प बिसेषौ ॥३१॥

दिब्य बुटी सिद्धनि पहिचानी । क्रिया कल्पकेदार बखानी ।
तरुन खाय तौ तरुन रहाई । बृद्ध खाय आवै तरुनाई ॥३२॥

दिब्य दृष्टि बल पुष्टि बढ़ावै । बढ़ै आयु दस गुनित प्रभावै ।
कल्प जोग यह जान मुरारी । ठक ठक बड़ौ कष्ट अधिकारी ॥३३॥

मंदिर माँझ रहै दस मासा । बचै पवन जल घाम निवासा ।
दूध भात कौ करै अहारा । तजै षष्ठ रस कढ़ै न बारा ॥३४॥

महा कठिन यह साधन जोई । साधक सावधान जो होई ।
आखिर नास बचै न सदाई । केतिक बिघन काल के भाई ॥३५॥

दगा सत्रु बिष नाहर सरपा । चोट गाज ब्रछ बिज्जुत तरपा ।
मंदिर भीत ब्रच्छ गिर ऊपर । केते और ढका बहु भू पर ॥३६॥

बुटी कल्प करि रोग नसावौ । बहु बिघननि तें कौन बचावै ।
तातैं यहै क्रिया है छोटी । बचै न ग्यान मृत्यु गति खोटी ॥३७॥

तातैं कल्प क्रिया लघु लेखौ । ग्यानी ताहि न सिद्ध बिसेषौ ।
तीजौ जोग सब्द सों होई । सब्द समान सार नहिं कोई ॥३८॥

सब्द ब्रह्म समरथ सब पूरौ । सब देवनि कौ देव गरूरौ ।
देव सबै मंत्रनि बस आहीं । मंत्र बिना प्रापत कोउ नाहीं ॥३९॥
मंत्र प्रबल देवनि बस करता । भूत प्रेत नाहर बिष हरता ।
देख अदेख मंत्र गहि ल्यावै । मंत्र हतै अरु मंत्र जिवावै ॥४०॥
पुरुष मरू करि तिनका तोरै । मंत्र ब्रच्छ गढ़ परबत फोरै ।
दानव देव सिद्ध अवतारा । सबकी करनी मंत्र प्रचारा ॥४१॥
अस्त्र सस्त्र सब मंत्र प्रभाया । नाना चरित सु मंत्रनि माया ।
पूरौ गुरु निज मंत्र बतावै । तब जोगी निहचल पद पावै ॥४२॥
अन्न पानि मंत्रनि सौं पचिवै । बिष सौ काल सुधा सम अचिवै ।
काल नासिनी बिद्या साधै । काल कर्म जाके बल बांधै ॥४३॥
अजपा जाप जपै दिन राती । जाके सुमिरत मृत्यु बसाती ।
अजपा तें जप और न कोई । स्वाँसा सब्द आपु ही होई ॥४४॥

कृष्ण उवाच

दोहा

किम अजपा स्वाँसा लखत, किम अजपा कौ जाप ।
को अजपा कौ देवता, कहौ कृपा करि आप ॥४५॥

ईश्वर उवाच

श्लोक

सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः ।
हकारे शिव परमात्मा सकारे शक्तिरीश्वरी ॥४६॥

चौपाई

जब स्वांसा बाहर कहं आवै । तब सकार सब्दहि उपजावै ।
जब स्वाँसा भीतर संचारै । तब हकार अच्छर उच्चारै ॥४७॥
ब्रह्म हकार सकार भवानी । सोहं आपु जपत जे ग्यानी ।
आवत जात स्वास कहं जोवै । तुरिय दसा करि जगै न सोवै ॥४८॥
लोक बेद के बचन भुलावै । संग कुसंग सबै बिसरावै ।
सुमिरन सार सुधारस पीवै । सो जोगेस्वर जुग जुग जीवै ॥४९॥

इष्ट अधार सहायक जाकैं । काल कर्म कौ भै कह ताकैं ।
काल नासिनी काल नसावैं । जोगी अजर अमर पद पावैं ॥५०॥
चौथौ जोग सुनौ जदुराई । ज्यौं जोगिनि अम्रत झिर पाई ।
नाभि कमल कुंडलिनी रानी । रूप भुजंगिनि मंगल दानी ॥५१॥
साढ़े तीन बिहाथ जु बरनी । साढ़े तीन कुंडली करनी ।
अति सूच्छम अरु अति गंभीरा । अति उज्ज्वल मूरत दुतिहीरा ॥५२॥
सोवत नाभि कमल के माहीं । तासु तेज जल अन्न पचाहीं ।
थिर आसन जोगी तिहि ध्यावैं । बीज मंत्र जप ताहि जनावैं ॥५३॥
तबहिं जोग माया वह जागै । उठि सुषमनि के मारग लागै ।
पहुँचै गगन मँडल निज धामा । त्रिकुटी संगम करि बिसरामा ॥५४॥
तहां बसत ईस्वर भगवाना । जोतिलिंग अंगुष्ठ प्रमाना ।
सांत रूप चेतन अबिनासी । उज्ज्वल मूरति सब सुख रासी ॥५५॥
ब्रह्म सच्चिदानन्द सरूपा । तिनतैं त्रिगुन देव भव भूपा ।
देखत तिन नागिन द्रग भरि कैं । लिपटि रहै कुण्डलिनी करिकैं ॥५६॥
यह अति तेज तपन तन होई । सुधा द्रवै सिव मूरत सोई ।
वाके तेज पुंज बिष झारा । सीतल जोतिलिंग निरधारा ॥५७॥
ता तर हरिलंबिका लगावैं । जोगी अम्रत महा रस पावैं ।
यह बिधि अजर अमर तन होई । ध्यान जोग यह जुगति सँजोई ॥५८॥
फेरि उतरि कुण्डलिनी आवै । नाभि कमल अंतर छबि छावै ।
साधक सिद्ध होय भय दूरी । अनहद नाद रहै भरपूरी ॥५९॥

कृष्ण उवाच

दोहा

ध्यान जोग अम्रत कथा, कही कृपा करि आप ।
अब कहिये अनहद कथा, क्यों धुनि जोवत नाथ ॥६०॥

ईश्वर उवाच

आतम बानी बंद करि, परबानी स्रुति रोक ।
मन अस्थिर एकांत रहि, अनहद बानि बिलोक ॥६१॥

आतम बानी आपु मुख, कहियत सुनियत नाथ ।
अनहद बानी ईस्वरी, सो नहिं अपने हाथ ॥६२॥
अपनौ मन अप हाथ करि, गगन ध्यान चित जोइ ।
अति सूच्छम धुनि सीस में, अनहद बानी होइ ॥६३॥

कृष्ण उवाच

अनहद बानी गूढ़ गति, अति सूच्छम धुनि होत ।
कहौ नाथ किमि रूप वह, देह न सुन्नि न जोत ॥६४॥

ईश्वर उवाच

सब्दमयी मूरति अलख, सब्दहिं माहिं लखाइ ।
राग रागिनी रूप ज्यौं, रागहि में दरसाइ ॥६५॥
राग बेद अरु बेद धुनि, अनहद बानि प्रकास ।
जोगी जोवत सीस महं, देवा सुनत अकास ॥६६॥

कृष्ण उवाच

उत सब देवनि पर हुकुम, इत सब ही के सीस ।
अनहद बानी कौन है, कहौ कृपा करि ईस ॥६७॥

ईश्वर उवाच

यह अबिगत परमेस्वरी, अनहद आदि अनादि ।
जोगी जानत गूढ़ पद, भ्रम बहु पंथ उपाधि ॥६८॥

कृष्ण उवाच

श्लोक

किं मूलं सर्व धर्माणां सर्व तीर्थेषु किं फलम् ।
कः सारः सर्व तत्वेषु का युक्तिः शोधने तनोः ॥६९॥

ईश्वर उवाच

दया मूलं हि धर्माणां स्वर्गः तीर्थाटने फलम् ।
मनः सारं हि तत्वेषु योगः युक्तिस्तनोः शुचौ ॥७०॥

कृष्ण उवाच

किं पुण्यं देव पूजायां श्रुति पाठेन किं फलम् ।
का सिद्धिर्मन्त्रजापस्य नामोच्चारेण किं फलम् ॥७१॥

ईश्वर उवाच

दोहा

पूजा तैं सेवा सधै, भक्ति भाव सरसंत।
प्रतिमा बिन सेवै सु किमि, प्रगटवान भगवंत ।।७२।।
तातैं पूजा मुक्ख है, जे निंदत ते दुष्ट।
पूजन अस्तुति पाठ पुनि, होत देव संतुष्ट ।।७३।।
मास बरस मिति मंत्र बस, देवा होत प्रतच्छ।
नाम बिषै मौताजु नहिं, एक जनम कँ लच्छ ।।७४।।

कृष्ण उवाच

नाम मंत्र अस्तोत्र जप, पूजा सुमिरन ध्यान।
का में कौन बिसेष है, कहौ नाथ परवान ।।७५।।

ईश्वर उवाच

श्लोक

कोटि पूजा समं स्तोत्रं कोटिस्तोत्रसमो जपः।
जपात्कोटिगुणं ध्यानं ध्यानात्कोटिगुणो लयः ।।७६।।
लयः सर्वोत्तमो ज्ञेयः मध्यमा ध्यान धारणा।
अधमं जप पूजायां तप तीर्थाधमाऽधमा ।।७७।।

दोहा

अति उत्तम लवलीनता, तजि सब कर्म उपाधि।
सुमिरन सुरति लगी रहै, निसि दिन सहज समाधि ।।७८।।
सहज समाधि लगी रहै, आवहि चित्त न और।
सब जोगिनि में जान हरि, वहै सिद्ध सिरमौर ।।७९।।

कृष्ण उवाच

कर्म लगे सब अंग के, संगी लगे अनेक।
क्यों लवलीन दसा रहै, क्यों निबहै प्रभु टेक ।।८०।।

ईश्वर उवाच

कसक पीर जाकै जहां, ताकौ मन तिहि ठाँइ।
संगी बहुत कहा करैं, कर्म करै न सुहाइ ॥८१॥

लौ लागै जाके हियै, ताहि न और सुहाइ।
कर्म करै पै नहि करै, मन आसक्ति न आइ ॥८२॥

सवैया

लौ सम ग्यान न लौ सम ध्यान, न लौ सम जोग सुनौ जदुराई।
लौ न कहै सुनै आवत है, निज प्रेमिनि कौं यह सिद्धि सुभाई।
साधन और कहे तिन कौं, जिन के हिरदै महं लौ नहिं आई।
लौ सम साधन और नहीं, लव साधन है पै समाधि सदाई ॥८३॥

कृष्ण उवाच

दोहा

लव साधन सिद्धान्त लव, लव समाधि लव जोग।
कहो नाथ लव बीज कह, नाम कि मंत्र प्रयोग ॥८४॥

ईश्वर उवाच

मंत्र मुक्ख साधन बिषै, सिद्ध भये परनाम।
नाम लेत रूपहिं लखै, मन पावै बिसराम ॥८५॥

जैसे देखै रूप कौ, नामहिं लेत लखाव।
अनदेखे कौ लख नहीं, कहा होत लिय नाव ॥८६॥

तातैं पहले मंत्र है, मंत्र देवमय मानि।
देवनि ही कौ नास है, मन्त्र नास नहिं जानि ॥८७॥

ब्रह्मा के इक दिन बिषै, इन्द्र चतुर्दस होत।
मंत्र सनातन इंद्र लखि, बेदनि मांझ उदोत ॥८८॥

कृष्ण उवाच

नास इंद्र कौ होत जब, और इंद्र नहिं त्रष्ट।
मंत्र जपै जनु तिहि समैं, कहतै प्रगटै इष्ट ॥८९॥

ईश्वर उवाच

इंद्रहि सौं कछु काज नहिं, जीवत होइ न होइ।
इन्द्र बन्यौ है मंत्रमय, प्रगट भक्त हित सोइ ॥९०॥

कृष्ण उवाच

सृष्टि प्रलै हो जात सब, सुर मुनि रहत, न कोय।
मंत्र बेद ये कित रहत, कहौ नाथ भ्रम खोय ॥९१॥

ईश्वर उवाच

मंत्र बेद सब रहत हैं, अनहद बानी मध्य।
गुपित प्रगट होतै रहत, उतपति प्रलै अबध्य ॥९२॥
ब्रह्मा कौ उतपति भयें, अनहद भाषत बेद।
अनहद बानी है सदा, ब्रह्मा फिर फिर खेद ॥९३॥
अनहद बानी ईस्वरी, जोगिनि इष्ट अधार।
जोगी मन अस्थिर सदा, मनसा सुमिरन सार ॥९४॥

श्लोक

मनः स्थिरो भवेद्योगी मनसास्मरणं सदा।
नास्ति स्थिरं मनो यस्य स योगी नहि केशव ! ॥९५॥

कृष्ण उवाच

दोहा

मन काहू के बस नहीं, सुर नर जच्छ मुनीस।
मन को है मन गति कहा, कहौ कृपा करि ईस ॥९६॥

ईश्वर उवाच

श्लोक

मनो ब्रह्मा मनो विष्णुः मनो देवो निरञ्जनः।
मनसा विद्यते योगी तन्मनः सिद्धिदायकम् ॥९७॥
मनः सर्वस्यचाधारं शास्त्राणामाश्रयञ्च तत्।
मनः करोति कर्माणि मनो भावस्त्वयं हरे ! ॥९८॥

दोहा

मनो भाव देवा प्रगट, भाव बिना कछु नाहिं ।
सांची मन की भावना, जान कृष्न मन माहिं ॥९९॥

कृष्ण उवाच

मन चिंता सौं ग्रसि रह्यौ, चितामय संसार ।
मन की चिंता क्यौं मिटै, कहौ नाथ निरधार ॥१००॥

ईश्वर उवाच

चिंता मन की वृत्ति है, काज चितवनहार ।
उत्ताम मद्धिम अधम पुनि, चिंता बिबिध प्रकार ॥१०१॥

श्लोक

उत्तमा योगचिन्ता स्यात् मोहचिन्ता च मध्यमा ।
अधमा लोभ चिन्ता च काम चिन्ताधमाऽधमा ॥१०२॥

कृष्ण उवाच

दोहा

तन आतम सुभ कर्म करि, नारी पुरुष समान ।
नारिहिं निंदत साधु जन, कहौ नाथ किमि ग्यान ॥१०३॥

ईश्वर उवाच

उतपति अस्थिति नारि तैं, निंदा महा अधर्म ।
आतम ग्यान बिरक्त मन, देह भाव तजि भर्म ॥१०४॥

कृष्ण उवाच

को भरमावत जीव कहँ, क्यों भरमत प्रभु जीव ।
कौन कर्म तैं जीव यह, कौन कर्म तैं सींव ॥१०५॥

ईश्वर उवाच

माया बिषम भ्रमावही, लालच भरमत जीव ।
मोह अबिद्या जीव कहं, ग्यान सुबिद्या सींव ॥१०६॥

कृष्ण उवाच

बिद्यमान चेतन्नि सिव, जीव अविद्या साथ ।
मन चित बुधि अहँकार ये, चारि सु को कहि नाथ ॥१०७॥

ईश्वर उवाच

अंतहकरन चतुष्ट कहि, मन चित बुधि अहँकार।
है यह एकै आतमा, कलपित सब ब्यौहार ॥१०८॥

कलपि लिये ब्यौहार लखि, आतम के बहु भाय।
ज्यौं नर नाम कि अर्थ कछु, गहै सु वहै कहाय ॥१०९॥

सुख अभिलाषनि मन कहत, सुरति चलावनि चित्त।
बस्तु बिचारनि बुद्धि कहि, अहंकार हठ कित्त ॥११०॥

चौपाई

एक आतमा तन में राजा। नाना नाम कर्म गुन साजा।
अग्य भाव जीवातम लेखौ। ग्यान भाव परमातम पेखौ ॥१११॥

धर्म करै धर्मातम जानौ। पाप करै पापातम मानौ।
जोग करै जोगेसुर होई। सुनहु कृष्न दूजौ नहिं कोई ॥११२॥

कृष्ण उवाच

एक आतमा कहत गुसाईं। दूजी मानि सु भर्म ब्रथा हीं।
है यह आतम कर्मनि जुक्ता। कहौ नाथ यह बद्ध कि मुक्ता ॥११३॥

ईश्वर उवाच

दोहा

मरकट कैसी मूठ हरि, आतम कर्मनि जुक्त।
बंध्यौ आपु अग्यान तैं, आपु ग्यान तैं मुक्त ॥११४॥

श्लोक

न देवाराधनान्मुक्तिः स्नानदानादिना न च।
नैव तीर्थनिवासाच्च मुक्तौ ज्ञानं हि कारणम् ॥११५॥

कृष्ण उवाच

ध्यायन्ति वैष्णवाः विष्णुं शिवं ध्यायन्ति शैवकाः।
नाना देवानुपास्यन्ति कथं ज्ञानं जगद्गुरो ! ॥११६॥

ईश्वर उवाच

न ज्ञानी विष्णुभक्तः स्यान्न ज्ञानी शिवसेवकः ।
देवताराधको नैव ज्ञानीह्यात्मानुचिन्तकः ॥११७॥
किं ब्रह्मा किं नु विष्णुश्च किं रुद्रः किं सुरादयः ।
आत्मा न विद्यते यावत्तावद्भ्रान्तिर्विकल्पना ॥११८॥
भानूदये यथा दीपः निष्प्रकाशः प्रजायते ।
निष्प्रभावास्तथा देवाः सति ज्ञानोदये हरे ! ॥११९॥
न चक्रपाणिनो देवाः न देवो शूलपाणिनः ।
न च देहात्मकाः देवाः देवोह्यात्मा विधीयते ॥१२०॥

दोहा

देव देह धारी सकल, माया रूपी मानि ।
तिन कहं ध्यावत मूढ़ नर, ग्यानी आतम जानि ॥१२१॥
बाहर के सब देवता, ग्यानिहिं लागत तुच्छ ।
अंतर सांचौ देवता, परमातम अति सुच्छ ॥१२२॥
ग्यानी लहि परमातमा, जोग जुगति धरि ध्यान ।
जोग धारना हीन हरि, ते मिथ्या मुख ग्यान ॥१२३॥

कृष्ण उवाच

श्लोक

कामो क्रोधस्तथा लोभः देहे सन्ति त्रयोऽरयः ।
चंचलं हि मनस्तेन कथं स्याद्योगधारणा ॥१२४॥

ईश्वर उवाच

यथा मदेन करिणं तथा क्रोधादिभिर्मनः ।
मत्तं ज्ञानांकुशेनैव तद्योगी वशमानयेत् ॥१२५॥
एकान्ते यस्य वासः स्यादेको वै येन दृश्यते ।
दिवा रात्रि न जानाति ज्ञान खड्ग समाश्रितः ॥१२६॥

कृष्ण उवाच

वेदशास्त्रपुराणानां पठनेन श्रुतेन च ।
ज्ञानयोगविचाराभ्यां कथं स्याद्योग धारणा ॥१२७॥

ईश्वर उवाच

मायागम्यं मनः कृष्ण विरक्तश्च यदा भवेत् ।
बहु जन्मान्तराभ्यासात्तद्योगी हि मनः स्थिरः ।।१२८।।

चौपाई

एकहि बार होत कछु नाहीं । संसकार कारन ठहराहीं ।
जनम जनम बैरक्त सुभाया । तिन जोगिनि की छूटत माया ।।१२९।।
माया तजि मन अस्थिर होई । बिषै भोग भावै नहिं कोई ।
भावै परम जोति कौ ध्याना । उपजै हिय में ग्यान बिग्याना ।।१३०।।
ग्यान ध्यान मन रहै समाई । होय जीव तैं ब्रह्म सुभाई ।
केवल ब्रह्म कहत यह स्वामी । चिदानंद सत अंतरयामी ।।१३१।।

कृष्ण उवाच

क्यों यह ब्रह्म देह में आयौ । भयौ दोन जग जीव कहायौ ।
सुनहु कृष्न यह गूढ़ बिचारा । जीव ब्रह्म कौ जो निरधारा ।।१३२।।

ईश्वर उवाच

जैसे बीज बीज तैं ब्रच्छा । ब्रच्छ माँझ फल होत प्रतच्छा ।
फल में बीज प्रगट छबि देखौ । पुनि वह बीज प्रगट तरु लेखौ ।।१३३।।
तैसैं ब्रह्म ब्रह्म तैं माया । माया तैं उपजति है काया ।
काया में पुनि ब्रह्म बिचारौ । काया ब्रह्म एक निरधारौ ।।१३४।।
काया माया में यह भूल्यौ । निसि दिन भर्म हिंडोरा झूल्यौ ।
काम क्रोध मद लोभ भुलावै । राग दोष दुख सुखनि लुभावै ।।१३५।।
नाना गुन माया के लागे । भ्रमत फिरत जग जीव अभागे ।
बिकल भये माया भ्रम माहीं । अटल ब्रह्म की सुधि कछु नाहीं ।।१३६।।

कृष्ण उवाच

दोहा

कै माया कै ब्रह्म है, तत्त दोय निरधार ।
कहा सक्ति माया बिषै, कहा ब्रह्म महँ सार ।।१३७।।

ईश्वर उवाच

कवित्त

इच्छा सक्ति ग्यान सक्ति क्रिया सक्ति ब्रह्म सार,
संसय बिपरीत मिथ्या माया सक्ति मानिये ।
संसयमय जीव तातैं होति बिपरीत बुद्धि,
ग्यानमय सींव सुद्ध चेतन बखानिये ।
जीव सक्ति माया ताकौ ग्यान तैं बिनास होत,
इच्छा ग्यान क्रिया सिव सक्ति पद जानिये ।
'अक्षर अनन्य' माया जीति बिपरीत मिटै,
जोग की जुगति जीव सींव पहिचानिये ॥१३८॥

श्लोक

जीवं शिवः शिवो जीवं सजीवः केवलं शिवः ।
जीवं शिवमयं कुर्याद्यः स योगी मतो मम ॥१३९॥

कृष्ण उवाच

देवलोक मनुष्याणां सिद्ध गन्धर्व रक्षसाम् ।
सर्वे कर्मनिबद्धा वै केन निष्कर्म योगिनः ॥१४०॥

ईश्वर उवाच

नैष्कर्म्यनिष्ठया कर्ता कृत्वा कर्म न लिप्यते ।
ज्ञानेन कर्म कुर्वाणो योगसिद्धो भवेन्नरः ॥१४१॥
कर्म श्रेष्ठश्च योगीन्द्र बिना कर्म न सिद्धि भाक् ।
कर्म निन्दा न कर्तव्या कर्मणोत्पद्यते जगत् ॥१४२॥
बीजात्प्रजायते वृक्षः वृक्षाद्वै जायते फलम् ।
फलं बिना हृषीकेश! बीजवृक्षौ विनश्यतः ॥१४३॥
ब्रह्मज्ञानं बिना कृष्ण! योगसन्ध्यां करोति यः ।
मन्दबुद्धिः फलाकांक्षी स द्रुमादवकेशिनः ॥१४४॥
योगाभ्यासमृते कृष्ण! जातुचित् सिद्धिमिच्छतः ।
मनो न वशमायाति योगिनः सिद्धिदायकम् ॥१४५॥

दुश्चिन्तायाञ्च संसारे कापुरुषाः संसरन्ति हि ।
योगाभ्यास समर्थो यः स शूरः स च पण्डितः ॥१४६॥
ज्ञानं बिना न योगः स्यात् योगो न ज्ञानतः पृथक् ।
ज्ञानयोग द्वयं युञ्जन् स योगी परमो मतः ॥१४७॥

कृष्ण उवाच

योग ध्यानं महा गोप्यं ज्ञानहीनो न पश्यति ।
नराः अज्ञान युक्तास्ते कथं ध्यायन्ति ईश्वरम् ॥१४८॥

ईश्वर उवाच

नराः ध्यायन्ति देवादीन् देवाः ध्यायन्ति ईश्वरम् ।
ध्यायत्यपीश्वरो नादं नादश्चानहदं परम् ॥१४९॥

कृष्ण उवाच

दोहा

अनहद ध्यावन सिद्ध प्रभु, ब्रह्मा बिष्नु महेस ।
कहौ नाथ धुनि मात्र वह, किधौं कछू उपदेस ॥१५०॥

ईश्वर उवाच

श्लोक

गूढ़ाक्षरं परं कृष्ण ! सूक्ष्मानहदनादतः ।
तस्य पारं न जानन्ति ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ॥१५१॥

चौपाई

अनहद नाद अखंड अपारा । पूरित पिंड ब्रह्मण्ड मंझारा ।
मुरली संख भेरि सहनाई । नाना राग रंग धुनि छाई ॥१५२॥
अरु तामहं बीजाक्षर भासै । आगम निगम समूल प्रकासै ।
मन थिर करि जोगी तिहि ध्यावै । समय पाइ प्रति उत्तर पावै ॥१५३॥
तब जोगी त्रिकाल गति जानै । होनी अनहोनी पहिचानै ।
अरु पुनि अनुभव ग्यान प्रकासै । बेद सास्त्र सब कौ तत भासै ॥१५४॥

दोहा

इमि अनहद सरवग्य धुनि, सुनत सिद्ध चैतन्नि।
फिर न रहत कछु जानिबौ, जान कृष्न एतन्नि ।।१५५।।

कृष्ण उवाच

जो कछु सकल ब्रह्मांड महं, सो नर पिंड मंझार।
यह सूच्छम बिस्तार महं, कह प्रभु कौन बिचार ।।१५६।।

ईश्वर उवाच

श्लोक

वटबीजे महासूक्ष्मे विद्यते विटपो यथा।
तथा ब्रह्मणि लोकानि उत्पत्तिः प्रलयं भवेत् ।।१५७।।

तनुमध्ये स्थितं ब्रह्म ब्रह्ममध्ये स्थितं जगत्।
कार्यकारणयोर्भेदं यो जानाति स पण्डितः ।।१५८।।

अधीते वेदशास्त्राणि सूक्ष्म तत्वं न विद्यते।
वेदभारभराक्रान्तः ब्राह्मणः वृषभो यथा ।।१५९।।

ब्रह्मक्षत्रियवैश्याश्च शूद्राद्याश्चान्त्यजास्तथा।
ज्ञानवन्तो पवित्रा स्युस्तेन हीनाः ह्यपावनाः ।।१६०।।

जड़ानां कोटिशः मध्ये पण्डितः कोऽपि दृश्यते।
पण्डितानां सहस्रेषु ज्ञानी कोऽपि च लक्ष्यते ।।१६१।।

दासभावगतं ज्ञानी स्वामिभाव विसर्जनम्।
समताभाव सर्वत्र साधनं योग संयमः ।।१६२।।

कृष्ण उवाच

कथं योगी जयेन्निद्रां कथं योगी जितेन्द्रियः।
कथं योगी गुणातीतः कथं योगी गुणोदितः ।।१६३।।

ईश्वर उवाच

अल्पाहाराज्जयेन्निद्रां प्रत्याहाराज्जितेन्द्रियः।
मोहमायाविनिर्मुक्तो योगमायासमन्वितः ।।१६४।।

कृष्ण उवाच

गुणैः कैर्मोहमाया स्याद् योगमाया कथं प्रभो ।
.... ॥१६५॥

ईश्वर उवाच

कामक्रोधौ मदं लोभः मोहमाया प्रवर्तते ।
शब्द ज्ञान क्रिया सिद्धिः योगमायाभिवर्तते ॥१६६॥

कृष्ण उवाच

किं रूपं योगमायायाः योगविद्या कथं प्रभो ।
योगसिद्धिः कथं नाथ योगनिद्रा कथं भवेत् ॥१६७॥

ईश्वर उवाच

योगमाया ज्योतिरूपा अज्ञानतमनाशिनी ।
चित्तवृत्तिनिरोधश्च योगविद्या प्रकीर्तिता ॥१६८॥
मनः सिद्धिः क्रिया सिद्धिः वाचासिद्धिश्च योगिनः ।
मनो ध्याने भवेल्लीनं योगनिद्रा समाधिषु ॥१६९॥
जीव बुद्धि भ्रमो नास्ति स्वयं ब्रह्मस्थ योगिनः ।
.... ॥१७०॥

कृष्ण उवाच

आत्मैव ब्रह्मरूपोऽयं देहे देहे ह्यवस्थितः ।
सुखदुःखे कथं देहे तर्हि व्याप्ते महेश्वर ॥१७१॥

ईश्वर उवाच

तप्त धातौ यथा ज्वाला ताड़ितेव प्रतीयते ।
तथैव देह बुद्धिस्थोऽयमात्मा सुखदुःख भाक् ॥१७२॥

कृष्ण उवाच

आत्मैव ब्रह्मभोक्ता च शरीरः सुखदुःखयोः ।
जीवहिंसा कथं नाथ ! यज्ञादौ शुभकर्मणि ॥१७३॥

ईश्वर उवाच

आत्मज्ञानविहोनेन हिंसाऽधर्मः कृते सति।
कृत कर्मफलं प्राप्य नरकेऽपि स गच्छति ॥१७४॥
आत्मज्ञानदयायुक्तः स ज्ञानी सैव पण्डितः।
.... ॥१७५॥

कृष्ण उवाच

कवित्त

आतम है ब्रह्म बेद सास्त्र हू पुरान कहैं,
ब्रह्म कौ प्रभाव यामें कहा ठहरात है।
कर्यौ याकौ होत नाहीं कह्यौ याकौ होत नाहीं,
चह्यौ याकौ होत नाहीं सब कौं ललात है।
कहा याके जानै कहा मानै कहा ध्यायै फल,
अबल अजान काल कर्म बस गात है।
कहैं ब्रह्मग्यानी ब्रह्म देखौ घट घट माहिं,
घट घट ब्रह्म ऐसौ दुखी क्यों दिखात है ॥१७६॥

ईश्वर उवाच

श्लोक

आत्मज्ञानमिदं कृष्ण ! दयाभावेषु निश्चयः।
शब्दज्ञानविहीनश्च आत्मज्ञान नपुंसकम् ॥१७७॥

दोहा

सबद ब्रह्म के जोग सौं, आतम ब्रह्म समस्थ।
जोग बिना कृत नाहिं ज्यौं, जल बिन भूमि निरथ्थ ॥१७८॥

सवैया

पाहन लोह सौं आग जगै, अनुपान सौं औषधि रोग नसावै।
जंगम होत मिलै नर नारिहि, थावर कौं धर नीर मिलावै।

द्वै मिलनौ यह जोग मतौ, बिन जोग अजोग कहा फल पावै ।
'अक्षर' आतम ब्रह्म तथा, गुरु अक्षर साधन सिद्ध कहावै ॥१७९॥

दोहा

सबद गुरू कौ साधि कैं, सिद्ध होत सरवग्य ।
सबद बिना पसु पंछि सम, ब्रथा जनम नर अग्य ॥१८०॥

श्लोक

शरीरिणां नराः श्रेष्ठाः नाराणाञ्च गुणी तथा ।
गुणिनां ज्ञानिनः श्रेष्ठास्तेषाञ्चाध्यात्मयोगिनः ॥१८१॥
अध्यात्मज्ञानहीनो यः मिथ्या ज्ञानी स कथ्यते ।
अध्यात्मयोगयुक्तश्च स ज्ञानी श्रृणु केशव ॥१८२॥
नास्ति ज्ञानी समो ब्रह्मा नास्ति ज्ञानी समो हरिः ।
नास्ति ज्ञानी समो रुद्रः न भूतो न भविष्यति ॥१८३॥

कृष्ण उवाच

न स्नानं तिलकं नैव नाचारो न क्रिया शुचिः ।
कथं देहो भवेत् शुद्धः योगाचारः कथं प्रभो ॥१८४॥

ईश्वर उवाच

शुद्धात्म योग युक्तस्य पवित्रं परमं पदम् ।
ज्ञानं बिना क्रिया यस्य मिथ्याचारः स उच्यते ॥१८५॥
दम्भाहंकार संयुक्ताः बहुवेषधरा नराः ।
अहंममत्वदुर्गस्ताः पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१८६॥
योगश्चिन्ता विना चिन्ता मनीषापि विना मनः ।
वायु कर्म विना वायुः निर्द्वन्द्वं परमं पदम् ॥१८७॥

कृष्ण उवाच

परमं पदं ब्रह्मैव निस्वादुच निरञ्जनम् ।
गुण वर्ण विहीनस्य तस्य ध्यानात् कथं सुखम् ॥१८८॥

ईश्वर उवाच

योगक्रिया कामधेनुः स्यात् ज्ञानश्चास्यामृतं पयः ।
मनसः ध्यानपात्रे च दुग्ध्वा योगी पिवेत्सुधा ॥१८९॥

सुधामेव न जानाति लुब्धोऽसौ विषयान्प्रति ।
योगीन्द्रः परमानन्दे विद्यते परमे पदे ॥१९०॥

कृष्ण उवाच

अद्वैतं परमं ब्रह्म सच्चिदानन्द लक्षणम् ।
निर्गुणं सगुणं चास्य द्वैतभावः कथं प्रभो ॥१९१॥

ईश्वर उवाच

अरूपं निर्गुणं ब्रह्म सगुणं तद्धि मायया ।
ध्यायन्ति सगुणं मूढ़ास्तथा ज्ञानी च निर्गुणम् ॥१९२॥

व्याप्तः सर्वत्र त्रैलोक्ये परमात्मा चराचरे ।
द्रष्टुं समर्थः ज्ञान्येकः न च पश्यन्ति दम्भिनः ॥१९३॥

कृष्ण उवाच

जीवात्मा परमात्मा च देहे देहे ह्यवस्थितः ।
जन्ममृत्यु कथं नाथ ! कथं कालः निवर्तते ॥१९४॥

ईश्वर उवाच

नास्ति स्थिरं मनो यस्य जन्म मृत्युः पुनः पुनः ।
निश्चलं हि मनो यस्य तस्य कालभयं कुतः ॥१९५॥

स्वेच्छाचारी भवेत्सिद्धः काले कर्मे न लिप्यते ।
त्यज्यते स्वेच्छया देहो स्वेच्छया रक्ष्यते सदा ॥१९६॥

दोहा

काल कर्म के बस नहीं, परमेस्वर भगवान ।
अपनी इच्छा आपुही, तजै कि राखै प्रान ॥१९७॥
मुक्ति भुक्ति सब फलनि तैं, जोगी रहत अचाह ।
हरि हर बिधि इन्द्रादि सुर, लोकनि कीन प्रवाह ॥१९८॥

जोगिनि कौं दुर्लभ न कछु, नहिं इच्छा कछु और ।
केवल सुमिरन ध्यान महं, मगन सिद्ध सिरमौर ॥१९९॥

कृष्ण उवाच

तनधारी कौ नास कहि, अतन भाव ना नास ।
चित्त लगावत कौन बिधि, जोग ध्यान किमि भास ॥२००॥

ईश्वर उवाच

आपुहि अजपा जाप वर, आपुहि अनहद भास ।
आपुहि घट महं तत्त लहि, जोगी मन अभ्यास ॥२०१॥

कवित्त

नारी सुषमना षटचक्रनि आधार सक्ति,
कुण्डली सु नाभि छुधा तेज बल दानी है ।
हिरदै में जीव तासौं मन चित्त बुद्धि लगे,
त्रिकुटी में सींव जोतिलिंग निरवानी है ।
अजपा सो मूल मंत्र साँस की उसाँसनि में,
बानी अनहद सीस प्रभुता प्रमानी है ।
एतै तत्त सार कृष्न हम तुम सब ही में,
जोवै जोगध्यानी अंत ढूंढै मूढ़ प्रानी है ॥२०२॥

श्लोक

सर्वसारे शरीरेऽस्मिन्नाति सूक्ष्मेऽप्यगोचरे ।
बाह्ये भ्रमति मूढ़ात्मा योगिनान्विष्यते परः ॥२०३॥
तत्व बीजाक्षरं सिद्धि षट्चक्रेषु व्यवस्थितम् ।
मूढजीवाः न जानन्ति यो जानाति स ईश्वरः ॥२०४॥

दोहा

इमि ईस्वर पद सिद्ध करि, जोगेस्वर पद पाइ ।
ता समान नहिं आन मत जान कृष्न सत भाइ ॥२०५॥

कृष्ण उवाच

कवित्त

देवनि के देव महादेव जू तुम्हारी कृपा,
सुन्यौ अरु जान्यौ जोग पद विप्र भाव है।
जानिबौ कठिन जान करि कै कठिन मन,
रोकिबौ कठिन चित्त चंचल सुभाव है।
'अक्षर अनन्य' यह मत तत्वग्यानिनि कौ,
जगत के जीवनि कौ भक्ति कौ प्रभाव है।
मानिक अमोल ज्यौं मिलत काहू राजनि कौं,
कौड़िनि कौ जहां तहां जग में ललाव है ॥२०६॥

दोहा

कठिन जोग यह परम गुरु, भरम हिंड़ोरा मंच।
लोक बड़ाई कारनें, करियत किते प्रपंच ॥२०७॥

सवैया

काहू कौ लीजतु काहु कौं दीजतु, काहु सौं कीजतु है बहु बातें।
काहू कौं पालन रच्छन सोच, जु काहु कौं मारन तारन घातें।
केते प्रपंच लगे कहि 'अक्षर', अस्थिर चित्त रहै नहिं तातें।
है तुमसे तुमहीं सब सिद्ध, असिद्ध भये भरमैं सब यातें ॥२०८॥

दोहा

पुनि पुनि तिनि कहं दंडवत, तजें सिद्ध ठहरात।
भेष न चिन्ह न जाति व्रत, ते किमि लच्छ लखात ॥२०९॥

ईश्वर उवाच

अस्थिर मन धुनि ध्यान धरि, तब संगति न सुहाइ।
झूठे से जग में फिरत, जोगी सत्त सुभाइ ॥२१०॥

श्लोक

सुखदुःखे न वर्तन्ते न च मानापमानयोः।
मृत्युचिन्ताभयं नास्ति निष्पृहः योगिलक्षणम् ॥२११॥

कर्कटी पक्षमात्रेण दृष्टिमात्रेण कूर्मकः ।
मनः सहनमात्रेण ध्यानमात्रेण योगिनः ॥२१२॥
यस्य ब्रह्ममयं सर्वं दृष्टिदोष विवर्जते ।
सर्वत्र समताभावो द्वैतभावो न दृश्यते ॥२१३॥

कृष्ण उवाच

अग्निना तप्यतेऽग्निः किं किमद्भिः पीयते जलम् ।
ब्रह्म किं ध्यायति ब्रह्म ज्ञानमेवं किमीश्वरः ॥२१४॥
जीवात्मा परमात्मा च द्वावपि शाश्वतौ स्मृतौ ।
कथमेकं भवेद् ब्रह्म तयोः भिन्न शरीरयोः ॥२१५॥

ईश्वर उवाच

सोऽहं ज्योतिर्मयं सर्वे जीवात्मा परमात्मनोः ।
योगयुक्त्या भवेदैक्यं तस्माद्योगः समुत्तमः ॥२१६॥
नास्ति वायोः परं कर्म नास्ति धर्मात्परं मनः ।
नास्ति ज्ञानात्परं मोक्षः नास्ति योगात्परं मतम् ॥२१७॥
भक्तानां जीव भावोऽस्ति देह भावोऽस्ति कर्मिणाम् ।
योगिनां ब्रह्म भावोऽस्ति भेदाभेद विवर्जितः ॥२१८॥
योगधर्मेषु यो लीनः ध्यानवंश कुलोद्भवः ।
तस्य माता प्रसूता च तस्य पुत्राः हि योगिनः ॥२१९॥
नक्षत्रेषु यथा चन्द्रः तथा योगी नरेषु च ।
यस्य योगश्च पूर्णोऽस्ति स योगी स्वयमीश्वरः ॥२२०॥

दोहा

स्वयं ब्रह्म जोगी भवत, जीव सदा भ्रम दूरि ।
जोवत पिंड ब्रह्माण्ड महं, आनँद धुनि भरपूरि ॥२२१॥
हमतैं तुमतैं बिष्नु तैं, ब्रह्मा तैं सुन कान्ह ।
मन अस्थिर धुनि ध्यान रत, धन जोगी भगवान ॥२२२॥

कृष्ण उवाच

सर्व सास्त्र सिद्धान्त मत, जोग कह्यौ प्रभु आप ।
सो सुनि मन अस्थिर भयौ, गयौ भर्म संताप ॥२२३॥

जिग्यासा पूरन भई, मत आयौ मन माहिं ।
बनै सु प्रभु तुम्हरी कृपा, गुरू कृपा बिन नाहिं ॥२२४॥
करि प्रनाम इमि बिनय करि, बिदा भये जदुनाथ ।
जोग सास्त्र सिद्धान्त मत, कहि 'अनन्य' निज गाथ ॥२२५॥

२२. गुणान बत्तीसी

राग कान्हरौ

भज मन प्रभु ईस्वर अबिनासी ।
आदि अनादि सदासिव समरथ सुख निधान कैलास निवासी ।
जिनि भजि अगिनि अभय पद पायौ काल करम टूटी जम फांसी ।
जिनि भजि चंद स्राप तैं छूट्यौ मेंटि मृत्यु भयौ अमृत निवासी ।
जिनि भजि अमर मारकंडे भये टरि गये काल कलप चलि जासी ।
जिनि भजि अष्टावक्र महामुनि भये सिद्ध सब सिद्धि प्रकासी ।
जिनि भजि परसुराम मानुष तैं परमेसुर अवतार बिलासी ।
जिनि भजि राम ढह्यौ लंकागढ़ रावन प्रबल सेन सब त्रासी ।
जिनहिं भजत सबके भये कारज देव अदेव त्रिदेव उपासी ।
कहि 'अनन्य' सिव सक्ति महा प्रभु भुक्ति मुक्ति जिनके घर दासी ।।१।।

जिहि जन भक्ति जोग रस जानौ ।
तिहि संसार लगत अति फीकौ अमृत पियत तैसे पुनि पानौ ।
सहस कमल दल मध्य बिमल छबि श्री सिव सक्ति ध्यान मन मानौ ।
पद पराग अनुराग सुधारस पियत प्रेम पूरन सुख सानौ ।
तन मन त्रिपित त्रिताप छुधा गति लगत न मन तत पद पहिचानौ ।
यह आनँद दुर्लभ देवनि कौं कहा स्वर्ग नरकनि भ्रम ठानौ ।
ग्यान जोग तत ध्यान सुधारस यह सुख मुख नहिं जात बखानौ ।
कहि 'अनन्य' मन कौ मन ही रस ज्यों गूंगा अमृत मुख आनौ ।।२।।

राग दरबारी कान्हरौ

ऐसौ मन ईस्वर सों लागै ।
जैंसे लगन चकोर चंद हित इक टक पलक ललक सौं जागै ।

जैसे मृग दृग स्रवन न फेरै सुधि बुधि बिसरि राग रस रागै ।
जैसे सुरभि बाल मन दीनैं चरत फिरत वह सुरति न त्यागै ।
जैसे पथिक पंथ मुख सूखे चलत पंथ सलिलहि चित लागै ।
जैसे पीक पुकार पपीहा पिउ पिउ रटत पियास न भागै ।
धरि प्रतीति यह रीति प्रीति करि जीति जगहि जोगहि अनुरागै ।
कहि 'अनन्य' धरि नेम प्रेम बस श्री गुरु सब्द सुधा रस पागै ॥३॥

राग कान्हरौ

जनम बादि दिन जात न जानै ।
रहे अचेत सूत माया बस पियत मोह मद सुरति भुलानै ।
बालक बैस खेल चंचलता तरुन बिकार गरब अधिकानै ।
मध्य बैस संपति जोरन मन चहुं दिसि भ्रमत सुचित धन धानैं ।
बृद्ध भयैं कर लई सुमिरिनी जब सब बातनि तैं अररानै ।
झूंखत तब न कछू बनि आवत जप तप ब्रत संयम किमि ठानै ।
भये बिरल परलोक लोक तैं श्री सिव सक्ति नाहिं उर आनैं ।
कहि 'अनन्य' इमि हार मानि कैं बड़े बड़े पण्डित पछितानैं ॥४॥

ईस्वर बिन कबहूँ सुख नाहीं ।
मारे फिरत घुटान बटा ज्यौं माया करम पाप बस आहीं ।
भुव तैं स्वर्ग स्वर्ग तैं नरकैं निठल नहीं काहू ठिक ठाहीं ।
लख चौरासी भरम कोठरिनि भरमत फिरत महा दुख माहीं ।
जैसे मृग मरीचिका देखत लेखत जल दौरत उठि ताहीं ।
जैसे नर सुख कौं बहु धावत पावत दुख दूनौ जित जाहीं ।
यह गति जानि आनि निहचौ चित निहचल ह्वै तजि भर्म ब्रथाहीं ।
कहि 'अनन्य' लहि ग्यान जोग सिव अटल होत तेई जग माहीं ॥५॥

राग काफी

बिन ईस्वर सुमिरन मिथ्या जग जात ब्रथा दिन बातनि बातनि ।
माया के आवरन चहूँ दिसि रोकत सब तकि घातनि घातनि ।

रात गिलत निद्रा मन मोहत तजति न तनु मिलि गातनि गातनि ।
प्रात कुटुम परिग्रह मिलि घेरत फेरत मन रस रातनि रातनि ।
निसि बासर आसा भरमावति धावति है सुनि दांतनि दांतनि ।
दिन दिन दुखित बाट तिनका ज्यौं मिटत जात जिमि लातनि लातनि ।
कहि 'अनन्य' तजि मूल सदासिव फिरत मूढ़ नर पातनि पातनि ॥६॥

राग सोरठ

अवगुन आपुहो महँ आहि ।
कहा दीजै दोष नाथहिं समुझि कै मन माहिं ।
प्रीति प्रभुता सौं निरन्तर प्रेम प्रभु सौं नाहिं ।
करत दंभ महान पद हित गर्व धरि मन माहिं ।
भीर लहि रहि साध ध्यानहिं ग्यान आनि रिझाहिं ।
लगी सुरति न दान लोभहिं कपट बगुल सुभाहिं ।
बिबिध दुख सुख तासु तैं करतूत के फल खाहिं ।
समुझि श्री गुरु सब्द सुमिरहु 'अछर' सहज सुभाहिं ॥७॥

मन रे नहीं ईस्वर दूर ।
ग्यान दृष्टि निहारि निहचय रहै घट घट पूरि ।
फूल में जिमि बास बासित आगि चकमक सूरि ।
जीव में इमि सींव राजत देख अंतर चूरि ।
तोहि वे देखत सदा पल पल लियें सुधि भूरि ।
तू न देखत अंध नैननि खरी माया धूरि ।
देखि समुझि बिचारि गुरु मत तजि बिषय की कूरि ।
'अछर' श्री गुरु सबद सुमिरन सदा जीवन मूरि ॥८॥

राग नट

भज मन परम ईस्वर चरन ।
कोटि चंद सुछंद सुन्दर लाल बारिज बरन ।

कोटि रबि छबि नख बिराजत अजब सोभा धरन।
सुख निधान निदान ततपद बिस्व कारन करन।
त्रिपुर त्रिसुर समस्त मुनि जन सदा जिनके सरन।
सदा पद सिव सक्ति के लहि सदा आनँदकरन।
कहि 'अनन्य' प्रसिंधु सुख भवसिंधु तारन तरन ॥९॥

भज मन नाम ईस्वर परम।
पियहु ध्यान सुधा निरन्तर तजि बिषय बिष करम।
जानि जग मृग तृष्निका जिमि कहा पाप रु धरम।
छाँड़ि दुख सुख कष्ट फल रहु नाथ के आसरम।
बेद सास्त्र पुरान पढ़ि जनि परै मिथ्या भरम।
कितिकि आपु व्रथा मरे बकि जानि यह जुग लरम।
सुमिरि श्री सिव सक्ति ततपद सोधि गुरु मत मरम।
कहि 'अनन्य' न आनि गति कलि जानि चहुँ आसरम ॥१०॥

राग काफी

अबिगति गति सिव सक्ति गुसांई। अद्‌भुत गुनत न बरनत जाई।
नहिं निरगुन नहिं सरगुन जानौ। निरगुन सरगुन माँझ लुपानौ।
नहिं निरूप नहिं रूप बिराजै। रूप निरूप कहत श्रुति लाजै।
नहि निरनाम नाम नहि जाकौ। नाम अनाम नाम जसु ताकौ।
नहिं सबमें सबतें रहि न्यारौ। सब बिधि पूरन सर्व उज्यारौ।
नहिं सब परैं न तरैं सु लेखौ। तरैं परैं परि पूरन पेखौ।
नहिं करता न अकरता मानौ। कारन करन वहै पहिचानौ।
नहिं अनेक नहिं एक दो काया। एक अनेक सरूप सुभाया।
नहिं माया नहिं ब्रह्म बिचारौ। माया ब्रह्म वहै निरधारौ।
ब्रह्म बिष्नु अरु रुद्र न होई। ब्रह्म बिष्नु रुद्रहि मह सोई।
कहि 'अनन्य' यह अकथ कहानी। गुरु प्रताप समुझै कोइ ग्यानी ॥११॥

राग वसंत

जय भक्तबछल सरनाइ राइ। सब देव पुकारैं सरन आइ।
इत बढ़े त्रिपुर दानव नरेस। लिय लूटि नगर ताड़त सुरेस।

अति बढ़े सोक संकट कलेस । अब रच्छ रच्छ समरथ महेस ।
सुनि दीनबन्धु करुना निधान । तब उठे आपु समर्थ भवान ।
किय धरनि महा सुन्दर बिमान । अरु चन्द सुरज चकहा प्रमान ।
किय इन्द्र बरुन घोरे अदंड । पुनि ब्रह्म सुधर सारथि सुमंड ।
अरु बिष्नु बान कीनैं प्रचंड । धरि धनुष मेरु पर्बत अखंड ।
इमि सजि संम्रथ चढ़ि रथ तुरंत । गये त्रिपुर लोक दारुन गजंत ।
तब त्रिपुर सैन बेलो अनन्त । अति त्राहि त्राहि त्रिभुवन करंत ।
रन जुरत परसपर झरत सार । भयौ जुद्ध सहस बरसें अपार ।
तब करी सुरनि आरत पुकार । अब हनत क्यों न करतार तार ।
इमि सुनि पुकार ईस्वर रिसाय । इक बान त्रिपुर दीन्हौं उड़ाय ।
तब फूलि अमर आनँद मनाय । सब नचत बिमल बाजे बजाय ।
अति उमँग बिष्नु ब्रह्मा फनिन्न । बहु करत बिबिध अस्तुति धनिन्न ।
यह सुजस गाथ गावत 'अनिन्न' । जय सिव संकर गौरी जनिन्न ।।१२।।

राग विहागरौ

हम ईस्वर कौ सरन लयौ री ।
कहत अगिनि संसय तज माता महा अभय मम ठीक ठयौ री ।
वे संकर अबिनासी साहिब लोक बेद यह सुजस छयौ री ।
तिनके सरन मरन डर नाहीं यह निहिचौ अब मोहि भयौ री ।
तन मन अर्पि भजौं मैं नाथहिं कोटि बार जिनि काल हयौ री ।
जिनके भजत काल का करिहै सिंह निकट कहुँ स्वान गयौ री ।
अमर कर्यौ जिन चन्द्र स्रापतें महा दच्छ कौ मान नयौ री ।
कहि 'अनन्य' भजि अटल सदासिव मनहुं कोटि अम्रत अचयौ री ।।१३।।

राग सुपान

तात मेरे ईस्वर टरत न मन तैं ।
इहि हरिकेस कहत राजा सौं मन बच क्रम दृढ़ पन तैं ।
सिव सिव सिव रसना रस लागी कढ़त न और बचन तैं ।
ज्यौं स्वातिहि को पीक पपोहै चित हित चलत न अनतैं ।

बहुत भांति तुम मो समुझावत यह नृप नीति पठन तैं ।
सोहि बिभूति छार अति प्यारी मो बिरक्त चित धन तैं ।
अब सुराज रस कस सम लागत सिव रस भक्ति बिसन तैं ।
कहि 'अनन्य' यह सुख जो जानै तिहि न और सुख तन तैं ।।१४।।

राग अड़ानौ

प्रभु भक्तनि के हित कह न कर्‌यौ ।
आपुन सुख सवाद सब त्यागे भक्तनि कहं आनंद भर्‌यौ ।
मथ्यौ समुद्र देव दानव मिलि महा जहर जब ज्वाल कढ़्यौ ।
महा जहर जब कढ़्यौ सिन्धु तैं मरत सकल संसार जर्‌यौ ।
सो आपुन अचयौ रच्छा हित देवनि कहं दिय अमृत ठर्‌यौ ।
चौकी दई आपु अरजुन की दुरजोधन कौ कटक हर्‌यौ ।
निज अस्थान कुबेरहिं दीन्हौं आपु धनी बनबास लियौ ।
तीनि लोक कौ राज दियौ तिनि आपुन भेष अतीत धर्‌यौ ।
इहि बिधि भक्तवछल करुनामय भक्तनि कौ सब काज सर्‌यौ ।
ऐसे प्रभु पहिचानि महानिधि जनु 'अनन्य' तिन भक्ति अर्‌यौ ।।१५।।

राग कल्याण

मन लाग्यौ ईस्वर नाम सौं ।
नैम धर्म हम कछू न जानत सुरति लगी सुख धाम सौं ।
बेद पुरान सास्त्र सब खोजे आगम रच्छ न धाम सौं ।
केवल भक्ति सार त्रिभुवन में जान यहै मत माम सौं ।
गहि निज नाम सबद सतगुरु कौ रहत मगन आराम सौं ।
लोक बेद की आस न राखो नहिं निरगुन गुन ग्राम सौं ।
कहि 'अनन्य' करि ग्यान जोग सिव सदानंद बिसराम सौं ।।१६।।

राग सारंग

सदासिव भजन सदा आनंद ।
मन बच करम परम सुख पूरन दूर होत दुख दंद ।
नाम लेत पातक सब छूटत टूटत क्रम जम फंद ।
हर हर कहत हरत सब बाधा करत जनहिं जगबंद ।

अष्ट सिद्धि नव निद्धि रिद्धि दै करहिं सिद्धि सुखकंद ।
मुक्ति भुक्ति दासी करि राखत भाषत सिव सुर चन्द ।
सब सुख दानि जानि जिनके पद भजत ब्रह्म गोबिंद ।
कहि 'अनन्य' ईस्वर सुख सागर पूरन परमानद ।।१७।।

सदा मन राँचौ यहि रस रंग ।
सतगुरु ग्यान ध्यान ईस्वर कौ पूरन प्रीति अभंग ।
स्रवन सुनन ईसान कथारस बचन कहत गुन अंग ।
नैननि निरखि मनोहर मूरति हिरदय ध्यान उमंग ।
मन परतीति प्रीति परिपूरन तन बिहरत सतसंग ।
चित बिचार आतम परमातम ध्यान सदासिव अंग ।
निसि बासर यह चित्त ब्रत्त करि छोड़ चपलता चंग ।
अटल भक्ति भजि अटल सदासिव कहि 'अनन्य' सरवंग ।।१८।।

भक्ति बिन जीवन कौ फल कौन ।
काया मृतक धौंकनी जैसे खैंचत परबस पौन ।
कहा भयौ पढ़ि बेद पुराननि जैतिक बिद्या जौन ।
भक्ति बिना नीरस सब बातैं ज्यौं सालन बिन नौन ।
धन गज बाजि सैन भूषन पट बिबिध भोग सुख भौन ।
भक्ति बिना ते सुख सब मिथ्या स्वान भखत ज्यौ बौन ।
कहा भयौ पाखंड भेष धरि जगत महत्तम हौन ।
भक्ति बिना धिक् अतित कहावत गुरुहि लजावत तौन ।
सकल प्रपंच ब्रथा बिन भक्तिहि ज्यौं बगुला के मौन ।
कहि 'अनन्य' तत ग्यान जोग करि पैठ भक्ति के भौन ।।१९।।

जगत महं ईस्वर सुमिरन सार ।
और धर्म सब जुग मरजादा यह जुग जुग निरधार ।
जानि सनातन नाम नाथ कौ सुमिर बारहीं बार ।
और सकल सुख द्यौस चार के यह सुख अटल अपार ।
देव लोक बैकुण्ठ ब्रह्मपुर भोग बिषय सुखधार ।
यह सुख इहो लोक सुनि सुरजन सिरज्यौ सिरजनहार ।

लख चौरासी जीव जंत्र में इन्द्री सुख समचार।
यह सुख येही देह जानि नर मानि भाग्य संसार।
सब सुख कौ सुख सबद गुरू कौ सदानंद करतार।
कहि 'अनन्य' फल चारि रिद्धि निधि होत न लागै वार ॥२०॥

हमारे गुरु ईस्वर की आस।
आन द्वार सौ द्वार न राखत समरथ कौ विसवास।
जग महं रहत लहत नहिं काहू मन प्रभु चरन निवास।
जैसे छीप रहत सागर में स्वाति बूंद की प्यास।
धरि निज नाम नैम निसि बासर प्रेम प्रीति रस रास।
लागी लगनि मगन मोदित नित बिहरत भक्ति विलास।
यहि आश्रम श्रम होत न कबहूं सब प्रापति अनयास।
कहि 'अनन्य' भजि नाथ सदासिव सदा अनंद प्रकास ॥२१॥

राग मल्हार

ऐसे प्यारे प्रभु सौं प्रेम निबहिये।
प्रान अधार संजीवन जिय के सुमरि सुमरि जिय लहिये।
जिहि प्रभु तन मन सर्बसु दीनौं पल पल रच्छक कहिये।
धिक जीवन जिहि प्रभुहि बिसरि कै आन वायु जो बहिये।
जिनके चरन सरन मन लावत दरद दूर सब दहिये।
घरी घरी सब बिधि सुख बाढ़त जगत ज्वाल नहिं सहिये।
अरथ धरम अरु काम मोक्ष फल पात निरंतर रहिये।
सधत लोक परलोक जासु तैं तासु नेह मन नहिये।
कहि 'अनन्य' प्रभु अखंड सदासिव सदा इष्ट दृढ़ गहिये ॥२२॥

ऐसौ निज पूरन ग्यान बिचारौ।
पंच तत्व कौ तत्व अखंडित तामहं खबरि सम्हारौ।
परिपूरन सिव सक्ति अखंडित पर हू अपर निहारौ।
वहै सून्य वह ज्योति सरूपी वहै बिबिधि बिस्तारौ।
वहै ब्रह्म माया वह ईस्वर जीव वहै निरधारौ।

वहै देव दानव पुनि वहई, वहै अवनि अवतारौ।
लख चौरासी जीव जन्तु सब वहै समस्त प्रकारौ।
ज्यौं मसि एक अनेक अंक लिखि वहै एक तत धारौ।
त्यों यह एकानेक सनातन आतम बोध सम्हारौ।
चींटी ब्रह्म ऊंच नीचनि प्रति एकहि नजर निहारौ।
कहि 'अनन्य' सरवग्य पूरमत दुबिधा दूर बिडारौ ॥२३॥

राग मारू

जब जागत जागत जागैगौ।
करि सुभ कर्म भर्म तब मन कौ भागत भागत भागैगौ।
अन्तर बिषय बासना सिगरी त्यागत त्यागत त्यागैगौ।
भक्ति जोग बैराग ग्यान मत खागत खागत खागैगौ।
सतगुरु सबद छाप उर अन्तर दागत दागत दागैगौ।
ज्यौं अभ्यास करत रागी सुत रागत रागत रागैगौ।
ग्यान जोग तत ग्यान प्रेम रस पागत पागत पागैगौ।
कहि 'अनन्य' अनहद के मारग लागत लागत लागैगौ ॥२४॥

राग मालव

गुरु कौ सबद अधार हमारैं।
आन धरम धन नजर न आवत तत्व ग्यान के गारैं।
ना हम पंडित ना हम मूरख धन दारिद न हमारैं।
धनी दारिदी मूरख पंडित एकहि नजर निहारैं।
ना हम रागी ना बैरागी राज न जोग बिचारैं।
राज जोग रागनि बैरागनि तत्व नाम पर वारैं।
ना हम नैम धरम ब्रत जानैं सहज दसा मतवारैं।
हमरी गति सिव सक्ति महाप्रभु कहि 'अनन्य' निरधारैं ॥२५॥

सदा हम सिव सिव सिव लव लावैं।
सिव सिव सिव रसना रस बाढ़्यौ सिव सिव सिव मन भावैं।
सिव सिव सिव कहि कै सुख सोवैं सिव सिव सिव उठि गावैं।
सिव सिव सिव कहिकैं मग डगरैं सिव सिव सिव कहि आवैं।

सिव सिव सिव रसना रस लागी निस दिन सहज सुभावैं ।
मिथ्या सबद भूल नहिं भावै सिव सिव लगनि लगावैं ।
सिव सिव सबद सार त्रिभुवन में सिद्ध यहै मुनि ध्यावैं ।
राम राम सब जगत पुकारत राम सदासिव गावैं ।
सब मत कौ मत नाम सदासिव सदा अटल जस छावैं ।
कहि 'अनन्य' सिव सक्ति भक्ति मत पंडित होइ सु पावैं ।।२६।।

राग भीमपलासी

भजौ मन ईस्वर सुर सिरताज ।
त्रिगुन गुनादि अनादि सिद्ध प्रभु परमानन्द समाज ।
सब लायक समरत्थ महाप्रभु बिरद गरीब निवाज ।
मुक्ति भुक्ति सबही फल दायक भवनिधि तरन जहाज ।
जिनिके चरन सरन मन आनत सरत सकल बिधि काज ।
कलप ब्रच्छ की छांह बसत ज्यौं मिटत कलपना साज ।
सुमिरि सदा प्रभु आदि सदासिव सदा जोगनिधिराज ।
कहि 'अनन्य' आनंद अखंडित निरगुन सरगुन साज ।।२७।।
माया त्रिगुन पंच ततखान ।
तामहं सकल बिस्व रह ज्यौं सब उतपति प्रलय बखान ।
केतिक ब्रह्म बिष्नु से ह्वै गये ह्वै हैं किते न आन ।
यह तौ खान अनादि सिद्ध है सहज उपज खपमान ।
केतिक राम कृष्न मकरादिक अवतारी जग जान ।
याही तें उपजे अरु बिनसे ज्यौं जल लहरि हिरान ।
केतिक गन गन्ध्रब सुर नर मुनि पातसाह नृप रानि ।
भयौ सु गयो रह्यौ नहिं कोऊ रही कहन कौ बानि ।
रहे एक प्रभु आदि सदासिव सदा एक रस मान ।
कहि 'अनन्य' ईस्वर अबिनासी मायापति पहिचान ।।२८।।

राग गौरी

सो बैरागी मो मन भावै ।
तन करि सहज दसा जग बिचरै मनहिं भेष पहिरावै ।
सत कौ टोप देय सिर ऊपर तत कौ तिलक बनावै ।

मत की माला पहिरि हिये में जत कोपीन करावै ।
गुरू सबद की स्रवनी स्रवननि सुकृत की कंठी नावै ।
ग्यान गूदरी ओढ़ि महा दृढ़ सिद्ध महन्त कहावै ।
कहि 'अनन्य' निज ग्यान जोग मत अटल भेष पद पावै ।।२९।।

सोइ सतगुरु जामहं मत पूरौ ।
भक्ति बिबेक जोग जुत संयुत दृढ़ बैराग सर्व गुन रूरौ ।
सम संयम संतोष सुहृद मग द्वन्द भेद खलदल करि दूरौ ।
एक तूल जानहि ब्रत मानहिं दुख सुख हानि बृद्धि घर घूरौ ।
केवल ग्यान अगिनि पर जारहि भ्रम कर्मनि कौ कूरौ ।
निर्मल होय प्रबुद्ध सुद्ध मन सुद्ध सरूप दरसि जग मूरौ ।
भजि निरगुन सिव सक्ति सनातन तिरगुन पास ग्यान अति पूरौ ।
उदित होय जग जोति रीति यहि कहि 'अनन्य' सोइ समरथ सूरौ ।।३०।।

सिद्ध सरूप धनी जगमोहन अति अद्भुत छबि छाजै हो ।
कोटि सरद ससि उदित मुदित दुति जगमग जोति बिराजै हो ।
सुन्दर जटा मुकुट सिर मंडित हाटक बरन सुरंगा हो ।
तिन बिच ललित धार अति उज्वल झलकत निरमल गंगा हो ।
लसत लिलाट निराट अर्द्ध ससि परम सुधारस पूरे हो ।
स्रुति मानिक मुद्रा अति झिलमिल कोटिमान छबि रूरे हो ।
कंठहि श्री रुद्राक्ष कंठिका अरु सित कंठ बिलासै हो ।
मनियारे सर्पनि की अवली ललित लहर दुति भासै हो ।
सुन्दर चारु उदार चतुरभुज अति अनूप छबि बाढ़ै हो ।
डमरु त्रिसूल खंग फरसा कर मनहुं चित्र लिख काढ़ै हो ।
अमल बिभूति अंग अति राजति कटि बाघम्बर सोहै हो ।
सिंहासन आसन सुख सागर सुरगन मुनि मन मोहै हो ।
इमि बन जोग रूप जगनायक अरध अंग जग माता हो ।
कहि 'अनन्य' ईस्वर छबि निरखत मोहित बिष्नु बिधाता हो ।।३१।।

सौ मत कौ मत एक यहै ।
परिपूरन ईस्वर सब घट घट लोक बेद गुरु टेरि कहै ।
पय महं घृत मुकता महं पानी ज्यौं चकमक महं आग रहै ।
यों जीवन महं सींव निरन्तर ग्यान जतन गुरु गम्य कहै ।
भक्ति बिबेक जोग साधन कर सिद्ध सुमारग एक गहै ।
त्यों जल सकल मिलत सागर कहं यों मत सब सिव सक्ति कहै ।
एक जानि भ्रम टेक मान तजि दिल की दुबिधा दूर दहै ।
कहि 'अनन्य' अनुभव गुरु गमितैं ग्यान जोग परवान लहै ।।३२।।

---

२३. स्फुट

सवैया

मुख तीन जटा सिर तीन बने, दृग तीन प्रचंड प्रकासन हैं।
भुज तीन तथा पद तीन बने, गुन तीन बिनोद बिलासन हैं।
पुर तीन के नाथ त्रिमूरत हैं, गुन तीनहुं के कृत सासन हैं।
अगुनागुन तीन 'अनन्य' भनैं, त्रिकुटाचल पत्र पटासन हैं ॥१॥

मुख पात चबात धतूरिनि के, बिष खायें सुधारस बोलत हैं।
अलसात से गात बिराजत श्री, द्विजराज घुमाज से डोलत हैं।
दुरि देखत देव अदेव सबै, पुनि दासनि के दुख छोलत हैं।
अवधूत सरूप 'अनन्य' भनैं, बन मांझ निरंजन डोलत हैं ॥२॥

का भयौ एकहि ब्रह्म कहैं, सु कहा भयौ जीव जुदे सब मानें।
विद्यनि के बकवाद करैं, हठि आपु अविद्यहि में भहरानै।
भूत दसा मन की न मिटै, जब लौं इक धारना चित्त न आनै।
सिद्ध सुमारग की करनी कहि, 'अक्षर' सो बिरले जन जानै ॥३॥

हाटक के बहु भूषन हैं, बहु भूषन हाटक एक बखानौ।
काठ कपाट पटा पटिया, लहि काठ वहै दुतिया नहिं मानौ।
माटिहिं के मटकी मटका, घट माटी के रूप सबै पहिचानौ।
'अक्षर' जानि बेदान्त मतौ, सब आतम ब्रह्म परापर जानौ ॥४॥

एकनि जीव जुदे बरनै सब, एकनि एकहि ब्रह्म बतायौ।
एक अनेक की टेक धरी, इतिहासनि जोरि मतौ ठहरायौ।
न्याय बेदान्त के बादनि में, बहु लोग भ्रमै कछु हाथ न आयौं।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर साधन, सिद्ध मतौ बिरले जन पायौ ॥५॥

कवित्त

जाही की सुरति होत ताही कौ हरष सोक,
जाकी न सुरति ताकौ हरष न सोक है।
जाही में सुरति सोई प्रीतम है मन ही में,
जामें न सुर्रति तासौं ढिग ही बियोग है।
'अक्षर अनन्य' है सुरति ही कौ खेल सबै,
सुरति के जानै निज सारासार जोग है।
और बहु जुगतैं बिधान ध्यान साधन हैं,
सुरति सबद कौ मिलन ग्यान जोग है ॥६॥

सवैया

देह की जाति कै जीव कै ईस्वर, ब्रह्म किधौं इन चार में कोहं।
चार बिचार में संसय सोच है, संसय सोच सु मायिक मोहं।
'अक्षर' श्री गुरु अक्षर मूरति, ध्यान अधार न दूसरौ टोहं।
मान बिसार दसा लवलीन, तैं सोई भयौ तब कौन की सोहं ॥७॥

कोऊ न काहु के चित्त की जानत, कोउ न काहू की पीर बिचारै।
आपनी आपनी घात लगे सब, आपनै काज कौं औरनि मारै।
क्यौं करि एकही ब्रह्म थपे सुनि,, ग्रन्थनि साख न नैन निहारै।
'अक्षर' हैं जग जीव जुदे, सब न्याय की रीति सौं न्याय पुकारै ॥८॥

कवित्त

गाइबौ न प्रेम न बजाइबौई प्रेम जान,
रोइबौ न प्रेम करुना है तन छीनता।
नाचिबौ न प्रेम नहीं बांचिबे सौं प्रेम कहैं,
पूजिबौ न प्रेम न प्रनाम जु है दीनता।
ऊपर के प्रेम सब जगर मगर जान,
गनिका कौ प्रेम जैसे अन्तर मलीनता।
'अक्षर अनन्य' गुरु अक्षर सुरति ध्यान,
प्रेम की लगन मन ही की लवलीनता ॥९॥

गगन की चादर दै करता तमासौ रचै,
सूर ससि दीपक त्रिगुन तेल चोखौ है।
सुर नर मुनि नाना नृपति औतार आवै,
स्वांग हैं अनेक चार खान तन ओखौ है।
भयौ सो सिधायौ खोज पायौ फिर ताकौ नाहिं,
'अक्षर अनन्य' ऐसौ भ्रम को भरोखौ है।
ऐरे नर देखै कहा छिरेंटा के पेखिबै कौ,
देख धौं प्रतच्छ जग पेखिबे में धोखौ है ॥१०॥

सवैया

उद्यम कौं भरमैं दसहूं दिसि, त्यौं करि तीरथ धर्म महा है।
खात कमात सबै दिन जात, त्यौं एक दिना ब्रत सत्य रहा है।
आठहु जाम बकै बिन काम, घरी भर नैम सौं काम कहा है।
'अक्षर' जो लवलीन दसा, तिन कौं ब्रततीरथ नाम कहा है ॥११॥

कवित्त

आपु ही में आपुसौ बिराजत है आपु रूप,
थापत सु दूर मूढ़ जानत जनैया है।
घरी घरी पल पल कौ छिन छिन कौ रच्छक है,
सिच्छक है मन कौ सुक्रत कौ मनैया है।
'अक्षर अनन्य' बारि बीचि जो भ्रमन करै,
मानै गुन सोई अवगुन न गुनैया है।
तन कौ तनैया अरु मन कौ मनैया वहै,
बन को बनैया अनबन कौ बनैया है ॥१२॥

अबन में बन करै बन में अबन करै,
बन ही में सुख भरै राखै टेक जन की।
बिमुख के मुख मारै सनमुख दुख जारै,
दुख सुख माहिं जो न छाँड़ै प्रीति पन की।

काम निहकाम कौ सहायक सुभाय जान,
चैंतन अधार लहै भावना भजन की।
'अक्षर अनन्य' दुहूं भांति समरत्थ जान,
मैंटै भ्रम आस कै पुजावै आस मन की ॥१३॥

जोई ताल पोखरनि सरितानि सोखौ जल,
सोंई ताल पोखरनि सरितानि भरिहै।
जोई तरुवरनि कौं जु पत्रनि बिहीन कियौ,
सोई तरुवरनि मांझ फेरि पत्र करिहै।
जोई राजा बलि ऊँच आसन तैं पताल भेजौ,
सोई राजा बलि कौं सु फेरि इंद्र करिहै।
धरैं रहौ धीर बीर 'अक्षर अनन्य' भनै,
जोई उपजाई पीर सोई पीर हरिहै ॥१४॥

जब हतौ गर्भ बास त्रास अति संकट में,
तब न बिसारौ अब कैसे बिसराइ है।
वाल रूप अबल अचेत हू में रच्छा करी,
अब धौं बिचार दुख काहि ना नसाइ है।
आपु बल गाजैं तिन काजैं पुनि दंड देत,
'अक्षर अनन्य' सरनागत सहाइ है।
कब न बनाई कहौ कब न बनावहिगौ,
तब न बनाई कैधौं अब न बनाइ है ॥१५॥

जानी हैं न काहु कोउ जान है न जाकी गति,
निगम हूं नेति नेति गावै गुन गोत है।
जेतौ जिनि जानौ तिनि तेतौ उनमान मानौ,
कोऊ कहै राम कृष्न कोऊ कहै जोत है।
पूरे करतार कौ पसारौ है 'अनन्य' भनै,
मोती बारौ मोती लेत पोत बारौ पोत है।
कौनै कब देखौ रूप रेख भेष चेतन कौ,
हरि हर हू कौं तौ अकास बानी होत है ॥१६॥

डगिये न डग त्याग लगिये लगन ही सौं,
खगिये खगन गुरु ग्यान दृढ़ माच है।
कहिये कहन तेही रहिये रहन सदा,
गहिये गहन धरि हियै निज सांच है।
करिये करनि ध्यान धारना धरनि धरि,
अरिये अरनि तन कुमति कौ कांच है।
चूके तें न ठौर सिरमौर होत ऊँचै चढ़ें,
'अक्षर अनन्य' कला नट कैसौ नाच है ।।१७।।

कुण्डलिया

चित की लगन स्वरूप सौं, जब लखि अटकत नैन।
सो मूरति देखे बिना, छिन भर परत न चैन।
छिन भर परत न चैन, चित्त की लगन सु तौलौं।
तातें अधिक न लहै, रूप वह घट नहिं जौलौं।
कहि 'अनन्य' परवान, कहत हम सबके हित की।
इक छोड़त इक गहत, लगन चंचल है चित की ।।१८।।

मन की लगन जु सुखनि सौं, दुख कौं देखि डराय।
दुखदा कौं सुनि तन तजै, सुखदा तैं लिपटाय।
सुखदा तैं लिपटाय, फिरत सुख ही कहं धायौ।
सब सुख पुजवनहार, नहीं जग में कोउ पायौ।
कहि 'अनन्य' परवान, टेक राखहु नहिं पन की।
सुख ही लौं सुख साख, लगन मिथ्या है मन की ।।१९।।

लगन बुद्धि की गुननि सौं, औगुन कौ परित्याग।
जो गुन आपु सुहावनौ, ता गुन सौं अनुराग।
ता गुन सौं अनुराग, राग विद्या गुन कोई।
गुनी गुनी की प्रीति, ऊंच नीचौ किन होई।
कहि 'अनन्य' परवान, रहत नहिं और सुद्धि की।
गुन हित औगुन त्याग, जान यह लगन बुद्धि की ।।२०।।

अहंकार की लगन में, सोच बिचार न कोय।
कहि आवै सोई करै, होनी होय सु होय।
होनी होय सु होय, भली बातैं सब भूषै।
करै अनचली बात, ताहि दुनिया सब दूषै।
कहि 'अनन्य' परवान, रहत नहिं मति बिचार की।
मन ही मन पछिताय, लगन सठ अहंकार की ॥२१॥

साँची लगन जु ग्यान की, जो कीजे सुबिचार।
लोक बेद दूषै न जिहि, कबहुं न आवै हार।
कबहुं न आवै हार, हार आयैं फिर जीतैं।
बिगरि गयैं फिर बनै, धर्म सरवर नहिं रीतैं।
कहि 'अनन्य' परवान, रीति बिधि बेदनि बांची।
आतम तत्व बिचार, ग्यान की लगन सु सांची ॥२२॥

दोहा

लगन लगन सब कोउ कहै, लगन लग्यौ संसार।
चार लगन अग्यान गति, पंचम ग्यान बिचार ॥२३॥

चित्त लगन मन की लगन, बुद्धि लगन परवान।
अहंकार की लगन पुनि, आतम लगन निदान ॥२४॥

कवित्त

एकै अतीत ग्यान पाय कैं अतीत होत,
जाकौं हरि भक्ति छाँड़ि और न सुहात हैं।
एकै अतीत देखासीखी सौं अतीत होत,
ऊपर तैं त्याग इहाँ भोग कौं ललात हैं।
एकै अतीत काल चाल में मुड़ाय मूंड़,
संतनि कौ भेष धरें भीख मांगि खात हैं।
'अक्षर अनन्य' तीन भाँति के अतीत कहे,
जाके जैसे लच्छन प्रतच्छ जाने जात हैं ॥२५॥

सवैया

सोच कहा जब फक्करता लई, लोक कहा जब ग्यान गहा है।
बेद कहा जब भेद लह्यौ निज, भेष कहा जब तत्व लहा है।
मुक्ति कहा जब भक्ति भई, गुरु सब्द बिषै मन लागि रहा है।
निर्भय खेल 'अनन्य' भनै, जब लागि गई तब लाज कहा है ॥२६॥

सिर खोल सती सत कौं निकसी, सर मांझ सरीर पचैई बनैगौ।
सूर कहा रन तैं मुरकै, रन पूरिकैं मार मचैई बनैगौ।
रीति 'अनन्य' यहै पन की, तन प्रान समर्पि सचैई बनैगौ।
सोच तजौ सिव सक्ति भजौ, अब काछ कछौ सु नचैई बनैगो ॥२७॥

कवित्त

चाहत ग्रहस्थ कोऊ ऐसौ सिद्ध साधू मिलै,
देय कछू सिद्धि मनोकामना पुजावहीं।
चाहत अतीत कछू ऐसी करामात मिलै,
जातैं जग पूजैं अति प्रभुता बढ़ावहीं।
'अक्षर अनन्य' दुहूँ ओर चाह लागि रही,
चाह कहा होत कर्म लिखे फल पावहीं।
बिरले पुरुष मन मारिकैं भगति करैं,
जिन्हें एक धनी कौ भजन मनभावहीं ॥२८॥

नख विकटा देखे जोगी कनफटा देखे,
सीस भारी जटा देखे खाक लायें तन में।
सेवरा दुछोल देखे मौनी अनबोल देखे,
करत किलोल देखे बनखंडी बन में।
सूर अरु बीर देखे केते गुनी क्रूर देखे,
माया के अपूर देखे पूर रहे धन में।
आदिवंत सुखी देखे जनम के दुखी देखे,
निपट न देखे जिन्हें कामना न मन में ॥२९॥

नीके रहै कहिये तौ निगुरा बगुल ध्यानी,
लटे रहै कहैं क्रूर क्रिया न गहत है।

मौन साध रहै कहैं क्रूर जोगी मौन साध,
ग्यान कहै कहैं सिद्धि होत का कहत है।
करै करामात कहैं चेटकी है साधु नाहीं,
करैं बिना कहैं कहा करनी लहत है।
दुनी के सठनि सौं बसात न 'अनन्य' भनै,
निंदा एक साधुनि की साधैं ही रहत हैं ॥३०॥

केते बिप्र बीन बीन कन्द फल मूल खात,
जात नहीं आन द्वार चाहत न सामा कौं।
रूखे सूखे भूखे देख दुखिया कहैं न काहु,
पावैं पुनि सिद्धि रिषि जोगी बड़ी कामा कौं।
'अक्षर अनन्य' देखौं मांगिबे की हीनताई,
जदपि करोड़ मांगि आनै धन धामा कौं।
हरि ही पै माँगैं हरुवाई रिषिनि में भई,
दारिदी खिताब परौ अजहूं सुदामा कौं ॥३१॥

माथिनि पै जटा बढ़े लठा लियैं हाथनि में,
कंठनि में कंठा छोल कंठी रुमकावहीं।
भंग की तरंगनि में बातनि के झल्ला करैं,
मेलनि की चरचा कौं साखी सिखरावहीं।
'अक्षर अनन्य' तीर तोप तरवारि धारि,
कोप की अगिनि दुरवासा सम छावहीं।
धन्य यह जुग जामैं ऐसे सिद्ध साधू मिलैं,
जिनके दरस तैं परम पद पावहीं ॥३२॥

मिरग के मारिबे कौं मूरत की ओंट बैंठौ,
तुरत सदेह ब्याध स्वर्गहि रमाइबौ।
बरसैं सहस दस मौन हो तपस्या करी,
लखिबे कौं दोष प्रेत कर सो भ्रमाइबौ।
ऐसी पाप पुन्य गति सूच्छम 'अनन्य' भनै,
धरमाधरम काजैं अंकुर जमाइबौ।

बिना तत्व ग्यान प्रानी फलाफल जानै नहीं,
आंधरे कुंदेरौ कैसौ करम कमाइबौ ॥३३॥

सवैया

गंग गोदावरि प्राग गया गये, दै परकम्मा कही सब भूसुर।
देख्यौ कछू न कह्यौ कछु काहु, लह्यौ न कछू नहिं काज कछू सर।
हानि भई हरिनाम में 'अक्षर', बीज गयौ जिमि जोति कैं ऊसर।
आतम तत्व बिचार बिना, नर डोलत ज्यौं मगवार कौ मूसर ॥३४॥
चंचल चित्त सदा अपवित्र, न काहू के मित्र सबै दुख दउवा।
बोलत बोल कठोर ठिठोर, न जानत ठौर कुठौर लठउवा।
भक्ति न भाव 'अनन्य' भनै, लरिबे कहं चाव भरे फिरैं हउवा।
स्वारथ हू परमारथ नाहिं, अकारथ ते नर ज्यों खर कउवा ॥३५॥
भक्ति न ग्यान न तीरथ न्हान, न बेद पुरान सुनै बिधि जुत्ता।
जानैं न बेद सु तौ हम जानत, बात कहैं सब सौं अदभुत्ता।
जानै न मानैं 'अनन्य' भनै, भगवानहिं कौं दियै चाहत बुत्ता।
स्वारथ हू परमारथ नाहिं, अकारथ ते नर ज्यों खर कुत्ता ॥३६॥

कवित्त

बन के उमाहे घर माहिं तैं उमाहि कढ़े,
रहे घर बांधे नहिं टोरे कुल फाटके।
इंद्रिनि के बांधे न्यान बन में तैं बंधे आवें,
फिरैं द्वार द्वार करैं बिनय गुन भाट के।
इते बिवहार के बिहार गुन कर्म छूटे,
उतहू न जानैं अंध ईस्वर निराट के।
बिना तत्व ग्यान प्रानी भ्रमत 'अनन्य' भनै,
धोबी के कुत्ता जैसे घर के न घाट के ॥३७॥
भये हैं बिरागी छूटे मन के न राग दोष,
रागी दोषी घर त्याग काहे कौं चले हते।

भक्ति को न जानौ भाव गुरु कौ लजायौ नाव,
पेट ही कौं कढ़े मानौ महुवा फले हते।
'अक्षर अनन्य' देखि भेष के भरम कहे,
धरम तैं नीके कुल जन तैं पले हते।
काहे बर बावरे मुड़ाय मूंड़ भांड़ भये,
खाते जो कमाते तातैं घर ही भले हते ॥३८॥

औगुन गरोहै माँझ करम की कीच मची,
किरमि से जीव बिललात ही रहत हैं।
ऊपर के तर गिरैं तर के उपरि परैं,
ऐसे स्वर्ग नर्क भ्रम बादि हो बहत हैं।
'अक्षर अनन्य' सिव सक्ति जू की भक्ति बिना,
दिन दिन दूने सोक संकट सहत हैं।
निसचय बिचार देखौ दुख कौ न वार पार,
सुख धौं जगत माँझ काहे सौं कहत हैं ॥३९॥

हारि हम बैठे कहा हारे कौं हरावै कोउ,
सब ही सौं हारे हम बैर है न प्रीति है।
जीति हम बैठे और जीतिबे रह्यौ न कोउ,
मन ही के जीतैं और सब जग जीति है।
जानि हम बैठे कछू जानिबे रह्यौ न और,
एक ही के जानिबे लौं जानिबे को रीति है।
'अक्षर अनन्य' गुरु अक्षर अधार धरि,
समता समाधि साधि नीति न अनीति है ॥४०॥

सवैया

न काहू के सत्रु न काहू के मित्र, न काहू के नाथ न चक्कर है।
नहिं काहू सौं जात न काहू सौं पांत, न काहू सौं भाँति बितक्कर हैं।
नहिं काहू के द्वार सौं द्वारै कछू, अपने मत में परिपक्कर हैं।
निज फक्कर कृत्य 'अनन्य' भनै, हम फक्करनाथ के फक्कर हैं ॥४१॥

कवित्त

तुम बैकुंठ के निवासी धनी बासुदेव,
हम कुटीवासी बेप्रवाह सुख सूत हैं।
तुम चारौं फल के दिवैया कर्म फल दाता,
हम फलाफल की करैं न करतूत हैं।
तुम देव देव हौ अदेवनि के रिपुराज,
हमरैं अदेव देव सब सर्बभूत हैं।
तुम दीनबंधु दीनानाथ हौ 'अनन्य' भनै,
हम दीन नाहीं ग्यान योगी अवधूत हैं ॥४२॥

सवैया

श्री पद पद्म धरौ हिरदै, मन छार करौ घर ही बन है।
हरि नाम कौ जाप जपैबौ करौ, करि सिद्द मढ़ी अपनौ तन है।
गुरुग्यान को गूदरो डारो गरैं, जु कछू धन है सु वहै धन है।
जिनसौं घर मांझ कछू न बनो, उनसौं बन मांझ कहा बनहै ॥४३॥

२४. अष्टाङ्ग योग

१. जम, २. नैम, ३. आसन ४. प्रत्याहार, ५. प्रानायाम,६. धारना, ७. ध्यान, ८. समाधि,ये आठ अंग कहे, तिनके न्यारे न्यारे भेद कहत हैं। काहू जीव कौं सतावै नहीं। काहू सौं न मोह करै। लोभ न करै। मिथ्या न बोलै। पराई अस्त्री सौं आसक्त न होय। ये पाँच बातें छांड़ै। तासौं जम कहत हैं। अरु तौलि कै अन्न खाइ। उजन सौं पानी पियै। थोरौ सोवै। भजन कौ, नाम-मन्त्र कौ जपु बंधेज सौं करै। इतनी बातें नैम कहावें। अरु आसनै चौरासी कही हैं। ते सब देह की कसरत माफिक हैं। एक आसन मूलबंध मुखि है। सु मूल द्वार सौं एड़ी लगाइ बैठे। तरे कौ पवन न कढ़न पावै। तब तरे कौ पवन और ऊपर कौ एक होय ऊपर ही चलै, बीच की गांठि फूटि जाय अरु पवन पेट में जैसौ फेरैं तैसौ फिरै। अरु जो जम नैम अन्न पानी के साधैं बिना मूलबंध करै तौ पेट फूलि जाय, पीर होय। तातैं मूलबंध नैम साधि कैं करै। तब प्रत्याहार करै। अपनी नाक पर नजर राखै। इतै उतै नजर चलै तौ फिर नाक ही पै राखै चालीस दिन लौं। आँखें बहैं, पीर बहुत होय, क्रिया न छांड़ै। तब आंखिनि के आगैं जुगुनू सी चमकत देखै। कछू दिननि में उजियारौ सौ होय। अंधियारे भौहरैं गुफा में सब कछू सूझै। यह प्रत्याहार की रीति कही। अरु प्रानायाम कौ साधन ऐसौ कहत हैं। पहिलैं दाहिने नकुवा हो पवन खैंचै तासौं पूरक कहत हैं। पुनि दोउ नकुवा मूँदि पवन रोकै, जौलौं सधै। तासौं कुंभक कहत हैं। फिर डेरे नकुवा तैं बाहिर सांस चलावै। तासौं रेचक कहत हैं। ऐसेई फिर डेरे नकुवा तैं पूरक करै। ऐसेई उलट फेरि करिबौ करै। इनके तीन अच्छिर हैं। तिनकी गिनती सौं प्रानायाम साधै। पूरक में यं यं यं यह कहै। कुंभक में रं रं रं यह कहै। रेचक में बं बं बं यह कहै। ये प्रानायाम के तीन बीज अच्छिर

हैं। सो इनकौ सुमिरन बढ़ावै। जब हजार बार लौं रं रं रं यह कहैं, तौलौं पवन रुकै, तब प्रानायाम सिद्ध होय। पुनि धारना कही। बीच में कैऊ बिघन होत हैं, कै कछू कुजरब तैं पेट पीर होय, तौ धारना न छांड़ै। कै संसार मैं मानता होइ, नीकौ खैबे पहिरबे में मन आवे। कै बचन सिद्धि होइ, काहू सराप देय, काहू आसीरबाद देय, सो होय, कै काहू अस्त्री सौं मन लगै, मनसा सिद्धि की बांधी चली आवैं, वासौं आसक्त हो रहै। ऐसे ऐसे भले बुरे कैऊ बिघन आन होत हैं। तिनमें भूलै नहीं। वाही साधन सौं रहै, तासौं धारना कहत हैं। ऐसी धारना सौं रहै। अरु अजपा कौ सुमिरन करै। जब साँस भीतरी आवै तब 'सो' यह अच्छिर कहै, अरु बाहिर साँस आवै तब 'हं' यह अच्छिर कहै। ये दोई अच्छिर सांस ही सौं सोऽहं सोऽहं कहिबौ करै, जीभ सौं न जपै तातैं अजपा कहाउत है। या अजपा की धारना करै। अरु छहू कमलनि में छहू देवतनि कौ ध्यान करै। पहिलैं मूल कमल है ताके चारि दल हैं तामैं गनेस जू कौ ध्यान करै। दूसरौ मनिपूर कमल है ताके छह दल हैं। पेसाब की जांगा जल में है तामें ब्रह्मा जू कौ ध्यान करै। तीसरौ नाभि कमल है टुड़ी के बीच, ताके आठ दल हैं तामें नारायन कौ ध्यान करै। चौथौ हृदय कमल है हिरदै में। ताके दस दल हैं। तामें आतमा जू कौ ध्यान करै। पाँचओ अग्या कमल है कंठ में, ताके सोरह दल हैं, तामें सरस्वतीजू कौ ध्यान करै। छटओं नेत्र कमल है, दोई नेत्र वा कमल के दल हैं, सु दुहूं नेत्रनि के बीच भौंहनि के मद्धि, सिव मूरति जोति लिंग कौ ध्यान करैं। इन छहू कमलनि के ऊपर माथे में महापदम है, तामें जोगमाया भवानीजू कौ ध्यान करैं। तब फिर मूल कमल तैं याही भांति ध्यान कीबौ करै। एकांत बैठौ रहै। दूसरौ मानुष ढिग न रहै। पुनि समाधि करै, पवन माथैं चढ़ावै। नाक कान मुख आंखैं मूंदिकैं ऊपर कौं पवन चलावै। जब पवन माथैं जाय तब जीभ के सांस के सुर बंद करै। जौलौं जीभ न खैंचै तौलौं समाधि लगी रहै। जब समाधि खोल्यौ चाहै तब जीभ खेंचि लेइ। सु जीभकौं पहिल बढ़ाइबौ करै। गाय के नैनू सौं अरु मिरचनि सौं जीभ सूंटिबौ करत हैं। जब चार पाँच आंगुर मुंह तैं जोभ बाहिर कढ़न लगै, तब रहन देइ। जहाँ नाक कौ सुर है, तरुवा लघां तहां लौं जब जीभ जाइ, तब पवन चढ़ाइ कैं जीभ सौं सुर बंद करै। चाहै

तब खोलि देइ । जब यह क्रिया सिद्ध होइ, तब काल तैं बचै । जब काल कौ समऔ जानैं, तब समाधि लगाइ रहै, वह समऔ बचाय देइ, तब उतनी बरसनि कौं सुचित होय । या भांति काल तैं बचै अरु बीच के बिघन बचायें रहै । सु बिघन दोइ हैं । अहार, बिहार । सु अहार तौ अकेले ओगरा कौ करै । दार अरु चांवर पानी में ऐसे चुरावै जु मिल कैं मांड सौ हो जाइ, सोई पियै । कै सिवरस बनावैं । सिवरस ऐसौ कहत हैं, जु बासन में पानी भरै, तामें दार भात रोटी, खैबे की सामां होइ, सो पानी में डारत जाइ, जब सर जाइ तब मीड़ कै मांड सौं छान पियै । याही अहार सौं रहै अरु जो नीके मीठे पै मन चलै, खाइ तौ बितकर्म होइ, रोग होइ, जोग भ्रष्ट हो जाइ, एक बिघन यह है । अरु दूसरौ बिघन अस्त्री सौं है । जोगी अपनौ बीज नीचे तैं सुर सौं खैंचि कैं माथैं राखत है, तातैं उरधरेता कहावत है । जो वे अस्त्री देखैं अरु मन में काम उंमगै, संजोग न होइ, तौ अपसमार बाउ होइ, हाथ पांउ लुंजा होइ जायं अरु जो अस्त्री सौं संजोग होइ, बीज सधै तौ अगिनि बाउ होइ,तातैं जोगी बन कंदरनि में रहत हैं । अस्त्री कौ मुख नाहीं देखत, न गांव के नगीच आवैं, जहां लौं अस्त्री के मुख कौ गाइबौ अरु बातें न सुनैं तौलौं मन सुद्ध रहै । तौही लौं जोग सधैं । यह अष्टांग जोग कहावै । यामें एक आरबल बढ़ाइबे जीवे कौ साधन है और सिद्धि यामें नाहीं । या जोग की जुगति सौं देह जौलौं राखै तौलौं रहै । अरु जब अधिक बूढ़ौ होइ तब और मुरदा कोउ मर्‌यौ होइ ताके मुंह सौं मुंह लगाइ अपनौ जीउ वामें लै राखै । अपनी देह छांड देइ वाइ देह सौं जोग साधै, ऐसी जुगति कौ खेल जोग कौ है । सु या अष्टांग जोग सौं छोटो जोग कहत हैं । यामें देह कौ कसिबौ, देह कौ राखिबौ है, अपने जतन सौं, अरु चूकै तब बिनसि जाइ । पूरी खातिर जमा नाहीं, अरु सिद्धि कछू नाहीं । यातैं अधिक सिद्धांत जोग है । तामें बड़ी बड़ी सिद्धें होति हैं । ता कौ साधन या भाँति कह्यौ है । पहिल तौ तोलि कै नाज खाय मौताजु ठहराइ चुकै, तब एक पैसा भरि घटि खाय, सोई पैसा भरि जेयैं पर दूध पियै । औरये दिन टका भरि नाज छोड़ै तापै टका भरि दूध पियै । ऐसे क्रम सौं नाज छोड़ै, दूध पियै । जब दूध ठहराइ चुकै तब पैसा भरि दूध

घटावै। उतनौ पानी मिलावै। याही क्रम सौं दूध घटा देइ। पानी कौ अहार करै। पुनि पैसा पैसा भरि पानी घटाइ देइ। तब अकेले पवन के अहार सौं रहै। तब पेट में मल मूत्र न रहै। निरमल कोठा होइ। तब गुफा भौहरै में बैठै, जहाँ बैहरि कौ घाम कौ गम न होइ। न दिया राखै। अंधियारे में बैठौ रहै, प्रानायाम कौ साधन करै अरु मूल चक्र कौ ध्यान साधै। अरु मूल चक्र में छप्पन अच्छिर कौ मंत्र जपै, तब वा मंत्र के जोग सौं मूल चक्र सिद्ध होय। सु मूल चक्र प्रथी कौ रूप है। मूल चक्र के सिद्ध भयें प्रथी पै जहां गम अगम जांगा गयौ चाहै तहाँ जाइ अरु प्रथी में धन और बस्तु जु गड़ी होय सो सब सूझै। अरु प्रथी में गड़ा खोदि कै अपुन बैठै। ऊपर माटी डराय देइ। जौलौं रहै तौलौं न मरै न सरै। अरु भीतर ही भीतर जहां गयौ चाहै तहाँ जाइ। उखरै तब दूसरे मनिपूर जल चक्र कौ साधन करै। ता जल चक्र कौ बावन अच्छिर कौ मन्त्र है। ता मन्त्र के जोग सौं जल चक्र सिद्ध होय। तब जल में जौलौं रहै चाहै तौलौं रहै अरु जल ही में बूड़ि कै जहाँ जानै तहाँ जाय ऊछरै। तब अगिनि चक्र कौ साधन करै। ताकौ बासठ अच्छिर कौ मंत्र है, ता मंत्र के जोग सौं अगिनि चक्र सिद्ध होय। तब अगिनि में आसन करै, बरै नहीं। सु ये तीन सिद्धैं भयें तें जो संसार कौं तमासौ दिखावै, आगि में बैठि दिखावै, पानी में बूड़ि दिखावै, प्रथी में गड़ि दिखावै, तौ संसार में सिद्ध कहावै। सब कोऊ जात्रा मांत्रा करै, तौ इन सिद्धिनि में भूलि रहै। अरु संसार में सिद्धि जाहिर न करै। पवन चक्र कौ साधन करै। ताकौ अड़तीस अच्छिर कौ मंत्र है। ता मंत्र के जोग सौं पवन चक्र सिद्ध होय। तब पवन में उड़ि कैं जहां गयो चाहै तहां जाइ। तब मन चक्र कौ साधन करै। ताकौ चौंसठ अच्छिर कौ मंत्र है। ता मंत्र के जोग सौं मन चक्र सिद्ध होय। तब जहां कौ मन करै, आकास, पाताल, देवलोकनि, दीपनि, जहाँ कौ मन करै तहां तुरत ही पहुँचे। तहां पवन चक्र सौं, मन चक्र सौं सब जाँगा के तमासे देखबे कौ इसक परे, देव लोक की अपछरा देखै, सिंघल दीप की पदमिनी देखै। काम उंमगै तौ बितकर्म होइ। अरु जो उनसौं संजोग करै, तो उनको रस परै, वही बिसन परि जाय, तौ जोग भ्रष्ट होइ। जोग सौं, भोग सौं बैर है।

जोग है तहाँ भोग नाहीं, भोग है तहां जोग नाहीं। जो भोग तें बचौ रहै तौ जोग सिद्ध होइ। तब परमातमा कौ दरसन होइ, अरु अनिमा सिद्धि होइ। जैसौ रूप धर्‍यौ चाहै तैसौ धरै। ये सिद्धैं सब होंय। तातैं यह सिद्धांत जोग कहावै। सु वा अष्टांग जोग तें यह सिद्धांत जोग बड़ौ है। अरु सिद्धांत जोग तें ग्यान जोग बड़ौ है। ता ग्यान जोग में वे दोइ जोग दूषे हैं। यातैं जु अष्टांग जोगी कौ बिचार एक जीवै पर है, जोग जुगति सौं जीवौ करै, तहां ग्यान जोग में कही कै ऐसौ जीवौ कौन काम, जु सुनार कैसी आगि भयौ रहै। गुफा में रहै, ओगरा खाय कैं, पवन भखि कें हजारनि बरसनि जियत हैं। तौ कौन जीवन है। जीवौ तौ सोइ भलौ जो आनंद सौं रहै। अरु सिद्धान्त जोग कौं यातें दूषत हैं, जु सिद्धिनि के काजैं वे इतने कष्ट करत हैं। सु सिद्धैं बड़ौ पदारथ नाहीं। जु पानी में बूड़ै फिरै तो कहा, मछरी मेंदरे से किते जीव पानी में रहत हैं। जलमानस रहत है। तैसी सिद्धि कही है। अरु पवन में जु पंछिनि की नांई उड़ैं फिरै तौ कहा। तातैं ये सब सिद्धैं बड़ौ पदारथ नाहीं। उनके काजैं इतने औटपाउ कसाले करै। अरु अनिमा सिद्धि पाइ कैं जो रूप धर्‍यौ चाहै तैसौ धरि लेइ। तौ यह सिद्धि तौ भूतनि में, राछसनि ही में होति है। जैसे भयौ चाहत हैं तैसौ रूप धरत हैं, तौ कहा। यह बड़ौ पुरुषारथ नाहीं। तातैं सार असार कौ बिचार करै। ये सब सिद्धैं असार हैं, अरु सब संसार सब लोकनि के सुख असार हैं। सु इनकौ चित्त तैं त्याग करै। अभिलाष काहू कौं न करै। एक परमातमा कौ ध्यान सुमिरन करै, वही सत्ता है, वही चेतन है, वही आनंद रूप है। वाही की सब सिद्धैं हैं। वाही सौं मन लगावै। फलनि की, सिद्धि की इच्छा न करै, अरु जो चाहैं तौ अनेक सिद्धैं उनकी कृपा तें होति हैं। अरु जैसें जोगी जीवे के काजैं ओगरा खाय,पवन भखि जियत हैं, जौलौं बिघननि तें बचत हैं, अरु चूके तें मारे जात हैं, निदान अमर नाहीं होत। अरु या धारना में जो जीवौ बांछै तौ एक जुबान में अजर अमर होइ। जैसे ध्रुव अटल भये। अरु जोगी अपनी देह बरयाय कै कष्ट सौं राखत हैं। ध्रुव परिवार सुंधा अटल भये। ईस्वर की कृपा ऐसी है। अरु जोगी कौ सहाइक कोऊ नाहीं। जौलौं जोग जुगति सधै तौलौं अपने बल रहै।

अरु ईस्वर कौ बल ऐसो है जैसे प्रहलाद की जल थल में अगिनि में रच्छा करी। तातैं भक्ति मारग तैं ग्यान जोग बड़ौ है। जे बड़े बड़े राजा रिषि भये हैं तिन यही साधन कर्यौ है। अरु कृष्न जू ने अरजुन सौं कह्यौ, महादेव जू ने बसिष्ठ सौं कह्यौ। अरु जे बड़े बड़े ग्यानी हैं, ते ग्यान जोग ही की धारना करत हैं। सु ग्यान जोग कौ साधन ऐसो है। जु देह कै इतनौ साधन करै, न अफरि कै खाय, न भूखौ रहै, न उपासौ रहै। सहज संजम करै। सुरति सुमिरन में राखै। सुरति सुमिरन सौं बीच न परै, जैसैं जाड़ौ लगै तौ तुरत ओढ़ना ओढ़ि लेइ। जो न ओढ़ै तौ जाड़ के मारैं सुमिरन भूलि जाइ। ऐसे जु देह के करम हैं, जामें मन चलै सु करै, अरु सुमिरन कीबौ करै। सुरति न छूटै, साधन बड़ौ सुरति ही कौ है। यह मन कृष्न जू ने महादेव जू कौं पूंछौ कै जोगी कौन सौं कहियत हैं। कै पवन के साधन सौं कै अहार निद्रा जीतिबे सौं, कै बन बासी सौं, के अस्त्री कै त्यागिबे सौं, सु जोगी को कहावै। तब महादेव जू ने एक अश्लोक कह्यौ :—

मनः स्थिरः भवेद्योगी मनसा स्मरणं सदा।
सिद्ध्यसिद्धि परित्यागी द्वन्द्वभेदविवर्जितः॥

जाकौ मन अस्थिर है, सदा मनसा सुमिरन करत रहै, सिद्धि असिद्धि कौ त्याग करै, न सिद्धि चाहै न असिद्धि कौं डराइ। होइ सु होइ, नाहीं सु नाहीं। अरु द्वन्द भेद कहावै, दुबिधा कछू न राखै, यह न जानै कै वह और, वह और। सबमें वोही परमातमा कौं देखै सोई जोगी है। अरु या जोग में बिघन नाहीं, बिरोध नाहीं। जैसैं वा जोग में अस्त्री पुरुष कौ बिरोध है, जो पुरुष जोग साधै तौ अस्त्री कौ मुख न देखै, अरु अस्त्री जोग साधै तो पुरुष कौं मुख न देखै, जु देखै अरु देखैं तैं रस उमगै तौ जोग भ्रष्ट होइ। अरु ग्यान जोग में अस्त्री पुरुष कौ भेद नाहीं, जोई परमातमा अस्त्री में है सोई पुरुष में है। जो दसरन परसन होउ तौ भलौ होउ, नहीं होउ तौ कलपना नाहीं। सब बातनि कौं सहज राखै अरु परमातमा कौं अजाति करि जानै। न परमातमा अस्त्री है न पुरुष है अरु पुरुष हू में है अस्त्री हू में है। दोई रूप वाके हैं अरु दोइ तरहा के नाम हैं। एकै पुरुष वाचक नाम है ईस्वर, परमेस्वर, परब्रह्म कहत हैं।

एकै ईस्वरी, परमेस्वरी, भवानी जू कहत हैं, ताकौं तैसि ही रूप लखाउ होत है। वह तत सरूप एक है। ऐसौ एक मत जानै। सब भांति समता राखै। मनसा सदा सुमिरन में राखै। यासों ग्यान जोग कहत हैं। सहज साधन है। ग्यानिनि कौ यही मत है। अरु जैसें और जोग में सिद्धें होति हैं तैसें ग्यान जोग में ग्यान सिद्धि होति है। ग्यान सिद्धि ऐसी है, जो पढ़ें अनपढ़ें, सुनै अनसुनै, बेद सास्त्रनि के भेद सब आपु तें भासत हैं अरु परमातमा कौ सरूप भासत है। अरु अबिद्या हिरदै तें दूर होति है, सरवग्यता होत है, संसारी फलनि की कामना नाहीं रहति। वाही तत सरूप में सुरति रहत है, सहज समाधि बनी रहत है। यह ग्यान जोग कौ प्रमान है। अरु ग्यान जोग कौ, अरु भक्ति कौ इतनौ भेद है, जु भक्ति में ठाकुर के चाकर कैसी रीति है। ईस्वर सौं ठाकुर कहत हैं अपुन दास भाव सौं सेवा पूजा दंडवत करत हैं, चरनोदक, परसाद लेत हैं। अरु ग्यान जोग में ठाकुर चाकर कौ ब्यौहार नाहीं। जैसै पवन की स्वाँसा जु अपनी देह में आउत है तासौं अपनौ प्रान कहत हैं, अपनौ अधार करि जानत हैं। खायैं, पियैं, सूँघैं, जो भोग करैं, सो उनहीं चढ़ावैं। अपने कर्मनि कौ भोगता उनहीं मानत हैं। यातैं ग्यानी कौं कर्म नाहीं लगत। अरु भक्त पुनि उनहीं चढ़ावत हैं। ये भक्त बाहिर चढ़ावत हैं। जैसें प्रतिमा कौं चढ़ाइ खात पियत हैं अरु और सर्व कर्म नाउ लै करत हैं, तैसें ग्यानी सुरति सौं अंतहकरन अर्पत हैं, आपु तें जुदौ नाहीं जानत। वे जुदौ ठाकुर करि मानत हैं, इतनौ तफावत है। तहां ग्यान करैं तें नाहीं होत भक्ति करैं तें होत है। भक्ति करत करत अंतहकरन सुद्ध होत है। तब ग्यान होत है, सु ग्यान कौ कारन भक्ति है अरु ग्यान ही कौ कारन जोग है। कै जोग तें ग्यान होत है कै भक्ति तें ग्यान होति है। सो जोग अब कलजुग में सिद्ध नाहीं होत, भक्ति सिद्ध होति है। तहां भक्ति दो भांति की है। एक तौ सामान्नि भक्ति है, एक बिसेष भक्ति है। तहां सामान्नि भक्ति ऐसी कही है, जु इष्ट देवता कौ नाम लेइ, गुन गावै, प्रतिमा पूजा दंडौत प्रनाम करै, तिलक माला धरै, कथा कीरतन में मन लगावै। यह सामान्नि भक्ति कही। यामें मौताजु नाहीं। बेग दरसन होइ कै बहुत दिननि में होइ अरु एक ही जनम में होइ कै

हजार जनम में होइ, यह मौताजु सामान्नि भक्ति में नाहीं । अरु बिसेष भक्ति में मौताजु है, कै इतने दिननि में, कै महीननि में, कै बरसनि में, जितनौ जाकौ मौताजु है, तितनौ पूजै तब ही दरसन पावै । तहां बिसेष भक्ति कौ उपदेस पूरे गुरु तैं होत है । जु गुरु पंचांग बिधान बतावै, सु एक अंग तौ कवच है । कवच पहलैं पढ़ै, तौ अंगनि की, अस्थान की, सब जांगा रच्छा होइ, बिघननि तैं बचै । अरु दूसरौ अंग पद्धति है । सु पद्धति में पूजा बिधान है, ताही बिधि सौं पूजा करै । तीसरौ अंग अस्तोत्र है, ताकरि अस्तुति करै । चौथौ अंग सहस्रनाम है, सु पाठ करै । पांचऔ अंग पटल है । पटल में मंत्र के जप कौ नैम अरु होम कह्यौ है । सु जा मंत्र कौ जितनौ जप अरु होम कह्यौ तितनौ करै । यासौं जप जग्य कहत हैं । जप जग्य में दो बातैं हैं । एक तौ कामना पै है, एक दरसन पै है । जु तौ काहू फल की कामना करि कै करै, तौ सु फल पावै । ताकौ जप होम और भाँति है अरु दरसन पै करै ताकी बिधि और भांति है । सु ये दोई बिधान सास्त्रनि में सौगंध लिखे हैं कै जो कोउ काउ के आगैं कहै, बांचै तौ ब्रह्महत्या लगै । अरु जो लोभ तैं कोउ सिखवै, कै कोउ कछू देन कहै ताकौं उपदेस देइ तौ ताकौं देवता की सराप होय । यातैं यह मारग गोप्य है । बाजे पंडितनि के हैं ते बातवत नाहीं, ना बेई करि सकें । बिना पूरे गुरु के उपदेसे जो पंडिताई के बल करै तौ बिघन होइ, सिद्धि न होइ । तातैं यह बिसेष भक्ति कौ मारग गोप्य है अरु सामान्नि मारग प्रसिद्ध है, सु सबई जहां तहां करत हैं । पै दरसन लखाउ काहू कौं नाहीं, परिचै काहू काहू कौं भयो है ते संसार में जाहिर भये । सु अब कलजुग में सामान्नि भक्ति है । बिसेष भक्ति बिरली जाँगा है । अरु दो बातें भक्ति में बिकार हैं । एक तौ झूठौ बोलिबौ । जो झूठी बोलै तौ वा जीभ कौ सता जरि जात है । वा जीभ सौं जु जाप करै सु सिद्ध न होइ । अरु दूसरे लोभ । सास्त्र में कहत हैं कै 'लोभ मूलंहि पापानां' सब पापनि कौ मूल लोभ है । जो भक्ति मारग में त्रसुद्धि होइ तौ लोभ कौ त्याग करै । तौ भक्ति सिद्ध होइ । जैसें धना खेत बवन गयौ, तौ उहां अतीत आये भूखे । अन्न मांग्यौ । वाने बीज कौ नाज सब दे घाल्यौ । घरै तबै आयो, बाप के डरनि तौ ईस्वर वाकी त्रसुद्धता देख कै खेत निपजायौ । परिचौ भयौ,

सबही जान्यौ। यह त्रसुद्धता कौ मारग भक्ति में कह्यौ। सु अब या जुग में ये सब मारग जैसे कहे हैं तैसे बिरली जांगा होत हैं। यह जोग कहावत है। दो मन जब एक से जुरत हैं तब जोग सधत है। जैसे ग्रहस्त धरम में अस्त्री पुरुष जो एक मन के मिलें तौ आसरम सधै अरु जो अस्त्री कौ मन और राह में, पुरुष कौ और राह में, तौ ग्रहस्त धर्म न सधै, दुख भर नासौ होय। तैसं गुरु सिष्य जब एक मन के होत हैं तब क्रिया सिद्ध होत है। सु अब के गुरु कहत और हैं करत और हैं, परमोध करि सिष्य साखा करि धन लीबे पै नजर राखत हैं। चाहिये गुरु हो कै अपुन सिद्धांत की राह चलै अरु सांचौ उपदेस करै। अरु सिष्य ऐसौ चाहिये जु गुरु की आग्या होइ, सोइ करै अरु माथौ दीबे लौं त्रिसुद्ध रहै। ऐसे दोइ होयं तब जु क्रिया साधै सु सिद्ध होय। सु या जुग में दो मन एक से जुरिबौ कठिन है। न एक से गुरु-सिष्य, न एक से अस्त्री-पुरुष। ईस्वर की कृपा तैं बिरली जांगा होत हैं। तातैं अब या जुग में पंचांग भक्ति, अष्टांग जोग नाहीं सधत। नकलैं होइ रही हैं। भक्ति तौ यह रही है, टीकौ, माला, आरती गाइबौ, साखी सबदी सीखिबौ बनाइबौ, चरचा बाद कीबौ अरु जोग इतनौ जु सुर परीच्छा, आसनैं सीखी। कान मूंदें तैं पवन कौ सन्नाहट सुनिबौ, यासैं अनहद बानी कहत हैं अरु आंख नाक कान मूँदि ऊपर कौं दम खैंचत हैं, तासौं झिलमिली पंथ कहत हैं, ताके पद जोरे हैं—'झिलमिल-झिलमिल बरषै नूर; सिर पर साहिब सदा हुजूर'। सु ऐसे पद सुनि अपुनि भरमें हैं अरु औरनि भरमावत हैं अरु एकै सूरज कौंधी पीठ दै ठाड़े रहत हैं, फिर आकास कौंधी चितवत हैं। ऊसी छाया आकास में भासत है, चित्त में जु छाइ जात है, सोइ बड़ी बार लौं उतै सूझत है, ताके पद जोरे हैं–'गगन पुरुष सत गुरु पै दीठा।' ऐसे ऐसे भरमना के पंथ अग्यानिनि चलाये हैं, तिनकी बातनि में बहुतेरे भूलि रहे हैं। ये पांखड कहावत हैं, जिनके करे कौ अरु कहे सुने कौ फल कछू नाहीं। पै हाल उनकौ यह फल है, जु सिष्य साखा करि रुजिगार चलावत हैं। अरु जे उनकी बातनि में लगे हैं तिनकौं दो बात की हानि होत है। हाल तौ जु पाखंडी कौं चढ़ावै सु टका अकारथ जाय। दये कौ धर्म नाहीं, दूसरे परलोक बिगरै। बेद बिरोध जे कर्म

हैं ते अधर्म रूप सब हैं। जैसे बिभचारिनी अस्त्री कैं जो लरिका होइ,तौ न संतान बढ़ै न धर्म बढ़ै, विटम्मना होय। तैसे बेद बिरोधी पंथ अधम जीवनि के हैं। तातैं पाखंडिनि की संगति न करै। बेद प्रमान जु थोरौ बहुत साधन बनै सु करै अरु ईस्वर कौ नाम लेइ अरु जथासक्ति बनै सु ईस्वर निमित्त दान देय। तहां दान तीन तरह कौ है। एक तौ ब्रथा दान है। जैसे भांड, कलावंत, नट बेड़िया, हुरकिनी, मांगिना इनकौ दान ब्रथा हैं। न लोक में जस होइ, न परलोक सुधरै। दूसरौ पाखंड दान है। सबके दिखाइबे कौं, बड़ाई कौं देय, कबिनि कौं देय, तौ लोक में जस होय। तीसरौ बेद के पढ़ैं, बिधि सौं देय, साधुनि कौं देय, सु ईस्वर निमित्त है। लोक परलोक दोइ सुधरैं। अरु चार भांति भक्ति कौ बिचार है। एक तौ जैसे गरोब भिखारी दाता कैं जात है, हर भांति वाहि रिझवत है। गुनो होइ तौ गुन कै रिझावै, नातर दीन हो मांगै। मतलब, प्रापति सौं दाता सौं मुंह खुसामधि करत है। निदान प्रीति नाहीं। जब पावै, तब अपनौ कारज करै। दाता की बड़ाई करै। तैसे जाकैं फल की कामना होइ, धन की, कै सन्तान की, कै मुक्ति भुक्ति की, तौ इष्ट देवता की आराधना करै, फल पावै। यह भक्ति भिखारी जैसी रीति है, चाहना माफिक। अरु दूसरी भक्ति ऐसी है जैसै कोउ काहू के डर बड़े के सरन आवै। वासौं दीन होइ कै 'तुमही मोहि सूझत हौ, तुम्हारे सरन हौं' ऐसी बातैं कहै, मतलब अपने बचाउ कौं। तैसैं गाढ़ौ, सांकरौ कछू परै, कै कछू पीरा होय तौ रच्छा के लयैं ईस्वर कौ आसरौ लेय कै ईस्वर रच्छा करैं, ये आरत भक्त कहावैं। तीसरे जग्यासी हैं। जैसे बिद्यारथी बिद्या के निमित्त गुरु की सेवा करै, धन देय, बिद्या सीखै, जब सीख सुनि चुकै, पढ़ि चुकै, तब गुरु सौं साधारन भाव हो जाइ। न वह सेवा रहै न दैवो रहै, तैसै जब जी की भर्भना न मिटै, न बुद्धि बढ़ै, तब देवता की आराधना करै। ताके प्रसन्न भयैं सब बात कौ ग्यान होइ। ते जग्यासी भक्त कहावैं। अरु जे निहकाम भक्त हैं, तिनकी रीतैं ऐसो हैं, जैसे अस्त्री पुरुष की प्रीति, भेद कछू नाहीं। धन है तौ दुहुनि कौ एक है, संतान है तौ एक है, सुख दुख एक है। बीच में दूसरी कामना नाहीं। अस्त्री पुरुष कौं चाहै, पुरुष अस्त्री कौं चाहै, मिलिबे कौ प्रेम देखबे कौ सुख। तैसैं जाकैं

दरसन में, मिलिबे में, लगनि है, तेई केवल भक्त हैं, तेई ग्यानी हैं, तेई जोगी हैं। अरु दो के मिलिबे कौ नाव जोग है। कोउ भक्ति करि जोग मिलत हैं, कोउ ग्याम करि मिलत हैं, कोउ अष्टांग करि मिलत हैं। जोगी तीन कहावत हैं। एक सहज जोग है, सु सुगम है। जैसे मनैं आवे तैंसे रहै। अकेलौ सुमिरन मन में कीवौ करै। बैठत उठत, खात कमात, चलत फिरत सुमिरन न छांड़ै। तहां सुमिरन तीन भांति हैं–नाम, रूप, गुन। सु सहज में नाम लीवौं करै अरु अपने काम काज सब करै। अरु सुचित होइ बैंठे, तब रूप कौं ध्यान करै। अरु संतसंग में बैंठे तब गून कथा कहै सुनैं। इन तीन धारना में रहै सु सहज जोगी कहावैं। मारग यह सहज कौ है अरु सबतैं बड़ौ है। जे कर्म करै ते बंधका नाहीं होत अरु बिघन नाहीं होत। हठधर्मनि में बिघन हैं। सहज जोग सदा सिद्धई है।

आसंका स्रद्धा की

स्रद्धा यासौं कहत हैं। जैसे पूजा दान ब्रत होम कौनू साधन करन लगै। जौलौं वा साधन पै बैठे तौलौं एक सौ मन राखै। जु एक सौ मन न रहै, बीच ही उकिलाइ उठै, कै मन में यह आवै, कै कब हो चुकै, कब उठिये, कै यह मन में आवै, कै हम यह नैम कहां तैं कर्‌यौ। सो इन बातन सौं अस्रद्धा कहत हैं। जो अस्रद्धा होइ तौ पुन्नि तौ होइ पै वा पद कौं न पावै। तातैं जु साधन करै तामैं एक सौ मन राखै। यासौं स्रद्धा कहत हैं। ताकौं स्रद्धा रहिबौ कठिन है। करत तौ बहुत रहै पै बीच में मन अकुलाइ जात है तातैं सिद्ध क्रिया नाहीं होत। जिनकौ एक सौ मन रहत है तेई सिद्ध होत हैं।

अहंकार की आसंका

कै अहंकार कै भांति के हैं। तहां अहंकार तीनि हैं। एक तौ सातुक अहंकार है जु साधुनि में है। दूसरौ राजस अहंकार हैं सु राज-नीति में है। तीसरौ तामस अहंकार है सु दुष्ट जीवनि में है। तहां सातुक अहंकार यासौं कहत हैं। जु भक्ति पूजा जाप काहू क्रिया कौ साधन करै वीच में कछू अबन आनि होइ तौ कचाय नाहीं। जी में यह राखै कै होमी

होइ सु होइ, बनै कै बिगरै, अब तौ नैम न छांड़ौं। या सौं सातुक अहंकार कहत हैं। अरु राजस अहंकार हुकुम सौं है। जु कोउ हुकुम न मानै तासौं खुनस करै, अपनौ हुकुम राखै। जब हुकुम मानै, रुजू करै, तब छमा करै। हुकुम ही लौं अहंकार रहै। यह राजस अहंकार है। अरु तामस अहंकार यह है जु अपने मुंह तें चूकि कें कहि आवै तौ वही टेक निबाहै। अरु वामें बिगरत होइ तऊ अहंकार तें चूक परी होइ तौ मारिबे बिडा-रिबे की टेक करै। फिर जो वह रुजू करै, चूक माफ करावै, तऊ न मानै कै मोहि अब तौ कहि आई है सोई करिहौं। यासौं तामस अहंकार कहत हैं। यह अहंकार बिसेष डार्यो है। अरु राजसी मद्धि भाग राज-नीति में लयौ है। अपनौ हुकुम राखै। निदान लटी काहू कौं न करै। अरु सातुक अहंकार भक्ति में जु धारना कीजै सु बौइ निबाहिये। वामें बनै कै बिगरै। जैसे प्रहलाद कौं कितेक ताड़ना भई पै धारना टेक न छांड़ी। और की और जुबान न कही। यह सातुक अहंकार है। टेक निबाहिबे माफिक लौं है, कै बनै कै बिगरै भक्ति न छांड़े, पै अहंकार की मानि छांड़ देय। मन में इतनी न राखै कै हम बड़े साधु हैं, कै बड़े ग्यानी हैं, कै बड़े दाता हैं, कै बड़े ब्रतधारी हैं। हमारी बराबर भक्ति ध्यान कौंन में है। सु ऐसी बात मन में धरै तौ ब्रथा है। यह अहंकार छांड़ि देय। यह जानै कै हम कहा हैं। बड़े बड़े सिद्ध साधु जोगी दाता भये है। हम तें कहा बनत है, जैसै-तैसै आसरौ ईस्वर को मैं गह्यौ। ईस्वर ही के निबाहे निबहै। मेरे नैम कौ पालनहार ईस्वर है। ऐसे ईस्वर ही पै राखि जु कर्म करै सु सिद्ध होइ। अरु जु अपने अहंकार सौं करै तामें बिघन होत है। अरु वेई कर्म बंधन होत हैं। तातें ईस्वर ही पै राखि कर्म कीबौ भलौ है।

सन्यास की अरु कर्मजोग की आसंका

सु सन्यास तौ यासौं कहत हैं जु कर्मनि को न्यास करै। न्यास छाँड़िबे सौं कहत हैं। सुभ असुभ कर्म दोऊ छांड़ि देय, न लोकीक कर्म करै न बेद के करै। अजगर कैसी ब्रति लेइ। जो कोउ खवावै तो खाय, प्यावै तो पियै अरु ब्रत तीरथ तप जप होम पूजा संध्या ये छांडि देय, कछू

न करै । सब कर्मनि को न्यास करै । तासौं सन्यास कह्यौ । अरु गीता में कह्यौ कै सन्यासजोग तें कर्मजोग बड़ौ है । सु कर्मजोग की यह हकीकति, जु कर्म तौ सब करै पै परमात्मा कौं अर्पि कैंकरैं, फल न वांछै । जु कछू दान ब्रत होम पूजा जप करै तेई अर्पित करै अरु खाय पियै लेइ देइ, जु कर्म करने होइ ते परमात्मा ही कौ अर्पि करै, तातैं कर्मउ करै अरु निवर्तउ होइ । यह राजजोग कौ मत है । तहां सन्यासजोग ऐसौ है जैसे निराधार समुद्र कौं अपने बल पैरिबौ । जु पूरौ बल भयौ तौ पैरि पार भयौ अरु बीच में बल थकौ तौ सहाउ को करै । अरु राजजोग ऐसौ जैसे जिहाज पै बैठि समुद्र उतरनौ, न बल करने परै अरु न जो खैवै खेवटा के भरोसे, तैसे ईस्वर के भरोसे कर्म करै अरु निरबंधन होइ । यह मत सबतैं बड़ौ है । अरु जु गीता के मत माफिक थोरी बहुत राह आवै तऊ कारज सिद्ध होइ । अरु बड़ौ गुरु तौ बिद्याइ कही है । गुरु जु उपदेस देत हैं सु इनही बिद्यनि के मत माफिक । अरु जे बिद्या मत कौं छांड़ि अपने अटकर ग्यान करत हैं ते गुरु नाहीं, पाखंडी हैं । सु कलिजुग में पाखंडी बहुत हैं । तातैं बेद पुरान सौं मिलि कैं मत होइ सु उचित है । ताही मत सौं भलौ होत है । अरु तीन कांड की चरचा गीता में है । पहिल छह अध्याय में जीव कर्मनि को बिचार है, फिर छह अध्याय में अपनी ईस्वरता भक्ति धर्म को बिचार बारह लौं, तेरह तैं इतै छह अध्याय में ग्यान कांड है । सु गीता में थोरे थोरे मत सब कहे हैं ।

प्रासंका गीता की

अरजुन सौं कही कै तुम्हारी देह में जु ईस्वरता है ताही के सरन होउ । सु ईस्वरता करता की है । देह में वाही कौ कर्‌यौ होत है जैसे कुम्हार चका भरमाउत है तब बासन बनाउत है । तैसै करता बुद्धि कौं भरमाइ कै कर्म कराउत है । तब फल देत है—दुख के अरु सुख के । सु-बुद्धि कौ भरमाइबौ यह है जब कछू मनुष्य कर्‌यौ चाहत है तब पहिल तौ सोच बिचार संदेह उपजत है तब बिचार करिकै कर्म करत है । ता कर्म तैं जु फल होत है सो करता के अधीन है । बाजौ कर्म ऐसौ है जु कीजत और है फल और हो जात है । सुख कौ उपाउ करै दुख होत है

कै दुख में सुख होत है। तब प्रानी जानत है कै मैं कछू और करन लई ती ईस्वर कछू को कछू करी। सु ऐसे जब कछू कौ कछू होत है तब अग्यान जीव करता की ईस्वरता जानत हैं अरु फिर भूलि जात हैं। सदा भूलेई रहत हैं। अरु जे ग्यानी हैं ते सदा वाही कौं जानत हैं। तातें कर्म बंधन तें बचत हैं। सु कृष्न जू ने अरजुन कौं यह सिच्छा दई कै तुममें जु ईस्वरता है ताही के सरन रहौ। सु सरन यासौं कहत हैं जु वाही कौ आसरौ लै रहै। जे कर्म करैं ते वाही लयें करैं अपुन पै मानि न लेइ कै यह हम करी। जु कछू करैं सु करता पै राखै तौ याकौ भलौ होइ। सु यह बिचार कह्यौ है। अरु गीता में चरचा बहुत कही है। ग्रन्थ छोटौ है। तातें थोरौ थोरौ सब जतायौ है।

आसंका रामचन्द्रिका की

राम जू ने बसिष्ठ कौं पूछी कै जीव बासना के बस जनम मरन अनेक कलेसनि में परे हैं सु कौन भांति उधरै। तापै बसिष्ठ ने चारि तरह के साधन कहे। एक तौ साधु संगति करै, दूसरे संतोष राखै, तीसरे बिचार राखै, चौथे समता राखै। सु साधु संगति कौ साधन यहै जु ग्यान चरचा कहिबौ सुनिबौ करै। इतै उतै के बकवाद छूटि जाइ। अरु संतोष तें भरमना मिटि जात है। संसार त्रस्ना कौं भरमत फिरत है। कहा ग्रेही कहा अतीत। जौलौं संतोष नाहीं तौलौं अस्थिर नाहीं। तातें हानि ब्रद्धि, पायें अनपायें मन संतोष में राखै। ईस्वर कौ सुमिरन कीबौ करै। अरु बिचार यह कहावै कै संसार कहा है अरु कहाँ तै उपज्यौ है, को करता है, को हम हैं। कहाँ तें हम आये हैं कहां जैहैं। कहा ह्वैहै। कौन भांति कर्मनि तें छूटिये। इतनी बातें मन में बिचारत रहै सु बिचार कहावै। अरु समता यह कहावै जु न काहू सौं बड़ौ मानै न छोटौ मानै। न काहू सौं बैर न प्रीति। न दुख में भूलै न सुख में भूलै। सब बातनि में एक सौ मन राखै। सुमिरन में सुरति राखै सु समता कहावै। सु इन चारि में जु एकई बनि आवै तौ कर्म बंधनि तें छूटै। तापै राम जू और पूंछी कै जोति तें संसार उपज्यौ कहत हैं। कै वाकी इच्छा तें भयौ है। सु वह तौ निगुंन है। जामै गुन नाहीं कर्म नाहीं ताकैं इच्छा काहे

कही। तापै बसिष्ठ कही कै वह तौ निर्गुन है पै वा में सक्ति है सब बातनि की, बेसक्ति नाहीं। तातैं सक्तियै इच्छा है सक्तियै करता है। सु सक्ति वा जोति में रहत है। जोति अरु सक्ति जुदे नाहीं एकई हैं। तापै राम जू ने देव पूजा पूंछी। तब बसिष्ठ मुनि सुद्ध परमातमा कौ ध्यान बतायौ प्रानायाम सहित, जैसौ महादेव जू बसिष्ठ सौं कह्यौ तौ। जब बसिष्ठ मुनि श्री महादेव जू सौं बिनती करी कै मोहि देव पूजा सिषओ, तब महादेव जू कही कै तू देव कौन सौं कहत है। हम देव नाहीं। बिष्नु देव नाहीं। जे देह रूपी हैं ते देव नाहीं। तू देव कौ सरूप जानै ताकी हम पूजा सिखवैं। तब बसिष्ठ कही मैं अग्यान जीव हौं। देव तौ मैं तुमकौं, बिष्नु कौं देह रूप जानत हौं। अब आपहू कहिये जाकौ ध्यान कीजत है सु को है। यह पूंछी। तब ईस्वर कही कै देह रूपी जे सब हैं ते आबरन हैं जैसे घट भांति भांति होत हैं। कारे पीरे लाल छोटे बड़े तिनमें पानी भरियत है। सु पानी एक है। पानी के घट कहावत हैं। पै घट पानी नाहीं। पानी कौ रूप और, घट कौ रूप और। तैसे परमातमा कौ रूप और। अरु जे देह रूपी हैं तीन्यौ देव दस अवतार आदि सकल सरीर घट समान हैं। जे मूरख हैं ते इनहीं रूपनि कौ ध्यान करत हैं। जे ग्यानी हैं ते वा परमातमा कौ ध्यान करत हैं। सु वह परमातमा सुद्ध जोति प्रकास रूप है अरु सब में है। जैसेउ तीन देव दस औतारनि के घट में है तैसेउ सबके घट में है। जैसे पानी बड़े घट में वाही माफिक है छोटे में थोरौ है पै पानी कौ रूप एक है। घटनि के रूप न्यारे न्यारे हैं। तातैं ग्यानी वाहि आपु में ध्यावत हैं। जैसे पवन सरवत्र है सबही में है पै प्रानायाम अपने ही घट की स्वांसा सौं सधत है, बिरानी स्वांसा सौं नाहीं तैसे वह परमातमा जोति रूप आप में प्रगट होति है जोग सौं। ऐसे प्रमान माफिक ईस्वर ने बसिष्ठ कौं ग्यानजोग कौ उपदेस कर्यौ। सु ईस्वर सौ गुरु, बसिष्ठ सौ सिष्य तिन तत्व ग्यान कह्यौ। जिनमें या की समुझि है, तिनकौं यह सिच्छा है, तापै राम जू यह पूंछी कै ऐसी धारना पाइ कै संसार में कौन भांति रहै। तापै बसिष्ठ कही कै अंतहकरन तौ वह ब्रति राखै ऊपर लोकाचार साधै। अरु महात्यागी महाभोगी महाकरता हो रहै। ताकौं इनके लछिन ये हैं जैसे एकै त्यागी होत हैं।

लरिका मानस कबीला त्यागि कै अतीत हो जात हैं। अरु महात्यागी मन तैं सबकौ त्याग करत हैं। इतनी चित्त में राखत है कै न हम कछू संपति लै आये ते न लै जैहैं। न कोउ संग आयौ तौ न संग जैहै। बीच ही कौ साथ सब सौं है। जे साथ मनुष हैं ते सब अपने मतलब के हैं। कहा कबीला कहा चाकर कहा चेरो कहा चेरे। जाही कौ मतलब न कीजै सोई छांड़ि देइ। जाकौ मतलब कीजै सु कहै हम तुम्हारे हैं। सबै अपने मतलब के हैं अपनौ कोउ नाहीं। अपनौ एक करता है ताकौ सुमिरन करै। इतै सब में रहे पै मन में यही राखै कै संसारी मानस अरु धन निदान अपनौ नाहीं, यह जानि कै मन तैं सब सौं ममत्त त्यागैं रहै सु महात्यागी कहावै। अरु महाभोगी की तरह यह है जैसे भोगी खैबे पहिरिबे पै सब सुखनि पै रुचि राखत है तैसे रुचि न राखै, न आगैं तै कछू इछया राखै कै फलानी बस्तु खैये कै पहिरिये। ताकौं आवै सु खाइ पहिरै, रसवंत भोजन होइ तौ, नीरस होइ तौ, अन्न पान पकवान होइ तौ। अरु साग पात मांस मछरी होइ तौ जु आगे परसि पावै सु खाइ। न इच्छा कै मांगे न परसैं तैं छांड़ै। कै फलानी बस्तु हम नाहीं खात सु न कहै अरु न खारौ न अरौनौ न मीठौ न करऔ कहै परसि पावै सु भोग लगावै अरु सब और भोग जु आगे पावै सु करै। न लैन जाइ न पाइ कैं छाँड़ै। सु महाभोगी कहावै। अरु महाकरता ऐसौ जु कर्म कर्यौ चाहै करै ते परमातमा कौं अर्पि कैं करै तौ न पाप लगै न पुन्नि लगै। जो जग्ग दान होय ब्रत तीरथ धर्म करै तौ धर्म न लगै अरु चोरी कुराह लूटिबौ और पाप हो आवै तौ पाप न लगै। जैसे आगि बरत जु डारै सु जरि जाइ, रहै कछू नाहीं तैसे परमातमा के अर्पे कर्म जरि जात है न पाप लगै न पुन्नि लगै। अरु जे ग्यानी हैं ते लटे कर्म काहे कौं करत हैं। जो कौनू जरब सौं करै तौ पाप न लगै। ऐसे मत सौं जु कर्म करै सु महाकरता कहावै। ताकौ ऐसौ हो कैं ग्यानी संसार में रहै तौ संसार के कर्म न लगै। यह ग्यान कौ सिद्धांत बसिष्ठ राम जू सों कह्यौ तब राम जू कौ कर्मन कौ डर गयौ। राज करिबौ कौ नर्क स्वर्ग कौ भ्रम गयौ तब राम जू बसिष्ठ मुनि की अग्या पाइ राज करत भये। अरु रामचन्द्रिका में कही है कै ऐ ही सरीर मिलै सु जब और सुरतैं छूटि जायँ लवलीन होइ तब ऐ ही सरीर मिलै।

जैसे बिस्वामित्र छत्री तैं ब्रह्मरिषि भये । अरु श्री रामजू ने बसिष्ठ कौं एक और पूंछी कै एही देह मतु भावै, काल के बस न होइ, सु कौन साधन करै । तहां बसिष्ठ मुनि प्रानायाम कौ साधन कह्यौ । तहाँ याके साधन दोइ हैं–एक तो प्रानायाम कौ साधन है, दूसरौ आराधना कौ है । सु प्रानायम की रीति यह है जु क्रम सों पवन खैंचै, रोकै फिर माथैं प्रान लै राखै तहां काल कौ बस न चलै । पै यामें एक कुजरब है जब प्रान माथे कौं चढ़ावत हैं तहां सात सुर बीच में हैं । एक मुख, दोउ नकुवा, दोउ नेत्र, दोउ कान ये सात सुर रोकि कै प्रान चढ़ावै, सातउ रोकि कै उतारै अरु जो कोनउ सुर जो बीच में खुलि जाय तौ तहीं हो प्रान कढ़ि जायं । अरु खैंबै पीबै में गैर संजम होइ तो बितकर्म हो जाइ । तातैं जोग में हमेस सावधानी है । अरु आराधना कौ साधन तहीं लौं जौलौं अग्या होइ फिर अटक नाहीं । जैसे ध्रुव आराधना करी तौ छह महीना में नारायन दरसन दये, बरदान दयौ, अटल पद पायौ । अरु मारकंडेय की सात दिन की आरबल हती तब मारकंडेय के पिता ने भवानीजू की आराधना करी । तीन दिन में दरसन बरदान भयौ । कही तेरौ पुत्र अमर हुहै । तौ कितेकउ प्रलै तब तैं भये मारकंडेय बनै हैं अरु बनेई रैहैं । सु आराधना कौ साधन एक बार कर्यौ सु हमेस कौं भयौ । जु बरदान चाहै सु पावै । तहां आराधना में चार भेद हैं । एक तौ ऐसे हैं जैसे भिखारी तौलों दाता के द्वार बैठे जौलों भीख पावैं फिर अपने घरै गये । तैसे आराधना करी, जब बरदान पायौ तब संसारी कारज अपने फिर करन लगै । अरु दूसरे ऐसे जैसे चाकर हुकुम पावत रहत है चाकरी करत रहत है तैसे आराधना कीबौ करैं । बरदान बरदान होत रहत हैं कबहूँ कछू बगस्यो कबहूं कछू । भक्ति में लगे रहैं । तीसरे हैं जैसे गुलाम, दुखी रहै कै सुखी, ठाकुर पांव धुवावै कै घोरनि चढ़ावै । सदा सेवा में रहै । तैसे भक्ति कीबौ करै । माँगै कछू नाहीं । ईस्वर अपनी इच्छा सों देइ सु भलैं देइ । बरदान कछू न मांगे । जैसे गुलाम सेवा सब करै बरस महीना हक कछू न मांगे । चौथे ऐसे हैं जैसे अस्त्री पुरुष कौ नातौ, भांवर परी तहां जोरा भयौ फिर और को और नाहीं होत । दुख सुख घर में होइ सु होइ । दूसरे सों मतलब नाही ।

तैसे पूरे उपासक कौं गुरु ने उपदेस दयौ सु मन में गुरु के सबद सों भांवर सी पर चुकी। फिर जानै सु होइ, इष्ट देवता जानै सु करै। नीकैं राखै तौ, लटे राखै तौ। आठहू पहर सुमिरन न छांड़ै न बरदान चाहै। जैसे अस्त्री पुरुष कौ पुरुष अस्त्री कौ। पुरुष अस्त्री पै कहा मांगै कहा अस्त्री पुरुष पै मांगै। जु कछू है सु दुहूँ कौ एकई है ऐसो जुग बंध करै सु जोगी कहावैं।

आसंका और

रामजू ने बसिष्ठजू कौं 'जोति निरीह निरंजन मानी, तामंह क्यों रिषि इच्छ बखानी' यह पूंछी कै वह जोति तौ निर्गुन है, निरीह है, निरीह कौ अर्थ कै चेष्टा करिबे कराइबे की कछू नाहीं। सु तुम कहत हौ कै वाकी इच्छा तें सब भयो है सु कैसै भयो। वामें गुन कर्म कछू नाहीं, तापै बसिष्ठ कही—'सर्व सक्ति उर मानिये, अद्‌भुत जोति प्रकास।' याकौ अर्थ यह कै वामें वा जोति में सर्व सक्ति है सु सर्व सक्ति यह है जैसे ब्रह्मा में करिबे की सक्ति है बिष्नु में रच्छा की सक्ति है रुद्र में संघार की सक्ति है। सूरज में तेज सक्ति है, चन्द्रमा में सीतल प्रकास की सक्ति है, सब में एक एक बात की सक्ति है, वामें सब बात की सक्ति है। तातैं सर्व सक्ति कही। अरु वही भरी पूरी सक्ति है। तातैं भवानी कहत हैं वाही सौं मूल प्रकृति कहत हैं। सु वह सक्ति वा जोति में कारन करता है। सब गुनवंत है। ब्रह्म निर्गुन है। वामें वह सर्व सक्ति रहत है। वाही की सक्ति सब देवतनि कैं एक एक सक्ति है। सु सब प्रकृति पुरुष कौ बनाउ है। वही नसलि सब अस्त्री पुरुष चले आये हैं अरु सक्ति अस्त्री बचन है। अस्त्री पुरुष मिलिकैं जैसे अबै उपज होति है तैसे सक्ति पुरुष मिलि आदि तें होति आई है। सु उतपत्ति को कारन दोइ रूप हैं। दोई नाम हैं। दोई की उपासना है। दोई पच्छ की चरचा सब पुराननि में है।

रामचन्द्रिका और आसंका

लेइ जु कहिए साधु, अनलीने कहिये वाम।

यामें राम नाम कौ महत्तम कह्यौ है कै सबको साधन एक तुम्हारो नाम है। जु नाम लेइ सु साधु कहिये, न लेइ सु वाम कहिए। तहाँ वाम दूसरो मार्ग है। वाम मार्ग में राम कृष्न और सब औतार देव-

तनि के नाम नाहीं लेत । वाम मारग जुदो है । दक्षिण मारग जुदो है । सु दक्षिणी मारग में जीव ईस्वर कौ भेद है कै ईस्वर सम्रथ है करता है । जीव कौ करौ कछू नाहीं होत । तातैं जोवनि कौ धर्म यह है कै ईस्वर की उपासना करै तौ वो कर्म बन्धन तैं छूटै ईस्वर कों जाय मिलै । अरु वाम मारग की चरचा यह है कै जीव ईस्वर तौ एक जात है जैसे मानस मानस सब एक से हैं, जाकै धन है सु ठाकुर कहावै । निर्धन भयौ सु गरीब कहावै । मानस दोई एक से हैं । तैसे आतम ग्यान में आतम ब्रह्म सब एक से हैं । सक्ति कौ भेद है । जैसे ब्रह्मा कैं करिबे की सक्ति भई । बिष्नु कैं रच्छा की सक्ति भई । रुद्र कैं संघार की सक्ति भई । और देव अवतार भये । जामें जैसी सक्ति भई ताकी तैसी ईस्वरता भई । सु ईस्वरता कौ कारन सक्ति है । तातैं सक्ति ही की आराधना करै । जब सक्ति कौ प्रकास वामें होइ तब जीव बुद्धि मिटि जाइ । वही ईस्वर है । जैसे गरीब कौं धन मिलै तो वही ठाकुर होइ तैसे जामें सक्ति कौ प्रकास है सु ईस्वर है । यह वाम मारग कौ ग्यान है । सु इहि भांति ये दोई पच्छ के ग्यान हैं अरु दोई पच्छ के उपासना भेद हैं जैसे ईस्वर नाम पुरुष रूप है सो आदि पुरुष जोति सरूप ईस्वर कहत हैं । अरु तीन देव, दस औतार, सूरज, गनेस ये बड़े बड़े पुरुष हैं । तिन ही सौं ईस्वर कहत हैं । जो जाकी उपासना करै सु ताको ईस्वर है । सु इन सब की उपासना दक्षिण मार्ग में है । अरु वाम मार्ग में ईस्वरी आदिसक्ति भवानी कहत हैं । सु भवानी अस्त्री कैसो नाम है अस्त्री कैसो रूप है पै अस्त्री काहू को नहियां । ईस्वरी है । अरु और बड़े बड़े देवतनि की अस्त्री है जैसे लछिमी नारायन की अस्त्री है, सरस्वती ब्रह्मा की अस्त्री है, पार्बती महादेव की है । कालिका काल की अस्त्री है अरु और औतारनि की सीता राधा रुकमिनी । और देवतनि की अस्त्री बहुत कही है जो जिनकी उपासना करत हैं सो तिनही सौं देवी कहत हैं । ताकी सो ईस्वरी है । ये सब उपासना वाम मारग में है । अरु दुहू मारग की मानिता जुदी जुदी है जैसे दक्षिण मारग में अतीत भेषधारिनि सों ईस्वर भेष मानत हैं । अतीतनि के दरसन कर परनाम करै नमस्कार करै । कुंवारी कन्या न्यौत जिवावै, पहिरावै, दच्छिना देइ, यह भवानी रूप की मानिता है । सु दक्षिण वाम दोउ मारग या तरह

के हैं अरु जैसो बिरोध भाव बढ़ो है वे उनकी निंद्रा करत हैं वे उनकी निंद्रा करत हैं अरु दक्षिण मारग के अतीत हैं ते कहत हैं कै अस्त्री पाप रूप है। अस्त्री के दरसन परसन तें पाप है अरु वाम मारग के कहत हैं– अस्त्री देवी रूप हैं । अस्त्री के जाये पाले सब हैं । जे अस्त्री की निन्द्रा करत हैं ते अपनी माता कौं गारी देत हैं तिन्हें हत्या दाखिल है सु वे यह कहत हैं कै अतीत अस्त्री की निंद्रा करत हैं तिनके दरसन करे कौ दोष है । सु यह दुहू मारग की चरचा है । अरु जे ग्यानी हैं ते निन्द्रा काहू की नाहीं करत । अपनी अपनी जांगा सब भले हैं, तिनके गुन दोष आप कौ दूषनै भूषनै नाहीं । याकी चरचा एकादस में क्रष्न जू ने ऊधौ सौं कही कै ग्यान जोग धर्म करि मोहिं न पावै । एक भक्ति ही करै । ताकी हकीकत यह है कि जु जाकौं आराधै सु ताकौं पावै । तहां ग्यानी की गति और, जोग की गति और, भक्ति की गति और । सु भक्ति की गति यह है जैसो ठाकुर चाकर कौ भेद तैसो जीव ईस्वर कौ भेद । संसारी जीवनि के ईस्वर है तीनऊ देवता दस औतार । इनमें जु जाकी भक्ति करै सु ताही मिलै । ताको सोई ईस्वर है । भागवत में क्रष्नजू सों ईस्वर कहत हैं । रामायन में रामजू सों ईस्वर कहत हैं । बिष्नुपुरान में बिष्नु सों ईस्वर कहत हैं । सिवपुरान में महादेवजू सों ईस्वर कहत हैं । सूर्ज पुरान में सूरज सों कहत हैं । ऐसे अठारह पुरान न्यारे न्यारे देवतनि के हैं। ता पुरान में ताही सौं ईस्वर कहत हैं, ताही की भक्ति कहत हैं । जु जाकी भक्ति करै सु ताही मिलै । अरु जु आसंका होइ कै इन सब सों ईस्वर काहे तैं कह्यौ सु जैसे अपने अपने देस के राजा तैसे अपने अपने लोक के देवता । ता लोक कौ सोई ईस्वर है । अरु या लोक में सब ही की भक्ति है । कोउ काहू कौ भक्त कोउ काहू कौ भक्त । जु जाकौ भक्त है, सु ताही मिलत है । तातैं क्रष्नजू कही मेरी भक्ति करै सु मोहिं पावै । न ग्यान तें पावै, न जोग तें । सु और जानी कै ग्यान जोग डारि दये भक्ति बड़ी कही, सु उन हिसावी कही जु उनकी भक्ति करै सु उनहीं मिलै । ग्यानी अरु जोगी इनकी गति जुदी । सु जोग को मत यह है । जीवातमा परमातमा देह में दोइ हैं । हिरदै में आतमा है माथे में परमातमा है । सु जोगी प्रानायाम करिकै माथें जीव लै जात है । परमातमा सौं मिलत है।

याही तें जोगी कहावत है। दो के मिलिबे को नाव जोग है । जहां दो बस्तें मिलें तहाँ कहत कं जोग मिल्यौ । सु जीवातमा परमातमा कौ मिलिबो जोग है । जोग में न तीन देव सौं काम, न दस औतार सौं काम । यह जोग कौ मत है। अरु ग्यान कौ मत यह है जु ब्रह्म एकई है। जैसे सोने के आभूषन । एक रती भर की बारी होति है । एक मासे तोरे सेरन के आभूषन होत हैं, पै हैं सब सोने ही के । तासौं तीनऊं देव, दसऊ औतार सुर नर मुनि पसु पंछी सब एक ब्रह्म कौ बनाउ हैं । अरु घट-बढ़ जु देखियत हैं, सु एक तौ देहनि कौ भेद है । जु सिंघ की देह पावै तो सिंघ कौ पराक्रम करै, चौंखरे की देह पावै तौ चौंखरे की पराक्रम करै, अरु देव देह पावै तौ देवता के पराक्रम करै। अरु मानस पसु पंछी जैसी देह पावैं, तैसे पराक्रम करै । तातें पराक्रम देह के अनुसार है । ब्रह्म वही है, दूसरौ कर्मनि कौ भेद है । जिहि जैसे कर्म करै तिहि तैसे फल पावै, तैसी देह पावै, तैसे सुख दुख पावै कर्मनि के अनुसार । ब्रह्म वही है । तीसरौ बिद्या अबिद्या कौ भेद हैं । जे बिद्यावान पुरुष भये, ते देवता सिद्ध मुनीस्वर जोगेस्वर अवतार कहाये । जे अबिद्या कैं जुक्त हैं, ते संसारी जीव भये। तिन जीवनि में वे ईस्वर कहाये जे बिद्यावान देवता औतार हैं । जैसे मानस मानस सब एक से हैं, जिनके संपति है ते ठाकुर कहावत हैं । संपति बिना गरीब कहावत हैं। तैसे बिद्यावान देवता औतार सिद्ध गुरु ईस्वर आचारज कहाये अबिद्या के जीव कहाये । तातें ग्यानी सबसों समता राखै । न काहू सों बड़ो मानै न छोटो मानै, न काहू देवता की भक्ति करै, न दूषै, न काहू फल की इच्छा राखै। एक बात कौ साधन राखत है । जु अबिद्या की बातें सब बचायें रहत हैं । बिद्या कौ अभ्यास सदा राखत हैं तहाँ बिद्या तीन तरह की है । एकै तौ लोकबिद्या है । जोतिष, बैदिक और पढ़ा-गुनी गाइबो बजाइबो ये उद्दिम की बिद्या है । दूसरी देवबिद्या है देवतनि की औतारनि की कथालीला अरु तीसरी ब्रह्मबिद्या है। ग्यान कौ आतमा परमातमा कौ बंधन, मुक्ति कौ बिचारु है साधन है। जैसे इन पोथिनि में कहूं कहूं ग्यान कहत हैं । रामायन में कही भागवत में कही। सो यह ब्रह्मबिद्या को बिचार है। रामायन में रामजू ने लछमन सों तीन मत कहे हैं–एक तौ अच्छर भेद कह्यौ, दूसरे निर्गुन ध्यान

कह्यौ, तीसरे सगुन ध्यान कह्यौ । सु ये तीन भेद हैं । येई बेदनि में कहे हैं । येई सब सास्त्रनि में कहे हैं । सु तीन भेद यातें कहे जु मनुष्यनि में तीन भांति की बुद्धें हैं–एक देहबुद्धि है, दूसरी जीवबुद्धि है, तीसरी ब्रह्मबुद्धि है । सु देहबुद्धि यह कहावै जु जैसी देह में है ताकी तैसी बुद्धि है । अस्त्री देह में अस्त्री बुद्धि, पुरुष देह में पुरुष बुद्धि अरु जा जाति में देह धरे हैं ता जाति की बुद्धि सु यह देहबुद्धि कहावै । ता देहबुद्धि वारे कौं देहई माफिक धर्म कहे हैं । अस्त्री कौं पुरुष की सेवा, पुरुष कौं माता पिता गुरु की सेवा । अरु सर्गुन रूप कौ ध्यान । सु सर्गुन रूप देहधारी अवतार हैं । सु देहबुद्धि जे हैं, तिनकौं देहधारी कौ ध्यान सेवा कही । दूसरी जीवबुद्धि है । जीवबुद्धि यह कहावै जब जीव कौं देह तैं जुदो जानै कै देह, तौ जब जौन घरी तौलौं ताकी मानि रही । देहबुद्धि झूठी है । जीव की जाति सही । जीव देह ऐसे धरत है जैसे उड़ना पहिरै सु देह की जाति सौ है । जीव की जाति नाहीं । जीव जुदौ है ऐसी जिनकै बुद्धि है तिनसौं जीवबुद्धि कहत हैं । ता जीवबुद्धि के धर्म ये हैं जु जोग धारना करि माथे में परमातमा जोति कौ ध्यान करै । पवन कौ साधन करै । परमातमा के मिलिबे की इच्छा राखै । और चाहना कछू न करै । संसारी कर्मनि तैं डर राखै । जो संसारी में जीव रहै, तौ फिरि फिरि जनम होइ, तातैं संसार सों बिरक्त रहै । ईस्वर कौ जोति रूप ध्यान करै, यह जीवबुद्धि कहावै । अरु तीसरी ब्रह्मबुद्धि है । ब्रह्म बुद्धि यह कहावै जैसे जौलौं मानस सोवत है तौलौं अनेक भरमना के सपनै होत हैं जब जग्यौ तब सब भरमना मिटि गई । खबर तौ सब रही, पै सपनै की भरमना झूठी लगी । ऐसे ब्रह्मबुद्धि भये तें जीवबुद्धि देहबुद्धि के भरम मिटि जात है । अस्थिर बुद्धि होति है सु अस्थिर बुद्धि सौं ब्रह्मबुद्धि कहत हैं । ता ब्रह्मबुद्धि की धारना यह है जु वह अक्षरनि कौ भेद कह्यो । तीन अक्षर कहे हैं । अकार, उकार, मकार । अ, उ, म, यह तीन अक्षर कहे । इन तीन अक्षरनि सों तीन गुन, तीन देव, तीन लोक, तीन अवस्था उन तीन अक्षरनि सों लगी हैं । ये तीन अक्षर मिलि कै एक करौ नीचै जु तीन रेखा हैं सु अस्था है । ऊपर को रेफ है उ ऊ है मस्तो देत हैं सु म है । ये तीन मिलि ओम्कार भयौ । सु ओंकार काहू देवता कौ नाम

नाहीं । सब कौं बीज है । यह रामायन में रामजू कह्यो, गीता में कृष्न जू कह्यो अरु बेद में कह्यो है। अरु राजजोग में कह्यो है । 'धरि त्रिगुन बीज धुनि सब्द मूल' सु त्रिगुन बीज ओंकार ही सौं कहत हैं । सु ओंकार बीजब्रिद्या है । याही तें सब बिद्या भई है । यह धुनि साधत हैं ते ब्रह्म-बुद्धि कहावैं । सु ये तीन बुद्धि कही हैं जाकैं जौन बुद्धि है ताकौं ताही बात की लगन होत है । कहैं सुनैं और की और नाहीं होत । तातैं तीन धारना न्यारी न्यारी कहीं जु जापै बनि आवै सु भली है ।

भारत

भारत में एक इतिहास है । एक समय सब अठासी हजार रिषि जुरे तब सबनि कही कै चार बेद, छह सास्त्र, अठारह सुम्रतैं, अठारह पुरान अपने अपने मत कहत हैं कौन कौ मत मानिये कौन कौ नाहीं । तातैं ऐसौ कोउ सरवग्य होइ जु एक राह बतावै । तापै कस्यप कही कै अस्त्री कौ अंत-हकरन ऐसो होत है जा बात कौ अभ्यास करै सु पूरन होइ । जो अस्त्री कें धर्म की, भक्ति की, ग्यान की,दया की, बिद्या की लगनि होइ तौ संपूरन होइ अरु अग्यान की, अधर्म की, लटी राह की लगनि होइ तौ संपूरन होइ । तातैं जा अस्त्री कैं भक्ति ग्यान की लगनि ह्वै ताकौ पूरौ मत ह्वै । ताकौ ऐसी कौऊ अस्त्री होइ ताहि पूँछिये । तब सबनि बसिष्ठ की अस्त्री अरुन्धती ठहराई, कें उन्हें पूंछिये, तब अरुन्धती लंघा गये । तब अरुन्धती कही कै तुम बड़े-बड़े रिषि सब कहां आये हौ । तब रिषिनि पूंछी कै बेद-सास्त्रनि के अनेक मत हैं तिनके सुनै हमारे मन भरमे हैं । तातैं आप ऐसी राह बता-इजे जासों हम लगे रहें । तब अरुन्धती कही कै तुम सब रिषि सरवग्य हौ हम अस्त्री जाति हैं हमें कहा पूंछत हौ, तब रिषिनि कही कै पुरुष कौ चित्त लगनौ घटि होत है, अस्त्री को चित्त लगनौ होत है, जामैं लगै, तामैं पूरौ लगै संपूरनता होइ । तातैं हम जानत हैं, तुममैं संपूरन ग्यान है । अस्त्री जाति हौ तो भमानीजू की जाति हौ, बिना भमानीजू की कृपा ग्यान नाहीं । तातैं आप हमकौं उपदेस कीजे । तब अरुन्धती कही कै नाना मत की भरमना मन में जिन धरौ, एक परमातमा कौ ध्यान अंतहकरन राखौ, अरु जब जु कर्म करौ सु परमातमा कौं अर्पि कै करौ,तातैं करे कर्म न लगें । अरु और जे देवता औतार हैं येई परमातमा कौ साधन राखत हैं। तातैं और चरचा

छाँड़ि कैं परमातमा के सुमिरन ध्यान कौ अभ्यास करौ। यह भांति अरुन्धती कही। तब रिषिनि की आसंका गई। या अभ्यास सों लगै ताकौं यह बात सास्त्र प्रमान है। जो अस्त्रिनि कौ हिरदौ कोमिल होत है, लगनौ हौत हैं। सु कलजुग में कुमति की लगनि जहां तहां है। पै यह लगनि ग्यान की दुर्लभ है।

आसंका श्री राधा की

अस्त्री दो भांति की हैं–एक तौ अग्यान, एक सग्यान। तिनमें पतिव्रता बाजी होति हैं। ताकौं जे अग्यान पतिव्रता हैं तिनकी यही इच्छा है जु दूसरे पुरुष को इच्छा न राखै। अपने पति ही की सेवा करैं, जु अग्या होइ सोई करैं अपुन तें कछू न जानैं न पूंछैं पति ही की भक्ति करैं, यही न जानैं कै को ईस्वर है, कहा धर्म अधर्म है। एक पति की सेवा अग्या जानै। अरु जे सग्यान हैं, जिन बेद पुरान सुनै समुझै हैं, ईस्वर धर्म अधर्म सब जानै हैं, तिनकौ पतिव्रत ऐसो है जु पति परमेस्वर एक जानै। पति ही सरूप मुखि मानै। जैसई परमेस्वर के अनेक औतार हैं तैसई अपने पति कौ जानै अरु अग्या में चलै। अरु जो ऐसी अग्या कौनउ करै जामे कछू दोष होय, अपनो कै पुरुष कौ वा अग्या में बिगरत जानै अरु पुरुष न जानत होय तौ वह अग्या न करै। जातें भलौ होइ सु करै। पति कौं समुझाय देइ। सु दो तरहैं ये हैं अरु दो तरहैं ग्यान में हैं। जैसे राजा मोरधुज की रानी चूडालदे भई। उन पवन कौ साधन अरु परमातमा की जोति कौ ध्यान करौ है। सु पवन अरु परमातमा देह में आधार हैं, न ये अस्त्री से न पुरुष से। अस्त्री पुरुष के देह में सब में हैं, इकंगी नाहीं। जोई साधै सोई सिद्ध होइ। सु रानी अंतर तौ यह ध्यान साध्यौ अरु देह धर्म कौ पतिव्रत साध्यौ। जब आप सिद्ध भई तब ही राजा कौं उपदेस करौ। राजा आप से करि लये। अरु एक जैदेव को अस्त्री पदमावती पतिव्रता भई। सु वे तौ पंडित हतीं, जैदेव मूरख हते। छेरी चराउत ते। महतारी भीख मांग खवाउत ती। तब पदमावती बिचारी कै इनकी संगति मेरे दोऊ लोक बिगरत हैं, अरु देव की उपासना करैं पतिव्रत नाहीं रहत। यह बिचारि कै उन भमानीजू की आराधना करी। अस्त्री कौं ये धारना कौं दूषन नाहीं। भमानीजू सुहाग की अरु ग्यान बरदान सब की दाता हैं। यह जानि कै पदमावती भमानीजू

कौ मंत्र जाप करिबौ करै,ध्यान करैं। जब कृपा भई तब इन यही मांगौ कै मेरो पुरुष है सु कछू कृपा होइ सु उनपै होइ। तब कृपा भमानीजू दूहूं कौं बरदान दये। इनकौं तौ दरसन भये, वे छेरी चराउत ते उनके हिरदै उहई प्रकास अनुभौ भयौ। दुहूं कौ बन्यौ। दो तरहैं ये हैं अस्त्रिनि के धर्म की। अरु जो पुरुष सग्यान होइ, काहू उपासना में होइ, तौ अस्त्री पुरुष दोइ एकइ उपासना साधैं। तौ यह पुरुष की आग्या सौं उपासना काहू देवता की होइ तौ अस्त्री कौं दोष नाहीं। अरु गोपी पतिब्रतनि के लेखे में नाहीं, वे क्रष्न जू कौ रूप देख आसक्त भई हतीं। अपने पुरुष छांड़ि उन लंधा जातो हतीं। उनमें ग्यान होतो तौ अपनेई पुरुष में ईस्वर देखतीं और पुरुष सों कहा करि। तौ उन कुराह गही, पै बड़े की संगति तें बड़ी गति भई; पै ऐसी न भई जैसी बृन्दा को भई। बृन्दा कों नारायन जालंधर कौ रूप धरि छल कर्यौ, तौलौं उन न जानी। तब विष्नुजू चतुर्भुज रूप दरसन दये जिहि रूप सों तोनो लोक मोहत हैं। पै बृन्दा न मोही। देखि कै क्रोध हो नारायन कौं श्राप दई कै तू पाथर होइ। सु पतिब्रतनि कौ ऐसौ मन होत है, जु और सें न मोहै। अरु गति बृन्दा की ऐसी भई जु तीनौ लोक में पूजियत है। देवनि के लेखे में लई। बृन्दा देवी कहाई, नारायन आधीन भये पतिब्रत तें।

दोहा

ऊंचौ फल बैराग कौ, अगम अगोचर दूरि।
चढ़ै सु पीवै प्रेम रस, गिरै तु चाटै धूरि॥

या दोहा कौ अर्थ यह है कि जब संसार के राग दोष छांड़ि बैराग उपजै, केवल ईस्वर में सुरति लगावै। सु ईस्वर अगम है, ऊंचौ है, संसार तें परे है। जो वामें सुरति ठहराइ तौ वा प्रेम रस कौं पावै, जो इतही फिर खचै उतै कौ प्रेम छूटि जाय, अपने पुजाइबे में महंती आगै, घोरौ, पालकी, जमातें, जोरै, देस-देस परमोधत, माँगत, खात फिरै तौ यही धूरि चाटिबो भयौ। तातें कै तो केवल बैराग भलो। सब बात कौ त्याग करि सुमिरन ध्यान में लोन रहै। जैसे जड़ भरत सुकदेव और बड़े बड़े हैं जिन्हें देह को; खैबे-पहिरबे को सुरति नाहीं। सुमिरन में लोन भये। ऐसो होइ तौ

बैराग करै, नातर राजजोग की राह सुगम है। खाय, पहिरै, सब कछू करै, सुरति सुमिरन में राखे, जैसे जनक अरजुन भये हैं।

आसंका सपने की

सपनौ मायारूपी होत है। जैसे देह में पाँचउ तत्तनि के अंस न्यारे-न्यारे हैं अरु ब्रह्म को अंस जीव है, तैसे माया को अंस है अंतहकरन में। सु जब नींद आवत है तब माया अनेक रूप धरि दिखाइ देत है। जैसो जागत में नाना रूप संसार देखियत है तैसो सोवत में देखियत है, सु परमातमा जानत है कै मायारूपी भ्रम है, जीवातमा नाहीं जानत कै सपन माया है। जौलौं सपने देखत है, तौलौं सांचौ मानत है, जगै तौ जानत है कै सपनौ है। सु याही तैं यासौं जीव कहत हैं। जु माया के चरित्रनि में भूलि रहयौ है। सु माया के चरित्र इतने हैं, एक तौ सपन माया है, नाना रूप देखियत है। दूसरो मनसा माया है, जाको मनसूबा मन में होय ताकी आभा देखै। तौन मानस नदी ताल रूख जाको सुरति करै सु देखै। सु यासौं अग्यान लोग कहत हैं कि जहाँ को सुरति करत है तहां मन जात है, सोइ देखि आवत है। सु ऐसो नहियाँ जु मन कहूँ जाय। जे पाछिले मानस मरि मिटि गये तिनकों सुरति में देखत हैं, सु वे कहाँ हैं। अरु उढ़ना बासन जु कछू पाछैं हतो सु कहां है, सुरति करै देखियत है। सु ये बिचार मनसा माया के हैं। जाहा को मनसूबा करै सोई रूप मायावी देखै। अरु जैसें ये दो माया मनुष्य में हैं-सपनौ अरु मनसा-तैसें देव माया अरु राक्षसी माया हैं। देव माया यह है जैसें कृष्नजू ने जसोदा कों मुँह बाइ लोक दिखाये, सु लोक कहा मुँह में घुसे हैं। माया-रूपी चरित्र दिखायौ, फिर कछू नाहीं। अग्यानी कहत हैं कै तीन लोक क्रष्नजू के मुँह में है। सु ये मायारूपी हैं जैसें मानस में सपनौ है तैसें देव माया सपनौ सो है। जैसे कृष्नजू ने अपनी माया जसोदा कों, अरजुन कों दिखाई तैसे ब्रह्माजू, महादेवजू, सूरज, गनेस इन सबही अपनी माया बहुतनि कों दिखाई है। सु देवता सब मायावी हैं। अरु राक्षसी माया, जैसे इन्द्रजीत एक बार मायावी फौज करि आयौ। सब फौज में राम लछिमन देखे, तब बांदर भगि आये। बिभीषन सों कही कै उतै सब फौज में राम लछिमन धनुष बान

चढ़ाये आवत हैं हम जूझ कौन सों करैं । तव बिभीषन कही कै वह राक्षसी माया है। न वे काहू मारैं न काहू के मारे मरैं । तुम त्रिसुद्ध हूहौ तब वे बिलाय जैहैं । तब ये त्रिसुद्ध हो गये तब वे बिलाय गये । सु यह राक्षसी माया है। बहुतक राक्षस मायावी भये हैं । अरु यह संसार देखियत है सु महामाया है । याकौ आदि अन्त नाहीं । देवता राक्षस अवतार मानस पसु पंछी ये सब महामाया के हैं । एक होत हैं एक मिटत हैं । ऐसो बनाव चल्यौ जात है । याही में सब मोहित हैं । सपने कैसो बनाव यही है । जब पाछिले मानुसनि की खबरि आउत है तब सपनौ सो लगत है । सु यह महामाया कौ बनाव ऐसो है जौलौं बन्यौ रहै तौलौं सांचौ सो लगै फिर सपनौ सो लगै । अरु सपनौ जौलौं बन्यौ रहै तौलौं सांचौ सो लगै, जगै तो झूठौ सो लगै । सु यह सब मायारूपी बनाव है तामें संसार मोहित है । एक देवमाया में मोहित हैं । जो जा देवता कौ माया चरित्र देख्यौ सुन्यौ ताही में मोहि रहे हैं । एकै औतारनि के माया चरित्र में मोहे हैं । एकै राक्षसी माया में मोहे हैं। जे चटकी अनेक माया रूप स्वांग दिखावत हैं, पांख के परेवा करत हैं, रूख लगावत हैं ते राक्षसी माया करत हैं । एकै याही सों मोहित हैं । अरु महामाया सों सब संसार मोहित है। जागत में, सपने में, मनसूबा में सब मोहि रहे हैं । जे ग्यानी हैं ते ईस्वर के सुमिरन ध्यान में सुरति राखत हैं । माया चरित्र देखत हैं पै मोहित नाहीं होत । सु यह माया तें छूटिबे कौ इलाज है अरु सपनौ अपने भाव सों होत है । जैसो संसार अपने देखिबे सुनिबे कहिबे करिबे में आउत है तैसो सपनौ होत है । ब्राह्मन कबहूं सपने में कोरी चमार के काम नाहीं करत । अरु कोरी चमार सपने में पंडिताई नाहीं करत । अस्त्री पुरुष के कर्म नाहीं करत, पुरुष अस्त्री के कर्म नाहीं करत । तातें अपने गुन कर्म अनुरूप जोई भाव जागत में सोई सपने में, तातें सपनौ अपने भाव माफिक होत है अरु संसारी सपने तौ सब झूठे हैं, देव सपनौ सांचौ है । जु जा देवता की उपासना करत हैं सु जब कृपा करत हैं तब दरसन आग्या जु होइ सु सत्त होइ । अरु एक तुरिया सपन है । तुरिया यासौं कहत हैं जब सोइबे पै सुरति होत है और बिचार सब मन के छूटि जात हैं तब नैक झोम सी आउत है । न नीके कैं सोवै न जगै तासौं तुरिया

अवस्था कहत हैं। ता तुरिया बिषै एक दो रूप नजरि में आउत हैं। कै अस्त्री रूप, कै पुरुष रूप नैंक नजरि में आइकै पाछैं नींद आउत है ताकी खबरि नाहीं रहत, जे सावधान हैं ते सुमिरन अभ्यास करिकै वा तुरी में सावधान रहत हैं। तब जु वा समै ये रूप देखैं अरु जबानी सुनैं सु आग्या सत्ता होय। छिननि में, कै वाही दिना, कै बरस दिना लौं वाकी बिदी मिलै जु आग्या होय सोइ होय। सु ये भेद सपननि के अरु माया चरित्र के कहे।

आसंका मन की क्रिया की

मन की क्रिया कही कै सब मन ही कौ बिलास है। बंधन मुक्ति कौ कारन मन है। सु यह ऐसी है जु सरीर कौ, गुननि कौ, इन्द्रिनि कौ राजा मन है। मन की क्रिया सों सब क्रिया लगी हैं। सु क्रिया करतब यासौं कहत हैं, जु काम करतब होइ सु पहिल मन में उपजत है कै यही कीजे। खैबो पीबो लीबो दीबो जैबो आइबो कहिबो। सु ये जु सकल कर्म हैं सु पहिल मन में बिचार होत है तब करिबे में आवत है। तातें बंधन के कर्म कहा मुक्ति के कर्म सब कौ कारन मन है। सु बंधन के कर्म तो ये हैं—काम क्रोध लोभ मोह छल परपंच। भांति-भांति के मनसूबा जे मन में उठत रहत हैं, इनही में मन उरझौ रहत है। येई बंधन है। जो सुमिरन ग्यान ध्यान में मन रहै तोई मुक्ति के मारग हैं। तातें ये दोई क्रिया मन ही की हैं। अग्याननि के मन दुनियाई मनसूबनि में उरझे रहत हैं। ग्याननि के मन सुमिरन ध्यान में रहत हैं तैसियौ तिनकी गति होति है। जिनकौ मन संसारी कर्मनि में रहत है तिनकौ संसारी जनम मरन दुख सुख चौरासी में होत रहत हैं। जे सुमिरन ध्यान में मन राखत हैं ते उनहीं में मिलि रहत हैं। ये दोई क्रिया मन ही की हैं। जौलौं जु बात मन में न आवै, तौलों कौनू क्रिया न होइ। सु मन की क्रिया कौ भेद यह है।

अरु या कबित्त कौ अर्थ यह है जे मूरिख हैं तिनकौं प्रतिमा की पूजा है, मद्धिम कौं ब्रत तीरथ अवतारनि की कथा लीला भाव है, जे उत्तिम बुद्धि वारे हैं तिनकौं केवल जोति ही कौ ध्यान है। जे ग्यानी हैं ते सर्ब ब्यापीक जानत हैं(ज्ञान पंचासिका--६) सु जितनी जामें समुझि, तितनौ ताकौ उपदेस है। डर नैंकउ नाहीं। ऊंची नीची सीढ़ी हैं। दूसरे कबित्त में क्रम

कह्यौ है । पहिले धर्म है, जु धर्म होइ तौ साधु संगति होइ, साधु संगति तें भक्ति होति है, भक्ति भजन तें हिरदौ सुद्ध होत है । तब बुद्धि बढ़त है, बुद्धि तें उनमान होत हैं (अक्षर अनन्य के चिट्ठा-३-८) । उनमान यह कहावे, जु बस्तु देखी सुनी न होइ ताकौ बुद्धि सों अटकर कीजै, तासौं उनमान कहत हैं । उनमान तें ग्यान होत है। ग्यान जानिबे सौं कहत हैं । जैसे कौ तैसौ जानि परै सु ग्यान कहावै । ग्यान तें तत् सरूप भासत है । सु तत् सरूप यासौं कहत हैं जु ईस्वर बसिष्ठ सों कह्यौ रामचन्द्रिका में । सु यामें आगे लिखौ है सु तत् सरूप है । सु क्रम सों ऊंची नीची सीढ़ी कही है । सु यातें जहां लौं जाकी बुद्धि चलै तहीं लौं ताकौ मन लागत है । जो काहू अंग में मन लगै तो ताही में कारज होइ । मानुष देह धरे कौ बड़ौ कारज यही है अरु संसारी कारज थोरी बुन्याद, थोरो जनम, थोरो सुख है ।

आपनौ आपनौ पंथ चलाइबौ, आपनी आपनी मांड कौ कीबौ ।
नीकौ लगै सब कौ अपस्वारथ, जानै न मूढ़ किते दिन जीवौ ।
'अक्षर' स्वारथ कौं ताजि कै, परमारथ के उपदेस कौ दीबौ ।
साधुनि को यह मारग है, गुरु मारग नाम निरंतर लीबौ ।।

दोहा

भक्ति करत धर्महिं धरत, ते जीवत जग माहिं ।
और सु जीवत हो भ्रमत, जुग भरि जिये तौ काहि ।।

यामें मन को क्रिया बिदीवार सब लिखी है, सु क्रिया तौ सब मन ही की है । पै अकेले मन को क्रिया तौ ग्यानी अतीतनि की है, जैसे जड़ भरत और सब क्रिया छाँड़ि मन की ही लवलीनता करी और सब कौं चार क्रिया भक्ति धर्म की कही है । एक तन करि, दूसरी बचन करि, तीसरी मन करि, चौथी धन करि । सु इनकी हकीकत यह, जु अस्नान, पूजा, तिलक, व्रत, तीरथ, तपस्या अरु अपने तें बड़े, तिनकी सेवा । ये तन करि भक्ति धर्म हैं । अरु ईस्वर कौ नाम मंत्र जप स्तोत्र पाठ कीबौ, कथा कहिबौ, चरचा कीबौ, गुन गाइबौं ये वाचक धर्म हैं । अरु ध्यान सुमिरन भावना प्रीति परतीति ये मन के धर्म हैं । अरु ब्राह्मननि पै जप होम पूजा

कराइबौ, तिन्हें दच्छिना दीबौ अरु अतीत अभ्यागतनि कौं दीबौ, ये धन के धर्म हैं। सु ये चार्यौं अंग धर्म के हैं। जु जा लाइक होइ ताकौं सोइ उपदेस है। जे गरीब हैं तिनकौं देह धर्म है अरु जे माफिक ग्रेही हैं तिनकौं बचन धर्म है, जे धनवंत हैं तिनकौं धन धर्म है। अरु जे अतीत हैं तिनकौं मन ही के धर्म हैं। जे बिबेकी हैं ग्रहस्त कहा अतीत, तिनकौं थोरे-थोरे चार्यों अंग चाहिये। जब जाकौ समय होय तब तौन साधै। मन करि ध्यान सुमिरन साधै, बचन करि ग्यान चर्चा, नाम भजन साधै, तन करि आचार ब्रत पूजा गुरु सेवा साधै, अभ्यागत कौं जथासक्ति दान देइ। बिबेकौ कौं ये सबई साधन कहे हैं।

साखी

तन करि मन करि बचन करि, धन करि धनिहिं अराध।
छाँड़ि अविद्या सोच भ्रम, 'अछर' सु सहज समाधि ॥

मन की रीति ऐसी है जैसे पानी में जोई बस्तु घोरिये तैसोई गुन रंग पानी कौ होत है। तैसें मन जाही बिचार में रहै तैसोई होइ। जो पापनि की चरचा होइ तौ पाप मन में बरतैं, धरम की होइ तौ धरम बरतैं, भूत प्रेत साँपनि की बातैं चलैं, वे बरतैं। अपने सरीर की, सत्रुनि की खबरि करै तौ क्रोध बरतै। काहू बात की चाहना होइ, ताकौ सोच बिचार करै, तौ कलपना दुख बरतै। ऐसी बहुत बातें संसार में हैं। जोई बिचारै ताही कौ गुन मन में बरतै। तैसैं ही सुमिरन ध्यान ग्यान के बिचार तें मन ग्यान रूप ब्रह्म होत है। ताकौं जे ग्यानी हैं ते और सोच बिचार छाँड़ि कै सुमिरन की लौ बढ़ावत हैं तातें सिद्ध होत हैं। अरु अग्यानी उन मनसूबनि में भरमत हैं। जैसेई जियत मन भरमत है तैसेई मरें भरमत है। या को भरमना भूतत्त ग्यान बिना नाहीं छूटत। तातें सिद्धनि की ग्यान यही है जु भरमना छुटाइ कै मन सुमिरन में राखै। या बात को खटक राखै, अभ्यास ग्यान सुमिरन कौ करत रहै। तब सिद्ध ग्यान होय। अरु जौलौं अपने मन कौ भूतत्त न मिटै, और के सुनाइबे परमोधिबे को ग्यान कथा चरचा करि जानै, तौलौं भूतत्त आइ, तातें सब ग्याननि को सिद्धांत यह है जु अपनौ मन सुमिरन ध्यान ग्यान करि सुद्ध करै फल कछू न वांछै तौ मन जीव तें ब्रह्म होइ। सु एक बात तौ ग्यान

को यह है अरु दूसरी यहै जु कथा चरचा पुराननि में अनेक हैं जौलौं बहुमत बिचारनि में रहिबौ करै, गहै कछू नाहीं तौ सब चरचा भरमना दाखिल हैं। जो एक धारना पकरि वासौं लगि रहै, तौ वाही सौं लगि सिद्ध होय। अरु पुराननि में जु रिषिनि अनेक बातें कही हैं सु यातें कही हैं जु जाही में जाकौ मन लगै ताही में ताकौ कारज होय। अरु तीन या संसार में मारग लगावन हार हैं। एक तौ अवतार, दूसरे ग्रन्थ-पुरान, तीसरे साधु ग्यानी। इनहीं के कहें कोउ-कोउ मारग लग लगत हैं। नातर तौ संसार पसु पंछी दाखिल है। एक बात यह है जु कोउ कहत है कै परमेसुर ऊपर है, कोउ कहत है सर्वत्र है, कोउ कहत है माथे में हैं, कोउ कहत है हिरदै में है, सु अपनी-अपनी सूबा सबई बांधत हैं। अरु सबई सांचे हैं। ताकौ भेद यह है जु अपनी भावना में है, जु भावना करि हिरदै में देखिये तौ हिरदै में है, अरु बाहर दिवाले में लोकनि में देहधारी में, जामें जानै अपनो भावना करि देखे ताही में है। तातें अपनी भावना कारन है।

आसंका रामचन्द्रिका की

या बीच केसौदास ने संछेप जताई है। हकीकत यह है कि सुद्र एक हतो नाव जाति। सु ब्रह्मचर्ज सों तपस्या करत तौ, जनेऊ पहिरै, गायत्री जपै, तान्यो सन्ध्या करै, बिभूत लगावै, मृगछाला पर बैठै, दण्ड कमंडल राखै। तब सब रिषिनि कही तू अपने धर्म कर, बिरानै धर्म भले नाहीं। तब वाने कही कै ब्रह्माजू का संतान तुम हम सब एक हैं, ऊंच नीच को है। ऊंचे कर्म करै सु ऊंच, नीचे कर्म करै सु नीच–तातें ब्रह्म कर्म करत हौं। तब रिषि बैठि रहे। ऐसे में एक ब्राह्मन कौ लरिका मर्यौ। तब ब्राह्मन बिचारी कै राजा को पाप प्रजा कौं लगत है। सु मैं तौ ब्राह्मन हौं पाप जानत नाहीं। तातें राजा के पाप तें लरिका मर्यौ। सु राजा के द्वार डारौं अरु मैं बिष खाऊं। यह विचार करि लरिका लै दरबार आयौ। तब रामजू ने पूंछी धर्मराज कौं कै यह बालक कौन के पाप तें मर्यौ। वा ब्राह्मन के पाप तें कै कछू हमारे पाप तें मर्यौ। तब धर्मराज कही कै एक सूद्र ब्रह्म कर्म करत है। सु अपने धर्म छाँड़ि जु बिराने धर्म करै तौ सब देस कौं उतपात है। सु वा सूद्र कौ पाप है। तातें तुम राजा हौ, राजनि कौ यहै धर्म जु कोउ धर्म को मरजाद उलंघै ताहि सजा देय। तुम वाहि मार्यौ तौ यह ब्राह्मन कौ बालक जियै। तब यह सुनत ही रामजू सब देवतनि को बिदा

करि आप पुहुप बिवांन पै चढ़ि कै वा सूद्र कौ मूड़ काटि मारि डार्‌यौ। तब वह ब्राह्मन कौ बालक जी उठौ। सु हकीकत कथा या में संछेप जताई है। अरु एक यह संछेप जताई है सीता निकारे की। याकी यह हकीकत है जु एक धोबी ने अपनी अस्त्री मारी हती सु रिसाइ कै माइके बसि रही ती। तब सबेरे वाकौ बाप लै आयौ। तब धोबी कहन लग्यौ कै यह राति अन्त बसी मेरे काम की नाहीं। मैं रामचन्द्र नाहीं जिनकी अस्त्री छह महीना राक्षस कै रही अरु फिर घर में राखी। जब वा धोबी ने यह कही तब दूत फिरत ते, तिन दूत सुनी। तब दूतनि रामजू सों आन कही। तब रामजू कै कछू खिस्याहट सौ भयौ। तापै उनके मनै आई कै सीता कों निकारि दीजे। संसार के मनुष हमारी निंद्रा करत हैं। यह भरथ सों कही। तापै भरथ कही कै सीता सी सुद्ध पवित्र अस्त्री कहा गंवार की बातें सुनै निकारत हौ, यह हिसाबी नाहीं। जैसे पाखंडी बेद सास्त्रनि की हमेसा निंद्रा करत हैं, तौ बेद सास्त्रनि के धर्म कहा नीच पाखंडिनि के कहैं छांड़ि दीजै। अरु जैसै जोगी संसारी संग तें बिरक्त हो कै ममिता छांड़ि देत हैं तुम संसार के अपवाद तें सीता सों हित छांड़त हौ सु हिसाबो नाहीं। अस्त्रो जु छांड़नि कहो है सु दोष तें सु सीता में दोष नाहीं। आग में सोता सात बार बैठो, देवतनि के आगैं सौंह दई। सब देवतनि पितरनि साख भरी। ब्रह्मादिकनि अरु श्री जू हैं, लच्छिमी तिनके पिता समुद्र ने साख भरो कै सोता में दोष नाहीं। सु ऐसी सीता कौं निकारिबो भलो नाहीं। ऐसी बातें भरथ कही तापै रामजू कही तुम सत्त कहत हौ सीता में दोष नाहीं, निरदोष है, पै मेरे मन कदर्जता भई है। लटी इच्छा मेरे उपजी है, तातें कै सीता कौं निकारि देउ कै मोंहि मारौ फिर बात जिन कहो। इहां ये बातें भई हैं, तब लछिमन के हवाले भई है। तब वे निकारि आये हैं। सु यह कथा इहि भाँति कहा भई। अरु पाखंडी जु यामें कहे कै वह निंद्रा करत हैं, सु पाखंडो सब जुगनि में चलि आये हैं। जैसे अबै कबीरपंथी, नानिकपंथी, दादूपंथी, कमालपंथी, मोहनपंथी ऐसे-ऐसे के पंथ चलाये हैं। ते अपने-अपने ग्यान सब कथत हैं। बेद सास्त्रनि की निंद्रा करत हैं। सु इनके पंथ गई-गवां में अरु गंवारनीं में बहुत चलत हैं। जे बेद पुरान नाहीं सुनत, ते इनकी रचना में आउत हैं।

एकै तौ ऐ पाखंडी कहावत हैं अरु एकै पाखंडी बेद सास्त्रनि के पढ़ैया होत हैं जे औरनि कौं ग्यान चरचा करि परमोधत हैं, अपुन कछू साधन नाहीं करत हैं। रुजगार ही के लयैं कथा सुनावत हैं, ते पाखंडी हैं। अरु मठधारी की चरचा केसौदास ने कही है। सु पाखंडी वही तौ, जो कोउ दरसननि कों, चढ़ाइबे कों आवै, तो ठाकुर की रचना करै, नातरु घरैं रहै, पूजा न करै, तापै पाखंडी कह्यौ। सु पाखंडी की चरचा यह है जु मुंह और, पेट और। औरनि के परमोधिबे कौं चरचा पूजा जाप कै दिखावै। अंतहकरन भक्ति न होइ सु पाखंडी, ताकी संगति भली नाहीं। अरु जु मठपति चरनोदिक प्रसाद देइ ताकौ दोष नाहीं। उनके ब्यौहार माफिक न्योते जाउ, उन पानी पियन ना कह्यौ। दिवाले लौं उनकौ मन पवित्र है। प्रसाद मात्र जु देइ ताकौ दोष नाहीं।

और आसंका

रामचन्द्रिका के कबित्त में जोति कौ बरनन कर्यौ है। अरु यह कही है कै 'रुद्र के चित्त समुद्र बसै नित' ताकौ यह अर्थ—जैसै चन्द्रमा कौ प्रकास सब ठौर, पै चन्द्रमा कौ प्रतिबिम्ब पानी में देखियत है। पानी निर्मल होत है तातें पानी में दिखात, अन्त नाहीं। तैसें वह जोति सर्वत्र है, पै जिनके चित्त निरमल होत हैं, तिनके चित्त में भासति है और नाहीं। तापै कही रुद्र के चित्त समुद्र बसै नित'। महादेवजू कौ चित्त समुद्र रूपगम्भीर है, निर्मल है, सु उनके चित्त में जोति सदा प्रकासति है। औरनि के चित्त छोटे हैं, चंचल हैं, भूखे और, अफरै और। अरु जा बात में परैं ताही में भूलि रहत हैं। महादेवजू कौ चित्त सदा अस्थिर गंभीर निर्मल है। उनकौ चित्त समुद्र सो है। तातें उनमें वह जोति भासति है। सदा उनकौ चित्त जोति में बसत है, जोति उनके चित्त में बसति है। सु उनकौ चित्त समुद्र करि रामचन्द्रिका के कबित्त में कह्यौ। अरु पुराननि में अनेक मत हैं, ब्रतनि के महातम हैं। तहां ब्रतनि ही तें सब कछू है। तीर्थ कौ महातम है, तहां तीर्थ सब कछू हैं। ऐसें कहूँ पूजा कौ महातम, कहूँ जाप कौ ,कहूँ ध्यान कौ ,कहूँ जोग बा, कहूँ जग्य कौ और सब देवतनि के न्यारे न्यारे महातम हैं। सु ये सब तेंकौ एक ही कौं नहीं कहीं कै एक मानुष सब बातें साधै। तातें एक पर

एकै बात बन्याय सधति है। तातें सबई समुझि बूझि जु निबहत जानै अपुन पै सोई करै। ताकौ ताही में कारज होय। अरु पन निबाहिबौ कठिन है। जो कठिन न होइ तौ सब कोउ करि लेइ। ये पन दो तरह के हैं। एक हठ-धर्मनि के पन हैं ते कठिन हैं अरु दूसरे सहज के पन हैं। सु एक इष्ट कौ सुमिरन करै, दूसरौ न जानै, न आसन नैम करै, सहज में सुमिरन की लौ राखै। जैसी राजजोग में कही है। यामें कठिन नाहीं। जैसौं तैसौं सुमिरन की लौ राखै।

दोहा

सीता नयन चकोर सखि, रघुबंसी रघुनाथ।
रामचन्द्र सिय कमल मुख, भलौ बनौ है साथ॥

याकौ अर्थ यह है। यामें कबि चातुरी करी है कै सीता के नैन चकोर हैं। रामचन्द्र सूरजबसी हैं। सु चकोर चन्द्रमा कौ आसिक होत है, सूरज कौ नाहीं। पै ये सीता के नैन-चकोर सूरजबंसी राम के आसिक हैं। अरु कमल सूरज के देखें फूलत है। चन्द्रमा के देखें मुंदि जात। सु राम कौ मुख चन्द्रमा है। सीता कौ मुख-कमल रामचन्द्र के मुख-चन्द्र के देखें फूलत है। सु यह अनोखौ साथ है। यह कबिता के कहिबे की चतुराई है। जैसी जब चातुरी आई, तैसी तहीं धरी। कबिता में उपमा की चातुरी है।

आसंका गीता की

यामें कही कै आतमा कों आतमा बांधत है। ताकौं देह में जु चेतन्नि, जु देह की सम्हार करै है, वाही सौं आतमा कहत हैं। आतमा के दो खिताब हैं। जैसें मानुष के दो खिताब हैं। धन होइ तौ ठाकुर कहावै, निर्धनी होइ तौ गरीब कहावै। मानुष वही है, धनी निर्धनी कौ भेद है। तैसें आतमा देहधारी सब एक हैं। बिद्या अबिद्या कौ भेद है। बिद्यावान हैं ते आतमा ब्रह्म हैं, जे अबिद्यामय हैं, ते आतमा जीव हैं। सु अबिद्या मोह सौं कहत हैं। बिद्या ग्यान सौं कहत हैं। जो आतमा ग्यान की राह चलत हैं, ब्रह्म रूप होत हैं अरु अग्यान तें कर्म बंधन में परत हैं। तातें कही कै आतमा कों आतमा बांधत है, आतमा छोरत है। जोई आपुन कीजे सोई होय, बिराने करैं नाहीं होत। ईस्वर याही की करनी के फल देत है। सु आतमा की हकीकति यह है। अरु तीन्यों गुननि की हकीकति यह है।

तीन्यों गुन मन ही में रहत हैं। जैसें पाथर में आगि। जब ठोकिये तब हो कढ़ै। घरी दिननि सों मतलब नाहीं। तैसें गुन घरी दिन जुग सों नाहीं। जब ही कारन पाइ उपजें। जैसें ही जब ही कोउ अनकर की बात कहै करै, तब ही क्रोध तमोगुन उपजै, ताकौ घरी पल कौ बिचार नाहीं। अरु इन गुननि कों ग्यानी या भांति जीतत हैं, सु संसार कौ ब्यौहार झूठौ नजरि में आवत है। तातें मन के अभिलाष मिटि जात हैं अरु बैर प्रीति काहू सों नाहीं रहत। को कितेक दिन जीहै। तातें कौन सों प्रीति कर मन बांधै, कौन सों कै दिननि कौ बैर बांधै। कै दिननि कौं धन जोरै। यह समुझि कै ग्यानी कैं समता हो जाति है। अरु साँखि जोग, ग्यान जोग, राज जोग ये तीन नाम एकई के हैं। जु राज जोग कह्यौ है सु वही ग्यान जोग, साँखि जोग। अरु वा पत्र में जु लिख्यौ है छह चक्र कौ, समाधि कौ बिचार, सु कर्म जोग, अष्टांग जोग, हठ जोग तीन नाम वाके हैं। ये दो जोग हैं। कर्म जोग तौ पिपीलिका मारग है अरु राजजोग बिहगम मारग है। पिपीलिका मारग ऐसो है जैसें चींटी फल की बास पाय पेड़ पै चढ़ै, जो बैहर के मारैं गिरै तौ फिर चढ़ै तैसें हठ जोग। मूल-चक्र सौं साधन करत-करत छह चक्र मंझिआइ बहुत दिननि में जो बीच की सिद्धिनि तें, बिघननि तें बचि जाइ तौ समाधि लगै। अरु राजजोग जैसें पंछी पेड़, डारैं छाँड़ि फल ही पै जाइ बैठत है तैसें ग्यानी कर्म जोग के उरझाउ में नाहीं परत, न चक्रनि की सिद्धें चाहैं। निहकाम होकैं सुमिरन ध्यान में हमेसा मन राखत हैं। बैठत, उठत, चलत,खात, पियत, हमेसा सुमिरन में सुरति राखत हैं। ईस्वर की इच्छा होय सु भलैं होय। अपनी इच्छा सिद्धिनि पै नाहीं राखत। सु यह राजजोग ग्यानिनि कौं कह्यौ है। वामें ईस्वर की प्रापति बड़ी कठिन सों होत है। यामें सहज समाधि है। और भली बुरी बातें न कहै न सुनै न मन में बिचारै, मतलब लौं बात कही और सुमिरन में सुरति राखै सदा। यासौं सहज समाधि कहत हैं। सु सहज दसा उत्तिम। अरु ध्यान में बैठे तौलौं सुरति रहै, फिर भूलि जाइ सु मद्धिम। अरु औरनि के दिखाइबे लौं ध्यान धरि बैठै सु अधम पाखंड है।

और आसंका

तहां अरजुन पूँछी कै बुद्धि कर्म तें बड़ी है, मोहि कर्मनि में काहे डारत

हौ। ताकों बुद्धि तौ जानिबे सौं कहत हैं। अरु कर्म करिबे सौं कहत है। ताकों पहिल बुद्धि है। जब बुद्धि कै जु बात जानै सु करै। जो जानै नाहीं तौ कहा करै। ताकों जामें जैसी बुद्धि सु तैसे करत हैं। ताकों जे बुद्धिवान हैं, ते आगो पाछो बिचारि कै कर्म करत हैं अरु जे बुद्धिहीन हैं, तिन लरिकनि कैसे कर्म करत हैं। जोई औरी सोई करी, सोई कही। आगे पाछे कौ बिचार नाहीं। ताकों अरजुन हिसाबी कही। कर्मनि तें बुद्धि बड़ी है। सु यह तौ हाल के कर्मनि कौ अरु बुद्धि कौ बिचार है। अरु पाछिलौ जु लिखत हैं, जु कर्म लिखी होति है सोई होति है। ताही सौं कर्म कहत हैं। सु पाछिले कर्म पाछिली बुद्धि सों भये हैं। जैसी पाछिले जनम बुद्धि भई, तैसे कर्म करे, तिनही कर्मनि के फल अबै होत हैं अरु जैसी बुद्धि जामें है तैसौ सु कर्म करत है तिनके फल आगे पाइहै। परंपरा तें ऐसो बनाउ बुद्धि कौ अरु कर्मनि कौ चलो आयौ है। तातें जे बुद्धिवान हैं, ते बुद्धि हो कों प्रधान मान राखत हैं। कर्म तौ करें होत हैं। यह बुद्धि कर्मनि की चर्चा है। अरु छठयें अध्याय में कही कै जाके मन के विकार नाहीं गये सु जोगेसुर न कहावै सु बिकार पाप कर्मनि सौं कहत हैं। जे पहिले जम लच्छनि में कहे हैं, हिंसा ममता, लोभता, मिथ्या, पर-नारो, ये पंच बिकार हैं। जौलौं ये न छूटें, तौलौं जोग न होइ। ये जोग की पहली सीढ़ी है। अरु दूसरे जु कही कै इन्द्रिनि के अर्थ कर्मनि में न लै जाइ। सु इन्द्रिनि के अर्थ ये कहावैं, जैसे आँखिनि कौ अर्थ नीकौ नोनो रूप देखिबो है। काननि कौ अर्थ राग रंग सुनिबो है। जीभ कौ अर्थ नीकौ मीठौ सवाद है। ऐसे-ऐसे इन्द्रिनि के सब सवाद हैं, अर्थ लगे हैं। ताकों इन्द्रिनि के जु ये अर्थ हैं, ते कर्मनि में न लै जाइ। सु कर्मनि में लै जैबौ यासौं कहत हैं जैसे आंखिनि कौ अर्थ देखिबो, ता देखिबे कों, तमासे कों संसार फिरत है। और सब सवादनि कों फिरत है। नाहीं पावत ताकौ दुख करत है। सु जोगेसुर होकै इन सवादनि कों न धावै, न दुख सुख मानै। सु इन्द्रिनि के अर्थ, कर्मनि कौ बिचार यह है। अरु वह जु कही कै आतमा कों दुख न देइ सु याके दो भेद। एक तौ अपने आतमा कों भूख प्यास ब्रत तपस्या कलेस न करै। जो कछू देह कों दुख होइ, तौ ताही में मन जात है। अरु जैसे आराम सौं रहै तैसो मन अस्थिर होइ, सुमिरन ध्यान में रहै। तातें आतमा कों दुख न देइ।

दूसरे आतमाधारी मानुष पसु पंछी कीरा सब पै दया करै, काहू दुख न देइ । सु और कों दुख दीबौ–याही को नाव दोष है । सु औरैं दुख न देइ । अरु यह जु कही कै आतमा कौ आतमा सत्रु है, आतमा कौ आतमा बंधु मित्र है, सु याके दो भेद । एक तौ आतमा जु नीके कर्म करै तौ नीके फल पावै तातें अपुन हू मित्र भयौ । अरु लटे कर्म करै तौ लटे फल पावै । लटी गति होइ । अपनौ अपुन हू सत्रु भयौ । और मित्र-सत्रु कोउ नाहीं । अपनेई करे कर्म अपनेई सत्रु-मित्र होत हैं । अरु दूसरे संसार में मित्र सत्रु कोउ नाहीं । अपुन ही प्रीति करि लीजे देवता सों कहा मानुष सों सोई मित्र होय । अपुन बैर कीजै सोई बैरी होइ । तातें अपनौ आप ही सत्रु, आप हो मित्र । याकौ यह भेद है । अरु यह आतमा करि आतमा उपकार करिबौ कह्यौ सु यह कह्यौ कै आतमा अपनौ ग्यान ध्यान सुमिरन भजन में राखै जातैं पारायन होइ, बिना सुमिरन बिना ग्यान चौरासी लाखि जनम मरन दुखनि में पर्यौ है । तातें मन सुमिरन ध्यान में राखै, आतमा कौ उपकार करै । याकौ बिचार यह है ।

और आसंका

बेद के तीन कांड हैं । एक कर्मकांड, दूसरौ उपासनाकांड, तीसरौ ग्यानकांड । जैसें मानुष के तीन पन । बालापन के खिलौना तरुनापन भयें छूटि जात हैं । तैसें करमकांड के करम उपासना में छूटि जात हैं । उपासनाकांड के ग्यान में छूटि जात हैं । कर्मकांड में ब्रत तपस्या होम जग्य कहे हैं । इनकौ फल स्वर्ग-भोग कह्यौ है । उपासनाकांड में सब देवतनि के मंत्र, पूजा, ध्यान, अस्तोत्र कहे हैं । जु जा देवता की उपासना करै ताही के लोक समीप जाइ । अरु ग्यानकांड में परमातमा कौ ध्यान सुमिरन कह्यौ है । परमातमा कौ कहूँ लोक नाहीं, सब के हिरदै में रहत है । ग्यानी परमातमा कौ ध्यान करत हैं आप ही में, अरु अपने सब करम परमातमा कों अरपित करत हैं । अपने ही कर्मनि के अनुसार पूजा करत हैं, न मूरति थापने परै न आसन मार आंखें मूंदि ध्यान करने परै, न कोउ जानै कछू करत है कै नाहीं । न नैम घरी पहर कौ बंधेज आइ । जब तैं जगै अरु सोवै तब लौं जे अपने आचरन हैं, ते

सब पूजाई के बिधान होत हैं। तातें ग्यानी कों कर्म नाहीं लगत। सु यह तीन कांड की चरचा है। जाकी बुद्धि जाइ लाइक है ताको सोई उपदेस है।

आसंका सिकार की

लोकीक में अब और तरह हो गई है। सिकार कों सहज मानि लियौ है। बेद सास्त्र में छत्री कों आपदा परैं कही है कै सिकार करि खाइ अरु हमेसा जीव नाहीं मारन कहे। अरु पाप जीव हमेसा मारन कहे हैं। नाहर बाघ इनके मारें बन के और जीवनि की रच्छा होत है। यह छत्री कौ धरम है दुष्टनि कों मारै सब की रच्छा करै। अरु रामचन्द्र ने जु सिकार करी है सु बनोवास में करी है, ब्रच्छनि के पातनि पर मांस धरि धरि खायौ है। सु ग्यानी राजा भये हैं, तिनकैं जीव दया भई है, तिन सहज में जीव नाहीं मारे। अरु बहुतक राजा ऐसे भये हैं जिन जीव दया नाहीं जानी, ते सदा सिकारई खेलत रहे हैं, जैसे जसरथ भये, पंडु भये। ऐसे और बहुत भये हैं तिनकों सिकारई कौ बिसन पर्यौ है तिनकी रीति ग्यान में नाहीं लीजत। अरु सिकार चली तौ ओर तें आई है। पै जैसें ग्यानी राजा भये हैं, जैसें बालि नल भये, जुधिष्ठिर भये, रामचन्द्र भये, इन आपदा ही में सिकार खेली है, बनोवास में। अरु रामचन्द्रिका के दोहा में इतनो कहो है कै जु कछू आंखिनि देखियत है अरु बानी बरनियत है, सु सब मिथ्या करि जानै। चित्त तैं त्याग करि देइ सु वह त्यागी कहावै। सु आँखिनि देखिबौ यही कह्यौ, जु एकै होत जात है एकै मिटत जात है। कृमि कैसौ बनाव है। बिना ईस्वर के जानै तातें मिथ्या है। अरु जे बानी बचन के बर है, पाछिले जे हो गये हैं अरु देवलोक, भूमि, पाताल के बासी ते मिथ्या सब हैं, नास सब कौ है। तातें मिथ्या सों मन न अटकावै। यह महात्यागी कौ लच्छन है।

आसंका तारा की

कै तारा वाही देह सों दूसरे पुरुष की सेवा काहे तें करी। सु तारा की तीन बातें हैं। एक तौ यह जु धर्म मरजाद मनुष ही कों कही है। पसु पंछी कों नाहीं। सु वे बांदर जाति हते, उनकों ऐब नाहीं। अरु दूसरे

यह जु तारा सुग्रीव की अस्त्री हती । बालि ने सुग्रीव मारि निकारि तारा छिड़ाइ लई, तब तारा कौ बालि ही सों मोह बंधि गयौ । जब रामजू ने बालि मारे,तब तारा बिरह बिलाप करन लागो । तब रामजू ग्यान कै समुझाई, उनकौ मोह छूटि गयौ । फिर सुग्रीव को सुग्रीव कैं आई । यातें तारा कों दूषन नाहीं । तीसरे यह जु रामजू तारा कों ब्रह्म-ग्यान कौ उपदेस कर्‌यो कै देह झूठी है । ब्रह्म सत है । सु देह कौ मोह छांड़ौ, ब्रह्म कौ सरूप चित्त में राखौ सु वह ब्रह्म सब ही में है, दूसरौ नाहीं । जाकों देखै तामें वही जानैं । वही भयौ, दूसरौ को है, काहे कौ दोष है । यह एक भाव रामजू ने तारा सों कह्यौ । तातें तारा कों दूषन न लग्यौ । वही ब्रह्म बालि में जान्यौ वही सुग्रीव में जान्यौ । यह ताकी हकीकत है । अरु एक हकीकत यह है जु अपनी मानि है । देवता सों अबतार सों मनुष सों पाथर सों जासों मानि लीजै कै येही हमारे इष्ट हैं, ईस्वर है तो वही ईस्वर फलदाता है । जो यह मानि लीजे कै सब ही में है, तो वही है । जो एक में मानौ तौ एक भयौ अरु सब में एक मान्यौ तौ एक भयौ । वह तौ एक है, मानि भली ।

आसंका जोति की

बाजे साधु कहत हैं कै हम जोति देखत हैं ताकी हकीकत यह है । जु वा परम जोति कौ देखिबौ तौ बडे-बड़े सिद्धनि कौं कठिन है । जब छहूं चक्र सिद्ध करि कैं उनकी सिद्धनि में न भूलै, तब वा जोति समाधि में देखै तब वाकी सिद्धि यह जु दिब्य रूप जैसौ धर्‌यौ चाहै तैसौ धरै । जनम मरन तें रहित होइ । अब वह जोति कौ तौ देखिबौ नाहीं, न वह समाधि । अब के जोगी नाक आंखैं मूंदि जब ऊपर कौं दम चढ़ावत हैं, तब आँखिनि कौ तेज, जैसें आंखें मीड़े तें तिलगा से छूटत है, तैसे तिलगा से झिलमिलात । चित्तभरम में देखत हैं । अरु पवन मन वा समाधि लौं जात नाहीं बीच में भर्म कै उतरि आउत है । ये जानै कै हम जोति देखी । जो वे जोति देखैं तौ मति-गति पलटै । या चित्तभरम कौं जोति तैं कहा सिद्ध होइ । ऊसे के ऊसेई अग्यानी बनै रहत हैं अरु औरनि भरमाइ देत हैं, तेइ कहत हैं कै हम जोति देखित हैं । सु जो वह दरसन ऐसौ सुगम होइ तौ ज

एक घरी में नाक मुँदें ईस्वर देखैं तौ पाछिले जोगी उतेक कष्ट काहे कौं करते। बेदनि में वह कठिन मार्ग कह्यौ है। जब ऊसे जोगेसुर गुरु मिलत ते, तब बरियाय कैं बारह बरस में एक चक्र सिद्ध होइ। तब छहूँ चक्र सिद्ध करि, तब जोति सौं समाधि होति ती। अब भेष में ऐसौ हाल भयौ है। जु एकै तौ या चित्तभरम में भूले हैं अरु औरनि भरमाउत हैं। एकै सुरनि की परीच्छा करत हैं। बायें दाहिने सुर सों सगुनौती सी करि बिदी मिलावत हैं या भांति अपनी जुगति लगावत हैं। एकै बीर बिद्या साधि कैं भूतनि पै इतै उतै की खबरि मंगाइ लेत हैं। सब कैं परतीति आउत है कै बड़ौ सिद्ध है सब जांगा की खबर कहत है। या तैं संसार में जुगति लगावत हैं। एकै मुंहजुबानी झूठी कहत हैं कै हम ऐसौ देखत हैं ऐसौ जानत हैं। वे लाबरी दै अपनौ काम चलाउत हैं। ऐसे-ऐसे पंथ या जुग में चले हैं। अपनी बड़ाई कौं, अपने रुजिगार कौं अनेक तमासे करत हैं। आखिर उनकी कुगति होति है, जे ईस्वर की भक्ति छांड़ि अपनौ पाखंड चलावत हैं। ताकौं अग्यानिनि में इनके पाखंड चलत हैं। जे बिबेकी हैं ते काहू की बातनि में नाहीं भूलत। जैसे कछू बेद पुराननि में आचरन कहे हैं तै सेई करत हैं। अरु जो कोऊ पूछै तौ तासौं बेद ही के माफिक बतावन कह्यौ जातैं भलौ होइ। अरु जे पाखंडी हैं ते आपनौ आगौ बिगारत हैं अरु और कौ बिगारत हैं। तातैं सूधी सांची बात भली, जातैं अपनौ बिरानौ भलौ होइ। ईस्वर-सुख पावै। बाजे साधु कहत हैं कै हम धुनि सुनत हैं। ताकी हकीकति यह है जैसे दो भांति जोति कही। एक वह परम जोति एक बीच की चित्तभरम कौ झिलमिलाहट। जैसें आकासबानी जु ब्रह्मांड में होत है तैसें पिंड के माथे में होत है। देवतनि कौं आकासबानी, जोगिनि कों सीस में होत है। सु वामें बेद धुनि के बीज अच्छिर होत हैं तिनके सुनै ग्यान होत है अरु वाही तैं बरदान होत है। सु वह तौ दुर्लभ है। अरु जो काहू कों होइ तौ वह अग्या, वह धुनि कहै नाहीं। अरु अबै के नये जोगी काननि में ढेंठी दै कै वह नसनि कौ पवन सुनसुन सुनत हैं तासौं धुनि कहत हैं। बाजी बेर काहू कौ कान कौ सुर खुलि जात है तब सन्ना-हट होत है सु वे यासौं धुनि कहत हैं। सु यह धुनि जड़ है। याके सुनै कछू सिद्धि नाहीं। वह धुनि चैतन्निहै। वाके सुने, बिना पढ़ें गुनै सरवग्य ग्यान

होत है अरु आग्या होत है सु कारज सिद्ध होत है। सु वह धुनि, वह जोति तो अगम है। ये बीच को भरमना में अटके हैं, यही औरनि बतावत हैं।

और आसंका

कै जिनकौं लखाउ होत है तिनके लच्छिन ऊसेई रहत हैं कै पलटि जात हैं। सु उनके लच्छिन, बुद्धि, बिचार सब पलटि जात हैं, सुमिरन में सुरति समाइ रहत है और बातें नाहीं सुहातीं। अरु अपनौ बरग बढ़ाइकैं काहू सो कहत नाहीं फिरत। जुकोउ पूछे ताकौं ता माफिक सिच्छा देइ। जैसे जड़ भरत जो राजा कौं जग्यासु जानौ तौ ग्यान की सिच्छा दई। अरु संतोष सदा रहत है जु परालब्ध तें होइ सु होइ। धन जोरिबे की तृष्णा नाहीं। अरु गंभीर सुभाउ हो जात है। कोउ भली बुरी करै सु मन में न धरै अरु बैराग दसा होत है। बैराग यासौं कहत हैं जु राग न रहै। राग रंग की रुचि नाहीं। यह बैराग दसा कहावै, भेष कौ नाउ नाहीं। भेष टीका माला टोपी ये स्वांग हैं। बैराग कौ भेष नाहीं। जे ग्यानो हैं तिनकौं सहज है। पायौ सु खायौ अरु पायौ सु पहिरौन पायौ तौ सोचु नाहीं। ये लच्छिन ग्यानी के हैं।

कबित्त

जानिनि में जान से अजान से अजानिनि में,
जानिनि अजान बानि तैंसिये कहन है।
ग्रेहिनि में ग्रेही से अतीत से अतीतिनि में,
ग्रेहिन अतीत भेष लीला सी लहन है।
जैसिनि में तैसे आप जैसे ही कै तैसे सदा,
सदा प्रतिमान धुनि अन्तर गहन है।
सहज सुभाव ही सों बिहरै जगत माँहि,
बरनी 'अनन्य' ऐसी ग्यानी की रहन है।

और आसंका

देह में आतमा परमातमा ये दो पंछी हैं। सु जीवातमा तौ कर्मनि कौ कर्त्ता अरु भोगता है। परमातमा करता भोगता नाहीं ताकी आसंका। सु यह हकीकति ऐसी है जैसे घर में दीया होत है। न दीया घर में के कर्मनि कौ कर्त्ता होइ न भोगता होइ। दीया के उज्यारै मानुष घर के करम करत है। तैसे परमातमा देह में प्रकास मात्र है। वाके आसरैं जीवातमा सब कर्म करत है। कर्मनि के फल भोगवत है। वह परमातमा इनके कर्म भोगनि तैं न्यारो है, जैसे दीया घर के कर्म भोगनि तैं न्यारो है। ये वामें तेल दीजत हैं ताहि जारत हैं अरु जु बस्तु वासौं बार्यो चाहैं सु बारैं। तैसें जे ग्यानी हैं ते सब कर्म वाही अर्पत हैं, वाही भोगता करि जानत हैं तब वह भोगता होत है या जीवातमा कौं कर्म नाहीं लगत। भले बुरे कर्म सब जरि जात हैं जैसें आगि में भलौ बुरौ ईंधन डारैं सु जरि जाइ आगि होइ। ईंधन कौ नाम रूप नाहीं रहत। तैसें परमातमा कौं अर्पि जे कर्म करैं भले बुरे ते सब सुद्ध हो जात हैं। कर्मनि कौ अर्पिबौ याही सौं आतमा पूजा कहत हैं। अरु जैसें जब दातौन करनि लगै तब परमातमा के मंत्र भाव करि दातौन करै, तौ वही दातौन कराइबौ, भयौ। जब सपरन लगै तब वाही मंत्र भावना करि आंग पै पानी डारै यही परमातमा कौ सपराइबौ भयौ। अपने चन्दन लगावै, तब वाही मंत्र भाव करि चन्दन चढ़ावै, सु चन्दन चढ़ाइबौ भयौ। ऐसे खैबै में पीबै में सूंघिबै में वस्त्र पहिरिबै में अरु सब कर्म जे अपुन कौं करिबै होंय ते सब वाही रीति सौं अर्पित करै। रात दिन भले बुरे कर्म करै ते वा बिना न करै। सब कर्मनि में सुरति राखे रहै, तो सब वाही की पूजा कौ बिधान है। जे पूरे ग्यानी होत हैं, ते यही साधन करत हैं।

आसंका ब्रत की अरु प्रसाद की

सु हकीकति यह है जु एक सामान्नि मारग है, एक बिसेष मारग है। तहां बिसेष मारग तौ यासौं कहत हैं जु एक कौनू धारना पकरै सोई निबाहै। जैसे राजा रुकमांगद ग्यास कौ ब्रत गह्यौ सोइ निबाह्यौ। कैऊ

बिघन भये पै ब्रत न छांड़ियौ । उन सगे ग्यास के दिन अन्न-अन्न कहत मर गये पै ब्रत खंडित न कर्यौ । ऐसौ जु नेंम निबाहै तासौं बिसेष मारग कहत हैं काहू कें ब्रत कौ प्रन होत है, काहू कैं पूजा कौ प्रन है, काहू कें नामनि कौ प्रन है । जे हजार कौ नेंम बांधें ते लैकें भोजन करें । एकनि कें अस्तोत्र पाठ कीबे कौ नेंम हैं, एकनि कें मंत्रनि कौ नेंम है । ऐसे ऐसे केऊ तरह के नेंम हैं । जानैं जौन नेम धरौ ताकौं सोई सब कछू है दूसरे सों मतलब नाहीं । यासौं बिसेष मारग कहत है जु एक टेक पकरै सोई निबाहै । अरु सामान्नि मारग यासौं कहत हैं जु थोरे थोरे सबई साधै प्रन कौनू नाहीं । जु बनी सु बनी, न बनी सु न बनी । यह सामान्नि मारग है । अरु एक तरह ऐसी है जु एक धारना कौ नेंम करै ताकौ निरबाह करै और समान राखै, बनै तो करै न बनै तौ न करै. ताकौ दोष नाहीं । जो कौनू नेंम धरै अरु छांड़े तो दोष लगै । जो सहज राखै तौ दोष नाहीं । ताकौं ये दोउ मारग यह तरह के हैं । अरु जाकें जौन बात कौ नेम होइ ताकौं सोई भलौ । ग्यास कौ नेंमी जु प्रसाद लेइ तौ ब्रत खंडित होइ । तातें नेंम एकै सधत है दोई बातें नाहीं सधतीं । अरु ग्यान पच्छ बिषैं नेंम नाहीं कह्यौ एक सुमिरन ध्यान की लौ कही है । अरु नेंम हठधर्मनि में हैं । जे सुमिरन ध्यान नाहीं जानत ते नेंम पर ठहरात हैं । वे काया कलेस ही कौं बड़ी क्रिया मानत हैं । अरु ब्रत के रहे तैं भूख प्यास तैं मन अस्थिर नाहीं रहत । मन आराम ही में अस्थिर होत है । याही तैं राजजोग में हठधर्म डारि दये हैं । सुमिरन मन ही कौ ठहरायौ है । मन के सुमिरन ध्यान तैं वा सरूप सौं मन मिलि रहत हैं । ऊसियै गति होति है, जैसे बौंड़ा दीया सौं लगायैं दीया होत है । ऐसे मन ब्रह्म सों मिलि ब्रह्म होत है । अरु ब्रत तपस्यनि तैं वह गति नाहीं होत, फल पावत हैं, देवलोक पावत हैं, पै जीवई बनै रहत हैं । जीव तैं ब्रह्म नाहीं होत । जीव तैं ब्रह्म तब होइ जब मन सुमिरन में लौलीन हो रहै । तहां सुमिरन दो तरह कौ है । एक तौ देहधारी देवतनि अवतारनि कौ है अरु एक सुमिरन वा तत्सरूप कौ है । देहधारिनि के सुमिरन तैं जीवबुद्धि नाहीं मिटत न ब्रह्मबुद्धि होइ । वा सरूप के सुमिरन तैं बह्मबुद्धि होति है । अरु जैसें कृष्नजू ने अरजुन कौं उपदेस कर्यौ, रामजू ने लछिमन कौं उपदेस कर्यौ, महादेवजू

ने बसिष्ठ कौं उपदेस कर्यौ वाही सरूप कौ। यह न कही कै तुम तौ हमारे निकट हौ, हमारे दरसन तैं परम पद पाइहौ। यह नहीं, वाही कौ उपदेस दयौ। तातैं वह सुमिरन ग्यानिनि कौं है। जिनमें वह ग्यान नाहीं तिनकौं इनही कौ सुमिरन है जु जापै बनै सु भलौ।

और आसंका

कै जैसें तैसें ब्रत कौ पालिबौ भलौ कै प्रसाद भलौ। तातैं भले तौ सब ही हैं जु जाकौ पन धरै सोई ताकौं भलौ। पै उतरती चढ़ती सीढ़ी हैं। तीन कांड बेद के हैं। एक कर्मकांड है, दूसरौ उपासनाकांड, तीसरौ ग्यानकांड। सु कर्मकांड में तौ ब्रत तपस्या होम जग्य तीरथ ये कहे हैं। उपासनाकांड में जु जा देवता की उपासना करै ताकौ नाम ध्यान पूजा करनौ, चरनोदिक प्रसाद कौ अधिकारी। ग्यानकांड में वा तत्सरूप कौ ध्यान मनसा साधन सुमिरन ध्यान आपुही में कह्यौ है। आतमा पूजा कही है। तहां पूजा तीन भांति है। एक तौ प्रतिमा पूजा, दूसरी मनसा पूजा, तीसरी आतम पूजा। जु जाकौ अधिकारी होइ। प्रतिमा पूजा तौ उजागर सबई करत हैं। मनसा पूजा मन ही में ईस्वर कौ ध्यान करि पूजा करै। अरु आतम पूजा यह अपने सब सहज के कर्म। जब तैं जगै, जौलों जगै, फिर सोवै तौलौं जु आप कर्म करै ते सब कर्म पूजा सरूप होत हैं। न आंखैं मूंदि ध्यान करनै परै न आसन मारि बैठनै परै न मूरति थापनै परै न नैम करनै परै। न कोउ जानै कै कछू साधन करत हैं कै नाहीं। सहज के कर्मनि सों दिन पूजा बिधान होत है। अरु ईस्वर ने बसिष्ठ सों वही पूजा कही है अरु जे बड़े-बड़े ग्यानी हैं तिन वही तरह साधी है। न यामें कछू सामां चाहिये न आसन ध्यान। कीबै परै। एक भावना अरु सुरति चाहिये। जो सब कर्मनि में वही भावना वही सुरति रहै भूलै नहीं।

आसंका कर्दम रिषि की

कै कर्दम रिषि तपस्या करि बरदान मांगि ग्रहस्थ भये कौन बिचार

तैं। ताकौं उन जु तपस्या करी सु अस्त्री की बासना तें। जो कहिये कै अस्त्री संसार में सबही कैं होती हैं उनकौं कहा टोटौ हतौ। ताकौं अस्त्री तौ अनेक हैं पै पतिव्रता बिरलीं हैं। बिना तपस्या पतिव्रता अस्त्री नाहीं मिलत। पुरुष कौ लोक परलोक अस्त्री के संसर्ग माफिक होत है। जो अस्त्री पतिव्रता होइ अरु पुरुष कुराह चलै तऊ अस्त्री के धर्म तैं उत्तम गति होइ। अरु पुरुष धर्मातमा होइ अस्त्री कुचालि चलै तो अस्त्री के दोष तैं पुरुष नर्कपाती होइ। पुरुष की सुगति कुगति अस्त्री सों लगी है। अस्त्री की पुरुष सों नाहीं। पुरुष जो धर्मातमा होइ अस्त्री दोषिनी होइ तौ पुरुष कौ धर्म अस्त्री कौं न फलै, पुरुष हू कौ धर्म खोवै। तातैं ग्रहस्थ धर्म अस्त्री सों लग्यौ है। तातैं कर्दम रिषि तपस्या करि पतिव्रता अस्त्री मांगी। आप ग्यानवान हतेई। पतिव्रता अस्त्री पाई, सु लोक परलोक दोऊ सुधरे। सु अस्त्री कौं पूरौ पुरुष, पुरुष कौं पूरी अस्त्री तपस्या तैं मिलत है। बहुतक अस्त्रिनि तपस्या करि पुरुष मांग्यो है, बहुतक पुरुषनि अस्त्री मांगी है। तब पूरौ जोरा भयौ है। अरु बिना तपस्या संसार में अनमिलते जोरा सबरे हैं। न कोऊ इतनौ बिचार राखै। अंधाधुन्ध संसार में है। न काहू ईस्वर की खबरि, न गति अगति की खबरि। तब के रिषि मुनि आगौ बांधि कै कर्म करत ते।

आसंका और

कं उपासे भूखे प्यासे चित्त थिर नाहीं रहत। ताकी रीति ऐसी है जु चित्त थिर कीबै की रीति और, ब्रत की रीति और। ब्रत तीरथ तपस्या ये काया कलेस के मारग हैं। जैसऊ कसालौ देह कौं देइ, तैसऊ फल पावै अधिक। जे सुमिरन भजन के अधिकारी हैं, ते जैसेई आराम सों रहैं, तैसऊ सुमिरन भजन बनै। ते काया कलेस नाहीं करत। ताकौं ए दोई मारग ऐसे हैं। जैसे एक गुनी जन होत हैं। गवैया बजैया नचैया कबि पंडित ते अपने गुननि करि दातै रिझावत हैं। अरु एकै बेगुनी होत हैं। ते दाता के द्वार धरनौ सौ देत हैं, तब कछू पावत हैं। सैकरनि की बगसीसें पावत हैं। तैसें जे ग्यानी हैं, ते सुमिरन भजन जप पूजा करि ईस्वरै प्रसन्न करत हैं।

जे अग्यानी हैं, ते धरनौ सो देत हैं, व्रत तपस्या कसाले करत हैं। तिनही सों ईस्वर दया करत है, फल देत है, पै ऊसौ अधिकारी नाहीं, जैसो ग्यानिनि कौ प्रमान है। ग्यानिनि के जान सब दिन ईस्वर ही के हैं सदा सुमिरन करने। अग्याननि के जान अकेली ग्यास कै चौदस एक ईस्वर ही को है। ताही दिन कौ ब्रत राखत हैं। अरु पुराननि में ऊंचे नीचे मारग यातैं कहे हैं जु जा लायक होइ सु ताही मारग लगै। उत्तिम मारग यह है जु आठहू पहर सुमिरन करै। खात कमात बैठें उठैं अपनी सुरति लगायें रहै। अरु मद्धिम मारग वह जु आठ पहर अपने जंजाल में रहै, दो चार घरी कौ नित्त नेम करै। सपरि कैं पूजा जप करि तब और कारज करै। निकृष्ट मारग यह जु पन्द्रह दिन में एक दिन ईस्वर के निमित्त उपासौ रहै, ब्रत पूजा करै, तौ याही सौं कारज होइ। ये तीन मारग हैं। जु जा लायक होत है, सोइ करत है। अरु तत्ता अब वा जुग कैसौ नाहीं। ऊसी अब कौन पै होत है। राजा रुकमांगद पै बैटा कौ माथौ मोहिनी माँग्यौ सु काटन लगे पै ब्रत न छांड्यौ। अब तौ तन के धर्म छूटि जात हैं अरु ब्रत तपस्या जोग इनकी नकल सी है। या जुग में बिधि सों ये नाहीं सधत, ये जुग के अनुसार हैं। अरु ईस्वर कौ नाम अरु ग्यान ये चारौं जुग में एक से हैं। नाम कौ महत्तम जोई तब, सोई अब। अरु ग्यान कौ प्रकास जाकौं होइ, सु जोइ तब के ग्यानी, सोई अब के ग्यानी। इन दो में फेर नाहीं। अरु ग्यानी तासौं कहैं बिना पढ़े आपु तें सब जानै। जोई बेद पुरान सोई ग्यानी की जुबान, एक सी बिदि मिलै। अरु जो बेद पुरान सों बिदी न मिलै, अटकर ग्यान कोऊ कहै सु पाखंड है। कलियुग में पाखंडी बहुत हैं। पाखंडी अपनौं पंथ चलावैं बिरानो धर्म खंडैं। ते कलिजुग के दूत हैं। ऐसो हाल भयौ है भेषधारिनि में। कोउ बीर बिद्या साधत हैं, कोउ सुर में हो सगुनौती सी बिदी मिलावत हैं, कोउ चित्तभर्म की बातैं कहि औरनि भरमाउत हैं, सैकरनि सिष्य करत हैं। बेद पुराननि के धर्म छुटाये हैं। अपने अपने पंथ चलाये हैं। संसार उन्हें पूजत है, ऐसो हाल या जुग में भयौ हैं।

आसंका सालिग्राम के छिरकिबे की

ये करमकांड की बातैं हैं। ग्यान में ये तीन बातैं गैर-हिसाबी हैं। एक

तौ सालिग्राम कौ छिरकि दीबौ । सु इष्ट देवता ओरै छिरकि देइ, तौ भक्ति न रही । अरु दाता ह्वै बैठे, ठाकुर को मूरति दान देइ, यह भक्ति में नाहीं । दूसरे तुलसी को ब्याह करत हैं । सु तुलसी माता सब कहत हैं अरु नारायन जगतपिता हैं, तौ माता पिता कौ ब्याह कीबौ हिसाबी नाहीं । कन्यादान बेटी कौ होत है, माता कौ कन्यादान कौन धर्म है । तीसरे रहस कीरतन में लरिका गोपी करि नचावत है, सु जे नारायन की अस्त्री है, तिनकौ भाव पुरुष जाति में हिसाबी नाहीं । जे पतिब्रता हैं, ते और पुरुष की देह नाहीं छुवतीं । सु नारायन को अस्त्री और पुरुष की देह में कैसे आवती हैं । लरिकनि लहंगा लुँगरा पहिराय राधा गोपी कीबौ हिसाबो नाहीं । जो भवानीजू कौ भाव करि कुंआरी कन्या पूजत हैं, तो हिसाब है । अस्त्री जाति में अस्त्री की भावना उचित है, पुरुष की भावना पुरुष में उचित है । जो ईस्वर की भावना लुगाई में करै, तो भदेस अरु राधा की भावना पुरुष में करै, तौ भदेस । पै सुभ कर्मनि के लेखे रुजिगारी लोगनि ये मारग चलाये हैं । जामें कछू मिलै, सु करनै । ग्यान बिचार की उन्हैं कहा है । अरु संसार अग्यानी है । बिधि निषेध को करत है ।

आसंका आसा की

आसा कौ बिचार ऐसौ है जु आसा मन कौ बिसराम है । आसा बिन मन नाहीं टिकत । जैसें रूख के पात डार सौं लगे तौलौं नीके हैं । डार तैं छूटैं उड़त फिरत हैं । जहाँ नैंक टिकासरौ पायौ, तहां अटक्यौ, वहाँ तै छूटैं अंत अटक्यौ । बिना टिकासरैं ठहरात नाहीं । तैसैं मन ईस्वर तैं छूटैं संसार में भरमत फिरत है, सरीर आसा पै अटकत है । तहां संसारी आसा में बिसराम नाहीं, उड़त फिरत है । याही तैं स्वर्ग नर्क भोगवत है । जब गुरु मारग पाइ कै ईस्वर की आसा पै ठहराय, तब दो बात में एक होइ । कैंतौ ईस्वर के आसरै सबइ आसा पूजती हैं, जु चाहे सु मनसा ईस्वर पूरन करै कै केवल ग्यान ईस्वर की कृपा तैं होइ । तौ संसारी आसा न रहै, संसार झूठौ लगै, संसार के फलनि में मन न अटकै । ये दोई बातें ईस्वर के करैं होती हैं । बिना ईस्वर की कृपा न मन की

आसा पूजै, न मन तैं आसा छूटै, न मन कौं सुख होइ । सु मन कौं सुख दोई बात में है । कै आस पूजैं सुख है, कै आस टूटैं । तातैं संसारी तौ ईस्वर कौं जानत नाहीं, याही दुबिधा में भरमत फिरत हैं । जे ईस्वर कौं जानत हैं, ते सब बातैं उनही पै राखत हैं । न कछू आसा राखैं न छांडैं । जु ईस्वर करै सु भलैं करै । ऐसी संतोष मति आयैं बिना सुख नाहीं । तातैं जे ग्यानी हैं तै संतोष मन में राखत हैं । न अहंकार कै कछू त्यागैं, न आसा राखैं । सहज में होइ सु होइ । ऊपर लोकाचार साधै मन में सुमिरन करनौ यह राजजोग की रीति सदा सुख है । यह संसार कौ मारग ऐसौ है, जैसैं सांप चोंखरे के धोखैं छछूंदर पकरत है । जो छाँड़ै तौ आँखैं फूटि जाइ लील लेइ तौ मरि जाय । तातैं बंध हो रहत, करत कछू नाहीं बनत । तैसें संसार न छांड़ैं भलौ न संग्रहैं भलौ । तातैं ग्यानी सब बातैं ईस्वर ही पै राखि सुमिरन सों लगि रहत हैं, ईस्वर की कृपा तैं सुख भलौ होत है । न कर्मनि के बंधन होंय, न संसार में बूढ़ै । तातैं ग्यान में सहज अरु सदा सुमिरन ठहरायौ है ।

वा दोहरा में कह्यौ है कै खोटे कौ संसार है । सु यह तौ संसार कौ बनाव है । अबिद्या ही तैं संसार उपज्यौ है । अबिद्या ही की बातनि में सदा रहत है । अरु बिद्यावान ग्यानी बिरले होत हैं । न उन्हैं वे सुहांय न उन्हें वे सुहांय । जैसें मतवारिन की बातनि में पंडित नाहीं ठहरात, पंडितनि की सभा में मतवारे नाहीं ठहरात । अपनी अपनी परस है, तैसैं बिद्या अबिद्या की परस न्यारी न्यारी है । सु अबिद्या की परस संसार में सब जांगा है । बिद्यावान कहूं एक आध होत हैं, तिनकी संगति दुर्लभ होत है । जब ईस्वर की कृपा होइ, तब सतसंग मिलै, नातरु कुसंग में तौ पर्‌यौई है । पै अपने मन के बिचार सों अरु साधु सास्त्र के मत सों संसार में ब्यौपरनौ जहां जैसो देखै तहां तैसो करै । मन में ग्यान बिचार राखै अरु सुमिरन राखै । ईस्वर कौ भरौसो राखै, जैसैं राखै तैसैं रहैं दुख सुख न मानै ।

आसंका न्याय की अरु मीमांसा की

ताकौं न्याय कौ मत तौ यह है कै संसार करता के अधीन है ।

करता या संसार कौं उपजावत है, पालत है, संघारत है, फल दंड देत है। वाही कौ कर्‌यौ सब होत है, अपनौ करो कछू नाहीं होत। करता ईस्वर है, कर्‌यौ चाहै सु करै। ता पै मीमांसक यह कहत हैं कै करता को है, को ईस्वर है, कहा ईस्वर कौ कर्‌यौ होत है, जु अपुन कीजै सु होय, न कीजै सु न होय। जैसे कर्म करै तैसे फल पावै। सब अपनेई कर्म सत्य हैं। अरु ससार कौ करता कोउ नाहीं। ऐसोई बनाव संसार कौ चल्यौ आयौ है। अपने-अपने कर्मफल हैं। तातैं कर्म करिबौ भलौ। कर्मनि तैं फल है। निवर्त मारग भलो नाहीं। जो सब कर्म छाँड़ि देय तौ अजगर सौ हो रहे तौ कौन काम। तातैं कर्म सत्य है। ते कर्म अपने करे होत हैं। ईस्वर सौं मतलब नाहीं। यह मीमांसा कौ मत है। ताकौं यह दो सास्त्र अपनी-अपनी टेक करत हैं। अरु ग्यानी हैं ते दोई सत्य कहत हैं। कर्म करिबौ तौ अपने हाथ है, फल ईस्वर के हाथ है। जैसैं खेती करिबौ अपनै हाथ है, मेह बरसाइवौ ईस्वर के हाथ है। जो अपुन खेती करै, ईस्वर मेह न बरसावै तौ कहा फलै। अरु जो ईस्वर मेह बरसावौ करै, अपुन खेती न कीजै तौ कहा होइ। तातैं ग्यानी दोइ बातैं कहत हैं, कर्म आप कोजै सहाय ईस्वर है।

और आगैं जु कछू अपनौ मंत्र जप है, ध्यान है, जु अपनी धारना है, सु वह काहू सौं कहन नाहीं कही। जैसो गुपित कौ फल है सु प्रगट कौ नाहीं। जैसे बेद पुरान सब के आगे रुजिगार कौं बाँचत हैं। सु तातैं जु कछू कथनि के कहे-सुने के फल कहत हैं ते घटि गये हैं। होइ सु होइ अरु न होइ सु न होइ, यह प्रमान नाहीं। तातैं इष्ट धर्म जाहिर नाहीं करन कहे। अरु अपनै अंतर ते जे बाहिरी बातैं हैं ते अंतर तैं बाहर करै। जैसैं हजारनि भली बातैं कहिबे में आवती हैं तैसें गुरुमंत्र ध्यान कहिबे में नाहीं आवत, सु याकी यह रीति है।

आगैं मन की रीति यह है जु मन अकेलो है अरु कार्ज अनेक लगे हैं। अरु संगति कै मनुष्य कों अनेक भांतिनि की बातैं कहिबौ सुनिबौ, यह ब्यौहार बड़ौ मायाजार है। तातैं मन की एक दसा रहिबौ कठिन है। जब जा बात में मन परत है, तब तैसउ होत है। अरु जब दृढ़ करि एक धारना करिबै में आवति है अरु कछू लखाउ होत है, तब मन ऐसौ लगत

है जु और कछूसुहात नाहीं । सु यह रीति एक ही बार नाहीं होत । तातें बिद्या कौ अभ्यास बड़ी बात है । मन के समाधान कौं तीन बातें हैं । एक तौ बिद्या है । जे बातें सरवग्यनि पोथिनि में कही हैं तिनके बाँचें सुनें मन कौ समाधान होत है । जौलौं बिद्या कौ बिचार करै तौलौं अबिद्या कौ बिचार बातें बिसरि जायं । अरु दूसरौ सतसंग है । सतसंग तासौं कहत हैं जोई बात अपुन कौं सुहाय सोई ताकौं सुहाय, ताकी संगति तें मन कौ समाधान होत है । तीसरें सुमिरन ध्यान, अपने इष्ट सौं मन लगावनौ । जब वाकी कृपा होति है, तब न सतसंग चाहिये न बिद्या चाहिये । वाही तें सब कछू होति है ।

भासै सरवग्यता प्रकासै मन भानु रूप,
　　नासै सब अग्यता सबद धुनि नाधे तें ।
छूट जात पातक भरम सब फूट जात,
　　टूट जात बंधन अबिद्या गुन बांधे तें ।
करम जे करै ते न करम लिपत होत,
　　वाही अरपित होत लव सों अराधे तें ।
'अक्षर अनन्य' मनोकाम फल सिद्ध होत,
　　अनुभौ उदोत होत ग्यान जोग साधे तें ।।

साधै न सुबिद्या तौलौं छूटै न अबिद्या पास,
　　छूटै न अबिद्या तौलौं मन भ्रम भूत है ।
कहा पढ़ैं सुनैं कहा त्याग हू बिराग करैं,
　　स्वांग धरैं बंदर न होत रजपूत है ।
'अक्षर अनन्य' सिद्ध साधुनि कौ मत यहै,
　　साधै गुरु बिद्या दूर करै अघदूत है ।
भसम चढ़ावै कै लगावै चोवा चंदन कौ,
　　सोई जग मांझ ग्यान जोगी अवधूत है ।।

या कवित्त में दोई गतैं सब संसार की कहीं । मनुष्य जीव मात्र सब एक से हैं । बिद्या अबिद्या कौ तफावत है । जे बिद्या के अभ्यास में सुमिरन ध्यान में मन राखत हैं तिनकी सिद्ध दसा होति है । अरु जिनकैं इतै

उतै की अपनी बिरानी भली बुरी मतलब बेमतलब की बातैं भर्मना होति रहति है तिनकी भूत गति होति है। ये दोई गतैं अपने हाथ हैं। जाको अभ्यास करै सोई होई। सु बिद्या अबिद्या कौ मन कौ साथ है और सब बस्तैं धन संतान हाथी घोरा जु कछू संसार में है सु देह कौ साथ है। सु काहू साथ में रहै ग्रहस्थ होय कै अतीत होइ पै बिद्याई मन में बतैं कै अबिद्या बतैं इनसों मन सों हमेसा साथ है। तातें जे ग्यानवंत हैं ते ब्रथा बातनि में मन नाहीं भरमाउत। कै सुमिरन करनौ कै ग्यान चरचा करनौ। यह अभ्यास मन कौ पारत हैं तैसेउ हो जात है, एक ही बार नाहीं होत। तातें अभ्यास बड़ी बात है। याकौ सही साधन है।

अरु साधन अभ्यास की ऐसी रीति है जैसें भले मानुष कौं यह सपनौ नाहीं होत न सपनै में पुरिया पूरै न पनही बनावै अरु कोरी चमारनि के सपनें में न पोथी बांचे न बड़े बड़े और कर्म करैं। ताकौं जगत में जोई अभ्यास है सोई सपनै में अरु सोई मरै तें भूत भये तें, सोई देवता भयें। बुद्धि वही बनी रहति है, जु मनुष्य देह में है। तातैं संसारी बिषै अभ्यास कारन है। सु जैसऊ अभ्यास मानुष देह में करि लेइ तैंसी जाति बंधि जाति है। तातैं सिद्ध साधुनि सुमिरन कौ अभ्यास ठहरायौ हैं। अरु संसारी कर्म जे लगे हैं तिन बिना तौ चलत नाहीं, बिना करें। सु करै, पै अन्तहकरन अपनी बुद्धि वही राखैं धारना न छांड़े। याकौ यह मत है।

आगैं संसकार की यह रीति है जिनकौ संसकार भक्ति ग्यान कौ है अरु देह धरि सुख संपति कै दुख दरिद्र में कै धन संपति में भूलि रह्यौ है। जब यह प्रमाद उमगत है तब अपने हुदा पै ठाँडौ होत हैं। जैसे अमल खायै प्रमाद होत है, जब उतरत है तब फिर अपनी सुरित सम्हार करत है। यह ग्यान कौ कारन है। अरु जिनके ग्यान संसकार नाहीं ते जीव जो सुख संपति पायें तौ तामें भूलि रहैं। अरु दुख दरिद्र आनि होइ तौ झींखत रोवत रहै। वाही में मरें वही संसकार फिर लै जनमत हैं। जनम जनम येई हाल संसारी जीवनि के होत है। भक्ति संसकार थोरे दिन भूलत हैं। निदान समुझि आई बात है। तब किया कोउ जनम में सिद्ध होति है। तब फिर जनम मरन नाहीं होत। मानुष देह में सिद्ध भयें परम पद होत है।

अरु मनुष्य हो देह के कर्मनी तें चारी में परत हैं। वह सब मनुष्य देह अरु बुद्धि कौ कारन है।

कवित्त

हारि हम बैठे कहा हारे कौं हरावै कोउ,
सब ही सों हारे हम बैर है न प्रीति है।
जीति हम बैठे और जीतिबे रह्यौ न कोउ,
मन ही के जीतें होति सब जग जीति है।
जानि हम बैठे कछू जानिबे रह्यो न और,
एक ही के जानिबे लौं जानिबे की रीति है।
'अक्षर अनन्य' गुरु अक्षर अधार धरि,
समता समाधि साधि नीति न अनीति है॥

आसंका सती साध्वी पतिब्रता की

आगैं सती चारि भांति कही हैं। एक तौ उत्तिम, जे पतिब्रता है। सदा पति ही सौं प्रेम है, पति ही लौं जीवन, पति ही के संग मरन। ते सत्य लोक में सात कलप रहती हैं। जब फिर जनम धरैं तब वाही भाँति फिर सती होकै वाही लोक जाती हैं। अरु जे मद्धिम सती हैं ते पति सौं मद्धिम प्रीति राखती हैं, पै लोक लाज तें सती होती हैं। कै बड़े की अस्त्री होकै पाछैं कहा लजावै। बड़ाई सरम राखिबे कौं सती होती हैं। ते सत्य लोक में तीन कलप रहती हैं। अरु तीसरी निकृष्ट सती होती हैं ते दुल तें आगौ पाछौ बिचारि कैं, जिनके धन संतान सहाइक कोउ नाहीं जासौं जनम खेवै ते या दुख तें जरि जाती हैं। सु वे सत्य लोक में एक कलप रहती हैं। सु ये तीन तौ अपनी इच्छा तै होती हैं अरु सत्य लोक में तीन्यौ जाती हैं अरु चौथी बंधन बस होती हैं। बीर चढ़ाइ मंत्रनि बस होती है। ते सत्य लोक नाहीं जातीं। चूरैल होती हैं। सु ये चारि गतैं सतिनि की कही हैं।

अरु तीन भांति की साध्वी कही हैं। एक तौ वे जिनकौं बालापन तैं ग्यान होत है। ब्याह नाहीं करतीं। भक्ति जोग साधती हैं। जिनकै बिषै बासना नाहीं उपजति। अरु दूसरी वे जिन्हें ब्याह भयैं ग्यान होत है ते

अन्तर भक्ति भाव राखती हैं अरु पुरुष ही की सेवा करती हैं। बिषय सुखनि में आसक्त नाहीं होतीं, चित्त भक्तिही में राखती हैं अरु तीसरी वे जिनकै रांड भये पै ग्यान होत है। ते फिर दूसरे पुरुष की इच्छा नाहीं करतीं, न लोभ न लालच राखैं सब तैं बिरक्त होकै भक्ति करती हैं। सु ये तीन भांति की साध्वी कही हैं, अरु तीन ही भांति की पतिव्रता कही है। एक तौ अग्यान रूप है। जैसे और सब लुगाइनि की बुद्धि रीति है तैसी रीति सब उनमें होति है। न अग्याकारी होती हैं पै इतनौ पतिव्रत राखती हैं जु और पुरुष की न इच्छा करैं न डगैं। इतनौ ब्रत पालती हैं। अरु दूसरी पतिव्रता मद्धि भाग हैं। और ग्यान तौ उनमें कछू नाहीं होत पै अग्याकारी होती हैं। पुरुष कहै सु करैं। आप तैं कछू न जानैं। अरु तीसरी पतिव्रता ग्यानवान होती हैं। ते पुरुष की अग्याई मानती हैं। अरु जो चूकि कै पुरुष अग्या करै तामें दोष होइ, कछू बिगरै तौ वह अग्या न मानै, पुरुष कौं समुझाइ देय। अरु पुरुष में ग्यान न होइ तौ मारग लगावैं। जैसै रानी चूडालदै आप सिद्धई, अरु राजा कौं उपदेस दै आप से करि लये। सु ये तीन भाँति की पतिव्रता कही हैं। सु ये तीन भांति की अस्त्री कही-सती, साध्वी, पतिव्रता। अरु एकै अस्त्री होती हैं जिनमें तीनहू के लच्छन होत हैं। अन्तहकरन जिनकै हमेसा सत्त रहत है अरु साधु रीति सों सुधर्मनि चलतीं हैं अरु पतिव्रत पालती हैं, ते सकला कहावती हैं। वे देविनि के लेखे में हैं।

सवैया

सत्त वहै जु गहै दृढ़ता, दुख तैं सुख तैं नहिं चित्त चलावै।
साधु वहै जु करै मन साधन, सेवन सुम्रन में मन लावै।
नैम वहै जु पतिव्रत की गति, छांड़ि सबै पति प्रेम बढ़ावै।
नारिनि कौं नर कौं कहि 'अक्षर', धर्म यहै बिधि बेद बतावै ॥

आसंका पीपा परिचइ की

पीपा परिचइ बैरागिनि की बनाई है। बेद मार्ग तैं वाकिफ नाहीं। साधारन लिखी है। कै पीपा देवी भवानी के उपासक हते। जब देवी ने

कही, मैं मुक्ति की दाता नहीं तब पीपा उन्हें छाँड़ि बैसनव भये । यह पीपा परिचइ में कही । कछू देविनि तें वाकिफ नाहीं । तहां देविनि की हकीकति ऐसी है । एकै देवी कर्नपिसाची कहावती हैं । सात कर्नपिसा-चिनी हैं । तिनकी भूत प्रेत पिसाच सेवा पूजा करत हैं । उनकौ यह महा-तम है जु तीन्यों लोक की, घर-घर की, आगे-पाछे की जु खबरि पूँछै सु कान में कहि जायं । तातैं कर्नपिसाचिनी कहावती हैं । बात कहिबे की हैं और बरदान मांगे सु न देयं । अरु उनतैं आगैं जच्छिनी देवी हैं । इकईस जच्छिनी हैं । तिनकी पूजा जच्छ करत हैं । जच्छिनी उनकी देवी हैं । जु उनकी उपासना करै ताकौं जितेक धन चाहै तितेक देयँ । और चाहै सु कछू न दै सकैं । अकेले धन ही की दाता हैं । अरु इनतें आगें जोगिनी हैं । चौंसठ जोगिनी हैं । ते धन हू की दाता हैं अरु रच्छा की करनहार हैं, सत्रु की मारनहार हैं । इतनी सामर्थ उनकी है । ता सिवाइ और कछू माँगैं ताकी दाता नाहीं । उनतैं आगैं दस महाबिद्या हैं । ते बिद्या की दाता हैं । जु उनकी उपासना करै ताकौं पढ़ी अनपढ़ी, सुनी अनसुनी, हिन्दू मुसल-मानी बिद्या हैं ते अपनी खुसी कंठ आइ जाइं । और फल वे प्रयोग करै देती हैं । धन, संतान, उच्चाटन, मारन, बसीकरन,जैसउ प्रयोग साधैं तैसउ फल देती हैं । अरु इनतैं आगै त्रिसक्ति देवी हैं । पीपा ईस्वरी कौ उपा-सक होतौ तौ यह जवाब काहे कहं पाइतौ कै मैं मुक्ति की दाता नाहीं । सु मुक्ति भुक्ति ये सब सक्तैं भवानीजू की हैं । जैसें और सब सक्तैं है तैसें मुक्ति भुक्ति रिद्धि सिद्धि निधि ये सब सक्तैं हैं, आदिसक्ति की वरजनी हैं । यह ईस्वरी के मार्ग की चर्चा जानिबौ । अरु यहैं भवानीजू की उपासना अस्त्री करैं कै पुरुष करै । जाही कैं भक्ति प्रीति निहचौ होइ ताही फुरै, पै अस्त्री कौं बिसेष फुरति है । अस्त्री कौं और देवता की पूजा नाहीं कही । जो और देवता की पूजा करै तौ पुरुष की अग्या सौं करै । जैसें राम कृष्न औतार हैं अरु महादेव सूर्ज गनेस और जे देवता हैं ते पुरुष की अग्या तें आराधै तौ धर्मपूर्वक फलै । बिना अग्या पतिव्रत में कमी होति है । दूसरे पुरुष कौ सेवन पूजन होति है । अरु जब वह देवता प्रसन्न होइ तब पुरुष हो मिलै । जैसें सूर्ज की आराधना कुन्ती करी तौ पुरुष हो मिले । उनके संजोग तैं करन भये अरु गोपिनि कृष्न आराधे, उनहीं की भई, पति-

ब्रत छूटि गये । तातैं पतिब्रत राखै तौ और न ध्यावै, कै पति अग्या तैं ध्यावै । कै क्वांरी होइ, कै रांड होइ जो और देवता कौं सेवै तौ दूषन नाहीं । यह रीति देवतनि की उपासना अस्त्रिनि कौं कही है । अरु ईस्वर की आराधना करै तौ तीन हू कौं भली है । क्वांरी करै तौ लाइक बर पावै । ब्याही करै तौ वाहि की अरजी जब पहुंचे, बड़ौ अंतर न रहै । अरु काहू देवता की उपासना अस्त्री करै तौ देवता बहुत प्रसन्न होइ अपनी अस्त्री करि जानै । जब मिलै या जनम कै और जनम तब अपनी अस्त्री जानि मिलै तातैं अस्त्री और पुरुष रूप को उपासना नाहीं करतीं । जो करै तौ पुरुष की अग्या सों । यह रीति उपासना की है । अरु कर्म धर्म हैं ते त्रिबिध सब हैं–मनसा, वाचा, कर्मना । एकै कर्म देह के करें होत हैं । भले बुरे जु करिये सु होंय । एकै कर्म बचन तैं होत हैं । जु और सों कहिये, अपने कहे माफिक कोउ करै, ताकौ फल ताकौं होइ जाके हुकुम सौं कोउ करै । अरु एक कर्म मन ही के करैं हैं । जाही पर मनसा चलै, भली बुरी बातैं ते मन ही के कर्म होत हैं । पै त्रिबिध कर्म सब हैं । तिन ही में तीन भेद हैं । एक कर्मनि तैं धर्म है, एकनि तैं अधर्म है, एक सामान्नि है । खैबौ पहिरिबौ हंसिबौ खेलिबौ संसारी कर्म तिनमें पाप न पुन्न । तिनसौं संसारी जीव लगे हैं, पै संसारी कर्म अकारथ हैं ।

सवैया

भक्ति न ग्यान न तीरथ न्हान, न बेद पुरान सुनै बिधि जुत्ता ।
जोग बिधान न ईस्वर ध्यान, न पूरन ग्यान मतौ अवधुत्ता ।
जानि न मानि 'अनन्य' भनै, भगवानहि कौ दियौ चाहत बुत्ता ।
स्वारथ हू परमारथ नाहिं, अकारथ ते नर ज्यों खर कुत्ता ॥

विवेक दीपिका

कवित्त

बुद्धि देंहि सिद्धि देंहि सदा नवनिधि देंहि
असरन सरन अनंग दुख कौं हरै।
ग्यान देंहि ध्यान देंहि मान सनमान देंहि,
थान देंहि पूरन बिचार जिय में धरै।
लाज देंहि साज देंहि सकल समाज देंहि,
देवनि के देव छाँड़ि और कौन को करै।
यहि चित दीजे सिव सुत जो भली जे तातैं,
गनपति ध्यावो मन भायौ काज जो करै ॥१॥
कोऊ देव देत हैं अरथ समरत्थनि कौं,
कोऊ देव देत हैं धरम निज सार हैं।
कोऊ देव देत हैं सु भूमि मन काम रस,
कोऊ देव देत हैं मुकति सिरतार हैं।
एक एक पद देव देत यौं 'अनन्य' भनै,
करम करम सोई कस निरधार हैं।
देवनि के देव पारबती महादेवजू सु,
चारि हू पदारथ के दाता पग चार हैं ॥२॥

दोहा

चारि पदारथ सिद्ध करि, सर्व ग्यान गुन भास।
'विवेक दीपिका' ग्रन्थ यह, कह्यौ 'अनन्य' प्रकास ॥३॥

———

अंक बत्तीसी

दोहा

अ अ् आ आलस छांड़िकैं, कर करतूत बिसाल ।
अगनि मारकण्डेय जिमि, अमर भये जितकाल ॥१॥
इ इ् ई ईस्वर देव से, और न इष्ट अधार ।
काल करम भ्रम पास तें, छोरत करत न बार ॥२॥
उ उ् ऊबट जिनि चलौ, ऊबट उबटा खाउ ।
गुरु मारग सुभ राह चल, अभय चौगुनौ चाउ ॥३॥
ए ए ऐ मन बावरे, एक घरी भज संभु ।
आठ पहर के भरमने, होय नरक आरंभु ॥४॥
क क् का काक न भाषिये, काक काल बिष बान ।
मधुर बचन अमृत सदा, करन सकल कल्यान ॥५॥
ख ख् खा खुव सब खलक कौ, ताहि देत खल पीठ ।
द्वार द्वार भरमत फिरत, स्वानहिं जूठ न मीठ ॥६॥
ग ग् गा गंगाधर भजौ, गंगा गौरि निवास ।
सकल लोक पावन करन, हरन सोक भव त्रास ॥७॥
घ घ् घा घर नहिं कीजिये, जो कींजे तौ भर्म ।
घर करि धर्म करैं नहीं, ते सूकर बेसर्म ॥८॥
च च् चा चंचलताहि तजि, नहिं चल चित्र दृढ़ाउ ।
चपल सकल सुर छांड़िकैं, अटल सदासिव ध्याउ ॥९॥
छ छ् छा छार सु तासु मुख, जो छांडै दो कर्म ।
एक आपुनौ गुरु धरम, दूजे कुल की सर्म ॥१०॥
ज ज् जा जग जंजाल तजि, जे नित जपत महेस ।
ते नर जीवन मुक्त हैं, श्री गुरु के उपदेस ॥११॥
झ झ् झा अपनी झार सौं, जरत सकल संसार ।
तिनि के मन सीतल भये, जिनि कै तत्त बिचार ॥१२॥

ट ट् टा टरहु न टेक तैं, टूक टूक तन होय ।
टूक टूक तन फिर जुरै, पन न गयैं पन सोय ।।१३।।
ठ ठ् ठा ठालन जगत में, चौरासी भरमाउ ।
अटल भयौ चाहै सदा, अटल सदासिव ध्याउ ।।१४।।
ड ड् डा डगमग छांड़ि कै, अति दृढ़ता मति सोय ।
सुमिर सदा सिव सक्ति कहं, होनी होय सु होय ।।१५।।
ढ ढ् ढा ढाल बिसाल है, गुरू सब्द की ओट ।
काल ब्याल खल पाप की, ब्यापि सकै नहिं चोट ।।१६।।
त त् ता तत्त बिचार चित, तत्त सदासिव सेउ ।
पंच तत्त सरपंच जग, सपन मात्र गुत लेउ ।।१७।।
थ थ् था थिर कोऊ नहीं, सुर नर मुनि अवतार ।
अटल सदासिव चकत्रै, वहै सदा करतार ।।१८।।
द द् दा दाव न चूकिये, समय दान कृत हुक्क ।
लोभ करै कछु ना रहै, रहै दान जस चुक्क ।।१९।।
ध ध् धा धरम न छांड़िये, दुख सुख परै निदान ।
राम जुधिष्ठिर नल जथा, लहि हरिचन्द प्रमान ।।२०।।
न न् ना नाम न छांड़िये, नाम अधार बिसेष ।
भव सागर नौका यहै, बेद साधु मत लेख ।।२१।।
प प् पा पाप न कीजिये, जनम जनम यहि साल ।
पूरब पाप प्रताप तैं, धीवर हनै गुपाल ।।२२।।
फ फ् फा फल संसार में, जस करनी गुरु भक्ति ।
अफल और सब कामना, बिन सुमिरैं सिव सक्ति ।।२३।।
ब ब् बा बाकौ जनम धिक, जाकौ जग उपहास ।
साधन सूर निदान महि, धिक धिक जीवन बास ।।२४।।
भ भ् भा भांति न छांड़िये, भांति भांति नर देह ।
भांति बिना नरदेह धिक्, बंधे जु नाना नेह ।।२५।।
म म् मा मंत्र बिचारिये, चार पदारथ संच ।
भक्ति दया समता सुकृत, छाँड़ि सबै परपंच ।।२६।।

य य् या या संसार में ,साधन बहु व्रत जग्य ।
सार ग्यान समता सकल, कहि 'अनन्य' सरवग्य ।।२७।।
र र् रा राह सुराह चल, छाँड़ि कुराह कुसंग ।
लोक बेद मरजाद सुर, कहि 'अनन्य' सब अंग ।।२८।।
ल ल् ला लालच छांड़िकें, जग बिचरौ निरबन्ध ।
लालच चुन पंछी जथा, परत पास महं अन्ध ।।२९।।
व व् वा वाद विवाद तजि, बादि सकल भ्रम और ।
सर्व सार सिव सवित लहि, यह प्रभाव सब ठौर ।।३०।।
स स् सा स्वांसा पाहुनी, आई है दिन चार ।
भजि लै श्री सिव सक्ति कौं, जनम जु जावंनि हार ।।३१।।
ह ह् हा हारि न बैठिये, हिम्मत हिये संभार ।
फलदाता करता बनौ, कर करतूत बिचार ।।३२।।

स्फुट

कवित्त

नूपुर की धुनि ध्यान निरभय अनन्त देत,
पैंज करि पापनि कौं पैंजना बिदा करै।
कोटिक अनौटनि के मैंटत अनौट ध्यान,
वाके दुख काटत जो जोरि मन वा करै।
कंदुक के सुन्दर पहिरि दिब्य सांकरैन,
काटै कर्म सांकरै सहाय करै सांकरै।
'अक्षर अनन्य' श्री भवानी के चरन चारु,
घूंघरैन झनकार जन कों निसाकरै ॥१॥

सात सै बरस तैं कबीर रामानन्द भये,
ग्यारा सै बरस तैं भयउ तुरकान हैं।
तेरा सै बरस हू तैं सेवरा बिराग पंथ,
चार हू हजार बीच ब्यास के पुरान हैं।
और सब पंथ ते चले हैं सौ बरस हू तैं,
बादी मुख ठेला जोर जुगत जमान हैं।
'अक्षर अनन्य' चार बर्न आसरम चार,
चार बेद चार जुग जुगनि प्रमान हैं ॥२॥

———

लोभिनि तृपित न कै सकै,
संतोषिनि तृन हेर।
कहि 'अनन्य' किहि काम को,
कंचन अचल सुमेर॥